विषयानुक्रमणिका

पूर्वार्द्ध

उत्तरार्द्ध

दो शब्द

"हिन्दू परिवार मीमांसा" पर श्री हरिदत्त जी वेदालंकार का प्रस्तुत ग्रन्थ बंगाल हिन्दी मंडल की सन् १९४६ की पारितोषिक-योजना के अन्तर्गत सर्वोत्कृष्ट समझा गया था और १२००) का पुरस्कार भेट कर सम्मानित किया गया था। आज इस पुस्तक को प्रकाशित कराते हुए बगाल हिन्दी मडल को अत्यन्त हर्ष है।

सन् १९४२ मे मडल ने हिन्दी में उच्च महत्वपूर्ण विषयो पर सुन्दर मौलिक साहित्य निर्माण कराने की एक योजना तैयार की थी। तब से अब तक भारतीय दर्शन, संस्कृति, इतिहास, व्यापार, उपन्यास एवं नाटक आदि विभिन्न रोचक विषयों पर अपने अपने विषय के अधिकारी विद्वानों द्वारा साहित्य तैयार करवा कर मंडल ने हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि में योगदान देकर अपने को सौभाग्यशाली समझा है।

परिवार सम्बन्धी विषय पर यह पुस्तक भारतीय इतिहास के वर्त्तमान युग मे अपना एक विशेष महत्व रखती है। इस विषय पर हिन्दी में अभी तक कोई भी प्रामाणिक मौलिक ग्रन्थ न था। वैदिक युग से बीसवी शताब्दी के मध्य तक हिन्दू-परिवार-प्रथा का वैज्ञानिक, शोधपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो पर आधारित यह ग्रन्थ बड़ी ही योग्यता के साथ लिखा गया है। हिन्दू परिवार का ऐसा सर्वांगीण विशद विवेचन करनेवाली अपनी कोटि की यह पहली ही पुस्तक है।

वर्त्तमान समय मे जब हिन्दू परिवार के स्वरूप मे क्रान्तिकारी परिवर्तन करनेवाले अनेक बिल हमारी लोक सभा में विचाराधीन है—यह पुस्तक समाजशास्त्र एव इतिहास मे अभिरुचि रखनेवाले पाठको एवं राजनैतिक क्षेत्र के नेताओ को तो रुचिकर सिद्ध होगी ही, हिन्दी प्रेमी सम्पूर्ण जनता मे भी इस पुस्तक का स्वागत होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

दीपावली सं० २०११ वि०

८, रॉयल एक्सचेन्ज प्लेस,

कलकत्ता

कैलाशनाथ

मंत्री

बंगाल-हिन्दी-मंडल

प्रस्तावना

परिवार मानव समाज की एक महत्वपूर्ण सस्था ह । समाज का सरक्षण और संवर्धन इस पर अवलम्बित है । इसकी महत्ता का अनुभव करते हुए वैदिक युग मे शिक्षा समाप्त करने पर प्रत्येक स्नातक को आचार्य यह उपदेश देता था —प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः (तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।१) अर्थात् सन्तान रूपी तन्तु का विच्छेद मत करो । हिन्दू समाज मे मनुष्य का विकास उस समय तक पूरा नही समझा जाता था, जब तक कि वह विवाह करके सन्तान नही उत्पन्न कर लेता था । इस पुस्तक में हमारे समाज की इस महत्व पूर्ण संस्था की वैदिक युग से वर्त्तमान काल तक की ऐतिहासिक और समाज-शास्त्रीय मीमांसा का एक विनम्र प्रयत्न है । इस मे हिन्दू परिवार के अतीत का अनुशीलन, वर्त्तमान का चिन्तन और भविष्य का विवेचन है ।

यह पुस्तक दो भागों मे विभक्त है । दसवे अध्याय तक पूर्वार्द्ध मे हिन्दू परिवार के उद्गम और प्रयोजन तथा इसके विकास पर प्रकाश डाला गया है; पति, पत्नी, पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई, वहिन आदि सम्वन्धियों की स्थिति तथा आदर्शो का वर्णन है । ग्यारहवे अध्याय से हिन्दू परिवार के साम्पत्तिक और कानूनी स्वरूप का प्रतिपादन है । सयुक्त परिवार, उत्तराधिकार तथा बंटवारे के सामान्य सिद्धान्तों के ऐतिहासिक विवेचन के वाद पिता, पुत्र, पुत्री, पत्नी, और विधवा के साम्पत्तिक स्वत्वों के वैदिक युग से आज तक के विकास की प्रक्रिया को स्पष्ट किया गया है । अन्तिम अध्याय मे हिन्दू परिवार कें भविष्य पर प्रभाव डालने वाले तत्वो की मीमांसा तथा भावी परिवार की रूप रेखा का वर्णन है, इसमे हिन्दू कोडविल का तथा उसके वाद प्रस्तावित तथा इस समय लोक सभा मे पेश किये गये हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले नवीन विलो का भी विवेचन है । अन्त मे कई उपयोगी परिशिष्ट हैं । एक मे मनु, याज्ञवल्क्य , नारद आदि प्रसिद्ध स्मृतिकारो और दायभाग प्रभृति धर्मशास्त्र के प्रधान ग्रन्थो के काल का निर्देश है । दूसरे परिशिष्ट मे पारिभाषिक शब्दो की अंग्रेजी-हिन्दी सूची दी गयी है। इस पुस्तक मे इस वात का पूरा प्रयत्न किया गया है कि समाज शास्त्र तथा कानून के पारिभाषिक शब्द प्राचीन ग्रन्थो के आधार पर निश्चित किये जांय ।

उदाहरणार्थ Promiscuity के लिये महाभारत के आदिपर्व (१।१२२।) में प्रयुक्त कामचार शब्द को लिया गया है (पृ० ३), Agnate तथा Cognate के लिये क्रमशः पितृबन्धु या गोत्रज और मातृबन्धु का प्रयोग किया गया है। तीसरे परिशिष्ट में हिन्दू परिवार के आदर्श को द्योतित करने वाले कुछ वैदिक मंत्रों और सुभाषितों का संग्रह है। इस पुस्तक की भूमिका मे डा० वासुदेव शरण जी अग्रवाल ने हिन्दू परिवार की महत्ता तथा उसके आदर्शों पर सुन्दर प्रकाश डाला है।

हिन्दू परिवार के प्राचीन काल और मध्ययुग की ऐतिहासिक मीमासा का प्रधान आधार वैदिक सहितायें, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, स्मृतियां, इनकी टीकायें, निबन्ध ग्रन्थ, संस्कृत, प्राकृत के नाटक, काव्य, पालि त्रिपिटक और जातक साहित्य तथा प्राचीन अभिलेख हैं। अनेक धर्मसूत्रो, स्मृतियो तथा निबन्धग्रन्थों का रचनाकाल विवादास्पद है। इस पुस्तक में प्रधानरूप से श्री पाण्डुरग वामन काणे के हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र के प्रथम खण्ड में प्रतिपादित कालक्रम को स्वीकार किया गया है। धर्मशास्त्र सबन्धी प्रकरणो में लेखक को श्री काणे की उक्त पुस्तक के दूसरे खण्ड के तीसरे भाग से तथा धर्मकोश से बहुमूल्य सहायता मिली है। हिन्दू परिवार के आधुनिक काल के विवेचन का मुख्य आधार प्रिवी कौन्सिल तथा विभिन्न हाईकोर्टो के फैसलो की रिपोर्टें, भारत सरकार की ओर से बैठायी गयीं अनेक समितियो के विवरण तथा हिन्दू कानून पर लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थ हैं। इन सब का सहायक ग्रन्थ-सूची मे निर्देश किया गया है।

हिन्दू परिवार से सबद्ध प्रायः सभी प्रश्नों पर ऐतिहासिक और सहेतुक मीमांसा करने का प्रयास किया गया है। उदाहरणार्थ दूसरे अध्याय मे न केवल वैदिक काल से वर्त्तमान युग तक के हिन्दू परिवार के विकास का प्रतिपादन है, अपितु विभिन्न कालो मे पाये जाने वाले परिवार के स्वरूप को उत्पन्न करने वाले कारणों और परिस्थितियों का भी निर्देश किया गया है। वैदिक युग में अथवा परवर्त्ती कालों में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का निर्देश करने के साथ उस के उत्पादक हेतुओ का भी विचार किया गया है। तीसरे अध्याय में परिवार मे पति की सर्वोच्च स्थिति का उल्लेख करने के साथ, उन कारणो का भी निर्देश है जिनसे वह परिवार में देवता समझा जाने लगा। चौथे अध्याय मे वैदिक युग के बाद परिवार मे पत्नी की स्थिति गिरने के कारणों पर प्रकाश डाला ग है। अग्रजाधिकार, विभाग, उत्तराधिकारादि परिवार सम्बन्धी सभी महत्वपूर्ण

विषयों की विविध व्यवस्थाओ की सहेतुक व्याख्या की गयी है। पहले प्रत्येक प्रथा का ऐतिहासिक स्वरूप बताया गया है, तदनन्तर उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि के आधार पर उस के उद्गम, तथा प्रवर्त्तक कारणों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया गया है, अन्त में उस प्रथा के आधुनिक रूप की समीक्षा है तथा उसके भविष्य के सम्वन्ध मे विचार किया गया है। उदाहरणार्थ पत्नी के सतीत्व के सम्वन्ध मे पहले भारतीय वाङमय की सामग्री को कालक्रम से उपस्थित किया गया है, तत्पश्चात् इसके ऐतिहासिक विकास का स्पष्टीकरण है, तदनन्तर इस व्यवस्था के उत्पादक हेतुओं का प्रतिपादन है और अन्त मे इसके भावी रूप पर विचार है (पृ० १६२-१७२)।

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू परिवार का विवेचन करते हुए तुलनात्मक पद्धति का भरपूर प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध ब्रिटिश लेखक किपलिंग यह कहा करता था कि वे इंगलैण्ड के विषय मे क्या जानते है, जो केवल इंगलैण्ड को जानते है। उस की इस उक्ति का यह आशय था कि दूसरे देशों का ज्ञान होने पर और उन के साथ इंगलैण्ड की तुलना करने पर ही इस देश का यथार्थ ज्ञान संभव है। यही बात हिन्दू परिवार के सम्वन्ध में कही जा सकती है। जो केवल हिन्दू परिवार को जानते है, वे इस का पूरा ज्ञान नही रखते है। यह तभी संभव है जब हम हिन्दू परिवार सम्वन्धी विभिन्न व्यवस्थाओ की यूनान, रोम, फ्रांस, जर्मनी, इंगलैण्ड, अमरीका आदि दूसरे देशों की तथा अन्य जातियो की तत्सदृश व्यवस्थाओं से तुलना करे। तुलनात्मक ज्ञान के अभाव मे अनेक भ्रान्तिया उत्पन्न हो सकती हैं। उदाहरणार्थ आजकल 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' (मनु० ९।३) की व्यवस्था के लिये मनु आदि प्राचीन शास्त्रकारों को दोष दिया जाता है। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे यह व्यवस्था सार्वभौम थी। चीन मे कन्फूशियस ने स्त्री के संबंध में मनु के शब्दों को अक्षरशः दोहराया है, यूनान, और रोम मे भी यही स्थिति थी (पृ० ९४)। वस्तुतः यह तत्कालीन परिस्थितियो का परिणाम था, इस के लिये मनु आदि को दोष नही दिया जा सकता। इसके साथ ही तुलनात्मक पद्धति से हमे यह भी ज्ञान होता है कि यद्यपि नारी को हिन्दू शास्त्रकारों ने परतन्त्र माना, तथापि स्त्रीधन के रूप मे उन्होंने वैदिक युग में ही उसे ऐसे साम्पत्तिक स्वत्व प्रदान किये, जो पश्चिमी जगत् की नारियों को पिछली शताब्दी के अन्त मे ही प्राप्त हुए है (पृ० ५४६)। इस पुस्तक मे प्रायः सर्वत्र पादटिप्पणियो मे दूसरे देशो तथा जातियो की हिन्दू परिवार के साथ सादृश्य

रखने वाली प्रथाओं तथा रीति रिवाजो का रोचक एव ज्ञानवर्द्धक प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन में लेखक को वैस्टरमार्क, फ्रेजर, हावहाऊस, लैंकी, क्राली, स्पेन्सर आदि के ग्रन्थो से वडी सहायता मिली है। सहायक ग्रन्थसूची में ऐसी पुस्तको का पृथक् रूप से उल्लेख किया गया है।

इस पुस्तक में लेखक ने श्री काशीप्रसाद जायसवाल, सर हेनरी मेन, वेडेन पावेल, जाली, मैकडानल, कीथ, ज़िमर, डेलब्रुइक , वैवर, राजवाडे,. राजकुमार सर्वाधिकारी आदि सुप्रसिद्ध विद्वानो से अनेक विपयो पर असहमति प्रकट की है। हिन्दू परिवार के उद्गम (पृ० ३-९) पारिवारिक सम्पत्ति तथा स्त्रीधन के आदिम रूप.(पृ० ४२, पृ० ५५९), वैदिक युग में अग्रजाधिकार, कन्यावध और पुरासन पद्धति के प्रचलन (पृ० ४४०, पृ० २४४, पृ० १९२) और वैदिक परिवार के विपय में (पृ० २६) नये मत स्थापित किये गये है और इन्हे अधिक से अधिक प्रमाणो से पुष्ट किया गया है। सर्वत्र 'नामूल लिख्यते किंचित्' की मल्लिनाथीय प्रतिज्ञा के निर्वाह का पूरा यत्न किया गया है।

हिन्दू परिवार के सर्वांगीण वैज्ञानिक विवेचन का हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है। अग्रेजी तथा जर्मन आदि योरोपियन भापाओ में हिन्दू परिवार के विशेष कालो और विशिष्ट प्रश्नो के अनेक प्रामाणिक अध्ययन हुए हैं, किन्तु लेखक की जानकारी में इस प्रकार का ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दू परिवार के सब पहलुओं का विवेचन करनेवाला कोई ग्रन्थ नही है। इस विपय की गुरुता, गम्भीरता और जटिलता के साथ लेखक अपने अल्प अध्ययन और सीमित सामर्थ्य से भी अपरिचित नही है। फिर भी उसने यह प्रयास इसलिये किया है कि ऐसे महत्वपूर्ण विपय पर अभी तक कोई अध्ययन नही था। लेखक को उस समय तक सन्तोष नही होगा, जब तक उसका यह विनम्र प्रयास विद्वानो द्वारा कसौटी पर कसा जाने पर खरा न उतरे। लेखक की यह धारणा है—'आ परितोषाद्विदुपा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम् ।'

यह पुस्तक १९४६ ई० मे लिखी गयी थी। इस का प्रकाशन बहुत विलम्ब से हो रहा है, किन्तु इससे इसे अद्यतनीन वनाने और सशोधित करने मे वड़ी सहायता मिली है। १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट द्वारा प्रकाश में आये परिवार सम्बन्धी कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों का तथा हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले हिन्दू कोड तथा उसके वाद प्रस्तावित विलो की चर्चा का इसमें समावेश

हो सका है। १९५४ ई० के अन्त तक प्रस्तावित हिन्दू उत्तराधिकार आदि परिवारसम्बन्धी सभी नये विलो का इसमे प्रतिपादन है।

यह पुस्तक लेखक के निवासस्थान से बहुत दूर प्रयाग मे छपी है, कई वार अन्तिम प्रूफ न देखे जाने से मुद्रण मे कुछ अशुद्धियां रह गयी है, इन को शुद्धि पत्र मे दे दिया गया है। ग्रन्थ के अन्त मे विस्तृत अनुक्रमणिका भी है।

ऐसा सुना जाता है कि पिछली शताब्दी मे जब एक वार भारत सरकार के सम्मुख स्वर्णमान (गोल्ड स्टैण्डर्ड) को अपनाने का जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ तो अर्थ विभाग के एक अध्यवसायी सचिव ने इस प्रश्न के सभी पहलुओ की मीमांसा करने वाला सौ पृष्ठ का एक वक्तव्य तय्यार किया, ताकि उसे पढ कर अर्थमन्त्री स्वर्णमान के सम्बन्ध मे अपना निर्णय कर सके और उसे इस टिप्पणी के साथ मन्त्री के पास भेजा कि आप भले ही कुछ और न पढें, किन्तु इस वक्तव्य का अवश्य अनुशीलन करे। अर्थमन्त्री ने उसे वैसे ही वापिस करते हुए लिखा —"नही, मै इतना लम्वा वक्तव्य कभी नही पढ सकता; यदि यह दो पृष्ठो मे लिखा हो तो इसका वाचन कर सकता हूं।" संभवत अनेक पाठक और समाचारपत्रो के आलोचक 'गति के वर्त्तमान युग' मे, उक्त अर्थमन्त्री की भांति सात सौ पृष्ठ की पुस्तक का सारांश मात्र ही जानना चाहेगे, अत यहां प्रत्येक अध्याय मे प्रतिपादित महत्वपूर्ण विपयो का निर्देश करना समीचीन प्रतीत होता है।

पहले अध्याय में हिन्दू परिवार के उद्गम और उद्देश्य की विवेचना की गयी है। १९ वीं शताव्दी के उत्तरार्ध मे पश्चिम के प्रसिद्ध समाजशास्त्री मैकलीनान (१८२७–१८८१) वेखोफन (१८१५-८०) और मोर्गन (१८१८-८१) ने यह कल्पना की थी कि मानव समाज की आदिम अवस्था मे स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के कोई निश्चित नियम नही थे, स्वच्छन्द आचरण की इस दशा को कामचार (Promiscuity), यूथ विवाह (Group marriage) या सामूहिक विवाह (Communal Marriage) कहा जाता था और यह माना जाता था कि कामचार से ही बाद मे विवाह और परिवार की उत्पत्ति हुई। यद्यपि उपर्युक्त सभी विद्वान् कामचार को आदिम अवस्था स्वीकार करते थे, किन्तु इससे परिवार की उत्पत्ति की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे उनमे वड़ा मतभेद था। मैकलीनान के मत मे पुरुप मे यह इच्छा उत्पन्न हुई कि वह अपनी ऐसी वैयक्तिक स्त्री रखे, जिस पर दूसरे पुरुषों का कोई अधिकार न हो, अपनी जाति या कवीले मे उसके लिये यह संभव न था, अत. वह दूसरे

कबीलो से स्त्रियां भगा कर लाने लगा, ये उस की वैयक्तिक सम्पत्ति मानी गयीं और इससे परिवार प्रथा का श्रीगणेश हुआ। स्विस समाजशास्त्री बेखोफन का विचार था कि स्त्रिया अपने स्वच्छन्द उपभोग और वेश्यावृत्ति से ऊब उठी, उन्होने इसके विरुद्ध विद्रोह किया और इससे नियमबद्ध विवाह प्रथा का जन्म हुआ। मोर्गन द्वारा किये रेड इंडियनों की कुछ जातियों के सामाजिक अध्ययन के आधार पर कार्लमार्क्स के सहयोगी एन्जेल्स ने यह कल्पना की कि मनुष्य में पशुचारणावस्था (Pastoral Stage) मे वैयक्तिक सम्पत्ति संग्रह करने की भावना उत्पन्न हुई। उस समय जहां पुरुषो ने पशुओ को धन समझ कर संचित किया, वहा स्त्रियो को सम्पत्ति मान कर, उन्हें भी बटोरना शुरू किया। आजकल अधिकांश समाज-शास्त्री उपर्युक्त मनोरंजक कल्पनाओ को ऐतिहासिक तथ्य नही स्वीकार करते और न ही यह मानते हैं कि मानव समाज मे परिवार जैसी जटिल सामाजिक संस्था का विकास इस प्रकार की किसी सरल और सार्वभौम रीति से सर्वत्र एक जैसी अवस्थाओ में से गुजरते हुए हुआ है (पृ० ३३२)।

किन्तु हिन्दू परिवार के उद्‌गम के सम्बन्ध मे विचार करते हुए अनेक विद्वानो ने कामचार को उस की आदिम दशा माना है (पृ० ३) और महाभारत के कुछ प्रमाणो के आधार पर इस की पुष्टि की है। प्रथम अध्याय में इन प्रमाणो की आलोचना करते हुए इस कल्पना को अमान्य ठहराया गया है (पृ० ३-९) तथा यह बताया गया है कि पश्चिम मे समाजशास्त्रीय नवीन अनुसन्धान और गवेषणा से कामचार की कल्पना सर्वमान्य नही रही है (पृ० १०-१२)। इस के बाद इस अध्याय में हिन्दू परिवार के प्रयोजनों को स्पष्ट करते हुए परिवार विषयक हिन्दू आदर्श की तत्सम्बन्धी ईसाई आदर्श से रोचक तुलना की गयी है।

दूसरे अध्याय में वैदिक युग से वर्त्तमान काल तक के हिन्दू परिवार के विकास का प्रतिपादन है। इस में संयुक्त हिन्दू परिवार पद्धति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि विभिन्न समयों मे किन कारणो से संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति पुष्ट होती रही है। पूर्व वैदिक युग में धर्म और कृषि-प्रधान आर्थिक जीवन इसके प्रधान पोषकतत्व थे (पृ० ३२-३८)। उत्तर वैदिक युग मे संयुक्त परिवार का विघटन मनोवैज्ञानिक कारणो से तथा कुछ सामाजिक परिस्थितियो से प्रारम्भ हुआ, किन्तु फिर भी हमारे समाज मे संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा चलती रही। ६०० ई० पू० से ६०० ई० तक इसमे विघटन की प्रवृत्ति प्रबल होने के कई संकेत मिलते है (पृ० ५३-३६), इनमे पिता के बंटवारा करने

के अधिकार का अपहरण, वटवारे की प्रशसा और स्वाजित सम्पत्ति का विकास विशेप रूप से उल्लेखनीय है। किन्तु इनके वावजूद हिन्दू परिवार मे सयुक्त कुटुम्व-पद्धति की प्रवानता वनी रही और मध्ययुग मे छठी से १९वी शती तक हिन्दू परिवार मे अनेक कारणो से (पृ० ६४-६५) इस का प्रचलन वना रहा। वर्त्तमान युग में संयुक्त हिन्दू परिवार का विघटन वड़ी तेज़ी से हो रहा है। इसके प्रधान हेतु निम्न है—नवीन आर्थिक परिस्थितियां, व्यष्टिवाद आदि नूतन विचार धारायें और वैयक्तिक अधिकारो पर वल देने वाले पश्चिमी कानून इन सव की विवेचना करते हुए (पृ० ६८-७५) वर्त्तमान समय मे संयुक्त परिवार पद्धति से होने वाली हानियों का निर्देश करते हुए, इस प्रणाली के लाभों का भी प्रतिपादन किया गया है (पृ० ८१-८२) और यह वताया गया है कि सयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी हमे उसकी विशेपताओ को नये एकाकी परिवार मे अवश्य ग्रहण करना चाहिये।

तीसरे अध्याय मे हिन्दू परिवार मे पति की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यह वताया गया है कि पति की प्रभुता के विकास की तीन अवस्थायें रही हैं। वैदिक युग मे पति-पत्नी के अधिकारो मे समानता थी, ६०० ई० पू० से पति पत्नी का गुरु वना तथा २०० ई० से उसे देवता माना जाने लगा। उसके देवता वनने के कारणो की विवेचना करते हुए (पृ० ९४-९९) यह वताया गया है कि वर्त्तमान युग मे किन कारणो से इस स्थिति का अन्त होकर वैदिक युग की पति-पत्नी की समान स्थिति के आदर्श का प्रत्यावर्त्तन हो रहा है। इस अध्याय में पत्नी के दान, ताडन तथा अधिवेदन सम्वन्धी पति के अधिकारो का, पत्नी के भरण, पोषण, रक्षण, सद्व्यवहार विपयक पति के कर्त्तव्यो का विवेचन है और अन्त मे पत्नी द्वारा शासित भार्यावश्य पतियो के सम्वन्ध मे शास्त्रकारो की मनोरंजक व्यवस्थाओ का उल्लेख है।

चौथे अध्याय मे पत्नी की स्थिति का वर्णन है और यह वताया गया है कि वैदिक युग मे उच्च स्थिति का उपभोग करने वाली हिन्दू स्त्री परवर्त्ती युगों मे किन कारणो से शोचनीय अधोगति को प्राप्त हुई (पृ० १३३-१४४) तथा नारी को क्यों अस्वतन्त्र घोषित किया गया। पत्नी के कर्त्तव्यों की मीमांसा करते हुए स्त्रियो पर सतीत्व का वन्धन लगाने के कारणो का तथा इस के भविष्य का विवेचन किया गया है (पृ० १६४-७२)। प्रायः यह समझा जाता है शास्त्रकारो ने हिन्दू समाज मे स्त्री को हीन स्थिति प्रदान की है, किन्तु इस अध्याय मे वर्णित पत्नी के अधिकारों से यह स्पष्ट होगा कि उपर्युक्त धारणा

सत्य नही है (पृ० १७३-७५), गास्त्रो में नारी की जो निन्दा की गयी है, वह
वास्तविक नही, किन्तु अर्थवाद मात्र है ।

पाचवें अध्याय मे हिन्दू परिवार में पिता की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए
मेन के इस मत का खण्डन किया गया है कि प्राचीन हिन्दू परिवार मे पिता
को रोमन समाज के पिता की भांति अपनी सन्तान के साथ मनमाना व्यवहार
करने, उसे प्राणदण्ड आदि देने का अमर्यादित अधिकार था और भारत में पूर्ण पितृ-
प्रभुत्व (Patria Potesta) की पद्धति प्रचलित थी (पृ० १८२-१९३)।

छठे अध्याय में परिवार मे माता के स्थान और महत्व का प्रतिपादन करते
हुए अपने पुत्रों को वीरता का पाठ पढाने वाली विदुला जैसी माताओ का उल्लेख
है । सातवें अध्याय मे पुत्र की स्थिति का वर्णन है । पुत्र की अधिक आकाक्षा
रखने के कारणो का विवेचन करते हुए, उसकी प्राप्ति के लिये हिन्दू समाज में
देवपूजन से नर-बलि तक के उपायो का निर्देश है । पुत्र के कर्त्तव्यो का उल्लेख
करते हुए पुत्र द्वारा पिता की आज्ञापालन और वश्यता के प्राचीन दृष्टान्त दिये
गये है और अन्त मे यह बताया गया है कि वर्त्तमान युग में किन कारणो से पुत्रो
की वश्यता में ह्रास आ रहा है ।

आठवें अध्याय में हिन्दू कुटुम्ब में पुत्री की स्थिति का विवेचन है । यद्यपि
वैदिक युग से उसकी स्थिति अच्छी नही रही, मध्ययुग मे कन्यावध की कुरीति
भी भारतीय इतिहास के पृष्ठो को कलकित करती रही है (पृ० २४६-४८),
तथापि हिन्दू कन्याये पिता के अगाध प्रेम का पात्र रही है और उनका दर्शन
सदैव मागलिक समझा जाता रहा है (पृ० २५३-५५) ।

नवें अध्याय मे भाई, बहिन, देवर, बहू, मामा प्रभृति सबन्धियो का वर्णन
है । राम, लक्ष्मण और भरत के भ्रातृ प्रेम का रामायण मे वर्णित उच्च आदर्श
अत्यन्त प्राचीन काल से हिन्दू परिवार को प्रभावित करता रहा है । राखी और
भैयादूज के त्यौहारो में प्रतिबिम्बित होने वाला भाई-बहिन का निस्वार्थ प्रेम
अन्य समाजो मे दुर्लभ है । यह बताया गया है कि औरगजेब जैसा हिन्दू-द्वेषी
सम्राट् भी उदयपुर की राजमाता की राखी स्वीकार करता था (पृ० २६१) ।
परिवार में ननद के व्यवहार पर लोकगीतो के माध्यम से रोचक प्रकाश डाला
गया है । देवर भाभी के आदर्श सम्बन्ध को लक्ष्मण-सीता तथा हरदौल के उदा-
हरणो से स्पष्ट किया गया है ।, महाभारत से सास बहू के अत्यन्त मधुर सबन्धो
का प्रतिपादन किया गया है (पृ० २६८-९), किन्तु प्राचीन काल मे सर्वदा और
सर्वत्र ऐसे सम्बन्ध रहे हो, सो बात नही है । बौद्ध साहित्य मे सास-बहू के सघर्ष

के अनेक संकेत मिलते है (पृ० २७०)। हिन्दू परिवार मे वैदिक युग मे मामा का कोई विशेष महत्त्व नही था, किन्तु रामायण, महाभारत और स्मृतियों के समय तक मातुल की महिमा वहुत वढ़ गयी। दसवे अध्याय मे यह वताया गया है कि प्रत्येक हिन्दू परिवार मे गृहस्थ के क्या कर्त्तव्य समझे जाते थे। शास्त्रकारों की दृष्टि में गृहस्थ का लक्ष्य पंच महायज्ञ तथा अन्य आवश्यक कार्य करते हुए शनैः शनैः धर्म सग्रह करना था। गृहस्थाश्रम मे ऋषि, देव और पितृ ऋणों को उतार कर ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता था, इन्हे उतारे विना मुक्ति के लिये संन्यासी हो जाने वाला व्यक्ति मनु के मतानुसार नरकगामी होता है।

ग्यारहवे अध्याय मे सयुक्त परिवार के कानूनी स्वरूप तथा उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्तो का विवेचन करते हुए मिताक्षरा और दायभाग सम्प्रदायो के कुटुम्वो की विशेषतायें वतायी गयी हैं तथा दोनो प्रकार के परिवारो मे दायादो के क्रम का भेद स्पष्ट करते हुए मतभेद के कारणों पर प्रकाश डाला गया है। इसके वाद हिन्दू परिवार के उन सदस्यो का वर्णन है, जिन्हे दायार्ह नहीं समझा गया, विधवा, पुत्री, माता दादी, परदादी के अतिरिक्त, स्त्रिया सामान्य रूप से दाय की अधिकारिणी नही समझी जाती। इस का कारण स्त्रियो को साम्पत्तिक स्वत्व से जान वूझ कर वचित करना नही था, किन्तु इसके कुछ विशेष हेतु थे (पृ० ३२७)। इन्हे स्पष्ट करने के वाद मलावार की मातृक-परिवार-पद्धति में दायहरण की परिपाटी का प्रतिपादन है। अधिकाश हिन्दू समाज की परिवार-पद्धति पितृमूलक है, पिता कुटुम्व का केन्द्र होता है, वंश परम्परा पिता द्वारा निर्धारित होती है, पुत्र पिता की सम्पत्ति प्राप्त करते है, किन्तु मलावार मे पुत्र को यह अधिकार नहीं है, भांजा उत्तराधिकारी वनता है। भांजे द्वारा दायहरण की यह व्यवस्था मरुमक्कत्तायम् कहलाती है और एक स्त्री से प्रादुर्भूत हुआ उस के नर नारी वंशजों का कुटुम्व तरवाड़। इस अध्याय मे इन सव की सहेतुक मीमांसा की गयी है।

वारहवे अध्याय में सयुक्त परिवार की सम्पत्ति के वंटवारे (विभाग) से सम्वन्ध रखने वाले प्रश्नों की विवेचना है। इस के स्वरूप का प्रतिपादन करने के वाद इसके विकास की अवस्थाओं का निर्देश है और यह वताया गया है कि किस प्रकार शनैः शनैः वंटवारा करने योग्य वस्तुओं में वृद्धि होती गयी, पहले वस्त्र, आभूषण, वाहन, स्त्रियां, घर, खेत आदि अविभाज्य माने जाते थे, किन्तु गुप्त युग में वृहस्पति के समय तक सभी वस्तुये विभाज्य मानी जाने लगी (पृ० ३५८-९)। इसके साथ ही अपने वैयक्तिक परिश्रम और योग्यता से उपार्जित

सम्पत्ति अविभाज्य स्वीकार की गयी, वर्त्तमान युग में हिन्दू विधायन कानून द्वारा इसे मान्यता दी गयी है। वर्त्तमान काल में पैतृक सम्पत्ति का पुत्रो मे समान रूप से बंटवारा होता है, परन्तु प्राचीन काल में बडे लड़के को सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाने या सम्पत्ति मे से विशेष अंश देने की विषम विभाग की पद्धति भी प्रचलित थी। कात्यायन, बृहस्पति और विज्ञानेश्वर आदि शास्त्रकारों के विरोध से इस व्यवस्था का अन्त हुआ (पृ० ३७५-७९)। इसके बाद इस अध्याय मे बटवारा कराने का अधिकार रखने वाले और बटवारे में हिस्सा लेने वाले सदस्यो का वर्णन है।

तेरहवें अध्याय मे पिता के साम्पत्तिक स्वत्वो के विकास का प्रतिपादन है, सयुक्त सम्पत्ति पर पिता का स्वत्व शनै. शनै क्षीण होने की तीन अवस्थाओ का वर्णन है और यह बताया गया है कि पैतृक सम्पत्ति को इच्छानुसार बांटने और उसमें विशेष अंश ग्रहण करने के अधिकारो को पिता ने किस प्रकार खोया है, पिता को पारिवारिक सम्पत्ति के दान करने का अधिकार कहा तक है, पिता के कौन से ऋण पुत्र द्वारा चुकाये जाने योग्य माने जाते है।

चौदहवें अध्याय मे पुत्र के अधिकारो और प्रकारो का उल्लेख है। पैतृक सम्पत्ति में जन्म से पुत्र का स्वत्व मानने के सिद्धान्त का विकास दिखाते हुए यह बताया गया है कि पिता की प्रभुता से पुत्र को किस प्रकार मुक्ति मिली। इस के बाद ज्येष्ठ पुत्र के विशेष स्वत्वो-सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होने तथा उसमें विशेष अंश ग्रहण करने का विशद विवेचन है (पृ० ४३८-४६०)। तदनन्तर हिन्दू शास्त्रो में स्वीकार किये गये बारह प्रकार के पुत्रो का स्वरूप बताते हुए इस व्यवस्था के कारणों पर प्रकाश डाला गया है और इस लोक प्रचलित धारणा का खण्डन किया गया है कि इनमे अवैध पुत्रो का समावेश है, एक तालिका द्वारा गौण पुत्रो द्वारा दाय ग्रहण करने के क्रम को सूचित किया गया है (पृ० ४७२), क्षेत्रज, कानीन, पौनर्भव, पारशव प्रभृति पुत्रो का वर्णन करते हुए अन्त में दत्तक पुत्र का विशेष विस्तार से निर्देश किया है क्योकि वर्त्तमान काल में औरस के अतिरिक्त इसी प्रकार के पुत्र की पद्धति अधिक प्रचलित है।

पन्द्रहवें अध्याय मे कन्या के साम्पत्तिक अधिकारो का प्रतिपादन करते हुए उस के दायाद होने की तीन अवस्थाये बतायी गयी है—पहली अवस्था मे वैदिक युग से ४ थी श० ई० पू० तक हिन्दू परिवार मे सामान्य रूप से कन्या को दायाद नही माना जाता था, अभ्रातृमती और अविवाहिता होने की दशा में ही उसे दाय मिलता था। दूसरी अवस्था में कौटिल्य के समय से कन्या

को दायादों में गिना जाने लगा। याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति ने पुत्रों तथा विधवा के अभाव में उसे दायाद माना, मनु और याज्ञवल्क्य ने उसे सम्पत्ति में भाइयो के भाग का चौथा हिस्सा देने की व्यवस्था की। अधिकाश मध्यकालीन टीकाकारो ने कन्या के दायाद होने के वचनो को पुत्र बनायी हुई लड़की तक मर्यादित किया। किन्तु विज्ञानेश्वर ने विधवा के बाद कन्या के दायहर होने का प्रबल समर्थन किया। तीसरी अवस्था १९४३ से आरम्भ होती है, इस वर्ष कन्याओं को पैतृक सम्पत्ति में पुत्र के साथ दायाद होने का प्रस्ताव केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् मे पेश किया गया। हिन्दू कोड मे तथा १९५४ के हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक मे इस व्यवस्था को दोहराया गया है। इस अध्याय के अन्त में यह भी बताया गया है कि शास्त्रकारों द्वारा प्रतिपादित स्त्री की अस्वतत्रता का अर्थ पुरुष की पराधीनता नही, किन्तु कानूनी मामलो मे स्त्री की स्वतत्र सत्ता का न होना है (पृ० ५४२)।

सोलहवे अध्याय मे 'स्त्रीवृद्धि के समान जटिल' स्त्रीधन का विवेचन है। अधिकाश सभ्य समाजो मे प्राचीन एव मध्य काल मे विवाहिता स्त्री को सम्पत्ति पर कोई स्वत्व न था, पश्चिमी जगत् मे स्त्रियों को यह अधिकार पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे मिला है (पृ० ५४५)। किन्तु हिन्दू परिवार मे स्त्री-धन पर पत्नी का स्वामित्व वैदिक युग से स्वीकार किया जाता रहा है। (पृ० ५४०)। महर्षि जैमिनि ने मीमासा दर्शन में स्त्रियो के साम्पत्तिक स्वत्व का प्रबल पोषण किया है। इसमे सन्देह नही कि प्राचीन काल मे स्त्रियों को दाय का उत्तराधिकारी न समझने वाले बौधायन जैसे धर्मशास्त्री थे, किन्तु इस के साथ ही विज्ञानेश्वर जैसे स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकारो के कट्टर समर्थक भी थे और स्त्रियों को दायानर्ह समझने वाले शास्त्रकार भी स्त्रीधन पर पत्नी का स्वामित्व स्वीकार करते थे। इस अध्याय मे स्त्रीधन के स्वरूप और विविध प्रकारो का प्रतिपादन किया गया है।

सत्रहवें अध्याय का विषय विधवा के साम्पत्तिक स्वत्वो का विकास है। उसे पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार बड़े लम्बे संघर्ष के बाद मिला है; इसे चार अवस्थाओ मे बांटा गया है। पहली अवस्था में वैदिक युग से २०० ई० तक सामान्य रूप से विधवा को कोई साम्पत्तिक स्वत्व नही प्राप्त था। दूसरी अवस्था (२००-११०० ई०) मे याज्ञवल्क्य ने विभक्त परिवार मे प्रपौत्र पर्यन्त सन्तान न होने की दशा मे विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया। तीसरी अवस्था (११००-१९३७ ई०) में जीमूतवाहन आदि ने विभक्त और

अविभक्त दोनो प्रकारो के परिवारो में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र के अभाव में विधवा को दायाद बनाया। १९३७ ई० से चौथी अवस्था आरंम्भ हुई, इस वर्ष 'हिन्दू स्त्रियो की सम्पत्ति' के कानून द्वारा उसे पुत्र के साथ पति की सम्पत्ति में अंशहर बनाया गया। विधवा यद्यपि दायाद बन गयी है, किन्तु पति की सम्पत्ति में उस का स्वत्व सीमित होता है, वह इसे बेचने, दानादि करने का स्वत्व नही रखती। इस अध्याय मे विधवा के सीमित स्वत्व के दुष्परिणामो की चर्चा करते हुए, उसे कानून द्वारा दूर करने के प्रयत्नो का उल्लेख किया गया है।

अन्तिम अध्याय मे हिन्दू परिवार के भविष्य का विचार किया गया है। इसमें पहले पश्चिमी जगत् के कुछ विचारको की उन मनोरंजक कल्पनाओ का उल्लेख है, जिनमें आगामी युगो मे परिवार-पद्धति के अन्त की सभावना प्रकट की गयी है तथा साथ ही पश्चिमी जगत् की उन परिस्थितियो का विवेचन है, जो इन कल्पनाओ का आधार है और यह बताया गया है कि विज्ञान द्वारा भले ही कितने आश्चर्यजनक आविष्कार हो जाय, किन्तु परिवार के सब प्रयोजनो को एक साथ पूरा करने वाली किसी अन्य सस्था का आविष्कार निकट भविष्य मे सभव नही प्रतीत होता। अत. परिवार पद्धति के उन्मूलन की कोई आशका नही है, किन्तु इसमें अनेक परिवर्त्तन होगे। भारत में भावी कुटुम्ब-व्यवस्था वर्त्तमान हिन्दू परिवार-प्रणाली से अनेक अशो मे विभिन्न होगी, क्योकि इस समय उस पर अनेक आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक तत्व प्रभाव डाल रहे है। इन तत्वो की समीक्षा के बाद यह परिणाम निकाला गया है कि भविष्य मे हिन्दू परिवार में सयुक्त-कुटुम्ब-पद्धति का अन्त निश्चितप्राय है, पति-पत्नी के अधिकारो में वैपम्य समाप्त हो जायगा, पति और पिता के रूप मे परिवार में पुरुष की वर्त्तमान प्रभुता कम हो जायगी, नैतिकता के दोहरे आदर्श का अन्त होगा, परिवार के स्थायित्व मे पहले की अपेक्षा कमी होगी, कुटुम्ब में सन्तानो की संख्या घटेगी, पर दाम्पत्य प्रेम मे वृद्धि होगी।

इस पुस्तक के प्रणयन की प्रेरणा का तथा प्रकाशन की व्यवस्था का अधिकाश श्रेय बगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता को है। मण्डल के अवैतनिक मन्त्री श्री कैलाशनाथ जी ने इसके प्रकाशन में जो उत्साह और अनुराग दिखाया है, उसके लिये लेखक उनका तथा मण्डल का बहुत आभारी है। लीडर प्रेस के व्यवस्थापक श्री विन्दा प्रसाद जी ठाकुर, तथा जाव विभाग के अध्यक्ष श्री शुकदेव जी दुबे और पटवर्धन जी ने इसके मुद्रण में बहुमूल्य सहयोग दिया है, श्री रघुवर जी पाडे ने अन्तिम प्रूफो मे भी सशोधन स्वीकार करके इस के शुद्ध

प्रकाशन में बड़ी सहायता की है, लेखक इन सब महानुभावो का कृतज्ञ है। इन के अतिरिक्त इस पुस्तक के सम्बन्ध में बहुमूल्य सुझाव देने तथा इसके प्रूफ संशोधन में सहायता देने के लिये वह अपने गुरु श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार साहित्याचार्य एम० ए० का, और सहयोगी श्री पं० धर्मदेव जी वेदवाचस्पति एम० ए० का, श्री रामनाथ जी वेदालंकार एम० ए० का, श्री शंकर देव जी विद्यालंकार एम० ए० का तथा श्री रामेश वेदी का अत्यन्त अनुगृहीत है। इस पुस्तक की प्रेस कापी तय्यार करने में उसके शिष्य रामप्रताप ने बडी सहायता की है। श्री वासुदेव शरण जी अग्रवाल एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् ने इस पुस्तक की बड़ी सुन्दर और विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिख कर लेखक को अनुगृहीत किया है। इस की छपाई के सम्बन्ध में इलाहाबाद जाने पर, श्री पं० नवरत्न जी विद्यालंकार के प्रेमपूर्ण, अविस्मरणीय आतिथ्य से इस के शीघ्र मुद्रण में बड़ा सहयोग मिला है, इसके लिये लेखक उनका बहुत आभार मानता है। गुरुकुल पुस्तकालय के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री रामरक्खामल जी ने लेखक को इस ग्रन्थ के प्रणयन में जो सुविधाये दी, उनके लिये वह उनके प्रति बहुत कृतज्ञ है।

इस पुस्तक में प्राचीन ग्रन्थो के सैकड़ो प्रतीक हैं, इन्हे यद्यपि यथाशक्ति शुद्ध रखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि कुछ अशुद्धियों का रह जाना संभव है। इन्हे तथा अन्य भूलो को प्रदर्शित करने वाले तथा इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उपयोगी सुझाव देने वाले महानुभावो का लेखक बहुत आभारी होगा।

गुरुकुल कांगड़ी
कार्त्तिकी पूर्णिमा २०११
२५ नववम्बर १९५४

हरिदत्त

भूमिका

भारतीय समाज विश्व के इतिहास में एक महती संस्था है। इसके अन्तर्गत करोडो मानवो का जीवन सचालित होता आया है और इसके आदर्शों के अनुसार चल कर वे अपनी विविध शक्तियो का सतुलन प्राप्त करते रहे है। इस समाज का इतिहास लगभग पाच सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। इसके अन्तर्गत भारतीय समाज निर्माताओ ने मानव की हितबुद्धि से भौतिक जीवन और अध्यात्म जीवन की अनेक सस्थाओं का निर्माण किया। भारतीय धर्म, दर्शन, आर्थिक जीवन, वर्ण और आश्रम, ये और इसी प्रकार के अन्य कितने ही तत्त्व हमारे सामाजिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण प्रयोग कहे जा सकते है, पर इन सब मे सुलभ सुखकारी एवं महत्त्वपूर्ण संस्था भारतीय परिवार है। यह अपूर्व ज्योति इस देश मे प्रकट हुई। इस आलोक से पूर्वयुगो मे यहा के मनुष्यो को जीवन में मार्ग दर्शन मिला। आज भी उसकी भास्वर ज्योति हमारे लिए अत्यन्त प्रिय है। परिवार के रूप में एक ऐसा रस का सोता हमारे समाज मे प्रकट हुआ जो हर एक के लिए सुलभ था। उसने मानव के जीवन को सुख और शान्ति से सीच दिया। हिन्दू परिवार हमारे परिवर्तनशील इतिहास में स्थायी ध्रुव विन्दु है। इस सस्कृति मे जो कुछ भी वरेण्य और रसपूर्ण है वह सब "हिन्दू परिवार" इस एक सूत्र मे समाया हुआ है। इतिहास के किन्ही धुवले युगो मे परिवार का प्रथम आविर्भाव खोजने के लिए कई प्रकार की कल्पना की जा सकती है। किन्तु इस सस्था की नीव में इसके उप काल में ही इसके शिल्पी कवि ने मानो अमृत का घट स्थापित कर दिया था। इसी कारण काल के अनन्त प्रवाह में हिन्दू-परिवार का अस्तित्व अक्षय है। श्रद्धा, यज्ञ, ज्ञान, तप, प्रेम, सत्य, व्रत, नियम, ये सब महान् गुण मिलकर परिवार की रक्षा करते है और उसे प्रत्येक पीढी में नई शक्ति और नए रस से आगे वढाते है।

स्त्री और पुरुष दोनो परिवार के मूल है। नदी के दो तटो की भाति वे सह-युक्त है। दोनो के बीच में ही जीवन की धारा प्रवाहित होती है। वैदिक साहित्य मे स्त्री और पुरुप के सम्मिलन की उपमा पृथिवी और द्युलोक से दी गई है। जैसे शुक्ति के दो दलो के बीच में मोती की स्थिति होती है, वैसे ही स्त्री और पुरुप इन दोनो के मध्य मे सन्तति है। द्यावा-पृथिवी एक ही सस्थान के परस्पर

पूरक हैं। आकाशचारी मेघ वृष्टि द्वारा पृथिवी को गर्भ धारण कराते हैं और तब वृक्ष वनस्पतियो का जन्म होता है। यही स्थिति स्त्री पुरुष या पति-पत्नी की है। वे दोनों दो होते हुए भी एक हैं। दोनों के इस अभेद की स्वीकृति विवाह संस्कार है। तत्सम्बन्धी मंत्रो मे यह बात स्पष्ट कही गई है।

अमोऽहमस्मि सा त्वम्। सा त्वमसि अमोऽहम्। सामाहमस्मि ऋक् त्वम्।
द्यौरहं पृथिवी त्वम्[1]।
मै यह हूँ। तू वह है।
तू वह है। मै यह हूँ।
मैं साम हूँ। तू ऋक् है।
मै द्यौ हूँ। तू पृथिवी है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो स्त्री वृत्त का व्यास है और पुरुष उसकी परिधि है। जिस प्रकार ऋग्वेद के मंत्र को ही आधार बना कर उसे साम के गीत मे परिवर्द्धित किया जाता है (ऋचि अध्यूढ़ साम गीयते, छान्दोग्य उपनिषद् १।६।१) और जिस प्रकार वृत्त के व्यास को तिगुना करके परिधि बनती है, उसी प्रकार स्त्री के जीवन से गुणित होकर पुरुष का जीवन बनता है। यही पति-पत्नी या गृहस्थ के जीवन का साम संगीत है। द्युलोक और पृथिवी लोक के साथ पुरुष और स्त्री या पति-पत्नी की उपमा देने का स्पष्ट उद्देश्य यही है कि विश्व रचना के मूलभूत हेतु की भांति वे दोनो द्विधा विभक्त होते हुए भी जीवन के समस्त व्यापारो मे एक दूसरे के लिए अनिवार्य हैं। किसी हिन्दी कवि ने ठीक कहा है—होते बिरवा भए दुइ पाता। पिता सरग औ धरती माता॥ (जायसी)

जैसे ही सृष्टि का बीज अंकुरित हुआ वह दुपतिया हो गया। उसमे आकाश पिता और धरती-माता बनी। जैसे ही विधाता की लेखनी यह अनन्त रहस्य भरी कथा लिखने चली उसकी दो फाके हो गई। एक वृक्ष था, उसमे दो डालें फूट निकली। चांद-सूर्य, दिन-रात, सृष्टि के सब द्वन्द्व एक दूसरे के सघाती बने

---

१. यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ निम्न ग्रन्थों में मिलता है, पहले दो में 'सा त्वमसि अमोऽहम्' का पाठ नहीं है। अथर्व० १४।२।७१, ऐतरेय ब्रा० ८।२७, काठक सं० ३५।१८, जैमिनीय उप० ब्रा० १।५४।६, ५७।४, शांखा० ब्रा० १४।९।१९, बृह० उप० ६।४।१९, २०; आश्वलायन गृह्य सूत्र १।७।६, शांखा० गृ० सू० १।१३।४, पार० गृ० सू० १।६।३, आपस्तम्ब मं० ब्रा० १।३।४, मानव गृ० सू० १।१०। १५

है। विश्व का यह विधान सृष्टि के ललाट पर अंकित है जिसे जब जो चाहे पढ सकता है। इसके अनुसार गृहस्थ की व्याख्या हिन्दू धर्म की उस सूक्ष्म दृष्टि को प्रकट करती है जिसके द्वारा स्थूल और नश्वर का सम्बन्ध प्रकृति के नित्य और सूक्ष्म विधान के साथ मिलाने का प्रयत्न किया गया था। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में मनु ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित किया—

'यो भर्त्ता सा स्मृतांगना' (मनुस्मृति ९।४५)।

'जो पुरुष है वही स्त्री है।' इस मत का उद्देश्य यह बताना है कि गृहस्थ के जीवन में जितना पति का विस्तार है उतना ही पत्नी का भी। गृहस्थ की चर्चा करते हुए जिस वृत्त की ओर ऊपर संकेत किया गया है उसके अन्तराल में स्त्री और पुरुष समान रूप से व्याप्त है। एक विद्युत के समान और दूसरा चुम्बक के समान स्वधर्म में प्रवृत्त होता है। एक आग्नेय और दूसरा सौम्य है। एक दृढ और दूसरा सुकुमार है। दोनो एक ही तन्त्र के ताने बाने है। भारतवर्ष में इसी आदर्श को सनातन कहा गया है। यही यहाँ की प्राचीन गृहस्थोपनिषद् है जो विश्व के ध्रुव विधान के अनुसार जीवन को प्रेरणा देती है। जो सूक्ष्म और नित्य है वही मूर्तरूप में प्रकट होता है। अत एव गृहस्थ के इन उच्च भावो से असख्य परिवारो ने प्रेरणा ग्रहण की है और उस आनन्द को आत्मसात् किया है जो परिवार के क्षेत्र की निजी वस्तु है।

हिन्दू परिवार के सम्बन्ध में धर्म शब्द पर भी विचार करना आवश्यक है। धर्म से तात्पर्य उन सत्यात्मक नियमो से है जो व्यक्ति और समाज के जीवन को धारण करते हैं। यह धर्म कर्तव्य के रूप में परिवार के प्रत्येक प्राणी के सम्मुख आता है। पिता, माता, पुत्र, बन्धु, जिनका परिवार से नाता होता है वे सब कर्तव्य के ऋण से बधे होते है। जहा कर्तव्य है वहा विरोध की स्थिति नही रह जाती। कर्तव्य का आग्रह व्यक्ति के विचार और कर्म को तनाव से ऊपर उठा देता है। उसके द्वारा व्यक्ति सेवा का मार्ग अपनाता है। इसी भावना का दूसरा नाम यज्ञ है। जिसमे व्यक्ति दूसरे के लिए अपने स्वार्थ और सुख का समर्पण करके दूसरो की सहायता करने की युक्ति प्राप्त करता है, उस जीवन-विधि को यज्ञ कहते है। हिन्दू परिवार की व्यावहारिक स्थिति इसी भावना के बल पर टिकी है। इस प्रकार के प्रेममय वातावरण में परिवार के सदस्य स्वय अपने अपने कर्तव्य को पहचान कर उसका पालन करते है। दूसरो से छीन झपट कर अपने लिए कुछ प्राप्त करने की बात वे मन मे नही लाते। यही पारिवारिक जीवन का रस है। इसी स्थिति का नाम स्वर्ग का जीवन है। जहा

प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की सहायता और सेवा करने की बात सोचता है, वही आदर्श स्थिति स्वर्ग है। इसके विपरीत जब हम प्रत्येक वस्तु को अपने ही स्वार्थ की दृष्टि से देखते हैं और अधिकार की बात कह कर केवल पाने या लेने की ही आकाक्षा करते हैं तो हम सघर्ष और विरोध को जन्म देते हैं। उस तनाव की स्थिति में जो न हो जाय थोडा है। उसे ही नीतिशास्त्र की भाषा मे नरक कहा जा सकता है। अत एव यह बात सचाई से स्वीकार की जा सकती है कि हिन्दू समाज के जिस कोने मे प्रेम की स्थिति का अधिकतम अनुभव होता रहा और जहां प्रीति का सौरभ सब से मधुर रूप मे व्याप्त रहा वह हिन्दू परिवार था। रामायण मे जो हिन्दू परिवार का रूप है वह स्वार्थपरता के ऊपर सेवाधर्म की विजय सूचित करता है। रामायण के आदर्श से जो शीतल वायु मिलती है वह आज भी हिन्दू पारिवारिक जीवन को सुख पहुँचाती है। पारिवारिक जीवन के स्वास्थ्य के लिए जिस आध्यात्मिक पोषण की आवश्यकता है वह रामायण के आदर्श चरित्रो से हमें पूर्णमात्रा मे प्राप्त हो जाता है।

हिन्दू-समाज का जीवन मुख्य रूप से परम्परा की शक्ति से सचालित होता है। जो प्राचीन है वह नित्य नई शक्ति से नवीन के साथ मिलकर उसका पथ प्रदर्शन करता है। इस परम्परा का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। ऐसा कुछ नही जो इसके अन्तर्गत न आता हो। नीति, धर्म, दर्शन, विचार, ज्ञान, भक्ति, पुण्य, दान, कथा, वार्ता, व्रत, पर्व, उत्सव, सस्कार, दया, उदारता आदि जितने भी जीवन मे मूल्यवान् तत्त्व हैं, वे सब परम्परा के रूप में हमें अनायास ही सुलभ होते हैं। परम्परा की महती जीवनी शक्ति ही सस्कृति है। हम प्राय. आत्म-सन्तोष से कहा करते हैं कि भारतीय समाज में कहीं कोई ऐसी शक्ति है जो उसे मृत्यु के सस्पर्श से बचाती है और जो प्राणवन्त जीवन के नए वेगो को जन्म देती है। यह शक्ति परम्परागत सस्कृति का ही रूप है। परम्परा की यह मूल्यवान् थाती परिवार को पूर्वापर क्रम से प्राप्त होती है और इसी मे वह फलती फूलती, परिवर्द्धित होती हुई आगे बढती है। एक प्राचीन राष्ट्र होने के नाते हमें अपनी इस परम्परा पर सच्चा आनन्द होना चाहिए। समाजशास्त्र की दृष्टि मे इसने हमारे जीवन के अनेक पहलुओं की रक्षा की है। इसने हमारे ज्ञान और कर्म के कितने ही मूल्यवान् तत्त्वों को कई सहस्र वर्षों की अविच्छिन्न धारा से हमारे पास तक पहुँचाया है। इसके साथ यह भी सचाई से माना जा सकता है कि प्राचीनप्रियता की हमारी सामाजिक प्रवृत्ति सदा-नूतन को स्वीकार करते रहने से ही स्वय बची रह सकी है। नियमित विकास और सतुलित प्रगति की

यह पद्धति हिन्दू परिवार में सबसे अधिक देखी जा सकती है। हमारे जीवन में जो कुछ भी सुन्दर है परिवार में उसकी रक्षा हुई है। आगे भी परिवार के सगठन को सँभालने से ही हमें सब प्रकार की सास्कृतिक समृद्धि प्राप्त हो सकेगी। कलाओ की दृष्टि से, पर्व और उत्सवो की दृष्टि से, लोक-साहित्य और सस्कृति की दृष्टि से हिन्दू परिवार की क्षमता अब भी बहुत बढी चढी है और समाज के प्रत्येक स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति हो रही है। सास्कृतिक जीवन को सँभालने के लिए कुल-सस्कृति को ठीक करना आवश्यक है। प्राच्य देशो की सभ्यता में कुल का अत्यधिक महत्व रहा है। कुल का आचार, कुल की मर्यादा, कुल का गौरव, इन शब्दो का जीवन मे वास्तविक महत्व था। इन से लोगों के कर्म और विचारो पर नैतिक प्रभाव पडता था। मनुष्यो के सब प्रयत्न कुल की प्रतिष्ठा को ऊँचा उठाने के लिए होते थे। इस प्रकार के श्रेष्ठ कुलों को महाकुल कहा जाता था।

विदुर ने युधिष्ठिर से कहा—"असत्य और बल से धन प्राप्त कर लेना सभव है, किन्तु महाकुल का जो आचार है वह धन से नही प्राप्त किया जा सकता।" इस पर धृतराष्ट्र ने कहा—"मैंने सुना है कि जो धर्म और अर्थ मे बढे चढ़े है, जो बहुत पढे-लिखे है, वे भी महाकुल की प्रशंसा करते है। हे विदुर, मैं जानना चाहता हूँ कि महाकुल किस प्रकार बनते है।" विदुर ने कहा—"तप, दम, ब्रह्म, ज्ञान, यज्ञ, सदा अन्नदान, शुद्ध विवाह, और सम्यक् आचार—इन सात गुणो से साधारण परिवार भी महाकुल बन जाते है। जो किसी प्रकार सदाचार का अतिक्रमण नही करते, जो विवाह सम्बन्ध ठीक प्रकार करते है, जो जीवन मे झूठ का मार्ग छोड़ कर धर्म का आचरण करते है, जो अपने कुल के लिए विशिष्ट कीर्ति उपार्जित करने का प्रयत्न करते हैं, उनके कुल महाकुल कहलाते है। जो आचार से हीन हैं, उन कुलो में कितना भी धन हो, वे कुल प्रतिष्ठा नही प्राप्त कर सकते। किन्तु अल्प धन होने पर भी सदाचार ठीक होने से कुल लोक में यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करते है और उनकी गिनती महाकुलों मे होती है" (उद्योग पर्व ३६।२१-२९, मनु० ३।६३-६७)।

यहा बलपूर्वक यह मत प्रकट किया गया है कि धन कुलो की महत्ता का कारण नही, कुल की ऊँचाई तो धर्म के पालन और धर्म के नियमो की परिवार में होनेवाली नई-नई व्याख्याओ से होती है। धर्म के सद्गुणो से परिवार का सिंचन करना, यही परिवार के प्रत्येक सदस्य के मन की अभिलाषा रहती है। परिवार को महान बनाओ, श्रेष्ठ बनाओ, उसे रूप संपन्न करो, प्राण सपन्न करो,

अर्थ, धर्म और काम सज्ञक पुरुपार्थो से सम्पन्न करो, अपने जीवन की शक्ति की नवीन धारा उसमे प्रवाहित करो—इस प्रकार की उत्साहमयी मानसिक स्थिति परिवार की उच्चता का कारण वनती है। कुल का प्रत्येक सदस्य सोचता है मेरे कारण इस महती परम्परा का विशकलन न होने पावे, यह शृखला मेरे द्वारा लुप्त न हो, मैं इसमें निर्वल कडी न वनू, इसका तन्तु मेरे द्वारा उच्छिन्न न हो। प्रत्येक गृहपति इस प्रकार की भावना से यावज्जीवन अपने परिवार का सवर्धन करता रहा है। पिता माता, पति पत्नी, पुत्र पुत्री, भाई वहनो से लहलहाता हुआ परिवार रूपी भवनोद्यान कितना रमणीय और रसपूर्ण होता है, इसे शव्दो मे कहना कठिन है।

ऊपर कहा जा चुका है कि हिन्दू परिवार रूपी वृत्त का व्यास या ध्रुव - विन्दु पत्नी है—ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथिवी ध्रुव विश्वमिदं जगत्। ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवा स्त्री पतिकुले इयम् (साम मन्त्र व्राह्मण १।३।७) । स्त्री जीवन के रस का अक्षय्य स्रोत है। उसकी महिमा को किस प्रकार कहा जाय ? विवाह संस्कार के समय इस प्रकार के ओजस्वी स्वर सुने जाते है—

यस्यां भूतं समभवत् यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि स्त्रीणां यदुत्तमं यशः॥
(पारस्कर गृह्यसूत्र १।७।२)

यह सत्य ही है कि भूत और भविष्य समस्त जगत् के जन्म का कारण स्त्री है। उसके उत्तम यश की आराधना भारतीय सस्कृति मे भरपूर हुई है। इस सम्वन्ध मे मनु के एक वाक्य पर विचार करना आवश्यक है, जिसे ठीक न समझने के कारण स्त्री के उत्तम यश को हम धूमिल हुआ मानने लगते है। मनु ने लिखा है—

पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
(मनुस्मृति ९।३)

कुमारी अवस्था मे पिता, विवाहित अवस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र स्त्री की रक्षा करते है, स्त्री स्वातन्त्र्य की अधिकारिणी नहीं होती। इस स्थूल अर्थ के पीछे प्राचीन हिन्दूधर्म शास्त्र का एक कानूनी सिद्धान्त छिपा है। मनु के अतिरिक्त और भी धर्मशास्त्रों का ऐसा ही मत था। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार 'अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री' और वसिष्ठ धर्मसूत्र के अनुसार

'अस्वतंत्रा स्त्री पुरुष प्रधाना' आदि अभिमतों का इस ग्रंथ के विद्वान् लेखक ने भी उल्लेख किया है (पृ० १४४)।

वस्तुतः तंत्र का अभिप्राय कानूनी व्यक्तित्व (जूरिस्टिक परसन) है। इस पुस्तक में इसका प्रतिपादन हुआ है (पृ० ४५२-३)। स्त्री का और पति का तंत्र विवाह के समय एक में मिल जाता है[1]। विवाह द्वारा स्त्री अपने 'स्व' को पति के 'स्व' में मिला देती है। जन्म के समय पृथक् पृथक् केन्द्र के जो दो वृत्त बनते है, वे कालक्रम से एक दूसरे के पास आकर परस्पर इस प्रकार मिल जाते हैं कि उनका केन्द्र एक हो जाता है। स्त्री-तंत्र और पुरुष-तंत्र इन दोनो का एकान्त सम्मिलन अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष इनमें से प्रत्येक क्षेत्र और स्तर पर होता है। दोनो का काम-तंत्र एक न हो तो सतति नहीं हो सकती। स्त्री पुरुष के काम-तंत्र की सर्वात्मना अभिन्नता ही गृहस्थ के प्रजा-उत्पादन रूप कर्म को पवित्र प्रक्रिया बनाती है। मन से, वचन से, कर्म से दोनो का कामतंत्र जब एक हो जाता है उस तन्निष्ठ व्रत का नाम ही पातिव्रत धर्म है। व्यक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो एक ही आत्म-तत्त्व स्त्री,पुरुष,कुमार, कुमारी,इन अनेक रूपो मे स्थूल पार्थिव उपकरणो द्वारा शरीर प्राप्त करता है। शरीर में रहते हुए उसका व्यक्तित्व अनेक प्रकार के विचारो और कर्मों में प्रकट होता है। इस प्रकार के जितने भी पहलू हैं, जितने भी क्षेत्र हैं, वे सब विवाह के उपरात स्त्री और पुरुष के लिए पृथक् नही रह जाते, रह नही सकते, अन्यथा उतने ही अश में दोनो का मिलन अपूर्ण और खण्डित रह जायगा। अतएव हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार पति-पत्नी के कामतंत्र का विस्तार बिलकुल अभिन्न, समान और एकात्मक है। उससे बढ़कर एकायन मार्ग या ऐकान्तिक धर्म की कल्पना सम्भव नही। इसी प्रकार विवाह द्वारा दोनो के धर्म का तंत्र भी एक हो जाता है। 'पत्युर्नो यज्ञ सयोगे' (४।१।३३) सूत्र से पत्नी शब्द सिद्ध होता है, अर्थात् विवाह यज्ञ द्वारा जो स्त्री-पुरुष का सयोग होता है उससे पत्नी अपना यह अन्वितार्थ पद और अधिकार प्राप्त करती है। इसी कारण यज्ञ पत्नी के बिना असम्भव है।। तीर्थ, जप, होम, दान, व्रत सब में स्त्री का साहचर्य अनिवार्यतया आवश्यक है। जहां यह साहचर्य नही वहा वह कर्म अपूर्ण है। कवि ने ठीक ही कहा है—

---

१. मित्रमिश्र ने इसे दूध और पानी की तरह एक दूसरे में घुल मिल जाने वाला कहा है—पत्न्याः पतिद्रव्ये स्वत्वं नीरक्षीरवदेकलोलीभावापन्नं सहाधिकारिककर्मोपयोगि। (व्यवहार प्रकाश, पृ० ५१०) (हरिदत्त)।

वधूं द्विजः प्राह तवैष वत्से वह्निर्विवाहं प्रति कर्मसाक्षी ।
शिवेन भर्त्रा सह धर्मचर्या कार्या त्वया मुक्तविचारयेति ॥

(कुमारसंभव ७।८३)

पति-पत्नी दोनो की धर्मचर्या यावज्जीवन साथ होनी चाहिए । आश्वलायन गृह्यसूत्र (१।६।१) के अनुसार 'सह धर्मं चरतम्' इस प्रतिज्ञा के साथ किया हुआ विवाह सम्बन्ध ही उत्तम प्राजापत्य विवाह है (मि० गौ० ध० सू० ४।५) । रामायण (१।७३।२६) में जनक ने इसी भाव से कहा है—

'इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ।'

मुक्त विचार होकर साथ धर्माचरण करने का तात्पर्य यह नही है कि स्त्री अपनी विचार शक्ति, प्रेरणा और भावो को तिलाञ्जलि दे दे, किन्तु इसका अर्थ इतना ही है कि जिस धर्मतंत्र की अभिन्नता को उसने स्वीकार किया है उसमे कोई विकार न आने पावे । वह उस प्रकार के विचार न रखे जिससे धर्म के तत्र की अभिन्नता बिगड़े । इसी प्रकार पति और पत्नी का अर्थ-तंत्र एवं व्यवहार-तत्र भी एक हो जाता है । धर्मशास्त्रो मे इस प्रकार की आदर्श अभिन्नता की बात कहकर सर्वात्मना स्त्री के तत्र या व्यक्तित्व को पति के तत्र में लीन करके मानो स्त्री का सब कुछ ले लिया जाता है । किन्तु इसे ही यो भी कह सकते है कि जो कुछ पति के तत्र में है वह सब स्त्री को प्राप्त भी हो जाता है । सिद्धान्त रूप मे इस प्रकार की स्थिति मान्य होते हुए भी व्यवहार मे कई प्रकार से स्त्री के अर्थतत्र को पुन निर्मित करने की अनुमति धर्म-शास्त्रकारो ने प्रदान की । इसको 'स्त्रीधन' की सज्ञा दी गई । उसके 'आधिवेदनिक आदि अनेक प्रकार होते थे जिनका विद्वान् लेखक ने मार्मिक विवेचन किया है (पृ० ५५८-६४) । जब एक बार स्त्री ने अपने लिये पुरुष चुन लिया, उसे पति मानकर स्वय पत्नी की स्थिति प्राप्त कर ली, तो फिर जीवन मे आगे आने वाले अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव उस स्थिति का परिवर्तन नहीं कर सकते । इस आदर्श कानूनी मत के होते हुए भी व्यवहार मे धर्मशास्त्रकारो ने कई प्रकार से स्त्री-तत्र को विवाह के उपरान्त भी स्वीकार किया । उदाहरण के लिये जब पति खो जाय या मृत हो जाय या संन्यास ले ले (नष्टे मृते प्रव्रजिते) तो पति का तंत्र उसके साथ ही लुप्त या नष्ट हो जाता है (नारद ५।९७), पर स्त्री का तंत्र उसके साथ लुप्त हुआ नही माना जाता । वह प्रत्यक्ष रहता ही है । अतएव उसकी सत्ता मानना आवश्यक है । वह पुनः 'स्वतत्र' हो जाता है । इसका कानूनी व्यक्तित्व मानना

ही पडेगा। तभी स्त्री सपत्ति आदि रख सकेगी और धन, घर, गोधन आदि की स्वामिनी बनी रह सकेगी। यदि स्त्री के पुत्र हैं तो माता का अवशिष्ट तन्त्र पुत्र के तन्त्र में विलीन हुआ माना जाता था। इसी स्थिति मे 'रक्षन्ति स्थाविरे पुत्रा.' यह सिद्धान्त चरितार्थ होता है। स्त्रीधन के कितने प्रकारो में स्त्री का निजी तंत्र हिन्दू कानून मे मान्य किया गया है और कहा नही, यह ऐतिहासिक विकास और कानूनी विवेचन का प्रश्न है। किन्तु सब के पीछे मूल सिद्धान्त यही था कि स्वस्थ और सहज परिस्थिति में स्त्री पुरुष के विवाह के फलस्वरूप पति-पत्नी के लौकिक और धार्मिक व्यक्तित्व सर्वात्मना अभिन्न और एक हो जाते हैं और इस एकता के सपादन के लिए पत्नी का तन्त्र पति के तन्त्र में लीन रहता है। कभी कभी इस प्रकार की कानूनी स्थिति से उलझे प्रश्न भी उत्पन्न हो सकते थे। जैसे, जब युधिष्ठिर द्यूत में अपने को दे चुके तो द्रौपदी का तंत्र जो अपने पति के तंत्र मे लीन था उसे भी वे हार गए। कुछ लोगो का इस प्रकार का सूक्ष्म मत कौरवो की उस सभा में था। सिद्धान्त-रूप से इसमे सत्याश भी था। किन्तु व्यवहार में यदि पति युधिष्ठिर ने पहले पत्नी को नही दे दिया था और वे स्वय दास बन गए थे तो धर्मशास्त्र में दास स्वय अधन होता है, वह धन नही रख सकता, और न दान ही कर सकता है (मनु ८।४१६)। दास का तन्त्र स्वतन्त्र नही रह जाता, अतएव जैसे ही युधिष्ठिर दास हुए कि पत्नी का तन्त्र जो पहले उनके पतिरूप में लीन था वह अलग हो गया। इस प्रकार का मत रखने वाले कुछ अन्य सभासद् थे (पृ० १०७)। इन्ही प्रश्नो की विवेचना करके निर्णय देने के लिये द्रौपदी ने भीष्म का आवाहन किया था, किन्तु भीष्म अपना स्पष्ट मत व्यक्त न करके मौन बने रहे।

कौमार अवस्था मे स्त्री का तन्त्र पिता की रक्षा में एव उसके अधीन कहा गया है। यह स्थिति भी इसी बात की द्योतक है कि यदि कुमारी कन्या का कानूनी व्यक्तित्व स्वीकार किया जाता तो व्यवहार में कोई उसे न्यायालय में भी खींच कर ला सकता था। किन्तु यदि उसका कानूनी व्यक्तित्व नही है तो उसे पिता की रक्षा प्राप्त है, और न्यायालय की परिधि मे उसे नही लाया जा सकता। इस प्रकार की स्थिति केवल हिन्दू धर्मशास्त्र की ही विशेषता न थी। पुरुष-प्रधान गृहस्थ धर्म से सचालित समस्त आर्य जाति का ऐसा ही धर्म था। रोम देश के कानून में भी ठीक मनु जैसा ही सिद्धान्त था। वहां कुमारी कन्या पर पिता का अधिकार (डोमीनियन), विवाहित अवस्था में पति का अधिकार और वृद्धावस्था में पुत्र का अधिकार माना जाता था। यही पुरुष-प्रधान गृहस्थ

पद्धति या 'पेट्रिया पोटेस्टा' प्रणाली थी। ब्रह्मचर्य आश्रम के नियमों के अनुसार ब्रह्मचारी के लिये गुरुकुल मे निवास आवश्यक था। उस अवस्था मे यह कल्पना की जाती थी कि मानों ब्रह्मचारी उतने समय के लिए गुरु के गर्भ मे वास कर रहा है। यह भाव आलंकारिक था। कालान्तर मे धर्मशास्त्रकारों ने विचार किया कि स्त्री के लिए पति के अतिरिक्त अन्य किसी भी व्यक्ति में इस प्रकार की तल्लीन स्थिति की कल्पना असम्भव है। अतएव विवाह को ही स्त्री के लिए मौञ्जीबन्धन, उपनयन या गुरुकुल वास माना गया (मनु० २।६७)। पति के जीवन काल मे किस प्रकार पत्नी अपने लिए पति से अधिक शारीरिक तंत्र का विस्तार नही चाहती थी, इसका अच्छा उदाहरण गान्धारी का वह दृष्टिकोण है जिसके अनुसार उसने शारीरिक सामर्थ्य में अपने पति से अधिक न होने के लिए आंखो पर पट्टी बांध ली थी (महाभा० १।११०।१४)। एक आदर्श दृष्टिकोण यह भी था कि पति और पत्नी के तंत्र एक दूसरे मे इस प्रकार लीन हो जाते हैं कि जन्मान्तर में भी अलग नही होते। पति के शरीर से प्राण वियुक्त होने पर पति-पत्नी के तंत्रो की अभिन्नता यम के लोक मे भी नहीं मिटती और यम को भी उसे स्वीकार करना पड़ता है। सावित्री-सत्यवान् का उपाख्यान स्वय यम के द्वारा इसी व्याख्या की स्वीकृति है (पृ० १५३-५४)। स्त्री और पुरुष का जीवन जब साथ-साथ बढ़ता है तो पति के परिवर्तनशील तंत्र के साथ पत्नी के तंत्र का विस्तार भी घटता बढ़ता रहता है। राम वन मे, सीता घर मे, यह दो तंत्रों का अमिलन होता, अतएव सीता छाया की भांति राम के तंत्र का अनुसरण करती है। वन मे भी रावण उनका शरीर मात्र हर ले गया, मन का तंत्र राम के साथ अभिन्न बना ही रहा। इस प्रकार मनु ने स्त्री के पृथक् तंत्र या स्वातन्त्र्य का निराकरण करके धर्मतत्त्वविद् की दृष्टि से पति-पत्नी की एकतन्त्रता का ही प्रतिपादन किया है। मनु की भाषा कानूनी है। उसका अर्थ और परिणाम भी उसी प्रकार समझे जाने चाहिए। स्त्री निन्दा और कुत्सा की दृष्टि से कुछ कह डालने की भावना मनु के वाक्य मे नही है (पृ० १७६)। आर्य जाति की सभी शाखाओ मे स्त्री पुरुष के तादात्म्य सम्बन्ध एव उससे प्रेरित आर्थिक और सामाजिक व्यवहार की व्याख्या ही स्मृतिकारो को इष्ट थी। इस विषय में अर्वाचीन विचार धारा से विचार करते हुए हमारा मन कभी-कभी क्षुभित भले ही हो, किन्तु जहां तक हिन्दू परिवार का सम्बन्ध है दायभाग और उत्तराधिकार के नियमो मे इस सिद्धान्त के कारण कोई विशेष अड़चन उत्पन्न नही हुई और इस परिपाटी ने संपत्ति के उत्तराधिकार की एक ऐसी पद्धति को

जन्म दिया जो दीर्घ काल तक टिकी रही और जिसके कारण कम से कम वैपम्य या असुविधा उत्पन्न हुई। यों तो रिक्थ या उत्तराधिकार की कोई भी प्रणाली सब परिस्थितियों में निर्दोष या त्रुटिहीन नही कही जा सकती।

'हिन्दू परिवार मीमांसा' संज्ञक यह ग्रंथ हिन्दी मे सामाजिक अध्ययन का अति विशिष्ट प्रयत्न है। यह एक नये प्रकार के साहित्य का सूत्रपात करता है। विद्वान् लेखक ने वैदिक युग से वर्तमान काल तक के हिन्दू परिवार का ऐतिहासिक और समाज शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया है। ग्रंथ दो भागो में विभक्त है। पहिले दस अध्यायो मे हिन्दू परिवार के सामान्य स्वरूप का वर्णन है जिसके मुख्य विषय इस प्रकार हैं। पहिले अध्याय में हिन्दू परिवार का उद्भव, महत्त्व और उद्देश्य कहे गये हैं। दूसरे में हिन्दू परिवार का विकास एवं संयुक्त कुटुम्व पद्धति के उपादान एवं सामाजिक लाभ का अध्ययन किया गया है। तीसरे में पति, चौथे में पत्नी, पांचवें में पिता, छठे में माता, सातवें में पुत्र, आठवें में पुत्री, नववें मे भाई वहिन आदि सम्वन्धियो के आदर्श, कर्त्तव्य, अधिकार आदि का सप्रमाण और सरस निरूपण है। दसवे अध्याय में गृहस्थ के सामाजिक और निजी कर्त्तव्यो का विवेचन है। ग्रन्थ के दूसरे भाग या अन्तिम आठ अध्यायो में हिन्दू परिवार में रिक्थ हरण अर्थात् साम्पत्तिक उत्तराधिकार एव उसके बट-वारे का, तथा पिता-पुत्र, पुत्री, पत्नी, विधवा के साम्पत्तिक स्वत्त्वो का ऐतिहासिक वर्णन है। सर्वत्र लेखक ने धर्मशास्त्र के मूल सस्कृत ग्रथो, उनके भाष्य और टीकाओ एव गत दो शताब्दियो में होने वाले अदालती निर्णयो को प्रमाण मानकर विषय का विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर हिन्दू परिवार की विभिन्न संस्थाओ की यूनान और रोम की आर्यशाखाओ की परिवार प्रणाली तथा अन्य समाजों की ऐसी ही पद्धतियो से तुलना की गई है।

हिन्दू परिवार भारतीय सस्कृति का सचालक सूत्र रहा है। समाज की शक्ति का स्रोत परिवार का जीवन है। अनेक परिवर्तनो के मध्य में हिन्दू परिवार की यह ध्रुव और दृढ शक्ति वारम्वार उभरी हुई दिखाई पडती है। परिवार की इस शक्ति का विघटन समाज के लिए हितकारी नही हो सकता। नए परिवर्तन आवश्यक है, किन्तु उनकी अन्तिम कसौटी यही है कि उनके द्वारा परिवार का संघटन दृढ वने। उसकी शीतल वायु व्यक्ति के जीवन को कुशल वनावे। उसमे एक दूसरे के प्रति सरस सम्वन्धो की सृष्टि हो। परिवार के सदस्यो के मन परस्पर उदार भावनाओ से युक्त हो, और परिवारो की यह समष्टि एक सतुलित आदर्श समाज को जन्म दे सके। हिन्दू परिवार सामाजिक

जीवन के क्षेत्र में इस देश का सब से मूल्यवान् प्रयोग है। उसे संवर्द्धित, पल्लवित और पुष्पित करना उचित है, ढीला करना नही। इस समय भी हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक और सामाजिक तत्व सक्रिय हैं। लेखक ने भी अन्तिम अध्याय में उन परिवर्तनो पर कुछ विचार किया है। एक प्रकार से हिन्दू परिवार की पद्धति हिन्दू समाज के स्वस्थ विधान की कसौटी है। कुटुम्ब और समाज दोनों का हित एक है। वह संघर्ष और विरोध पर आश्रित नही। हिन्दू परिवार के विधान का मौलिक सूत्र उसका वही अभिन्न तंत्र है जिसकी ओर ऊपर संकेत किया गया है। एक मूल परिवार में से आवश्यकतानुसार चाहे जितनी नई शाखाएँ फूटती जाती है, हमारे देखते-देखते पुत्र पिता बनते जाते हैं और नए परिवारो के स्रष्टा हो जाते हैं, किन्तु मूल पद्धति में अन्तर नही पडता। कुटुम्ब का अन्तर्यामी पुरुष था उसकी आत्मा जिस स्रोत से पोषण प्राप्त करती है उसमें व्याघात नहीं पहुँचता। इस स्वाभाविक और सहज प्रणाली की रक्षा होनी आवश्यक है। अनेक कुटुम्बो से स्त्रियां अपना-अपना व्यक्तित्व लाती हैं और उनके पृथक् जल कुटुम्ब के सम्मिलित सरोवर में मिल जाते हैं। उस नए कुटुम्ब का जिसमे वे मिलती हैं जितना विस्तार हो, जो उसकी शक्ति हो, जो उसका वैभव हो, उसके सब क्षेत्रो में, सब स्तरों पर स्त्री को चाहे जितने अधिकार दीजिए, और उसके कर्त्तव्यो को भी वैसे ही प्रभावशाली और व्यापक बनाइए जैसे पुरुषों के। इसमे कुछ आपत्ति न होनी चाहिए। यह तो हिन्दू परिवार के सनातन विधान के अनुकूल ही होगा। किन्तु परिवार के तंत्र मे पत्नी को मिलाकर भी उसके पार्थक्य की कल्पना करते रहना—यह न तो इस देश की समाज-व्यवस्था के अनुकूल है, और न उसके लिए हितकर ही है। अतएव भविष्य के लिए यह आवश्यक है कि हिन्दू परिवार जैसी प्राचीन और महत्त्वपूर्ण संस्था के स्वरूप को और भी संस्कारसंपन्न, उन्नतशील एवं सुखकर बनाने का उपाय किया जाय। श्री हरिदत्त जी का प्रस्तुत अध्ययन भारतीय जीवन के मेरुदण्ड हिन्दू परिवार की स्थिति, विकास और समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, इस कारण वह अतीव स्वागत के योग्य है।

काशी विश्वविद्यालय
कार्तिक शुक्ल ४, संवत् २०११

वासुदेव शरण

संक्षिप्त संकेत-सूची

(क) संस्कृत और पालि ग्रन्थ

अं० नि० अंगुत्तर निकाय
अ० क० अट्ठकथा
अथर्व० अथर्ववेद
अप० अपरार्क कृत याज्ञवल्क्यस्मृति की टीका
अ० पु० अग्निपुराण
अर्थ० कौटिलीय अर्थशास्त्र
आप० ध० सू० आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० गृ० सू० आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आश्व० गृ० सू० आश्वलायन गृह्यसूत्र
उ० उपनिषद्
ऋ० ऋग्वेद सहिता
ऐ० आ० ऐतरेय आरण्यक
ऐ० ब्रा० ऐतरेय ब्राह्मण
कात्या० कात्यायन
का० स० काठक सहिता
का० सू० कामसूत्र वात्स्यायनकृत
कौ० कौटिलीय अर्थशास्त्र
गृ० सू० गृह्यसूत्र
गो० गृ० गोभिल गृह्यसूत्र
गो० ब्रा० गोपथ ब्राह्मण
गौ० ध० सू० गौतम धर्मसूत्र
चतु० चतुर्वर्ग चिन्तामणि हेमाद्रि कृत
छा० उ० छान्दोग्य उपनिषद्
जा० जातक

जीमूत॰	जीमूतवाहन
जै॰ उ॰ ब्रा॰	जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
जै॰ ब्रा॰	जैमिनीय ब्राह्मण
जै॰ सू॰	जैमिनीय सूत्र
ता॰ ब्रा॰	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै॰ आ॰	तैत्तिरीयारण्यक
तै॰ ब्रा॰	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै॰ सं॰	तैत्तिरीय संहिता
द॰ च॰, दच॰	दत्तकचन्द्रिका
द॰ मी॰, दमी॰	दत्तकमीमांसा
दा॰	दायभाग जीमुत वाहन कृत
दा॰ त॰, दात॰	दायतत्व रघुनन्दन कृत
दी॰ क॰	दीपकलिका
दी॰ नि॰	दीघ निकाय
ध॰ प॰	धम्मपद
नासं॰	नारदीय संहिता
नारद, नास्मृ॰	नारद स्मृति
नि॰	निरुक्त यास्ककृत
नि॰ सि॰	निर्णय सिन्धु
प॰ पु॰	पद्म पुराण
परा॰	पराशर स्मृति
परा॰ मा॰	पराशर स्मृति की माधवाचार्य कृत टीका
पार॰ गृ॰ सू॰	पारस्कर गृह्यसूत्र
पा॰ सू॰	पाणिनि सूत्र
पु॰	पुराण
वाल॰	वालम्भट्टी
वृह॰	वृहस्पति
वौ॰ ध॰ सू॰	वौधायन धर्म सूत्र
ब्रा॰	ब्राह्मण
भाग॰ पु॰	भागवत पुराण
म॰ पु॰	मत्स्य पुराण

महाभा०	महाभारत
म० नि०	मज्झिम निकाय
म०, मनु०	मनुस्मृति
मा० गृ० सू०	मानव गृह्यसूत्र
मार्क० पु०	मार्कण्डेय पुराण
माल० मा०	मालती माधव
मिता०	मिताक्षरा
मेधा०	मेधातिथि
मै० स०	मैत्रायणी संहिता
या०, याज्ञ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
र० वं०	रघुवश
लौ० गृ० सू०	लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वा० ध० सू०	वासिष्ठ धर्मसूत्र
वा० पु०	वायुपुराण
वा० रा०	वाल्मीकि रामायण
वि० चि०	विवाद चिन्तामणि
वि० पि०	विनय पिटक
वि० पु०	विष्णु पुराण
विश्व०	विश्वरूप
विष्णु०	विष्णु स्मृति
वी० मि०	वीरमित्रोदय
विज्ञा०	विज्ञानेश्वर
व्यप्र०	व्यवहार प्रकाश
व्यम०	व्यवहार मयूख
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शां० आ०	शांखायन आरण्यक
शा० ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
शा० भा०	शाबर भाष्य
शुनी०	शुक्रनीतिसार
स्क० पु०	स्कन्द पुराण
स० कौ०	सस्कार कौस्तुभ

सं० नि०	संयुत्त निकाय
स० र० मा०	संस्कार रत्नमाला
स० वि०	सरस्वती विलास
स्मृ०	स्मृति
स्मृचं०	स्मृति चन्द्रिका
ह० च०	हर्षचरित
हि० के० गृ०	हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र

(ख) आधुनिक ग्रंथ

आर्क० स० इ०	आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इंडिया की रिपोर्टें
इं० ऐं०	इंडियन ऐंटिक्वेरी
इंसा० ब्रि०	इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका
इंसा० रिली० ई०	इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स
इंसा० सो० सा०	इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसिज
एपि० इ०	एपिग्राफिया इंडिका
ओडेमा०	ओरिजिन एण्ड डेवलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज, वैस्टरमार्ककृत
का० हि० ध०	काणे : हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र
गौ० हि० को०	गौड़ : हिन्दू कोड
जा० हि० ला० क०	जाली : हिन्दू ला एण्ड कस्टम
टा० ए०	टाड : एनल्ज एड एंटीक्विटीज़ आफ राजस्थान
ध० को०	धर्मकोश
वै० हि० ला० मै०	वैनर्जी : हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन
वै० इं०	वैदिक इंडेक्स
वै० शा० हि० मै०	वैस्टरमार्क की शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज
से० रि० इं०	सेन्सस रिपोर्टस् आफ इंडिया
हि० ह्यू० मै०	हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, वैस्टरमार्ककृत
हि० ध०	हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र काणेकृत

इन ग्रन्थों का विशेष विवरण सहायक ग्रन्थसूची में देखिये ।

(ग) कानूनी संकेत

अला०	अलाहाबाद की इंडियन ला रिपोर्ट्स्
अला० ला० ज०	अलाहाबाद ला जर्नल
आ० इं० रि०	आल इंडिया रिपोर्टर
इं० ला० रि०	इंडियन ला रिपोर्ट्स्
क० कल०	कलकत्ता इंडियन ला रिपोर्ट
क० ला० ज०	कलकत्ता ला जर्नल
क० वी० नो०	कलकत्ता वीकली नोट्स (ला रिपोर्ट्स्)
ना० ला० रि०	नागपुर ला रिपोर्ट्स्
प०	पटना की इंडियन ला रिपोर्ट्स्
बं०	बम्बई ला रिपोर्टर
ब० हा० रि०	बम्बई हाईकोर्ट रिपोर्ट्स्
म०	मद्रास की इंडियन ला रिपोर्ट्स
मू० इ० ए०	मूर इंडियन एपील्स
ला०	लाहौर इंडियन ला रिपोर्ट्स्
ला० रि०	ला रिपोर्ट्स्
वी० रि०	वीकली रिपोर्टर
वी० नो०	वीकली नोटिस

(घ) अन्य संकेत

अ०	अध्याय
अनु०	अनुवृत्त (ff.)
ख०	खण्ड (Volume.)
दे०	देखिये (Vide)
दे० ऊ०	देखिये ऊपर (Vide Supra.)
दे० नी०	देखिये नीचे (Vide Infra)
पू० पु०	पूर्वोद्धृत पुस्तक (Op. Cit.)
पृ०	पृष्ठ
भा०	भाग (Part)
मि०	मिलाइये (Cf.)

सहायक ग्रन्थसूची

१ आकर ग्रन्थ

१. इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सिज़ १५ खण्ड १९३०-३५ ई०
२. इंसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड ईथिक्स १२ खण्ड १९१५ ई०
३. इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका १४वा सस्करण १९२९ ई०
४. इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका की यीअर बुक १९३८ ई० से
५. मैकडानल व कीथ : वैदिक इंडेक्स २ खण्ड, लंडन १९१२ ई०

२ मूल ग्रन्थ

क. वैदिक वाङ्मय

यहां ग्रन्थों के साथ उन प्रकाशन संस्थानो का भी निर्देश किया गया है, जहां से छपे हुए ग्रन्थों का इस पुस्तक मे प्रयोग किया गया है। प्रकाशन संस्थानों के सक्षिप्त संकेत इस प्रकार हैं :—आन० पू० : आनन्दाश्रम पूना; नि० सा० : निर्णय सागर, बम्बई; स्वा० मं० : स्वाध्याय मंडल, पार्डी; वि० इं० : बिब्लिओथिका इंडिका; ग० ओ० ला० सी० मै० : गवर्नमेंट ओरियंटल लाइब्रेरी सीरीज़ मैसूर; गा०ओ० सी० : गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज; चौ० सं० सी० : चौखंभा संस्कृत सीरीज़; जी० वि०, जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता; बं० सं० सी० : बम्बई संस्कृत सीरीज़, पा० टे० सो० : पाली टैक्स्ट सोसायटी, लंडन; म० सो० : महाबोधी सोसायटी, सारनाथ; वेंक० प्रे० , वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; त्रि० सं० सी० : त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज़, संपा० : संपादक सं० संस्करण, वि० : विक्रमी संवत्, ई० ईस्वी सन् ।

ऋग्वेद : स्वा० मं० द्वितीय सक०
यजुर्वेद : स्वा० मं०
सामवेद : स्वा० म०
अथर्ववेद : स्वा० मं०
काठक संहिता : स्वा० म०
तैत्तिरीय सहिता आन० पू०

कपिष्ठल संहिता डा० रघुवीर द्वारा लाहौर से प्रकाशित
मैत्रायणी सहिता स्वां० म०
ऐतरेय ब्राह्मण : आन० पू० १८९६ वि०
शतपथ ब्राह्मण : अच्युत ग्रन्थमाला, बनारस
शांखायन ब्राह्मण आन० पू०
तैत्तिरीय ब्राह्मण आन० पू०
ताण्ड्य (पंचविंश) ब्राह्मण एशियाटिक सोसाइटी बंगाल
जैमिनीय ब्राह्मण सं० कैलैण्ड एमस्टर्डम् १९१९
जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण
गोपथ ब्राह्मण जी० वि०
ऐतरेय, तैत्तिरीय और शाखा०, आरण्यक आन० पू०
वृहदारण्यक, छान्दोग्य, कठ, उपनिषद् नि० सा०
निरुक्त आन० पू०
एकादशोपनिषद् सग्रह सपा० स्वामी सत्यानन्द, लाहौर
निरुक्त : श्री चन्द्रमणि तथा श्री राजवाडे द्वारा सपादित सस्क०
वृहद्देवता वि० इं०,

ख गृह्य तथा धर्मसूत्र

आश्वलायन गृह्य सूत्र नारायण टीका सहित : नि० सा० १८९३ ई०
इसी सस्करण में कुमारिल की आश्वलायन गृह्यकारिका तथा आश्व०
गृह्य परिशिष्ट भी छपा है।
आपस्तम्ब गृह्य सूत्र सुदर्शनाचार्य टीका सहित : ग० ओ० ला० सी० मैं०
आपस्तम्ब धर्म सूत्र हरदत्त कृत टीका सहित : हालास्यनाथ शास्त्री
द्वारा सपा० कुंभघोणम्।
बौधायन धर्मसूत्र. गोविन्द स्वामी के विवरण सहित, ग० ओ०
ला० सी० मैं०
बौधायन गृह्यसूत्र तथा गृह्य परिभाषा सूत्र : सपा० शामशास्त्री ग० ओ०
ला० सी० मैं०
गोभिल गृह्यसूत्र : सपा० चन्द्रकान्त तर्कालंकार वि० इं०
पारस्कर गृह्यसूत्र : कर्क, जयराम, हरिहर, गदाधर, विश्वनाथ प्रणीत
भाष्य पचक सहित, गुजराती प्रेस १९१७
हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र : मातृदत्त टीका सहित संपा० किर्स्ते

वासिष्ठ धर्मसूत्र : वं० सं० सी० संपा० फुहरर
मानव गृह्यसूत्र : अष्टावक्र टीका सहित गा० ओ० सी०
विष्णु धर्म सूत्र : संपा० डा० जाली
लौगाक्षि गृह्यसूत्र : देवपाल की टीका सहित काश्मीर संस्कृत सीरीज़
गौतम धर्मसूत्र : हरदत्त टीका सहित आन० पू०

ग. बौद्ध वाङ्मय

अगुत्तर निकाय : पा० टै० सो०
धम्मपद टीका सहित : पा० टै० सो०
थेरी गाथा पा० टै० सो० तथा भरतसिंह कृत अनुवाद
विनय पिटक : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०
मज्झिम निकाय : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०
दीघ निकाय : हिन्दी अनुवाद म० बो० सो०
सयुत्त निकाय : पा० टै० सो०
जातक : कावेल द्वारा सपा० अंग्रेजी अनुवाद ६ खड, भदन्त आनन्द कौसल्यायन का हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित ४ खण्ड
बुद्धचर्या : राहुल साकृत्यायन

घ. रामायण, महाभारत और पुराण

वाल्मीकि रामायण : तिलकाख्य व्याख्या समेत नि० सा०। रामायण के प्रतीक स्थान संकोच के कारण काण्डो के नाम से नही किन्तु उनकी क्रम संख्या के अनुसार दिये गये है। इन काण्डों की क्रमसख्या इस प्रकार है:—

१. वालकांड २. अयोध्याकाड ३. अरण्यकांड ४. किष्किन्धाकांड ५. सुन्दर काड, ६. युद्धकांड, ७. उत्तरकाड।

महाभारत : म० भा०, महाभा० सारी पुस्तक में स्वा० मं० द्वारा प्रकाशित सस्क० के प्रतीक दिये गये हैं। जहा कुभघोणम् या भाडारकर रिसर्च इस्टीट्यूट पूना का सशोधित संस्क० व्यवहार मे लाया गया है, वहा कुं० और भांडार० के संकेत दिये गये है। महाभारत के सकेत भी पर्वो के नाम से नही, किन्तु उनकी क्रम संख्या के अनुसार दिये गये है। यह क्रम संख्या इस प्रकार है :—

(१) आदिपर्व (२) सभापर्व (३) वनपर्व (४) विराट पर्व (५) उद्योगपर्व (६) भीष्मपर्व, (७) द्रोणपर्व (८) कर्णपर्व (९) शल्यपर्व (१०)

सौप्तिक पर्व (११) स्त्रीपर्व (१२) शान्तिपर्व (१३) अनुशासन
अश्वमेध पर्व (१५) आश्रमवासिकपर्व (१६) मौसलपर्व (
आस्थानिक पर्व, (१८) स्वर्गारोहण पर्व

अग्नि पुराण : आन० पू०
कूर्मपुराण : वि० इं०
भागवत पुराण : नि० सा०
मत्स्यपुराण : आन० पू०
नारदीय पुराण : वेंक० प्रे०
भविष्यपुराण : वेंक० प्रे०
मार्कण्डेयपुराण : वि० इ०
पद्मपुराण : आन० पू०
विष्णुपुराण . गोपाल नारायण कपनी, बम्बई
वायुपुराण : आन० पू०
स्कन्दपुराण : वेंक० प्रे०
ब्रह्मपुराण : वेंक० प्रे०

(ङ) *स्मृतियाँ*

मनुस्मृति : कुल्लूकभट्ट की टीका सहित, नि० सा० .
मनुटीका संग्रह : संपा० डा० जाली, वि० इं०
मनुस्मृतिः मेधातिथि, गोविन्दराज, सर्वज्ञनारायण, राघव
व एक अन्य टीका सहित, संपादक विश्वनाथ मांडलिक
याज्ञवल्क्य स्मृति : विज्ञानेश्वर कृत मिताक्षरा टीका नि०
याज्ञवल्क्य स्मृति : अपरार्क टीका आन० पू०
याज्ञवल्क्य स्मृति : विश्वरूप कृत बालक्रीडा व्याख्या, त्रि० स
नारदीय मनुसहिता त्रि० सं० सी०; नारद स्मृति संपा० डा
इ०, इसमें असहाय की टीका भी है

पराशर स्मृति : व० स० सी० में माधवाचार्य कृत व्य
तथा जीवा० का सस्करण , शेप स्मृतियो के लिये आन० पू० का
का तथा जीवानन्द का २६ स्मृतियो का सग्रह व्यवहार में लाया ग

हारीत, लघु आश्वलायन, वसिष्ठ, वृद्ध शातातप, वृद्ध हारीत, वेदव्यास, शंख-लिखित, शंख, शातातप, बौधायन, वृद्ध गौतम, लघु व्यास, लघु अत्रि, कात्यायन स्मृति सारोद्धार—पाण्डुरग वामन काणे द्वारा संगृहीत, बृहस्पति स्मृति—गा० ओ० सी० । हारीत, शंख पैठिनसि, शौनक आदि अनेक स्मृतिकारों के ग्रन्थ उपलब्ध नही है, किन्तु मध्यकालीन निबन्ध ग्रन्थो में उनके वचन में उद्धृत है । इस प्रकार के वचनो का सकेत इस प्रकार है—हारीत दायभाग द्वारा उद्धृत अथवा हारीत (दा० पृ० .)

(च) स्मृतियों की टीकायें तथा निबन्ध ग्रन्थ

दत्तक चन्द्रिका—आन०पू० तथा यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के संस्करण।

दत्तक मीमांसा—नन्द पण्डित कृत आन० पू० तथा यज्ञेश्वर भट्टाचार्य कलकत्ता के सस्करण ।

दायभाग—जीमूतवाहन कृत वि० इं० तथा जीवानन्द के संस्करण

दायतत्व—रघुनन्दन कृत जीवानन्द का संस्करण

दीपकलिका—शूलपाणि कृत याज्ञ० स्मृति की टीका

धर्मकोश—व्यवहार काण्ड ख० १–३ प्राज्ञ पाठशाला मण्डल, वाई

धर्मसिन्धु—काशीनाथकृत नि० सा०

पराशरमाधवीय—माधवाचार्य कृत पराशर स्मृति की टीका बं० सं० सी०

मदन पारिजात—विश्वेश्वर भट्ट कृत वि० इ०

मिताक्षरा—विज्ञानेश्वर कृत याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका नि० सा०

मेधातिथि का मनुस्मृति पर भाष्य मांडलिक के संस्करण में

विवादचिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, वेंकटेश्वर प्रेस

विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति पर बालक्रीडा टीका का लेखक त्रि० सं० सी०

वीरमित्रोदय—याज्ञ० स्मृति की मित्रमिश्र कृत टीका चौ० सं० सी०

व्यवहार प्रकाश—मित्रमिश्र कृत चौ० स० सी०

व्यवहार मयूख—नीलकण्ठ कृत पाण्डुरंग वामन काणे का सस्करण

श्रीमूला—गणपति शास्त्री कृत कौटिलीय अर्थशास्त्र की टीका

संस्कार प्रकाश—मित्रमिश्र कृत चौ० सं० सी०

सरस्वती विलास—श्री प्रताप रुद्र देव मडल पूना द्वारा प्रकाशित

सायण भाष्य—ऋग्वेद का, वैदिक सशोधन मंडल, पूना

सुबोधिनी—विश्वेश्वर भट्ट कृत याज्ञ० की मिताक्षरा टीका की टीका, घारपुरे द्वारा सम्पादित

स्मृतिचन्द्रिका—देवण्ण भट्ट कृत घारपुरे का संस्करण

(छ) संस्कृत के अन्य ग्रन्थ और काव्य

कौटिलीय अर्थशास्त्र : संपा० गणपति शास्त्री, त्रि० सं० सी०

वृहत्संहिता . वराहमिहिर कृत वि० ई०, उत्पल की टीका सहित, सुधाकर द्विवेदी द्वारा सं० संस्क०

गाथा सप्तशती : हाल कृत, नि० सा०

पूर्वमीमासा : शवर-भाष्य सहित आन० पू०; गगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद गा० ओ० सी०

हर्षचरित : नि० सा०

कादम्वरी : ८म संस्क० नि० सा०

कामसूत्र : वात्स्यायन कृत चौ० सं० सी०

मालतीमाधव : संपा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर वं० सं० सी०

मृच्छकटिक : नि० सा०

रघुवंश : नि० सा०

अभिज्ञान शाकुन्तल : नि० सा०

कथासरित्सागर : सोमदेव भट्ट नि० सा०

कुमार संभव : नि० सा०

राजतरगिणी . संपा० स्टाइन

विक्रमोर्वशीय : सपा० काले

उत्तर रामचरित : जीवा०संस्क०

वासवदत्ता. कृष्णमाचारियरकृत टीकासहित, श्रीवाणी विलास प्रेस श्रीरंगाम्

रत्नावली : सपा० जोगलेकर

दशकुमार चरित : जीवा० सस्क०

नैषधीय चरित : नि० सा०

किरातार्जुनीय : नि० सा०

३. परिवार विषयक ग्रन्थ

(क) हिन्दू परिवार संवन्धी ग्रन्थ

इस की सामान्य विवेचना करने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ वहुत कम है, किन्तु हिन्दू कानून के ग्रन्थो में हिन्दू परिवार के सदस्यो के कर्त्तव्यों और अधिकारों की वहुत विवेचना की गयी है। यद्यपि इस विवेचना का मुख्य उद्देश्य वर्त्तमान कानून का स्पष्टीकरण है, तथापि इस विषय के अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में हिन्दू

परिवार के विभिन्न पहलुओं की ऐतिहासिक और वैज्ञानिक मीमांसा भी है। इस विषय के अधिकाश ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय की टैगोर व्याख्यान-माला मे दिये गये व्याख्यान है, ऐसे कानूनी ग्रन्थो मे निम्न उल्लेखनीय है।

कृष्णकमल भट्टाचार्य—दी ला रिलेटिंग टू ज्वाइण्ट फैमिली (टैगोर कानून व्याख्यानमाला १८८५) कलकत्ता १८८५

राजकुमार सर्वाधिकारी—दी प्रिन्सिपल्ज आफ दी हिन्दू ला आफ इनहैरिटैन्स (टै० का० व्या० १८८०) ज्योतिप्रसाद सर्वाधिकारी द्वारा सशोधित द्वितीय संस्करण, मद्रास १९२२

जूलियस जाली—औटलाइन्ज आफ एन हिस्ट्री आफ हिन्दू ला (टै० का० व्या० १८८३) कलकत्ता १८८५

किशोरीलाल सरकार—मीमासा रूल्ज आफ इण्टरप्रेटेशन (टै० का० व्या० १९०५)

श्री प्रियनाथ सेन—हिन्दू ज्यूरिसप्रूडेन्स (टै० का० व्या० १९०९) प्रथम संस्करण १९१८

जोगेशचन्द्र घोष —दी प्रिन्सिपल्ज आफ हिन्दू ला (टै० का० व्या०) ३ खण्ड तीसरा संस्करण १९१७

राधाविनोद पाल—दी हिस्टरी आफ दि ला आफ प्राइमोजैनिचर (टै० का० व्या०) कलकत्ता १९२९

गंगानाथ झा—हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज खण्ड १ (१९३०) खण्ड २ (१९३३)

काशीप्रसाद जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य टै० का० व्या० १९१७

जान मेन—हिन्दू ला एण्ड यूसेज, श्रीनिवास ऐय्यगार द्वारा सम्पादित दशम संस्करण हिगिननाथम्ज मद्रास, १९३८, ११वां संस्करण चन्द्रशेखर ऐय्यर द्वारा संपा० १९५३, इस पुस्तक मे सामान्यतः दशम संस्करण की ही पृष्ठ संख्या दी गयी है।

सर हरिसिह गौड—दी हिन्दू कोड, चतुर्थ संस्करण, नागपुर १९३८

गोलापचन्द्र शास्त्री सरकार—हिन्दू ला, कलकत्ता १९४०

" " —एडोप्शन (टै० का० व्या०) कलकत्ता १९१६

आई० एस० पावटे—दाय विभाग १९४५

ज० र० घारपुरे—राइट्स आफ वुमैन अण्डर दी हिन्दू ला, सर लल्लूभाई शाह व्याख्यानमाला, बम्बई विश्वविद्यालय १९४४

पाण्डुरग वामन काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खड १ पूना १९३०, खण्ड २ भाग १–२ पूना १९४१, खण्ड ३, पूना १९४६

निम्न ग्रन्थो में हिन्दू परिवार सम्वन्धी अनेक विपयो का प्रतिपादन है—

अल्तेकर—दी पोज़ीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलज़ेशन वनारस १९३८।

द्वारकानाथ मित्तर—दी पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू ला १९१३

मेयर—सैक्षुअल लाइफ इन एशेण्ट इंडिया, लडन १९३०

जॉली—हिन्दू ला एण्ड कस्टम कलकत्ता १९२८

गुरुदास वैनर्जी—हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन, कलकत्ता १९२३

टाड—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज़ आफ राजस्थान, क्रुक द्वारा सम्पादित संस्करण, आक्सफोर्ड १९२०

ईरावती कर्वे—किनशिप टर्म्ज इन दी महाभारत

इरावती कर्वे—किनशिप आर्गेनिजेशन इन इडिया पूना १९५३

१९०१ से १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्टो में हिन्दू परिवार से सम्बन्ध रखने वाली वहुत मूल्यवान् सामग्री यत्र-तत्र विखरी हुई है।

श्री पढरीनाथ एच० वलवल्कर—हिन्दू सोशल इस्टीटयूशन्स, लागमैन्स बम्बई १९३९, अध्याय ५

सयुक्त हिन्दू परिवार के विभिन्न पहलुओ पर निम्न ग्रन्थ उपयोगी है—

(क) सामान्य विवेचन के लिये

चिन्तामणि—इडियन सोशल रिफार्म (मद्रास १९०१) इसमें श्री सुब्रह्मण्यम् का इस पद्धति पर एक आलोचनात्मक लेख है पृ० १०७-४३।

प्रमयनाथ वोस—हिन्दू सिविलिज़ेशन ड्यूरिंग ब्रिटिश रूल खण्ड २ पृ० १२३-२९

सयुक्त परिवार के आर्थिक पहलू के लिये देखिये—

श्री राधा कमल मुकर्जी—दी फॉउन्डेशन्स आफ इंडियन इकनामिन्स, लागमैन्स, कलकत्ता १९१६ अध्याय ३

वही—प्रिन्सिपल्ज़ आफ कम्पैरेटिव इकनामिक्स, लडन १९२२। खण्ड २, भाग ३, अध्याय १-३

श्री ब्रजगोपाल भटनागर—दी वेसेज़ आफ इंडियन सोशल इकानमी, इलाहावाद १९२५

जायर एण्ड वेरी—इडियन इकनामिक्स तृतीय सस्करण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, वम्बई, १९३१ प्रथम खण्ड पृ० १०४-१०५

हिन्दू परिवार की आधुनिक प्रवृत्तियो के लिये—

के० टी० मर्चेण्ट—चेजिंग व्यूज आन मैरिज एण्ड फैमिली (वी० जी० पाल एण्ड कम्पनी मद्रास १९३५)। ४,था अध्याय ।

चन्द्रकला हाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, वम्बई १९४८

उपर्युक्त दोनो पुस्तकें वम्बई विश्वविद्यालय के समाज शास्त्र विभाग के तत्वावधान मे हिन्दू युवको और युवतियो से प्रश्नावलियो द्वारा प्राप्त उत्तरो पर आधारित गवेपणाये है ।

हिन्दू कोड विपयक ग्रन्थो का निर्देश पृ० ६३४ पर किया गया है ।

(ख) परिवार प्रथा की विवेचना करने वाले अन्य ग्रन्थ

एन्जेल्स—परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति और राजसत्ता की उत्पत्ति; जर्मन ग्रन्थ का अँग्रेजी अनुवाद, शिकागो १९०२ । हिन्दी अनुवाद, राहुल सांकृत्यायन व नेमिचन्द्र जैन द्वारा कृत प्रथम सस्करण १९४५, जन प्रकाशन गृह, सैण्डहर्स्ट रोड, वम्बई ।

लतूर्नो—दी इवोल्यूशन आफ मैरिज एण्ड आफ दि फैमिली—फ्रेंच ग्रन्थ का अँग्रेजी का अनुवाद, लंडन १८९१

म्यूलर लायर—दी फैमिली, एफ० डब्ल्यू० स्टैल्ला ब्राउन द्वारा जर्मन ग्रन्थ का अँग्रेजी अनुवाद, लंडन १९३१

हावहाउस–मारल्ज़ इन इवोल्यूशन, सप्तम सस्करण, लंडन १९५१ अध्याय ५

गुडसैल—ए हिस्टरी आफ दी मैरिज एण्ड फैमिली, द्वितीय संस्करण, न्यूयार्क १९३५

सर हेनरी मेन—एशेण्ट ला १८६६, ३ रा सस्करण

सर हेनरी मेन—अर्ली हिस्टरी आफ इंस्टीटयूशन्स (१८७५ ई०)

आदिम जातियों की परिवार प्रथा की विवेचना के लिये निम्न ग्रथ उपयोगी है—

मॉर्गन एल० एच०—एशेण्ट सोसायटी, न्यूयार्क १८७७

" " —सिस्टम्ज़ आफ कनसैनग्विनिटी एण्ड एफीनटी आफ दी ह्यूमन फैमिली, स्मिथसोनियन कण्ट्रीब्यूशन्स टू नालिज, खण्ड १७, लेख दूसरा वाशिंगटन १८७०

वैस्टरमार्क, एडवर्ड एलेक्जेण्डर—दी हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज, प्रथम-संस्करण १ खण्ड, लंडन १८८९, पचम सस्क० ३ खण्ड, लडन १९२१ ।

ब्रिफाल्ट रावर्ट—दी मदर्स ३ खण्ड

वैस्टरमार्क—दी ओरिजिन एण्ड डेवेलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज़, लंडन १९१७

मैलिनोवस्की—दी फैमिली एमोग दी आस्ट्रेलियन एवोरजिनीज, लडन १९१३

" —दी फादर इन प्रिमिटिव साइकालोजी, न्यूयार्क १९१७

" —सैक्स एण्ड रिप्रेशन इन सैवेज सोसायटी, लंडन १९२७

" —दी सैक्षुअल लाइफ आफ दी सैवेजेस इन नार्थ वैस्टर्न मैलेनीशिया, लडन १९२९

मीड मार्गरेट—कमिंग आफ एज इन समोआ, न्यूयार्क १९२८

उन्नत जातियों के परिवारों की विवेचना निम्न ग्रन्थों में है—

हर्न डब्ल्यू०, ई०—दी आर्यन हाउसहोल्ड, लडन मेलवोर्न १८७९

श्राडर—प्रिहिस्टारिक एण्टीक्विटीज़ आफ दी आर्यन पीपल्ज, जीवन्ज़ कृत अग्रेजी अनुवाद, लडन १८९०

हावर्ड जार्ज इलियट—ए हिस्टरी आफ मैट्रीमोनियल इस्टीटयूशन्स ३ खण्ड, शिकागो १९०४

ग्रोव्ज ई० आर० एण्ड आगवर्न—अमेरिकन मैरिज एण्ड फैमिली रिलेशनशिप्स, न्यूयार्क १९२८

एलनेट—हिस्टारिक ओरिजिन एण्ड सोशल डेवलेपमैण्ट आफ फैमिली लाइफ इन रशिया, न्यूयार्क १९२६

कैलहून ए० डब्ल्यू०—सोशल हिस्टरी आफ अमेरिकन फैमिली, क्लीवलैण्ड १९१७-१९

पार्सन्स ई० सी०—दी फैमिली, न्यूयार्क १९०६

परिवार सम्बन्धी आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना निम्न ग्रन्थों में है—

रीड रुथ—दी माडर्न फैमिली, न्यूयार्क १९२९

मोरर ई० आर०—फैमिली डिसआरगैनिजेशन, शिकागो १९२७

रिच (सम्पादक)—फैमिली लाइफ टू डे, वोस्टन १९२८

हैमिल्टन जी० वी०—रिसर्च इन मैरिज, न्यूयार्क १९२८

कैलवर्टन तथा शमलहासन—दी न्यू जैनरेशन, न्यूयार्क १९३०

वैस्टरमार्क—दी फ्यूचर आफ मैरिज इन वैस्टर्न सिविलजेशन, लडन १९३६

मारिस हिण्डस—ह्यूमैनिटी अपरूटिड, लडन १९२६

" " —मदर रशिया, बम्बई १९४५

इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, तृतीय सस्करण, न्यूयार्क १९५०, इसके तीसरे भाग पृ० ३२९-४५४ मे परिवार की आधुनिक समस्याओ का सुन्दर विवेचन है ।

सेट, उना बर्नार्ड—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली, तृतीय मुद्रण, न्यूयार्क १९४६

निमकाफ, मेयर—मैरिज एण्ड दी फैमिली, संशोधित संस्करण, बोस्टन १९४७

वालर विलर्ड—दी फैमिली -ए डाइनेमिक इण्टरप्रेटेशन, न्यूयार्क १९३८

किन्जी अल्फ्रेड—सैक्षुअल विहेविर इन दी ह्यूमन मेल, फिलाडेल्फिया १९४८, सैक्षुअल विहेवियर इन दी ह्यूमन फीमेल फिलाडेल्फिया १९५३

ग्रोव्ज, अर्नेस्ट—दी अमेरिकन वुमैन, न्यूयार्क १९४४, दी कॉन्टेम्परेरी अमेरिकन फैमिली, फिलाडेल्फिया १९४७

फोलसम जोसेफ—दी फैमिली एण्ड दी डेमोक्रैटिक सोसाइटी, न्यूयार्क १९४७

एनशेन, रुथ—दी फैमिली, इट्स फक्शन एण्ड डैस्टिनी, न्यूयार्क १९४९

बैकर, हावर्ड एण्ड हिल—फैमिली मैरिज एण्ड पेरेण्टहुड, बोस्टन १९४८

बेवर—दी मैरिज एण्ड दी फैमिली, न्यूयार्क १९३९

बर्जेस एण्ड लाक—दी फैमिली, न्यूयार्क १९४५

अमेरिकन जर्नल आफ सोश्योलोजी—दी अमेरिकन फैमिली खण्ड ५३, मई १९४८ के अंक मे वर्त्तमान अमरीकन परिवार का विशद विवेचन है ।

एल्मर—दी सोश्योलोजी आफ दी फैमिली, बोस्टन १९४५

मैसाइवर एण्ड पेज—सोसायटी, लंडन १९५० अध्याय ११

परिवार प्रथा के तुलनात्मक विवेचन में सहायक अन्य ग्रन्थ—

फ्रेजर जे० जी०—दी गोल्डन वाऊ, द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण तीन खण्ड, लडन १९००

लैकी, विलियम एडवर्ड हार्टपोल—हिस्टरी आफ योरोपियन मारल्ज, दो खण्ड, लंडन १९२०

रिवर्स डब्ल्यू० एच० आर०—सोशल आरगैनिजेशन १९२६

रावर्ट लुई—प्रिमिटिव सोसायटी, लडन १९२१
क्राली—मिस्टिक रोज़, लडन १९२७
रसेल, वर्ट्रेण्ड—मैरिज एण्ड मारल्स, लडन १९२९
ईडन पाल—क्रोनोस आर फ्यूचर आफ फैमिली, लंडन १९३०
हैवलाक एलिस—स्टडीज़ इन दी साइकालोजी आफ सैक्स ६ खण्ड लडन १९३६
फ्रेजर—टोटेमिज्म एडिनवरा १८८७
फ्रेजर—टोटेमिज्म एण्ड एक्सोगेमी ४ खण्ड लडन १९१०
सुमनेर, डब्ल्यू० जी० तथा कैलर ए० जी०—दी साइन्स आफ् सोसायटी ४ खण्ड, न्यू हैवन १९२६

पहला अध्याय

हिन्दू परिवार का उद्‌गम और उद्देश्य

विषय-प्रवेश—कामचार से हिन्दू परिवार के उद्‌गम की कल्पना—पाण्डु का कथन—दीर्घतमा का नियमस्थापन—कर्ण का वर्णन—अन्य प्रमाण—कामचार कल्पना की आलोचना—वैदिक साहित्य की विरोधी साक्षी—पश्चिमी समाजशास्त्रियों द्वारा कामचार कल्पना का खण्डन—परिवार का जीवशास्त्रीय उद्‌गम—पारिवारिक जीवन के घटक तत्त्व—परिवार के कार्य—परिवार का महत्त्व—गृहस्थाश्रम की महिमा—परिवार के तीन प्रयोजन—पुत्र की प्राप्ति, धर्म का पालन, रति—ईसाई आदर्श से तुलना।

परिवार मानव जाति में आत्मसरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन के सातत्य को बनाये रखने का प्रधान साधन है। मनुष्य मरणधर्मा है; किन्तु मानव जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और बुढापे की अवस्था भोग कर समाप्त हो जाते हैं; पर वंश परम्परा द्वारा उनका सन्तान-क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। मृत्यु और अमृतत्त्व दो विरोधी वस्तुएँ हैं; किन्तु परिवार द्वारा इन दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाय; पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गयी है।

प्रत्येक मनुष्य में सदैव जीवित रहने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक इसे जिजीविषा या सरक्षण की सहज बुद्धि कहते हैं। मनुष्य ने मृत्यु पर विजय पाने के लिये, अतीत काल में अनेक उपाय ढूढे, अमृत की खोज की, नाना रसायन बनाये, आज भी वैज्ञानिक इस सम्बन्ध में अनेक परीक्षण कर रहे हैं; किन्तु अब तक विवाह और परिवार से अधिक सरल, सुन्दर और उत्तम कोई उपाय नहीं खोजा जा सका। ऋग्वेद में यह प्रार्थना की गयी है कि मैं प्रजा द्वारा अमृतत्व का उपभोग करूँ[1]।

---

१. ऋ० ५।४।१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्।

विवाह द्वारा प्ररिवार वनाकर मनुष्य सन्तानो के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्वा करता है और अमर वनाता है। इसीलिये संस्कृत मे वच्चो के लिये सतति, सन्तान और तनय आदि शव्दो का प्रयोग होता है। ये सब शब्द विस्तारवाची तनु धातु से वनते हैं। पुत्र के रूप में पिता का ही पुनर्जन्म होता है; क्योकि पिता के अग-अग और हृदय से प्राप्त अंशो को लेकर ही पुत्र की उत्पत्ति होती है[२]। मनुष्य को यदि अनिवार्य मृत्यु का दुःख है; तो इसे वात का अवश्य सन्तोष है कि परिवार द्वारा उसने एक ऐसा हल ढूढ लिया है; जिससे वह अपने वशजो के रूप में अनन्त-काल तक जीवित रहेगा तथा सदा वढता और फलता-फूलता रहेगा। सन्तति द्वारा अपने वंश को सुरक्षित रखना प्राणिजगत् का सार्वभौम नियम है।

मरणधर्मा मनुष्य को अमर वनानेवाली विवाह और परिवार की महत्त्वपूर्ण सस्थाओ का मानव जाति में किस प्रकार उद्‌भव हुआ, यह हमारा विषय नही; यहा केवल हिन्दू समाज में इसकी उत्पत्ति और ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करने का यत्किंचित् प्रयत्न किया जायगा।

उद्‌गम सदैव अस्पष्ट और अनिश्चित होते है। जव हम नदी की धारा का उद्‌भव ढूढते हुए ऊपर चलते है तो अन्त में हमे किसी हिमानी या भूमि के भीतर से आनेवाली धारा के पास रुक जाना पड़ता है। जव प्रत्यक्ष वस्तुओ की यह दशा है, तो सहस्राव्दियो से चली आनेवाली परिवार प्रथा के उद्‌गम को निश्चित रूप से कैसे वताया जा सकता है। भगवती श्रुति के शब्दो में ऐसे उद्‌गमों को निश्चय से कौन जानता है? कौन उन्हें वता सकता है? (को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् ऋ० १०।१२९।६)। इनपर रहस्य के अन्धकार का गहरा आवरण पडा है।

कामचार से हिन्दू परिवार के उद्‌गम की कल्पना

किन्तु मनुष्य की अदम्य जिज्ञासा इससे सन्तुष्ट नही हो सकती। वह इस पर्दे को हटाकर सुदूर अतीत के धुन्धले एव अस्पष्ट काल के सम्वन्ध में कुछ जानना चाहती है, तथ्यो के अभाव में कल्पना के पखो पर उड़कर उस काल की झाँकी लेती है। हिन्दू परिवार के मूल के सम्वन्ध मे अनेक

---

२. निरुक्त ३।४ अंगादंगात्संभवसि हृदयादभिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्। मिलाइये याज्ञ० १।५६ तत्रात्मा जायते स्वयम्।

प्रसिद्ध भारतीय विद्वानो की यह कल्पना है कि अन्य देशो की भाँति भारत मे भी विवाह-संस्था का उदय कामचार (Promiscuity) से हुआ[३]। कहा जाता है, कि पहले स्त्री-पुरुषो को स्वच्छन्द सम्बन्ध करने की स्वतन्त्रता थी, न स्त्रियो पर और न पुरुषो पर विवाह या मैथुन के सम्बन्ध में कोई रोक-टोक या प्रतिबन्ध थे। इस निर्बाध स्वतन्त्रता की दशा को कामचार या अनावरण (Promiscuity), स्वच्छन्द विवाह (Free marriage), गणविवाह (Group Marriage). स्वैरिणीत्व (Hetaerism) कहते हैं। यह समझा जाता है कि कामचार से बाद मे नियमबद्ध वर्त्तमान विवाहों का जन्म हुआ। प्राचीन ग्रन्थो के, विशेषत. महाभारत के कुछ वचनो के आधार पर अनेक विद्वानो ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, कि प्राचीन भारत मे पहले कामचार था और बाद मे उसे नियन्त्रित करके विवाह और परिवार की परिपाटी प्रचलित हुई।

पाण्डु का कथन—इस प्रकार प्राचीन भारत में कामचार का पहला पोषक आधार पाण्डु के कुछ वचन (म० भा० १।१२२।३ अनु०) है[४]। इनमें कहा गया है, कि पूर्वकाल मे स्त्रियाँ खुली (अनावृता.), अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे वहाँ जाने वाली (कामचारविहारिण्य:) और स्वतन्त्र (किसी बन्धन से या पति से न रोकी हुई) थी। वे कुमारी दशा से ही अनेक पुरुषों के पास जाया करती थी। ऐसा करना अधर्म नहीं था, क्योकि यही उस समय की परिपाटी थी। पशु-पक्षियो की सन्तानें आज भी इसी धर्म का पालन करती है, उत्तरकुरु देश में अब तक इसका प्रचलन है। इसके बाद पाण्डु ने यह बताया है कि विवाह की मर्यादा इस लोक मे देर से प्रचलित नही है। इसे स्थापित करनेवाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे। एक समय जब उनके पिता के सामने, एक ब्राह्मण उनकी माता का

---

३. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० २२४-२५; अल्तेकर—दी पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० ३३-३६ ; जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा, खं० १, पृ० २०१

४. म० भा० १।१२२।३-२१ अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने। कामचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि । तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् । नाधर्मोऽभूद्वरारोहे सहि धर्मः पुराऽभवत् ।...उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि वर्त्तते;

हाथ पकडकर ले जाने लगा और श्वेतकेतु ने इस पर आपत्ति की, तो उद्दालक ने 'सनातन धर्म' कह कर इसका समर्थन किया। श्वेतकेतु को यह धर्म 'असह्य' था, उन्होंने 'बलपूर्वक' समाज मे स्त्री-पुरुष की मर्यादा का स्थापन किया।

दीर्घतमा का नियमस्थापन—प्राचीन भारत मे कामचार की सत्ता सूचित करनेवाला दूसरा प्रमाण दीर्घतमा की कथा (म० भा० १।१०४।९-५६) है। दीर्घतमा उतथ्य ऋषि का पुत्र था। प्रद्वेषी नामक पत्नी से उसने कई सन्ताने उत्पन्न की, किन्तु वाद में उसने 'सुरभि की सन्तान से गोधर्म (कामचार) सीखा और निशक होकर वह यह कार्य खुल्लमखुल्ला करने लगा। (वैवाहिक) मर्यादा का उल्लंघन करनेवाले (वितथमर्याद) दीर्घतमा के आचरण को देखकर ऋषि क्रुद्ध हुए। उन्होने कहा—इसने मर्यादा तोड दी है, यह आश्रम में रहने योग्य नही है, हम सब इस पापात्मा को छोडते हैं। दीर्घतमा की पत्नी भी उससे असन्तुष्ट थी। उसने कहा—मैं तुम्हारी जन्मान्धता के कारण तुम्हारा तथा तुम्हारे पुत्रो का पोषण करते-करते थक गई हूँ, अब और भरण-पोषण नही कर सकूगी। दीर्घतमा के राजी करने पर भी, जब प्रद्वेषी सन्तुष्ट न हुई तो दीर्घतमा ने कहा—'मै आज से ऐसी लोक-मर्यादा स्थापित करता हूँ कि यावज्जीवन नारी का एक ही पति सहारा (परायण) होगा। पति के जीवित रहने या मर जाने पर भी कोई स्त्री दूसरे पति की शरण नही ले सकेगी। यदि कोई नारी दूसरे व्यक्ति के पास जायेगी तो वह निसन्देह पतित होगी[५]। पतिहीना (अविवाहिता, विधवा या त्यक्तपतिका) स्त्रियो के लिये भी यह आज से पाप है'। प्रद्वेषी यह सुनकर अपने पति पर बहुत रुष्ट हुई और उसने पुत्रो द्वारा अन्धे पति को बेडे के साथ बँधवाकर गगा में फिकवा दिया। कहा जाता है कि दीर्घतमा की उक्त व्यवस्था से पहले विवाह और परिवार की कोई मर्यादा नही थी।

कर्ण का वर्णन—कामचार का तीसरा प्रमाण कर्णपर्व मे (८।४०) कर्ण द्वारा मद्रदेश (स्यालकोट) की स्त्रियो का वर्णन है। वहाँ सब

५. म० भा० १।१०४।३४-३६ अद्य प्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता। एक एव पतिर्नार्या यावज्जीव परायणम्। मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम्। अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः॥

नारियाँ 'अपनी इच्छा से पुरुषो से मिलती हैं', मद्रदेश की स्त्रियाँ शराव से मस्त होकर कपडे फेककर नाचती हैं, मैथुन में किसी प्रकार का वन्धन नही रखती, जिसके पास चाहती हैं, चली जाती हैं[६]। वाहीक (पजाव) की स्त्रियो के वारे मे भी यही वात कही गयीं है (८।४४।१२-१३) । कर्ण के कथनानुसार इस देश की स्त्रियो के शिथिल आचार का कारण एक सती स्त्री का शाप था, इसे वाहीक लुटेरो ने पति से छीना था और उसका सतीत्व भग किया था। उस सती के शाप के कारण, अव वहाँ की सभी स्त्रियाँ कुलटा और वेश्या हो गयी थी (म० भा० ८।४५।११-१२)।

अन्य प्रमाण—महाभारत मे कुछ ऐसे देशो का वर्णन है, जहाँ विवाह का कोई वन्धन नही था । १३।१०२।२६ में गौतम ने उत्तर कुरु के सम्वन्ध मे कहा है कि वहाँ स्त्रियाँ इच्छानुसार विचरण करनेवाली होती हैं। पहले यह वताया जा चुका है कि पाण्डु के कथनानुसार उत्तर कुरु में उस समय तक कामचार का प्रचलन था । सहदेव दक्षिण दिशा की विजय करते हुए माहिष्मती नगरी मे पहुँचा (म० भा० २।३१), वहाँ स्त्रियाँ स्वैरिणी होकर जहाँ चाहे, वहाँ जाया करती थी[७] ।

कामचार कल्पना की आलोचना

किन्तु उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर की गयी कामचार की कल्पना तर्कसगत, युक्तियुक्त तथा ऐतिहासिक सत्य नही प्रतीत होती । यदि ध्यानपूर्वक उपर्युक्त स्थलो का मनन किया जाय तो इनकी प्रामाणिकता में पूर्ण सदेह उत्पन्न हो जाता है। अपने प्रकरणो से निकाले हुए कुछ वाक्य कामचार को अवश्य पुष्ट करते हैं; किन्तु यदि इन स्थलो के पौर्वापर्य को देखा जाय, तो ये परिवार के प्राचीन इतिहास को वताने के लिये नितान्त अप्रामाणिक सिद्ध होते है । कर्णपर्ववाले स्थल में शल्य ने कर्ण का सारथि वनकर अपशकुन होने पर कर्ण की भरपेट निन्दा की है, वह इस अपमान का वदला लेने के लिये न केवल शल्य की—किन्तु उस मद्र तथा वाहीक देश की भी, जहाँ शल्य शासन करता था—घोर निन्दा करता है । उसके मत में दुनियाभर की वुराइयाँ और नीचताये वाहीक देश में है, वाहीक

---

६. म० भा० ८।४०।३५-३६ वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यविमोहिताः। मैथुनेऽसंयताश्चापि यथा कामवशाश्च ताः ॥

७. म० भा० २।३१।३९ स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ।

पृथ्वी का कूड़ा है (८।४५।२३); इसी प्रसग में कर्ण ने वहाँ की स्त्रियो के कामचार का वर्णन किया है । आज भी एक असस्कृत व्यक्ति दूसरे के साथ कलह होने पर उसे अनेक कुत्सित सम्बन्धसूचक अपशब्द कहता है; किन्तु कोई व्यक्ति इन गालियों को प्रामाणिक समझकर यह परिणाम नही निकालता कि जिस व्यक्ति को ये गालिया दी जा रही है, उसने वास्तव में ऐसे कुकर्म किये है । फिर कर्ण की इन गालियो के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि पजाव में उन दिनों वास्तव में मैथुन-स्वातन्त्र्य था। इससे अधिक से अधिक यही वात सिद्ध हो सकती है कि विदेशियो के आक्रमण के कारण पंजाव में अनेक विदेशी (म्लेच्छ) जातियाँ वस रही थी, उनके संसर्ग से वड़ा धर्म संकट उत्पन्न हो गया था । महाभारतकार अपने अनुयायियों को इस ससर्ग से मुक्त रखना चाहते थे, अत उन्होने मद्र तथा वाहीक देश को वहुत वुरा वताया[८], उन देशों में रहनेवालों को गालियाँ देने में कोई कोर-कसर वाकी नही रखी, उन्हे हर तरह से वदनाम किया और यहाँ तक कहा कि आर्य वहाँ दो दिन का भी वास न करे (८।४५। ४१) । अत: इस प्रकरण को न तो पजाव के आचार के सम्वन्ध में प्रमाण माना जा सकता है और न ही इससे हिन्दू परिवार के आदि रूप का निश्चय किया जा सकता है ।

पाण्डु और दीर्घतमावाले स्थल भी इसी प्रकार के हैं । पहले मे पाण्डु अपनी पत्नी कुन्ती को किसी अन्य पुरुष से नियोग करके सन्तान उत्पन्न करने के लिये कहता है, क्योकि वह स्वयं एक शाप के प्रभाव के कारण सन्तानोत्पादन में असमर्थ था । दूसरे स्थल मे भीष्म विचित्रवीर्य के मरने पर उसकी माता सत्यवती को, विचित्रवीर्य की विधवा स्त्रियो में नियोग करने की आवश्यकता समझाता हुआ, दीर्घतमा की पुरानी कहानी सुनाता है। महाभारत का अध्ययन करनेवाले यह जानते है कि उसका प्रणेता एक वहुत अच्छा वकील है, वह किसी भी निकम्मे, कमजोर और वुरे मामले की पैरवी वड़ी सफलता पूर्वक करता है । अपने पक्ष की पुष्टि के लिये युक्तियाँ गढने तथा कल्पित पुराने दृष्टान्त उपस्थित करने में सकोच नही करता । इसका एक सुन्दर उदाहरण पाँच पाण्डवो के साथ द्रौपदी के विवाह को धर्मानुकूल सिद्ध करना है । यहाँ जवर्दस्ती जटिला और वार्क्षी के कल्पना-प्रसूत मन-

---

८. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक, पृ० १४४-४६

माने दृष्टान्त दिये गये हैं (१।१९८।१५), जब द्रुपद को इन नज़ीरों से सन्तुष्टि नही होती, तो वह द्रौपदी के पिछले जन्म के वर की दुहाई देकर इस प्रचलित परम्परा-विरुद्ध विवाह को न्याय्य ठहराता है (१।१९९)। इसके अतिरिक्त महाभारतकार को वस्तुओं के उद्गम बताने का शौक है। अनुशासन पर्व मे जूने और छाते के जन्म की मनोरंजक कथा दी गयी है, जमदग्नि जेठ की दुपहरी में तीर चलाने का अभ्यास कर रहे थे, उनकी पत्नी रेणुका तीरो को उठाकर वापिस ऋषि को दे रही थी, धूप से तपी जमीन पर उसके पाँव जले जा रहे थे, एक बार पेड़ की छाया में विश्राम कर जब वह तीर कुछ विलम्ब से लायी तो ऋषि ने क्रुद्ध होकर देरी का कारण पूछा, इसका ज्ञान होने पर, सूर्य उनके कोप का भाजन बना, इससे बचने के लिये सूर्य ने उन्हे जूता और छाता दिया, उसी समय से लोक मे इनका प्रचलन शुरू हुआ (१३।९३। १४-१६)। महाभारतकार ने राज्य जैसी महत्त्वपूर्ण संस्थाओ के उद्गम के सम्बन्ध मे भी विचार किया है, किन्तु वह स्वयमेव इन्हे कल्पना मात्र समझता है, इतिहास का ठोस तथ्य नही। राज्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वह एक स्थान पर अराजकवाद का प्रतिपादन करता है (१२।५९।१४), उस समय न राजा था, न राज्य और न दण्ड देनेवाला, सब प्रजायें धर्मानुसार एक दूसरे की रक्षा करती थी; किन्तु अन्यत्र (१२।६७) राज्य की आदिम अवस्था इस से बिल्कुल विपरीत मात्स्य न्याय की बताता है, जिसमे बलवान् निर्बल का पीडन कर रहा था। प्रत्येक ऐतिहासिक जूते, छाते और राज्य-सम्बन्धी इन उद्भवों को महाभारतकार की कल्पना ही मानता है, इतिहास की घटना नही। इसी प्रकार परिवार सम्बन्धी उपर्युक्त उद्गमो को उस समय की प्रचलित कल्पना ही समझना चाहिये, वास्तविक स्थिति का बोध करानेवाला तथ्य नही।

महाभारत की सामान्य शैली के अतिरिक्त उपर्युक्त स्थलो का विशेष विचार भी इनकी प्रामाणिकता मे सदेह उत्पन्न करता है। पाण्डु चाहता है कि कुन्ती नियोग करे; किन्तु कुन्ती उसको छोड़कर किसी दूसरे व्यक्ति के पास जाने को तय्यार नही, अपने पातिव्रत्य की पुष्टि मे उसने भद्रा की कथा सुनाई है, जिसने अपने पति व्युषिताश्व के शव के साथ लिपटकर अलौकिक ढंग से सन्तान प्राप्त की थी (१।१२१)। कुन्ती भद्रा को आदर्श मानती हुई कहती है कि इसी तरह आप भी तप के बल से मुझमें पुत्र उत्पन्न कीजिये (१।१२१।२८)। पाण्डु अपनी असमर्थता तथा पुत्र की महत्ता भली भांति

समझता है। उसके पास पुत्रप्राप्ति के लिये कुन्ती को नियोग के लिये राजी करने के अतिरिक्त कोई चारा नही है, कुन्ती का पातिव्रत्य ही इसमे सब से बडा बाधक है। अत पाण्डु उसे यह समझाता है कि वैवाहिक मर्यादायें तो श्वेतकेतु द्वारा बनाई गई हैं, प्राचीनकाल में कोई बन्धन नही था, अत कुन्ती को इस पुराने धर्म का पालन करने में कोई संकोच नही करना चाहिये। अदालतो मे सबद्ध और सपक्ष व्यक्ति की साक्षी की प्रामाणिकता में सदैव सन्देह किया जाता है। अपने अभीष्ट को सिद्ध करने के उद्देश्य से कहे गये इस वचन को कैसे सत्य माना जा सकता है ?

दीर्घतमा की कथा भी कामचार की सत्ता सिद्ध करने के लिये अपर्याप्त है। जब दीर्घतमा ने गोधर्म का पालन किया तो ऋषियो ने उसे मर्यादा तोडने-वाला (भिन्नमर्याद) बताया, और अपने आश्रम मे रहने योग्य नही समझा। यदि दीर्घतमा ही विवाह की मर्यादा स्थापित करनेवाला पहला व्यक्ति था तो उसे भिन्नमर्याद कहना निरर्थक है। यदि उससे पहले कोई मर्यादा नही थी तो उसकी पत्नी उससे क्यो रुष्ट हुई ? ऋषियो की दृष्टि मे वह मर्यादा भग करनेवाला कैसे हुआ ? यह भी उल्लेखनीय है कि दीर्घतमा के मर्यादास्थापन के शब्दो का उच्चारण करते ही, उसकी पत्नी ने उसे पुत्रो द्वारा गगा मे फिकवा दिया। वह मर्यादा ही क्या हुई, जिसके भग का सर्वप्रथम शिकार दीर्घतमा बना।

उत्तर कुरु और माहिष्मती के उदाहरणो से भी कामचार को सिद्ध करना कठिन है। उत्तर कुरु की आधुनिक स्थिति अनिश्चित है[९], कुछ इसे साइबेरिया और मध्य एशिया में मानते हैं[१०], सभव है, वह आर्यो का अत्यन्त प्राचीन स्थान रहा हो, महाभारत के समय तक आर्य उससे बहुत दूर हो चुके थे और उस देश पर रहस्य का पर्दा पड़ चुका था। अज्ञात वस्तु के सम्बन्ध मे अनोखी कल्पनायें की जाती हैं, उत्तर कुरु के सम्बन्ध में यह इसी प्रकार की कल्पना थी। माहिष्मती दक्षिण मे नर्मदा नदी के बीच एक टापू पर थी। अनेक देशो की दिग्विजय करते हुए सहदेव ने माहिष्मती के सम्बन्ध मे जो कुछ जाना होगा, वह केवल सुनी बातो के आधार पर ही होगा। आजकल आसाम,

---

९. नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, विक्रमांक, उपायनपर्व का अध्ययन।

१०. चित्राव—प्राचीन चरित्रकोष, पृ० ६६४, नक्शा ६६७, उत्तर कुरु के औपन्यासिक वर्णन के लिये राहुल सांकृत्यायन का सिंहसेनापति देखिये।

काश्मीर जैसे दूरवर्ती स्थानो के सम्बन्ध में कई प्रकार की किम्वदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। ऐसी ही किम्वदन्ती सहदेव के कानो मे पड़ी होगी, उसी का महाभारत मे वर्णन है। मनोरजन की दृष्टि से इसका अवश्य महत्व है; किन्तु ऐतिहासिक सचाई के रूप में बिल्कुल नही।

वैदिक साहित्य की विरोधी साक्षी—महाभारत से पहले के समूचे वैदिक वाङमय में कामचार का कोई संकेत नही है। वैदिक युग में युवक-युवतियो को अपना साथी चुनने की पूरी स्वतन्त्रता थी; किन्तु विवाह हो जाने के बाद स्त्रियाँ पति के घर में जाकर गृहपत्नी का कार्य करती हुई परिवार का निर्माण करती थी। विवाह के समय पुरोहित उन्हे पितृगृह से मुक्त कर पतिगृह के साथ अच्छी तरह सुबद्ध करता था, ताकि वे पुत्रवती तथा सौभाग्यवती हो[११]। उन्हे कहा जाता था कि वे गृहस्थ मे रहते हुए कभी अलग न हो, पूरी आयु का भोग करे (ऋ० १०।८५।४२)। कामचार की दशा मे यह आशीर्वाद निरर्थक है, उस अवस्था मे यह कहा जाना चाहिये कि तुम प्रतिदिन नये प्रेमी प्राप्त करो। पाणिग्रहण करते हुए वर-वधू को कहता था कि तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह[१२]। कामचार या स्वच्छन्द आचरण मे १०० वर्ष तक इकट्ठा रहने का कोई अर्थ नही। ब्राह्मणो, सूत्रग्रन्थो और स्मृतियो में कामचार का वर्णन कही नही मिलता। इस दशा में महाभारत के सदिग्ध प्रमाणो के आधार पर कामचार से हिन्दू-परिवार का उद्‍भव कैसे माना जा सकता है? सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मेयर ने ठीक ही लिखा है—'पुराने जमाने की ऐसी पौराणिक गाथाये इस बात का विश्वसनीय आधार नही प्रतीत होती। प्राचीन आर्यो मे विभिन्न देशो मे फैलने से पहले ही, सुव्यवस्थित पारिवारिक जीवन का अभ्युदय हो चुका था। वेद में खुल्लमखुल्ला मैथुन-स्वातन्त्र्य का कही उल्लेख नही है। हम अतीत के धूसरतम उषाकाल में इतनी लम्बी छलांग लगाने के लिये ऐसे किस्सो पर कभी विश्वास नही कर सकते'[१३]।

---

११. अथर्व १४।१।१८ प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। यथेयमिन्द्रमीढ्वः सुपुत्रा सुभगा सति।

१२. वहीं १४।१।५२ मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम्।

१३. मेयर—प्राचीन भारत में यौन-जीवन (सैक्सुअल लाइफ इन एंशेन्ट इंडिया) पृ० ११५ तथा पृ० १२५ की पादटिप्पणी।

पश्चिमी समाजशास्त्रियो द्वारा कामचार की कल्पना का खण्डन—हिन्दू परिवार का आरम्भ कामचार से हुआ, इस कल्पना को १९वी शती के समाजशास्त्र-विशारदो की गवेषणाओ से वहुत वल मिला था; आज से ६० वर्ष पूर्व, पश्चिम में विवाह और परिवार की आदिम दशा यही समझी जाती थी, वाद में अधिक अनुसन्धान और विचार के वाद यह कल्पना अप्रामाणिक समझी जाने लगी। अमरीकी विद्वान् लुइस मोर्गन ने १८७७ ई० में इसका विस्तृत प्रतिपादन किया, मैक्लीनान, वेखोफन, लार्ड एवरवरी, क्रोपाटकिन, ब्लाख और ब्रिफाल्ट ने इसका समर्थन करते हुए यह सिद्धान्त प्रचलित किया कि प्रारम्भ में समाज में कामचार की दशा थी, इसके वाद वहुभार्यता (Polygamy) का विकास हुआ और अन्त में एक विवाह का नियम प्रचलित हुआ[१४]। टेलर, फ्रेजर, कोहलर शुर्त्स जैसे प्रमुख समाजशास्त्रियो ने इसे स्वीकार किया। किन्तु इसका विरोध सर्वप्रथम डार्विन ने किया, वैस्टरमार्क ने इसकी विस्तृत आलोचना की, लैंग, ग्रास तथा क्राले ने वैस्टरमार्क का समर्थन किया। पश्चिम में समाजशास्त्रियो के इस विचार-विमर्श और विवाद का यह परिणाम हुआ कि कामचार का सिद्धान्त विल्कुल खण्डित हो गया। रिवर्स ने यह सर्वथा सत्य ही लिखा है कि कामचार की प्रारम्भिक अवस्था के मुख्य समर्थक लुइस मोर्गन ने अपनी सम्मति जिन आधारों पर वनाई थी, वे अव हेत्वाभास पूर्ण सिद्ध हो चुके हैं। इस समय हमें न केवल किसी कामचारी जाति का ज्ञान है, वल्कि हमारे पास इस कल्पना का भी कोई पुष्ट प्रमाण नही है कि भूतकाल में कभी कामचार की सामान्य अवस्था प्रचलित थी[१५]। अतः अव इस कल्पना को अधिकाश प्रमुख विद्वान् स्वीकार नही करते। इस खण्डित कल्पना के आधार पर हिन्दू परिवार की आदिम अवस्था, कामचार को कदापि सिद्ध नही किया जा सकता।

परिवार का जीवशास्त्रीय उद्भव—यदि विवाह का उद्गम कामचार या अनावरण से नही हुआ तो इसका मूल क्या है? इसका उत्तर हमें

---

१४. स्पेन्सर—समाजशास्त्र (सोश्योलोजी), खण्ड ३, अध्याय ३-८

१५. इंसा० रिलो० ई०, खं० ८, पृ० ४३२, कामचार कल्पना के समर्थन में दिये प्रमाणों की आलोचना के संक्षिप्त विवरण के लिये देखिये वैस्टरमार्क शार्ट हिस्ट्री आफ् मैरिज, पृ० १३-२४

जीवशास्त्र से मिलता है[१६]। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध के स्थायित्व और परिवार का मूलकारण अपनी जाति को सुरक्षित बनाये रखने की चिन्ता है। यदि पुरुष सम्बन्ध के बाद पृथक् हो जाय, गर्भावस्था मे पत्नी की देख-भाल न की जाय, सन्तान उत्पन्न होने पर उसके समर्थ और बडा होने तक उसकी सहायता न की जाय तो अवश्यमेव मानव-जाति का शीघ्र अन्त हो जाय। कुछ पशु मैथुन के बाद अवश्य अलग हो जाते है, किन्तु पक्षियो की अनेक जातियो तथा मनुष्य के पूर्वज कहलानेवाले बन्दरो में ऐसा नही होता। गोरिल्ला और चिम्पांजी परिवार बनाकर रहते है। जीवन-विकास की शृंखला में निम्न जातियो में उत्पत्ति-संख्या बहुत अधिक है, बच्चे बहुत जल्दी बडे होते है, वहां अवश्यमेव कामचार है, नरमादा सयोग के बाद पृथक् हो जाते है, उनको अपनी जाति के रक्षण की विशेष आवश्यकता नही। मछली के अंडे लाखो और करोड़ो की संख्या मे होते है, उन्हे सेने की जरूरत नही, बच्चे पैदा होते ही तैर कर भोजन ढूढने लगते है, अतः उनमे स्त्री-पुरुष के स्थिर सम्बन्ध की आवश्यकता नही। यही हाल साँप आदि सरीसृपो के अण्डो का है, जो धूप की गर्मी से स्वयमेव विकसित होते है, अतः उनमें माता-पिता को अपने बच्चो की चिन्ता करने की आवश्यकता नही है, किन्तु पक्षियो में अण्डो को सेने के लिये नियत मात्रा मे निरन्तर गर्मी पहुँचाना आवश्यक है, मादा यह काम करती है, वह अण्डो पर निरन्तर बैठी रहती है, यदि वह न बैठे तो उस जाति का अन्त हो जाय, इस समय नर उसे भोजन लाकर देता है। स्तनन्धयो में बच्चो को माता-पिता की इससे अधिक आवश्यकता होती है; क्योकि उनके पूर्ण विकास में पर्याप्त समय लगता है। ओरग उतान ८ से १२ वर्ष की आयु में युवा होता है, यदि उस समय तक माता-पिता शत्रुओ से उसकी रक्षा न करें, पिता उसे भोजन न दे, माता उसका पालन न करे तो वह देर तक नही जीवित रह सकता। अतः अपने बच्चे के प्रति स्नेह आदि मातृ भावनाओ एवं रक्षा की पितृ भावनाओं का उदय होता है। इन के बलवती होने का एक यह भी हेतु है कि बच्चों की संख्या बहुत कम होती है। मछली के एक साथ करोड़ो अण्डे होते है; किन्तु गोरिल्ला आदि बन्दर की अधिक

---

१६. इस सिद्धान्त के विस्तार के लिये देखिए वेस्टरमार्क पूर्वोक्त पुस्तक, पहला अध्याय।

सन्ताने नही होती। यदि इनके पालन में लापरवाही दिखाई जाय तो जाति-नाश की आशका है, इसे सुरक्षित रखने की दृष्टि से इनमे पैतृक भावनाओ का उदय हुआ और सम्वन्ध के वाद भी वच्चो के पालन की दृष्टि से वे एक परिवार वनाकर रहते हैं।

अनेक प्राणिशास्त्रियो ने पशु-पक्षियो विशेषत. मनुष्य के पूर्वज गोरिल्ला चिम्पांजी आदि मे पारिवारिक जीवन की सत्ता के पुष्ट प्रमाण दिये हैं। इनमें सन्तान की सख्या कम होने, गर्भकाल लम्वा होने तथा उस समय मादा के सरक्षण की आवश्यकता, उत्पन्न सन्तान के चिरकाल तक मातृ-दुग्ध पर आश्रित रहने, शैशवकाल लम्वा होने तथा उसमें असहाय होने के कारण आत्मसरक्षण की सहज वुद्धि इन्हें वच्चो के साथ परिवार वनाकर रहने की प्रेरणा करती है। मादा के गाभिन होने पर घर वनाना, रातभर वच्चो की चीतो से चौकसी करना, मादा के लिये नर का भोजन लाना, मादा द्वारा वच्चे का पालन-पोषण, वन्दरो से मनुष्य समाज की जगली जातियो तक सर्वत्र देखा जाता है[१७]। माता-पिता और वच्चे का परिवार मानव-समाज मे सार्वभौम है, इसे उसने विरासत में अपने पुरखो से पाया है। उसमें कामचार कही दृष्टिगोचर नही होता।

पारिवारिक जीवन के घटक तत्त्व—आत्म-सरक्षण की वुद्धि तथा पैतृक भावनाओ के अतिरिक्त कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं, जो परिवार को स्थायी वनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। मनुष्य स्वभावत सामाजिक प्राणी है, उसका एकाकी रहना सभव नही। वृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है 'आरम्भ मे पुरुषाकार आत्मा ही था, उसने भली भाँति अवलोकन कर आत्मा से भिन्न कोई दूसरा व्यक्त पदार्थ नही देखा, निश्चयपूर्वक उस अकेले ने रमण नही किया, इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नही करता। उस पुरुष ने दूसरे साथी को चाहा.... उसने इसी आत्मा को दो रूपो में परिवर्तित किया, उस समय वे पति-पत्नी हुए' (१।४।१-३)।[१८] वाइवल में भी यह कहा गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ मे आदम का कोई सहायक साथी न था, परमात्मा ने उसे गहरी नीद मे सुला-

---

१७. वैस्टरमार्क—फ्यूचर आफ् मैरिज, पृ० १३

१८. वृह० उप०—१।४।१-३ आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः। सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत्....स वै नैव रेमे। तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीय-

कर उसकी पसली की हड्डी से हव्वा को बनाया। वस्तुत. स्त्री-पुरुष संसार के आँधी पानी झेलने और कष्टों का मुकाबला करने मे, पृथक् रूप से अपने-आप को असहाय पाते है, किन्तु मिलकर, परिवार का निर्माण कर सासारिक कष्टों को अधिक प्रसन्नता के साथ सह सकते हैं; क्योकि एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाते हैं। स्त्री के प्रति स्वाभाविक यौन आकर्पण, उसकी सुलभता और चिरकाल तक सहवास से उत्पन्न प्रेम भी परिवार को स्थायी बनाने मे सहायक सिद्ध होता है। स्त्री-पुरुष में श्रम-विभाग होने पर मनुष्य परिवार की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव करता है। जिस समाज मे स्त्रियाँ खाना बनाती है, वहाँ मनुष्य को शीघ्र ही अपनी माता जैसी भोजन तय्यार करनेवाली स्त्री लाना अनिवार्य जान पडता है। एस्किमो जाति मे केवल स्त्रियाँ ही गर्म कपडे बनाना और मरम्मत करना जानती है, अत. उस शीतप्रधान देश में उनकी उपयोगिता स्वयसिद्ध है। मनुष्य की कई आकांक्षाये और अभिलाषायें सन्तान से पूर्ण होती है। उसे यह सन्तोष होता है कि उसके न रहने पर भी उसकी सन्तान उसके नाम और कुल की परम्परा को अक्षुण्ण रखेगी, वह जिन कामो को नही कर सका, उन्हे सम्पन्न करेगी। बच्चो के निकट सान्निध्य और उनके साथ क्रीडा से जो आनन्द मिलता है, वह सहृदय माता-पिता ही जानते है, कालिदास के शब्दो में बच्चो की धूल से मलिन होनेवाले माता-पिता धन्य है। सन्तान द्वारा प्रत्येक बात मे अपना अनुकरण किये जाने पर मनुष्य के अहभाव की सन्तुष्टि होती है। इन सब कारणो से सन्तान और माता-पिता मे एक ऐसा प्रेम-सम्बन्ध स्थापित हो जाता है जो परिवार को स्थायी बनाने में सहायक होता है।

परिवार के कार्य—आत्मसंरक्षण के जीवशास्त्रीय प्रयोजन के अतिरिक्त परिवार मानव समाज में अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करता है। इससे न केवल वंशवृद्धि और सन्तानपालन के उद्देश्य पूरे होते है, किन्तु सन्तान का शिक्षण, सामाजिक परम्पराओ का सरक्षण और व्यक्तित्व का निर्माण भी परिवार द्वारा सम्पन्न होता है। बच्चे का प्रारम्भिक विकास मा की गोद और परिवार के पालने में होता है। इसी मे वह खान-पान, शौच-सफाई, बोलचाल, कपड़े पहनने

मैच्छत्। स हैतावानास यथा स्त्रीपुंमांसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्

आदि की पहली शिक्षा ग्रहण करता है। परिवार मे जो आचार, व्यवहार, धार्मिक विश्वास और परम्परायें चिरकाल से चले आ रहे हैं, उन्हे वह सीखता है। यहीं माता-पिता, भाई-बहिन आदि सभी सम्बन्धियो के साथ उसे अपने कर्त्तव्य का बोध होता है और वह समाज के धार्मिक और नैतिक आदर्शो से परिचित होता है। परिवार का वातावरण व्यक्ति को समाज के अनुरूप और उपयोगी साँचे मे ढाल देता है। सेवा और सहयोग, प्रेम और स्वार्थ-त्याग के आदर्श गुणो का पहला पाठ बच्चा परिवार में ही पढता है। अनेक मनोवैज्ञानिक मनुष्य की सभी परोपकारी प्रवृत्तियो का मूल पारिवारिक जीवन को मानते है[१९]। इसी मे वह दूसरो के लिए जीना सीखता है: सयम, सदाचार और स्वार्थ-त्याग की शिक्षा ग्रहण करता है।

परिवार का महत्त्व—जीव-शास्त्र तथा समाज विज्ञान की दृष्टि से उपर्युक्त प्रयोजन पूर्ण करने के कारण वैदिक युग से हिन्दू समाज मे परिवार की संस्था को असाधारण महत्त्व दिया गया है। वैदिक युग में (ऋ० ५।४।१०) अग्नि से प्रजा द्वारा अमृतत्व पाने की प्रार्थना ही नही की जाती थी किन्तु मनुष्य को तब तक अधूरा समझा जाता था, जब तक कि वह विवाह द्वारा सन्तान उत्पन्न न कर ले (श० ब्रा० ५।२।१।१०)। विवाह और परिवार को धर्म का अग बनाकर इसे मानव-जीवन के लिए अनिवार्य बना दिया गया। ब्राह्मण ग्रथो के समय से सन्तान उत्पन्न करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ऋण या धार्मिक कर्त्तव्य समझा गया। यह माना जाने लगा कि प्रत्येक व्यक्ति तीन ऋण लेकर उत्पन्न होता है, देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण (तै० स० ६।३।१०।५)। इन ऋणो से मुक्त होने का उपाय बौधायन धर्म सूत्र में यह बताया गया है कि ब्रह्मचर्य से ऋषि ऋण, यज्ञो से देव ऋण और सन्तान से पितृ ऋण का अपाकरण होता है (२।९।७-८)।

गृहस्थाश्रम की महिमा—उत्तर वैदिक युग में जब हिन्दू-समाज मे चार आश्रमो की व्यवस्था बद्धमूल होने लगी तो शास्त्रकारो ने गृहस्थाश्रम को बहुत महत्त्व दिया। गौतम (३।१ तथा ३।५) तथा बौधायन धर्म सूत्र (२।६।२९, ४२-४३) का यह मत है कि वास्तव मे

---

१९. एलवुड—सोश्योलोजी इन इट्स साइकालोजिकल एस्पेक्ट्स, पृ० २१३, फ्लूगल—साइको एनेलिटिक स्टडी आफ् फैमिली, पृ० ४

केवल एक ही गृहस्थाश्रम है, ब्रह्मचर्य इसकी तय्यारी मात्र है, वानप्रस्थ और संन्यास गृहस्थ-धर्म के यावज्जीवन पालन का निर्देश करनेवाले अनेक वैदिक वचनों के विरोधी होने के कारण अमान्य है। बाद के धर्मशास्त्रकारों ने यद्यपि पिछले दो आश्रमो को अस्वीकार नही किया; किन्तु वे गृहस्थाश्रम की प्रशसा के गीत गाते नही थकते। गौतम (३।३) ने इसे अन्य सब आश्रमो का मूल कहा है। प्रायः सभी स्मृतिकार इसे अन्य आश्रमों का आधार बताते हैं। मनु ने कहा, जैसे सब जन्तु वायु के सहारे जीते हैं, वैसे ही सब प्राणी गृहस्थ-आश्रम से जीवन धारण करते हैं (३।७७); जैसे सब नदी-नद समुद्र में जाकर स्थित होते हैं, वैसे तीनो आश्रम गृहस्थ मे ही स्थिति प्राप्त करते हैं; उसी की सहायता से जीवित हैं (मनु ६।९०)। अन्य आश्रमो का भरण-पोषण करने के कारण यह ज्येष्ठ एव श्रेष्ठ आश्रम है। विष्णु स्मृति (५९।२७ अनु) वसिष्ठ (८।१५), शंख (५।५-६), दक्ष (२।४५-४८) मे इसी प्रकार का भाव व्यक्त किया गया है। व्यास-स्मृति (४।२-४, १३-१४) में गृहस्थ आश्रम को सर्वश्रेष्ठ बताते हुए यह भी कहा गया है कि जितेन्द्रिय होकर गृहस्थ धर्म का पालन करनेवाले को घर में ही कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य, हरिद्वार और केदारतीर्थ मिल जाते है, जिनकी यात्रा कर वह सब पापो से मुक्त हो जाता है।

महाभारत में गृहस्थाश्रम का गौरव गान (१२।२७०।६-७) अन्य शास्त्रो की अपेक्षा अधिक है। शान्ति पर्व मे कहा गया है कि जैसे माता के आधार से सब प्राणी जीते है, वैसे अन्य आश्रमों की स्थिति गृहस्थ के आधार पर है। गृहस्थ के लिये मोक्ष संभव न माननेवालो की निन्दा की गई है (२७०।१०-११)। अन्यत्र अन्य तीन आश्रमो की तुलना में गृहस्थ का पलड़ा बराबर बताया गया है (शा० प० १२।१२)। कुछ स्थलो में गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा करके सन्यासी बननेवालो की खूब खिल्ली उड़ाई गई है। सन्यास को पापिष्ठा वृत्ति कहा गया है (१२।८।७)। अकेला आदमी पुत्र, पौत्रों, देवताओं, ऋषियो, अतिथियो का भरण न करता हुआ जंगल में सुख से जी सकता है, पर न तो ये मृग स्वर्ग को पाते है, न सूअर, न पक्षी। यदि सन्यास से कोई राजा सिद्धि पा सके तो पहाड़ और पेड़ तुरन्त ही सिद्धि पा लें क्योकि ये नित्य सन्यासी, निरुपद्रववाले और निरन्तर ब्रह्मचारी देखे जाते हैं (१२।१०।२२-२५)।

जरत्कारु और कुणिगर्ग की कथाओ द्वारा महाभारत ने स्त्री-पुरुष दोनों

के लिए विवाह और परिवार की अनिवार्यता प्रदर्शित की है। जरत्कारु (१।१३ व १।४५ उग्र तपस्वी ऋषि थे, उन्होने विवाह नही किया; था किन्तु अपने पितरो की दुर्दशा देखकर, अन्त में उन्हे विवाह करना पडा। कुणिगर्ग की कन्या (९।५२) ने आजीवन घोर तप किया, बूढी होने पर तपोवल के आधार पर परलोक जाने की इच्छा की। इसी समय नारद ने उसे यह वताया कि अनव्याही कन्याओ को स्वर्ग नही मिलता। अपने तप के अर्धाश का फल देकर उसने शृगवान् से शादी की और इसके वाद ही वह स्वर्गलोक जा सकी। अव तक हिन्दू-समाज मे विवाह की अनिवार्यता का यह विश्वास वद्धमूल है और भारत के कई प्रदेशो मे यदि कोई व्यक्ति अविवाहित ही मर जाता है तो दाह-संस्कार से पहले उसकी शादी अवश्य कराई जाती है[२०]।

परिवार के प्रयोजन—हिन्दू समाज में विवाह और परिवार की सस्था को इस प्रकार अनिवार्य वनाने का यह कारण था कि इससे अनेक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन पूर्ण होते थे। धर्मशास्त्रो के मत में इसके तीन प्रधान प्रयोजन थे—(१) पुत्रप्राप्ति, (२) धर्मकार्य और (३) रति। ऋग्वेद में पहले प्रयोजन तथा पुत्रो की आकाक्षा को अनेक स्थलो पर वड़ी तीव्रता से अभिव्यक्त किया गया है (१।९१।२०, १।९१।१३, ३।१।१२३)। ऋ० ५।४।१० में सन्तान द्वारा अमृतत्त्व प्राप्ति का उल्लेख पहले हो चुका है। पाणिग्रहण के मन्त्रो में वर वधू को कहता है कि मैं

---

२० .सेन्सस रिपोर्ट १९३१ खं० १, भाग १, पृ० २२७। हिन्दुओ की तरह अनेक जातियो में विवाह और परिवार एक धार्मिक वन्धन है। हजरत मुहम्मद का एक हदीस है कि जो विवाह नही करता, वह शैतान का साथी है (लेन—अरेवियन सोसायटी इन मिडल एजेज, पृ० २२१)। पारसियो में अहुरमज्दा ने जरथुस्त्र को कहा था—ब्रह्मचारी से सपत्नीक वहुत श्रेष्ठ है। यहूदियों में शादी से वचनेवाला हत्यारे जैसा अपराधी समझा जाता है। यूनान में कई स्थानो पर अविवाहितो पर मुकद्दमा चलाया जाता था, रोम में इन पर टैक्स लगाया जाता था। चीनियो में विवाह इतना अनिवार्य है कि वचपन में ही मर जानेवाले वालक वालिकाओं की आत्मा का विवाह कराया जाता है। फिजी में यह विश्वास है कि जो व्यक्ति शादी विना किये मर जाता है वह स्वर्ग के मार्ग पर एक देवता द्वारा रोका जाता है और चूर चूर कर दिया जाता है (मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया, खं० १)।

उत्तम सन्तान के लिये तेरा पाणिग्रहण करता हूँ (ऋ० १०।८५।३६)। पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश प्रकट करता था (ऋ० १०।८५।४५)। महाभारत में कई स्थलों पर विवाह का प्रयोजन सन्तान बताया गया है (३।९७, १३।१९।९०)। स्मृतिकारों ने इसपर बहुत बल दिया है। मनु ने विवाह के प्रयोजनो में सन्तानोत्पादन को सब से पहले गिना है (९।२९)। भारतीय आदर्शों का प्रतिपादन करनेवाले महाकवि कालिदास के कथनानुसार रघुवंशी राजा सन्तान के लिये गृहस्थ होते थे (प्रजायै गृहमेधिनाम् रघु० १।७)।

दूसरा प्रयोजन-धर्म का पालन—विवाह द्वारा परिवार-निर्माण का दूसरा प्रयोजन धर्म का पालन है। वैदिक युग मे यज्ञ अनिवार्य थे, प्रत्येक व्यक्ति स्नातक होकर यज्ञ की अग्नि अपने घर में प्रज्वलित करता था; किन्तु यज्ञ पत्नी के बिना पूर्ण नही हो सकता था, अतः पत्नी-ग्रहण या विवाह सब के लिये अनिवार्य था, यज्ञ में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता था; श्रीराम का अश्वमेध यज्ञ पत्नी के बिना पूरा नही हो सकता था, अत. उन्हे सीता की प्रतिमा स्थापित करनी पड़ी[२१]। याज्ञवल्क्य एक पत्नी के मरने पर, यज्ञ कार्य के लिये तुरन्त दूसरी पत्नी को ब्याहने का आदेश देता है[२२]। कालिदास ने बताया है कि कामदेव पर विजय पानेवाले शिवजी के सामने जब सप्तर्षि और अरुन्धती आये, उस समय अरुन्धती को देखकर उन्हे विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई; क्योंकि धर्म सम्बन्धी क्रियाओ का मूल पतिव्रता स्त्री ही है[२३]। वैदिक युग में नवदम्पति को आमरण गृहस्थाश्रम का सुख भोगने का उपदेश किया जाता था (ऋ० १०।८५।४२); किन्तु कर्मकाण्ड के विरुद्ध प्रतिक्रिया होने तथा वैराग्यपरक प्रवृत्तियों के प्रबल होने पर, सीधे ब्रह्मचर्य से संन्यास को उत्तम समझा जाने लगा, ३६ और ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य की महिमा गायी जाने लगी। यह विवाह और यज्ञ कर्म पर कुठाराघात था। शबर ने गृहस्थाश्रम की उपेक्षा एवं याज्ञिक

---

२१. पाणिनि ४।१।१३३ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे; वा० रा० ८।९१।२५।

२२. याज्ञ० १।८९ दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवर्तीं पतिः। आहरे द्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्॥

२३. कुमारसंभव ६।१३ तद्दर्शनादभूच्छंभोर्भूयान् दारार्थमादरः। क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्॥

धर्म-कर्म पालन न कर ब्रह्मचारी रहनेवालो की कठोर शब्दो में निन्दा की "अपनी नपुसकता छिपाने के लिये, वे ४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं" [२४]। शबर के विरोध का कारण यह था कि ब्रह्मचारी रहने पर यज्ञ नही किये जा सकते; क्योकि यज्ञ पत्नियो के विना पूर्ण नही हो सकते। यज्ञ में पत्नी को इतना महत्व देने का कारण यह विश्वास था कि पुरुष पत्नी के विना अपूर्ण है। शतपथ ब्राह्मण के पहले उद्धृत एक वचन में यह कहा गया है 'पत्नी निश्चयपूर्वक पति का आधा हिस्सा है, जब तक वह पत्नी नही प्राप्त करता, उस समय तक वह सन्तान नही उत्पन्न करता और अपूर्ण (असर्व) रहता है; जब स्त्री को प्राप्त करता है, प्रजा पैदा करता है, तभी वह पूर्ण होता है[२५]'। ऐ० आ० (१।२।५) में भी पत्नी की प्राप्ति से मनुष्य की पूर्णता बतायी गयी है।

तीसरा प्रयोजन—रति—शास्त्रो में विवाह और परिवार का तीसरा प्रयोजन रति बताया गया है। उपनिषदो में इसे सब से बड़ा आनन्द कहा है; और ब्रह्म के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को यौन सुख की उपमा से समझाया गया है। 'जैसे कोई अपनी प्रिय पत्नी से मिलता हुआ, बाहर के जगत् को कुछ भी नही जानता और न आन्तरिक जगत् को जानता है, ऐसे यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा से जुड़ा हुआ न बाहर की किसी वस्तु को जानता है, न अन्दर की वस्तु को जानता है, (बृह० उ० ४।३।२१)। प्राचीन आर्यो ने ब्रह्मानन्द सहोदर इस आनन्द के भोग को धार्मिक कर्त्तव्य बताया। शास्त्रकार काम की शक्ति से परिचित थे, अत उन्होने इसका उचित सेवन प्रत्येक व्यक्ति का आवश्यक कर्त्तव्य बताया। श्रीकृष्ण ने गीता में (७।११) अपने को धर्मानुकूल काम बताया है। प्राचीन आर्यों के जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक चारो पुरुषार्थो की प्राप्ति आवश्यक समझी जाती थी। वे न तो विशुद्ध भोगवादी थे और न

---

२४. शबरभाष्य १।३।४ अपुंस्त्वं प्रच्छादयन्त अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरितवन्तः।

२५. श० ब्रा० ५।२।१।१० अर्धो वा एष आत्मनो यज्जाया तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि हि सर्वो भवति। मि० शत० ब्रा० ८।७।२।३ तथा तैत्ति० स० ६।१।८५। तस्मात्पुरुषो जायां विरवा कृत्स्नतरमिवात्मानं मन्यते। ऐ० आ० १।२।५

कोरे त्यागवादी। 'सुन्दरी वा दरी वा' का एकान्त आदर्श उन्हें मान्य नही था। वे अवस्थानुसार चारो पुरुषार्थों के सेवन पर वल देते थे। वात्स्यायन कहता है—शतायु पुरुष वचपन में विद्या ग्रहण करे, यौवन में काम का सेवन करे, वुढापे में धर्म और मोक्ष प्राप्त करे[२६]। कालिदास ने आदर्श रघुवंशी राजाओं को यौवन में विषयो का सेवन करनेवाला वताया है। मनु ने परिवार का एक प्रयोजन रति सुख की प्राप्ति कहा है (९।२८)।

ईसाई आदर्श से तुलना—विषय सेवन को उचित और आवश्यक समझकर हिन्दू-समाज में विवाह और परिवार का विधान किया गया है। हिन्दू-शास्त्रकारों ने इस प्रकार सहज एवं उद्दाम यौन भावना को सामाजिक कल्याण के लिये नियन्त्रित कर विवाह को आवश्यक वनाया, यदि ऐसा न किया जाता तो इस के भयंकर दुष्परिणाम होते। ईसाइयत के इतिहास से यह भली भाति स्पष्ट होता है। हमारे यहाँ विषय-सेवन को ठीक समझकर विवाह की व्यवस्था की गयी; किन्तु ईसाइयो ने विवाह की स्वीकृति इसलिये दी कि यदि यह न दी जायगी, तो अविवाहित व्यभिचार का महापाप होने लगेगा। सैण्टपाल ने १ कोरिन्थियन ५।१-९ में विवाह संवन्धी विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा था। पुरुष के लिये यह अच्छा है कि वह स्त्रियों का स्पर्श न करे; फिर भी अविवाहित व्यभिचार से वचने के लिये प्रत्येक पुरुष को पत्नी तथा स्त्री को पति रखना चाहिये। वहीं १ को० ५।९ में उसने यह भी कहा है—यदि अविवाहित और विधवाये संयम नही कर सकती हो तो पाप करके जलने की अपेक्षा विवाह करना वेहतर है। टर्टुलियन इस 'वेहतर' की व्याख्या करता हुआ कहता है कि वेहतर सदा अच्छा नही होता, एक आँख का खोना दो आँखें खोने से वेहतर है, पर इन में से कोई भी अच्छा नहीं है, अर्थात् विवाह न करना सव से अच्छा आदर्श है। सैण्टपाल विषय-सम्वन्ध को मोक्ष में वाधक मानता है (१ कोरिन्थियन ८।३२-३४), विवाह के विषयभोग को भी वह अनिवार्य वुराई और पाप समझता है। उसके लिये विवाह में कोई भलाई या सन्तानोत्पत्ति का प्रयोजन नहीं है। चर्च ने, सैण्टपाल के इस एकांगी

---

२६. कामसूत्र १।२।१-४ शतायुर्वै पुरुषो विभज्य कालमन्योन्यानुवद्धं परस्परस्यानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत। वाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् कामं च यौवने, स्थाविरे धर्मं मोक्षं च।

और दूषित दृष्टिकोण को अपनाकर ब्रह्मचर्य को अनावश्यक रूप से अत्यधिक महत्ता दी। हमारे यहाँ विवाह धर्म है; किन्तु ईसाइयत में यह अधर्म तथा अविवाह (Celibacy) धर्म है। ईसाई सन्तो में ब्रह्मचर्य का विचार यहा तक वढा कि उन्होने स्नान और सफाई को भी पाप समझा। सैण्ट अब्राहम ने ईसाई होने के ५० वर्ष वाद तक मुह नही धोया। प्रसिद्ध ईसाई भिक्षुणी सिलविया सफाई न रखने से बीमार हो गयी; किन्तु ६० वर्ष की होने पर भी वह उंगलियो के सिवाय, अपने शरीर के किसी हिस्से को धोने के लिये तय्यार नही थी। मैल साफ करना धार्मिक पाप था; क्योकि यह शैतान की प्रेरणा थी। मरुस्थलवर्त्ती एक ईसाई मठ में पानी की वड़ी कमी थी, मठाधीश की प्रार्थना पर वहाँ एक जलधारा प्रादुर्भूत हुई; किन्तु जव पादरियो ने उसका स्नान के लिये प्रयोग किया तो वह सरस्वती की तरह लुप्त हो गयी[२७]। मध्यकाल में ईसाई चर्च ने सन्तानोत्पत्ति के अतिरिक्त यौन सम्वन्ध व्यभिचार और पाप माना। उस समय यह युक्ति दी जाती थी कि किसान वीज वोने पर फसल तय्यार होने की प्रतीक्षा करता है, नये बीज नही वोता। पादरियों के लिये ब्रह्मचर्य का नियम अनिवार्य बना दिया गया, किन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि चर्च चकलो में परिणत हुए, न केवल सामान्य पादरी अपितु वडे-वड़े विशप और पोप ब्रह्मचर्य के वन्धन के कारण अनुचित सम्वन्ध करने लगे। पोप जान २३ वें पर निकटाभिगमन (Incest) तथा व्यभिचार का दोष लगाया गया, ११७१ ई० में कैण्टरवरी के मठाधीश के वारे में खोज करने से पता लगा कि एक ही गाँव में उसकी १७ अवैध सन्तानें हैं। स्पेन में सैण्ट पोलादो के मठाधीश की ७० रखैलें थी, लीज के विशप हेनरी को १२७४ में अपने पद से इसलिये हटाया गया था कि उसके ६५ नाजायज वच्चे थे[२८]।

हिन्दू समाज में भी वैराग्यवाद और वौद्धधर्म की प्रवृत्ति प्रवल होने पर कुछ समय तक गृहस्थाश्रम तथा विवाह को हेय दृष्टि से देखा गया, किन्तु मनुस्मृति और महाभारत ने गृहस्थ के गौरव का गान कर के इस लहर को पूरी तरह से रोका। पहले यह वताया जा चुका है कि महाभारत में किस प्रकार संन्यास को पापिष्ठा वृत्ति कहकर इसकी हँसी उड़ायी गयी है। शान्तिपर्व के अठारहवें अध्याय में विदेहराज जनक के अपनी भार्या के साथ संन्यास ग्रहण

---

२७. लैकी—हिस्ट्री आफ् योरोपियन मारल्ज, खण्ड २, पृष्ठ ११७-१८।
२८. वहीं, खण्ड २, पृ० ३५०-५१।

के समय हुए वार्त्तालाप में, अपने कर्त्तव्यो को पूरा न करके प्रव्रज्या ग्रहण करनेवालो की घोर निन्दा की गयी है। जनक-पत्नी ने कहा है—'आप उज्ज्वल राज्य श्री का परित्याग करके कुत्ते की भाति (पराये अन्न की आशा में) इधर-उधर देख रहे है, अपनी धर्मपत्नी का त्याग कर के जीने की इच्छा करनेवाले आप पापी है, आपका इहलोक और परलोक में कल्याण नही होगा। यदि राजा देने वाला न हो तो मोक्ष चाहनेवालो का निर्वाह कैसे हो? भिक्षुक गृहस्थों के आधार से जीते है और उस आश्रम का स्वयं त्याग करते है'। महा० के मत में 'शिष्य, मठ, सम्पत्ति आदि की लालसा से काषाय वस्त्र धारण करनेवाले मूर्ख है। संन्यास धर्म पवित्र होने पर भी, उसे ग्रहण करके सिर मुड़ाना, गेरुये वस्त्र धारण करना केवल जीविका-निर्वाह के लिये है।' जो लोग सुखार्थी है किन्तु निर्धन होने के कारण सन्यास लेते है, उनका अनुकरण कर गृह त्याग करना ठीक नही है[२९]। महाभारत का यह सारा प्रकरण भगवान् बुद्ध जैसे अपनी पत्नी तथा घर छोड़कर संन्यासी होनेवालो पर एक प्रवल आक्षेप है। तथागत के उपदेश के प्रभाव से इतने अधिक तरुण संन्यासी वनने लगे कि कपिलवस्तु में हाहाकार मच गया था, उनके पिता शुद्धोदन ने उनसे यह व्यवस्था करायी कि युवक माता पिता की अनुमति लेकर ही संन्यासी हो[३०] फिर भी हमारे देश में ऐसे संन्यासियो की कमी नही थी, जिनकी मसें भी न भीगी होती थी, ऐसे 'अजातश्मश्रु' भिक्षुओ की एक कथा शान्ति पर्व में है, इन्द्र के समझाने से इन सब ने संन्यास-धर्म को निष्फल समझ गृहस्थ का अवलम्बन किया (१२।११।२७)। कुछ शास्त्रकारो ने सम्भवत. सन्यास के दुष्परिणामों को समझकर इसे कलिकाल मे वर्जित वताया[३१]। अतः सामान्यरूप से पुत्रप्राप्ति, धर्मपालन रति आदि प्रयोजनो की पूर्त्ति के लिये हिन्दू-समाज में विवाह और परिवार को प्राय. अनिवार्य ही समझा जाता रहा है।

---

२९. महाभा० १२।१८।१२ अनु० श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रति वीक्ष्यसे।...नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः। धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम्॥ न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकाङ्क्षिणः। परिव्रजन्ति दानार्थं मुंडाः काषायवाससः॥

३०. बुद्धचर्या, पृ० ५८।

३१. व्यास स्मृति मुक्ताफल में उद्धृत, पृ० १७६ अग्न्याधेयं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्। देवरेण सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्।

दूसरा अध्याय

हिन्दू परिवार का विकास

हिन्दू-परिवार का स्वरूप—इसके विकास की पाँच अवस्थायें—पहली अवस्था पूर्व वैदिक युग का परिवार—कीथ व मैकडानल की कल्पना—उसका खण्डन—सयुक्त कुटुम्ब-पद्धति के कुछ अन्य प्रमाण—इस पद्धति की विरोधी तथा पोषक परिस्थितियाँ—संयुक्त परिवार के उपादान—(१) धर्म—पितृपूजा और अग्नि-पूजा, (२) आर्थिक परिस्थिति—वैदिक परिवार की सीमा—पितृसत्ताक परिवार—पारिवारिक सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक स्वाम्य—मेन की पचायती स्वाम्य की कल्पना—इसका खण्डन—दूसरी अवस्था—परिवार के विघटन के सकेत—पुत्रो द्वारा दाय का बटवारा—विभाग का विकास—विघटन का एक अन्य सकेत, भातृव्य शब्द—विघटन के कारण—(क) मनोवैज्ञानिक, (ख) सामाजिक परिस्थितियाँ, (ग) धर्म-संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा—इसमें परिवर्तन—तीसरी अवस्था—पिता के अधिकारो का अपहरण—विभाग की प्रशंसा—स्वार्जित सम्पत्ति—विघटन के कारण—सयुक्त परिवार का समर्थन—पितृ प्रधान परिवार का अन्त—चौथी अवस्था—स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र सकुचित किया जाना—मध्ययुग में सयुक्त परिवार पद्धति के बढने के मनोवैज्ञानिक और आर्थिक कारण—अन्य कारण—पाँचवी अवस्था—विघटन के उपादान (क) नवीन आर्थिक परिस्थितियाँ, (ख) पश्चिम की नई विचार-धारायें, (ग) पश्चिमी कानून, (घ) अन्य कारण, सयुक्त परिवार की हानियाँ, (क) परोपजीविता और अकर्मण्यता में वृद्धि, (ख) व्यक्तित्व का दमन, (ग) स्त्रियो की दुर्दशा, (घ) कलह-वृद्धि, (ङ) अविचारित सन्तानोत्पादन, (च) आर्थिक हानि—सयुक्त परिवार के गुण—इसका भविष्य ।

हिन्दू परिवार का स्वरूप—बाइबल में सृष्टि-निर्माण के समय भगवान् ने कहा है कि विवाह होने के बाद पुरुष अपने माता-पिता को छोड़ देगा और पत्नी के साथ अलग रहेगा (जिनीसस २।२४) किन्तु हिन्दू-समाज में ऐसा नही होता, वैदिक युग से यहाँ यह व्यवस्था प्रचलित है कि पुत्र विवाह के बाद अपनी स्त्रियो और सन्तानो सहित

पिता के साथ एक ही घर में रहते हैं। कुछ धर्मशास्त्र यह विधान करते हैं कि भाई पिता के जीवन-काल में एक साथ ही रहे[१]। इस प्रकार का परिवार संयुक्त कुटुम्ब कहलाता है। यह निवास, भोजन, धर्म-कर्म और आर्थिक दृष्टि से सयुक्त होता है। पिता, उसके पुत्र, पुत्रवधुये, भाई भाभियाँ आदि अनेक परिवार एक ही घर में रहते हैं, इनका भोजन एक ही चूल्हे पर बनता हैं, इनके यज्ञ, श्राद्ध, धर्म-कर्म एक साथ किये जाते हैं[२], सम्पत्ति का स्वामित्व, उत्पादन और उपभोग सम्मिलितरूप से होता है, परिवार के सदस्य जो कुछ कमा कर लाते हैं, उसका उपयोग परिवार के सब प्राणी मिलकर करते हैं[३]। सयुक्त परिवार एक कारपोरेशन (निकाय) या सामूहिक संगठन है, इसका मुखिया (कर्त्ता) या गृहपति एक प्रकार का ट्रस्टी है, जो समूचे परिवार की सम्पत्ति का प्रबन्ध इस दृष्टि से करता है कि उसके सदस्यो का ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण हो, सदस्यो की सारी कमाई संयुक्त कोश में डाली जाती है और गृहपति सब की आवश्यकतायें पूरी करने के लिये इस कोश का यथेच्छ उपयोग कर सकता है। इसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कमाता है तथा आवश्यकतानुसार प्राप्त करता है और इस प्रकार काफी अशो में समाजवाद के इस आदर्श को पूरा करता है कि प्रत्येक से योग्यतानुसार लिया जाय और उसे आवश्यकतानुसार दिया जाय[४]। सयुक्त परिवार में अनेक कुटुम्बो के इकट्ठा रहने के कारण सदस्यो की सख्या बहुत होती है[५]। ये सब परिवार

---

१. आपस्तम्ब धर्म सूत्र २।६।१४।१९ भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। मि० शंख लिखि० ३५१।

२. बृह० अप० २।११४ एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं भवेत्... मि० नारद स्मृ० १६।३८।

३. अप्पूवियर बनाम रामसुब्बा अय्यन (११ म्यू० इं० ए० ७५।८९-९०)।

४. जाथर बेरी—इंडियन इकनामिक्स, तृतीय संस्करण, ख० १, पृ० १०३-४।

५. वार्ड ने १९वीं शती के प्रारम्भ में बंगाल के एक हिन्दू संयुक्त कुटुम्ब के सदस्यों की संख्या ५० बतायी है। जगन्नाथ तर्क पंचानन के (१७९९-१८०६ ई०) के परिवार में पुत्र, पौत्र और प्रपौत्रों की संख्या ७०-८० के बीच में थी, उन्हे प्रप्रपौत्र का मुंह देखने का अवसर मिला था, श्राद्ध में

के मुखिया के अनुशासन में रहते है। संयुक्त-परिवार एक छोटा सा-राज्य है, प्राय. पिता या सयुक्त परिवार का 'कर्त्ता' इसका निरकुश शासक होता है। इस प्रकार हिन्दू सयुक्त कुटुम्व की चार विशेषतायें है, (१) पिता के साथ पुत्र, पौत्रादि का अपने परिवारो सहित इकट्ठा रहना। हिन्दू सयुक्त परिवार वास्तव में किसी ज्ञात पूर्वज के और स, दत्तक पुत्रो तथा विवाह द्वारा सवद्ध प्राणियो का समूह है। (२) एक निवास, पाक तथा सयुक्त रूप से धर्म-कर्म का पालन (३) सम्पत्ति का सयुक्त स्वामित्व और उपभोग, (४) परिवार के सदस्यो का मुखिया के अनुशासन में रहना।

वर्तमान समय में नगरो में तथा शिक्षित वर्ग में हिन्दू-परिवार के उपर्युक्त रूप में काफी परिवर्तन हो रहा है, किन्तु १९ वी शती के अन्त तक सम्मिलित कुटुम्व की ही प्रथा की प्रधानता थी। पिछली चार सहस्राब्दियो में भारतवर्ष में अनेक साम्राज्यो का उत्थान और पतन हुआ, विदेशी जातियाँ आईं, नये धर्म प्रचलित हुए, परन्तु परिवार के सम्वन्ध में मौलिक परिवर्तन वहुत ही कम हुए। अनेक शतियो के तूफानी थपेडो से सयुक्त परिवार में कोई विशेष अन्तर नही पड़ा। वैदिक युग के प्रारम्भ में सयुक्त परिवार की पद्धति थी। इस समय से गुप्त-युग तक परिवार में विभाग की प्रवृत्तियाँ प्रवल हुईं। गुप्त युग के वाद फिर सयुक्त परिवार की प्रथा पुष्ट होने लगी। १९वी सदी के वाद से पुनः संयुक्त परिवार विरोधी परिस्थितियाँ प्रवल होने लगी है। अव तक के हिन्दू परिवार के इतिहास में हमें सम्मिलित कुटुम्व की पक्षपाती और विरोधी प्रवृत्तियो में एक सघर्ष दिखाई देता है। इस द्वन्द्व में कभी सयुक्त परिवार पक्षपाती प्रवृत्तियो का पलड़ा भारी होता है और कभी विरोधी प्रवृत्तियो का, किन्तु विरोधी प्रवृत्तियो के प्रवल होने पर भी, कोई ऐसा समय नही आया जव कि सयुक्त परिवार प्रथा नाम शेष रह गई हो। इसी प्रकार सयुक्त परिवार की समर्थक प्रवृत्तियो के अत्यन्त प्रवल होने पर भी विभाग की प्रथा कभी विल्कुल लुप्त नही हुई। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू समाज

प्रपितामह तक पिण्डदान होता है, यहां उसके जीवित होने से उसकी आवश्यकता न थी। (हिस्ट्री लिटरेचर एण्ड माइथोलोजी आफ् हिन्दूज, खण्ड १, (१८९८) पृ० १४५) अभी तक सत्तर व्यक्तियों के संयुक्त कुटुम्व देहातों और छोटे कस्वों में पाये जाते हैं। लेखक ज्वालापुर में सत्तर के लगभग सदस्यों के एक वैश्य कुटुम्व को जानता है।

मे संयुक्त कुटुम्ब-प्रथा सामान्य रूप से प्रचलित रही है[६]; किन्तु बीच-बीच में उसमे विभाग की प्रवृत्तियाँ प्रवल हुई है। इन दोनो प्रवृत्तियो के अन्तर्द्वन्द्व से हिन्दू परिवार का विकास हुआ है।

विकास की पाँच अवस्थाएं

यह विकास पांच अवस्थाओ मे वाटा जा सकता है।

पहली अवस्था—पूर्व वैदिक युग—इस युग में हिन्दू-समाज मे सयुक्त परिवार की प्रधानता थी।

दूसरी अवस्था—उत्तर वैदिक युग से ६०० ई० पू० तक—इस काल में सयुक्त परिवार के विघटन का श्रीगणेश हुआ। पुत्र पिता की सम्पत्ति में से अपना हिस्सा अलग करने लगे।

तीसरी अवस्था—(६०० ई० पू०-६०० ई० तक) इस समय विघटन की प्रवृत्तियाँ अधिक प्रवल हुईं। पुत्रो के बंटवारे का अधिकार मान लिया गया। विभाग की प्रशसा की जाने लगी। स्वार्जित सम्पत्ति पर कमानेवाले का अधिकार मान लिया गया। बँटवारा प्रायः पिता-माता की मृत्यु के बाद ही उत्तम समझा गया, किन्तु यदि पिता अपने अधिकार का दुरुपयोग करता था, तो उसके जीवन-काल मे उसकी इच्छा न होने पर भी पुत्र बँटवारा कर सकते थे।

चौथी अवस्था—६०० ई० से १९०० ई० तक—इस अवस्था में टीका-

---

६. संयुक्त कुटुम्ब पद्धति हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य बहुत से समाजों में पायी जाती है। लीस्ट ने ट्यूटन (जर्मन) जाति के अतिरिक्त अन्य सभी आर्यजातियों में इसकी सत्ता के प्रमाण दिये हैं। चीन में इस प्रथा के प्रसार के सम्बन्ध में दे०—डूलिटल-सोशल लाइफ आफ दी चाइनीज २।२२५ प्र०), यहां चार पीढ़ी तक के सम्बन्धी घनिष्ठ रूप से संबद्ध माने जाते थे। दक्षिणी स्लावों में जाद्रुगा नामक विशाल परिवार होते थे; जिनमें एक ही पूर्वज की बहुत सी पीढ़ियां सम्मिलित होती थीं, पारिवारिक सम्पत्ति का उत्पादन और उपभोग संयुक्तरूप से होता था (एंजेल्स-परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, राजसत्ता की उत्पत्ति पृ० ४०-४)। फ्रेंच राज्यक्रान्ति से पूर्व फ्रांस में बहुत बड़ी कृषक गृहस्थियां होती थी। एंजेल्स ने उत्तरी अमरीका के एक टापू क्वीन चारलौट के हायदा लोगों में एक ही छत के नीचे रहनेवाले ७०० व्यक्तियों के परिवारों का उल्लेख किया है (वहीं पृ० ६४)।

कारो ने संयुक्त परिवार समर्थक प्रवृत्तियो को प्रोत्साहित किया। विज्ञानेश्वर आदि ने स्वार्जित सम्पत्ति के क्षेत्र को बहुत संकुचित किया। जीमूत वाहन ने पिता को असाधारण अधिकार देकर पिता के जीवन काल में पारिवारिक सम्पत्ति के पुत्रो द्वारा विभाग की व्यवस्था का वगाल में सर्वथा अन्त कर दिया।

प.चवी अवस्था—वर्तमान युग (१९०० से)—इस युग में विघटन की प्रवृत्तियां पुन. प्रवल हो रही है। स्वार्जित सम्पत्ति के अधिकार को कानून वनाकर सुरक्षित कर दिया गया है। विधवाओ के अधिकारो में वृद्धि की गई है। पश्चिमी जगत् के साथ सम्पर्क में आने से तथा वर्तमान औद्योगिक युग की नवीन परिस्थितियो से, सयुक्त परिवार प्रथा के भग होने का भय उपस्थित हो गया है। अव इन प.चो अवस्थाओ का, क्रमश. प्रतिपादन किया जायगा।

पहली अवस्था

पूर्व वैदिक युग का परिवार—इस समय अर्थात् सहिताओके काल में हिन्दू परिवार का क्या स्वरूप था? कीथ और मैकडानल ने वैदिक युग में, सयुक्त परिवार मे सन्देह प्रकट किया है। उनका मत है कि वैदिक युग का परिवार सयुक्त था या नही, इस विषय में कोई निश्चित सम्मति नही वनाई जा सकती; क्योकि इस सवन्ध में कोई निर्णायक प्रमाण नही है। इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई साक्षी नही कि पुत्र युवा होने पर अपने पिता के साथ रहता था और उसकी पत्नी उसके पिता के घर का सदस्य वनती थी अथवा पुत्र अपना नया घर वसाता था। सभवत इस विषय में विभिन्न प्रथायें प्रचलित थी (वैदिक इडेक्स १।५२७)। मैकडानल ने अन्यत्र (वैदिक रिलीजन, पृ० १५८) लिखा है—'एक सामान्य घर में एक पति और पत्नी समान स्थिति का उपभोग करते हुए रहते थे।' इसमें कोई सन्देह नही कि इन विद्वानो के कथन में कुछ सत्यता अवश्य है; किन्तु यह कहना ठीक नही कि पुत्र के पिता के साथ रहने के सम्वन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नही होते। कई मन्त्र स्पष्ट रूप से यह सिद्ध करते है कि वैदिक युग में पिता अपने पुत्रो और पौत्रो के साथ रहता था और पुत्रवधू अपने श्वशुर के घर में निवास करती थी। विवाह के वाद पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए कहता है—तुम यही इसी घर में रहो, वियुक्त मत होओ। अपने घर में पुत्रो और पौत्रो के साथ खेलते हुए और आनन्द मनाते हुए सारी

आयु का उपभोग करो (ऋ० १०।८५।४२) । यदि पुत्र विवाह के बाद पिता से पृथक् होकर घर बनाता था तो उसी घर में पोतो के साथ खेलना और खुशी मनाना कैसे हो सकता था पुरोहित वधू को आशीर्वाद देते हुए यह भी कहता था—तू सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करनेवाली रानी बन (वही ४६)[8] ये मत्र प्रत्येक विवाह में पढे जाते है। यदि उस समय विवाह के बाद पुत्र पिता के घर से अलग हो जाता था और अपना पृथक् घर बनाकर रहता था, तो उसमे सास-ससुर ननद-देवर नहीं हो सकते। उनके सम्बन्ध में यह आशीर्वाद देना बिल्कुल निरर्थक है कि तुम इनपर शासन करो। इस आशीर्वाद की सार्थकता उसी दशा मे है, जब पुत्र अपने पिता के घर पर रहे। कीथ व मैकडानल ने अन्यत्र (वैदिक इडेक्स १।४८४) इस की व्याख्या करते हुए कहा है कि यह मंत्र ऐसे परिवार पर लागू होता है, जहाँ पिता बूढा होने के कारण परिवार का अध्यक्ष नही रहा, पुत्र परिवार का अध्यक्ष बना है तथा उसकी पत्नी सयुक्त परिवार की स्वामिनी बनी है। यदि मैकडानल की यह व्याख्या सही मान ली जाय तो इससे यही सिद्ध होता है, कि पुत्र विवाहित होने पर भी अपने पिता के साथ रहा करता था और उसके असमर्थ होने पर परिवार का मुखिया बनता था। यह स्थिति मैकडानल के ऊपर उद्धृत किये गये इस कथन की विरोधी है कि एक घर में एक पति और पत्नी ही रहते थे; फिर मैकडानल का यह कल्पना करना भी ठीक नही कि यह आशीर्वाद ऊपर कहे गये परिवार में ही लागू होता है; क्योंकि यह विवाह का एक सामान्य मंत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थो में मैकडानल द्वारा बताये गये विशेष विनियोग का कही उल्लेख नही है। उन्होने अपनी कल्पना के समर्थन में कोई प्रमाण नही दिया।

सम्मिलित कुटुम्ब-पद्धति के अन्य प्रमाण—स्वापन सूक्त (अथर्व ४।५)—वैदिक युग में सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति की सूचना हमे स्वापन और सांमनस्य सूक्तो(अथर्व० ३।३०) से भी मिलती है। इनमे पहला सूक्त उससमय की सयुक्त परिवार की प्रथा और सत्ता पर बड़ा मनोरञ्जक प्रकाश डालता है। इसमे रात के समय परिवार के सब लोगो को सुलाने का प्रयत्न किया गया

---

७. ऋ० १०।८५।४२ इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ८ वही ४६, सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु ॥ मि० अथर्व १४।१।२२।

हैं । इन मंत्रो से सब को सुलाने की आकांक्षा करता हुआ व्यक्ति कहता है, जो नारियाँ बेंच (प्रोष्ठ) पर लेटी हुई हैं, पलंग पर लेटी हुई हैं, पालकी में लेटा करती है, जो स्त्रियां उत्तम गन्धवाली हैं, हम उन सबको सुलाते हैं । मध्य रात्रि में (अति शर्वरे) गति करनेवाली प्रत्येक वस्तु को मैंने पकड़ लिया हैं । चक्षु और श्वास को भी थाम लिया है और गति करनेवाले अंगो को भी निरुद्ध कर लिया है । जो कोई बैठा हुआ है, इधर-उधर जाता है, खड़ा होकर देखता है, हम उन सबकी आँखें नींद से बन्द करते हैं । माता सो जाय, पिता सो जाय, कुत्ता सो जाय, घर का स्वामी (विश्पति) सो जाय । इस स्त्री के सब सम्बन्धी तथा चारो ओर के लोग सो जायें[८], इन सब लोगो को सुलाने का क्या अभिप्राय है ? सायणाचार्य ने कौषीतकी ब्राह्मण (४।१२) के आधार पर इस सूक्त का विनियोग यह बताया है कि स्त्र्यभिगमन में उसके आस पास के लोगो को सुलाने के लिए यह सूक्त पढ़ा जाता[९] है । इस सूक्त से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ही घर में अनेक परिवारो के अनेक व्यक्ति सभवत. एक प्रकोष्ठ में सोते है, वहाँ पति पत्नी के लिए अभीष्ट एकान्त नही है । अतः वे अन्य लोगो को सुलाने के लिए इस सूक्त

---

८. अथर्व ४।५।३-६ प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः । स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि ॥ एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभ । अंगान्यजग्रभम् सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति । तेषां सं दध्मो अक्षीणि.....॥ स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्पतिः । स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥

९. इस सूक्त के १,३,५ और ६ मंत्र ऋ० ७।५५।५-८ में किंचित् परिवर्तन के साथ पाये जाते हैं । इन मंत्रों में भी प्रस्वापन का विधान है । इस सूक्त के पहले चार मंत्रो में कुत्ते (सारमेय) के भौंकने का विशेषरूप से उल्लेख हैं । सायणाचार्य ने ऋग्वेद में इस सूक्त की टीका करते हुए कहा है कि महर्षि वसिष्ठ तीन दिन के उपवास के बाद भोजन की आशा में वरुण के घर में घुसे । घर का पहरा देनेवाला कुत्ता उनपर झपटा । वसिष्ठ ने इन मंत्रों से उसे सुलाया । चोर, डाकू चोरी करते हुए इन मंत्रों का पाठ करते हैं । ग्रिफिथ ने ऋ० २।५४ की टिप्पणी में कहा है, प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के पास अभिसार के लिए जाता है, तो वह इन मंत्रो से उसके अन्य संबंधियों को सुलाती है ।

का विनियोग करते हैं। इस सूक्त का विनियोग अन्य कार्यों के लिए भी किया जा सकता है। विनियोग की यथार्थता के सम्बन्ध में मतभेद की अवश्य गुंजायश है, पर इस विषय में कोई मतभेद नहीं हो सकता कि यह उस समय में सयुक्त परिवार की सत्ता को सूचित करता है। छठे मन्त्र से यह पता चलता है कि इस परिवार में माता, पिता, विश्पति (यह संभवतः दादा या परिवार के लोगो (विश.) का कोई अन्य स्वामी या Patriarch है) तथा स्त्री के अनेक सबंधी हैं, तीसरे मन्त्र में वैचो, पलगों और पालकियों पर अनेक नारियाँ बताई गई हैं। ये संभवत. अविवाहित बहनें तथा भाभियाँ आदि होगी। इनके स्वरूप पर इन मन्त्रो से कोई प्रकाश नही पड़ता, किन्तु यह अवश्य सूचित होता है कि यह कोई वैयक्तिक छोटा परिवार नही है. जिसमें केवल पति-पत्नी और उनके बच्चे हो। यह एक काफी बड़ा संयुक्त परिवार है, जिसमें पति-पत्नी के अतिरिक्त उनके माता-पिता, अनेक रिश्तेदार और बहुत-सी स्त्रियाँ एक साथ एक घर में रहती हैं।

सांमनस्य सूक्त (अथर्व० ३-३०) में परिवार के उच्चतम आदर्शो पर बल देते हुए कुटुम्ब के सदस्यों को संयुक्त बने रहने, एक साथ खाने तथा एक साथ उपासना करने की प्रेरणा की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुटुम्ब का कोई वृद्ध पुरुष परिवार के सब प्राणियो को मिल-जुलकर प्रेमपूर्वक रहने का उपदेश कर रहा है—"मै तुम्हें समान हृदयवाला, समान मनवाला और द्वेष शून्य बनाता हूँ। जैसे गौ (अघ्न्या) अपने पैदा हुए बछडे के प्रति प्रेम रखती है, उसी प्रकार तुम एक दूसरे के प्रति प्रेम रखो।......तुम अपने बड़े लोगों का अनुकरण करनेवाले हो। तुम समान चित्तवाले (एक जैसा संकल्प करनेवाले) बनो। इकट्ठे मिलकर कार्यो की सिद्धि करते हुए, एक ही कार्य-भार को उठाकर चलते हुए, आपस मे वियुक्त (विभक्त) मत होओ। एक दूसरे के प्रति सुन्दर वचन बोलते हुए (यहाँ) आओ। मै तुम्हे मिलकर गति करनेवाला तथा समान मनवाला बनाता हूँ। तुम्हारा पानी पीने का स्थान (प्रपा) एक हो। तुम्हारा अन्न का हिस्सा भी दूसरों के समान हो, मै तुमको एक बन्धन (जुए) में बांधता हूँ। जिस तरह अरे, (रथ चक्र) की नाभि में चारो ओर जुड़े होते हैं, उसी प्रकार तुम एक साथ जुड़कर गति करते हुए अग्नि की पूजा करो। एक साथ (कार्य में प्रवृत्त होकर) गति करने वाले तुम लोगों को, मै समान मनवाला बनाता हूँ। मै तुम सब को संविभाग (समान बँटवारे से एक समान अन्न के भोग)

वाला बनाता हूँ। अमृत की रक्षा करनेवाले देवताओ की तरह, तुम लोगो में साय-प्रातः (सदा) उत्तम (अनुकूल) मनवाले होकर रहने का भाव (जागृत) रहे[१०]। इस सूक्त में 'मा वियौष्ट' कहकर स्पष्टरूप से कुटुम्ब को सयुक्त बनाये रखने का आदेश दिया गया है। यहा सयुक्त परिवार में केवल एक साथ भोजन करने तथा एक साथ अग्नि की पूजा करने का ही उल्लेख नही है; किन्तु एक साथ कार्यो की सिद्धि करने (सराधयन्त.) तथा एक ही साथ कार्य-भार को उठाने (सधुरास्चरन्त.) और एक साथ मिलकर मेहनत करने से सयुक्त परिवार के आर्थिक उद्देश्यो की समानता पर भी बल दिया गया है। उन्हे स्पष्टरूप से एक जुए में (समाने योक्त्रे) जुड़े रहने को कहा गया है। समान जुए में जुड़ने का मतलब है मिलकर एक पेशा या वृत्ति करना। परिवार के सदस्य जिन बधनो से ग्रथित और संयुक्त रहते है, इस सूक्त में प्राय. उन सभी बधनो का उल्लेख है।

संयुक्त कुटुम्ब की विरोधी तथा पोषक परिस्थितियां—उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक युग में सयुक्त परिवार की प्रथा थी। कीथ और मैकडानल का यह कहना ठीक नही कि उस समय संयुक्त परिवार-प्रथा के समर्थन में कोई स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध नही होते। एक बात यहा स्पष्टरूप से समझ लेनी चाहिये। वैदिक युग में जगन्नाथ तर्क पंचानन के ७०-८० सदस्योवाले परिवार में नही थे। मध्ययुग में परिवार के प्राणियो में कुछ विशेष कारणो से आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। (देखो नीचे)। वैदिक युग मे ये कारण उपस्थित नही थे। उस समय आर्यो के सामने फैलने के लिए भारत का विशाल भूखण्ड पडा हुआ था। आर्य लोग दक्षिणापथ और पूर्व में दूर दूर जाकर नये प्रदेशो को बसा रहे थे। रामायण में राम को दक्षिण जाते हुए अनेक तपोवन और आश्रम मिलते है। अगस्त्य और अत्रि जैसे अनेक आर्य इन प्रदेशो में गये हुए थे। ये ऋषि तपोवनो में

१०.अथर्व० ३।३०।१, ५-७ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।। ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि।। समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि। सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः।। सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु।।

अपनी स्त्रियो और पूरे कुटुम्ब के साथ रहते थे। अत्रि ऋषि के आश्रम में सीता ने अनुसूया से पातिव्रत्य का उपदेश ग्रहण किया था। ये ऋषि अपने मूल परिवारो से पृथक् होकर ही दक्षिण में बसे होगे। यदि आर्य अपने मूल परिवारो से पृथक् न होते तो भारत में कभी उनका विस्तार नही हो सकता था। वैदिक युग की यह स्थिति वैयक्तिक या छोटे परिवारो को प्रोत्साहन देनेवाली कही जा सकती है, किन्तु इसके साथ एक दूसरी परिस्थिति संयुक्त परिवार को प्रोत्साहित करती थी।

दूर देश में बसनेवाला परिवार चारो ओर विरोधियों से घिरा होता था। रामायण में हम यह वार-वार पढते है, कि राक्षस ऋषियो के यज्ञो में विघ्न डालते है। महर्षि विश्वामित्र ने अपने यज्ञ की रक्षा के लिए महाराज दशरथ से राम और लक्ष्मण माँगे थे। उन दोनो ने राक्षसो का वध कर महर्षि का यज्ञ पूर्ण किया। यह स्पष्ट है कि एकाकी परिवार की अपेक्षा संयुक्त परिवार अपनी सपत्ति की रक्षा करने में अधिक समर्थ होता है। उसमें लड़नेवाले योद्धाओ की संख्या अधिक होती है। वैदिक युग में इनकी वड़ी माग थी। आज वच्चो के पालन-पोषण और शिक्षा पर भारी व्यय होता है, अतः माता-पिता वच्चो की अधिक सख्या को मुसीवत समझते है। किन्तु ऋग्वेद के समय में ऐसी परिस्थिति नही थी। अतएव विवाह के वाद पुरोहित वर को दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देता था[११] (ऋ० १०।८५।४५)। एक ओर नये-नये देशो का आकर्षण आर्यो को अपनी ओर खीच रहा था, दूसरी ओर शत्रुओ से भरे हुए नये प्रदेशो में एकाकी रहने के खतरे उन्हे भयभीत कर रहे थे। इन दोनो विरोधी परिस्थितियो में सामजस्य किस प्रकार स्थापित हो? इस समस्या का एक सुन्दर हल वड़ा परिवार था। इससे नये देशो में वसने की इच्छा भी पूरी हो जाती थी और शत्रुओ से रक्षा भी हो सकती थी। ऐसा प्रतीत होता है कि पुत्र पहले विवाह के वाद काफी समय तक पिता के साथ रहता होगा। जव उसका परिवार काफी विशाल हो जाता था, तो वह पिता से अलग होकर, दूसरे स्थान पर वस जाता होगा। अतः उस समय, संयुक्त परिवार-प्रथा इस रूप में तो अवश्य थी, कि पुत्र विवाह के वाद प्रायः पिता के साथ एक घर में रहता था, किन्तु इस रूप मे नही थी कि उस घर में पोते-परपोते अपनी

---

११. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्रानाधेहि॥

स्त्रियो और सन्तानो के साथ रहते हो। इसे सीमित सयुक्त परिवार कह सकते हैं।

संयुक्त परिवार के उपादान

यदि समाज-विज्ञान की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि जो परिस्थितिया सयुक्त परिवार की प्रथा को उत्पन्न करती हैं, या उस को बनाए रखने में सहायता देती है, वे पूर्व वैदिक युग में उपस्थित थी; अत. तत्कालीन समाज में इस प्रथा का प्रचलन सर्वथा स्वाभाविक था। पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि आत्म-सरक्षण की भावना ने मानव-समाज में विवाह और परिवार की सस्था को उत्पन्न किया। मातृस्नेह, पितृप्रेम, दाम्पत्य आसक्ति (Conjugal attachment) अपत्यप्रीति (Filial affection) सहवर्तिता (साथ रहना) परिवार के पाच मुख्य आधार हैं। इन आधारो पर परिवार के प्रासाद का निर्माण होता है। अब यहाँ सयुक्त परिवार के उपादानो की चर्चा की जायगी और यह बताया जायगा कि इनमें से अधिकाश उपादान वैदिक युग में उपस्थित थे।

(क) पितृपूजा—प्राचीन काल में धर्म का एक विशेष रूप पितरों या पूर्वजो की पूजा (Ancestor Worship) थी। उस समय के प्रायः सभी सभ्य समाजो में इसका प्रचलन था[१२]। चीनियो को आज तक पितृपूजक कहा जाता है। यूनानी अपने पूर्वजो की निधन-तिथियो पर, जेनेसिया (Genesia) नामक हवियो से अपने पितरों का तर्पण करते। रोमन लोग १९ फरवरी को अपने पितरो का पिण्डदान

---

१२. विभिन्न जातियों में पितृपूजा के प्रसार के लिए देखिये स्पेन्सर-प्रिन्सिपल आफ सोश्यालोजी, खंड १, अध्याय २०, २५; टाइलर-प्रिमिटिव कल्चर, अ० १४, फुस्तल दी कूलांज-एंशेण्ट सिटी, फ्रेजर-गोल्डन बाऊ २।४६०, ३।८३। श्री सर्वाधिकारी की प्रिन्सिपल्ज आफ हिन्दू लॉ आफ इनहैरीटैन्स के प्रथम अध्याय में इसका अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन मिलेगा। इससे अधिक विस्तृत वर्णन के लिए देखिये इंसा० रिली० ई० १।४२५-६७; सुमनेर तथा केलर की साइन्स आफ सोसाइटी, खंड ४ (न्यू हैवन १९२७-२८) २।९४१-४६, ४।४१२-१७; वाशवर्न-ओरिजन एण्ड इवोल्यूशन आफ रिलीजन न्यू हैवन १९२३। चीन की पितृ-पूजा का सब से विस्तृत वर्णन ग्रूट के रिलीजस सिस्टम आफ़ चाइना, खंड ६ (लीडन १८९३-१९१०) के चौथे से छठे खंड में मिलेगा।

करते थे। कैथोलिक ईसाई ऑल सोल्ज डे के दिन मृतात्माओ को पूजते है। ऋग्वेद में पूर्वजो में यह विश्वास पाया जाता है[१३]। ऋ० ६।५२।४ में भक्त यह प्रार्थना करता है, कि यज्ञ कार्य में पितर मेरी रक्षा करें (अवन्तु मा पितरो देवहूतौ) ऋ० १०।१५।९ में वह यज्ञ में पितरो का अग्नि के साथ आह्वान करता है; यज्ञ में कुशासन पर बैठे हुए (र्बहिषद.) पितरो से वह रक्षा (ऊति) धन (रयि) व अन्न (ऊर्ज) की याचना करता है। ऋग्वेद के अन्य स्थलों में भी इसके सकेत है। यजुर्वेद तथा परवर्ती साहित्य में इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है[१४]।

पितृपूजा परिवार की संस्था को कई प्रकार से प्रभावित करती है। इसे पारिवारिक जन सामूहिक रूप से करते है, उनकी पूजा का स्थान वही होता है, जो उनके पूर्वजो का था, इस स्थान के साथ एक पवित्रता का सम्बन्ध जुड़ जाता है। सब वंशज उसी भूमि में इकट्ठा रहने लगते है। श्री राधाविनोदपाल ने लिखा है—"धार्मिक विधियो का प्रारम्भिक रूप मृत व्यक्तियो की पूजा थी। वंशजो का यह कर्त्तव्य था, कि वे उस पूजा को जारी रखें; अत. इससे पूर्ण रूप से न सही, आशिक रूप से ही, परिवार के संरक्षण को सर्वत्र बड़ा महत्त्व मिला। इसीलिए हिन्दू, यूनानी और रोमन कानूनो में पुरानी (पूर्वजो द्वारा बनायी पारिवारिक भूसम्पत्ति की) सीमाओं के उल्लंघन के लिये कठोर दण्ड नियत किये गये थे। प्रारम्भिक युगों के लोगों ने परिवार तथा भूमि में एक रहस्यमय सम्बन्ध की कल्पना की। परिवार के सदस्यों के पितरों के प्रति धर्मपालन के कुछ कर्त्तव्य होते थे। वे उन कर्त्तव्यों से (पारिवारिक) भूमि और यज्ञवेदी से जुड़े रहते थे। जैसे यज्ञवेदी भूमि से संयुक्त रहती थी, उसी तरह परिवार भूमि के साथ बँधा रहता था[१५]"। इस अवस्था में सयुक्त परिवार का बना रहना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राचीन काल मे, आर्य जातियों में धार्मिक कार्यों को अविच्छिन्न रूप में

---

१३. ऋ० १।१०६।३, ३।३३।२, ६।३३।१, ६।५२।४, ८।१०।१५, १०।४०।१०।

१४. यजुर्वेद १९वां अध्याय, अथर्व० समूचा १८ वां काण्ड, श्राद्ध के ऐतिहासिक विकास के लिये देखिये सर्वाधिकारी—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक पृ० २२-६०

१५. पाल—ला आफ प्राइमोर्जेनिचर, पृ० ४५

करने का बड़ा महत्त्व था। इन्हें करने वाला सम्पत्ति का उत्तराधिकारी समझा जाता था। धर्मकार्यो का उत्तराधिकार मुख्य वस्तु थी; पारिवारिक सम्पत्ति का रिक्थहरण उसका आनुषंगिक फल। आज भी दायभाग नियम के अनुसार पिता को पिण्डदान करनेवाला ही बंगाल में रिक्थहर माना जाता है। कूलाज ने (एंशेण्ट सिटी, अध्याय ६) प्राचीन रोम और यूनान के परिवारो में पाये जानेवाले धर्म का बड़े विस्तार से उल्लेख किया है, और यह सिद्ध किया है, कि परिवार के सदस्य धार्मिक पूजा के कारण, परस्पर घनिष्ठ सूत्र में बँधे हुए थे। सर पाल विनोग्रेडोफ ने लिखा है—यूनानी कानून में, सयुक्त परिवार-पद्धति की स्पष्टतम अभिव्यक्ति स्पार्टा के परिवारो की व्यवस्था में पाई जाती है, स्पार्टा में सब भाई बड़े भाई या पवित्र अग्नि के रक्षक के साथ मिल करके रहते थे, अग्निरक्षक का यूनानी शब्द प्राचीन आर्यों में उत्तराधिकार और पारिवारिक धर्म की घनिष्ठता को सूचित करता है[१६]।

(ख) अग्निपूजा-भारत में अग्न्याधान गृहस्थ का आवश्यक धर्म था। शतपथ ब्राह्मण के मत में बुढापे या मृत्यु द्वारा ही अग्निहोत्र से मुक्ति होती है[१७]। गृह्यसूत्रो में इस बात पर मतभेद है कि पुरुष को अग्न्याधान कब करना चाहिए। पारस्कर के कथनानुसार विवाह के समय गार्हपत्य अग्नि का आधान करना चाहिए; किन्तु दूसरे आचार्य विभाग (बटवारे) के समय ही इसका आधान उचित समझते है। शाखायन और गोभिल गृह्यसूत्रो से यह ज्ञात होता है, कि बँटवारे की स्थिति बहुत कम आती थी, पिता के मरने पर बड़ा भाई ही परिवार का सचालन करता था[१८]। उस समय वह अग्न्याधान करता था। सामान्यत. परिवार के संयुक्त रहने के कारण पृथक् अग्न्याधान

---

१६. इंसा० ब्रिटा० १३।७९४

१७. श० ब्रा० १२।४।१।१, दीर्घसत्रं हवा एत उपयन्ति ये अग्निहोत्रं जुह्वत्येतद्वै जरामर्य सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येतस्मान्मुच्यते मृत्युना वा।

१८. पारस्कर २।१।-२ आवसथ्याधानं दारकाले। दायाद्यकाल एकेषाम्। गोभिल० १।१।१२ प्रेते वा गृहपतौ परमेष्ठिकरणम्। गदाधर ने पारस्कर के सूत्रो की व्याख्या करते हुए इस समस्या पर अच्छा प्रकाश डाला है-पैतृकद्रव्यस्य भ्रातृभिः सह रिक्थविभागकाले दायाद्यकालः तस्मिन् काले स्वेन द्रव्येण कर्मानुष्ठानसमर्थो भवति, साधारणद्रव्यस्य परित्यागसामर्थ्यादनधिकार

की आवश्यकता नही पड़ती थी। परवर्ती काल में ही गार्हपत्य अग्नि परिवार को एक वनाने में सहायक रही हो, सो वात नही। ऋग्वेद में हमें सदा घर में रहनेवाली (यो दम आस नित्य. ७।१।२) तथा घर की रक्षा करने वाली (गृहपति वही ७।१।१) अग्नि की सूचना मिलती है। सायंकाल और प्रातःकाल (दोपावस्तोः) इसकी उपासना की जाती है। इससे वृद्धि के साथ सम्पत्ति और वीरपुत्र माँगे गये है। पारिवारिक अग्नि से कहा गया है—हे अग्नि, हम पुत्रो से शून्य घरो में न रहे, (दूसरे) पुरुषो के घर में न रहे, हे घरों की हितकारी अग्नि, निरपत्यता से युक्त हम पुत्रहीन तेरी पूजा करते हुए, सन्तानोंवाले घरो मे निवास करें। हे अग्नि, हमारे लिए पुत्रो से फलता फूलता घर दो[१९]। इस पारिवारिक अग्नि से ऋ० १०।१५ में भी घनिष्ठ सम्बन्ध वताया गया है, इस सूक्त में अग्नि व पितरो से वड़ी सुन्दर प्रार्थना की गयी है। इन प्रार्थनाओं से यह सूचित होता है कि अग्निपूजा और पितृपूजा वैदिक परिवार को सयुक्त वनाये रखने मे वडी सहायता प्रदान कर रहे थे।

(ग) उपयुक्त आर्थिक परिस्थिति—आर्थिक परिस्थिति का परिवार के स्वरूप पर गहरा असर पड़ता है। मृगयावस्था में परिवार छोटा होता है, पशुपालक दशा मे कुछ वड़े परिवार की आवश्यकता होती है और कृपि की दशा में अधिक वड़े संयुक्त परिवार का विकास होता है। जो जातियाँ प्रकृति से प्राप्त होनेवाले फल, कन्द, मूल, मछली आदि पर अपना निर्वाह करती है, जिन्हे पशुपालन या खेती का ज्ञान नही है, वे प्रायः एकाकी परिवारो (Single Families) मे रहती है। उनका परिवार पति-पत्नी और वच्चो तक ही सीमित होता है। इसका कारण स्पष्ट है। मृगयावस्था (Hunting stage) में एक परिवार के निर्वाह के लिये

एव, अतो व्यवस्था भ्रातृमतो दायाद्यकाले अभ्रातृकस्य दायकाले अविभक्तस्यापि विवाहकालेऽपि आधानाधिकारः इति मदन पारिजाते। आश्वलायनादीनाम् वैवाहिकोऽग्निरेवौपासनाग्निर्दृष्टः अत्र सांखायनगृह्ये तु अभिसमावर्त्स्यमानो यत्रान्त्यां समिधमभ्यादध्यात्तमग्निमिन्धीत वैवाह्यं वा दायाद्यकाल एके प्रेते वा गृहपती स्वयं ज्यायान्वैशाख्यांवामावास्यायामन्यस्यां वा कामतो नक्षत्र एक इति।

१९. ऋ० ७।१।११-१२ मा शूने अग्ने निपदाम नृणां मा शेपसोऽवीरता परित्वा। प्रजावतीषु दुर्यासु दुर्य।.......स्व जन्मना शेपसा वावृधानम्।

विशाल क्षेत्र चाहिए। यदि परिवार बडा होगा तो आस पास के फल, कन्द, मूल तथा भक्ष्य जानवर जल्दी ही समाप्त हो जायेंगे; उसके बाद परिवार के लिए भूखा मरने की हालत पैदा हो जायेगी। इस परिस्थिति के कारण इस दशा में एकाकी परिवार पाया जाता है। आस्ट्रेलिया की अनेक मृगया-जीवी जातियां इसका अपवाद हैं। वहाँ पृथक् परिवारो के स्थान पर विशाल समूह (Hordes) पाये जाते हैं, किन्तु इसका कारण यह है कि वहाँ शिकार तथा भक्ष्य फल प्रचुर मात्रा में होते है तथा बूमरेंग से उन जातियों को शिकार पाने में बड़ी सुविधा होती है[२०]। आस्ट्रेलिया में अलग रहनेवाली मृगयाजीवी जातियाँ भी पाई जाती है[२१]। सामान्य रूप से यही नियम स्वाभाविक है कि ऐसी जातिया पृथक् परिवारो में रहे। किन्तु जब जातिया पशुचारणावस्था (Pastoral stage) तथा कृषियुग (Agricultural stage) में प्रवेश करती है, तो उन्हें बाध्य होकर बड़ा परिवार बनाना पड़ता है। पशुओ को पालतू बनाने से, उनके दूध व मास पर बड़े परिवार का पालन सुगमता से हो सकता है। इसके साथ एक दूसरे कारण से भी, पशुपालको को बड़ा परिवार रखना आवश्यक होता था। पशु उनका मूल्यवान् धन थे[२३]। इनकी लूट के लिये उस समय आक्रमण की सभावना सदैव बना रहा करती थी। इस अवस्था में परिवार का बडा होना और इकट्ठा रहना स्वाभाविक था। किन्तु पशुपालक दशा में यह परिवार बहुत बड़ा नही हो सकता था। पानी और घास की कमी के कारण परिवार को बँट जाना पड़ता था (जिनीसस अ० १३)।

परिवार का चरम विकास कृषिजीवी समाजो में पूर्णरूप से होता है। पशुपालक अवस्था में, जातियो और परिवारों का जीवन फिरन्दर या

---

२०. स्पेन्सर एण्ड जिलन—नेटिव ट्राइब्स आफ सेण्ट्रल आस्ट्रेलिया।

२१. स्पेन्सर एण्ड जिलन—वहीं।

२२. वैस्टरमार्क—हिस्ट्री आफ् ह्यूमन मैरिज, पृ० ४५

२३. धन का एक प्रारम्भिक रूप प्रायः सर्वत्र पशु थे। अंग्रेजी के Pecuniary तथा Fees शब्दो का मूल अर्थ पशु है। तै० सं० ३।१।९।४ में मनु की सम्पत्ति के बटवारे में, उसके पुत्र नाभानेदिष्ट को पहले कुछ नहीं मिला; किन्तु बाद में पशुओं से उसके हिस्से को पूरा किया गया। भारत में आज तक देहातों में पशुओं को धन कहा जाता है।

यायावर (Migratory) होता है। कृषि में वे एक भूमि के साथ बँध जाते है, उनमें स्थिरता आ जाती है। भूमि उनकी स्थायी सम्पत्ति बन जाती है। परिवार के साथ जायदाद के विचार का गठबन्धन होता है। पुरुष इस जायदाद का मालिक तथा मुखिया होता है। पशुपालन में, जितने क्षेत्र से एक परिवार पल सकता है, कृषि में उतने क्षेत्र से अनेक परिवारो का पालन हो सकता है। खेती पर जितना परिश्रम किया जायगा, उतना ही अधिक लाभ होगा। अतः परिवार के सदस्य जितने अधिक होगे, उत्पादन उतना अधिक होगा। जब परिवार के सदस्यो से काम नही चलता, तो दासो से काम कराया जाता है।

अँग्रेजी का फैमिली शब्द परिवार के इस पहलू पर प्रकाश डालता है। यह लैटिन के दासवाची फेमुलस (Famulas) शब्द से बना है। मेन (एंशेण्ट ला, पृ० १७३) ने लिखा है, परिमार्जित लैटिन में Familia का अर्थ 'मनुष्य के दास' होता था। प्राचीन रोमन कानून की परिभाषा में अपने अधिकार (Potesta) में रहनेवाले सभी प्राणी इस में शामिल समझे जाते थे"। पालस डाया कानस ने कहा है, वंश-परम्परा से संबद्ध, भृति देकर रक्खे हुए नौकर तथा युद्धो में पकड़े हुए एवं खरीदे हुए दासो के स्वामी को Pater Familia कहा जाता है। पेटर का अर्थ प्रायः उत्पादक या जनक किया जाता है, किन्तु यह पहले Rex या Besileus का पर्याय था। इस शब्द से शासक या स्वामी का अर्थ सूचित होता था, पेटर फैमिलिया का धात्वर्थ दासों का स्वामी था[२४]। नये प्रदेशो की विजयो से रोम मे विशाल संयुक्त परिवारो (Oikos मि० सं० ओकस्) का जन्म हुआ, इन विशाल परिवारो ने बाद में ग्राम पंचायतो (Village Communities) का रूप धारण किया[२५]। मध्यकाल में जब ये परिवार समूह एक सामन्त के वशवर्ती हुए, तो इससे मेनर (manor) का विकास हुआ।

वैदिक युग में कृषि महत्त्वपूर्ण व्यवसाय था, ऋग्वेद में हमें कृषि प्रधान सभ्यता के दर्शन होते है। ऋ० १०।३४।१३ में खेती करने का स्पष्ट आदेश

---

२४. म्यूलर द्वारा उद्धृत, फैमिली, पृ० १६४

२५. सेलिगमैन—प्रिंसिपल्ज़ आफ् इकनामिक्स। इन पंचायतों के कुछ उदाहरणों के लिए दे० एन्जेल्स—परिवार, व्यक्तिगत सम्पत्ति, पृ० ४०-४२

दिया गया है (कृषिमित्कृषस्व) । ऋ० १०।१०१।४ में मेधावी (कवि) लोगो द्वारा हल चलाने का उल्लेख है। ऋ० १०।१०१।५ कहता है—'हल जोड़ो, जुआ ठीक जोड़ो (वितनुध्वम्) । हल चलाने के वाद वीज डालो'। इसी सूक्त में सिंचाई का भी वर्णन है। सातवें मत्र से यह प्रतीत होता है कि उस समय घोडो से खेती होती थी[२६] (प्रीणीताश्वान् हित जयाथ)। खेती योग्य भूमि को उर्वरा या क्षेत्र कहते थे, परवर्ती साहित्य खेती के सकेतों से भरा हुआ है[२७] । ऋग्वेद में क्षेत्रो को जीतने तथा क्षेत्रपति होने के अनेक सकेत मिलते है (देखिये नीचे पृ० ४३) । हमारे पास यह जानने का कोई साधन नही है कि इन क्षेत्रपतियों ने रोमन समाज की तरह दासो से काम कराया या नही । पचविंश ब्राह्मण से हमें इतनी सूचना मिलती है कि उस समय आर्य जाति की परिधि से वाहर रहने वाले व्रात्य खेती नही करते थे (१७।१) । इन से जवर्दस्ती खेती करवाने का कोई निर्देश नही मिलता। आर्यों ने संभवत: अमरीका में वसनेवाले योरोपियन लोगो की तरह दासो के पसीने और खून से भारतवर्ष की जांगल भूमि को कृषि योग्य नही वनाया; किन्तु स्वयं कृषि की, इस अवस्था में उनमें वड़े एव संयुक्त कुटुम्व का विकास होना स्वाभाविक था ।

परिवार की सीमा—वैदिक परिवार में प्राय: तीन पीढी तक के प्राणी सम्मिलित होते थे । श्राद्ध में तथा अन्य यज्ञो में, पितरो के आह्वान से यह वात भली भाति पुष्ट होती है । यजु० ७।४६ में कहा गया है कि हम आज यज्ञ में पिता और दादावाले ब्राह्मण प्राप्त करें (ब्राह्मणमद्य विदेयम्पितृमन्तं पैतृमत्यम्) यजु० १९।३६-३७ में पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार किया गया है और उनसे प्रार्थना की गयी है कि वे अपने वशज को शुद्ध करें[२८] ।

---

२६. सायण के समय खेती में वैलो का उपयोग होता था । अतः वह इस मंत्र में घोड़ों का अर्थ वैल करता है—हे ऋत्विज यूयमश्वान् व्यापनशीलान् बलीवर्दान् प्रीणीत ।

२७. अथर्व० २।४।५, ८।२।१९, ८।१०।२४, १०।६।१२; तै० सं० ७।१।११।१; मैत्रा० सं० १।२।२, ३।६।८; यजु० ४।१०, ९।२२, १४।१९,२१; श० ब्रा० ७।२।२।७, ८।६।२।१२; तै० ब्रा० ३।१।२।५

२८. यजु० १९।३६-३७, पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः ।

अथर्ववेद के एक मन्त्र[२९] में परिवार के प्रिय पुरुषों के आह्वान म, पूर्वजो में पिता दादा को तथा वंशजों में पुत्र पौत्र को बुलाया गया है। प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती संहिताओ और ब्राह्मणों में भी पाया जाता है (तै० सं० १।८।५।१, अथर्व० १८।४।३५, शत० ब्रा० २।४।२।१६, १२।८।१।७)। अथर्ववेद के पितृमेध या श्राद्ध प्रकरण के सूक्तों में दादा (तत १८।४।७७), परदादा (ततामह) और परपरदादा (प्रततामह १८।४।७५) को स्वधादान का उल्लेख है। परपरदादा पूर्वजों में परिवार की चरम सीमा है। वंशजों में पोते (पौत्र या नप्ता) का अधिक वर्णन है (अथर्व० ११,७।१६, १८।४३।९; ऐत० ब्रा० ७।१०; तैति० ब्रा० २।१।८।३)। परपोता (प्रणपात) परिवार की चरम सीमा है (ऋ० ८।१७।१३); किन्तु परपोते तथा पर परदादे का उल्लेख एक ही बार हुआ है। अतः सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा परदादे और पोते तक ही समझनी चाहिए।

पितृवशी परिवार--वैदिक परिवार में पितृ-परम्परा से सम्बद्ध व्यक्ति ही रहते थे। एक परिवार में रहनेवालो का मूल पूर्वज एक पुरुष होता था। समाज-शास्त्रियो ने मानव समाज के परिवारो का दो मुख्य भागों में वर्गीकरण किया है (१) पितृसत्ताक पितृप्रधान या पितृवशी परिवार (Patriarchal Family or Patrilineal Family), (२) मातृसत्ताक—मातृप्रधान या मातृवशी परिवार (matriarchal Family)। मातृप्रधान परिवार का वैदिक साहित्य मे स्पष्ट वर्णन नही है। पितृ प्रधान परिवार हिन्दू समाज में अधिक प्रचलित है। इस में स्वाभाविक अथवा कृत्रिम रूप (दत्तक आदि विधि) से बनाये हुए वंशज परदादा, दादा, या पिता के अनुशासन में रहते हैं। सामाजिक कानून चाहे कोई व्यवस्था बनाये, किन्तु इस परिवार में मुखिया निरंकुश रूप से शासन करता है। हेनरी मेन ने लिखा है कि इस अवस्था में पिता का अपने बच्चों और सम्पत्ति पर असाधारण अधिकार होता है। यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है, कि वैदिक युग का परिवार पितृप्रधान परिवार था। उसमें पितृपरम्परा से सम्बद्ध पिता, पुत्र, पौत्रादि पितृबन्धु (Agnate) पिता के शासन और संरक्षण

---

२९. अथर्व० ९।५।३०, आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्। जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥

में रहते थे। पाँचवें अध्याय में यह बताया जायेगा कि पिता को अपने परिवार के प्राणियो पर असाधारण अधिकार प्राप्त थे, यद्यपि हिन्दू पिता रोमन पिता की भाति अपने पुत्रो का वध नही करता था किन्तु अजीगर्त जैसे क्रूर पिता अपनी सन्तान वेच देते थे (ऐत० ब्रा० ३३।३) और ऋज्राश्व जैसे अभागे बेटो को अपने दारुण पिता से कठोर दण्ड भोगने पड़ते थे (ऋ० १।११६।१६)।

पिता के महत्त्व तथा परिवार-सचालन के कार्यों का वेदों में, अनेक स्थानो पर उल्लेख मिलता है। पिता शब्द ही इस बात को सूचित करता है कि वह परिवार का पालन करता है। वेद में उत्पादक के लिए जनिता शब्द का प्रयोग हुआ है (ऋ० ४।१७।१२)। किन्तु इस शब्द का व्यवहार बहुत कम हुआ है। सर्वत्र पालन करनेवाले पिता का ही स्मरण किया गया है। देवताओ को प्राय. पिता की उपमा दी गयी है। 'हे अग्नि, हम तुम्हारे पास उसी तरह सुगमतापूर्वक पहुँच सकें जैसे पिता पुत्र के पास पहुँचता है (ऋ० १।१।९)। इन्द्र सर्वश्रेष्ठ पिता है (पिता पितृतम. पितॄणाम् ४।१७।१७)। ऋ० ७।३२।१९ में कहा गया है कि हे इन्द्र तेरे समान कोई पिता नही है। ऋ० ८।१।६ इन्द्र को पिता से श्रेष्ठ बताता है। १०।४८।१ में यह बताया गया कि हे इन्द्र, प्राणी तेरा पिता की तरह आह्वान करते है। इन सब मंत्रो से यह सूचित होता है, कि परिवार में पिता की स्थिति इतनी ऊंची और आदर्श थी, कि देवताओ को भी पिता से उपमा देना उचित समझा गया। अत. वैदिक परिवार के पितृ-प्रधान तथा पितृ-वशीय होने में कोई सन्देह नही।

पिता का सम्पत्ति पर स्वत्व—पिता परिवार का मुखिया होने से सम्पत्ति पर एकाधिकार रखता था। पारिवारिक सम्पत्ति पर उसका पूर्ण वैयक्तिक स्वत्व था। वह अपनी इच्छा से पुत्रो में इस सम्पत्ति का बँटवारा करता था। ऋ० १।२६।३ में, सायण भाष्य के अनुसार भक्त अग्नि से प्रार्थना करता है कि तुम मेरे पिता के तुल्य हो, मैं तुम्हारा पुत्र हूँ, तुम मुझे अभीष्ट (धन) प्रदान करो। ३।१७०।१० में बूढे (जिव्रि) पिता से पुत्रो के धन पाने का उल्लेख है। ऋ० १।२२।७ की व्याख्या करते हुए सायण कौषीतकी ब्राह्मण के एक वचन से पिता द्वारा बँटवारे की व्यवस्था को पुष्ट करता है। पिता द्वारा पुत्रो को धन देने के सकेत ऋ० ७।३२।२६ ऋ० ९७।२, ऋ० ८।४८।७, १०।१७ में भी पाये जाते हैं (देखिये १३ वा अध्याय)। परवर्ती साहित्य में विरासत में मिलने वाली सम्पत्ति को दाय कहा गया है, किन्तु ऋग्वेद में इसका प्रयोग केवल

१०।११४।१० में ही-हुआ है और वहाँ इसका अर्थ श्रम का प्रतिफल है। ऋग्वेद में, हमें रिक्थ (Inheritance) का अर्थ देनेवाला कोई शब्द नही मिलता। जीमूतवाहन ने दाय शब्द की व्युत्पत्ति की है, जो दिया जाता है (दीयते इति व्युत्पत्या दाय शब्दः.....दा० ३)। यदि यह व्युत्पत्ति सही हो, तो यह मानना पड़ेगा कि दाय पुत्रों को दी जानेवाली सम्पत्ति है, वे पिता के अनुग्रह से उसे प्राप्त करते है, सामान्य रूप से उस सम्पत्ति पर उनका कोई स्वत्व नहीं। सम्भवतः इन्ही सब बातों का विचार करते हुए मैकडानल और कीथ ने यह सम्मति प्रकट की है यह स्पष्ट है कि यह (पारिवारिक सम्पत्ति) घर के मुखिया की सम्पत्ति थी, वह मुखिया प्रायः पिता हुआ करता था। परिवार के अन्य सदस्यों के इस सम्पत्ति पर नैतिक अधिकार (Moral claims) ही थे; (कानूनी अधिकार नही थे) पिता इनकी उपेक्षा कर सकता था, (वैदिक इंडेक्स १।३५१)।

वैदिक युग में, पिता के असाधारण अधिकारों (देखिये पाँचवाँ अध्याय) को देखते हुए यह स्वाभाविक जान पड़ता है, कि पहले सम्पत्ति पर पिता का ही अधिकार रहा हो। पुत्रों का पिता की सम्पत्ति में कोई कानूनी स्वत्व नही था। जब पुत्र पिता से आग्रह करते थे और शक्तिशाली होते थे, या पिता उचित समझता था; तो वह उनमें सम्पत्ति का बँटवारा कर देता था या वे स्वयं सम्पत्ति बांट लेते थे। पहले पुत्रों को बाप से सम्पत्ति पाने का कोई कानूनी अधिकार नही था; किन्तु जब वे अपने पिता से अपने आग्रह या पिता के अनुग्रह से सम्पत्ति पाने लगे, तो धीरे धीरे यह विचार प्रबल होने लगा कि पुत्रो को पिता की सम्पत्ति पाने का अधिकार है, इस विचार का पूर्ण विकास होने पर यह माना जाने लगा कि जन्म ग्रहण करते ही पुत्रो का पैतृक दाय में स्वत्व हो जाता है। दूसरे देशो के उदाहरणो से भी इस बात की पुष्टि होती है। ट्यूटानिक जातियों में सम्पत्ति के उद्गम के सम्बन्ध में मीमांसा करते हुए फुस्तल दी कूलांज़, एशली व मेटलैण्ड इसी परिणाम पर पहुँचे है, कि पहले सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक स्वत्व होता था; पुत्रो के अधिकारो का बाद में विकास हुआ[३०]।

---

३०. एशली—ओरिजिन आफ़ प्रापर्टी इन लैण्ड (१६-२१ अध्याय) पोलक व मेटलैण्ड—हिस्टरी आफ इंग्लिश लॉ २।३३७। वै०इं० १।३५२ की पाद टिप्पणी ५ में उपर्युक्त लेखकों को उद्धृत किया गया है।

मेन का मत--पिता के वैयक्तिक अधिकार को मानने में सब से बड़ी आपत्ति सर हेनरी मेन और वेडेन पावेल तथा उनके समर्थकों की ओर से उठाई जाती है। मेन ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक विलेज कम्यूनिटीज़ इन दी ईस्ट एण्ड वैस्ट में यह सिद्ध किया है कि भूमि के रूप में स्थावर सम्पत्ति पर पहले पंचायतो का सामूहिक अधिकार होता था; वाद में इन सामूहिक अधिकारो में से व्यक्तियों के पृथक्-पृथक् अधिकारो की उत्पत्ति हुई। सम्पत्ति के विकास में पहली अवस्था सामुदायिक स्वामित्व (Collective ownership) की थी और इसके पश्चात् वैयक्तिक स्वामित्व (individual ownership) का जन्म हुआ[३१]। श्री वेडेन पावेल ने अपनी दो पुस्तको में भारत में भू-सम्पत्ति की ऐतिहासिक विवेचना करते हुए मेन के मन्तव्य को पुष्ट किया है[३२]। इसमें कोई सन्देह नही कि पंजाव और मद्रास में पट्टीदारी, भाईचारी और विरासदारी के रूपो में भूमि पर आज तक संयुक्त स्वामित्व माना जाता है (मेन-हिन्दू ला, पृ० ३१७-१९)। विज्ञानेश्वर ने दायभाग की अवतरणिका में कुछ ऐसे वचनो को उद्धृत किया है, जिनसे स्थावर सम्पत्ति पर ग्राम का तथा दायादो का स्वत्व सूचित होता है।

किन्तु इन सव प्रमाणों के होते हुए भी, वैदिक युग में वैयक्तिक स्वामित्व के उल्लेख इतने प्रवल और अधिक मात्रा में है, कि उन्हे देखते हुए हमें मेन और वेडेन पावेल की कल्पनायें सत्य प्रतीत नही होती। शायद कुछ प्रदेशों में भूमि पर पंचायती स्वामित्व रहा हो, मेन की कल्पना इन प्रदेशो के लिए अवश्य सत्य होगी; किन्तु सभी प्रदेश ऐसे रहे हो, सो वात नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है, कि भूसम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार था। वेदों में खेतो के पैमाइश किये जाने, जोते जाने तथा उनपर वैयक्तिक आधिपत्य का स्पष्ट उल्लेख है। ऋ० १।११०।५ में ऋभु एक क्षेत्र की पैमाइश करते है (क्षेत्रमिव विममुस्ते)। इन्द्र द्वारा खेतो को जोतने के अनेक सकेत पाये जाते है (ऋ० १।१००।१८, ९।८५।४, ९।९१।६)। अथर्ववेद में पृथक् खेतो का स्पष्ट उल्लेख है (१०।१।१८, ११।१।२२)। ऋग्वेद में क्षेत्र

---

३१. सर हेनरी मेन ने अर्ली लॉ एण्ड कस्टम में भी यही मत अभिव्यक्त किया है।

३२. वेडेन पावेल--इण्डियन विलेज कम्यूनिटीज़ १८९६। इसी का संक्षिप्त रूप १८९९ में दूसरी पुस्तक के रूप में छपा है।

पर वैयक्तिक प्रभुता के सूचक क्षेत्रपति, क्षेत्रपत्नी, क्षेत्रजेपा, क्षेत्रजय आदि अनेक शब्द मिलते हैं (१।३३।१५, ४।५७।१,२, ७।५५।१०, १०।६६।१,३,४। ३८।१,६।२०।१, २।२१।१)[३३] खेतों को बच्चो के साथ गिना गया है (तोके हि ते तनय उर्वरासु (ऋ० ४।४१।६) । अन्य संहिताओं में क्षेत्रो की विजय के अनेक उल्लेख हैं (तै० सं० ३।२।८।५, का० क सं० ५।२, मैत्रा० ४।१२।३) । श्री सायणाचार्य की व्याख्या के अनुसार अपाला ने इन्द्र से तीन वर माँगे हैं—मेरे वाप का सिर गंजा हो गया है, उसमें वाल पैदा करो; उसका खेत ऊसर है, उसमें अन्न पैदा करो और मेरा त्वग्दोष दूर करो[३४]। ऋ० ३।३१।१५ में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि हमें वडे खेत और वहुत सोना (महि क्षेत्र पुरु चन्द्रं) प्रदान कीजिए । ये सव प्रमाण वैयक्तिक सम्पत्ति को सूचित करते हैं । अभी तक संहिताओ में से ऐसा कोई प्रमाण नही दिया गया, जिससे उस युग में सम्पत्ति पर पंचायती प्रभुत्व सिद्ध किया जा सके । अतएव कीथ तथा मैकडानल का यह कहना सर्वथा सत्य है कि वैदिक वाङ्मय में इसका कोई संकेत नही है, कि सम्पत्ति पर ग्राम या किसी सामूहिक समुदाय का स्वामित्व था। इस साहित्य में कही सामूहिक कृषि का उल्लेख नहीं है (वै० इं० १।१००)[३५] ।

---

३३. अथर्व० २।२९।३, १४।२।७; शत० ब्रा० १।४।१।१५-१६ में पृथक् क्षेत्रों का उल्लेख है । २।२९।३ में यह प्रार्थना है कि हे इन्द्र यह पुरुष क्षेत्रों को जीतता हुआ शत्रुओं का पराभव करे (जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्सपत्नान्) शुक्ल यजुर्वेद (१६।१८) में खेतों के मालिक (क्षेत्राणां पतिः) का वर्णन है और अथर्व० २।८।५ में खेत की स्वामिनी (क्षेत्रस्य पत्नी) का ।

३४. ऋ० सं० ८।९१।५-६ इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय। शिरस्ततस्योर्वरामादिदं म उपोदरे । असौ च या न उर्वरादिमां तन्वं मम । अथो ततस्य यच्छिरः सर्वा ता रोमशा कृधि ।

३५. परवर्ती साहित्य में खेतों की वैयक्तिक सम्पत्ति के लिए देखिये छा० उप० २।२४।२, पृथक् पृथक् खेती करने के लिए दे० ऋ० १०।१०१।५ सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक् । परवर्ती साहित्य में सीता विवाद के लिए देखिये धर्म कोश, खण्ड १, भाग २, पृ० ९२५-६२; जाली-हिन्दू ला एण्ड कस्टम, पृ० २०५; रिपोर्ट आफ़ लैण्ड रेवेन्यू कमीशन, बंगाल (१९४०) भाग २, पृ० १२९-३०

वैदिक युग में भूसम्पत्ति पर पंचायती प्रभुत्व एक अन्य कारण से भी ठीक प्रतीत नही होता। आर्य उस समय भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशो को जीत रहे थे। जो व्यक्ति जिस प्रदेश को जीतता था, उसका उसपर वैयक्तिक अधिकार माना जाता था। विजय सदा सम्पत्ति पर स्वामित्व स्थापित करने का प्रधान साधन रही है (मेन-एशेण्ट ला, पृ० २०४)। हमने ऊपर यह देखा है, कि खेतो को जीता जाता था। इन जीते खेतो पर विजेताओ का वैयक्तिक स्वत्व स्वाभाविक था। प्राय विजेता विजित भू-प्रदेश में अपने परिवार के साथ बस जाता होगा। इस पर किसी पचायत, ग्राम या अन्य संस्था के सामूहिक स्वत्व की कल्पना कैसे की जा सकती है? हेनरी मेन का यह विचार है, कि भारत के आर्यों ने सम्पत्ति के अपने प्रारम्भिक स्वरूप को अब तक यथापूर्व बनाये रखा है। वे लिखते हैं—'हिन्दुओ में स्वामित्व का वह रूप प्रचलित है, जो सम्पत्ति की प्रारम्भिक स्थिति के सम्बन्ध में हमारे विचारों से पूरा मेल खाता है। यह बात सब जानते हैं, कि ग्राम पंचायत अत्यन्त प्राचीन काल से चली आनेवाली सस्था है। भारतीय इतिहास में, चाहे प्रादेशिक क्षेत्र में अतीत का अनुसन्धान किया जाय, या सामान्य रूप से सारे भारत के सम्बन्ध में ऐसी गवेषणा हो; सदा यह बात पाई गई है, कि इसकी प्रगति के प्राचीनतम बिन्दु पर पंचायत विद्यमान है (मेन-वही, पृ० २१५-१६)। मेन के इन शब्दो में कविता का अश भले ही हो; किन्तु सत्य का नही है। भारतीय वाङमय में 'अनुसन्धान का प्राचीनतम बिन्दु' ऋग्वेद है। ऊपर के अधिकांश प्रमाण ऋग्वेद के ही हैं, वे पचायती स्वामित्व के सर्वथा विरोधी हैं। मध्य कालीन हिन्दू समाज के कुछ प्रदेशो में प्रचलित स्वामित्व के कई नियम, मेन के सम्पत्ति के प्रारम्भिक स्थिति सम्बन्धी विचारो से भले ही पूरा मेल खा जाँय; किन्तु वैदिक युग के स्वामित्व के नियम उनके विचारो को पुष्ट नहीं करते। उस युग में भूमि पर पचायती स्वामित्व नही प्रतीत होता।

उपर्युक्त विवेचना से हम इस परिणाम पर पहुँचते है, कि पूर्व वैदिक युग में परिवार संयुक्त होता था। परिवार में पिता और उसके वंशज रहते थे। पिता इस परिवार का मुखिया होता था और सम्पत्ति पर उसका वैयक्तिक स्वत्व होता था।

दूसरी अवस्था-उत्तर वैदिक (ब्राह्मण) युग से ६०० ई० पूर्व तक—

ब्राह्मण ग्रन्थो का समय उत्तर वैदिक युग है। इस समय हमें परिवार में पिता का अधिकार कम होने तथा संयुक्त परिवार के विघटन के अनेक संकेत

दृष्टिगोचर होते है। अगले अध्यायों में इनपर विस्तार से विचार किया जायेगा; यहां संक्षेप से केवल मोटी घटनाओं का ही निर्देश किया जायेगा।

विघटन का पहला संकेत–पुत्रों द्वारा बंटवारा–पहले यह बतलाया जा चुका है, कि पूर्व वैदिक युग में सम्पत्ति पर पिता का वैयक्तिक एवं पूर्ण प्रभुत्व था। पिता के जीवनकाल में, उसकी शक्ति से परिवार के सब सदस्य एक सूत्र में बंधे रहते थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में, हम पुत्रो को पिता के जीवनकाल में, सम्पत्ति का बटवारा करते हुए पाते है। तैत्ति० सं० ३।१।९।४ में कहा गया है, कि मनु ने पुत्रों में दाय का बँटवारा किया। परन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) में यह बतलाया गया है, कि भाइयों ने आपस में स्वयं बँटवारा कर लिया। उन्होंने छोटे भाई नाभानेदिष्ठ का कोई हिस्सा नही रखा था। नाभानेदिष्ठ ने पिता से अपना हिस्सा माँगा। मनु ने उससे कहा, कि अगिरा ऋषि को यज्ञ में सहायता दो; तुम्हे उनसे धन प्राप्त होगा। यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण-युग में संहिता-युग से एक स्पष्ट अन्तर आ चुका था। पुत्र पिता की सम्पत्ति में अपना अधिकार मानने लगे थे; उससे पालन-पोषण पाते हुए उनका ऐसा सोचना सर्वथा स्वाभाविक था। पिता अपनी स्वत्व हानि और सत्ता के अपहरण को बड़े दुःख से देख रहे थे। पिता के बूढ़े और अशक्त होने पर पुत्र सम्पत्ति का विभाग करने लगे थे। जैमिनीय ब्राह्मण में दी गई अभिप्रतारण की कथा से, इस स्थिति पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ता है (३।१५६)। अभिप्रतारण बूढ़ा हो चुका था, बिस्तर पर पड़ा हुआ था। पुत्रो ने उसकी जायदाद बाँटते हुए बड़ा शोर मचाया। पिता ने पूछा—यह कैसा कोलाहल है? उसे यह कहा गया—भगवन्, पुत्र आपकी जायदाद बांट रहे है। वह पुत्रो को रोकने में असमर्थ था, उसके पास इस व्यवस्था के आगे सिर झुकाने के सिवाय और कोई चारा नही था। इस अवसर पर वह इतना ही कहता है—हमने सुना था कि पुत्र, पिता के जीवित रहते हुए जायदाद बाँट लेंगे[३६]। यह स्पष्ट है कि पिता के निरंकुश अधिकारो का युग समाप्त हो रहा था, अभिप्रतारण जैसे अभागे पिताओं के पुत्र पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा स्वयं करने लगे थे।

३६. जैमिनीय ब्राह्मण ३।१५६, तदु होवाचाभिप्रतारणो जीर्णः शयानः। पुत्रा हास्य दायं विभेजिरे। स ह घोष आस। को घोष इति। तस्मै होवाच। पुत्रास्ते भगवो दायं विभजन्त इति। स होवाच। शुश्राव वा अहं तत् पृष्ठाना ब्राह्मणे जीवतोऽस्य पुत्रा दायमुपयन्तीति। शुश्राव वा अहं तदिति।

पिता के जीवनकाल में वँटवारे की प्रथा कैसे शुरू हुई ? सभवतः प्रारम्भ में पिताओ ने यह सोचा होगा कि अपने जीवन काल मे सम्पत्ति का वँटवारा कर देना चाहिए, ताकि मरने के वाद पुत्रो में झगडे न उठ खड़े हो, उन्होने अपनी इच्छा से विभाग प्रारम्भ किया होगा। जव पिताओ ने वँटवारा करना शुरू किया, तो पुत्रो ने पिता की सम्पत्ति पर अपना अधिकार समझा। परन्तु इस अवस्था में पिता को मनमाना वँटवारा करने का पूरा अधिकार था। वह अपने प्रिय पुत्र को अधिक हिस्सा दे सकता था। ताण्डच ब्राह्मण (१६।४।४।३-४) में कहा है, कि पिता का प्रिय पुत्र अधिक सम्पत्ति प्राप्त करता है, दूसरे पुत्रो को उससे ईर्ष्या होना स्वाभाविक था[३७]। उन्होने समान अधिकार की माँग की होगी। नाभानेदिष्ठ ने मनु से अपना हिस्सा माँगा था। पिता द्वारा मनमाने वँटवारे से वचने के लिए पुत्र पिता के जीवनकाल में ही, उसके अशक्त होने पर स्वयमेव वँटवारा करने लगे होगे। अभिप्रतारण के पुत्रो ने संभवत. इसी लिए वँटवारा किया हो। पुत्रो के अधिकार के विकास में यह वडी महत्त्वपूर्ण घटना थी। पिता द्वारा विभाग की परिपाटी होने से पुत्र विभाग की माँग करने लगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि पिता को अपनी इच्छा के विरुद्ध भी, वँटवारा करने के लिए मजवूर होना पडता था। इस परिस्थिति में इस विचार का विकास होना स्वाभाविक था कि जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति में पुत्र का स्वत्व उत्पन्न हो जाता है। इस विचार का चरम विकास हमें विज्ञानेश्वर (११वी शती ई०) की मिताक्षरा में दिखाई देता है। (देखिये नीचे अध्याय १४)। ब्राह्मण युग में पुत्रो के जन्मना स्वत्ववाद के सिद्धान्त का वीजवपन हो गया था।

किन्तु शास्त्रकारो ने इस वीज को न पनपने देने का पूरा प्रयत्न किया, पिताओ के अधिकार का प्रवल समर्थन किया। धर्मशास्त्र पुरानी परम्परा का समर्थन किया करते है। प्राचीन परम्परा यह थी, कि पिता का सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार रहे, पुत्रो का उसपर कोई स्वत्व नही, पिता के जीवनकाल में सम्पत्ति का वँटवारा न हो। उन्होने इस वात पर वल दिया कि वँटवारा पिता को मृत्यु के वाद ही हो। हम आगे चलकर देखेंगे कि गुप्त-युग के प्रारम्भ तक यही स्थिति रही। नारद ने चौथी शती ई० में पिता के अयोग्य होने पर, पुत्रो को स्पष्ट रूप से वँटवारा करने का अधिकार दिया। कात्यायन ने ६ठी शती मे, पिता से मनमाना वँटवारा करने का अधिकार छीना।

३७. भाइयों की ईर्ष्या के लिए जिनीसस में यूसुफ की कहानी देखिये।

विघटन का दूसरा संकेत—भ्रातृव्य शब्द—भ्रातृव्य शब्द के अर्थ परिवर्तन से परिवार के विघटन पर वड़ा मनोरंजक प्रकाश पड़ता है। भ्रातृव्य शब्द का असली अर्थ तो भतीजा (पिता के भाई का लड़का) है। अथर्व० ५।२२।१२ में उसे भाई वहिन के साथ गिना गया है। १०।३।९ मे उसकी वांधवो के साथ गणना है[३८]। किन्तु ब्राह्मण युग में हम इस शब्द का प्रयोग, प्रतिस्पर्धी शत्रु के अर्थ में पाते है। ऋग्वेद के समय से शत्रु को भ्रातृव्य कहने लगे थे[३९]। अथर्ववेद में भी इस अर्थ मे भ्रातृव्य शब्द का प्रयोग हुआ है[४०]। किन्तु ब्राह्मण-युग में इस अर्थ मे इसका प्रयोग वहुत वढ गया है। काठक सहिता में भ्रातृव्य को 'अप्रिय', 'पाप्मा' और द्विपन् के विशेषण दिये गये है, उसे झूठ वोलने वाला कहा गया है (१८।८, १०।७)। शतपथ ब्रा० (१।१।१।२१), ऐतरेय ब्राह्मण (३।७), पंच-विश ब्राह्मण (२।७।२ १२।१३।२) मे शत्रु के लिए भ्रातृव्य शब्द का ही व्यवहार किया गया है। परवर्ती साहित्य में भ्रातृव्य के उपर्युक्त दोनो अर्थ तुल्य रूप से महत्त्वपूर्ण, माने जाने लगे। पाणिनि ने दोनो शब्दो की अलग अलग प्रत्ययों से सिद्धि की (४।१।१४४-४५), वह शत्रुवाचक भ्रातृव्य के लिए व्यन् प्रत्यय का विधान करता है और भतीजे का अर्थ देनेवाले के लिए व्यत् का[४१]।

भतीजे के शत्रु वनने का कारण संयुक्त परिवार की जायदाद के वटवारे के ही झगड़े होंगे[४२]। ये झगड़े अवश्यमेव वहुत प्रचण्ड होंगे, अन्यथा भ्रातृव्य का प्रयोग इतने बुरे अर्थ में न होता[४३]।

---

३८. अथर्व १०।३।९, भ्रातृव्या मे सवन्धवः; ह्विटनी ने अथर्व० १५।२।८ में भी भ्रातृव्य का यही अर्थ किया है।

३९. ऋ० ८।२१।२३ में इन्द्र को कहा गया है कि, तू जन्म से शत्रु-शून्य (अभ्रातृव्य) है।

४०. अथर्व० २।१८।१; ७।१०।१८ ३३,१०।९।१; मि० वाजसनेय संहिता, १।१०, तै० सं० १।३।२।१; ३।५।९।२

४१. पाणिनि—भ्रातुर्व्यच्च, व्यत्सपत्ने

४२. पाल-ला अफ् प्राइमोजैनिचर पृ० २२८।

४३. आप्टे ने लिखा है कि भ्रातृव्य का यह अर्थ संभवतः ईरानियों और आर्यों के पारस्परिक झगड़ों का स्मरण करवाता है (सोशल एण्ड रिलीजस लाइफ इन दि गृह्य सूत्राज १९३९ पूना, पृ० ६०)

विघटन के मनोवैज्ञानिक कारण (१)—वैयक्तिक स्वाधीनता व सम्पत्ति की आकांक्षा । वैदिक युग के पितृप्रधान संयुक्त परिवार में व्यक्ति का कोई पृथक् अस्तित्व नही था, वह अपने परिवार का अग था । अंगो की शरीर से भिन्न अपनी कोई स्वतंत्र स्थिति नही होती, वे मशीन के पुर्जे है, इनका उपयोग मशीन में ही हो सकता है; किन्तु उससे अलग होने पर ये वेकार है । यदि हम प्रारम्भिक काल के खतरो पर ध्यान दें, तो हमें यह प्रतीत होगा कि 'संघे शक्तिः' का मत्र उस युग में जितना आवश्यक था, उतना इस युग में नही है । आर्यों को हिंस्र जन्तुओ से भरे हुए जगलो में वसना था, विरोधी जातियो का सामना करना था, अपने परिश्रम से वन्य भूमि को कृषि योग्य वनाना था तथा अन्य अनेक बडे साहसिक कार्य करने थे; इन कार्यों के लिए संयुक्त सघटन आवश्यक था । आज भी युद्ध के समय प्रजातंत्र के परम उपासक इगलैण्ड और अमरीका में पूरा निरंकुश फासिस्ट शासन कायम हो जाता है । फासिस्ट शत्रुओ से रक्षा के लिए उन्हें फासिस्टो की सी अनियत्रित सत्ता अपने हाथ में लेनी पडती है । व्यक्तियो के अधिकार विल्कुल कुचल दिये जाने है । सयुक्त परिवार में भी इसी भाँति व्यक्तियो के पृथक् स्वत्वो का पूर्ण दलन होता है । सयुक्त परिवार का सिद्धान्त ही यही है, कि इसके प्राणी अपने वैयक्तिक स्वार्थों को भुला दें तथा सामूहिक कल्याण के लिए यत्न करें । व्यक्ति को अपनी निजी इच्छा और कार्य करने की स्वतन्त्रता का सम्मिलित कुटुम्ब के हित की वेदी पर बलिदान कर देना चाहिए । व्यष्टि समष्टि के लिए है, उसे समष्टि में अपने स्वत्व को पूर्ण रूप से निमज्जित कर देना चाहिए ।

किन्तु मनुष्य की अहंभावना इसका घोर विरोध करती है। आज कल के मनोवैज्ञानिक हमें यह वतलाते है कि यह मनुष्य का एक प्रधानतम मनोभाव है। मनुष्य वन्धनो की शृंखला को तोडकर स्वतत्र होना चाहता है, वह अपने विकास में आनेवाली वाधाओ के निराकरण की आकाक्षा रखता है, इसे सयुक्त परिवार में रहकर पूरा नही किया जा सकता । उसमें ममत्व वुद्धि की भावना वडी प्रवल है। वह वैयक्तिक रूप से कुछ सम्पत्ति पर एकाधिकार रखना चाहता है। उसकी यह अभिलाषा भी सम्मिलित कुटुम्ब में पूरी नही होती । इन मनोभावनाओ की पूर्ति पृथक् परिवार में ही संभव है ।

(२) **सामाजिक परिस्थितियां**—मनुष्य में वैयक्तिक स्वाधीनता की आकाक्षा है, किन्तु उपयुक्त परिस्थितियो के अभाव में, वह उस आकाक्षा को

पूरा नही कर सकता। यदि वह परिवार से वाहर अपनी जीविका का उपार्जन न कर सके, तो उसे उदरपूर्त्ति के लिए स्वाधीनता की स्वाभाविक आकांक्षा को दवाते हुए, परिवार में रहना ही पडेगा। मन का दमन किया जा सकता है; पर क्षुधा की ज्वाला का शमन संभव नही। जव समाज में व्यापार आदि के कारण नये-नये पेशे वनने लगते है, तो परिवार का विघटन शुरु हो जाता है। १९वी शती में, योरोप में व्यावसायिक क्रान्ति (Industrial Revolution) हुई। कारखानों में काम के लिए हजारो मनुष्यों की आवश्यकता हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि वड़े परिवारो से वंधे हुए किसान मजदूर वनने लगे, तेजी से परिवार का विघटन होने लगा। वैदिक युग में, खेती के साथ ही व्यापार आरम्भ हो गया था। उस समय व्यापार मुख्य रूप से स्थल के मार्गों से होता था। समुद्र यात्रा का प्रचार वहुत कम था। ब्राह्मण युग मे इस व्यापार को हम वहुत वढता हुआ पाते है। पाणिनि ने जगल की अनेक वस्तुओं का वंशादि गण में पाठ किया है। पण, कार्षापण आदि सिक्को तथा आढक, द्रोण प्रस्थ आदि मानो के उल्लेख से उस समय के व्यापार की वृद्धि सूचित होती है। व्यापार का क्षेत्र खुल जाने से कुछ लोग संयुक्त परिवार से पृथक् होकर अपनी आजीविका कमा सकते थे। इनका परिवार से अलग होना स्वाभाविक था; किन्तु व्यापार का विस्तार वहुत अधिक न होने के कारण से इनकी संख्या वहुत कम थी।

(३) धर्म—हम पहले देख चुके है कि पितरो की पूजा तथा अग्नि की उपासना, वैदिक युग में परिवार को संयुक्त वनाये रखने में सहायक सिद्ध हो रही थी। ब्राह्मण-युग में पितरों की पूजा के स्वरूप में कुछ भेद आ चुका था। ऋग्वेद, शुक्ल यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के पितरो की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है; (१०।१५); किन्तु यजुर्वेद (१९।३६-३७) तथा अथर्ववेद में पितरो की पीढियो की संख्या मर्यादित की गई है (दे० ऊपर)। इन में सामान्य रूप से तीन पीढियो तक के पूर्वज होते थे। संहिता युग में यह व्यवस्था पुष्ट हो रही थी। सयुक्त परिवार के विघटन पर इसने भी प्रभाव डाला। पाल ने लिखा है—'हम यह नही जानते कि संयुक्त परिवारों के भग होने का यह कारण था या नही। जव लोग यह विश्वास करने लगे, कि पितर परलोक में अपने वंशजों द्वारा दिये अन्न के उपभोग से जीवन धारण करते हैं, तो पुत्र में यह आकांक्षा उत्पन्न होना स्वाभाविक था, कि वह परिवार के अन्य लोगों की

अपेक्षा, अधिक सावधानी से अपने पिता को अन्न पहुँचाता रहे। हमें इस बात पर आश्चर्य नही होगा, कि यदि कोई विद्वान् किसी दिन यह सिद्ध कर दे, कि वैदिक परिवार में इसी कारण भतीजो में झगडे उत्पन्न हुए। इन झगड़ो से न केवल परिवार का भग हुआ किन्तु पितृपूजा में पितृ परम्परा में पूजी जाने वाली पीढियो की मात्रा भी मर्यादित कर दी गई[४४]।

कर्मफल का धार्मिक सिद्धान्त भी परिवार के विघटन की प्रक्रिया में कुछ सहायक अवश्य हुआ है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मो का फल अवश्य भोगना पटता है, उस में किसी प्रकार की साझेदारी नही हो सकती। वाल्मीकि के सम्वन्ध में यह कथा प्रसिद्ध है कि वे वटमारी और लूट पाट से अपने कुटुम्व का पालन करते थे, वाद में उन्होने यह कार्य छोड़ दिया, क्योकि लूट से पलनेवाले सम्वन्धी उनके पापो में साझेदारी लेने को तैयार न थे। जव परलोक के कर्मों का पृथक् रूप से उपभोग होता है, तो इस लोक के कर्मो का फल वैयक्तिक क्यो न माना जाय। इस धार्मिक विश्वास ने व्यष्टि (Individualism) और समष्टि (Communism) वाद के सघर्ष पर अवश्य कुछ प्रभाव डाला होगा, इस कारण से सयुक्त परिवार को वैयक्तिक अधिकार मानने पडे होगे[४५]।

संयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा—विघटन के उपर्युक्त उदाहरणो तथा कारणो से यह नही समझना चाहिए कि ब्राह्मण युग में सयुक्त परिवार की प्रथा विल्कुल टूटने लगी थी। इन उदाहरणो के वावजूद, समाज में सयुक्त परिवार का वोलवाला था। अभिप्रतारण जैसे अभागे पिता समाज में वहुत कम थे। मनु के पुत्रो की तरह स्वय वँटवारा करने वाले वेटो की सख्या अधिक नही थी। इस काल में तूफानी थपेड़े खाने के वाद भी यह पद्धति हिन्दू समाज के समुद्र में अचल चट्टान की भाँति स्थिर खडी रही। इस

४४. भतीजो के झगड़े का परिवार में एक और प्रभाव पड़ा होगा। यदि भतीजा शत्रु है, तो उसपर यह भरोसा नहीं किया जा सकता कि वह अपने चाचा को नियमित रूप से पिण्डदान करता रहेगा। अपने पुत्र पर यह भरोसा किया जा सकता है। अतः धार्मिक दृष्टि से पुत्र की महिमा वढ़ जाती है। वह अपने पिता को नरक अर्थात् मरणोत्तर दुर्गति से वचानेवाला माना जाने लगता है (पाल-पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २४८)

४५. सर्वाधिकारी—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ५५

युग की सब से अर्वाचीन रचनाओ—गृह्यसूत्रों—के अध्ययन से यह बात भली भाँति पुष्ट होती है।

गोभिल गृह्य० (१।४।२३-२६) से ज्ञात होता है, कि उस समय बहुत बड़े सयुक्त परिवार होते थे। परिवार के सदस्य इतने अधिक होते थे, कि उनका खाना एक चूल्हे पर नही पक सकता था। इसे अलग चूल्हो पर पकाना पड़ता था। प्रत्येक भोजन तैयार होने पर वैश्वदेव यज्ञ करना आवश्यक था। विभिन्न देवताओ, भूतो, पितरो और मनुष्यो को पके हुए भोजन की बलिय। दी जाती थी, इस के बाद ही उस भोजन का उपभोग किया जा सकता था। गोभिल कहता है, कि यह आवश्यक नहीं, कि जब सब खाना तैयार हो, उस समय वैश्वदेव यज्ञ किया जाय; गृहपति के लिए पाकशाला में एक बार बलिहरण करना पर्याप्त है। उस समय अन्य रसोइयो में पके हुए भोजनो के लिए पृथक्-पृथक् बलियो को देने की कोई आवश्यकता नही है[४६]। इस सम्बन्ध में उसने दूसरा नियम यह भी बनाया है, कि जिस रसोई में पहले खाना बन जाय, उस रसोईवाले अग्नि में बलि देकर तथा ब्राह्मण को खिलाकर स्वय भोजन करें; वे गृहपति के वैश्वदेव यज्ञ होने की प्रतीक्षा न करे। जिसका भोजन गृहपति के भोजन के बाद तैयार हो, उसे बलि देने की आवश्यकता नही है। इस नियम का उद्देश्य संभवत. यह होगा कि बच्चों को व्यर्थ में देर तक भूखा न रखा जाय। आज भी हिन्दू परिवारो में त्योहारो पर पूजा और ब्राह्मणो को खिलाने के बाद ही भोजन का उपभोग होता है। उस समय देरी होने पर बच्चो की भूख और अधीरता माताओ को बहुत व्यथित करती है।

पारस्कर गृह्य सूत्र में (२।९) एक विशाल परिवार के गृहपति के कर्त्तव्यो का एक बड़ा सुन्दर चित्र खीचा गया है। वैश्वदेव यज्ञ के बाद पहले भिक्षुको, ब्रह्मचारियो, सन्यासियो और अतिथियों को खिलाया जाय, फिर बालक खायें, बाद में घर के बूढे लोगों को भोजन दिया जाय, तदनन्तर घर के अन्य लोग भोजन करे। सब के भोजन कर चुकने के बाद, गृहपति भोजन करे।

---

४६. गोभिल गृह्य सूत्र १।४।२३-२६, यद्येकस्मिन् काले पुनः पुनरन्नं पच्येत सकृदेवैतद् बलितन्त्रं कुर्वीत। यद्येकस्मिन्कुले बहुधाऽन्नं पच्येत। गृहपति महानसादेवैतद्बलितन्त्रं कुर्वीत। यस्य त्वेषानग्रतः सिध्येत् नियुक्तमग्नौ हुत्वाग्रं ब्राह्मणाय दत्वा भुञ्जीत। यस्यो जघन्यं भुंजीनैनेति।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन—संयुक्त परिवार के अक्षुण्ण रहन पर भी उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन आ गया था। समुद्र की चट्टान तूफानी थपेड़ो से भले ही न हिले; किन्तु आधी और पानी उस पर अपने चिह्न छोड जाते है। वैदिक युग का संयुक्त परिवार पितृसत्तात्मक परिवार (Patriarchal Family) था। उसका मुख्य उपादान पिता की निरकुश सत्ता थी। पिता के मरने पर यदि परिवार संयुक्त रहना चाहता है, तो ज्येष्ठ पुत्र उस परिवार का मुखिया वनता है। इससे परिवार की रचना में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होता है। इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए जान मेन ने लिखा है—"यह स्पष्ट है कि (मुखिया वने ज्येष्ठ पुत्र की) स्थिति मृत पितर (Patriarch) से वहुत भिन्न होगी। एक अपने नैसर्गिक अधिकार से परिवार का मुखिया था, दूसरा अन्य व्यक्तियों की सहमति से अधिकार प्राप्त करके मुखिया वनता है; इसलिए वह अधिकार से नही किन्तु चुनाव से अध्यक्ष वनता है"[४७]। सच्चे अर्थों में इसी अवस्था में संयुक्त परिवार का जन्म होता है। इससे पहले वे अपनी इच्छा से सयुक्त नही होते, उन्हे पिता की शक्ति, रक्तसम्वन्ध, धार्मिक वन्धन व आर्थिक कारण एक सूत्र में पिरोये रखते है; इन परिस्थितियो पर उनका कोई वश नही चलता! वे लाचारी में एक वन्धन में वँधे रहते हैं। किन्तु दूसरी अवस्था में यह वात नहीं, यदि वे अपनी इच्छा से इकट्ठा रहना चाहते है, तो सयुक्त परिवार वना रहता है; अन्यथा विभाग हो जाता है।

गृह्य सूत्रो में गृह्य अग्नि के सम्वन्ध में अनेक नियम दिये गये है (शांखा० १।१, पारस्कर १।१, आश्वलाय १।९)। इनसे परिवार की उपर्युक्त स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। शांखा० अग्न्याधान के चार काल मानता है—(१) समावर्तन, (२) विवाह, (३) विभाग, (४) गृहपति की मृत्यु (१।१।२-५)। अन्तिम अवस्था में वह गृहपति की मृत्यु पर, बडे लडके को स्वय अग्न्याधान करने का आदेश देता है (प्रेतें वा गृहपतौ स्वयं ज्यायान्)। शाखायन का यह अभिप्राय प्रतीत होता है, कि सयुक्त परिवार में, सव सदस्यो की ओर से प्रतिनिधि वनकर ज्येष्ठ पुत्र इस कार्य को सम्पन्न करता है। यह स्वाभाविक है कि सम्पत्ति के सम्वन्ध में भी यह समझा जाय कि वह परिवार के सव सदस्यों की ओर से उसका प्रवन्ध कर रहा है।

---

४७. जान मेन-हिन्दू लॉ, पृष्ठ ३२०

इस विचार के मान लेने पर, पारिवारिक सम्पत्ति पर, मुखिया के वैयक्तिक स्वामित्व का अन्त हो जाता है; संयुक्त स्वामित्व के सिद्धान्त का जन्म होता है, परिवार के अन्य सदस्यो के अधिकारो को थोडा-बहुत स्वीकार किया जाने लगता है। आज कल सयुक्त परिवार से सूचित होने वाली प्रथा का बीजारोपण होता है।

तीसरी अवस्था (६०० ई० पू० से ६०० ई०)

इस समय में, संयुक्त परिवार-विरोधी प्रवृत्तियो का, हिन्दू समाज में पूर्ण विकास हुआ; इसकी एकता के मूल कारण—पिता के विभाग सम्बन्धी अधिकारो को शनै.-शनैः पिता के हाथों से छीना गया। उसके जीवनकाल में, उसकी इच्छा के विरुद्ध बँटवारे के सिद्धान्त को, अन्त में मान लिया गया, स्वेच्छापूर्वक सम्पत्ति बाँटने का अधिकार उससे छीन लिया गया, विभाग की प्रशसा की गई, स्वार्जित सम्पत्ति का सिद्धान्त मान्य होने लगा। ये सब व्यवस्थायें संयुक्त परिवार के मूल पर कुठाराघात करनेवाली थी। आगे इनका यथास्थान विस्तार से प्रतिपादन हुआ है; यहां केवल स्थूल परिणामो का ही निर्देश किया जायगा।

विघटन में सहायक कारण—पिता के अधिकार का अपहरण—पहले यह बताया जा चुका है, कि पितृप्रधान परिवार में पिता की सत्ता, परिवार को संयुक्त बनाये रखने का प्रबल साधन है। पिता के जीवित रहने तक सब भाई इकट्ठे रहते है। ब्राह्मण-युग में बेटो ने पिता के जीवनकाल में स्वयं जायदाद का बटवारा शुरू करके विघटन की प्रवृत्तियो को उत्तेजना दी थी। इस युग में शास्त्रकारो ने प्रारम्भ में इन प्रवृत्तियो का विरोध किया, वे बटवारे को दो अवस्थाओ में पसन्द करते थे–(१) यह पिता की मृत्यु के बाद हो, (२) यदि पिता के जीवनकाल में हो, तो वह पिता की इच्छा के अनुसार हो। पिता की इच्छा के विरुद्ध बंटवारा करनेवाले पुत्रो को घृणा की दृष्टि से देखा जाता था (गौतम १५।१९)। न केवल बटवारा पिता की इच्छा से होता था; किन्तु पिता अपनी सम्पत्ति का मनमाना विभाग भी कर सकता था।

गौतम (२८।१), कौटिल्य (३।५), मनु (९।१०४), याज्ञवल्क्य (२।११७), नारद (स्मृ० १६।२), बृहस्पति (दाय २६), देवल (दा० १३), का यह मत है, कि बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद होना चाहिए। कौटिल्य मनु और देवल बँटवारा पहले न करने का कारण भी बताते है, कि पिता के जीवित रहने

हुए पुत्रो का सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नही है[४८]। मनु ने ८।४१६ में सम्पत्ति पर गृहपति का वैयक्तिक अधिकार माना है। हारीत कहता है—पिता के जीवित रहते हुए पुत्र धन का स्वतन्त्र रूप से, उपभोग तथा व्यय नही कर सकते। शंख लिखित भी पिता के जीवनकाल में पुत्रों को अस्वतत्र मानने है[४९]। केवल पिता के ही नही, किन्तु उपर्युक्त स्मृतिकार, माता के जीवित रहते हुए भी बंटवारे को पसन्द नही करते।

पिता के जीवनकाल में पहले वटवारा केवल एक ही शर्त पर हो सकता था। यदि पिता अनुमति प्रदान करे, तो पुत्र पैतृक सम्पत्ति का विभाग कर सकते थे[५०]। शास्त्रकारो की इतनी व्यवस्थायें करने पर भी, हिन्दू समाज मे पिता की इच्छा के विरुद्ध जवर्दस्ती वँटवारा करानेवाले पुत्रो की कमी नही थी। अभिप्रतारण के पुत्रो द्वारा प्रारम्भ की गई परम्परा हिन्दू समाज में प्रचलित थी। शास्त्रकार इस प्रकार के विभाग के विरुद्ध थे। गौतम ने यह व्यवस्था की है कि पिता की इच्छा के प्रतिकूल वंटवारा करके अलग हुए भाई श्राद्ध में वुलाने योग्य नही होते (पित्रा चाकामेन विभक्तान् १५।१९)। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है, कि उस समय समाज में वँटवारा अच्छा नही समझा जाता था।

यह स्थिति गुप्त युग के प्रारम्भ तक रही। गुप्तयुग में नारद ने, पुरानी परम्परा का अवश्य निर्देश किया; परन्तु अपने समय की नवीन परिस्थितियो का भी उसने पूरा ध्यान रखा। वटवारे का समय, वह सामान्य रूप से पिता की मृत्यु के वाद वतलाता है (ना० स्मृ० १६।२)। यह प्राचीन परिपाटी थी;

---

४८. कौटिल्य० ३।५, अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्। मनु० ९।१०४, ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन् पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः। देवल (दा० १३), पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥

४९. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥ मि० शुक्रनीति ४।५।५७९, हारीत (दा० २३) जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानविसर्गाक्षेपेष्वस्वातन्त्र्यम्। शंख (दा० २३) अस्वतन्त्राः पितृमन्तः। -

५०. बौधा० २।२।८ पितुरनुमत्यां दायविभागः सति पितरि।

किन्तु वह पुरानी प्रथा का अन्वसमर्थक न था। पर उससे पहले एक पुरानी प्रथा यह भी थी, कि पिता ही विभाग कर सकता है। नारद व्याधिपीड़ित, क्रोधी, विपयी और शास्त्र-विरुद्ध आचरण करनेवाले पिता से विभाग का अधिकार छीन लेता है (ना० स्मृ० १६।१६)।

विभाग की प्रशंसा—संयुक्त परिवार को हिन्दू समाज की आधार शिला मानने वाले, कट्टरपथी हिन्दुओ को यह जानकर संभवतः आश्चर्य हो, कि इस काल में शास्त्रकारो ने बटवारे की प्रशसा की है। गौतम ने कहा—बटवारे से धर्म की वृद्धि होती है (विभागे तु धर्म वृद्धिः १८।४)। वृहस्पति ने धर्म वृद्धि की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए लिखा है—जब भाई इकट्ठे रहते हैं, तो पितृ पूजा, देवताओ की उपासना और ब्राह्मणो का अर्चन एक घर में होता है; बँटवारा होने पर ये कार्य घर-घर मे होते हैं (अप० २।११४)। व्यास का कथन है—पिता के अभाव में बंटवारा करने पर भाइयों के धर्म की वृद्धि होती है। मनु के मत में अलग रहने पर धर्म की वृद्धि होती है; अतः पृथक् होना धर्मानुकूल पद्धति है (९।११)[५१]। आज हिन्दू-समाज में ऐसे व्यक्तियो की कमी नही, जो शास्त्रों के आधार पर संयुक्त परिवार-प्रथा के प्रबल समर्थक हैं; किन्तु पुराने स्मृतिकार धर्मविस्तार की दृष्टि से पृथक् परिवार पद्धति को अधिक उपयोगी समझते थे। शास्त्रकारो द्वारा पृथक् परिवार के समर्थन ने सयुक्त परिवार में विघटन की प्रवृत्ति को अवश्य प्रोत्साहित किया होगा।

स्वार्जित सम्पत्ति—इसका विकास सयुक्त परिवार के विघटन को सूचित करता है। सयुक्त परिवार का मौलिक सिद्धान्त यह है, कि परिवार के सदस्यो द्वारा कमायी जानेवाली सम्पत्ति सामान्य कोश में डाली जाती है; उसपर कमाने वाले का वैयक्तिक स्वत्व नही होता। स्वार्जित सम्पत्ति का सिद्धान्त मूलत. इसका विरोधी है। पितृसत्तात्मक (Patriachal) परिवार मे सारी सम्पत्ति पिता की ही समझी जाती है, परिवार के प्राणियो द्वारा कमाये धन पर मुखिया का स्वामित्व होना है।

---

५१. मनु० ९।१११ एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथक् विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया : वृहस्पति—(अप २।११४) एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। एकं स्याद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे॥ व्यास (दा० ६०) भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते।

परन्तु जब सम्मिलित परिवारो में, वैयक्तिक अधिकारो को माना जाने लगता है, उस समय स्वार्जित सम्पत्ति के नियम बनते हैं। अपने परिश्रम से कमाई सम्पत्ति पर अपने पूर्ण तथा वैयक्तिक स्वामित्व की आकाक्षा रखना स्वाभाविक है। प्राचीन परम्परा के अनुसार इसपर परिवार का सयुक्त स्वामित्व होना चाहिए। जब तक उद्योग धन्धो, व्यवसायो का अधिक विकास नही होता, उस समय तक उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तो में कोई विरोध नही होता। कृषि में वैयक्तिक परिश्रम से उत्पन्न सम्पत्ति इतनी अधिक नही होती कि स्वार्जित सम्पत्ति के विस्तृत नियम बनाने पड़ें। किन्तु जब व्यापार की वृद्धि होती है, व्यवसाय पनपने लगते हैं और इनसे व्यक्ति पर्याप्त धन कमाने लगते हैं; तो परिवार की सयुक्त सम्पत्ति से पृथक् वैयक्तिक स्वार्जित सम्पत्ति का जन्म होता है। परिवार के अन्य सदस्य अपने पुराने अधिकार को बनाया रखना चाहते हैं, बिना परिश्रम किये दूसरे की कमाई का उपभोग करना चाहते है; दूसरी ओर कमाने वाला अपने गाढे परिश्रम से अथवा वैयक्तिक योग्यता से उपार्जित धन पर, अपना प्रभुत्व रखना चाहता है।

प्रारम्भ में उपार्जको को अपनी कमाई सम्पत्ति में दूसरो की अपेक्षा दुगना हिस्सा दिया गया[५२], यह उसका मुह बन्द करने के लिए और आँसू पोछने के लिए था; किन्तु इससे उनका न तो मुह ही बन्द हुआ और न ही आँसू पुछे। वैयक्तिक और सामूहिक अधिकारों के सघर्ष में जबर्दस्त रस्साकशी थी। यह स्पष्ट था, कि वैयक्तिक अधिकारवालो का पक्ष न्याय्य एव प्रबल था। उन्हे अपने परिश्रम का फल मिलना ही चाहिए। समष्टिवादी वह फल देना ही नही चाहते।

अन्त में समझौते का एक मार्ग ढूढा गया। यदि परिवार के किसी सदस्य ने परिवार की सम्पत्ति का उपयोग करते हुए अपने वैयक्तिक परिश्रम से कुछ धन कमाया है, तो उस पर सारे परिवार का अधिकार है, यदि उसने पारिवारिक सम्पत्ति का उपयोग नही किया तो अपनी कमायी सम्पत्ति पर उसका पूरा अधिकार होगा। गौतम (२८।३१), कौटिल्य (३।५), मनु० (९।२०६-९), महाभारत (१३।१०५।१), विष्णु० (१८।४२), याज्ञ० (२।११८-५९) और नारद० (१६।६) ने इसी प्रकार की व्यवस्थायें की हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि चौथी शती ई० में विभक्त परिवार की व्यवस्था

---

५२. वसिष्ठ १७।४५ येन चैषां स्वयमुत्पादितम् स्यात् स द्व्यंशमेव हरेत्।

शास्त्रकारो ने स्वीकार कर ली थी । संयुक्त परिवार में निश्चित रूप से विघटन की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो गई थी । चौथी शती ई० से पहले के सब सूत्र-कार और स्मृतिकार संयुक्त परिवार का ही उल्लेख करते हैं । विभक्त परिवार के सदस्यों के अधिकारो की चर्चा उनमें उपलब्ध नही होती । केवल याज्ञवल्क्य ने २।१३८ मे, विभक्त परिवार में, विधवा तथा कन्या को रिक्थहर बनाया, किन्तु वह संयुक्त परिवार में, उन्हे दाय मे कोई स्वत्व प्रदान नही करता । याज्ञ-वल्क्य का विभक्त परिवार में इन्हें दायाद बनाने का कारण स्पष्ट है। सयुक्त परिवार में सामूहिक रूप से भरण-पोषण पाने के कारण इनके लिए पृथक् व्यवस्था की कोई आवश्यकता नही थी । विभक्त परिवार में ही इनके अनाथ और अनाश्रित होने पर सहायता की ज़रूरत थी । याज्ञ० से पहले के स्मृतिकार ऐसी कोई व्यवस्था नही करते । सभवतः उनके समय मे विभक्त परिवारो की संख्या बहुत कम थी; याज्ञ० के समय में वह कुछ बढी और नारद के समय में काफी बढ गई । नारद पहला स्मृतिकार है जिसने विभक्त परिवार के नियमो का पृथक् रूप से तथा स्पष्ट तौर पर वर्णन किया है । अतः यह प्रतीत होता है कि उसके समय चौथी श०ई० तक हिन्दू समाज में विभक्त परिवारों की संख्या काफी बढ चुकी थी । पृथक् परिवार की पद्धति का काफी प्रचलन था। नारद उसकी उपेक्षा नही कर सकता था; उसको यह आवश्यक जान पड़ा कि वह विभक्त और संयुक्त परिवारों मे रिक्थहरण की दो विभिन्न व्यवस्थायें करे ।

विघटन के कारण (क) धार्मिक—इस काल में हिन्दू समाज में विभाग की प्रवृत्ति बढने के क्या कारण थे ? पिछले प्रकरण में बताये मनोवैज्ञानिक, धार्मिक और आर्थिक कारण, पृथक् परिवार की पद्धति को व्यापक बना रहे थे । मनुष्य की अहभावना, वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा, ममत्व बुद्धि तथा व्यक्तिगत सम्पत्ति का मोह उसे अलग परिवार बनाकर रहने के लिए प्रेरित करता है । संयुक्त परिवार में वह पिता का वशवर्ती सेवक होता है; किन्तु पृथक् परिवार में अपने घर का राजा । संयुक्त परिवार की दासता से पृथक् परिवार की स्वाधीनता स्वाभाविक रूप से अधिक आकर्षक होती है । इस युग में धर्म भी परिवार के विघटित होने में सहायक सिद्ध हुआ । हम यह देख चुके है कि गौतम, मनु, बृहस्पति व्यास यह कहते है, कि भाइयों के अलग हो जाने पर धर्म-कार्यों की वृद्धि होती है । पहले पांच भाइयो के संयुक्त परिवार में जितने धर्म कार्य होते है, उनके

पृथक् परिवार बना लेने से वे सब कार्य पाँच घरो में अलग-अलग होने लगते हैं। एक ही परिवार के विभाग से पंच महायज्ञो की पाँच गुना वृद्धि हो जाती है। एक दूसरी धार्मिक व्यवस्था ने भी इस समय पृथक् परिवार की प्रवृत्ति को बढाया। वानप्रस्थ की व्यवस्था प्राचीन थी; किन्तु इस काल में सूत्रकार व स्मृतिकार इसकी विस्तार से व्याख्या करते है।[५३] यह स्पष्ट है कि इस समय वानप्रस्थ की व्यवस्था का प्रचलन अधिक होगा, वानप्रस्थ वनते समय पिता अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर देते थे। हारीत कहता है, कि पिता अपने जीवनकाल में, पुत्रो की सम्पत्ति का बटवारा करके वन में चला जाय अथवा सन्यासी बन जाय[५४]।

(ख) आर्थिक—इस युग में भारतवर्ष के शिल्प और व्यवसाय में बडी उन्नति हुई। शिल्पियो की श्रेणियाँ (Guilds) तथा व्यापारियो के निगम बने। बड़े-बड़े सार्थ (व्यापारिक काफले) देश के एक कोने से दूसरे कोने तक व्यापारिक वस्तुएँ पहुँचाने लगे। विदेशो के साथ स्थलमार्ग और जलमार्ग से व्यापार होने लगा। बौद्धसाहित्य के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है, कि जहाज़ बनाने का व्यवसाय उन्नत दशा में था। समुद्रवाणिज जातक में एक ऐसे जहाज़ के बनाने का उल्लेख है, जिसमें वर्धकियो (बढई) के हज़ार परिवार सुगमता पूर्वक बैठकर दूरवर्ती किसी द्वीप में चले गये। ये परिवार ऋण के बोझ से दबे हुए थे। अपनी दशा से असन्तुष्ट होने के कारण इन्होंने यह निश्चय किया था, कि ये किसी दूर देश में जाकर बस जायें। एक हज़ार परिवारो को सुगमतापूर्वक ले जानेवाले जहाज़ के आकार की कल्पना सहज में की जा सकती है। बलाहस्सजातक मे कहा गया है कि एक जहाज़ में पाँच सौ व्यापारी यात्रा कर रहे थे, उनका जहाज़ टूट गया, उन्हे लंका के समुद्र-तट पर उतरना पडा। सुप्पारक जातक में एक साथ एक जहाज पर समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान करनेवाले ७०० व्यापारियो का उल्लेख है। महाजनक जातक, सख जातक महाउम्मग जातको से समुद्री व्यापार की उन्नत

---

५३. गौतम ३।२५-३४; आप ध० सू० २।९।२१।१८, २।९।२३।२, बौधा० ध० सू० ३।३, वसिष्ठ० ध० सू० ९; मनु० ६।१-३२। याज्ञ० ३।४५-५५ महाभा० १२।२४५।१-१४, १३।१४२ इ०।

५४. हारीत (दा० ४७) जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभज्य वनमाश्रयेत्। वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्।

अवस्था का ज्ञान होता है। वावेरु जातक में वैविलोन के साथ भारत के व्यापार का मनोरञ्जक वर्णन उपलव्ध होता है। सातवाहन और गुप्तयुगो में यह व्यापार निरन्तर वढ़ता गया। इन युगो में, भारतीय रेशमी वस्त्र, मसाले तथा मोती आदि वहुमूल्य पदार्थों के वदले रोम से सोने के सिक्को का प्रवाह भारत की ओर वह रहा था। रोमन लेखक प्लिनी (७८ ई०) ने अपने देश के धनिको की इसलिए निन्दा की है कि वे करोड़ों रुपये का माल भारत से खरीदते हैं। चीन तथा पश्चिम में रोम तक भारतीय जहाजो एव भारतीय नाविकों द्वारा विदेशी व्यापार होता था। इस युग में यह उत्कर्ष के उच्चतम शिखर तक पहुँच चुका था[५५]।

पहले यह वतलाया जा चुका है कि व्यापार की वृद्धि से संयुक्त परिवार के विघटन को कुछ प्रोत्साहन मिलता है। जव तक व्यापार का विकास नही होता, मनुष्य अपनी आजीविका के लिए पारिवारिक भूसम्पत्ति पर अवलम्बित होते हैं। किन्तु व्यापार का विकास होने से उनके लिए स्वतन्त्ररूप से आजीविका कमाने का मार्ग खुल जाता है। व्यापार में वड़े खतरे उठाने पड़ते हैं। इन खतरों को उठाकर धन कमानेवाला व्यक्ति अपनी उपार्जित सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार चाहता है। इस काल में व्यापार में आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इसी कारण हमें स्वार्जित सम्पत्ति की चर्चा सर्वप्रथम इसी युग में उपलव्ध होती हैं।

संयुक्त परिवार का समर्थन—हिन्दू-परिवार में विघटन की प्रवृत्तिया प्रवल हो रही थी; किन्तु कुछ शास्त्रकारो ने सयुक्त परिवार का ही समर्थन किया। गौतम दायभाग के नियमो का वर्णन करता हुआ कई वैकल्पिक व्यवस्थायें करता है। इनमें पहली यह है कि ज्येष्ठ पुत्र

---

५५. प्राचीन भारत के व्यापार तथा व्यवसाय के सम्वन्ध में निम्न ग्रंथ उपयोगी हैं:—मजूमदार—कारपोरेट लाइफ इन एंशेंट इण्डिया। एस० के० दास—इकनामिक कण्डीशन्स इन एन्शेंट इंडिया। राधा कुमुद मुकर्जी इण्डियन शिपिंग। हिन्दी में विभिन्न युगों के व्यापारिक, आर्थिक विकास के विवरण के लिए दे० जयचन्द्र विद्यालंकार—भारतीय इतिहास की रूप-रेखा दो खण्ड, सत्यकेतु विद्यालंकार—मौर्य साम्राज्य का इतिहास। वासुदेव उपाध्याय—गुप्त-साम्राज्य का इतिहास, दूसरा खण्ड। कृष्णदत्त वाजपेयी—भारतीय व्यापार का इतिहास।

सारी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बने। वही सवका भरण पोषण करे (गौ० ध० सू० २८।३)। शख भी भाइयो को यह सलाह देता है कि सब को इकट्ठा रहना चाहिए, इकट्ठा रहने से उनकी वृद्धि होती है। कौटिल्य का भी यही परामर्श है (३।५)[५६]। मनु की दाय भाग की कई व्यवस्थाओं में से एक यह भी है कि ज्येष्ठ ही सारे पैतृक धन को ग्रहण करे। जैसे पिता के अवलम्ब से पुत्र रहते है उसी प्रकार छोटा भाई वड़े भाई की सहायता से जीवन बिताये (मनु० ९।१०५)। मनु यद्यपि यह कहता है कि भाई चाहे, तो इकट्ठा रहे या धर्म की वृद्धि के लिए वटवारा कर ले (९।१११), किन्तु उसका पक्षपात और झुकाव सयुक्त परिवार की ओर है। ज्येष्ठ पुत्र की अध्यक्षता में संयुक्त कुटुम्ब का वह वडे विस्तार से वर्णन करता है (९।१०५-११०)। मनु की एक दूसरी व्यवस्था उसके सम्मिलित परिवार सम्वन्वी पक्षपात को सूचित करती है। आज यदि कोई भाई सयुक्त परिवार में रहना नही चाहता है, तो वह अपना हिस्सा लेकर अलग हो जाता है। मनु की व्यवस्था ऐसी नही है। वह अलग होनेवाले समर्थ भाई को नाममात्र का हिस्सा प्रदान करता है (९।२०७)। याज्ञ० भी इसी व्यवस्था को दोहराता है (२।११६)[५७]। ये विधान सयुक्त परिवार के प्रति उनकी सहानुभूति को प्रकट करता है।

पितृप्रधान परिवार का अन्त—सयुक्त परिवार का समर्थन करते हुए भी ये शास्त्रकार समय के प्रवाह को नही वदल सकते थे। वे संयुक्त परिवार के आदिम रूप पितृप्रधान परिवार के हामी थे। ऊपर हम देख चुके है कि मनु, कौटिल्य आदि ने पिता के जीवनकाल में पुत्र का सम्पत्ति पर कोई स्वत्त्व नहीं माना, उसकी जीवित दशा में पिता की अनुमति से पैतृक सम्पत्ति वँट सकती थी। (गौतम० २८।२, बौधा० धर्म सूत्र २।२।३।८); किन्तु इस युग में कुछ विशेष अवस्थाओ में पिता के होते हुए वँटवारा उचित माना गया। शंख ने कहा कि यदि पिता न भी चाहे, तो भी उसके बूढे, पागल (विपरीत चेतसि), और रोगी

---

५६. गौ० ध० सू० २८।३, सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् विभृयात्पितृवत्, शंख० (व्यक० १४०) कामं सहवसेयुरेकमताः संहताः वृद्धिमापद्येरन् कौटिल्य ३।५, पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठा कनिष्ठाननुगृह्णीयुरन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः।

५७. याज्ञ० (२।११६) शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद्दत्त्वा पृथक्क्रिया।

होने पर पुत्र सम्पत्ति का वटवारा कर सकते हैं[५८]। शनैः-शनैः यह सिद्धान्त भी माना जाने लगा कि पैतृक सम्पत्ति में, पिता के साथ, पुत्रो का भी समान रूप से स्वामित्व है। विष्णु ने सर्वप्रथम यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया[५९]। याज्ञ०, वृहस्पति और व्यास ने इसका समर्थन किया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस युग में पितृ प्रधान परिवार का अन्त हुआ; और साझेदारी (Coparcenary) वाले परिवार की पद्धति का प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इससे पहले युग में ही, पितृप्रधान परिवार, संयुक्त परिवार में परिवर्तित होने लगा था; किन्तु उस काल में, अभी तक पिता को पर्याप्त विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस काल के अन्तिम भाग में, पुत्रो के अधिकारो को स्वीकार करने से, पुरानी व्यवस्था का अन्त हुआ। सम्मिलित कुटुम्व में पिता पुत्र के अधिकारों में समानता मानी गई।

चौथी अवस्था (छठी शती से १६ वीं शती ई० तक)

छठी शती से हिन्दू परिवार में हमें एक स्पष्ट परिवर्तन दिखाई देता है। पेण्डुलम पहले विभाग की ओर जा रहा था; अव वह संयुक्त परिवार की दिशा की ओर वढने लगा। पिछली चार-पांच शतियो में, विभाग और पृथक् परिवार की प्रवृत्ति प्रवल हो रही थी। पिता के अविकारो के अपहरण तया स्वार्जित सम्पत्ति के नियमो से इसे पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था। संयुक्त परिवार के प्रति सहानुभूति रखते हुए भी, शास्त्रकारो को विभाग की व्यवस्था का समर्थन करना पडा। वे परिस्थितियो से विवश थे। छठी शती से परिस्थितियाँ वदलने लगी; और पारिवारिक व्यवस्था का पेण्डुलम सम्मिलित कुटुम्व-पद्धति की ओर झुकने लगा।

स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र संकुचित किया जाना—पेण्डुलम के परिवर्तन की सब से महत्त्वपूर्ण सूचना स्वार्जित सम्पत्ति की नई व्याख्याओ से

---

५८. मिता० २।११४, अकामे पितरि रिक्थविभागो वृद्धे विपरीतचेतसि रोगिणि च।

५९. विष्णु० १७।२ पैतामहे त्वर्थे पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम्। याज्ञ० २।१२१; भूर्या पितामहोपात्ता निवन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः। वृहस्पति—(दा० ४५-४६) द्रव्ये पितामहोपात्ते स्थावरे जंगमे तया। सममंशित्वमाख्यातं पितुः पुत्रस्य चैव हि, व्यास अप० २।१२१ क्रमागते गृहे क्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः।

मिलती है। पहले यह बताया जा चुका है, कि स्वार्जित सम्पत्ति का विचार किस प्रकार शुरू हुआ, और उसमें पृथक् परिवार और सयुक्त परिवार के विरोधी हितो का सामञ्जस्य स्थापित करने के लिए, यह शर्त लगाई गई, कि जो सम्पत्ति विना पैतृक धन लगाये कमाई गई है, उसपर कमानेवाले का पूर्ण वैयक्तिक स्वत्व होगा। इस युग के शास्त्रकारो ने इस शर्त की बडी उदार व्याख्या की। इस व्याख्या से स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र बहुत मर्यादित हो गया, और सयुक्त परिवार पर आये एक महान् सकट का निवारण हुआ।

स्वार्जित सम्पत्ति को दो मुख्य रूपो में बाँटा जा सकता था—(१) विद्या-धन—अपनी विद्या द्वारा प्राप्त किया गया, (२) शौर्यधन-अपनी वीरता और साहस से युद्ध आदि में जीता हुआ धन। कात्यायन ने विद्याधन को तथा व्यास ने शौर्यधन को अपने लक्षणो द्वारा बहुत संकुचित कर दिया। कात्यायन ने कहा यदि दूसरे व्यक्ति का अन्न खाते हुए विद्या का अध्ययन किया जाता है, तो उसका विद्या-धन अविभाज्य होगा[६०]; किन्तु यदि वह परिवार के व्यय से पला है तो उसका विद्या-धन सयुक्त परिवार की सम्पत्ति मानी जायगी। यह स्पष्ट है कि ९९.९% बच्चे अपने परिवार में पलते है। कात्यायन की व्याख्यानुसार विद्याधन पर उनका कोई अधिकार नही रहता। व्यास ने यही व्यवस्था शौर्यधन के विषय में की। उसने कहा, युद्ध में परिवार के रथ या तलवार का उपयोग करते हुए, जो धन प्राप्त किया जाता है, उसमें उसके भाई भी साझी-दार होते है। व्यास ने उसपर इतना अनुग्रह अवश्य किया है, कि इस सम्पत्ति में उसे दूसरे भाइयो से दुगुना हिस्सा दिया जाय[६१]। यह बड़ी विचित्र व्यवस्था थी। लडाई में मनुष्य अपने प्राणो को सकट में डालता है। व्यास की व्यवस्था-नुसार, प्राणो को सकट में डालने का कोई महत्त्व नही था; महत्त्व सिर्फ इस बात का था कि जान जोखिम में डालते वक्त उसके हाथ में तलवार या ढाल अपने घर की थी या अपनी वैयक्तिक कमाई से बनवाई हुई। प्राणो

---

६०. मिता० २।११९ परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु या। तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते।

६१. व्यास० दा० १०७, अप० २।११९ साधारणं समाश्रित्य यत्किंचिद्वाहनायुधम्। शौर्यादिनाप्नोति भ्रातरस्तत्र भागिनः। तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः।

की अपेक्षा तलवार की अधिक कीमत थी। व्यास की इस व्यवस्था का उद्देश्य स्पष्ट था। वह स्वार्जित सम्पत्ति के मूल पर कुठाराघात करना चाहता था। स्वार्जित सम्पत्ति का सयुक्त परिवार के साथ मौलिक विरोध है। संयुक्त परिवार, सम्पत्ति पर सामूहिक स्वत्व मानता है; और स्वार्जित सम्पत्ति का मौलिक मन्तव्य, वैयक्तिक स्वामित्व है। स्वार्जित सम्पत्ति, सम्मिलित कुटुम्ब की जड़ खोखला करती है। कात्यायन और व्यास ने, अपनी व्याख्याओ से, स्वार्जित सम्पत्ति की जड़ खोखली कर दी, और सयुक्त परिवार की अखण्डता को अक्षुण्ण रखा।

टीकाकारो में, श्रीकर, विज्ञानेश्वर आदि ने कात्यायन और व्यास की परम्परा का पालन किया। स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र परिमित करके सम्मिलित कुटुम्बपद्धति का समर्थन किया (देखिये १२वा अध्याय)। जीमूत वाहन ने यद्यपि स्वार्जित सम्पत्ति की उदार व्याख्या की है; किन्तु वह पिता को सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार देकर संयुक्त परिवार की पद्धति को, विघटन के भय से मुक्त करता है।

बारहवी शती से हिन्दू परिवार में दो विरोधी मत प्रचलित हुए—(१) विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित जन्मना स्वत्ववाद, (२) जीमूतवाहन द्वारा पिता के पूर्ण स्वत्व को मानने वाला उपरमस्वत्ववाद। पहला पक्ष यह मानता था, कि परिवार में जन्म ग्रहण करते ही, पुत्र का सम्पत्ति में स्वत्व, उत्पन्न हो जाता है। दूसरा पक्ष यह कहता था, कि पिता के मरने पर ही, पुत्रो को पिता की सम्पत्ति में अधिकार मिलता है। उसके जीवित रहने पर उनका पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नही। इन व्यवस्थाओं के अनुसार चलनेवाले परिवारो को, हम क्रमश. मिताक्षरा कुटुम्ब और दायभाग कुटुम्ब कह सकते हैं। इनका विस्तृत निर्देश ग्यारहवें अध्याय में किया जायगा। यहां यही कथन पर्याप्त है, कि दोनों पद्धतियो से, मध्यकाल में, संयुक्त परिवार-पद्धति को बड़ा प्रोत्साहन मिला। विज्ञानेश्वर पुत्रो का पैतृक सम्पत्ति पर जन्म से अधिकार मानता है; इस से पिता का अधिकार बहुत मर्यादित हो गया है। मिताक्षरा परिवार में, पिता यदि अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति का दान या विक्रय करना चाहता था; तो वह अपनी इच्छा से उसका यथेच्छ विनियोग नही कर सकता था; क्योंकि उस सम्पत्ति पर उसके पौत्र का भी अधिकार है[६२], वह पिता को इस कार्य में रोक

६२. याज्ञ० २।१२१ तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः।

सकता है; वह पिता द्वारा स्थावर सम्पत्ति के विक्रय या दान का निषेध करता है[६३]। स्थावर सम्पत्ति, भले ही व्यक्ति ने, अपने परिश्रम से कमाई हो; किन्तु सब पुत्रों से सलाह लिये बिना, वह उस सम्पत्ति का दान या विक्रय नही कर सकता था। विज्ञानेश्वर के इन प्रतिबन्धो का परिणाम, संयुक्त परिवार के सुदृढ होने के अतिरिक्त, कुछ नही हो सकता था। जीमूतवाहन ने पिता के पूर्ण अधिकार को स्वीकार किया। बगाल में, पिछले ७०० वर्षों में, संयुक्त परिवार की परिपाटी, पिता की प्रभुता में खूब फलती फूलती रही।

मध्य युग में संयुक्त परिवार के बढ़ने के कारण-नवीन परिस्थितियां : छठी शती में हिन्दू-समाज में एक मौलिक परिवर्तन हुआ। पिछली तेरह शतियो से वह प्रगतिशील नही रहा। पाँचवी शती के अन्त तक, भारत-वासी ज्ञान-विज्ञान, व्यापार-व्यवसाय आदि सभी क्षेत्रो में अन्य देशो से बहुत आगे बढे हुए थे। 'चरैवेति' का तथा सदा आगे बढ़ने का भाव उन्हे अनुप्राणित कर रहा था। किन्तु इसके बाद आर्यों के आश्चर्यजनक विकास में और अग्रगामिता में मन्दता आने लगती है; सभी क्षेत्रो में हम आगे बढना छोड़ देते है।

गुप्त युग में हूणो के जबर्दस्त हमले हुए। इनसे लडते-लडते गुप्त सम्राटों की शक्ति क्षीण हो गई। आठवी शती के प्रारम्भ में सिन्ध पर अरबो के आक्रमण प्रारम्भ हुए। ये लोग न केवल राजनैतिक विजेता थे, अपितु इस्लाम की ओजस्विनी और उग्र भावना से अनुप्राणित थे। महमूद गजनवी और शिहाबुद्दीन गोरी ने हिन्दू सेनाओ को परास्त किया। १३वीं शती के प्रारम्भ से दिल्ली में इस्लामी शासन कायम हुआ। अगले ५५० वर्षों में दिल्ली पर मुस्लिम-वश राज्य करते रहे। इस समय हिन्दुओ ने अपनी रक्षा के लिए कच्छप-वृत्ति का अवलम्बन किया। वे राजनैतिक प्रभुत्व खो चुके थे; किन्तु अपने धर्म और समाज की रक्षा के लिए उन्होंने जात-पात के बन्धनो को कड़ा किया।

हिन्दू-परिवार पर इन व्यवस्थाओ का गहरा प्रभाव पडा। उस समय हिन्दू-समाज का मूल मत्र था—स्थिरता, जड़ता और गतिशून्यता; उसमें महत्वाकांक्षा और आगे बढने की इच्छा का अभाव हो रहा था। सयुक्त परि-

---

६३. वहीं २।११३ स्थावरे स्वार्जिते पित्रा प्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। 'स्थावरं द्विपदं चैव यद्यपिस्वयमर्जितम्। असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न च विक्रयः ॥

चार के लिए यह स्थिति बडी अनुकूल थी। बाप-दादा की जायदाद छोडकर अन्यत्र नये स्थानो में जाने का साहस सामान्यतः नष्ट हो चुका था। बौद्ध, सातवाहन और गुप्त-युगों का समुद्री व्यापार बन्द हो गया। जब विदेश जाने पर जाति जाने का भय हो तो अपने गाँव में और कुटुम्ब में ही रहना चाहिए। 'पिता के कुंएँ का पानी चाहे खारा हो; किन्तु उसे ही पीना चाहिए'। स्वदेश भक्ति अच्छी है; परन्तु गाँव का मोह बुरी चीज है। मध्य काल में अपने गाव का मोह पराकाष्ठा तक पहुँच गया था। सयुक्त परिवार के पनपने का एक अन्य कारण उस समय की अशान्ति थी। कभी विदेशी राजाओं के हमले होते थे और कभी चोर-डाकुओ के। उस समय सेना और पुलिस के विशाल सघटन नही थे। 'सघे शक्तिः कलौ युगे' का मत्र आत्मरक्षा का प्रधान साधन था। एक बडा सयुक्त परिवार सुगमता से अपनी रक्षा कर सकता था; पृथक् परिवार आसानी से लूटा जा सकता था।

आर्थिक कारण—सयुक्त परिवार के बने रहने में आर्थिक कारणो ने भी बड़ा सहयोग प्रदान किया। मध्य युग में यातायात के साधन बहुत कम थे,, यात्रा करना बहुत संकटपूर्ण था। व्यापार और व्यवसायों की पिछले युगो की उन्नति समाप्त हो चुकी थी। लोग आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी ग्रामो में अपना जीवन बिताते थे। गावो से बाहर जाकर आजीविका कमाने की सुविधायें बहुत कम थी; अतः परिवार के सदस्य घर पर ही रहते थे। उस समय न केवल आत्मरक्षा के लिए संयुक्त परिवार में रहना अधिक उपयोगी था; किन्तु दाय भाग के नियमो से, खण्डशः विभक्त होनेवाली भूसम्पत्ति की रक्षा भी सम्मिलित कुटुम्ब से होती थी। उत्तराधिकार के नियमों के अनुसार, पुत्रों में, पिता की सम्पत्ति तुल्य रूप से बटती है। उस समय भूमि के अतिरिक्त, आजीविका के साधन बिल्कुल नाममात्र थे। यदि पृथक् परिवार बनाने के लिए भूमि या अन्य सम्पत्ति का बँटवारा होता, तो यह इतने छोटे-छोटे हिस्सो में विभक्त हो जाती कि परिवार के सब सदस्य भूखे मरने लगते। आज भारत में बँटवारे की प्रवृत्ति बढ़ने से आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी जोतों (Uneconomic Holdings) की भीषण समस्या पैदा हो गई है। मध्यकाल में, सम्मिलित कुटुम्ब की व्यवस्था चालू रहने से, परिवार की भूसम्पत्ति अखण्ड तथा अविभाज्य रहती थी; इसीलिए वह आर्थिक दृष्टि से उपयोगी थी।

संयुक्त परिवार की कुछ अन्य विशेषतायें भी उसे उपयोगी बनाये

हुए थी। इससे परिवार की सम्पत्ति, न केवल खण्डश. विभक्त होने से बचती थी; किन्तु सम्पत्ति का व्यर्थ में अपव्यय और नाश नही होता था। अल्प व्यय से ही बहुत बड़े कुटुम्ब का पालन होता था। पृथक् परिवार होने पर पृथक् घर बनाना पडता है, गृहस्थी का सारा सामान नये सिरे से जुटाना पड़ता है। संयुक्त परिवार में रहते हुए, सब लोग एक ही घर-गृहस्थी की सामग्री का उपयोग करते है; अतएव बहुत कम व्यय में अपना काम चला सकते है। इसमें रहते हुए कोई भूखा नही मर सकता था। आज हमें बेकारी की भीषण समस्या दिखलाई देती है। उस समय इसका कोई चिह्न नही था। परिवार के सदस्य बेकार होने पर भी परिवार के व्यय से पला करते थे। आज राज्य, अपने कार्यकर्त्ताओ तथा मजदूरो के बुढापे को सुखमय बनाने के उद्देश्य से पेन्शनो और बीमो की व्यवस्था करता है, निर्धनो के निर्वाह के लिए दरिद्रगृहो (Poor Houses) की व्यवस्था करता है, जहाँ वे काम करते है और भोजन पाते है; परन्तु उस समय संयुक्त परिवार द्वारा, यह व्यवस्था स्वाभाविक रूप से भली भाति सम्पन्न होती थी। बूढे, विकलाग तथा दुर्बल व्यक्ति को परिवार में उनकी क्षमतानुसार कोई कार्य दिया जाता था; और वे परिवार के सयुक्त व्यय से पलते थे, इसमें श्रम-विभाग (Division of Labour) का सिद्धान्त काम करता था। परिवार के सदस्य अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार कार्य करते हुए भरण-पोषण पाते रहते थे। आज भी गाँवो के संयुक्त परिवार के सदस्यो से आर्थिक उत्पादन में बडी सहायता मिलती है। कृषको के परिवारो में शक्तिशाली पुरुष हल चलाते, बीज बोते, सिंचाई के लिए पानी खीचते तथा खलिहानो में दाँय चलाते है। फसल की कटाई में, उनकी स्त्रियाँ अपने परिवार की बड़ी मदद करती है। इस समय मजदूर बहुत मँहगे होते है, घर के प्राणियो का सहयोग मजदूरो के भारी खर्च को बचा देता है[६४]। उनके बच्चे पशु चराने,

६४. वर्तमान समय में इस कारण की महत्ता अलग्योझा (मान सरोवर प्रथम भाग) नामक कहानी में प्रेमचन्द ने दिखाई है। मुलिया अपने पति रग्घू को जबर्दस्ती अपने भाइयों से अलग करवाती है। अपने भाइयों से अलग होने पर, खेती के लिए कड़ी मेहनत से, कुछ वर्षों में उसकी अकाल मृत्यु होती है। मुलिया की गोद में दो बच्चे है। उनको संभालते हुए, खेती का काम करना बड़ा मुश्किल था। उसकी दुर्दशा का

इंधन और खाद वटोरने का काम करते हैं। इसी प्रकार लुहार, वढई, चमार आदि कारीगरों के परिवारो में हम स्त्रियो, वच्चो और पुरुषो को मिलकर कार्य करता हुआ देखते है। संयुक्त परिवार मध्य युग में कम खर्च में अधिक आर्थिक उत्पादन करता रहा है।

अन्य कारण--सम्मिलित कुटुम्व, परिवार के अनाथो और विधवाओं का शरणस्थल रहा है। किसी वच्चे के लिए सव से वड़ा दुर्भाग्य अनाथ होना है। स्त्री के लिए वैधव्य से वढकर कोई दुख नही है। इन दोनो का परित्राण संयुक्त परिवार से होता था। यह इनके लिए सुरक्षित और सम्मानपूर्ण आश्रय था। वच्चो को भीख नही मांगना पडती थी और स्त्रियो को पेट भरने के लिए सतीत्व वेचने की आवश्यकता नहीं होती थी[६५]।

इन सव कारणो से मध्य काल में हिन्दू समाज में संयुक्त परिवार की पद्धति का चरम विकास हुआ। पहले वगाल में पचास और अस्सी प्राणियो वाले विशाल संयुक्त परिवारो का उल्लेख हो चुका है। यही स्थिति अन्य प्रान्तो मे भी थी। पिछली शती में मद्रास में सामान्य रूप से ऐसे परिवार मिलते थे जिनमे स्त्री पुरुषो और वच्चो की सख्या सौ तक पहुँच जाती थी[६६]।

वर्तमान युग

आजकल सयुक्त हिन्दू परिवार में विघटन की प्रवृत्तियां प्रवल हो

वर्णन करते हुए प्रेमचन्द ने लिखा है--"सारी खेती तहस-नहस हो रही थी, उसे कौन संभालेगा। अनाज की डांठ खलिहान में पड़ी थीं। ऊख अलग सूख रही थी। वह अकेली क्या क्या करेगी? फिर सिंचाई अकेले आदमी का तो काम नहीं? तीन-तीन मजूरों को कहां से लाये? गांव में मजूर थे ही कितने? आदमियों के लिए खींचा-तानी हो रही थी। क्या करे क्या न करे", पृष्ठ २२। उसकी खेती की वरवादी सास से न सही गई। सास की समझदारी से अलग्योझा टूट जाता है और दोनों घर एक हो जाते हैं।

६५. प्रेमचन्द्र ने इसी पहलू को स्पष्ट करते हुए (अलग्योझा मानसरोवर, पृष्ठ २३) अनाथ होने पर परिवार में पोषण पाये एक पात्र केदार से कहलवाया है--भैया ने न जिलाया होता तो आज या तो मर गये होते या कहीं भीख मांगते होते। विधवा स्त्रियों के लिए देखिये सुभागी (मानसरोवर पहला भाग) वालक (वही दूसरा भाग)।

६६. चिन्तामणि--इंडियन सोशल रिफार्म, मद्रास १९०१, पृ० १२७।

रही है। सम्मिलित कुटुम्ब को परिस्थिति के कठोर आघात सहन करने पड़ रहे हैं। उसके पुराने स्तम्भो की नीवें खोखली हो रही है। क्या उनके कमजोर होने पर सयुक्त परिवार का विशाल प्रासाद धराशायी हो जायेगा? इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर देने से पहले विघटन के प्रेरक तत्त्वो की मीमासा आवश्यक प्रतीत होती है।

इस समय सयुक्त परिवार के दुर्ग पर प्रवल आक्रमण हो रहा है। औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से आर्थिक उत्पादन की प्रक्रिया में मौलिक परिवर्तन हो गये है। देश में तेजी से उद्योगों का विकास हो रहा है। शहर वस रहे हैं; गांव उजड रहे हैं। मध्य युग में परिवार जिन परिस्थितियो के कारण पोषण और वृद्धि पा रहा था, उन सव का अन्त हो रहा है। न केवल संयुक्त परिवार के किले की नीव परिवर्तित परिस्थितियो से खोखली हो रही है; किन्तु नये विचारो का डायनामाइट भी, उस दुर्ग की जीर्ण-शीर्ण दीवारो को भूमिसात् करने की तय्यारी कर रहा है।

विघटन के उपादान। (क) नवीन आर्थिक परिस्थितियां—मध्ययुग में यातायात की असुविधा, यात्राओ के भारी खतरे, कृषि से भिन्न पेशो का अभाव मनुष्य को संयुक्त परिवार में रहने के लिये वाधित करता था; अव यातायात के साधनो का विकास हो गया है, यात्रा करना पहले से अधिक सुगम और निरापद हो गया है। आजीविका के लिए व्यापार, व्यवसाय, शिक्षा, कानून, डाक्टरी आदि नये-नये पेशे वन रहे है। पहले परिवार से पृथक् होने पर कमाई के अवसर और साधन वहुत कम थे; आज उनकी संख्या वहुत वढ गई है। शहरो के कारखानो में अधिक वेतन का आकर्षण है। मजदूरी आदि से पेट भरने के सैकड़ों मौके है। इनसे लाभ उठाने के लिए गाँवो के हजारों व्यक्ति शहरो में आते है। इस तरह निम्न वर्ग के हिन्दू परिवार में विघटन हो रहा है। मध्यवर्ग और उच्च वर्ग के लोग नौकरियो और व्यापार के सिलसिले में शहरो में वसते है। सरकारी नौकरी करनेवालो को अपने सयुक्त परिवार से पृथक् होना पड़ता है। यही हाल व्यापार तथा डाक्टरी आदि पेशे करनेवाले व्यक्तियो का है। वे एक स्थान पर इकट्ठे नही रह सकते। सरकारी तवादले और व्यापार के चक्कर पिता को पुत्र से और छोटे भाई को वड़े भाई से अलग कर देते है।

जीवन सघर्ष की उग्रता भी उन्हें अलग होने के लिए विवश करती है।

गांवो के पुराने कुटीरोद्योग औद्योगिक प्रतिस्पर्धा से नष्ट हो रहे है। प्राचीन गृह व्यवसायो का स्थान कल कारखाने ले रहे है। इससे जुलाहो, कुम्हारो आदि शिल्पियो मे बेकारी और भुखमरी वढ रही है । कृषि से उनका पोषण नही हो सकता। कृषि पर जीनेवाले किसानो की सख्या पहले ही वहुत अधिक है। पढे-लिखे लोगो के लिए भी देहात में किसी नौकरी या व्यापार की सुविधा नही है। उनके लिए शहरों में जाना अनिवार्य हो जाता है। पहले पुरुष अपने परिवार से पृथक् होकर शहर में जाता है। जब वह आजीविका कमाने लगता है; तो अपने परिवार को वहाँ वुला लेता है। उसमें यह इच्छा होना स्वाभाविक है, कि अपने गाढे पसीने से पैदा की गई कमाई पर उसका पूरा स्वत्व हो, उसका उपभोग उसका ही परिवार करे। यदि वह उदारतावश इस घन को, गाँव में बसे अपने संयुक्त परिवार को प्रदान करता है, तो यह स्थिति देर तक नही चलती। पत्नी यह नही देख सकती कि पति पसीना वहा कर कमाई करे; और परिवार के अन्य प्राणी उससे गुलछर्रे उडायें। जीवन सघर्ष की उग्रता उसे इस वात के लिए वाधित करती है, कि वह उस धन का अत्यन्त सावधानी से उपयोग करे। जब वह देखती है, कि सयुक्त परिवार मे उसके द्रव्य का दुरुपयोग होना अनिवार्य है, तो वह पति को पृथक् होने के लिए वाध्य करती है। संयुक्त परिवार के पक्षपाती भले ही इसे स्त्रियो की स्वार्थ वुद्धि कहे; किन्तु वर्तमान आर्थिक सघर्ष को देखते हुए, उन्हे इसके लिए दोष नही दिया जा सकता। परोपकार करना साधु-महात्माओ का काम है; हम प्रत्येक स्त्री से यह आशा नही कर सकते, कि वह अपने वच्चो और पति से भिन्न प्राणियो को अपनी सम्पत्ति लुटा देने के लिए तैयार होगी। इस अवस्था में सयुक्त परिवार का भंग होना आवश्यक है।

कृषि प्रधान युग में, आर्थिक उत्पादन की इकाई परिवार होता है। उस समय परिवार प्रायः स्वावलम्वी होता है। अपने उपयोग और उपभोग की वस्तुएँ वह अपने आप तैयार करता है। घर के लिए आवश्यक अन्न अपने खेत में पैदा किया जाता है, वस्त्रों के लिए कपास की खेती होती है। स्त्रियाँ कताई, वुनाई, सिलाई, घुलाई आदि के घरेलू काम करती है। लिंकन ने आदर्श प्रजातन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा था—जनता का, जनता द्वारा, और जनता के लिए शासन प्रजातन्त्र है। कृषि युग की आर्थिक व्यवस्था भी—कुछ इसी प्रकार की होती है। उसमें सारा आर्थिक उत्पादन, पारिवारिक सदस्यो द्वारा होता और उनके लिए होता है। इस अवस्था में संयुक्त परिवार

प्रथा खूब-फलती फूलती है। जितने अधिक प्राणी होगे; काम उतना अधिक होगा। एक जुलू से जब पूछा गया, कि वह दूसरी शादी क्यों करना चाहता है ? उसने उत्तर दिया—मेरी पहली पत्नी के वीमार होने पर रोटी कौन वनायेगा। परन्तु जव मशीनो का निर्माण होता है; तो इस परिस्थिति में मौलिक परिवर्तन आ जाता है। मनुष्यो का काम मशीनें करने लगती है; उनके द्वारा वनी चीजे अधिक टिकाऊ और सस्ती होती है। इनसे मेहनत वच जाती है, जो कपड़ा पहले घर में वुना जाता था, वह मशीनो से तैयार होने लगता है। अन्तिम अध्याय में इस प्रक्रिया का विस्तार से उल्लेख होगा। एक-एक करके घर के सव काम मशीनो से होने लगते हैं; उस समय परिवार आर्थिक उत्पादन की इकाई नही रहता। वहुत से प्राणियो के रहने से वह, आर्थिक दृष्टि से उपयोगी होने के वजाय, भार प्रतीत होने लगता है। इस अवस्था में परिवार से वाहर, कल-कारखानो में आजीविका के साधनो का विकास होने से, संयुक्त परिवार का विघटन तथा पृथक् परिवारो का निर्माण होने लगता है। समाज में जब व्यापार और व्यवसाय की उन्नति होने लगती है, और विभिन्न सदस्यो को स्वतन्त्र रूप से कार्य करने के मौके मिलते रहते हैं, तो परिवार का पुराना स्वरूप भग होने लगता है। वर्तमान समय में पश्चिम जगत् में परिवार क्रमश. छोटा हो रहा है।[६७] भारत के शहरो में यह अवस्था उत्पन्न हो गई है; अतः यहाँ संयुक्त परिवार का भंग हो रहा है।

(ख) पश्चिम की नई विचार धारायें—व्यष्टिवाद—पश्चिम के साथ सम्पर्क में आने के वाद, वहाँ के आचार विचार, हिन्दू जीवन के सभी पहलुओ पर गहरा प्रभाव डाल रहे है। यहाँ केवल परिवार पर प्रभाव डालने वाले विचारों का उल्लेख किया जायगा। पूर्व और पश्चिम में एक मौलिक मतभेद है। पश्चिम में मनुष्य के अधिकारो पर वहुत वल दिया जाता है; पूर्व में कर्त्तव्यो पर। पश्चिम का सारा प्रयत्न इसी दिशा में है, कि व्यक्तियो के स्वत्वो को सुरक्षित वनाया जाय; पूर्वी सभ्यतायें इस वात पर जोर देते हुए नही थकती, कि प्रत्येक मनुष्य को अपने दायित्व को पूर्ण करना चाहिए। फ्रास की राज्यक्रान्ति को जन्म देनेवाले वाल्तेयर और रूसो आदि विचारको ने तारस्वर से यह घोषणा की थी, कि मनुष्य कुछ स्वत्वो के साथ उत्पन्न

---

६७. सेलिगमैन—प्रिंसिपल्ज़ आफ् इकनामिक्स, (दशम संस्करण १९२३) पृष्ठ ८९

होता है; उन की रक्षा होनी चाहिए। भारतीय शास्त्र यह कहते है कि मनुष्य जन्म लेते ही तीन ऋणोवाला होता है; उसे अपने जीवन में माता, पिता, गुरु और समाज के इन ऋणो को अवश्य चुकाना है। पश्चिम में जव कोई नया शासन विधान वनता है तो उसमें मानवीय अधिकारो की घोपणा अवश्य की जाती है। संयुक्त राज्य अमरीका के घोपणा-पत्र मे यह कहा गया है—हम इन वातो को स्वयं सिद्ध सत्य मानते है कि सव मनुष्य समान पैदा किये गये है, भगवान् ने उन्हे कुछ अविच्छेद्य (Inalienable) अधिकार प्रदान किये है। भारत में कुछ दूसरी वातो को स्वयं सिद्ध सत्य माना गया है। यहां अविच्छेद्य अधिकारो के स्थान पर अविच्छेद्य दायित्वों के पालन का आदेश दिया गया है। गृहपति का यह कर्त्तव्य है कि वह पंच महायज्ञ और अतिथियो की सेवा करे; पोप्य वर्ग का पालन करे। हमें शास्त्रो में व्यक्ति के कर्त्तव्यो का विशद वर्णन उपलव्व होता है; किन्तु स्वत्वो का उल्लेख कम मिलता है।

पश्चिम में मुख्य रूप से व्यक्ति के दो अधिकारों पर वड़ा वल दिया जाता है—(१) स्वतन्त्रता का अधिकार, (२) समानता का अधिकार। भारत के नये सविधान में इन्हे मौलिक अधिकारों के रूप में स्वीकार किया गया है। निरंकुश राजाओ, स्वच्छन्द सामन्तो और और असहिष्णु धर्माधिकारियों ने योरोप को मध्य युग में दासता की शृंखलाओ में जकड़ रखा था। १७८९ में फ्रांस की जनता ने इन जंजीरों को तोड़ा; व्यक्ति के अधिकारो पर वल देने वाले व्यष्टिवाद की प्रधानता हुई। भारत, में यह समझा गया था कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्त्तव्यो का पालन करना चाहिए; पश्चिम में अधिकारों पर वल दिया गया। इन दोनो अतियो (Extremes) में महान् दोप है। यदि अधिकारो पर वहुत वल दिया जाय, तो अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, समाज अणुशः विघटित हो जायेगा। पश्चिमी देशो की आन्तरिक अशान्ति और कलह का एक वड़ा कारण वैयक्तिक अधिकारो पर अत्यधिक वल देना है। दूसरी ओर समष्टिवाद में सामाजिक कर्त्तव्यो पर वल देने का परिणाम यह होता है, कि वैयक्तिक स्वातन्त्र्य का भाव विल्कुल नष्ट हो जाता है; मनुष्य मशीन का एक पुर्जामात्र रह जाता है। आदर्श व्यवस्था में व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का सामञ्जस्य होना आवश्यक है।

सयुक्त परिवार में, समष्टिवाद की भावना प्रधान है। प्रत्येक व्यक्ति

परिवार के सामूहिक हित के लिए यत्न करता है, अपनी सारी कमाई इसी कार्य के लिए अर्पित करता है, सुव्यवस्था के लिए परिवार के मुखिया के अनुशासन में रहता है। पहले यह कहा जा चुका है कि सयुक्त परिवार एक निरकुश राजतन्त्र है, परिवार के सब सदस्यो को 'कर्त्ता' से दवकर रहना पड़ता है, किन्तु स्वतन्त्रता, समानता के नवीन भावो से अनुप्राणित, उच्छृखल और विद्रोही युवक वृद्ध पुरुषो के दवैल बनकर क्यो रहे। 'सफेद बाल, सिकुडी खाल और पोपले मुहवाले गृहपतियो और गृहपत्नियो के कठोर अनुशासन के दिन लद रहे हैं[६८]। मध्ययुग में, धर्म और श्रद्धा के वातावरण में, पालन-पोषण पाने के कारण सास वहू इकट्ठी रहती थी; आज ऐहिक (Secular) शिक्षा ग्रहण कर, समानाधिकार और स्वतत्रता के विचारो से ओतप्रोत होकर, जब वहुएँ सयुक्त परिवार में जाती है, तो नूतन और पुरातन का घोर सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। इस से मुक्ति का उपाय पृथक् परिवार है। सयुक्त परिवार में रहने के लिए त्याग, तपस्या, बलिदान, आत्मा-नुशासन और परोपकार की भावनायें आवश्यक है; वर्तमान सुखवादी, भौतिक सम्यता के वातावरण में प्राय: स्त्री पुरुषो में इन भावनाओ का ह्रास हो रहा है। इस परिस्थिति में सयुक्त परिवार का विघटन स्वाभाविक है।

(ग) पश्चिमी कानून—ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद भारत में अंग्रेजी अदालतें अपने निर्णयो द्वारा सयुक्त परिवार-पद्धति के विघटन में सहायक सिद्ध हुई है। विज्ञानेश्वर व जीमूतवाहन ने, हिन्दू परिवार को सयुक्त बनाये रखने के लिए, अनेक उपयोगी व्यवस्थायें की थी। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति की अत्यन्त सकुचित व्याख्या करके, इस कारण से उत्पन्न होनेवाले विघटन को रोकने का यत्न किया। उसने पैतृक सम्पत्ति में पुत्रो का जन्म से स्वत्व माना। इसका परिणाम यह हुआ कि पिता को अपने पुत्रो से अनुमति लिये विना पैतृक सम्पत्ति के अपहार (Alienation)—का कोई अधिकार न रहा। 'कर्ता' को भी इस अपहार का अधिकार नही था। जीमूतवाहन ने पैतृक सम्पत्ति पर पिता को पूर्ण अधिकार दिया;

---

६८. सिनेमा देखनेवाले नवयुवक 'रोमांस' के स्वप्न लेते हैं। ये रोमांस संयुक्त परिवारों में संभव नहीं हैं (मद्रास की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट, पृष्ठ ३४१)

किन्तु उसके यथेच्छ विनियोग पर पाबन्दियां लगाई (१३वा अध्याय देखिये)। दोनों शास्त्रकारो की व्यवस्था का परिणाम यह हुआ, कि पैतृक सम्पत्ति का अपहार रुक गया। वह सम्पत्ति अविभक्त ही रहने लगी। ब्रिटिश युग तक यही स्थिति रही। इस युग में पैतृक ऋणो के सम्बन्ध मे ब्रिटिश न्यायालयो ने, अंग्रेजी कानून के न्याय (Equity) के सिद्धान्त को, हिन्दू समाज पर लागू किया। पिता के ऋण-ग्रस्त होने पर, न्यायालयो द्वारा उपर्युक्त सिद्धात के अनुसार, महाजन को ऋण वापिस दिलाये जाने की व्यवस्था आवश्यक थी। इस के लिए अदालतो ने प्राय: पिता को पैतृक संपत्ति के बँटवारे के लिए वाध्य किया जितने भाग से उसके ऋण का भुगतान हो सकता था, उतने भाग पर उधार देने वाले महाजन का अधिकार स्वीकार किया[६९]। यह स्पष्ट है कि इस अवस्था मे बँटवारा किसी हिस्सेदार के कहने पर नही होता, किन्तु एक महाजन के ऋण को चुकाने के लिए होता है। वर्तमान समय में न्यायालय किसी भी ऋणी हिस्सेदार के अविभक्त भाग का महाजन को कर्जा चुकाने के लिए बटवारा करा सकते है[७०]। मद्रास और बम्बई के फैसलो के अनुसार अब इस व्यवस्था को एक निश्चित कानून समझना चाहिए कि सयुक्त परिवार का कोई भागीदार स्थावर तथा जगम दोनो प्रकार की पैतृक सम्पत्ति मे अपने अविभक्त हिस्से को बेच सकता है तथा रेहन रख सकता है[७१]। इसका परिणाम यह हुआ कि संयुक्त सम्पत्ति में हिस्सेदारो को सहस्वामित्व (Co-ownership) प्राप्त हो गया है।

सयुक्त परिवार एक निकाय या कारपोरेशन है, इसमें में कोई वैयक्तिक अधिकार नही होता। परिवार कारपोरेशनो की तरह सनातन और अविनश्वर होते हैं। परिवार की परिवार के रूप में कभी मृत्यु नही होती। उसके पुराने सदस्य मारते है और नये पैदा होते है किन्तु परिवार की सामूहिक सत्ता मे कोई अन्तर नही आता। मिताक्षरा में सम्पत्ति परिवार की होती है। इस परिवार के सदस्य जन्म और मृत्यु से निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। अत. मिताक्षरा व्यवस्था मे शासित हिन्दू-परिवार सर हेनरी मैन के

---

६९. कृष्णकमल भट्टाचार्य—ज्वाइण्ट फैमिली इन हिन्दू ला पृ० ५५०-५१

७०. दीन दयाल बनाम जगदीश ३ कल० १९८ प्रि० कौं०

७१. वन्दास बनाम यमुना बाई १२ बं० हा० को० २२९

सुन्दर शब्दो में रक्त सबन्ध रखनेवाले व्यक्तियो का एक कारपोरेशन है[७२]। न्यायालयो के उपर्युक्त निर्णयो से संयुक्त परिवार की इस विशेषता का अन्त हो गया। श्री राधाकमल मुकर्जी ने ठीक ही लिखा है कि 'इस प्रकार सयुक्त परिवार एक वहुत महत्त्वपूर्ण विशेषता खो रहा है। सयुक्त कुटुम्व वर्तमान समय में न्यायालयो द्वारा प्रोत्साहित की जानेवाली व्यष्टिवादी प्रवृत्तियो का शिकार वन रहा है[७३]। आयकर कानून ने संयुक्त परिवार के विघटन को बहुत प्रोत्साहित किया है।

(घ) अन्य कारण—श्री सरकार ने इस पद्धति के विघटन का एक वड़ा कारण अग्रेजी शिक्षा व उससे उत्पन्न स्वार्थान्धता को माना है। "यह वात ध्यान देने योग्य है कि संयुक्त परिवार के व्यय से, शिक्षा पाने तथा सयुक्त परिवार का लाभ उठानेवाले, अग्रेजी पढे-लिखे, हिन्दू युवक इतने स्वार्थान्ध हो जाते है, कि वे परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्यो को पालन करानेवाले हिन्दू कानून से असन्तुष्ट रहते है। परिवार से प्राप्त अनेक लाभों के वदले, वे परिवार को कुछ नही देना चाहते। किसी पेशे, व्यवसाय या नौकरी के कारण, जव उन्हे किसी दूसरे स्थान पर रहना पड़ता है तो वे अपनी स्त्री और वच्चों को सयुक्त परिवार में रखते है; उस समय वे या तो अपने परिवार की देख-भाल में स्वयं असमर्थ रहते है, या इस वात को वहुत असुविधा-जनक समझते है, कि वे जिस शहर में काम करने है, वहाँ अपने परिवार को भी ले

---

७२. राधाकमल मुकर्जी—प्रिंसिपल्ज़ आफ़ कम्पैरिटिव इकनामिक्स, पृ० २३-२४

७३. वही-वहीं पृ० २७; इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दू उत्तराधिकार और रिक्यहरण की पद्धतियों से संयुक्त परिवार की प्रथा टूट रही है। प्रत्येक पुत्र को जन्म ग्रहण करते ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकार मिल जाता है; हमारे आर्थिक जीवन पर इसका बड़ा घातक प्रभाव पड़ता है। पारिवारिक भूसम्पत्ति वहुत छोटे-छोटे किन्तु आर्थिक दृष्टि से अनुपयोगी खण्डों में वट जाती है। भूमि से अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में दादा भाई नौरोजी ने ठीक ही लिखा है, कि पारिवारिक पूंजी जब इस हालत में पहुँचती है, कि इसे आसानी से किसी कार्य में लगाया जा सके, तो वह वंट जाती है। इससे अंशहर निर्धन हो जाते है, अथवा उन्हें व्यवसाय में पूंजी लगाने के लिए आवश्यक धन नये सिरे से जुटाना पड़ता है।

जायं। वास्तव में वे संयुक्त परिवार के विना काम नही चला सकते, उन्हें इससे अपना सम्वन्ध विच्छिन्न करने की पूरी स्वतन्त्रता है; किन्तु वे ऐसा नही करते। संयुक्त परिवार का लाभ उठाते हुए भी वे अपनी आय को संयुक्त परिवार में डालना नही चाहते"[७४]। इसमें कोई सन्देह नही, शहरो में छोटी नौकरियां करने वाले कई वार मकान न मिलने पर, या वहुत मँहगा मकान मिलने पर, अपनी स्त्री और वच्चे कस्वे या देहात में वसे अपने सयुक्त परिवार में छोडते है। आर्थिक दृष्टि से उनके लिये यह व्यवस्था उपयोगी है। इस व्यवस्था का लाभ उठाते हुए उन्हे परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए।

किन्तु उनकी स्वार्थान्धता को विघटन का एक मात्र कारण वताना उनके साथ अन्याय है। कई वार शिक्षित व्यक्तियो के सयुक्त परिवार से विघटन का कारण यह भी होता है, कि सयुक्त परिवार मे रहते हुए, उन्हे आलसी और निठल्ले पड़े रहनेवाले, दूर के रिश्तेदारों को पालने के लिए वाध्य होना पड़ता है। वे अपने वूढे माता-पिता और भाई-वहिनो को पालने के लिए तैयार हैं; किन्तु जव उन्हे दिन भर मक्खी मारने वाले संवन्धियों को पालना पड़ता है, तो उनके धैर्य का वाध टूट जाता है। अपने धन को दुरुपयोग से वचाने का एक ही उपाय है, कि वे सयुक्त परिवार से अलग हो जांय[७५]।

संयुक्त परिवार पद्धति की हानियां (क) अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि--उपर्युक्त कारणो से हिन्दू समाज मे संयुक्त कुटुम्वो का विघटन हो रहा है। वर्तमान समय में इस पद्धति से उत्पन्न होनेवाली हानियां भी इस प्रथा के भंग में सहायक हो रही है। संयुक्त परिवार की खूविया अव खामियाँ वन रही है। इनसे देश के आर्थिक विकास में वड़ी वाधा पड रही है। संयुक्त परिवार की एक वड़ी खूवी यह थी, कि इस व्यवस्था मे वेकार होने पर कोई भूखा नही रह सकता था। यूरोप में वेकारो को काम देने और आजीविका के अभाव में भूखे मरने से वचाने के लिए सार्वजनिक निर्धन गृहो (Poor Houses) की स्थापना की जाती है; हिन्दुस्तान के दरिद्र गृह सयुक्त परिवार हैं। इनमें परिवार के निर्धन व्यक्तियो का पालन-पोषण होता रहता है।

---

७४. गोलापचन्द्र सरकार–हिन्दू ला, पृ० २४२

७५. मद्रास की १९३१ ई० जनगणना रिपोर्ट, पृ० ३४१

प्राचीन काल में यह व्यवस्था भले ही समाज के लिए हितकर रही हो; परन्तु वर्तमान समय में इससे समाज में अकर्मण्य, परोपजीवी, आलसी और निठल्ले पुरुषो की ही वृद्धि होती है। सयुक्त परिवार में पलने वाले निठल्ले पुरुषो की जनगणना नही हुई; किन्तु यह निर्विवाद सत्य है, कि इस पद्धति ने हजारो अकर्मण्य व्यक्तियो का पोषण किया है। सयुक्त परिवार की व्यवस्था इस प्रकार की है, कि उसमें अकर्मण्यता को प्रोत्साहन मिलता है। श्रम करनेवाले को अपने परिश्रम के अनुरूप फल नही मिलता। चार सौ रुपया महीना कमानेवाला, दो सौ रुपया मासिक उपार्जन करने वाला और घर पर मक्खियाँ मारनेवाला—तीनो समान रूप से परिवार के सयुक्त द्रव्य से भरण-पोषण पाते है। यह ठीक है कि अधिक कमानेवाले को परिवार में ऊँची स्थिति मिलती है। उसकी पत्नी और वच्चो की ज्यादा कद्र होने लगती है; किन्तु वडे-वड़े धनी कुटुम्वों में ऐसे व्यक्तियो की कमी नही; जो अपना सारा समय खाने-सोने और वच्चा पैदा करने में ही व्यतीत करते है; इस वर्ग के लोग शिक्षित समझदार और चतुर होने के कारण समाज-सुधार व्यापारिक विकास, औद्योगिक उन्नति, शिक्षा प्रसार आदि के कार्यो में वडा सहयोग प्रदान कर सकते है; उनके पास जनता की सेवा के लिए समय है ज्ञान है, धनी कुल में जन्म लेने से वे आर्थिक चिन्ताओ से मुक्त है; परिश्रम करके, वे समाज-सेवा के लिए अपने में क्षमता उत्पन्न कर सकते है; किन्तु उन्हे एक ही व्यवसाय से प्रेम है, और वह है देश में अपने जैसे निकम्मे स्त्री-पुरुषो की वृद्धि करना। न केवल वे निकम्मे होकर देश को नुकसान पहुँचाते है; अपितु अकर्मण्य सन्तान उत्पन्न करके वे देश को दुहरी क्षति पहुँचाते है[७६]।

यह आपत्ति उठायी जा सकती है, कि यदि संयुक्त परिवार का भंग होगा तो हिन्दू-समाज के वहुत से लोग भूखे मरने लगेंगे, उनके लिए दरिद्र गृहो की स्थापना करनी पड़ेगी। यह एक वडी गलतफहमी है। जो काम नही करता, उसे भूखा मरना ही चाहिए। जो काम करना चाहता है; उसे कभी भूखा मरने का डर ही नही। यदि हमें दरिद्र गृहो की स्थापना करनी ही पडे; तो भी वे वर्तमान सयुक्त परिवार से लाख दर्जे वेहतर होगे। इस समय सयुक्त परिवार में दिया जानेवाला दान, इसे देनेवाले और लेनेवाले, दोनो को

---

७६. भटनागर—वेसेज आफ इकनामिक्स पृ० ९३

हानि पहुँचा रहा है। देनेवाला उसे लाचारी में और बुडबुडाते हुए देता है; और लेनेवाला उससे आलसी बनता है। समाज इनकी कार्य-शक्ति के उपयोग से वंचित हो जाता है। काटन ने सयुक्त परिवार के इस पहलू की विवेचना करते हुए कहा है—'मैं समझता हूँ, कि आपका यह अनुमान गलत है, कि यदि परिवार के व्यय से पलनेवाले निठल्ले पुरुषो को पारिवारिक सहायता से वंचित कर दिया जाय, तो ये भिखारी बन जायेंगे और समाज को इनका बोझ उठाना पड़ेगा। योरोप के भिखारीपन और भारत की गरीबी की समस्याओ में कोई सादृश्य नही है। अकाल आदि आपत्तियों के न होने पर सामान्य समय में भारत का भिखारी इग्लैण्ड के भिखारी जैसा नही है। वह ऋतुओ और प्रकृति की निष्ठुरता के कारण जीवन के लिए आवश्यक द्रव्यों की सख्या अधिक है; उन्हे प्राप्त करना अधिक व्यय साध्य है। भारत में ऐसी परिस्थिति नही है। यदि संयुक्त परिवार भग हो जाय तो मुझे देश में भिखारियो के बढने का कोई भय नही है। मुसलमानो में ऐसी कोई पद्धति नही है, किन्तु उनमें इस तरह का भिखारीपन नही है। ये निठल्ले तो पहले से भिखारी है, इनके भिखारी बनने का कोई डर नही है। इन्हे काम करने के लिए बाधित किया जाना चाहिए, सयुक्त परिवार के होने से उन्हे काम करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती[७७]। काटन के इन वाक्यों में बड़ी सचाई है कि संयुक्त परिवार दरिद्रो की समस्या हल करने के स्थान पर अकर्मण्य तथा परोपजीवी पुरुषोकी वृद्धि कर रहा है।

(ख) व्यक्तित्व के विकास में बाधक होना—संयुक्त परिवार में व्यक्तित्व के विकास के लिए कोई मौका नही मिलता। प्रायः बचपन से परतन्त्र और परोपजीवी रहने से, परिवार के सदस्यो में अपने पैरो पर खड़े होने की हिम्मत नही होती। संयुक्त परिवार की प्रशसा में यह कहा जाता है, कि इस पद्धति मे उच्चतम कोटि का मानसिक विकास होता है; इसमें रहता हुआ मनुष्य आत्मसयम, सहानुभूति, धैर्य, कष्टसहन, आत्म-त्याग और बलिदान का पाठ पढता है[७८]। इसमें सन्देह नही कि वह इन उदात्त शिक्षाओ को ग्रहण करता है; किन्तु स्वावलम्बन का सब से बडा पाठ पढने का परिवार में कोई स्थान नही। वह

---

७७. इण्डियन सोशल रिफार्म, पृ० १३६

७८. सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४२

अपनी आत्मा का विकास और वैयक्तिक योग्यताओ को भी वृद्धि नही कर सकता। एक निरकुश सत्ता के नीचे रहते हुए उसका विकास कैसे सभव हो सकता है ? जातिभेद ने नीच कुल में उत्पन्न व्यक्तियो की योग्यताओ को बुरी तरह कुचला है। एक लेखक के मत में "यह जगन्नाथ विशाल रथ है, असीम वैयक्तिक प्रतिभा इस रथ के भारी चक्रो से चूर्णित हुई है, संयुक्त परिवार इसी रथ का लघु रूप है, 'कर्त्ता' के अनुकूल या वश में न रहनेवाले व्यक्तियो का विकास इस रथ के पहियो के नीचे कुचला गया है। उनकी योग्यताओ को पददलित किया गया, उनमें विकास पानेवाली महत्त्वाकांक्षाओ पर तुषारपात किया गया, उनकी आशाओ और अभिलाषाओ का मर्दन किया गया, क्योकि सयुक्त परिवार का सदस्य होने के कारण उनपर अनेक महान् उत्तरदायित्व थे, उन को निवाहते हुए, वे अपने विश्वासो और आकाक्षाओ के अनुकूल आचरण नही कर सकते थे; यदि यह सामाजिक पद्धति न होती, तो देश में लोकोपकारी कार्यकर्त्ता, समाजसुधारक और देशभक्त बहुत अधिक होते"[७९]। सयुक्त परिवार में मुखिया और बड़े पुरुषों को तो परिवार का भार सम्हालने से ही फुर्सत नही, जिससे कि वे समाज की समस्याओ की ओर ध्यान दे सकें; छोटे व्यक्तियो को इतने कठोर अनुशासन में रहना पडता है कि उनकी योग्यताओ का विकास सभव नही होता। वैयक्तिक स्वाधीनता सामाजिक प्रगति का एक महत्त्वपूर्ण उपादान है; संयुक्त परिवार में इसका कोई स्थान नही है।

(ग) **स्त्रियों की दुर्दशा**—सयुक्त परिवार मे स्त्रियो का कई कारणो से अध:पतन हुआ है। दुर्भाग्यवश हिन्दू-समाज में स्त्रियो का प्रधान कार्य था पाक; और पुरुषो का काम था—परिपाक। एक गुजराती कहावत का आशय है—पुरुष का जीवन, खाट से उठकर भोजन की चौकी पर बैठने, और भोजन की चौकी से उठकर खाट पर लेटने में व्यतीत होता है (खाटला थी पाटला; पाटला थी खाटला)। बड़े सयुक्त परिवार में जब दर्जनो व्यक्तियो के लिए रसोई बनती है, और हर एक अलग-अलग समय पर तवे से उतरती रोटी खाना चाहता है तो स्त्रियो को इस कार्य से कैसे फुर्सत मिल सकती है ? अत: अपने बौद्धिक और मानसिक विकास के लिए उनके पास कोई समय नही बचता। संयुक्त परिवार में दाम्पत्य प्रेम के

---

७९. इंडियन सोशल रिफार्म, पृ० १३३

विकास का कम अवसर है। पति-पत्नी, इतनी कृत्रिम और अस्वाभाविक परिस्थितियों में मिलते है, कि उनमें प्रेम का विकास तो दूर की बात है; मामूली परिचय भी कम होता है[८०]। सयुक्त परिवारो में पहले ऐसे दम्पति भी होते थे, जो कई सन्तान होने के वाद भी एक दूसरे को नही पहचानते थे।

आज-कल शिक्षित स्त्रियाँ पुरुषों को अपनी परतन्त्रता और उत्पीड़न का प्रधान कारण समझती हैं; किन्तु संयुक्त कुटुम्ब ने हिन्दू परिवार में स्त्रियो का जितना उत्पीड़न किया है, वैसा भयंकर अत्याचार शायद ही पुरुषों ने स्त्रियो पर किया हो। स्त्रियों को पतियो ने इतना नही सताया; जितना उनकी सजातीय सासो ने। एक आधुनिक युवती की इस उक्ति में वहुत सत्य है, कि सयुक्त परिवार की प्रथा सास के अत्याचार का मूल कारण है; इसीलिए यह अनेक तरुणियो के दु.ख का हेतु होती है[८१]। एक दूसरी युवती ने इस पहलू पर प्रकाश डालते हुए लिखा है "मैं संयुक्त परिवार से घृणा करती हूँ, इसमें स्त्री अपना व्यक्तित्व विल्कुल खो देती है, पुत्र वधुओ की कोई वात नही सुनी जाती, अपने वच्चो के पालन में भी उनका कोई वस नही चलता, अनेक अवस्थाओ मे वे यन्त्रवत् कार्य करने वाली परिवार की दासियां मात्र है[८२]। एक अन्य युवती का मत है— संयुक्त परिवार में निभाव करने के लिए अत्यधिक शान्त प्रकृति की आवश्यकता है, स्त्री को इसमें सव से अधिक दु ख सहना पड़ता है, दुर्भाग्य से यदि उसका पति नही कमाता, तो उसकी अवस्था वहुत दयनीय हो जाती है। उस समय उसके साथ दासी का-सा व्यवहार किया जाता है, उसे किसी वात की स्वतन्त्रता नही होती। उसका जीवन अविरत सेवा का एक दीर्घ काल होता है[८३], उसके दुःखो का अन्त एक पृथक् परिवार में ही हो सकता है।

(घ) कलहों का केन्द्र—श्री सरकार ने लिखा है, कि संयुक्त परिवार में पले हिन्दू ऐसे स्वर्ग की कल्पना नही कर सकते, जहां संयुक्त कुटुम्व न हो[८४]।

---

८०. राजेन्द्रप्रसाद—आत्मकथा पृ०

८१. मर्चेण्ट—के० टी०—चेंजिग व्यूज़ आन मैरिज एण्ड फैमिली (बी० जी० पाल एण्ड कं० मद्रास १९३५) पृ० १४७

८२. वही—वही, पृष्ठ १४६

८३. वही—वही पृष्ठ १४६-४७

८४. सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४२

यह उक्ति उन सम्मिलित परिवारो के लिए अक्षरश. सत्य है, जिनमें कोई कलह नही होता; किन्तु जिनमें झगड़े होते हैं, उनके लिए यह कहना अधिक सत्य है कि ऐसे सम्मिलित परिवार में पले हिन्दू ऐसे नरक की कल्पना नही कर सकते, जहाँ सयुक्त परिवार न हो। सम्मिलित कुटुम्व में पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से अनेक प्रकार के झगडे होते हैं। इन दैनिक विवादो और कलहो से सयुक्त परिवार का जीवन वडा दु खमय और नारकीय वन जाता है। श्री घोष ने एक बगाली सयुक्त परिवार का चित्र खीचते हुए लिखा है—'अधिकतम अवस्थाओं में एक बगाली का सुखमय गृह (Sweet Home) अनन्त विह्वलताओ और क्लेशो का स्रोत होता है। जिन दीवारो में सयुक्त परिवार के वुद्धिमान् और प्रतिभा शाली व्यक्तियो को रहना पड़ता है, यदि उनसे प्रश्न किया जाय तो वे बड़ी करुण कथा कहेगी। उन दीवारो ने कितने ही प्राणियो के अजस्र अश्रु-प्रवाह देखे हैं, कितनों की दु खपूर्ण निराशा भरी ठडी आहो को सुना है; वे दीवारें विफल हुए, फिर शुरू किये गये और पुन. विफल हुए अनेक सघर्षों की साक्षी हैं। वीर आत्मायें किसी के आगे घुटने नही टेकना चाहती; उन दीवारो ने उन्हे अनिच्छा से घुटने टेकते देखा है। हिन्दू परिवार ने उनके हृदय में धधकनेवाली ज्वाला के अनेक स्फुलिंगो को दवा डाला है, अनेक उच्च योजनाओ को कब्र में दफना दिया है। कई वार झगड़े का कारण प्रतिष्ठासम्बन्धी छोटी-सी वात होती है, कई वार धन के हेतु और आज्ञापालन व सत्ता के प्रश्न का झगड़ा उठ खड़ा होता है। इसमें शक नही कि कई वार खुल्लमखुल्ला लडाई वन्द हो जाती है; किन्तु परिवार की यह शान्त दशा सशस्त्र तटस्थता की तरह होती है। परिवार में शान्ति उन्ही अवस्थाओ में होती है, जव सब लोग लडते-लड़ते थक गये हो, या अगले मोर्चे की तैयारी कर रहे हो, या शत्रु को वलवान् समझकर चुप हो तथा अनुकूल अवसर ढूढ रहे हो"[८५]। अन्य प्रान्तो के मध्य वर्ग के शिक्षित, शहरी तथा पश्चिमी रग-ढग से प्रभावित संयुक्त परिवारो के सम्वन्ध में वंगाली परिवार का उपर्युक्त वर्णन सोलह आना सही है। इस दुनिया मे यदि किसी को नरक का दर्शन करना हो, तो वह एक झगडालू संयुक्त परिवार को देख ले। इसका यह आशय नही है कि सभी सयुक्त परिवार भीषण कलहो के केन्द्र वने हुए है। तात्पर्य केवल इतना ही

---

८५. एन० घोष—कृष्टो दासपाल, पृ० १४६-४७

है कि संयुक्त परिवारो में पृथक् परिवारो की अपेक्षा झगडे बहुत अधिक होते हैं। परिवार के सदस्यो का बहुत-सा उपयोगी समय और शक्ति इन के करने या सुलझाने में नष्ट होती है। घरेलू कलहो का एक बडा दुष्परिणाम मुकद्दमेबाजी की वृद्धि है। इससे पारिवारिक सम्पत्ति चौपट हो जाती है; रिश्तेदारो के प्रेम-सम्बन्ध बिल्कुल नष्ट हो जाते हैं।

(ङ) अन्धाधुन्ध सन्तानोत्पादन--सयुक्त परिवार से हमारे समाज की एक बडी हानि अन्धाधुन्ध सन्तानोत्पादन की है। सयुक्त परिवार के सदस्य को स्वावलम्बी और आत्म-निर्भर होने की आवश्यकता नही होती। विवाह के बाद, भले ही वह परिवार की आर्थिक सम्पत्ति में वृद्धि न करें; किन्तु प्राणियो की सख्या मे अवश्य वृद्धि करता है। पृथक्-परिवार मे, अपनी सीमित आय से निर्वाह करनेवाला दम्पति इस बात का पूरा यत्न करता है, कि उसके परिवार में उतनी ही सन्ताने हो, जिनका वह भली भाति पालन कर सके। संयुक्त परिवार में इस प्रकार की दूरदर्शिता की कोई आवश्यकता नही; देहाती हिन्दू-परिवारों में कुछ अन्य कारणो से भी इस कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। धार्मिक दृष्टि से पुत्र का होना आवश्यक है, पुत्र नही होगा तो पितर भूखे मरेंगे[८६]।

आर्थिक दृष्टि से संयुक्त परिवार का एक यह भी दुष्परिणाम है, कि इससे सम्पत्ति क ाशनै.-शनैः ह्रास हो जाता है। कई बार सयुक्त परिवार की जमीनो तथा जायदादो में सुधार करने के लिए पूजी लगाने की आवश्यकता होती है। यह तब तक नहीं लगाई जा सकती, जब तक परिवार के सब सदस्यो की सहमति न मिल जाय। प्राय: यह सहमति नही मिलती और परिवार की जायदाद नष्ट होती रहती है।

संयुक्त परिवार के लाभ--संयुक्त परिवार की प्रथा से हिन्दू-समाज मे अकर्मण्यता की वृद्धि हुई है, व्यक्ति का विकास अवरुद्ध हुआ है, स्त्रियो की घोर दुर्दशा हुई है, पारस्परिक कलह और मुकद्दमे बाजी को खूब प्रोत्साहन मिला है, हमारे देश की निर्धनता बढी है। इन दुर्गुणो के कारण यह प्रथा हिन्दू-समाज के लिए हानिकारक सिद्ध हुई है। किन्तु इन खामियो के होते हुए भी, इसकी खूबियो की ओर से आँख

---

८६. राधाकमल मुकर्जी फौन्डेशन आफ इंडियन इकनामिक्स, पृ० १६-१७

मूद लेना अच्छा नही। वचपन में यह एक शिक्षणालय है, इसमें लडके उदारता, सहिष्णुता सेवा, दूसरो के साथ मिलकर रहने और काम करने का पाठ पढ़ते हैं, उनमें सकुचित स्वार्थ की भावना उत्पन्न नही होती। युवावस्था मे यह युवको के आचरण पर दृष्टि रखता है, उन्हें मार्गभ्रष्ट होने से वचाता है, आत्मसयम और नियन्त्रण का पाठ पढाता है, स्वार्थ-वुद्धि के स्थान पर परोपकार की भावना से कार्य करना सिखाता है। वृद्धावस्था में यह शान्ति-दायक विश्राम स्थल है। आर्थिक दृष्टि से भी यह उपयोगी है, थोडी आयवाला व्यक्ति सयुक्त परिवार में वड़ी अच्छी तरह गुजारा कर सकता है। इसमे वृद्ध पुरुषो के अनुभव से लाभ उठाने का मौका मिलता है। विधवाओ का यह एकमात्र शरणस्थल है। वृद्धावस्था तथा अन्य सकटो के लिए यह वीमा जैसी उपयोगी सस्था है। वीमारी व प्रसव आदि मे सयुक्त परिवार से वडी सहायता मिलती है। वेकारी और भुखमरी को रोकने के लिए यह एक अत्यन्त प्रभावजनक सामाजिक व्यवस्था है।

सयुक्त परिवार की इन विशेषताओ पर वल देते हुए अनेक विद्वानो ने इस प्रथा की वहुत प्रगसा की है, इसे जीवित रखने पर वल दिया है, इसका विघटन करनेवाली आधुनिक परिस्थितियो की तीव्र निन्दा की है। वे इस प्रथा को हिन्दू-समाज के लिए वाञ्छनीय समझते है। श्री सरकार ने लिखा है—'हिन्दू समाज की प्राण गक्ति का मूल यही पद्धति है। यह हिन्दुओ के धार्मिक और आध्यात्मिक चरित्र का आधार है। हिन्दू चरित्र की सभी उदात्त और उत्तम विशेपतायें इसी व्यवस्था का परिणाम है। हिन्दुओ को इस प्रथा का सरक्षण करना चाहिए। उन्हे इस पद्धति के साथ चिपटे रहना चाहिए'[८७]। दूसरी ओर ऐसे उग्र सुधारको की भी कमी नही है, जो इस निर्वीर्य पद्धति के संरक्षण के लिए अपनी गक्ति का अणुमात्र भी नष्ट करना नही चाहते[८८], इसे सव वुराइयो की जड़ समझते है, इसका अविलम्व नाश हिन्दू-समाज के लिए हितकर मानते है, इसकी हानि का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—प्राय इसका अध्यक्ष अपने वच्चो के प्रति पक्षपाती होता है। उन्हे ऊँची गिक्षा देता है, किन्तु दूसरे वच्चो का भविष्य वरवाद कर देता है। इससे पारिवारिक झगड़े होते है। यह पद्धति अकर्मण्यो की वृद्धि करती है।

---

८७. सरकार—हिन्दू ला, पृ० २४३

८८. भटनागर—दी वेसेज आफ इण्डियन सोशल इकनामिक्स, पृष्ठ ९४

वर्तमान युग समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृत्व का युग है। इसमें एक व्यक्ति की निरंकुश सत्ता नही चल सकती। किसी ज़माने मे इसने खर्च घटाये होगे; आज यह कटुता बढा रही है।

संयुक्त परिवार का भविष्य--इन दोनो विरोधी दृष्टिकोणो मे से कौनसा सत्य है ? कोई व्यवस्था प्राचीन होने से मान्य नही होती, और नवीन होने से तिरस्करणीय भी नही होती। सभी सामाजिक सस्थायें ऐतिहासिक परिस्थितियो का परिणाम है। जब तक अनुकूल परिस्थितिया रहती है, उनका विकास और वृद्धि होती है; इनका अन्त होने पर इनका स्वयमेव उच्छेद हो जाता है। हिन्दू-समाज में संयुक्त परिवार के उत्पादक कारणो पर प्रकाश डाला जा चुका है, और यह भी बताया जा चुका है कि वर्तमान युग में उनका किस प्रकार अन्त हो रहा है। उपर्युक्त समीक्षा से हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि शहरो मे तथा हिन्दू-समाज के शिक्षित उच्च व मध्यवर्ग मे सयुक्त परिवार-प्रथा नष्ट हो रही है। भविष्य मे उद्योगीकरण की वृद्धि के साथ उसका विघटन और भी तेज़ी से होगा; किन्तु देहातो मे अभी तक इस प्रथा की उपयोगिता बनी हुई है। जब तक भारतीय कृषि और ग्रामीण उद्योगों मे मौलिक एव क्रान्तिकारी परिवर्तन नही होते, तब तक उनमे सयुक्त परिवार-प्रथा लड़खडाते हुए किसी प्रकार अपना अस्तित्व कायम रखेगी।

शहरो मे और शिक्षित समाज में इस प्रथा के लुप्त होने के कारण बिल्कुल स्पष्ट है, उन पर पहले विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है। शिक्षित जनता मे समानता, स्वतन्त्रता और व्यष्टिवाद की भावनायें है, ये संयुक्त परिवार की व्यवस्था पर कुठाराघात करनेवाली है। शहरो में आर्थिक संघर्ष की उग्रता, रहन-सहन के मानदण्ड की उच्चता, इस व्यवस्था मे बडी बाधक है। इन परिस्थितियो के होते हुए भी यह सभव है, कि पुरुष सयुक्त परिवार-प्रथा को किसी प्रकार निभा ले जाय; किन्तु स्त्रियो से यह आशा नही रखी जा सकती। समानाधिकारो के भावो से अनुप्राणित युवतियाँ सास की दासता मे रहने की अपेक्षा, पृथक् परिवार बनाकर रहना अधिक अच्छा समझती है। इस सम्बन्ध मे श्री मर्चेण्ट ने बडा उपयोगी अनुसन्धान किया है। उन्होने हिन्दू-विवाह और परिवार के सम्बन्ध मे युवको और युवतियों से अनेक प्रश्न पूछे थे। इनमें एक प्रश्न सयुक्त-परिवार के सम्बन्ध में था। युवको मे ४० ९%ने सयुक्त-परिवार के पक्ष मे राय दी और ४३.५% ने विरोध मे। युवतियों में

केवल १३·८ ने इस प्रथा का समर्थन किया और ७५% ने घोर विरोध[८९]। पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो का अधिक संख्या में इसका विरोधी होना सामाजिक दृष्टि से वडा महत्त्वपूर्ण है[९०]। इससे यह सूचित होता है, कि भविष्य में इन शिक्षित स्त्रियो के पतियो को वाधित होकर सम्मिलित कुटुम्व-प्रथा का परित्याग करना पडेगा। सयुक्त परिवार के विरुद्ध विचार रखनेवाली स्त्रियाँ जव विवाहित होगी, तो वे पृथक् परिवार वनाने पर वल देंगी, सयुक्त परिवार में

---

८९. मर्चेण्ट—चेंजिग व्यूज़ आन मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० १२२-२७।

९०. स्त्रियां पुराने जमाने से भाइयों में अलगाव कराती आई हैं। लक्ष्मण ने पंचवटी में सीता के कटुवचनो का उत्तर देते हुए कहा है—स्त्रिया भाइयों में फूट डालनेवाली होती हैं—विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः (रामा० ३।४५।२८)। वर्तमान समय में पाठक अपने चारो ओर के परिवारो में ऐसे उदाहरणों को आसानी से ढूंढ़ लेगा। आधुनिक हिन्दू-समाज को चित्रित करनेवाले कथा-साहित्य से भी स्त्रियों की प्रेरणा से वंटवारे के अनेक दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। शरच्चन्द्र की निष्कृति (शरत्साहित्य खण्ड, १) में मँझली वहू नयन तारा के कारण छोटी वहू को अलग हो जाना पड़ता है। प्रेमचन्द्र के अलग्योझा (मानसरोवर. पहला भाग) में नई वहू पन्ना चूल्हा अलग करवाती है। स्त्रियो के वंटवारा कराने तथा फूट डालने के कारणो पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है, स्त्रियां यह नहीं चाहती कि उनके पति की कमाई का कोई दूसरा उपभोग करे। आर्थिक दृष्टि से पुरुष पर अवलम्वित होने के कारण उसको यह आकांक्षा होना स्वाभाविक ही है। प्रेमचन्द्र की उपर्युक्त कहानी में इनका वड़ा सरस वर्णन है। "मुलिया मैके से जली-भुनी आई थी। मेरा शौहर छाती फाड़कर काम करे और पन्ना रानी वनी बैठी रहें। उसके लड़के रईसजादे वने घूमें। मुलिया से यह वर्दाश्त नहीं होगा। वह किसी की गुलामी नहीं करेगी। अपने लड़के तो अपने होते नहीं; भाई किसके होते हैं। जव तक पर नहीं निकले, घेरे हुए हैं, ज्योंही सयाने हुए तो पर झाड़कर निकल जायेंगे, वात भी नहीं पूछेंगे"। स्त्रियों के झगड़े और वँटवारे का कारण वच्चे भी हुआ करते हैं। 'दो भाई' (प्रेम पूर्णिमा) में, आपस में घनिष्ठ प्रेम रखनेवाले दो सगे भाई केदार और माधव में, विवाह होने पर मनमुटाव होता है। दुर्भाग्यवश केदार निःसन्तान है, माधव की कई सन्तानें हैं; इससे यह नौवत आई कि दोनों के चूल्हे अलग हो गये।

रहने से इकार करेगी। ये स्त्रिय. सयुक्त परिवार का सब से बड़ा दोष यह समझती है कि इनमे स्त्रियो को सास आदि के अत्याचारो से बुरी तरह पीड़ित होना पड़ता है, अपने व्यक्तित्व को कुचलकर, चेरी बनकर सेवा करनी पडती है। बम्बई की एक शिक्षित स्त्री के मत में सयुक्त कुटुम्ब एक अभिशाप है, व्यक्ति के विकास मे यह महत्तम बाधा है, स्त्रियो की समानता और स्वतन्त्रता का यह घोरतम शत्रु है, पितृसत्तात्मक प्रणाली का एक निरर्थक अवशेष है[९१]। ऊपर इन विचारो का विस्तार से उल्लेख हो चुका है। स्त्रियों के इन विचारो के कारण शिक्षित वर्ग में और विशेषकर ऐसे घरो में, जहाँ पत्नियाँ पढी-लिखी हैं; सयुक्त परिवार का भंग आवश्यक समझना चाहिए।

देहातो मे सयुक्त परिवार-प्रथा को विघटित करनेवाले आर्थिक परिवर्तन कम हुए हैं। वहा अभी तक कृषि का प्राधान्य है। गाँवो मे अकेले आदमियो को कृषि करने में बडी कठिनाई होती है। सयुक्त परिवार मे लड़ाई-झगडा होने पर भी किसानी का काम सरल हो जाता है। एक साथ रहनेवाले चार भाई, अलग रहनेवालो से अधिक समृद्ध होते है। राधाकमल मुकर्जी ने वर्तमान ग्रामीण जगत् के आर्थिक दृष्टि से सहयोगी होने का बडे विस्तार से वर्णन किया है[९२]।

प्रेमचन्द्र ने 'अलग्योझा' मे सयुक्त परिवार के आर्थिक महत्त्व का एक यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। देहातो में अभी तक वे सब परिस्थितियां अनेक अशो में बनी हुई है, जिन परिस्थितियो ने मध्ययुग मे हिन्दू-समाज में सयुक्त परिवार को कायम रखा था। जब तक ये परिस्थितियाँ रहेगी, सयुक्त परिवार की पद्धति बनी रहेगी।

हम चाहे, या न चाहे; सयुक्त परिवार का विघटन हो रहा है। पृथक् परिवारो की संख्या बढ रही है, किन्तु क्या सयुक्त परिवार का पूर्णरूप से लोप हो जायेगा ? क्या हिन्दू-समाज में इसका प्रभाव बिल्कुल क्षीण हो जायेगा ? ऐसा प्रतीत होता है, कि सयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी कई दृष्टियो से, यह प्रथा हिन्दू समाज को काफी समय तक प्रभावित करती रहेगी। बगाल में, शिक्षित वर्ग में सयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी, भाई अपने वृद्ध माता-पिता और मूल परिवार की आर्थिक सहायता करते हैं, त्यौहारो

---

९१. मर्चेण्ट—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृष्ठ १४६

९२. राधाकमल मुकर्जी—फौण्डेशन आफ इकनामिक्स, पृ० २९-३२

पर तथा अन्य सामाजिक उत्सवो पर इकट्ठे होते है; घर में न रहते हुए भी अपने परिवार की अखण्डता को कायम रखने का यत्न करते हैं[९३]। मद्रास में भी यही स्थिति है। थीट्स ने लिखा है, निराशावादी यह कह सकते है, कि सयुक्त परिवार-पद्धति क्षीण हो गई है; इसमें सन्देह है कि यह पद्धति निराशावादियो की कल्पनानुसार दुर्बल हुई है[९४]। कई बार हम पश्चिमी रग में रगे हुए व्यक्तियो के ऊपरी परिवर्तन से भ्रान्त परिणाम निकाल बैठते हैं, यह आवश्यक नही कि जिसने धोती को छोडा है, वह हिन्दू रीति-नीति को भी छोड बैठा हो, प्राय. वस्तु-स्थिति उल्टी होती है[९५]। यह परिवर्तन केवल कपडो, वाहरी वेष-भूषा और रहन-सहन तक ही सीमित रहता है। जव घर के महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठते है तो उनका निर्णय प्राचीन प्रथाओ के अनुसार होता है। पश्चिमी शिक्षा का पिछले सौ वर्षों का प्रभाव हिन्दू धर्म में

---

९३. आसाम की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट (पृ० ३०) में संयुक्त परिवार के तेजी से टूटने पर बड़ा सन्देह प्रकट किया है। आसाम में विघटन की प्रक्रिया बड़ी मन्द है। बंगाल की १९३१ की जनगणना रिपोर्ट, पृ० ४०१

९४. मद्रास की जन-गणना रिपोर्ट, पृ० ३४१

९५. इसका एक बड़ा कारण स्त्रियों का रूढि प्रेम है। पुरुष भले ही क्रान्तिकारी विचारों को अपनायें; स्त्रियां प्रायः प्राचीन परम्पराओं को अक्षुण्ण रखती हैं। आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व आपस्तम्ब ने अपने धर्मसूत्र की समाप्ति पर लिखा था, कि यदि (इस ग्रन्थ में बतलाये धर्मों के अतिरिक्त) किसी धर्म में सन्देह हो, तो स्त्रियो से पूछकर निर्णय कर लेना चाहिए। (स्त्रीभ्यः वर्णेभ्यश्च धर्मशेषान्प्रतीयादित्येके इत्येके २।११।२९।१५)। बूढ़ी औरतें हमेशा समाज को पुरानी लीक पर चलाने का यत्न करती हैं। मद्रास की जन-गणना रिपोर्ट में तंजोर के एक व्यक्ति ने यह ठीक ही लिखा है—स्त्रियां प्राचीन प्रथा की कभी न समझौता करनेवाली संरक्षिका (Unbending Custodians) हैं। वर्तमान हिन्दू-समाज में जब तक यह स्थिति जारी रहती है; तब तक ऊपर से भले ही कितने परिवर्तन हों, किन्तु हिन्दूसमाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हो सकता (मद्रास की जनगणना रिपोर्ट, १९३१, पृ० ३४२)। किन्तु स्त्रीशिक्षा के प्रसार से इन परिवर्तनों की संभावना बहुत बढ़ रही है।

जाति-भेद का पूर्ण उच्छेद नही कर सका, विवाह के समय जातपात के बन्धन का काफी ध्यान रखा जाता है। जब तक हिन्दू-समाज मे विवाह के समय जाति के नियम का पालन किया जाता है, उस समय तक, सयुक्त परिवार का विघटन होने पर भी, इसका पर्याप्त प्रभाव बना रहेगा। बंगाल की तरह शेष भारत में, परिवार के सदस्यों के अलग-अलग होने पर भी, उनमे पारिवारिक अखण्डता की भावना बनी रहेगी।

सयुक्त परिवार के विशाल प्रासाद के विघटन के सम्बन्ध मे, हमें एक बात का अवश्य ध्यान रखना चाहिए। काल के आघात से उसकी नीवें कमजोर हो गई है, खम्भे टूट रहे है, छत गिरने की तैयारी है। उसकी नये सिरे से मरम्मत असम्भव है। नई इमारतो का बनना अनिवार्य है। किन्तु इन्हें बनाते समय, प्राचीन प्रासाद की ईंट, मिट्टी, चूने का उपयोग अवश्य होना चाहिए। पुराने संयुक्त परिवार की विशेषताओ और गुणो को, हमें नये कुटुम्ब में कायम रखना चाहिए। परिवार में निठल्लो को पालना घोर अपराध है; किन्तु इन्हे परिवार से निकालते समय हम इतने व्यष्टिवादी और स्वार्थपरायण न बन जाय कि अलग घर बनाने पर, अपने मरते भाई की भी मदद न करें। पश्चिम का व्यष्टिवाद, गला घोटनेवाली प्रतिद्वन्द्विता मे आस्था रखता है; सयुक्त हिन्दू परिवार समष्टि के कल्याण को अपना परम ध्येय मानता है। पहले मे व्यक्ति की सफलता घोर स्वार्थी होने मे है; और दूसरे का आदर्श परम परोपकारी होने में है। एक मे व्यक्तित्व का उद्दाम विकास है, दूसरे में इसका प्रबल अवरोध है, हमें इन दोनो अतियो में सामंजस्य स्थापित करने का यत्न करना चाहिए। सहयोग के पुराने गारे से प्रतिद्वन्द्विता की नई ईंटों को जोड़ना चाहिए। सहानुभूति, सहृदयता और आत्मत्याग के भावो से पृथक् परिवार के नये भवन का निर्माण करना उचित है। सम्बन्धियों को सारा धन लुटा देने की उदारता या परोपकार नही होना चाहिए, किन्तु आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता न करने की निष्ठुरता भी उचित नही है। दधीचि के अस्थिदान का त्याग न हो; परन्तु शाइलाक की मास कटवाने की क्रूरता भी अभीष्ट नही है। इन दोनो अतियों से बचते हुए मध्य मार्ग का अवलम्बन व्यष्टि एव समष्टि दोनो के लिए हितकर है।

तीसरा अध्याय

पति

पति की प्रभुता के विकास की तीन अवस्थायें—सखा युग—अर्धांश-कल्पना—गुरु युग—देवता युग—पति की प्रभुता के सामान्य कारण—विशेष कारण-देवता युग की समाप्ति—पति की प्रभुता का स्वरूप—वध का अधिकार—यथेच्छ विनियोग का अधिकार—मदयन्ती का दान—द्रौपदी को दाव पर रखना—पत्नी दान पर प्रतिवन्ध—ताड़न का अधिकार—अधिवेदन तथा भार्या त्याग के अधिकार-भार्या त्याग के कारण—अधिवेदन पर प्रतिवन्ध—पति के कर्त्तव्य—पत्नी का भरण—भार्योपजीवी की निन्दा—भरण की व्यवस्था का मूल कारण—पत्नी का रक्षण —रक्षा के उपाय—पत्नी के साथ उत्तम व्यवहार—स्त्रीजितो की निन्दा के कारण।

पति की प्रभुता के विकास की अवस्थायें—पिछले दो हजार वर्ष से, हिन्दू परिवार मे पति का स्थान सर्वोच्च रहा है। महाकवि कालिदास के शब्दो मे पति को स्त्रियो पर सर्वतोमुखी प्रभुता है[1]। प्राय यह समझा जाता है कि यह स्थिति अनादि काल से चली आ रही है; किन्तु वस्तुत. ऐसा नही है। पति को यह प्रभुता, हिन्दू परिवार में शनै शनै. तथा कुछ विशेष परिस्थितियो से प्राप्त हुई है। इसका विकास निम्न अवस्थाओं में से होकर गुजरा है—(१) सखा युग—यह वैदिक युग के आरम्भ से लगभग ६०० ई० पू० तक रहा। इसमें पति पत्नी का अर्धांश, सखा तथा उसके समान अधिकार रखनेवाला था। (२) गुरु युग (६०० ई० पू० से लगभग २०० ई० पू० तक) इसमें पति को कुछ परिस्थितियो के कारण पत्नी के गुरु बनने का कार्य सम्हालना पडा। ऐसा होने पर पति-पत्नी के सख्यभाव और समानता का अन्त हो गया; पति का दर्जा ऊँचा हुआ और परिणामत. पत्नी की स्थिति हीन हुई। (३) देवता युग (२०० ई० पू० से १९०० तक)—पति इस काल मे गुरु से ऊँचा उठकर देवता बना। आजकल समानता और स्वतन्त्रता की प्रगतिवादी विचार-धारा से, नूतन सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियो

---

१. शाकु० ५।२६ उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।

से, नवीन संविधान तथा नये कानूनो के प्रभाव से देवता युग का अन्त होकर समानता की पहली दशा पुनः स्थापित हो रही है। उपर्युक्त युगो का वर्गीकरण गौतम की छठी श० ई० पू० का तथा मनुस्मृति की दूसरी शती ई० पू० का मानते हुए, इन कालो की मुख्य प्रवृत्तियो के आधार पर किया गया है। २०० ई० पू० से वर्तमान समय तक के काल को देवता युग कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि इस युग मे पतियो को प्रधान रूप से देवता का पद प्राप्त था। यद्यपि इस काल मे ऐसे उदाहरणो की कमी नही, जिनमे हिन्दू पत्नियो ने पतियो के बराबर दर्जा पाया। सखा-युग मे सभी पत्नियां पति के समान अधिकार रखती हो, सो बात नही; किन्तु अधिकाश इस स्थिति का उपभोग करती थी।

सखायुग (६०० ई० पू० तक)—इस समय पति पत्नी एक दूसरे के सखा (साथी या मित्र) थे[२], उनके स्वत्वो और सामान्य कार्यों मे कोई बड़ी विषमता या भेद नही था। वैदिक युग में दोनो का सामूहिक नाम दम्पती था, ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे इस शब्द का काफी प्रयोग हुआ है[३], इसका अर्थ है दम अर्थात् घर का स्वामी। इससे सूचित होता है कि दोनो का घर पर समान रूप से स्वत्व था। मैकडानल और कीथ ने लिखा है—'यह शब्द ऋग्वेद के समय स्त्रियो की उच्च स्थिति का बोधक है' (वैदिक इंडेक्स १।३४०)।

ऋग्वेद मे दम्पति द्वारा एक साथ मिलकर अनेक कार्य करने का उल्लेख है। वे दोनो 'एक मन,' होकर सोम रस निकालते थे, उसे शुद्ध करते थे; यज्ञ, दान, देवताओ को हवि देने, उनकी स्तुति तथा कामसुखोपभोग की क्रियायें करते थे (८।३१।५-९)। इससे यह स्पष्ट है कि उस समय पति पत्नी यज्ञादि धार्मिक तथा अन्य सासारिक कार्य संयुक्त रूप से करते थे।

अर्धांगिनी की कल्पना—वैदिक युग में पति पत्नी की समानता की पुष्टि, इन दोनो का अभेद प्रतिपादन करनेवाले तथा पत्नी को पति का आधा हिस्सा माननेवाले अनेक सदर्भों से होती है। ऋ० ५।६१।८ मे भार्या के पति

---

२. ऐत० ब्रा० ३३।१ सखा ह जाया; मि० महाभा० १।७४।४० भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

३. ऋ० ५।३।२, ८।३१।५, १०।१०।५, १०।६८।२, १०।८५।३२; अथर्व० ६।१२३।३, १२।३।१४, १४।२।९।

का आधा अग (नेम) होने का सकेत है । तै० सं० (६।१।८।५) के अनुसार पत्नी निश्चय से अपने शरीर का अर्ध भाग है (अर्धो वा एष आत्मनो यत्पत्नी मि० तै० ब्रा० ३।३।३।५) । शतपथ ब्रा० (१४।४।२।४-५) ने इसकी पूरी व्याख्या करते हुए यह बताया है—'प्रजापति ने अपने को द्विधा विभक्त कर पति पत्नी बनाये, अत. ये दाल'के दाने के आधे हिस्से (अर्ध वृगल) की भाति हैं'[४] । इस प्रकार पति पत्नी केवल समान ही नही, किन्तु एक ही वस्तु के दो भाग और एक ही शरीर के दो अंग थे । अतएव प्रत्येक यज्ञ कार्य में दोनो का सहयोग आवश्यक था । वाजपेय यज्ञ में स्वर्गा-रोहण के प्रतीक यूप की सीढ़ी पर चढता हुआ यजमान, अपनी पत्नी को भी आरोहण के लिये बुलाता है; क्योकि "पत्नी निश्चय से शरीर का आधा भाग है; अत. जब तक वह अपनी पत्नी को (स्वर्गलोक मे) प्राप्त नही कर लेता, तब तक वह सन्तान नही पैदा करता, उस समय तक वह अधूरा है[५] ।" इससे स्पष्ट है कि शतपथकार के मत मे यजमान पत्नी के बिना स्वर्गलोक में भी नही जाना चाहता, एकाकी रूप से वह द्युलोक के फल को अपने लिये वांछनीय नही समझता[६] । पति पत्नी के अभेद और समानता का यह बहुत उच्च आदर्श है ।

परवर्तीकाल में समानता का आदर्श—सखा युग समाप्त हो जाने पर भी, शास्त्रकार इस बात को विस्मृत नही कर सके कि पारिवारिक जीवन का सर्वोत्तम आदर्श समानता है । आप० ध० सू० के मत में पाणिग्रहण से पति-पत्नी सब कर्मों को मिलकर करते हैं, उनका पुण्यफल और संपत्तिग्रहण

---

४. श० ब्रा० १४।४।२।४-५ तथा बृह० उप० १।४।३ स हैतावानास यथा स्त्रीपुमांसौ संपरिष्वक्तौ । ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम् । तस्मादर्ध-वृगलमिव स्वः इति ह स्माऽऽह याज्ञवल्क्यः ।

५. श० ब्रा० ५।२।१।१० स रोक्ष्यन् जायामामन्त्रयते । जायऽएहि स्वो-रोहावेति रोहावेत्याह जाया । तद्यज्जायामामन्त्रयतेऽर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया, तस्माद्यावज्जायां न विन्दते नैव तावत्प्रजायतेऽसर्वो हि तावद्भवति ।

६. वाल्मीकि रामायण में राम द्वारा वालि का वध होने पर उसकी पत्नी तारा ने राम से अपने वध की प्रार्थना करते हुए उसका इसी प्रकार का कारण बताया है—'मेरे बिना वालि का मन (स्वर्ग में) नहीं लगता और वह अप्सराओ का भोग नहीं कर सकता (वा० रा० ४।२४।३३-३८) ।

संयुक्त होता है। मनु के अनुसार जो पति है, वही पत्नी है (९।४५)। महाभारत में यद्यपि अनेक स्थानो पर पति के देवता होने का वर्णन है, किन्तु इसमे पुराने वैदिक आदर्श को स्मरण करते हुए भार्या को पति का आधा अग, श्रेष्ठतम सखा (१।७४।४०) तथा मित्रो मे उत्तम कहा गया है। मध्ययुग में देवल और वृहस्पति ने भार्या के पति से अभेद को स्वीकार किया और इसी आधार पर अर्धांगिनी होने के कारण विधवा को पति की सम्पत्ति में स्वत्व प्रदान किया[७]।

गुरु युग (६०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक)—छठी श० ई० पू० के लगभग हिन्दू समाज में वाल विवाह का महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस शताब्दी में गौतम ने यह व्यवस्था की कि रजोदर्शन से पहले ही कन्या का विवाह कर देना चाहिये (प्रदानं प्रागृतो: १८।२२); कुछ आचार्य इससे भी आगे वढकर यह कहने लगे कि शरीर को कपडो से ढांपकर रखने की वुद्धि उत्पन्न होने से पूर्व ही लडकी की शादी उचित है (प्राग्वाससः प्रतिपत्तिरित्येके गौ० ध० १८।२४)। इतनी छोटी आयु में विवाह से स्त्रियों के उपनयन सस्कार न होने की तथा उसके अभाव मे शूद्र होने की सभावना थी; क्योकि उपनयन ब्राह्मण का आठवे, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का वारहवे वर्ष में होता था (आश्व० गृ० १।१९।१-६)। स्त्रियो को इस दोष से वचाने के लिये दो व्यवस्थाये की गयी। पहली व्यवस्था हारीत की थी। उसने विवाह से पहले नाममात्र का उपनयन सस्कार करने का विधान किया[८]। दूसरी व्यवस्था

---

७. आप० ध० सू० २।१४।१६-१९ जायापत्योर्न विभागो विद्यते। पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं कर्मसु तथा पुण्यफलेपु द्रव्यपरिग्रहेषु च। मनु० ९।४५ या भर्त्ता सा स्मृतांगना। महाभा० १।७४।४० अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा, ४।२२।१७ पुत्रः प्रियाणामधिको भार्या च सुहृदां वरा। देवल वृहस्पति दा० (१४९) अपरार्क० २।१३५ में उद्धृत—यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्॥

८. वीरमित्रोदय संस्कार प्रकाश पृ० ४०२ में उद्धृत—सद्योवधूनां तूपस्थिते विवाहे कथंचिदुपनयनमात्रं कृत्वा विवाहः कार्यः। हारीत दो प्रकार की स्त्रियां मानता है (१) वेदाध्ययन करनेवाली ब्रह्मवादिनी, इनका उपनयन तो यथाविधि होता था; (२) जल्दी विवाह करनेवाली सद्योवधू; इनका उपनयन नाममात्र का था। उसके समय तक स्त्रियों का यह

दूसरी श० ई० पू० में मनु की थी। इसमे उपनयन और विवाह में कुछ सादृश्यो के कारण अभेद मान लिया गया। जैसे पहले सस्कार में ब्रह्मचारी पितृगृह से अलग होकर गुरुगृह में चला जाता था, वैसे दूसरे सस्कार मे कन्या पीहर से सुसराल जाती थी; ब्रह्मचारी गुरु के अग्निहोत्र के लिये समिधा लाता था, कन्या पतिगृह में दोनो समय अग्नि पर खाना वनाती थी। अत. मनु ने कहा—'स्त्रियो के लिये विवाह केवल ऐसा सस्कार है, जो वेद मन्त्रो के साथ किया जाता है। उनके लिये पतिसेवा ही गुरु के पास वास करना है। गृह-कार्य ब्रह्मचारी द्वारा प्रतिदिन किया जानेवाला अग्निहोत्र है[९]।

दूसरी शताव्दी ई० पू० में मनु की व्यवस्था से पति पत्नी का आलकारिक रूप से गुरु वना; किन्तु परिस्थितियो ने उसे वास्तविक रूप में शिक्षक वना दिया। वहुत छोटी आयु में परिणय होने से स्वभावत. पति को यह पद मिला। हिन्दू पति सैकडो वर्षों तक यह कार्य करता रहा है। महात्मा गाधी ने आत्मकथा में लिखा है, 'हिन्दू ससार में वचपन में विवाह होने तथा मध्यम वर्ग मे पति के प्राय. साक्षर और और पत्नी के निरक्षर होने के कारण, पति-पत्नी के जीवन में वडा अन्तर रहता है और पति को पत्नी का शिक्षक वनना पडता है[१०]"। वर्तमान काल में स्त्री शिक्षा के प्रसार तथा वडी आयु में विवाह होने से इस स्थिति का अन्त हो रहा है।

देवता युग—गुरु वनने के वाद पति का देवता वनना स्वाभाविक था। सूत्रकारो में सभवत शख ने सर्वप्रथम यह घोषणा की, 'पति के कोढी (अष्ठीवल), पतित (जघन्य कार्य करने से जातिच्युत), अगहीन या वीमार होने पर भी, पत्नी पति से द्वेष न करे; क्योकि स्त्रियो के लिये पति देवता है[११]। इसे

संस्कार लगभग समाप्त हो चुका था—मि० पुराकल्पे तु नारीणा मौंजीबंधन मिष्यते। अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।।

९. मनु० २।६७ वैवाहिको विधि. स्त्रीणा संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पति-सेवा गुरौवासः गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया।।

१०. आत्मकथा पंचम संस्करण पृ० २२७।

११. शंख (स्मृच २५१) न भर्त्तारं द्विष्याद्यप्यष्ठीवलः स्यात्पतितोऽअगहीनो व्याधितो वा पतिर्हि देवता स्त्रीणाम्। मि० कामसूत्र ४।१।१ देववत्पतिमानुकूल्येन वर्त्तेत। मत्स्यपुराण २१०।१७ पतिर्हि दैवतं स्त्रीणां पतिरेव परायणम्।

पुष्ट करते हुए उसने यह तर्क दिया कि स्त्री व्रत उपवास तथा विविध प्रकार के धर्म कर्मों से नही, किन्तु पति के पूजन से स्वर्ग प्राप्त करती है। मनु (९।१५४-५५) ने शख का अनुमोदन करते हुए साध्वी स्त्री को दु.शील, स्वच्छन्द आचरण वाले पति की देवता की भाति आराधना का उपदेश दिया और इसी से उसके लिये स्वर्ग की प्राप्ति वतायी। रामायण मे कौशल्या ने वनगमन के समय सीता को सधन अथवा निर्धन राम की सेवा का उपदेश दिया है; क्योकि वह देवता के समान है, सीता ने इससे सहमति प्रकट करते हुए कहा है—'स्त्रिया भर्त्ता हि दैवतम् (२।३९।२५-३१)। वन में अनुसूया ने सीता को यही शिक्षा दी है कि आर्य स्वभाव स्त्रियो के लिये दु शील कामवृत्त या धन शून्य पति भी परम देवता है (वा० रा० २।११७।२३)। महाभारत-कार ने 'दैवत परम पति.' की घोषणा अनेक बार की है (१४।९०।५०, १२।२६६।३९)।

शास्त्रकारो ने पति को देवता इसलिये वनाया कि स्त्रियो के लिये मोक्ष और स्वर्ग का यही मार्ग था। हिन्दू धर्म मे इसके प्रधान मार्ग कर्मकाड और तपस्या है। अगले अध्याय में यह वताया जायगा कि अनेक कारणो से स्त्रिया यज्ञ कर्म मे वहिष्कृत और तपस्या के साधनो से वचित हो गयी। इस अवस्था में स्त्रियो के लिये मोक्ष का मार्ग पति को भगवान् समझ कर उसकी पूजा ही रह गया। मनु (९।१५४), याज्ञवल्क्य, विष्णु (२५।१५) ने स्त्री के लिये पृथक् यज्ञ, उपवासादि न होने के कारण इस मार्ग का निर्देश किया है। ब्रह्मवैवर्त पुराण मे देवतावाद का विचार पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया गया, 'अपने पति और भगवान् मे भेद वुद्धि करनेवाली स्त्री गोहत्या का पाप करती है।"

देवता वन जाने के कारण, हिन्दू परिवार मे पति को राजा के निरंकुश अधिकार प्राप्त हुए। हरदत्त ने आपस्तम्ब ध० सू० (२।१४।१६-२०) पर टिप्पणी करते हुए लिखा है–'वह घर मे वैसा ही स्वतत्र है, जैसे राष्ट्र मे राजा, (स्वतन्त्रोऽसी गृहे यथा राजा राष्ट्रे)। फ्रास का प्रसिद्ध शासक लुई १४वां कहा करता था कि मेरी इच्छा ही कानून है, हिन्दू परिवार में पति की मर्जी कानून थी। पतिव्रता स्त्रियों ने इसे यहा तक पूर्ण किया कि शैव्या जैसी पत्निया अपने कोढी पति के वेश्या के प्रति अनुरक्त होने पर उसे स्वय वहा ले गयी (पद्मपुराण सृष्टि खण्ड अध्याय ४१)। पति के प्रति भक्ति और वश्यता की यह पराकाष्ठा थी।

पति की प्रभुता के सामान्य कारण—पति को हिन्दू परिवार में ही यह प्रभुता प्राप्त हो, सो बात नही। अधिकाश प्राचीन सभ्य समाजो में, उसने ऐसी सत्ता का उपभोग किया है[१२]। वस्तुत. कुछ ऐसे सामान्य कारण हैं,

---

१२. जरथुस्त्री धर्म में पति की प्रभुता स्वीकार करते हुए, उसकी आज्ञा की अवहेलना करनेवाली स्त्री को डाइन कहा गया है (यष्ट० २२। १८।३६)। बाइबिल की पहली पुस्तक जिनीसस (३।१६) में हव्वा को परमेश्वर ने शाप दिया है—'तेरी इच्छा पति के अधीन होगी, वह तुझ पर शासन करेगा।' चीन में कन्फूशियस ने स्त्री के सदैव पुरुष के वशवर्त्ती रहने और मनु की भांति उसे कौमारावस्था में पिता या बड़े भाई की आज्ञा का, विवाहित होने पर पति के तथा उसकी मृत्यु पर पुत्र के आदेशों का पालन करने की आज्ञा दी है (लेगी-चाइनीज़ क्लासिक १।१०३ प्र०)। यूनान में ऐतिहासिक काल में पत्नी घर की नौकरानी मात्र थी, उसका सब से बड़ा आभूषण मौन रहना था (डिकिन्सन—ग्रीक व्यू आफ लाइफ पृ० १६१)। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के शब्दो में, पत्नी को चाहिये कि वह खरीदी हुई दासी की अपेक्षा अधिक तत्परता से पति के आदेशो का पालन करे; क्योंकि वह दासी के मूल्य की अपेक्षा अधिक दाम से इसलिये खरीदी गयी है कि जीवन निर्वाह और सन्तानोत्पादन का कार्य हो सके (इकोनामिका १।७)। रोम में विवाह से पहले कन्या पिता के अधिकार में रहती थी और इसके बाद उस पर पति का अपरिमित प्रभुत्व स्थापित हो जाता था (मेन—अर्ली ला एण्ड कस्टम पृ० १५५)। टयूटन जातियो में पति को कुछ अवस्थाओं में अपनी पत्नी को मारने, बेचने और छोड़ने का अधिकार था। ईसाइयत ने भार्या को पूर्ण रूप से पति के अधीन बनाया। सैण्ट पाल ने कहा—पत्नियो, तुम अपने पतियो के उसी तरह अधीन हो जाओ, जैसे भगवान् के अधीन होती हो (इफोसियन्स ५।२२-३, मि० १ टिमोथी २।११; १ पीटर ३।१)। ईसाइयत की शिक्षाओ के कारण योरोप की किसी भी कानूनी पद्धति में मध्ययुगीन पत्नी को कोई भी अधिकार नहीं प्राप्त हुआ। सर हेनरी मेन के मत में विवाहित स्त्रियो पर सब से कम कृपा करनेवाली वे पद्धतियां हैं, जिन्होने चर्च के कानून का अनुसरण किया है (अर्ली ला पृ० १५९)। मध्यकालीन इंगलैण्ड में मिल्टन ने बिना युक्ति किये, पति की आज्ञा का पालन पत्नी का धर्म माना था। उसकी हव्वा ने आदम को कहा है—'हे मेरे स्रष्टा और विधाता, भगवान् की ऐसी

जिनसे उसे यह प्रभुता प्राप्त हुई और हिन्दू समाज मे कुछ ऐसे विशेष कारण थे, जिनसे उसे देवता की स्थिति मिली। सामान्य कारणो में पुरुष की शक्तिमत्ता और स्त्री मे समर्पण की भावना है। पुरुष प्राय. नारी से शारीरिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होता है। काठक स (२८।८, ४४।८) स्त्री को निर्वीर्य तथा मैत्रायणी स० (४।७।४) उसे असमर्थ वताती है। मातृत्व का उत्तरदायित्व पूर्ण करते हुए तथा सकट के समय उसे पुरुष के सरक्षण की आवश्यकता होती हैं और यही वाद मे स्वामित्व का रूप धारण कर लेता हैं। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण नारी मे समर्पण की भावना है। प्रसिद्ध यौन मनोवैज्ञानिक हैवलाक एलिस के शब्दो मे 'एक नवयुवती के प्रेम के सपनो मे यह एक सामान्यतम आकाक्षा होती हैं कि वह प्रेमी को अपना समर्पण कर दे, उसकी शारीरिक शक्ति और मानसिक चातुर्य का सहारा लेने में समर्थ हो सके, अपनापन खो वैठे, उस पर अपने सकल्प का कोई नियन्त्रण न रहे, वह दूसरे पुरुष की शक्तिशाली इच्छा की वश्यता के मधुर प्रवाह मे मन्द गति से वहती जाय[१३]।

आज्ञा है कि जो तुम आदेश दो, मै वगैर दलील दिये उसका पालन करूँ। आप मेरे लिये भगवान् और कानून है, स्त्री के लिये इससे अधिक न जानना ही सव से अधिक आनन्ददायी ज्ञान है, इसी में उसकी प्रशंसा है। (अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन पृ० ३९९)। मनुष्य की स्वतन्त्रता के प्रवल समर्थक रूसो ने स्त्रियों को वन्धन में रखने का परामर्श दिया था, समानता का सिद्धान्त प्रतिपादित करनेवाली फ्रेंच राज्य-क्रान्ति के समय वुलायी गयी राष्ट्रीय परिषद् ने स्त्रियो का आवेदन पत्र तक सुनना स्वीकार नही किया (अल्तेकर—वही पृ० ४०७)। पिछली शती के अन्त तक योरोप के लगभग सभी देशो में पत्नी पर पति की प्रभुता थी।

१३. स्टडीज इन दी साइकालोजी आफ सैक्स—एनेलिसिस आफ सैक्सुअल इम्पल्ज पृ० ६६। एलिस ने यह परिणाम प्रधान रूप से इस आधार पर निकाला है कि अनेक योरोपियन देशो की स्त्रियां पतियो से पिटने में आनन्द अनुभव करती हैं; इसे प्रेम की प्रगाढ़ता का चिन्ह समझती है। यदि स्लाव पति अपनी पत्नियो को नहीं पीटते, तो वे इसमें अपना घोर अपमान मानती हैं; हंगरी के कुछ भागों में जव तक पति अपनी स्त्री के कान न ऐंठे, तव तक वह यह समझती है कि पति उससे प्रेम नहीं करता। इतालवी कैमोरिस्टो की स्त्रियां अपने न पीटनेवाले पतियो को वेवकूफ समझती है। लूशियन ने

विशेष कारण--उपर्युक्त दो सामान्य कारणो के अतिरिक्त हिन्दू समाज में पति की प्रभुता स्थापित होने के निम्न विशेष कारण थे--पत्नी की आर्थिक परावीनता, पिता की प्रभुता, स्त्री के सम्वन्ध में हीन विचार, वाल विवाह तथा स्त्रियो की अशिक्षा। पत्नी भरण पोषण के लिये पति पर अवलम्वित थी, इसीलिये पति भर्त्ता कहलाता था (महाभारत १।१०४।३१)। प्राचीन युग में वर्त्तमानकाल की भाति, स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जन करने के द्वार स्त्रियो के लिये नही खुले हुए थे। अत आर्थिक दृष्टि से परावलम्वी होने के कारण, उस पर पति की प्रभुता अवश्यम्भावी थी। हिन्दू स्त्रियो ने यह वन्धन लाचारी से नही, किन्तु कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया। सव प्रकार का सुख देनेवाले तथा अलकरणो से लाद देनेवाले पति के प्रति पत्नी की भक्ति स्वाभाविक थी, इसीलिये वह पति की पूजा करती थी। आदर्श पतिव्रता सीता ने पति को देवता मानने के कारणो की व्याख्या करते हुए कौशल्या से कहा था[१४]--'पिता परिमित धन देता है, भाई और पुत्र भी सीमित राशि प्रदान करते है, (इस अवस्था में) अपरिमित धन देनेवाले पति की कौन स्त्री पूजा न करे?'

अपनी एक रचना में यूनानी स्त्री के मुंह से यह कहलवाया है--'जो पुरुष अपनी पत्नी पर प्रहारों की बौछार नहीं करता, उसके बाल नहीं खींचता, उसके कपड़े नहीं फाड़ता, वह उससे स्नेह नहीं करता।' इस सम्वन्ध में कुछ भारतीय उदाहरण ये हैं--वात्स्यायन ने कामसूत्र में, भारत के विभिन्न प्रान्तों की स्त्रियों का वर्णन करते हुए, मालवा, आभीर देश, स्त्री राज्य तथा कोशल की नारियों को प्रहार पसन्द करनेवाली वताया गया है (२।५।२४, २७)। वैस्टरमार्क ने यह सिद्ध किया है कि पृष्ठ-वंशधारी निम्न प्राणियो की मादाओ की भांति स्त्रियां वीर्यवान् पुरुष को पसन्द करती है (हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज पृ० २५५)। वैदिक साहित्य में वृषापति की आकांक्षा के लिये देखिये सायण भाष्य के अनुसार लोपामुद्रा का वचन--'अप्यू नु पत्नीर्वृषणो जगम्युः ऋ० १।१७९।१,२ तथा इन्द्राणी का वचन ऋ० १०।८६।१५ तथा अथर्व० २०।१२६।१५।

१४. वा० रा० २।३९।३० मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः। अमितस्य तु दातारं भर्त्तारं का न पूजयेत्॥ यह श्लोक लगभग इसी रूप में महाभारत (१२।१४८।६), मत्स्यपुराण (२१०।१८), और शुक्रनीति (४।४।३१) में भी मिलता है।

पिता की प्रभुता—प्राचीन हिन्दू समाज मे पिता को सन्तान पर असाधारण अधिकार थे (देखिये पाचवा अध्याय)। पिता अपनी इच्छा से कन्या का दान कर सकता था। वह उसकी संपत्ति थी। इसके यथेच्छ विनियोग का उसे पूरा अधिकार था। मनु के मत में विवाहो में यज्ञादि तो मगलकार्य के लिये हैं, वस्तुतः (पिता या अभिभावक द्वारा किया गया) दान ही पत्नी पर पति की प्रभुता का कारण है[१५]। प्राचीन रोम में भी कन्या इसी प्रकार विवाह द्वारा पिता के प्रभुत्व से मुक्त होकर पति की प्रभुता मे आ जाती थी।

हीन विचार—शारीरिक शक्ति, शिक्षा आदि में पुरुषो के बराबर न होने से प्रायः अधिकाश समाजों मे स्त्रियो के सम्बन्ध मे हीन विचार रखे जाते हैं। कुछ असभ्य समाजो में प्रति मास स्त्री के शरीर से आर्त्तव प्रसृत होने से उसे दुर्बल और स्थायी रूप से बीमार माना जाता है। भारत में नारी के सम्बन्ध में जो हीन धारणाये थी, उनका अगले अध्याय मे विस्तार से उल्लेख होगा। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि स्त्रियो मे सब प्रकार की बुराइयो का आरोप किया गया है[१६]। यह कहा जाता है कि यदि किसी की सौ जिह्वाये हो, वह सौ वर्ष तक जिये तथा उसे स्त्रियो के दोष बखान करने के सिवाय दूसरा

---

१५. मनु० ५।१५१-५२ मंगलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः। प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥

१६. स्त्रियों को केवल भारत में ही बदनाम नहीं किया गया। यूनानी नाटककार यूरीपाइडीज ने लिखा है—स्त्रियां अच्छे काम करने में तो बांझ हैं, किन्तु सब प्रकार की बुराई करने में चतुर हैं (मीडिया ४०६)। प्रसिद्ध दार्शनिक अफलातून स्त्रियों को नौकरो का दर्जा देता है और स्त्री जाति को बुद्धि और गुण की दृष्टि से पुरुष से हीन समझता है (रिपब्लिक ४।४३१, ५।४५५)। चीनियों में यह कहावत प्रचलित है—सर्वोत्तम कन्यायें निकृष्टतम लड़के के बराबर भी नहीं हैं (स्मिथ-प्रोवर्ब्स आफ दी चाइनीज पृ० २६५)। हजरत मुहम्मद का एक हदीस है कि मैंने पुरुषों के लिए एक सबसे बड़ी मुसीबत औरत को ही बनाया है। स्त्रियों को अपने सोने चांदी के जेवरों का दान देना चाहिये; क्योंकि कयामत के दिन वही अधिकतर नरक जाने वाली होंगी (लेन—स्पीचैज आफ् मुहम्मद पृ० १६१, १६३)। अरबों का यह विचार है कि पृथ्वी पर बुराइयों का मूल स्त्री है। परमात्मा ने इसे इसलिए बनाया है कि मनुष्य पार्थिव वस्तुओं से विरत न हो सके (मेयर-सै० ला० ४९७)।

कोई काम न हो, तो भी वह उनके दोषो को विना कहे ही मर जायेगा[१७]। इन विचारोवाले समाज मे पति को प्रभुता मिलना स्वाभाविक ही है।

भारतीय वाङमय में नारी पर कामान्धता का आरोप करते हुए, उसपर हद दर्जे का अविश्वास प्रकट किया गया है। पद्म पुराण के अनुसार स्त्रिया इसलिए साध्वी रहती है कि उन्हे (गुप्त) स्थान नही मिलता, अवसर नहीं मिलता और उनसे प्रार्थना करनेवाला कोई पुरुष नही होता[१८]। पंचचूडा नारद को कहती है—'हे मुने, वे कुवडे, अन्धे, मूर्ख और वौनें के साथ सयुक्त हो जाती है, वे लंगडो तथा अन्य कुत्सित पुरुषो के पास भी जाती है। स्त्रियो के लिए इस लोक में कुछ भी अगम्य नही है[१९]। स्त्रियाँ कभी मर्यादा मे नही रहती। 'यदि उनकी कामना करनेवाले पुरुष न हो और उन्हे परिजनो का भय न हो, तभी मर्यादा में न टिकनेवाली स्त्रिया अपने पतियो के साथ मर्यादा में रहती है[२०]। मनु के मत में पति को यह अभिमान नही करना चाहिए कि मै सुन्दर हूँ या जवान हूँ, क्योकि स्त्रिया रूप को नही देखती, वे आयु का भी ध्यान नही रखती; सुरूप हो या कुरूप, स्त्रिया पुरुष मात्र का अभिगमन करती है। अन्य पुरुषो के प्रति कामनावाली होने से, चचल स्वभाव होने के कारण , नैसर्गिक रूप से स्नेह शून्य होने से पत्नियाँ अपने पतियो के प्रति सच्ची नही रहती; भले ही उनकी कितनी ही रक्षा क्यो न की जाय[२१]। स्त्रियो के प्रति जव इस

---

१७. महाभा० १२।७४।९—यदि जिह्वासहस्रं स्याज्जीवेच्च शरदां शतम्। अनन्यकर्मा स्त्रीदोषाननुक्त्वा निधनं व्रजेत्॥

१८ पद्म० पु० सृष्टि खण्ड ४९।९—स्थानं नास्ति क्षणं नास्ति न च प्रार्थयिता नरः। तेन नारद नारीणां सतीत्वमुपजायते॥

१९ महाभा० १३।३८।२०२। अपि ताः सम्प्रसज्जन्ते कुब्जान्धजड-वामनैः। पंगुष्वथ च देवर्षे ये चान्ये कुत्सिताः नराः॥

२०. वहीं १३।३८।१६ अनर्थित्वान्मनुष्याणां भयात्परिजनस्य च। मर्यादायामर्यादाः स्त्रियस्तिष्ठन्ति भर्तृषु॥ अपनी जाति की निन्दा पंचचूडा के समान अन्य देशो की स्त्रियो ने भी की है। लेडी मेरी वार्टली माण्टेगू ने कहा था—मुझे इस वात से सन्तोष है कि मैं स्त्री हूँ; मुझे किसी स्त्री से विवाह करने का भय नहीं है।

२१. मनु० ९।१४-१५ नैता रूपं परीक्षन्ते नासां वयसि संस्थितिः। सुरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुंजते॥ पौंश्चल्याश्चलचित्ताच्च न स्नेहाच्च

प्रकार की हीन धारणा हो, तो पुरुषों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे यत्न पूर्वक स्त्रियों की चौकसी करें। अतएव मनु यह व्यवस्था करता है कि प्रजापति द्वारा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न किये स्त्रियो के इस प्रकार के स्वभाव को जानकर पुरुष को उनके रक्षण का परम प्रयत्न करना चाहिए (९।१६) । अतः पुरुषो को उचित है कि वे सभी स्त्रियो को सदा पराधीन बनाकर रखे। उसके बचपन मे पिता, यौवन मे पति और बुढापे मे पुत्र उसकी रक्षा करे। स्त्री स्वतंत्र रहने योग्य नही है (मनु० ९।२-३) । गौतम (१८।१), बौधायन (२।३।४४), वसिष्ठ (५।१), विष्णु (२५।१२), याज्ञ० (१।८५) इस व्यवस्था का अनुमोदन करते है। स्त्री का धर्म है कि वह पराधीन रहे, अतः पति को उसका रक्षक एवं प्रभु होना चाहिए।

बाल विवाह और स्त्रियों की अशिक्षा—पहले यह बताया जा चुका है कि बाल विवाह के कारण पत्नी की स्थिति गिरने लगी थी। हमने यह भी देखा था कि विवाह को ही स्त्री का उपनयन मान लिया गया, बहुत छोटी अवस्था मे ही उसका विवाह होने लगा था। उस समय पत्नी बिल्कुल कोमल मिट्टी होती थी। पति उसे जैसा चाहता, वैसा रूप दे सकता था। बचपन से ही वह पितृगृह मे और पतिगृह मे पति को देवता समझने और पूजने के उपदेश सुनती थी; इन्ही शिक्षाओ मे उसका लालन पालन होता था। दो सहस्राब्दियो से हिन्दू पत्नी इस परम्परा मे पल रही है।

देवता युग की समाप्ति—किन्तु अब जमाना बदल रहा है। स्त्री जिन कारणों से पति की प्रभुता मे आई थी, वे आजकल दूर हो रहे है। बाल विवाह की प्रथा का निषेधक कानून बन गया है। स्त्रियो मे बड़ी तेजी से शिक्षा का प्रसार हो रहा है। अब वे विवाह के समय अनगढ मिट्टी या मोम की नाक नही होती कि उन्हे इच्छानुसार मोड़ा जा सके। शिक्षित वर्ग मे धार्मिक भावनाओ का प्रभाव घटता जा रहा है। पढी लिखी महिलाये शास्त्रीय आदेश का पालन करने के लिए पति को देवता नही स्वीकार कर सकती। स्त्रियो के सम्बन्ध में,

---

स्वभावतः। रक्षिता यत्नतोऽपीह भर्तृषु विकुर्वते।। मनु द्वारा इस निन्दा का प्रधान कारण वस्तुतः मनुष्यों को उद्दाम काम भावना के भय से सावधान करना है। इसकी पुष्टि २।११५ से होती है। इसमें उसने माता, बहिन तथा कन्या के साथ एकान्त में बैठने का निषेध किया है, क्योंकि विद्वान् भी इन्द्रियवासना के वशीभूत हो जाता है।

विचारो मे भी परिवर्तन आ रहा है; उन्हे इतना हीन नही समझा जाता। उन्होंने ज्ञान विज्ञान और कला कौशल के क्षेत्र में उन्नति की है। वर्तमान समय में आजीविका के लिए वे डाक्टरी आदि अनेक पेशो में जाने लगी हैं। राज्य के हस्तक्षेप तथा कन्याओ में शिक्षा और आजीविका की स्वाधीनता के कारण पितृ प्रभुत्व कम हो रहा है। इस समय पति को देवता समझने का विचार शिथिल हो रहा है।

पति की प्रभुता का स्वरूप

हिन्दू परिवार में यद्यपि पति देवता या राजा माना जाता रहा है; किन्तु वह प्राय. यहूदियो का स्वच्छन्द आचरण करनेवाला सर्वशक्तिमान् जिहोवा या मध्यकालीन निरकुश नरेश नही, प्रत्युत कुछ नियमो से बधा हुआ दार्शनिको का भगवान् और मर्यादाओ से नियन्त्रित वैधानिक राजा है। पत्नी पर उसके प्रभुत्व का विचार यहा निम्न दृष्टियो से किया जायगा–(१) पत्नी को वध करने का अधिकार, (२) पत्नी के यथेच्छ विनियोग (दान देने, बेचने या पण्य वस्तु बनाने) का अधिकार, (३) पत्नी को पीटने का अधिकार, (४) अधिवेदन (दूसरा विवाह करने) का अधिकार।

वध का अधिकार—राजा का सब से बडा अधिकार प्राणदण्ड होता है। क्या हिन्दू परिवार में पति को यह स्वत्व प्राप्त था ? सामान्य रूप से बहुत ही कम समाजो में उसे यह अधिकार है[२२], वह केवल पत्नी के भीषणतम अपराध-

---

२२. प्रिटचर्ड द्वारा वर्णित फिजी टापू जैसे क्रूर पति प्रायः अपवाद रूप में पाये जाते हैं (पोलीनीशियन रैमिनिसैन्सज [पृ० ३७१)। यहां लोती नामक एक व्यक्ति ने प्रसिद्ध होने के लिये पत्नी से आग लगवाकर उसे उसमें भूना तथा बाद में खाया। प्रायः पति पत्नी का वध इसलिये नहीं करता कि उसे उसके संबन्धियों द्वारा बदले की आशंका होती है। फिजी के समीपवर्ती आस्ट्रेलिया महाद्वीप के उत्तर पश्चिमी तथा केन्द्रीय भाग में पत्नी की हत्या पर पुरुष को उसके संबन्धियो को वध के लिये अपनी कोई बहिन देनी पड़ती है (फिसोन तथा हाविट—कामिलराय व कुरनाई पृ० २८१)। अफ्रीका के विक्टोरिया प्रदेश की बंगरांग जाति में पति पत्नी के साथ मार पीट आदि दुर्व्यवहार कर सकता है; किन्तु उसकी हत्या पर पत्नी के सम्बन्धी इसका बदला लेते हैं (कर-रिकलेक्शन्स आफ स्क्वेटिंग इन विक्टोरिया पृ० २४८)।

व्यभिचार पर ही उसे कुछ समाजो मे यह दण्ड दे सकता है[२३], किन्तु हिन्दू शास्त्रों मे नारी अवध्य है[२४]। स्त्री वध महाभारत के मत में ब्रह्महत्या और गोहत्या के तुल्य महापाप (१३।१२६।२६) तथा अप्रायश्चित्तीय अपराध है (१२।१०८।३२,१७।३।१६)। मनु प्रायश्चित्त कर लेने पर भी स्त्री-घाती के साथ सब प्रकार के सम्बन्ध का निषेध करता है (११।२९१ मि० विष्णु० २४।३२, याज्ञ० ३।२९९, महाभा० ५।३५।६६)। न केवल इस जीवन मे स्त्री-घाती के लिये धर्मशास्त्रो में कठोर प्रायश्चित्तो की व्यवस्था है, किन्तु परलोक मे उसके अत्यधिक दुर्गति पाने का उल्लेख है[२५]।

हिन्दू नारी को अवध्य समझे जाने से पति द्वारा उसे प्राणदण्ड देने का तो कोई अधिकार सभव ही नही, पत्नी के जघन्यतम अपराध अर्थात् असतीत्व मे भी सामान्य रूप से वह उसके भरण पोषण के लिये बाध्य था। अगले अध्याय मे यह बताया जायगा कि हिन्दू शास्त्रकार अन्य जातियो के व्यवस्था-कारो की अपेक्षा इस विषय मे कही अधिक उदार थे; इस सबन्ध मे वसिष्ठ का

---

२३. अफ्रीका की अशन्ती जाति में किसी व्यभिचारी पत्नी को प्राण-दण्ड दिया जा सकता है (लतर्नो—इवोल्यूशन आफ मैरिज पृ० २०४-५)। न्यूजीलैण्ड में पति ऐसी पत्नी को लाठी मारकर ठंडा कर सकता है (वही पृ० २१२)। एस्किमो लोगों की कुछ जातियों में पति ऐसी पत्नी तथा जार दोनों को मार देते हैं (पृ० २१३।१४)। तातारो में पति जब तक कुलटा का वध नहीं कर लेता, तब तक उसे जार से क्षति पूर्त्ति के लिये दिया जाने वाला ४५ पशुओं का हर्जाना नहीं मिलता। जापान का पुराना कानून पति को कुलटा और जार दोनो के वध का अधिकार देता था (वही पृ० २१६)। रोमन कानून के अनुसार पति परपुरुष के साथ कामोपभोग प्रवृत्त पत्नी को देखते ही वहीं मार सकता था (वही पृ० २२३-२४)। जस्टीनियन के समय इसमें सुधार हुआ और पत्नी को मारनेवाला घातक समझा गया। मुह-म्मद से पूर्व अरबो में कुलटा को पत्थरों से मारने का सामान्य नियम प्रचलित था (ईसा० रिली० ई० खं० ५, पृ० १३१)। संभवतः यहूदियो में ईसा से पहले ऐसा नियम था (जान की गास्पल ८।१-११)।

२४. महाभा० १।१५८।३१, १।२१७।१४, ३।२०६।४६, ५।३६।६६, ७।१४३।६७, १२।१३५।१३, वाल्मीकि रामायण २।६८।२१, ६।८१।२८।

२५. महाभा० १३।१११।११७-१८

'रजो-दर्शन से पत्नी की शुद्धि का सिद्धान्त[२६] लगभग सर्वमान्य था। यद्यपि गौतम (२३।१४), मनु (८।३७१), यम (विर पृ० ३९८) तथा महाभारत (१२।१६५।६४) शूद्रगामिनी कुलटा के सार्वजनिक रूप से कुत्तो द्वारा खिलाये जाने की व्यवस्था करते है, महानिर्वाण तन्त्र (११।५३) में दूसरे पुरुष के बाहुपाश मे वर्तमान पत्नी की तथा उसके जार की हत्या करनेवाले को राजा द्वारा दण्डित न किये जाने का उल्लेख है; किन्तु ये व्यवस्थायें अपवाद रूप हैं। सामान्य स्थिति तो यह थी कि ऐसी पत्नी को सब प्रकार के अधिकारों से वंचित कर भोजन मात्र दिया जाय। विवाद रत्नाकर (पृ० ४२६) में मनु के नाम से उद्धृत दो श्लोको में स्वच्छन्दगामिनी के वध तथा अगभग का निषेध करते हुए यह कहा गया है कि विवस्वान् ने स्वच्छन्दचारिणी व्यभिचारिणी का त्याग (उसे दाम्पत्य, धार्मिक तथा अन्य सब अधिकारो से वचित करना) ही कहा है, स्त्रियो का वध, विरूपता या वन्दीकरण नही करना चाहिये[२७]।

यथेच्छ विनियोग का अधिकार—मानव समाज की अनेक जातियो मे पत्नी को अपनी सम्पत्ति समझ कर, पति द्वारा उसे दूसरे व्यक्ति को उधार देने, दान करने और बेचने के अनेक उदाहरण मिलते है[२८], किन्तु भारतीय साहित्य

---

२६. वसिष्ठ० २८।१-४, ५।४, ३।५-८. मि० बौधायन ध० सू० २।२।४।४, याज्ञ० १।७२, अग्नि पुराण १६५।६, १९, मनु० ५।१०८, विष्णु २।९१, पराशर ७।२, १०।१२। महाभारत का भी यही मत है—मासि मासि भवेद्रागस्ततः शुद्धा भवन्त्युत, १३।५९।२१-२२

२७. स्वच्छन्दव्यभिचारिण्या विवस्वांस्त्यागमब्रवीत्। न वधं न च वैरूप्यं वन्धं स्त्रीणां विवर्जयेत्॥ त्याग के उपर्युक्त अर्थ के लिये देखिये अगला अध्याय।

२८. एगिडियस ने लिखा है कि एस्कीमो बिना किसी संकोच के अपनी पत्नी मित्रों को उधार देते है और ऐसे व्यक्तियों का चरित्र समाज में सब से ऊँचा समझा जाता है (हिस्टरी आफ ग्रीनलैंड पृ० १४२)। रैडस्किन नाचेज जाति में मित्रों को पत्नी उधार देने की प्रथा है, न्यूमैक्सिको में यूमा जाति के पति अपने दास तथा पत्नी को समान रूप से किराये पर देते है (लतर्नो-पू० नि० पु० पृ० ४२)। आस्ट्रेलियन तथा बुशमैन जातियों में पत्नी उधार देने की परिपाटी है (वही पृ० ५८), पोलीनीशिया के एक टापू के संबन्ध में

में ऐसे दृष्टान्त वहुत कम है। महाभारत मे दासी स्त्रियो के दान (१।१९८।१६, ४।७२।२६, ५।८६।८) तथा राजाओ को उपहार रूप मे कन्याये देने (२।५१। ८-९, २।५२।११, २९) और युधिष्ठिर(२।३३।५२), भगीरथ(१२।२९।६५), सगर (१२।२९।१३३) वैन्य (३।१८५।३४) आदि राजाओ द्वारा यज्ञों में ब्राह्मणो को कन्याये देने का उल्लेख है, किन्तु इन सव उदाहरणो में पत्नीदान का कही वर्णन नही है। इसके केवल दो ही उदाहरण है—राजा मित्रसह द्वारा अपनी पत्नी मदयन्ती का महर्षि वसिष्ठ को दान तथा इसी प्रकार राजा युवनाश्व द्वारा अपनी स्त्रियो का देना।

मदयन्ती का दान—महाभारत मे चार स्थलो (१२।२३४।३०, १३। १३७। १८, १।१२२।२२-२३, १।१८४।१-२) मे इसका वर्णन है। पहले दो

पोर्टर ने लिखा है कि अपने शरीर को सजाने का वेहद चाव रखनेवाले तवी नामक पुरुष ने, अपनी रूपवती पत्नी को, लाल वस्तु के टुकड़े और कांच-खण्ड प्राप्त करने के लिये पण्य रूप में प्रस्तुत किया। फिजी की स्त्रियां सम्पत्ति की दूसरी वस्तुओं की भांति इच्छानुसार वेची जाती है। सामान्य रूप से उनका दाम एक वन्दूक होता है, अन्य उदाहरणो के लिये देखिये वैस्टरमार्क—ओडेमा० १।६२९ अनु०। प्रायः इन सव में पत्नी को सम्पत्ति समझकर वेचा या उधार दिया गया है। आगे वताया जायगा कि कई वार पत्नी अतिथि सेवा के लिये भी दी जाती थी। प्लूटार्क ने प्राचीन यूनान और रोम के अनेक प्रसिद्ध पुरुषों की जीवनी लिखते हुए उनके द्वारा पत्नी दान का उल्लेख किया है। भलाई की प्रतिमूर्त्ति किमोन ने अपनी पत्नी कैलियास नामक धनी पुरुष को, तथा प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने अपनी पत्नी जैनटिपि अपने मित्र अल्सीवियाडीज़ को कुछ समय के लिये दी थी। धन लोलुपता से केटो जैसे प्रसिद्ध रोमन महापुरुष ने कुलीन सन्तान चाहनेवाले होर्टेनसियस को अपनी गर्भवती पत्नी मार्शिया, अपने श्वसुर फिलिप के परामर्श से प्रदान की। (केटो आफ अटिका ३६,६८)। स्पार्टा में उत्तम सन्तान प्राप्त करने की दृष्टि से दूसरे को पत्नी देना वुरा नहीं समझा जाता था। प्लूटार्क के वर्णनानुसार वहां लाइकरगस द्वारा की गयी व्यवस्था के अनुसार सुन्दर युवक अधिक आयुवाले पुरुष की तरुणी पत्नी के पास जा सकता था। किसी स्त्री को उसकी लज्जालुता तथा उसके वच्चो के सौन्दर्य के कारण, उसे चाहनेवाले व्यक्ति को वह वीज-वपन की अनुकूलता देने का पक्षपाती था (लाइकरगस ३९)।

स्थानो में मदयन्ती के पति का नाम मित्रसह है, तीसरे में सौदास और चौथे में कल्मापपाद। किन्तु सब जगह इस दान को पानेवाले महर्षि वसिष्ठ ही है। इन स्थलो के सूक्ष्म अध्ययन से इस दृष्टान्त की प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न हो जाता है। पहले दो प्रसग दान के माहात्म्य का वखान करनेवाले है। इनमें यह वर्णन है कि अतीतकाल में प्राचीन राजाओ ने ब्राह्मणो को किन वस्तुओ का दान कर उत्तम गति प्राप्त की। इसी प्रकरण में यह कहा गया है कि राजा मित्रसह महर्षि वसिष्ठ को अपनी प्रिय भार्या मदयन्ती का दान कर स्वर्गलोक में गये[२९]। राजाओ के इस स्तोत्र पाठ को ऐतिहासिक घटना स्वीकार करना उचित नही प्रतीत होता। यहा महाभारतकार का मुख्य उद्देश्य यह मालूम होता है कि अपनी अत्यन्त प्रिय वस्तुओ के दान में भी संकोच नही करना चाहिये[३०]।

मदयन्ती के दान के शेष दो प्रसग आदि पर्व मे है और दोनो स्थानो में इसके प्रयोजन विभिन्न है। १।१२२।२२-२३ में इसका उद्देश्य नियोग है तथा १।१८४ में ऋतुरक्षा। पहले स्थल में पाण्डु कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरित हुआ यह कहता है कि मदयन्ती ने अपने पति सौदास की प्रसन्नता के लिये ऐसा कार्य किया था (एव कृतवती साऽपि भर्तु. प्रियचिकीर्षया)। पहले अध्याय में यह वताया जा चुका है कि पाण्डु के इस कथन को ऐतिहासिक तथ्य नही माना जा सकता। दूसरे स्थल से यह प्रतीत होता है कि उस समय के विचार-शील व्यक्तियो को यह कार्य पसन्द नही था। अर्जुन यह पूछता है —'राजा कल्मापपाद ने वेदज्ञो मे श्रेष्ठ वसिष्ठ के पास किस कारण पत्नी भेजी और श्रेष्ठ धर्म के ज्ञाता होते हुए वसिष्ठ ने इसे क्यो स्वीकार किया, महाभारतकार का उत्तर है कि कल्मापपाद एक ब्राह्मणी के शाप से पीडित थे, इसलिये ऋतु-काल में पत्नीगमन से उसकी अविलम्व मृत्यु निश्चित थी[३१]। अत. वह वसिष्ठ

---

२९. राजा मित्रसहश्चैव वसिष्ठाय महात्मने। मदयन्तीं प्रियां भार्यां दत्त्वा च त्रिदिवं गतः (१२।२३४।३०)।

३०. वृषादर्भि युवनाश्व द्वारा स्त्रीदान का भी यही उद्देश्य है। १२।२३४।२५ में उसके दान की विविध वस्तुओ का वर्णन करते हुए समस्त रत्न तथा रमणीय गृह के साथ प्रिय स्त्रियों का भी उल्लेख है, किन्तु १३। १३७।१० में विविध रत्नो और रमणीय आवास स्थान का ही वर्णन है। दोनों प्रसंग दान-माहात्म्य के ही है।

३१. १।१८४।२० पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम्।

द्वारा पत्नी की ऋतुरक्षा करवाने के लिये बाधित हुआ। भारतीय शास्त्रो मे ऋतुकालाभिगामी होने तथा इस दशा मे पत्नी को निराश न करने का बहुत अधिक वर्णन हुआ है,[३२] यहा सभवतः उसी का प्रतिपादन है, न कि वास्तविक

---

३२. यहां केवल महाभारत से इस विषय थोड़े से प्रमाण दिये जायेंगे। भीष्म ने पति के ऋतुकालाभिगामी (१२।२२१।११, १२।२४३।७) होने का विधान किया है, ऋतु न होने पर पत्नी का अभिगमन गोहत्या के समान है (१३।९३।१२४)। आदि पर्व में यह बताया गया है कि पति अपनी ऋतु-स्नात पत्नी के पास जाना कितना आवश्यक समझते थे; इसमें किसी कारण से असमर्थ होने पर किन उपायों का अवलम्बन करते थे, यह राजा उपरि-चर की कथा (१।६३) से स्पष्ट है। वन में मृगया के लिये गये हुए राजा को जब अपनी पत्नी गिरिका का ध्यान आया, तो उन्होंने उसकी ऋतु निष्फल न होने देने के लिये एक पक्षी द्वारा अपना वीर्य भेजा। यह द्वितीय महासमर में सैनिकों द्वारा भेजे गये इस द्रव का स्मरण कराता है। कालिदास के कथनानुसार राजा दिलीप ऋतुस्नात पत्नी के पास पहुँचने की जल्दी में थे, उन्होने सुरभि का सम्मान नहीं किया; अतः उन्हे अपुत्र होने का शाप मिला (रघुवंश पहला सर्ग)। इस काल में पुरुषो से स्त्रियों को ऋतुदान की मांग कितनी जबर्दस्त होती थी, यह धौम्य और शर्मिष्ठा के आख्यानों से स्पष्ट है। धौम्य ऋषि घर से बाहर जाते हुए सारी व्यवस्था अपने शिष्य उत्तंक को सौंप गये थे। ऋषि पत्नी के ऋतुमती होने पर, दूसरी स्त्रियों ने उत्तंक को उसका ऋतुकाल सफल बनाने तथा उसे निराश न करने की प्रेरणा की, किन्तु गुरुपत्नी होने से, उत्तंक ने ऐसा नहीं किया (महाभा० १।३।४२ अनु०)। शर्मिष्ठा देवयानी की दासी बनकर ययाति के घर पर आयी थी। ऋतु स्नात होने पर उसने ययाति से 'ऋतुं देहि' की मांग की, राजा को बहुत कुछ समझाकर उससे सन्तान प्राप्त की। बाद में देवयानी के पिता इस पर बहुत रुष्ट हुए; इस पर राजा ने उसे कहा—यदि कोई स्त्री ऋतु याचना करती है और पुरुष उसे यह देना अस्वीकार करता है तो ब्रह्मवादी उसे भ्रूणहत्या का पापी बताते है (८३।३३-३४)। ऋतुकाल को यह असाधारण महत्त्व देने के दो कारण प्रतीत होते है—इस समय सन्तानोत्पादन की संभा-वना तथा पत्नी का सब प्रकार की मलिनताओ से मुक्त होना। तै० सं० २।५।१।२-५ के अनुसार, स्त्रियों ने पुराने जमाने में इन्द्र से वृत्र की हत्या का

पत्नी दान का। महाभारतकार ने कल्मापपाद के लिये जो लम्बी चौडी सफाई दी है, उसमे यह प्रतीत होता है कि पतियो को पत्नी पर स्वत्व प्राप्त होने पर भी इसका प्रयोग वहुत वुरा समझा जाता था।

द्रौपदी को दांव पर लगाना—प्राचीन भारत में पति द्वारा पत्नी को पण्य वस्तु वनाने का सव से प्रसिद्ध और निर्विवाद उदाहरण महाभारत के सभा-पर्व (अ० २।६५) में मिलता है। द्यूतान्ध धर्मराज ने सव कुछ हार जाने पर शकुनि के उकसाने से[३३] पूरे सात श्लोकों में (३५-४१) द्रौपदी के रूप और शील का वखान करते हुए, उस की वाजी लगायी; उस समय सभा में वैठे वृद्ध पुरुषो के मुह से धिक्कार के शव्द निकले। सव लोग क्षुव्ध थे, राजा शोकमग्न हुए, भीष्म, द्रोण, कृप लज्जा से पानी हो गये। इस वार भी युधिष्ठिर दाव हार गये। दुर्योधन ने द्रौपदी को वहा लाने तथा उससे घर की सफाई करवाने का आदेश दिया। इस प्रसंग में यह वात ध्यान देने योग्य है कि तेजस्विनी द्रौपदी भरी सभा मे, धर्मराज द्वारा अपने को दांव पर रखने के अधिकार में, इस आधार पर ही संदेह प्रकट करती है,[३४] कि धर्मराज पहले अपने को हार चुके थे; उसके वाद उन्हे उसे वाजी वनाने का अधिकार नहीं

एक तिहाई पाप लेते हुए, उससे इस काल में पुत्र प्राप्त करने का वर लिया था। पाप लेने का विचार भागवत पुराण (६।९।९) तथा सन्तान पाने की वात मार्कण्डेय पुराण (४९।८ अनु०) में भी है। यह समझा जाता था कि रजो दर्शन प्रतिमास उनके उन पापों को धो डालता है (महाभा० कुं० १३।५८।१० मासि मासि ऋतुस्तासां दोषान्यपकर्षति मि० वही कु० १३।५९।२१-२२ तथा कु० १।१९०।५)। इस समय सन्तान प्राप्ति की अधिक संभावना होने से इस काल को सफल न वनानेवाला भ्रूण हत्या का पापी माना गया है (वौधा० ४।१।१९)। आगे यह वताया जायगा कि स्त्री के कुलटा होने पर भी शास्त्रकारों ने उसे घर से निष्कासन का दण्ड नहीं दिया है; किन्तु यदि वह पति से द्वेष के कारण जान-वूझकर अपना ऋतुकाल गंवाती है तो उसके लिये इस भीषण दण्ड का विधान है। वौधा० ४।१।२२–भर्तुः प्रतिनिवेशेन या स्कन्दयेदृतुम्। तां ग्राममध्ये विख्याप्य भ्रूणघ्नीं निर्धमेद् गृहात्॥ विर० (पु० ४२५) में मनु के नाम से इस आशय के दो श्लोक है।

३३. महाभारत २।६५।३४ अस्ति ते वै प्रिया राजन्लह एकोऽपराजित। पणस्व कृष्णां पांचालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय॥

३४. वहीं २।६७।७ किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवाऽपि माम्।

था। इसकी स्पष्ट अर्थापत्ति यह है कि हारने से पहले युधिष्ठिर को अपनी पत्नी को पण वनाने का अधिकार था। उस समय केवल विकर्ण और विदुर ने ही द्रौपदी का समर्थन करते हुए उसे अविजित वतलाया[३५], किन्तु कर्ण ने इस का खण्डन करते हुए कहा—'जव युधिष्ठिर ने जुए मे सर्वस्व लगा दिया तो द्रौपदी अविजित कैसे रह सकती है, वह तो उसके सर्वस्व मे सम्मिलित थी[३६]। कर्ण की मुख्य युक्ति यह है कि पत्नी की स्वतत्र स्थिति नही है[३७], वह दास के समान पति की सम्पत्ति है। उसकी इस युक्ति का विदुर, विकर्ण, भीष्म, कृप आदि किसी व्यक्ति ने खण्डन नही किया। कर्ण उपर्युक्त वचन के वाद ही, दुःशासन को, पाण्डवो तथा द्रौपदी के वस्त्र उतरवाने का आदेश देता है।

पत्नी दान पर प्रतिवन्ध—वैदिक युग में पत्नी पण्य वस्तु न होने पर भी महाभारत के समय तक अवश्य पति की सम्पत्ति समझी जाने लगी थी। युधिष्ठिर जैसे वर्मात्मा अपने अन्य द्रव्यो के साथ उसे पण वनाने में नही हिचकते थे। हिन्दू शास्त्रकारो को यह स्थिति अभीष्ट नही थी; अत· छठी शताब्दी ई० पू० से उन्होंने पति के पत्नी दान के अधिकार पर प्रतिवन्ध लगाने शुरू किये। उस समय यद्यपि पति की प्रभुता मे वृद्धि हो रही थी, तथापि शनैः-शनैः उससे पत्नी के यथेच्छ विनियोग का अधिकार छीन लिया गया। इसे दो अवस्थाओ मे वाटा जा सकता है। पहली अवस्था तीसरी श० ई० तक रही। इसमें आपत्तिकाल मे ही पत्नी देय मानी गयी। दूसरी अवस्था गुप्त युग से प्रारम्भ हुई। इसमे आपत्ति मे भी पत्नी अदेय स्वीकार की गयी।

पहली अवस्था—इसमे गौतम ने यह कहा—'अनापत्ति मे पुत्र और भार्या का दान करनेवाले को छ या वारह वर्ष का प्रायश्चित्त करना चाहिए[३८],

---

३५. वहीं २।६७।४ न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति। अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः॥

३६. वहीं २।६८।३०-३२ यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः। अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ। एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम्।

३७. वहीं २।७१।१ त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी। मि० १।८२।२२। भीम ने कर्ण की बात का अनुमोदन करते हुए कहा है—नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेष सत्यं दासधर्मः प्रदिष्टः।

३८. सरस्वती विलास (पृ० २७८-९) मे उद्धृत, अनापदि पुत्रदारादिदाने षड्वार्षिकं चरेत्। द्वादशवार्षिकं चरेत्।

विष्णु पुत्र और पत्नी के दाता को जातिच्युत ठहराता है[३९]। कौटिल्य ने रुपया चुकाने के लिये अपने सारे धन, पुत्र और पत्नी को देना उचित माना[४०], किन्तु याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से पत्नी को अदेय बताया, अपनी भार्या, पुत्र तथा कुटुम्ब भरण के लिये आवश्यक धन के अतिरिक्त सम्पत्ति को ही दातव्य माना[४१]।

दूसरी अवस्था—याज्ञवल्क्य की व्यवस्था मे दो बड़े दोष थे। पत्नी का दान करनेवाले के लिये दण्ड का विधान नही था और पुरानी परम्परा का आश्रय लेकर, आपत्ति का बहाना या उसकी मनमानी व्याख्या करनेवालो के पत्नीदान पर कोई प्रतिबन्ध न था। गुप्तयुग में नारद ने इन दोनो दोषो को दूर करते हुए, पत्नी की गणना अदेय वस्तुओ में की और यह कहा कि भयकर आपत्ति में भी इनका दान नही करना चाहिये, इनका दान करने तथा लेने-वालो को वह राजदण्ड योग्य बताता है[४२]। बृहस्पति ने नारद से मिलती जुलती व्यवस्था की[४३]। कात्यायन ने इस सम्बन्ध मे दो विरोधी मतो का निर्देश किया है। पहला तो यह कि आपत्ति काल न होने पर पुत्र और पत्नी का विक्रय तथा दान, उनकी इच्छा न होने पर नही हो सकता, आपत्तिकाल मे यह हो सकता है[४४]। किन्तु अन्यत्र दूसरी व्यवस्था करते हुए वह कहता है कि पति को पत्नी पर अनुशासन का ही अधिकार (वशित्व) है, दान या विक्रय का नही[४५]। कात्यायन के पुत्र आदि के सम्बन्ध में अन्य नियमो को देखते

३९. वहीं पृ० २७८ पुत्रदारादिदाता पतितो भवति।

४०. कौ० ३।१६।३ सर्वस्वं पुत्रदारमात्मानं वा प्रदायानुशयिनः प्रयच्छेत्।

४१. याज्ञ० २।१७५ स्व कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।

४२. नास्मृ० ७।५, १२ अन्वाहितं याचितकमाधि साधारणं च यत्। निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति। आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्तमानेन देहिना अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्। गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति। दण्डनीया वुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता।

४३. अपरार्क २।१७५, सवि० २७७,७८

४४. अपरार्क वही, विक्रय चैव दानं च न नेया. स्युरनिच्छवः। दाराः पुत्राश्च सर्वस्वमात्मन्येव तु योजयेत्॥

४५. सवि० २८३ न दारेषु पुत्रेषु न बन्धुष्वनपेक्षकाः। सर्वकार्येषु पुरुषाः स्वद्रव्ये प्रभविष्णवः। अतस्तसुतदाराणां वशित्वं चानुशासने। विक्रये चैव -दाने च वशित्वं न सुते पितुः।

हुए यह कहा जा सकता है कि पहले मत मे वह पुरानी परम्परा का वर्णन कर रहा है। उसकी वास्तविक व्यवस्था यही है कि पति को पत्नी दान का कोई अधिकार नही। अत: यह समझना चाहिये कि छठी श० ई० मे पत्नी पति की सम्पत्ति नही रही; देवता होने पर भी, भर्त्ता भार्या का दान और विक्रय नही कर सकता था। योरोप में १९वी शती के आरम्भ तक पतियो को यह अधिकार प्राप्त था[४६]।

ताड़न का अधिकार—हिन्दू पति को, पत्नी का स्वामी तथा गुरु होने से, कुछ अवस्थाओं में उसे पीटने का अधिकार था। प्राचीन काल में प्राय सभी आदिम तथा सभ्य समाजो में भर्त्ता भार्या को शारीरिक दण्ड दे सकता था। इगलैण्ड में कामन लॉ के सर्वोत्तम व्याख्याता ब्लैकस्टोन ने इसका समर्थन किया है[४७] और वहा १८९१ तक पतियों को यह अधिकार प्राप्त था। हिन्दू समाज की व्यवस्था मे अन्य समाजो के इस संवन्ध के विधानों से विशेष अन्तर यह है कि यहां आज से २२०० वर्ष पूर्व पतियो को इस विषय में कानून द्वारा नियन्त्रित करने का प्रयत्न किया गया था।

---

४६. ग्रिम ने लिखा है कि १८२८ ई० तक इंगलैण्ड में पति अपनी पत्नियों को मण्डियों में लाकर खुले आम वेचा करते थे (मुइलर-फैमिली पृ० २२४)।

४७. इंगलैण्ड के कानूनों की टीका (पुस्तक १, अध्याय १५, पृ० ४३२-३३)। मध्यकालीन अंग्रेजी कानून के अनुसार पति पत्नी को पीटने के लिये अंगूठे से अधिक मोटी छड़ी ,का प्रयोग नहीं कर सकता था, किन्तु कुछ पशुतुल्य पति इसे नमक के पानी और सिरके में भिगोकर खूव मजबूत वना लेते थे, ताकि स्त्री के विलाप अधिक से अधिक दर्द भरे हों (स्मिथ—हिस्टरी आफ माडर्न कल्चर पृ० ५२९)। चासर की एक कहानी में पति पहले पत्नी को पीट कर उसकी एक हड्डी तोड़ता है और डाक्टर से इसका इलाज कराने के वाद उसकी टांग लंगड़ी कर देता है। पत्नी को प्राचीन तथा आधुनिक काल में पति द्वारा पीटने के अधिकार के लिये देखिये लश—हस्वैण्ड एण्ड वाइफ (४ र्थ संस्करण १९३३, पृ० २४-२९)। फिजी के नृशंस पति पत्नियों को पेड़ों के साथ बांधकर तथा कोड़ों से पीटकर अपना मनोरंजन करते थे (विलियम्ज फिजी एण्ड दी फिजियन्स १।१५६)। आस्ट्रेलिया में पति द्वारा पत्नी के पीटे, मारे तथा खाये जाने के उल्लेख मिलते हैं (लतूर्नो—इवोल्यूशन आफ मैरिज पृ० १०६)। रोम के पति इस

वृहदारण्यक उपनिषद् में संभवतः पति द्वारा पत्नी को छडी या हाथ से पीट सकने का पहली वार उल्लेख है[४८]। किन्तु यहा ताडन का न तो कोई उदात्त प्रयोजन है और न इसकी मात्रा नियत की गयी है। कौटिल्य ने सर्व प्रथम इस पवन्ध में सुन्दर व्यवस्था की है। पत्नी को अनुशासन मे रखने के लिये उसे दुर्वचन न कहे जायँ, वास की पतली खपची, रस्सी या हाथ से पत्नी की पीठ पर पति तीन प्रहार करे। इसका अतिक्रमण करने पर उसे वाग्दण्ड और पारुष्य दण्ड का आधा दण्ड दिया जाय[४८]। इससे यह स्पष्ट है कि चौथी शताव्दी ईस्वी पूर्व में पत्नी पर तीन से अधिक आघात करनेवाला पति राजकीय दण्ड का अपरावी होता था। महाभारतकार को पत्नियो का मर्यादित ताडन भी सह्य नही है। उसके मत में पापी घर मे ही स्त्रियो को पीटा जाता है[४९];

अधिकार का पूरा उपयोग करते थे। सन्त मोनिका ने कई रोमन पत्नियों के चेहरों पर पतियों द्वारा ताड़ना के चिन्ह देखकर उन्हें अपनी वाणी पर संयम रखने का उपदेश दिया था (सैण्ट आगस्टाइन--कनफैशन्स ९।९)। मध्ययुगीन योरोप में वोमेनायर के विधान में पत्नी के आज्ञा भंग अथवा अनिष्ट कामना करने पर पति को उसे ताडन का अधिकार था, वशर्ते कि वह नर्मी से पीटे और इस से पत्नी की मृत्यु न हो (लतूर्नो--वहीं पृ० २०४)। रूस में विवाह के वाद वर वधू को अपने घर ले जाते समय पीठ पर हल्के कोड़े लगाता जाता था। शयन कक्ष में प्रविष्ट होने पर, वह पत्नी को अपने जूते खोलने के लिये कहता था; एक जूते में वह अपने पर पति के प्रभुत्व की सूचना देनेवाला कोड़ा पाती थी। अपनी इच्छानुसार, पति पत्नी के व्यवहार को परुष वचनो तथा कठोर प्रहारों से सुधार सकता था (कोवलस्की--माडर्न कस्टम्ज़ एण्ड एन्शेण्ट लाज़ आफ रशिया पृ० ४४)। १६वीं शती में जर्मनी में यह कहावत थी कि गधा तथा स्त्री पिटने के लिये होते हैं।

४८. वृह० उप० ६।४।७ सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात्सा-चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्टया वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेत्। शांकर-भाष्य--सा चैदस्मै न दद्यान्मैथुनं कर्म कर्तुं काममेनामवक्रीणीयादाभरणादिना ज्ञापयेत्। तथाऽपि सा नैवदद्यात्काममेनां यष्टया व पाणिना वोपहत्यातिक्रामे-न्मैथुनाय। कौ० ३।२।९-११ नग्ने विनग्नेऽपितृकेऽमातृके इत्यनिर्देशेन विनय-ग्राहण म्। वेणुदल रज्जुहस्तानामन्यतमेन पृष्ठे त्रिराघातः। तस्यातिक्रमे वाग्दण्ड पारुष्यदण्डाभ्यामर्धदण्डाः।

४९. महाभा० १३।१२७।६ योषितश्चैव हन्यन्ते कश्मलोपहते गृहे।

उत्सव तथा पर्व के समय देवता और पितृगण ऐसे व्यक्ति के घर से निराश लौटते हैं। जो पुरुष ब्राह्मण, स्त्रियो, संबन्धियो और गौओ मे अपना पराक्रम दिखाता है, उसका डठल से पके फल की भाति पतन होता है[५०]। स्त्रियो पर नृशसता करनेवाला व्यक्ति धर्मत्यागी है (१३।१९३।१२२) । अनुशासन पर्व मे स्त्रियो पर क्रूरता करनेवाला ब्रह्मघाती के समान महापापी माना गया है (९४।२९) । महाभारतकार न केवल स्त्रियो को मानव जाति का अग ही मानता था, अपितु उन्हे गौओ और ब्राह्मणो की तरह पूज्य भी समझता था। महापरिनिर्वाण तन्त्र इसे प्रायश्चित्त योग्य अपराध ठहराता है (९।६४) । उसके अनुसार स्त्री को दुर्वचन कहनेवाले को एक दिन का उपवास करना चाहिये, ताडन करने वाले को तीन दिन का और यदि पीटने से खून वहने लगे, तो सात दिन का।

मनु ने कौटिल्य की भाति प्रहारो की मात्रा नही नियत की, पर प्रहार के स्थल को मर्यादित करते हुए[५१], उसका भग करनेवाले के लिये दण्ड का निर्देश किया है। 'यदि पत्नी, पुत्र, दास, नौकर और सगा भाई अपराध करे, तो इन्हे रस्सी (कोड़े) या खपची से पीठ पर ही पीटना चाहिये। सिर पर कभी ताड़न नही करना चाहिये। सिर पर मारनेवाले को चोरी का दण्ड मिलना चाहिये। यम (विर० २) इसी प्रकार की व्यवस्था करता है। इसके अनुसार स्त्रियो को पीठ पर ही मारा जा सकता है, दूसरे स्थान पर प्रहार करनेवाले को चोरी का दण्ड दिया जाना चाहिये। पति द्वारा पत्नी के ताडन के अधिकार पर हिन्दू समाज की भाति अन्य समाजो मे भी प्रतिवन्ध लगाये गये हैं[५२]।

---

५०. वही ५।३६।६१ ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च। वृन्तादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतन्ति ते ॥

५१. मनु० ८।२९९-३०० भार्या पुत्रश्च दासश्चप्रेष्यो भ्राता च सोदरः। प्राप्तापराधास्ताड्या स्यूरज्ज्वा वेणुदलेन वा ॥ पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन। अतोऽन्यथा प्रहरन् प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ मि० मत्स्य पुराण २२७।१५२-५४। याज्ञ० ने भार्या प्रहारक के लिये पचास पण के दण्ड की व्यवस्था की है।

५२. पत्नी को पीटने का अधिकार अनेक समाजो में सीमित होता है। न्यूवोल्ड ने मलक्कावासियो के सम्बन्ध में लिखा है कि वहां यद्यपि पति पत्नी

उपर्युक्त प्रतिवन्धो के साथ मध्ययुग मे पत्नी का ताडन स्वाभाविक समझा जाता था। शख स्मृति (४।१६) के शब्दो में लालन और ताडन से स्त्री श्री अर्थात् घर की शोभा वनती है। तुलसीदास ने अपने समय की अवस्था सूचित करते हुए कहा था 'शूद्र गवार ढोल पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।'

वर्त्तमान युग में भारतीय न्यायालयो ने इगलैण्ड की अदालतो का अनुकरण करते हुए, हिन्दू पति के ताडन के अधिकार को वहुत मर्यादित कर दिया है! पति के क्रूर होने पर पत्नी उससे कानूनी त्याग (Judicial Separation) प्राप्त कर सकती है। क्रूरता का आशय केवल मार-पीट ही नही, जिससे पत्नी के स्वास्थ्य को खतरा पैदा हो; अपितु ऐसी मार-पीट की तर्कसगत सभावना (Reasonable Apprehension) भी क्रूरता समझी जाती है[५३]।

अधिवेदन तथा भार्या त्याग के अधिकार—हिन्दू परिवार में पति को कुछ दशाओ में एक पत्नी होते हुए, दूसरी स्त्री से विवाह (अधिवेदन) का तथा भार्या त्याग का अधिकार था। पुरुष को पुर्नविवाह का अधिकार देने का मूल कारण पुत्र प्राप्ति की कामना और धर्म पालन की चिन्ता थी। आपस्तम्ब ध० सू० ने धर्म तथा सन्तान का प्रयोजन पूर्ण होने पर पुरुष द्वारा दूसरे विवाह का निषेध और इसे करने पर कठोर प्रायश्त्ति की व्यवस्था की है (२।५।११।१२-१३)। यज्ञ करने की दृष्टि से मनु ने (५।१६८) तथा याज्ञवल्क्य (१।८८) ने पहली पत्नी के मर जाने पर, पुरुष को अविलम्ब दूसरा विवाह करने की

को दास की भांति पीट सकता है; पर इतना ताडन उचित नहीं समझा जाता कि खून वहने लगे। मुस्लिम शरीयत के अनुसार पत्नी के सुधार के लिये ताड़न का अधिकार होते हुए भी पति को उसे इतना नहीं पीटना चाहिये कि कोई घाव हो जाय। प्लूटार्क के कथनानुसार समझदार रोमन पत्नी और वच्चो को पीटना पवित्र वस्तु पर हाथ उठाना समझते थे। योरोप में मध्यकाल के जिस्केलव आदि नियम निर्माताओं ने पत्नी को हथियार से पीटने तथा अंग भंग करने का निषेध किया था (वैस्टरमार्क पू० नि० पृ० ५१५)। इस मर्यादा का प्रधान कारण पत्नी के प्रति मानवीय एवं दयालुतापूर्ण व्यवहार है।

५३. सीलाबाई व० रामचन्द्रराव १२ बं० ला० रि० ३७३ (३७७); जमना बाई व० नारायण १ बं० १६४ (१७४)।

सलाह दी। गुप्त युग तक कुछ अवस्थाओ में पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार होने से[५४] पति पत्नी के अधिकारो में वड़ा अन्तर नही था; विधवा विवाह के निषेध से दोनो की स्थिति मे वैषम्य वहुत वढ गया। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि शास्त्रकारो ने अधिवेदन के अधिकार पर अनेक प्रतिवन्ध लगाये हैं। यही दशा भार्या त्याग के अधिकार की है। पति कुछ असाधारण दशाओ में ही पत्नी को छोड़ सकता था, किन्तु उसे छोड़ने का अर्थ उसे घर से निकालना अथवा पूर्ण सम्वन्ध विच्छेद नही था, इसका अभिप्राय केवल इतना ही था कि वह पत्नी को दाम्पत्य, धार्मिक तथा वोलचाल आदि लौकिक अधिकारो से वचित करता था[५५]। पत्नी का पति से भरण-पोषण पाने का अधिकार वना रहता था। व्यभिचार के अपराध में भी पति-पत्नी को नही छोड़ सकता था[५६]।

भार्या त्याग के कारण—सामान्य रूप से हिन्दू शास्त्रकारो ने कुछ विशेष कारण होने पर ही पति को भार्या त्याग का अधिकार दिया है। हारीत गर्भघातिनी, हीन वर्ण के पुरुष के साथ सम्वन्ध करनेवाली, शिष्य सुतगामिनी, शरावी तथा धनधान्यक्षयकरी पत्नी के त्याग का अधिकार देता है (व्यक० १३२, २४६)। वौधायन ने पति की सेवा न करनेवाली, स्वैरिणी तथा पतिघातिनी पत्नी के त्याग का विधान किया है (स्मृच २४७)। वसिष्ठ (२१।११) शिष्यगामिनी, गुरुगामिनी, चर्मकारादि पतित पुरुषगामिनी के त्याग की व्यवस्था करता है। मनु ने (९।७७-७८) कहा है—पति से द्वेष करनेवाली स्त्री के लिए एक साल प्रतीक्षा करे, एक साल के वाद भी वह पति से द्वेष करे, तो उसके दाय को छीनकर, उसका त्याग करे। जो स्त्री अपने प्रमत्त (द्यूतादि में फसे हुए), मत्त (शरावी) या रुग्ण पति की सेवा न करके अन्यत्र जाती है, उसके आभूषण तथा अन्य सामान

---

५४. नारद स्मृति १३।९९ नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ। पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते ।।

५५. वसिष्ठ ध० सू० १७।६६ व्यवाये तीर्थगमने धर्मेभ्यश्च निवर्त्तते। मि० स्मृति चन्द्रिका की व्याख्या (पृ० २४) ततश्चायमर्थः संभोगसहाधिकारसंस्पर्शसंभाषणादिभ्यो वर्जिता स्त्री निवर्त्तते ।।

५६. हारीत (स्मृच २४२) भार्याया व्यभिचारिण्याः परित्यागो न विद्यते। दद्यात्पिण्डं कुचेलं च अधः शय्यां च शाययेत् ।।

छीनकर तीन मास तक उसका त्याग करना चाहिए। पत्नी के शराबी, कुलटा, प्रतिकूल, रोगिणी, हिंस्र या अपव्ययी होने पर पति को दूसरा विवाह कर लेना चाहिए (९।८० मि० याज्ञ० १।७३)।

विवाह का एक प्रधान प्रयोजन सन्तानोत्पादन था। पुत्र ऐहिक व पारलौकिक कार्यों के लिए आवश्यक समझा जाता था (दे० सातवां अध्याय)। अत. मनु कहता है--पत्नी के वन्ध्या होने पर पति को विवाह के आठवें वर्ष में दूसरा विवाह कर लेना चाहिए। यदि उसकी सब सन्तानें पैदा होकर मर जाती हैं, तो १०वें वर्ष में अधिवेदन करना चाहिए। यदि कन्यायें ही पैदा हो, तो ११वें वर्ष और यदि पत्नी अप्रियवादिनी हो तो पति को फौरन दूसरा विवाह कर लेना चाहिए[५७]।

कौटिल्य ने वन्ध्या, मृतप्रजा तथा कन्या प्रसविनी के सम्बन्ध म मनु से मिलती जुलती व्यवस्था की है, किन्तु उसकी अप्रियवादिनी की शर्त का उल्लेख नही किया और आठ वर्ष से पहले विवाह करनेवाले के लिये दण्ड का विधान किया है। ऐसे व्यक्ति को राज्य को २४ पण का जुर्माना देना पडता था तथा पहली स्त्री को दूसरा विवाह करने से होनेवाली क्षति पूरी करने के लिये पर्याप्त धन (आधिवेदनिक) तथा कन्या शुल्क का आधा स्त्री धन देना भी आवश्यक था (३।२।४७-५१), वह पतियो को इस विषय में कोई विशेष अधिकार नही देता। प्राचीन यूनान मे पतियो को इस बात का दुःख था कि दहेज ने भार्यात्याग को कठिन बना दिया है[५८]। मौर्य

---

५७. मनु० ९।८१ वन्ध्याष्टमाधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा। एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥ कुल्लूक यहां अप्रियवादिनी के साथ अपुत्र होने की शर्त्त जोड़ता है। अप्रियवादिनी सद्य एव यद्यपुत्रा भवति। पुत्रवत्यां तु 'धर्मप्रजासंपन्ने दारे नान्यां कुर्वीत, अन्यतरापाये तु कुर्वीत, इत्यापस्तम्बनिषेधादधिवेदनं न कार्यम्।

५८. यूरीपाइडीज ने अपने नाटक मेलनिप्पस में एक पात्र से यह कहलवाया है--'दहेज तलाक को कठिन बना देता है।' इसका कारण यह था कि यूनान में यद्यपि पति पत्नी का परित्याग कर सकता था, परन्तु उसे दहेज वापिस करना तथा उस पर सूद देना आवश्यक होता था। प्लूटार्क के कथनानुसार रोम के संस्थापक रोमुलस ने यह कानून बनाया था कि पत्नी छोड़नेवाले पति को उसे अपनी सम्पत्ति का आधा हिस्सा देना चाहिये।

युग मे हिन्दू-परिवार मे भी पति पत्नी को छोड़ते हुए अवश्य घबराते होंगे; क्योकि पत्नी छोडने के साथ उन्हे काफी आर्थिक क्षति उठानी पड़ती थी।

देवल ने भी मनु० ९।८१ की पहली तीन शर्तों को दोहराया है (स्मृच २४४); किन्तु अप्रियवादिनी पत्नी के त्याग का कोई उल्लेख नही किया। कुछ शास्त्रकार दूसरा विवाह करने से पहले पति के लिये पहली पत्नी की आज्ञा एवं परितोषण आवश्यक समझते हैं। मनु का मत है कि यदि पत्नी हितैषिणी, शीलसम्पन्ना और रोगिणी हो, तो उसकी अनुमति प्राप्त करके ही दूसरा विवाह करना चाहिए (९।८२)। कई पत्निया सौत के आ जाने पर अपने दु.खपूर्ण जीवन से बचने के लिये घर से भाग जाती थी। मनु ने इसके लिए बड़ी कड़ी व्यवस्था की है। दूसरा विवाह करने पर यदि पहली पत्नी क्रुद्ध होकर घर से निकल जाती है, तो उसे जल्दी ही घर में बन्द कर देना चाहिए या उसके पितृगृह मे उसे छोड़ देना चाहिए (९।८३)। आगे चलकर मनु की इस व्यवस्था का कारण स्पष्ट किया जायगा। अन्य शास्त्रकारो ने मनु की इस कठोर व्यवस्था का अनुकरण नही किया। देवल ऐसी नौबत ही नही पैदा होने देना चाहता। वह पति के पुनर्विवाह के अधिकार को रुग्णा, वन्ध्या, स्त्री प्रसविनी, उन्मत्ता और विगतार्त्तवा होने तक ही परिमित करता है (अप० १।७३, स्मृच २४६)। इन अवस्थाओ में पत्नी प्रायः दूसरे विवाह की अनुमति दे देती है। किन्तु यदि पुरुष केवल कामवश दूसरी स्त्री से शादी करना चाहता है, तो उसके लिए पहले यह उचित है कि वह

इस्लाम में यद्यपि कुछ अवस्थाओ के न होने पर तलाक शब्द के तीन बार उच्चारण से ही पति पत्नी का त्याग कर सकता है, किन्तु 'मेहर' (स्त्रीधन) वापिस करना पड़ता है। तलाक के समय दहेज की वापिसी तथा भरण-पोषण की व्यवस्था अधिकांश सभ्य समाजों में है (वैस्टर मार्क-हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज पृ० ५२३ अनु०)। इसका उद्देश्य पतियों द्वारा स्वच्छन्द रूप से भार्यात्याग पर अंकुश लगाना है। इसका निरंकुश प्रयोग केवल इने-गिने आदिम समाजों में ही है। लतूर्नो (इवोल्यूशन आफ मैरिज पृ० २२९ अनु०) ने अफ्रीका के हाटन टाट तथा न्यू कैलीडोनिया और उत्तरी अमरीका की चिपिवे, चिन्तुक जातियों के पतियों के सम्बन्ध में लिखा है कि तबीयत भर जाने पर वे अपनी पत्नी छोड़ देते हैं।

पहली विवाहिता पत्नी को धन से सन्तुष्ट करे, तभी दूसरी स्त्री से शादी करे (स्मृच २४४)[५९]।

अधिवेदन पर प्रतिबन्ध—पत्नी के दोषयुक्त होने पर भी जब पति उसका त्याग करता है, तो इसका आशय यही है कि वह उसे तीर्थ अर्थात् सहवास के अधिकार से वञ्चित रखता है (व० १७।६६)। पति कभी उसके भरण पोषण की जिम्मेवारी से मुक्त नही होता। याज्ञ०(१।७४)ने स्पष्ट कहा है, 'अधिविन्ना (दूसरा विवाह करने के बाद पूर्व विवाहिता पत्नी) का भरण पोषण करना चाहिए, नही तो वडा पाप लगता है (अधिविन्ना तु भर्त्तव्या महदेनोन्यथा भवेत्)। महाभारत का मत है कि पापी होने पर भी पत्नी का भरण होना चाहिए (१३।५९।३०)। स्त्री का सब से वडा अपराध व्यभिचार हो सकता है। आगे यह वताया जायगा कि इस अवस्था में भी पति का यह कर्त्तव्य है कि वह पत्नी का भरण पोषण करे।

शास्त्रकार पति पर पत्नी के भरण पोषण का उत्तरदायित्व डालकर ही सन्तुष्ट नही रहे, उन्होने निर्दोष पत्नी के त्याग करनेवालो की घोर निन्दा की तथा उन्हे दण्डनीय अपराधी वताया है। महाभारत (कुं० १३।५९।१० प्र०) साध्वी स्त्री को छोडनेवाले पुरुष का अपराध ऐसा मानता है, जिसकी कोई निष्कृति नही है (एव हि भार्यां त्यजता नराणा नास्ति निष्कृति)। देवल भी इसी मत का समर्थन करता है। पराशर ने इस विषय में वडी मनोरञ्जक दण्ड व्यवस्था की है। 'जो पुरुष यौवन में अदुष्ट तथा अपतित भार्या का परित्याग करता है; वह सात जन्म तक स्त्री बनता है और हर जन्म में वह स्त्री विधवा होती है'[६०]। मनुष्य स्वार्थान्ध तथा कामान्ध होने पर परलोक के दण्डो की परवाह नही करता। ऐसे पति के लिये याज्ञ-वल्क्य और नारद ने राजदण्ड की व्यवस्था की। 'जो पुरुष आज्ञा सम्पादिनी,

---

५९. स्मृच २४४ एकामुत्क्रम्य कामार्थामन्यां लब्धुं यदीच्छति। समर्थस्तोषयित्वार्थैः पूर्वोढामपरां वहेत्॥ देवल अप० १।७३ व्याधितां स्त्रीप्रजां वन्ध्यामुन्मत्तां विगतार्त्तवाम्। अदुष्टां लभते त्यक्तुं तीर्थात्त्वेव कर्मण॥

६०. मि० देवल (स्मृच २४५) स्वदारांस्त्यजतो मोहान्नरस्यान्याय मोचिनः। धर्मं वंशपरित्यक्तुर्निष्कृतिर्न विधीयते॥ परा० ४।१५ अदुष्टामपतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत्। सप्तजन्म भवेत्स्त्रीत्वं वैधव्यं च पुनः पुनः॥

दक्ष, पुत्रवती एव प्रियवादिनी स्त्री को छोडता है, उसकी सम्पत्ति का तीसरा भाग छीनकर पत्नी को दिलाना चाहिए। यदि वह निर्धन है, तो स्त्री को 'भरण दिलाना चाहिए' (याज्ञ० १।७६)। नारद पति की सम्पत्ति की जब्ती से सन्तुष्ट न होकर कहता है—'जो पुरुष, अनुकूल, प्रियवदा, कुशल साध्वी और प्रजावती पत्नी को छोड़ता है, राजा को चाहिए कि वह उस पुरुष को बहुत अधिक दण्ड दे और उसे उस पत्नी के साथ ही रखे[६१]। वह दारत्यागी को वड़ा पतित तथा विश्वास न करने योग्य समझता है। ऐसा पुरुष अदालत में साक्षी देने योग्य नही है (४।१८०)।

नारद और याज्ञवल्क्य ने निर्दोष पत्नी के अधिवेदन मे राजदण्ड का विधान किया; किन्तु उन दोनो ने वहुत ही लचकीले कारणो से पति के अधिवेदन के अधिकार को स्वीकार किया है[६२]। अप्रिय बोलनेवाली पत्नी को अधिवेदन योग्य माना है। इस विषय मे आपस्तम्व ने आदर्श व्यवस्था की है। उसके मत में विवाह के दो उद्देश्य हैं' (१)—धर्म का पालन, (२) प्रजा की प्राप्ति। इनके पूर्ण हो जाने पर दूसरा विवाह नही करना चाहिए। यदि कोई पुरुष ऐसा करता है, तो आपस्तम्व ने उसके लिए कठोर प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है। इस प्रकार अपनी निर्दोष पत्नी का परित्याग करनेवाला पुरुष छः मास तक वालोवाला हिस्सा वाहर रखते हुए गधे की खाल को (वस्त्रो के स्थान पर) धारण करे और सात घरो से भिक्षा मागकर अपना निर्वाह करे[६३]।

---

६१. ना० स्मृ० १५।९५ अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्। त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा ॥

६२. याज्ञ० १।७३ सुरापी व्याधिता धूर्ता वन्ध्याऽर्थघ्न्यप्रियंवदा। स्त्रीप्रसूश्चाधिवेत्तव्या पुरुषद्वेषिणी तथा। ना० स्मृ० १५।९३-९५ स्त्रीधनभ्रष्टसर्वस्वां गर्भविस्रंसिनीं तथा। भर्त्तुश्च वधमिच्छन्तीं स्त्रियं निर्वासयेत् गृहात् ॥ अनर्थशीलां सततं तथैवाप्रियवादिनीम्। पूर्वाशिनी च या भर्त्तुः तां स्त्रीं निर्वासयेत्गृहात् ॥

६३. आप० ध० सू० २।५।११।१२-१३ धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नान्यां कुर्वीत। अन्यतराभावे कार्या प्रागग्न्याधेयात् तथा वहीं १।१०।२८।१९ खराजिनं बहिर्लोम परिधाय दारव्यतिक्रामिणे भिक्षामिति सप्तागाराणि चरेत्। सा वृत्तिः षण्मासान्। दक्ष (अप० पृ० ११३) कहता है—पहली पत्नी के दोषवती होने पर ही दूसरी पत्नी ग्रहण करे।

पति पत्नी को छोडकर दूसरा विवाह करके उसके सुहाग को जब चाहे नष्ट कर सकता था। पत्नी के लिए यह परम दुर्भाग्य था; क्योकि उसकी पति से अन्यत्र कहीं गति नही थी। पतिव्रता सीता राम के आदेश से अग्नि परीक्षा में सर्वथा निर्दोष सिद्ध हुई थी, फिर भी रामचन्द्र ने केवल लोकापवाद के भय से उनका परित्याग उचित समझा। लक्ष्मण ने उन्हें हिंस्र पशुओ वाले वन में छोंड़ दिया। उस समय सीता ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं (वा० रा० ७। ४८) वे हिन्दू पत्नी की विवशता, दुःख तथा पति के असाधारण अधिकार को प्रकट करते हैं। उपर्युक्त प्रतिवन्धो के होते हुए भी, प्राय पति को पत्नी छोडने का पूर्ण अधिकार था। कालिदास ने अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के प्रत्याख्यान का जो चित्र उपस्थित किया है, वह उस समय के पतियो की भार्यात्याग विषयक निरकुश सत्ता को सूचित करता है। दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के स्वीकार न किये जाने पर ,उसके साथ आया हुआ ऋषि-कुमार शारद्वत कहता है—यह आपकी पत्नी हैं। आपकी इच्छा हो, इसे छोड दीजिये या स्वीकार कीजिए; क्योकि स्त्रियो पर (पतियो की) सर्व-तोमुखी प्रभुता होती है[६४]।

वर्तमान काल में इस प्रभुता का अन्त हो रहा है। प्रस्तावित हिन्दू विधान में एक पत्नी के रहते हुए पति द्वारा दूसरा विवाह निषिद्ध ठहराया गया था (भाग २ धारा ७ क तथा २५) कुछ विशेष अवस्थाओ (धारा ३०) में पति पत्नी समानरूप से विवाह विच्छेद कर सकते थे और इसके वाद दोनों को पुनर्विवाह करने का तुल्य अधिकार था (धारा ५०) नये हिन्दू विवाह विधेयक में भी इस प्रकार की व्यवस्था है।

पत्नी का भरण—सर्वतोमुखी प्रभुता के साथ पति पर कई महान् उत्तर-दायित्व भी थे, इनकी गुरुता, प्रभुता की महत्ता को थोडा वहुत सतुलित करती थी। पति के कर्तव्यो में सर्वप्रथम और सब से महत्त्वपूर्ण पत्नी का पालन करना था। अथर्ववेद में पाणिग्रहण के प्रथम मत्र में ही पति यह प्रतिज्ञा करता है कि पत्नी मेरे द्वारा पोपणीय है (ममेयमस्तु पोष्या १४।१।५२)। पति और भर्त्ता शब्द का अर्थ क्रमश रक्षण और भरण करनेवाला है। भार्या का अर्थ है भरण की

---

६४. अभिज्ञान शाकु० ५।२६ तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा। उपपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी ॥

जाने योग्य स्त्री। महाभारत में इन शब्दो की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहा गया है—भरण करने योग्य स्त्री के भरण करने से (पुरुष) भर्त्ता तथा पालन करने से पति कहलाता है (१।१०४।३१)[६५]। अन्यत्र यह वताया गया है, यदि पति भरण तथा पालन का दायित्व पूर्ण नही करता, तो वह भर्त्ता और पति नही रहता[६६]। मनु के मत मे साध्वी भार्या का सदा भरण करना चाहिए (९।९५), किन्तु इससे यह परिणाम नही निकालना चाहिए कि पति दुश्चरित्रा पत्नी के पालन के दायित्व से मुक्त हो जाता है। याज्ञ० (१।७०) व्यभिचारिणी को पिण्डमात्र का अधिकारी मानता है। आगे यह वताया जायेगा कि पत्नी के व्यभिचारिणी होने के लिए पति ही दोषी माना जाता था। अतः पति के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसी स्त्री का भरण करे। पति द्वारा दूसरे विवाह के वाद पहली पत्नी (अधिविन्ना) के भरण की याज्ञवल्क्य की व्यवस्था का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। मेधातिथि और कुल्लूक (९।९५) पति से द्वेष करनेवाली पत्नी के भी भरण का विधान करते है। मनु (८।३८९) माता, पिता और स्त्री को सदा भरण योग्य मानता है तथा इन्हे छोडनेवाले पुरुष को राज्य द्वारा ६०० पण के जुर्माने की व्यवस्था करता है। मनुस्मृति की कुछ प्रतियो मे ११।१० के वाद एक अधिक श्लोक पाया जाता है। इसके अनुसार (चोरी आदि) अकार्यो द्वारा भी माता, पिता और पत्नी का भरण करना चाहिए[६७]। महाभारत उसी पुरुष का जन्म सफल मानता है, जो अन्न पान से अपनी पत्नी के मन को जीत ले[६८]।

भार्योपजीवी की निन्दा—हिन्दू शास्त्रकार न केवल पति द्वारा भार्या के भरण पोषण के कर्त्तव्य पर वल देते है, अपितु उन पुरुषो की निन्दा करते है, जो अपनी पत्नी की सम्पत्ति से निर्वाह करते है। भर्त्ता पुरुष के लिए यह बात

---

६५. महाभा० १।१०४।३१ भार्यायाः भरणाद् भर्त्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।

६६. महाभा० १२।२६६।३६ भरणाद्धि स्त्रिया भर्त्ता पालनाच्चैव स्त्रियाः पतिः। गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्त्ता न पुनः पतिः॥

६७. वृद्धौ मातापितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकार्यशतं कृत्वा भर्त्तव्याः मनुरब्रवीत्॥ यह श्लोक विज्ञाने० (या० १।२२४) व मेधा० (मनु ३।३६२) ने उद्धृत किया है।

६८. ५।३९।८३ अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम्।

अपमानजनक समझी गई है कि वह भरणीय भार्या के आश्रय पर जीवन यापन करे। महा० (१३।९३।१२४-१२५) में भार्योपजीवी को गोघाती के समान पापी का दर्जा दिया गया है। १३।९४।२२ में पुरु अगस्त्य का कमल चुरानेवाले को शाप देते हुए कहता है—'जिसने आपका कमल चुराया है, वह भार्या के आश्रय पर पुष्ट हो (भार्यया चैव पुष्यतु), श्वसुर के सहारे उसकी जीविका चले; १४।९०।४६ में पत्नी से पोषण प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को दयनीय वतलाया गया है। ७।७३।३३ में पत्नी पर जीवित रहने वाले के लिये मृत्यु के वाद निन्दित गति पाने का वर्णन है। पत्नीजीवी पुरुष की तीव्रतम निन्दा अनुशासन पर्व (१२०।३७-३९) में है। वहा इसे ब्राह्मण घाती, गोघाती तथा व्यभिचारी पुरुष की भाति पापी, असभाष्य और नराधम कहा गया है, इसके पाप की निष्कृति नही है, मवाद और रुधिर का का भक्षण करने वाले ये लोग नरक में मछलियो की तरह भूने जाते हैं[६९]।

---

६९. भार्योपजीवी की तीव्र निन्दा का एक कारण यह है कि पुरुष को अपनी पत्नी का भरण करना चाहिए; किन्तु दूसरा कारण यह भी प्रतीत होता है कि नट (चारण, कुशीलव, शैलूष) तथा खेल तमाशा दिखाने वाले अपनी स्त्रियो के नृत्य तथा गान से तथा उनको दूसरे पुरुषों को देकर आजीविका का उपार्जन करते थे। इन पुरुषों की पत्नियों के सम्बन्ध में शास्त्रकार व्यभिचार सम्बन्धी कठोर नियमों को लागू नहीं करते। उदाहरणार्थ सामान्यतः पुरुष परस्त्री के साथ समागम करने पर दण्डनीय होता था (मनु० ८।३६१, याज्ञ० २।१८५); किन्तु चारणों पर यह नियम लागू नहीं होता था (वहीं ८।३६२, बौधा० २।४।३)। शास्त्रकारों ने यद्यपि इन लोगों में व्यभिचार के कानून को कड़ा नहीं रखा था, किन्तु ऐसे पुरुषो की तीव्र भर्त्सना की। अपनी पत्नी के रूप को जीविका का साधन वनानेवाले पुरुष को घातक के समान पापी और नरकगामी वताया गया है (विष्णु० ३७।२५, ४३।२६, ४४।५)। चारण, कुशीलव को साक्षी के अयोग्य वताया गया है (मनु० ८।६५, याज्ञ० २।७०-७१, ना० स्मृ० च ४।१८१ प्र०)। भार्याजीवी चारण आदि न केवल अदालत में गवाही नहीं दे सकते थे, वल्कि उनके अन्न को भी अभक्ष्य माना गया है (मनु० ४।२१४, याज्ञ० १।१६१ प्र०, विष्णु० ५१।१२।-१३; व्यास० ३।५१)। अपनी पत्नी के प्रेमी से भेंट लेने वाले के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था है (याज्ञ० २।३०१)।

पति यदि पत्नी का भरण-पोषण न करे, तो पत्नी क्या उस पति को छोड़कर दूसरा विवाह कर सकती थी या पति को अपने भरण के लिए वाधित कर सकती थी। प्राचीन साहित्य से इस विषय पर अधिक प्रकाश नही पडता; केवल दीर्वतमा की कथा में इस का कुछ वर्णन मिलता है। इस जन्मान्ध ऋषि ने परिवार के भरण पोषण की चिन्ता नही की। जब इसने स्वच्छन्द जीवन विताना शुरु किया तो इस की पत्नी प्रद्वेषी इससे द्वेष रखने लगी। एक वार उसने जब प्रद्वेषी से इसका कारण पूछा तो उसने उत्तर दिया, —'पति भार्या के भरण से भर्त्ता और पालन करने से पति कहलाते है; हे महा तपस्वी, जन्म से अन्वे आपका तथा पुत्रो का सदा भरण करते हुए मैं थक गई हूँ, अव और भरण नही कर सकूगी'। दीर्घतमा ने उसे कहा 'मुझे क्षत्रियो के पास ले जाओ। वहा से धन प्राप्त होगा।' इस पर प्रद्वेषी का उत्तर है—'मुझे आपके दिये दु.खदायी धन की आवश्यकता नही है। तुम जो चाहे करो, मै पहले की तरह तुम्हारा भरण पोपण नही करूँगी'। उस समय दीर्घतमा ने यह मर्यादा स्थापित की कि पत्नी एक पति को छोड़ कर अन्यत्र नही जा सकती। किन्तु यह सुन कर प्रद्वेपी वहुत क्रुद्ध हुई और उसने अन्वे पति को पुत्रों से वेड़े पर वधवा गगा मे फिकवा दिया (महाभा० १।१०४।२९-४०)। महाभारत प्रद्वेषी के पुर्नविवाह के सम्वन्ध में मौन है। वाल विवाह के प्रचार के वाद पति का पत्नी के भरण पोषण का दायित्व वहुत वढ गया। सयुक्त परिवार की प्रथा के कारण उसे इसमे वड़ी सुविधा थी।

भरण की व्यवस्था के मूल कारण—पति द्वारा पत्नी के भरण की व्यवस्था सार्वभौम है। इस का मूल कारण जीव शास्त्र से सम्वन्ध रखता है। आत्म-संरक्षण के लिए यह आवश्यक है कि पति पत्नी का भरण पोषण करे। पक्षियों मे हम यह देखते है कि मादा अण्डो को सेती है, और नर उसकी रक्षा करता है तथा उसके लिए भोजन सामग्री जुटाता है। प्रायः सभी प्राणिशास्त्री इस बात पर सहमत है कि गोरिल्ला और चिम्पाञ्जी परिवार वनाकर रहते है। इनमे मादा के गर्भवती होने पर मादा किसी पेड में एक घोसला वनाता है। मादा वहां वच्चा जनती है। नर रात भर पेड़ के नीचे वैठा हुआ चीते आदि से रक्षा के लिये पहरा देता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसकी जाति नष्ट हो जाय[७०]। मानव भी इन्ही कारणो से पत्नी की रक्षा करने के लिए बाध्य होता है। पत्नी को यदि गर्भावस्था मे तथा प्रसव के वाद आराम न दिया जाय, इन

७०. वैस्टरमार्क शार्ट हिस्टरी आफ मैरिज पृ० १४

दोनो अवस्थाओं में उसका उपयुक्त भरण पोषण न हो तो इसका उसकी सन्तान पर गहरा असर पड़ेगा। पुरुष द्वारा स्त्री के भरण की व्यवस्था समाज के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद है; इसीलिये यह सर्वत्र सर्वमान्य समझी जाती है। यदि कोई पुरुष अपनी पत्नी को छोड़ता है तो अन्य व्यक्ति परित्यक्ता के साथ सहानुभूति प्रकट करते हैं, परित्याग करने वाले से रुष्ट होते हैं; क्योंकि उसने अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन नही किया। शनैः शनैः इस विचार का उदय होता है कि पति विवाह द्वारा अपने ऊपर एक दायित्व लेता है। यदि वह इस दायित्व को पूरा नही निवाहता तो समाज में निन्दा का पात्र वनता है, क्योंकि उस व्यक्ति की इस उपेक्षा से अन्ततोगत्वा समाज को हानि पहुँचती है। अतः पति द्वारा पत्नी के भरण की व्यवस्था सव देशों और जातियो में पाई जाती है[७१]।

पत्नी का रक्षण—भरण के साथ ही पत्नी के रक्षण का भी कार्य जुड़ा हुआ है। जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से भरण और रक्षण एक ही प्रक्रिया के दो पहलू है। जिन कारणो से भरण पति का कर्त्तव्य स्वीकार किया जाता

---

७१. संसार की अत्यन्त हीन समझी जाने वाली जातियों में भी यह विचार है। कैलीफोर्निया की पटविन जाति सभ्यता की दृष्टि से संसार की निम्नतम जाति है, किन्तु पावर्ज ने इसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि इस जाति में यह सिद्धान्त हम लोगों की अपेक्षा अधिक प्रवलता से स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य स्त्रियों के भरण के लिए वाध्य है। लंका के वेद्दा लोग परिवार के भरण पोपण को आवश्यक वैवाहिक कर्त्तव्य समझते हैं। मालदिववासियो में चार पत्नियों के व्याहने की स्वतंत्रता है, किन्तु इसी शर्त्त परं कि वह उनके भरण पोषण करने में समर्थ हो। न्यू ब्रिटेन के नरभक्षियो में मुखियाओ का यह कर्त्तव्य है कि वे इस वात की देख भाल करें कि योद्धाओं के परिवारो का भरण पोषण हो रहा है। टोगा द्वीपवासियो में विवाहित स्त्री वह है, जो किसी पुरुष के साथ सहवास करती है और उससे भरण पोषण पाती है। मओरी जाति में पत्नी का काम सन्तानोत्पादन है तथा पति का गृह रक्षण व पालन (वैं० ओडेमा० पृ० ५२ ६ अ०) अनेक जातियो में विवाह से पहले वर की इस वात की परीक्षा ली जाती है कि वह अपने परिवार का पालन और रक्षण करने में कितनी सामर्थ्य रखता है (वैस्टरमार्क वही पृ० १८) पति द्वारा छोड़ी जाने पर भी पत्नी पति से भरण पाने का अधिकार रखती है, इस विषय के उदाहरणों के लिए दे०, वैस्टरमार्क वही पृ० १९।

है, उन्ही कारणों से रक्षण का दायित्व भी उसी पर पडता है। रक्षण का सामान्य अभिप्राय है—शत्रुओ तथा भौतिक संकटो से रक्षा। हिन्दू परिवार में पति का यह कर्त्तव्य है कि वह पत्नी की सब प्रकार की आपत्तियो से रक्षा करे। महाभारत में विदुर ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि आपत्ति के लिए धन को बचाये और धन से स्त्रियो की रक्षा करे[७२]। यद्यपि इसी ग्रन्थ में अन्यत्र (१२।१३१।८) यह भी सलाह दी गई है कि यदि राजा शत्रु द्वारा आक्रान्त हो, तो वह उसे स्त्रियां देकर अपनी रक्षा करे। किन्तु इसका उपयोग शायद ही कभी किया गया हो। महाभारत मे सकट उपस्थित होने पर, पुरुष ने कभी पत्नी द्वारा अपनी रक्षा नही चाही; किन्तु पत्नी की रक्षा को परम धर्म माना है। आदि पर्व मे एक ब्राह्मण के आगे यह समस्या है कि वह बक राक्षस के भोजन के लिए अपने परिवार मे से किस व्यक्ति को भेजे। कई श्लोको मे अपनी पत्नी की प्रशसा करते हुए उसने उपर्युक्त सिद्धान्त का खण्डन किया है—"मैं साध्वी, कभी न अपकार करने वाली, सदा अनुकूल रहने वाली तुझ पत्नी का अपने जीवित रहने के लिए परित्याग नही कर सकता[७३] आश्वमेधिक पर्व में उञ्छवृत्ति ब्राह्मण के सामने अतिथि को खिलाने की समस्या है। दारुण दुर्भिक्ष में उसके घर एक अतिथि आता है। उसे वह अपना हिस्सा देता है, किन्तु अतिथि की क्षुधा निवृत्ति नही होती। वह उसके लिए अन्य भोजन ढूढता है। पत्नी ब्राह्मण को कहती है कि मेरा हिस्सा अतिथि को दे दो। किन्तु ब्राह्मण का उत्तर है—"हे शोभने, कीट पतग और मृगो में भी नर मादा का रक्षण और पोषण करते है; अतः तुम्हारा यह कहना ठीक नही है।......जो पुरुष भार्या के रक्षण में असमर्थ है वह महान् अपयश पाता है तथा नरक मे जाता है[७४]। भास के मध्यम व्यायोग नाटक में परिवार के मुखिया के सामने बकवध पर्व के ब्राह्मण वाली समस्या उपस्थित है, किन्तु वह पत्नी द्वारा अपने प्राण नही बचाता।

---

७२. महा० ५।३७।१८ आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥

७३. वही १।१५९।३३-३४ त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम्। परित्यक्तुं न पश्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ॥

७४. महाभा० १४।९०।४५, ४८-४९ अपि कीट पतंगानां मृगाणां चैव शोभने। स्त्रियो रक्ष्याश्च पोष्याश्च न त्वेवं वक्तुमर्हति ॥.....भार्या रक्षणे योऽक्षमः पुमान्। अयशो महदाप्नोति नरकांश्चैव गच्छति ॥

भार्या के रक्षण पर महाभारत में वहुत अधिक वल दिया गया है, इसमें असमर्थ पुरुष की निन्दा की गयी है। यहा थोडे से प्रमाणो का ही निर्देश होगा। ४।२१।३९ में कीचक से वचाने की याचना करती हुई द्रौपदी ने भीम को इस रक्षण सम्वन्धी दायित्व का स्मरण कराया है (४।२१।४०-४२ मि० ३।१२।७१-७२, मनु० ९।५-६)। पाण्डवो के लिए यह सव से वड़ा कलंक था कि वे अपनी पत्नी की रक्षा नही कर सके। द्रौपदी ने अपना तथा पाण्डवो का दासता से उद्धार किया था। वन पर्व में वह अपने पतियो की नपुसकता की निन्दा करते कहती है—'युद्ध में श्रेष्ठ महावलवान् पाण्डवो की मैं निन्दा करती हूँ, ये अपनी यशस्विनी धर्मपत्नी को कष्टपीडित देखते रहे। भीमसेन के वल को धिक्कार है, अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कार है (३।१२।६८-६९)। पाण्डवो के लिए यह वात वहुत अधिक सन्तापकर थी। दुर्योधन ने अपनी पत्नी की रक्षा में असमर्थ पाण्डवो को षण्ढ कहा था (५।१६०।११४, ५।१६१।१३२) तथा उन्हे द्रौपदी का क्लेश वताते हुए पुरुष वनने का उपदेश दिया था[७५]। पाण्डवो के लिए इससे अधिक तीव्र भर्त्सना क्या हो सकती थी। महाभारतकार के मत में भार्या रक्षण में असमर्थ व्यक्ति नरक गामी होता है (१४।९०। ४८-९)।

धर्मसूत्रो और स्मृतियो में स्त्री रक्षण को वहुत महत्व दिया गया है क्योंकि स्मृतिकारो को नारी के स्वभाव पर वहुत अधिक अविश्वास था, उनके मत में स्त्रियो मे काम वासना अधिक होती है,[७६] वे सदा नये पुरुषो को चाहती हैं। असती होना उनका स्वभाव है। यदि वे असती या कुलटा होती है तो इसमें उनका कोई दोष नही, पुरुषो को उन पर हमेशा पहरा रखना चाहिए[७७]। पति का यह कर्त्तव्य है कि वह उनकी रक्षा करे। पति यदि उनकी रक्षा नही करेगा तो दूषित सन्तान उत्पन्न होगी, अत स्त्री की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए (मनु० ९।९)। मनुष्य अपनी पत्नी की रक्षा से अपने पुत्र, चरित्र, कुल आत्मा तथा धर्म की रक्षा करता है (मनु० ९।७)। हारीत पत्नी की रक्षा न होने से धर्मनाश, इससे आत्मनाश तथा आत्मनाश से सर्वनाश मानता है (विर० ४१०)। पैठीनसि भी हारीत की तरह भार्या की रक्षा

---

७५. ५।१६०।९० कृष्णायाश्च परिक्लेशं संस्मरन् पुरुषो भव।

७६. वृहत्पराशर पृ० १२१ ; स्त्रीणामष्टगुणः कामो व्यवसायश्च षड्गुणः। लज्जा चतुर्गुणा तासामाहारश्च तदर्धकः॥

७७. देखिए चौथा अध्याय।

पर बल देता है; क्योकि उसका रक्षण न करने से वर्णों में सकर हो जाने की संभावना है (विर० ४११)। बृहस्पति चौबीसो घण्टे स्त्रियो की चौकसी रखने की व्यवस्था करता हुआ कहता है—स्त्रियो के सम्वन्धियो को मामूली प्रसंगों में भी स्त्रियो की रक्षा करनी चाहिए। दिन रात सास आदि से तथा अन्य बड़ी स्त्रियो द्वारा उसका रक्षण होना चाहिए (व्यक० १२९, विर० ४११)। याज्ञ० भी पत्नी को रक्षणीय वताता है (१।८१)। स्त्रियो की रक्षा करने के उद्देश्य से उन्हे परतन्त्र वनाने की व्यवस्था का प्रचलन हुआ (महाभारत १३। २०।१४-२०)।

पत्नी की रक्षा के उपाय—किन्तु जीवन भर स्त्री को परतन्त्र वना कर उसके असतीत्व का निवारण नही हो सकता। भीष्म का मत है—पुरुष किसी प्रकार से नारी की रक्षा नही कर सकता। विश्व को वनाने वाले (प्रजापति) उनकी रक्षा नही कर सकते तो मनुष्य उनकी रक्षा कैसे कर सकते है? (कठोर) वचनो से, वध से वन्धन से तथा विविध प्रकार के क्लेश देकर नारियों की चौकसी नही की जा सकती, क्योकि ये सदा असयत है[७८]। मनु भीष्म की तरह निराशावादी नहीं है, वह स्त्रियो की रक्षा को कठिन मानता हुआ भी उनका सारा समय घरेलू कार्यों से इतना भर देता है कि उन्हे असती होने का अवसर ही न मिले। 'कोई पुरुष (अन्तः पुर मे वन्द कर के) वलपूर्वक स्त्रियों की (परपुरुषो के ध्यान तथा कदाचरण आदि से) रक्षा करने में समर्थ नही है। उनका रक्षण इन उपायो के प्रयोग से हो सकता है—धन के सग्रह (उसे घर में सुरक्षित रखने), व्यय करने, (घर की सव वस्तुओ की) सफाई, दैनिक धार्मिक कार्य, भोजन पकाने तथा (घर की सब वस्तुओ की) देखभाल में पत्नी को लगाये रखने से। सावधान पुरुषो द्वारा अपने घर में बन्द की हुई स्त्रिया सुरक्षित नही होती (उनके चित्त में परपुरुषों के विचार आ सकते है), जो स्त्रिया (उपर्युक्त उपायो से) अपनी रक्षा करती है, वही सुरक्षित रहती है (मनु० ९।१०-१२)। मनु के आशय को स्पष्ट करता हुआ गोविन्दराज लिखता है—पत्नी का मन इन कार्यों में लगा रहता है, इन्हें करते हुए थक कर वह सो जाती है और (दूसरे पुरुष के) सम्बन्ध का स्मरण

---

७८. १३।४०।१४-१५; न तासा रक्षणं शक्यं कर्त्तुं पुंसा कथंचन। अपि विश्वकृता तात कुतस्तु पुरुषैरिह ॥ वाचा च वधवन्धैर्वा क्लेशैर्वा विविधैस्तथा न शक्या रक्षितुं नार्यस्ताहि नित्यमसंयताः ॥

नही करती[७९]। बृहस्पति (व्यक० १३०, विर० ४११) के मत में स्त्रियो को शुद्ध रखने का यही उपाय है कि पत्नी को पारिवारिक आय व्यय, भोजन बनाने; घर के सामान के रक्षण, सफाई तथा अग्निहोत्र के कार्यों में लगाया जाय[८०]। हारीत (विर० ४३१-४) शुक्र (४।४।८-३१) ने पत्नी के कार्यों की विस्तृत सूची दी है, इनके अनुसार प्रात काल पति के जगने से पहले उठकर वह अपने दैनिक कार्यों मे जुटती है और रात को अपने पति के सोने तक उन कार्यों को करती रहती है। सम्भवत. ये शास्त्रकार पत्नी की रक्षा का सर्वोत्तम ढंग यही समझते थे कि उसे सदा कार्यव्यापृत रखा जाय।

पत्नी के साथ व्यवहार—पत्नी के भरण और रक्षण के अतिरिक्त पति का यह भी कर्त्तव्य है कि वह पत्नी के प्रति प्रेमपूर्ण और उत्तम व्यवहार करे। विदुर के मत मे पति को यह उचित है कि वह उसके साथ (प्रत्येक वस्तु का) सम विभाग करे, उसके साथ मीठे वचन बोले, उसके प्रति कोमल रहे और मधुरवाणी का प्रयोग करे (५।३८।१०) । पति को मधुर वाणी के प्रयोग का ही परामर्श नही दिया गया, अपितु पत्नी के साथ विवाद न करने का तथा दुर्वचन न कहने का भी निषेध किया गया है और ऐसे पुरुष की तीव्र शब्दो मे भर्त्सना की गई है। महाभारत के उद्योग पर्व मे यमदूतो के पाशो से बांधे जाकर, नरक में ले जाये जाने वाले १७ प्रकार के पुरुषों का वर्णन है, इनमें पत्नी को देर तक गाली देने वाले का भी उल्लेख है (स्त्रियं च यः परिवदते अतिवेलम् (५।३७।५) । पति को पत्नी के प्रिय कार्य से ही सन्तुष्ट नही होना चाहिए; किन्तु क्रुद्ध होने पर भी स्त्रियो के लिए कोई अप्रीतिकर कार्य नही करना चाहिए (सुसरव्धो ऽपि रामाणां न कुर्यादप्रिय नरः १।७४।५२) ।

पत्नी के प्रति उत्तम व्यवहार ही पर्याप्त नही है, उसकी पूजा होनी चाहिए। हिन्दू शास्त्र न केवल यह बताते हैं कि पत्नी को पति की पूजा करनी चाहिए, अपितु वे यह भी कहते हैं कि पति को अपनी पत्नी का सम्मान करना चाहिए। स्त्रिया 'पूजा के योग्य महाभाग्यवती और पुण्यशीला हैं, वे घर की शोभा है (महाभा० ५।३८।१० मि० मनु ९।२६) । भीष्म पुरुषो को शिक्षा देते हुए

---

७९. मनु० ९।११ पर गोविन्दराज की टीका-एवं च तद् व्यापृतमना श्रान्ता स्वपिति संयोगं न स्मरति।

८०. विर० ४१६ आय व्ययेऽन्न संस्कारे गृहोपस्कररक्षणे। शौचाग्नि-कार्ये संयोज्या स्त्रीणां शुद्धिरियं स्मृता ॥

कहते हैं—स्त्रिया मान योग्य है, हे मनुष्यो, उन का मान करो। स्त्री से धर्म और रति का कार्य पूरा होता है, तुम्हारी परिचर्या और सेवा उनके आधीन है। सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न सन्तान का परिपालन और सासारिक जीवन में प्रीति पत्नी के कारण होती है; इनका सम्मान करना चाहिए। इससे तुम्हारे सब कार्य सिद्ध होगे (१३।४६।९-१२), हे राजन् स्त्रियो का सदा लालन और पूजन करना चाहिए। जहा स्त्रियां पूजी जाती हैं; वही देवता रमण करते हैं; जहा इनकी पूजा नही होती वहा धार्मिक क्रियायें निष्फल होती हैं (वही १३। ४६।५-६१ मि० मनु० ३।५६-५७)। स्त्रियो को लक्ष्मी कहा गया है (१३।४६।१५, ५।३८।११)[८१] स्त्रियो के निरादर से लक्ष्मी रूठ जाती है, अतः ऐश्वर्य की आकाक्षा रखने वालो को स्त्रियों की पूजा उत्तमोत्तम आभूषणो वस्त्रो और भोजन से करनी चाहिए (मनु ३।५९)। 'जो पति, पिता भाई बहुत कल्याण चाहते हो; उन्हे स्त्री को अलकारो से भूषित करना चाहिए (मनु० ३।५५ महाभा० १३।४६।३)। मनु यह भी कहता है कि स्त्री इस प्रकार भूषित, पूजित और सम्म्मानित होने से शोभायमान होती है, उसके ऐसा होने पर सारा कुल चमक उठता है। यदि वह शोभायमान नही होती तो कुल भी नही चमकता[८२]।

स्त्रियो को घर में इतना पूजित और सम्मानित बनाने का क्या कारण था? ऊपर उद्धृत वचनो में इसका कुछ उत्तर आ चुका है। पत्नी गृहस्थ का मूल है। उसी की सहायता से पुरुष सन्तानोत्पादन करके पितृ ऋण से मुक्त होता है। वही उसके पितरो को तराने वाली है। उसी के साथ यज्ञ करके पति स्वर्गगामी होता है। इस दुनिया की दुःखपूर्ण बीहड यात्रा में पत्नी ही पुरुष का सहारा होती है। शकुन्तला ने पति के लिए पत्नी के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा है[८३]

---

८१. स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन। महाभा० १३।४६। १५ श्रिय एते स्त्रियो नाम सत्कार्या भूतिमिच्छता। ५।३८।११ स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्ताः।

८२. मनु० ३।६२ स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्। तस्यामरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

८३. महाभारत १।७४।४१-५३ अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा। भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः॥ भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्याः गृहमेधिनः। भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्त. श्रियान्विताः। सखायः

'भार्या पुरुष का आधा भाग है, वह उसका श्रेष्ठतम मित्र है। भार्या धर्म अर्थ काम का मूल है, ससार सागर तरने का साधन है। भार्या वाले ही यज्ञादिक धार्मिक क्रियायें करते है, भार्या वाले ही गृहस्थ होते है। वही आमोद करते है, वही श्री से युक्त होते हैं। प्रियवदा पत्निया एकान्त में पति का मित्र होती है। ये वियावान मार्ग मे पथिक का विश्राम स्थल है। भार्यावान् का ही विश्वास किया जाता है। भार्या ही मनुष्यो की परम गति है", इसके वाद शकुन्तला भार्या द्वारा आत्मरूप पुत्र की उत्पत्ति से पुरुष को प्राप्त होने वाले आनन्दो का उल्लेख करती है और फिर पत्नी के महत्त्व पर प्रकाश डालती हुई कहती है—'मानसिक दु खो से सतप्त तथा बीमारियो से आतुर पुरुष अपनी स्त्रियो से उसी प्रकार प्रसन्न होते है, जैसे स्वेद से आर्त पुरुष शीतल जल से स्नान करके प्रसन्नता लाभ करते है। अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी पति को पत्नी का अप्रिय कार्य नही करना चाहिए, क्योकि रति प्रीति और धर्म पत्नियो के ही हाथ में है। स्त्रिया सन्तान की सनातन पुण्य जन्म भूमि है। ऋषियो में भी ऐसी शक्ति नही है कि वे स्त्री के विना प्रजा की सृष्टि कर सकें (म० भा० १।७४।४२-५२)। इससे अधिक सुन्दर शब्दो में भार्या की महिमा का वर्णन नही किया जा सकता। मनुस्मृति के एक श्लोक में भार्या की गरिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अपत्य, धर्म कार्य, सेवा, उत्तम सुख (रति) पितरो का तथा अपना स्वर्ग पत्नी के ही आधीन है। ऐसी स्त्री की पूजा करना स्वाभाविक है (९।२८)। ऊपर हमने मनु द्वारा स्त्री को शोभा सम्पन्न वनाने का उल्लेख किया है।। मनु० (३।६१) व महाभा० (१४।४६।४) पत्नी को अलकार , वस्त्र आदि से शोभा सम्पन्न वनाने का यह कारण वताते है कि यदि वह इन से कान्तिमती न हो तो पति को प्रसन्न नही कर सकती और पति को प्रसन्न न रखने से सन्तान नही होगी[८४] अत सन्तानोत्पादन का

प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियंवदाः। पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः। कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै। यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दारा परा गतिः ॥४५॥...... दह्यमाना मनो दुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा नराः। ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्त्ताः सलिलेष्विव। सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः। रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि। आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम्। ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम् ॥

८४. मनु० ३।६१ यदि हि स्त्री न रोचेत पुमासं न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात् पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते ॥

वैवाहिक प्रयोजन पूरा करने के लिए पत्नी को कान्तिमती व शोभा-सम्पन्न वनाना पति का कर्त्तव्य है। परिवार के उच्चतम आदर्श का चित्रण करते हुए मनु कहता है —जिस कुल में पति पत्नी से तथा पत्नी पति से सन्तुष्ट रहती है वहा सदा अविचल कल्याण वना रहता है[८५]।

पति के लिये पत्नी का सम्मान तथा पूजा करना उचित है, किन्तु उसके इशारे पर नाचना ठीक नही। शास्त्रकारो ने पत्नी द्वारा शासित पति की घोर निन्दा की है और पत्नी के वश में रहने वाले पतियो (Hen-pecked) को भार्यावश्य तथा स्त्रीजित का नाम दिया है। पति को स्त्रीजित न होने, स्त्रीजित को पापी समझ कर उसके घर का अन्न न खाने तथा उसके नरकगामी होने के सम्वन्ध मे कुछ शास्त्रीय वचनो का यहा उल्लेख किया जायगा। महाभारत मे विदुर पति को पत्नी के प्रति प्रियंवद (प्रिय वोलने वाला) होने का परामर्श देता है; किन्तु साथ ही यह चेतावनी भी देता है कि वह स्त्रियो के वश में न हो (न चासा वशगो भवेत् ५।३८।१०)। स्त्रीजित प्राचीन समय मे इतना जघन्य माना गया था कि उसके घर मे भोजन करने का अनेक शास्त्रकारो ने निषेध किया है। मनु (४।२१७) व याज्ञ० (१।१६३) स्त्रीजित के अन्न को अभक्ष्य समझते है। वसिष्ठ (१४।११) कहता है–कुत्ते पालने वाले, शूद्रा को पत्नी वनाने वाले, भार्याजित तथा अपने घर में उपपति (जार) रखने वाले के घर में देवता भोजन नही करते (उस घर की हवि वे ग्रहण नही करते)। पत्नी द्वारा शासित पुरुष के नरकगामी होने का महाभारत मे उल्लेख है। द्रोणपर्व में जयद्रथवध की प्रतिज्ञा करते हुए अर्जुन कहता है कि यदि मैं जयद्रथ का वध न करूँ तो उन पापी व्यक्तियो की गति को प्राप्त करूँ, जो अपने भृत्यो, स्त्रियो तथा आश्रितो द्वारा शासित होते है[८७]।

---

८५. वहीं ३।६० सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च। यस्मिन्नेतत् कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्॥

८६. वसिष्ठ १४।१५ नाश्नन्ति श्ववतो देवाः नाश्नन्ति वृषलीपतेः। भार्याजितस्य नाश्नन्ति यस्य चोपपतिर्गृहे। स्त्रीजित के मनोरंजक उदाहरण के लिये देखिये पचतन्त्र में वररुचि और नन्द की कथा।

८७. ७।७३ भृत्यैः संदिश्यमानानां पुत्रदाराश्रितैस्तथा॥ वौद्ध साहित्य में भी यही विचार पाया जाता है। कण्डिन जातक (सं० १३) में एक मूर्ख मृग वन में हरिणी पर आसक्त होने से अपने प्राण खोता है। उस वन में रहने

स्त्रीजितो की निन्दा कई कारण थे। पति परिवार का स्वामी माना जाता था; इस मे उसी का शासन चलना चाहिए। पुरुष नारी द्वारा शासित हो, यह उसकी अहंभावना और महत्ता को ठेस पहुँचाती थी। इस निन्दा का दूसरा कारण यह था कि स्त्रियो की बुद्धि पर बहुत कम विश्वास किया जाता था। घर में रहने से तथा बाहर की दुनिया में न आने से उनका दृष्टिकोण विशाल नही हो सकता और न उनमे दुनिया के उतार चढ़ाव को समझने की पूर्ण शक्ति नही हो सकती; इसलिए उनके परामर्श से चलने वाले पुरुष का उचित मार्ग दर्शन नही हो सकता है। कुछ सस्कृत सूक्तिया हिन्दू समाज की इस सामान्य धारणा का प्रतिपादन करती है। भोज प्रबन्ध मे कालिदास द्वारा पाणिनि के स्त्री पुवच्च सूत्र की समस्या पूर्ति करते हुए कहा गया है कि घर मे जब स्त्री पुरुष बन जाती है तो घर चौपट हो जाता है (स्त्री पुवच्च प्रभवति यदा तद्धि गेह विनष्टम्) एक नीति के श्लोक में कहा गया है स्त्री बुद्धि प्रलयकरी होती है[८८]। अत इससे शासित होने वाला पुरुष गर्हा का पात्र समझा जाता है। स्त्रीजित की निन्दा का तीसरा कारण यह था कि ऐसे पुरुष को प्राय इन्द्रिय लोलुप समझा जाता था। यह माना जाता था कि कामासक्ति के कारण ही उसकी ऐसी दशा हुई है। सामान्य रूप से वैराग्य प्रधान तथा संयम को महत्त्व देने वाले समाज में यह एक बडी निन्दनीय बात थी। रामचन्द्र जब सीता के विरह में विह्वल हो रहे थे, उस समय सुग्रीव ने उनकी भर्त्सना की (वा० रा० ४।७।५) 'मै अपनी पत्नी के वियोग पर वन्दर होते हुए भी दु:खी न हुआ, आप चरित्रवान् होते हुए भी उसके लिए इतने शोकातुर क्यो होते हो ?' विषयासक्ति गर्हणीय है, अत. भार्याजित पति निन्दा का पात्र समझा गया।

हिन्दू परिवार में पति की स्थिति, प्रभुत्व व दायित्व का वर्णन हो चुका; अगले अध्याय में पत्नी की स्थिति पर प्रकाश डाला जायगा।

वाले बोधिसत्त्व इस घटना को देख कर यह परिणाम निकालते है कि इस मृग ने हरिणी के वश में होकर अपने प्राणों को खोया है, अतः जिस जनपद का स्त्रियां संचालन करती है, उस जनपद को धिक्कार है। (धिक् त्थुतं जनपदं यत्थित्थी परिनायिका ते चापि धिक्किता सत्ता ये इत्थीनं वसं गता।

८८. आत्मबुद्धिः शुभकरी गुरुबुद्धिर्विशेषतः। परबुद्धिर्विनाशाय स्त्रीबुद्धिः प्रलयंकरी॥

चौथा अध्याय

पत्नी

पत्नी की महिमा—वैदिक युग मे पत्नी की स्थिति—अध पतन का आरंभ स्त्रियो को यज्ञाधिकार से वंचित करने के कारण—मासिक धर्म—कर्म काण्ड की जटिलता—उपनयन सस्कार के अभाव में स्त्रियो का शूद्र वनाया जाना—वैराग्य प्रधान धर्म—नारी के सम्वन्ध मे हीन विचार—स्त्रियो का आजीवन संरक्षण —पत्नी के कर्त्तव्य—पतिसेवा—पातिव्रत्य—आदर्श पतिव्रतायें—सतीत्व की महिमा—इसका ऐतिहासिक विकास—भारतीय नारी का सघर्ष—सतीत्व का एकागी आदर्श—सतीत्व का भविप्य—पत्नी के अधिकार ।

पत्नी की महिमा—पत्नी गृहस्थ का मूल है, अतः वैदिक युग से उसे घर की आत्मा और प्राण समझा जाता रहा है। ऋग्वेद के मत में पत्नी ही घर है (जायेदस्तम् ३।५३।४)। महाभारत में किये गये पत्नी के गौरवगान का पहले (पृ० १२८) उल्लेख हो चुका है, उसके कथनानुसार घर, घर नही; किन्तु गृहिणी घर है; गृहिणीहीन घर अरण्य सदृश है; पेड़ के नीचे भी, यदि पत्नी हो, तो वह घर है; उसके विना महल भी बीहड जगल है। संसार मे भार्या के समान कोई वन्धु, आश्रय या धर्म कार्य में सहायक नही है। जिसके घर में साध्वी और प्रियवादिनी भार्या न हो, उसे वन मे चला जाना चाहिये [1] ।

प्राय: अधिकाश समाजों में प्राचीन समय मे पत्नी और नारी की स्थिति वहुत शोचनीय थी; किन्तु हिन्दू परिवार के सव से पुराने काल वैदिक युग में

१. महाभारत १२।१४५।६ अनु०, न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। गृहं तु गृहिणीहीनमरण्यसदृशं मतम्। वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्गृहम्। प्रासादोऽपि तया हीनः कान्तारादतिरिच्यते ॥ १२॥ नास्ति भार्यासमो वन्धु र्नास्ति भार्या समा गतिः। नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥१६॥ यस्य भार्या गृहे नास्ति साध्वी च प्रियवादिनी। अरण्यं तेन गन्तव्यं यथारण्यं तथा गृहम् ॥१७॥ मि० पंचतन्त्र ४।८१ गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारादतिरिच्यते।

उस की दशा अत्यन्त उन्नत थी। यहा पहले इसे स्पष्ट किया जायगा, बाद में हिन्दू समाज में उसकी स्थिति गिरने के कारण बताये जायेंगे।

वैदिक युग में पत्नी की स्थिति—इस समय हिन्दू परिवार में पत्नी का स्थान बहुत ऊँचा था। उसे घर में रानी की तरह रहने का आशीर्वाद दिया जाता था (ऋ० १०।८५।४६)। ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर पति पत्नी द्वारा सयुक्त रूप से यज्ञ करने का उल्लेख है [२]। न केवल सयुक्त अपितु पृथक रूप से भी स्त्रियो द्वारा यज्ञ करने का वर्णन है[३]। श० ब्रा० (२।५।१।११) में विदुषी स्त्री को यज्ञ में निमन्त्रित करने तथा यजुर्वेद में पत्नियो के साथ यज्ञ करने का प्रतिपादन है। अथर्व० ११।१।१७-२७ मे स्त्रियो को स्पष्ट रूप हेसे यज्ञ की अधिकारिणी (योषितो यज्ञिया इमा) कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में पत्नी से यज्ञ की अनेक क्रियायें करवाने का वर्णन है (१।९।२।१, १।९। २।५।२१-२५)। आश्व० श्रौत-सूत्र (१।११।१), ऋग्विधान (३।११६-१७), कात्यायन श्रौत सूत्र (५।१०।७), पारस्कर गृह्य सूत्र (१।६) आश्वलायन गृह्य सूत्र (१।८।५) में विवाहित स्त्रियो द्वारा पढे जाने जाने वाले वैदिक मत्रो का प्रतिपादन है। पूर्वमीमासा (६।१।१७-२१) का मत है पति-पत्नी दोनो सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, अत. उन्हें संयुक्त रूप से यज्ञ करने चाहिये। पहले यह बताया जा चुका है कि पत्नी के बिना यज्ञ अधूरा समझा जाता था। अपत्नीक व्यक्ति को यज्ञ का अधिकार नही था[४]। श्रीराम अपना अश्वमेध यज्ञ सीता के अभाव में उस की सोने की प्रतिमा बनवाकर ही पूरी कर सके थे[५]। पाणिनि (४।१।३३) के अनुसार पति को यज्ञ

---

२. ऋ० १।७२।५ पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्; ऋ० ५।३।२; ऋ० ५।४३।१५; तै० ब्रा० ३।७।५।

३. ऋ० ५।२८।१ में सायण की व्याख्यानुसार विश्ववारा प्रातः काल यज्ञ करती है। ऋ० ८।९१।१ में कन्या द्वारा इन्द्र को सोम की हवि देने की तथा ऋ० १०।८६।१ में स्त्रियों के यज्ञ में जाने की चर्चा है।

४. शत० ब्रा० अयज्ञीयो वैष योऽपत्नीकः मि० तै० ब्रा० २२।२।६, ३।३।३।१ अयज्ञो व एषः। योऽपत्नीकः।

५. रामोऽपि कृत्वा सौवर्णी सीतां पत्नी यशस्विनीम्। ईजे यज्ञैर्बहुविधैः सह भ्रातृभिरचितैः॥ गोभिल स्मृति ३।४०; कांचनीं मय पत्नीं च वा० रा० ८।९१।२५

कार्यों मे सहयोग देने वाली स्त्री ही पत्नी होती थी, वैदिक काल मे वह यज्ञ मे न केवल मन्त्रोच्चारण में करती थी, किन्तु यज्ञ की वेदी के निर्माण में (श० ब्रा० १०।२।३।१, १०।२।३।३), स्थालीपाक में दानो के छिल्के अलग करने में (हि० गृ० १।२३।३) तथा अन्य अनेक यज्ञीय कार्यो में (श० ब्रा० ३।८।२।१-६) पति को सहयोग देती थी तथा शस्य वृद्धि के लिये स्वतन्त्र रूप से भी सीता यज्ञ करती थी (पार० गृ० २।१७)।

अध पतन का आरम्भ—वैदिक युग के आरम्भ मे, यज्ञादि कार्यों में पति के साथ तुल्य अधिकार रखने वाली पत्नी की यह ऊँची स्थिति देर तक नही रह सकी। नारी को शनैः शनै यज्ञ के अधिकार से वचित किया जाने लगा और प्राचीन काल में पत्नी द्वारा किये जाने वाले कई कार्य पुरोहितो द्वारा होने लगे। शतपथ ब्राह्मण (१।१।४।१३) से ज्ञात होता है कि पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि बनाने का कार्य, बाद मे अग्नि प्रज्वलित करने वाला पुरोहित (अग्नीध्र) करने लगा। सोम याग की एक प्रारम्भिक विधि-प्रवर्ग्य (महावीर या घर्म नामक गर्म वर्त्तन में दूध डालना) पहले पत्नीकर्म था, बाद मे इसे उद्‌गता करने लगा[६]। याज्ञिको के एक सम्प्रदाय ने यह प्रतिपादन किया कि स्त्रिया यज्ञ कार्य की अधिकारिणी नही है, उन का स्थान यज्ञवेदी से बाहर होना चाहिये[७]। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण ने इस मत का विरोध किया, तथापि यह स्पष्ट है कि १५०० ई० पू० से स्त्रियो को यज्ञो से बाहर निकालने की प्रवृत्ति से हिन्दू परिवार में स्त्रियो की स्थिति में अध पतन का प्रारम्भ हुआ, अगले हजार वर्षों में स्त्रियो को यज्ञाधिकार से वचित कर शूद्रों के समकक्ष बना दिया गया।

स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वचित करने के निम्न प्रधान कारण थे (१) स्त्रियो का मासिक धर्म (२) कर्म काण्ड की जटिलता एव पवित्रता में वृद्धि (३) अन्तर्जातीय विवाह (४) स्त्रियो का उपनयन के अभाव मे शूद्र समझा जाना।

(१) मासिक धर्म—सर्वप्रथम तैत्ति० सं० (२।५।१) और तैत्ति० ब्रा० (३।७।१) में इस का सकेत है। तैत्ति० सं० मे दी गयी एक प्राचीन कथा के अनुसार, इन्द्र ने देवो के पुरोहित विश्वरूप की ब्रह्महत्या, इस कारण

---

६. श० ब्रा० १४।३।१।८५ पत्नीकर्मैव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्‌गातारः।

७. शांखायन ब्राह्मण २७।४ अयज्ञिया वै पत्न्यो बहिर्वेदिहिताः।

की कि उसने गुप्तरूप से असुरो को यज्ञ में भाग देना स्वीकार किया था। इस ब्रह्महत्या का एक तिहाई पाप स्त्रियो ने यह वर लेकर स्वीकार किया कि वे ऋतुकाल में सन्तान प्राप्त करें। अत. यह पाप लेने से उस समय स्त्री "मलिन वस्त्रो वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ किसी को वोलना और वैठना नही चाहिये और न ही ऐसी स्त्री का अन्न खाना चाहिये"[८]। यह स्वाभाविक था कि पत्नी इस अपवित्र दशा में यज्ञवेदी में न जाय। तैत्ति० ब्रा० (३।७।१) उस पुरुष को वडा अभागा समझता है, जिसकी पत्नी रजस्वला होने से, उसे यज्ञ के दिन नही प्राप्त होती, क्योकि पत्नी के न होने से आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है[९]। प्रारम्भ में स्त्रियां केवल रजस्वला दशा में ही अमेध्य समझी जाती होगी, वाद में प्रतिमास इस प्रकार दूषित होने के कारण स्थायी रूप से अमेध्य समझी जाने लगी। शतपथ ब्राह्मण इसीलिये पत्नी के नाभि से नीचे के भाग को अमेध्य वताता है (१।३।१।१३, ५।२।१।१८) और इसे दूर करने के लिये पत्नी के लिये वस्त्रो के ऊपर पवित्र कुशा घास के चण्डातक (जांघिया) की व्यवस्था करता है। इससे यह स्पष्ट है कि स्त्री को मासिक धर्म से भिन्न दिनो में भी अशुचि माना जाने लगा, इसी लिये शांखायन ने पत्नी को अमेध्य ठहराया[१०]। परवर्त्ती साहित्य में रजस्वला की अमेध्यता का वहुत वर्णन है[११]।

---

८. तैत्ति० सं० २।५।१-७ तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत। न सहाऽऽसीत नास्या अन्नमद्यात्। मि० भागवत पुराण ६।९।९

९. तैत्ति० ब्रा० ३।७।१ अर्धो वा एतस्य यज्ञस्य मीयते यस्य व्रत्येऽहन् पत्न्यनालम्भुका भवति।

१०. रजस्वला दशा में स्त्रियों की अमेध्यता का विचार अनेक जातियों में है। प्यूबेलो इंडियन यह समझते है कि इस समय उन्हें स्पर्श करने वाला बीमार पड़ जाता है, न्यूजीलैण्ड के मओरियों में उसे छूने वाला समाज में अस्पृश्य (Taboo) हो जाता है। ट्रावन्कोर के वेद्दों में इस काल में स्त्री चौथाई मील दूर झोंपड़ी में रखी जाती है। एक आस्ट्रेलियन को जव यह पता लगा कि उसकी पत्नी इस दशा में उसके कम्वल पर लेटी है, तो उस ने उसका वध कर दिया (क्राले—मिस्टिक रोज ४र्थ संस्करण पृ० ५३, फ्रेजर-गोल्डन वाउ १।२२६-२७)। इस दशा में पत्नी को अपवित्र समझने का मूल कारण आदिम जातियों का यह विश्वास है कि जीवन शक्ति रुधिर में होती है (फ्रेजर—वहीं

(२) कर्मकांड की जटिलता—उत्तर वैदिक युग में यज्ञो का आडम्बर बहुत बढ गया, यज्ञ की छोटी क्रियाओ के लिये विस्तृत विधिया बनी। पहले पति पत्नी द्वारा पूर्ण होने वाले सरल यज्ञ अब होता, उद्गाता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहित मिल कर संपन्न करने लगे। जटिलता की वृद्धि के साथ इनमे विशेषीकरण (Specialisation) का आरम्भ हुआ। पत्नी के पास इसके लिये समय नही था। इसलिये पत्नी द्वारा हवि तय्यार करने का काम अग्नीध्र ने तथा प्रवर्ग्य का कार्य उद्गाता ने लिया[१२]। धर्मशास्त्रकारो ने

२।२४०)। स्त्री को इस अवस्था में शारीरिक निर्बलता प्रतीत होती है, ऐसा समझा जाता है कि इस का कारण इस अवसर पर निकलने वाला रक्त है और इस दशा में उसे स्पर्श करने वाले उसी प्रकार दुर्बल और रुग्ण होगे, अतः रजस्वला अस्पृश्य समझी जाती है और दूर रखी जाती है। कनाडा की डेने नामक अमरीकन जाति में उसका दर्शन दूसरो के लिये इतना भयंकर समझा जाता है कि छाती तक उसके मुंह को चमड़े के आवरण से ढक दिया जाता है (पोन राय-मैरिज, पास्ट, प्रेजेण्ट फ्यूचर पृ० ३८)। एक रैड इंडियन कहानी के अनुसार यदि तम्बाकू में रज की कुछ बूंदें रखी जाय तो पाइप में केवल तीन बार इसे पीने से मनुष्य मर जाता है (मेयर स० ला० १।२२६)

११. इसके लिये देखिये वसिष्ठ ५।९।५ अनु०, पराशर० ७।९-१८, इस समय उसके साथ बात करना वर्जित था (महाभारत १३।१०४।५३, आप० १।३।९।१३), उससे छुआ अन्न अभक्ष्य था (महाभा० १३।१०४।४०, १३। २३।४; मनु० ४।२०८, याज्ञ० १।१६८, विष्णु० ५१।१६); रजस्वला द्वारा जानबूझ कर द्विज को स्पर्श करने पर विष्णु ने उसके लिये कोड़े लगाने की व्यवस्था की है (५।१०५)। उसकी दृष्टि पड़ने से वस्तुओं के अपवित्र होने के लिये डुबोइस—हिन्दू मैनर्स पृ० ३४७, ७०८-१०। ऐसी स्त्री अगम्या मानी गयी है, याज्ञवल्क्य इस नियम का उल्लंघन करने वाले के लिये तीन दिन का उपवास और घी खाने का प्रायश्चित्त बताता है (३।२८८), महाभारत में अनेक स्थानों पर इसे महापाप माना गया है(१२।७३।४२, १३।१०४।१५०, १६।८।५-६,१२।१६५।२६, १३।१५७।९ अनु०, १२।२८२।४३ अनु० ७।७३।३८। श्राद्ध के समय इसे दूर रखना चाहिये अन्यथा पितर १३ वर्ष भूखे रहेंगे (१३।१२७। १३-१४ मि० १३।९२-१५, मार्कण्डेय पुराण ३२।२५)

१२. दे० ऊ० हि० स० ६; मीमांसा सूत्रों के रचे जाने के समय (५०० ई० पू०–२०० ई० पू०) स्त्रियों द्वारा याज्ञिक कर्मकाण्ड

यह व्यवस्था वैदिक विधियो को सुचारु रूप से पूरा करने की दृष्टि से ही की, याज्ञिक विधियो में अपना जीवन लगाने वाले पुरोहित वर्ग तक ही यज्ञ कराना सीमित कर दिया गया। इसका एक प्रधान कारण उनका यह विश्वास था कि वेद मन्त्रो के उच्चारण में तनिक भूल अनिष्ट कर होती है[१३]। इससे न केवल स्त्रिया किन्तु ब्राह्मणेतर वर्ग भी, यज्ञ के अधिकार से वचित हो गया।

(३) अन्तर्जातीय विवाह—आर्यों के अनार्या स्त्रियो के साथ विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से वहिष्कृत करने का एक मुख्य कारक्ष थे। वसिष्ठ धर्म सूत्र (१८।१७) ने स्पष्ट शब्दो में यह घोषणा की कि कृष्णवर्णा स्त्री धर्म के लिये नही, किन्तु रमण के लिये होती है[१४]। ये अनार्या पत्नियां वैदिक कर्मकाण्ड तथा विधि विधान से अपरिचित होने से बडी भूलें कर सकती थी। पवित्रता

में भाग लेने के प्रश्न पर बड़ा मतभेद था। ऐतिशायन के नेतृत्व में कुछ मीमांसक तीन कारणो से यज्ञ में केवल पुरुष का ही अधिकार मानते थे—(१) 'स्वर्ग कामो यजेत' आदि विधि वाक्यो में पुल्लिग का ही निर्देश है (२) गर्भस्थ शिशु का लिंग अविज्ञात होने की दशा में ही भ्रूण हत्या को पाप ठहराया गया है, दोनो लोको का उपकार करने वाली वस्तु का नाश करने से ही भ्रूणहा महापापी होता है, वह यज्ञ का भी हनन करता है, क्योंकि वह जन्म ग्रहण कर यज्ञ करने वाले का घात करता है, सब वस्तुओं के धारक और ऐश्वर्य दाता होने से यज्ञ भ्रूण है, उस का घातक भ्रूणहा है। यदि यज्ञ में स्त्री पुरुष दोनों का समान रूप से अधिकार हो तो गर्भस्थ प्राणी के वध में लिंग के अविज्ञात होने की शर्त्त लगाना अनावश्यक था (३) यज्ञ द्रव्य साध्य है, स्त्रियों के पास स्वतन्त्र सम्पत्ति नहीं अतः वे यज्ञ कैसे कर सकती है ? जैमिनि ने इन तीनों हेतुओं का पूर्वमीमांसा (६।१।६-२४) में विस्तृत खण्डन करते हुए यह सिद्धान्त बनाया कि स्त्रियां पति के साथ ही यज्ञ कर सकती है, स्वतन्त्र रूप से उन्हें यज्ञ करने का अधिकार नहीं है (६।१। १७-२१)।

१३. पाणिनि शिक्षा ५२, मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्त न तमर्थमाह। सा वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

१४. वसिष्ठ ध० सू०, ८।१७ कृष्णवर्णा या रामा रमणायैव न धर्माय। मि० निरुक्त २।१३, 'नाग्नि चित्वा रामामुपेयात्। रामा रमणायोपेयते न धर्माय।

की सुरक्षा के लिये ऐसी स्त्रियों से यज्ञकार्य का अधिकार छीनना वाछनीय समझा गया ।

(४) स्त्रियों का उपनयन संस्कार के अभाव में शूद्र समझा जाना--पिछले अध्याय में यह वताया गया है कि छठी शती ई० पू० में हिन्दू समाज मे वाल विवाह का प्रचार होने से स्त्रियो के उपनयन की प्रथा अप्रचलित होने लगी थी (पृ० ९१-९२) । नियत अवधि तक उपनयन सस्कार न होने से गृह्य सूत्रो के समय से व्यक्ति शूद्र समझा जाता था[१५] । किन्तु यदि इस कारण स्त्रीमात्र को शूद्र माना जाय तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहाँ से उत्पन्न होगे । हारीत ने यह तर्क उपस्थित करते हुए स्त्रियों के उपनयन का प्रवल समर्थन किया [१५क] । किन्तु वाल विवाह के प्रसार के कारण इस का अधिक देर तक टिका रहना समव न था । मनु ने स्त्रियों के लिये विवाह ही उपनयन सस्कार स्वीकार किया (२।६७) ।

स्त्रियो के उपनयन की प्रथा न रहने के कारण उनसे यज्ञ और मन्त्रोच्चारण का अधिकार छिनना स्वाभाविक था। मनु इस का कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि यज्ञ करने वाला होता, वेद का पारंगत विद्वान् तथा यज्ञ क्रिया में निष्णात (वैतानकुशल) होना चाहिये । उपनयन न होने से स्त्रिया वेद की विद्वान् न होती थी, अत. उन्हे यज्ञ करने का अधिकार नही दिया गया[१६]। गृह्य सूत्रो के समय में स्त्रिया गार्हपत्य अग्नि मे मन्त्रो के साथ वलि देती थी (अश्व० गृ० सू० १।९।१-९), सीतायज्ञ (पार० गृ० २।१७) और रुद्रयज्ञ स्वतत्ररूप से कर सकती थी । किन्तु २०० ई० पू० मे मनु ने उपर्युक्त कारण से पत्नी द्वारा मंत्रों के विना वलि देने (३।१२१) तथा कन्या और युवती द्वारा होता वनने का निषेध किया और यह कहा कि होम करने पर ये नरक गामी होते हैं (११।३७ । महाभारत का भी ऐसा ही विचार है,

---

१५. आश्वा० गृ० सू० १।१।३३, १।१९।५-६ पार० गृ० सू० २।५। ३६-४०, मनु० ३।३९-४० विष्णु० १।२६-२७ ।

१५ क. विष्णु० १।२६-२७; पराशर माधवीय खं० १ भाग २ पृ० ४८ पर उद्धृत न हि शूद्रयोनौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्या जायन्ते ।

१६. मनु० ११।३७, नरके हि पतन्त्येते जुह्वन्तः स च यस्य तत् । तस्माद्वैतानकुशलो होता स्याद्वेदपारगः । वही ११।३६ न वै कन्या न युवति र्नाल्प विद्यो न वालिशः । होता स्यादग्निहोत्रस्य नार्त्तो नासंस्कृतस्तथा ॥

(१३।१६५।२१-२२); मनु विवाह के अतिरिक्त स्त्रियों के सब सस्कार मन्त्रो के विना करने का विधान किया। २०० ई० पू० के वाद उपनयन के अभाव एव यज्ञाधिकार न रहने से स्त्रियो की गणना शूद्रो की कोटि मे होने लगी और इन दोनो से समान व्यवहार वाली व्यवस्थाओंका प्राय उल्लेख होने लगा। भगवद्गीता (९।३२) में दोनो पापयोनि कहे गये है। मनु० (५।१३९)और याज्ञ० (१।२१) दोनों के एक जैसी आचमन कीव्यवस्था करता है। वौधा० (२।१।११-१२) ने दोनो को मारने का एक ही प्रायश्चित्त वताया है। भागवत पुराण के अनुसार स्त्री, शूद्र और द्विज वन्धु (ब्राह्मण होने का ढोग करने वाले) को वेद पढने का अधिकार नही है; देवी भागवत के मत में इसीलिये इनके-लिये पुराण वनाये गये है[१७]। मध्यकाल में यह व्यवस्था सर्वमान्य थी कि स्त्रियो और शूद्रो का दर्जा एक है। उस समय न केवल भारत में, अपितु इगलैण्ड आदि पश्चिमी देशो में भी स्त्रिया अध्ययन के अधिकार से वंचित थी, आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय १९२० ई० तक स्त्रियो को उपाधि नही देता था[१८]।

वैदिक युग में पत्नी पति के साथ वैठकर यज्ञ करती थी, उस के विना पति का यज्ञ पूरा नही हो सकता था, किन्तु २०० ई० पू० में उस का इतना अध· पतन हुआ कि वह शूद्र वना दी गयी। उस की इस दुरवस्था का मूल कारण पहले कर्मकाण्ड प्रधान धर्म था; किन्तु वाद में इसे वैराग्य मूलक धर्म, नारी के सम्वन्ध में हीन विचारो तथा स्त्रियो की यावज्जीवन पराधीनता के सिद्धान्त से वडी पुष्टि मिली और मध्यकाल पत्नी की स्थिति कभी ऊँची नही उठ सकी। पहले वह याज्ञिको द्वारा निरादृत हुई;[१९], वाद में परिव्राजको द्वारा तिरस्कृत हुई।

---

१७. भाग० १।४।२५ स्त्रीशूद्रद्विजवन्धूनां त्रयी न श्रुति गोचरा। देवी भागवत–स्त्रीशूद्र द्विजवन्धूनां न वेदश्रवणं मतं। तेषामेवहितार्थाय पुराणानि कृतानि च।

१८. अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन पृ० ४००

१९. हिन्दू समाज में ही स्त्रियों को याज्ञिक कर्मकाण्ड से उपर्युक्त कारणों से वंचित किया गया हो, सो वात नहीं। लगभग इन्हीं कारणों-रजस्वला दशा में तथा वच्चा उत्पन्न होने पर अशुचि होने तथा उस समय वुरे प्रभावो को संक्रान्त करने से–प्रायः अधिकांश वन्य तथा सभ्य जातियों में पहले अस्थायी

वैराग्यमूलक धर्म और स्त्रियां—ब्राह्मण ग्रन्थो के कर्म काण्ड प्रधान धर्म के विरुद्ध प्रबल विद्रोह करने वाली तथा प्रव्रज्या और त्याग पर बल देने वाली बौद्ध एवं हिन्दू विचार धारायें भी पत्नी की स्थिति को गिराने मे सहायक हुईं। इन से हिन्दू समाज मे यह विचार बद्धमूल हुआ कि विषयासक्ति का प्रधान साधन होने से नारी सब दुःखो का मूल है; उसे 'छोड कर पुरुष दुनिया

रूप से स्त्रियो को मनुष्यों तथा देवताओ के सम्पर्क से दूर रखा गया, बाद में स्त्री को स्थायी रूप से अशुचि मान लेने पर उसे देवपूजादि धार्मिक कार्यों से वंचित किया गया। राजमहल की पहाड़ी जातियों में स्त्रियां बलि नहीं दे सकती और न ही पूजा स्थानो पर जाकर धर्मकर्म में भाग ले सकती हैं। टोडा जाति में स्त्रियां तिरीरी (पवित्र पशुओं का बाड़ा) में नहीं जा सकतीं, न्यू आयर्लैण्ड, पपुआ की खाड़ी, टोंगा, गिल्बर्ट समोआ, मार्शल टापुओं में स्त्रियां पूजा कार्य में कोई भाग नही ले सकती। फिजी में वे कुत्तों से अधिक अपवित्र हैं; क्योंकि कुत्ते कुछ मन्दिरों से बहिष्कृत हैं और स्त्रियां सभी मन्दिरों से। आस्ट्रेलिया के आदि वासी अपने पवित्र स्थान (बोरा) में झांकने वाली स्त्री का वध कर देते हैं, मारक्विसास टापू में धार्मिक त्यौहार मनाये जाने के स्थान (हूला हूला) में न केवल प्रवेश करने वाली, किन्तु इस स्थान के पेड़ों की छाया छूने वाली स्त्रियां वधार्ह थीं। सभ्य जातियों में प्राचीन चीन और यूनान में स्त्रियां मन्दिरों में पूजा नहीं कर सकती थी। हज़रत मुहम्मद ने इस्लाम में यद्यपि स्त्रियो को नमाज़ पढने की आज्ञा दी थी, किन्तु वे यह कार्य मस्जिद में नहीं कर सकती थीं; क्योकि उनके वहां जाने से पुरुषों में भक्ति से भिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न होने की संभावना थी, वैराग्य और तपस्याप्रधान ईसाइयत में हव्वा की उत्तराधिकारिणी होने तथा मनुष्य को कुपथ पर प्रेरित करने का हेतु होने से स्त्रियों का धर्म कार्यों से बहिष्कार स्वाभाविक था। टर्टुलियन अपने विरोधियों पर यह भयंकर दोष लगाता है कि वे स्त्रियों को धर्मकार्य की स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं। छठी शती की एक ईसाई परिषद् ने यह निश्चय किया कि स्त्रियां अनावृत हाथों में यूकेरिस्ट (ईसा के अन्तिम भोजन संस्कार का प्रसाद) नहीं ले सकती, मैस (ईसा मसीह के अन्तिम भोज का त्यौहार) मनाने के समय वेदी के समीप नहीं आ सकतीं। मध्ययुग में स्त्री विरोधी भावना इतनी प्रबल हो गयी कि चर्च में गाये जाने वाले गीतों के लिये स्त्रियों के स्थान पर हिजड़े रखे जाने लगे (क्राली-मिस्टिक रोज़ पृ० ४२-४६ वैस्टरमार्क—ओडेमा० १।६६४-६६)।

को छोड देता है और संसार त्याग के वाद वह सुखी होता है'[२०]। 'प्रजापति ने लोगों को दुनिया में फंसाने के लिये कामिनी और काचन की सृष्टि की है, इन में न फसने वाला साक्षात् शिव है[२१]। इस समय पुरुप को नारी से विमुख करने के लिये प्राय' सभी शास्त्रकारो ने उस की घोर निन्दा की, उसमें सव प्रकार के दोषो का वर्णन करते हुए उसे त्याज्य वताया। भीष्म के मतानुसार नारी की सृष्टि ही पुरुष को पतित करने के लिये उस समय की गयी थी[२२], जव प्रजापति को सव लोगों के धर्मात्मा होने के कारण स्वर्ग के देवताओं से भर जाने की आशका उत्पन्न हुई (१३।४०।६-९); 'स्त्रियो से वढ कर कोई पापी नही, वे जलती हुई आग, माया, उस्तरे की धार, विप और सर्प है (महाभारत १३।४०।४-५) 'अग्नि लकड़ियो से, समुद्र नदियो से, यमराज मृत प्राणियो से और स्त्रिया पुरुषों से कभी तृप्त नही होती'। युधिष्ठिर के कथनानुसार नये-नये तृण चाहने वाली गौओ की भांति स्त्रियां नये नये पुरुष ग्रहण करती है[२३]। वृहस्पति ने राजनीति के ग्रन्थों की रचना स्त्रियो का व्यवहार देख कर ही की है। (१३।३९।१०-११)। इत्सिग के कथनानुसार छः वार सन्यासी होकर गृहस्थ वनने वाले भर्तृहरि ने यह घोषणा की कि इस ससार सागर में मनुष्य रूप मछलियो को फसाने का काटा नारी जाति है (शृगार शतक ५३)। नारी को अत्यन्त भीषण रूप में चित्रित करते हुए उसने कहा कि वह सदेहो

---

२०. योगवसिष्ठ १।२१।३५ यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निस्त्रीकस्य क्व भोगभूः। स्त्रिय त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं, जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

२१. वेधा द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु। तेषु तास्वप्यनासक्त. साक्षाद्भर्गोनराकृति॥

२२. सैण्ट आगस्टाईन ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है। उसे आश्चर्य था कि स्त्री क्यों वनाई गई। आदम के लिये साथी की आवश्यकता तो दूसरे मनुष्य से भी पूरी हो सकती थी किन्तु स्त्री की उत्पत्ति का कारण यह था कि अकेला सांप आदम को नहीं वहका सकता था। मनुष्य को स्वर्ग से पतित करने के लिये ही स्त्री वनाई गई।

२३. महाभा० १३।३८।२५, नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः। नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः॥ १३।३९।६ गावो नवतृणानीव गृह्णन्त्येता नवं नवम्। महाभारत में स्त्रियो की निन्दा के लिये देखिये १३।३८।१-३० १३।३९।१-११, १३।३४०।३-१५।

का भवर, अविनयो (धृष्टताओ) का लोक, दु साहसो का नगर, दोषों की अक्षय निधि, सैकडो कपटो वाली, स्वर्गद्वार का विघ्न, अविश्वासो की जन्म-भूमि, नरकपुरी का द्वार, मायाओ की पेटी , ऊपर से अमृतमय और भीतर से विषमय तथा प्राणियो को बाधने का पाश है (शृंगार शतक ४५) । शंकराचार्य के 'द्वार किमेक नरकस्य नारी' का अनुसरण करते हुए, मध्यकाल के सभी सन्तो ने नारी की निन्दा की और उससे बचने का उपदेश दिया[२४] ।

सम्भवत. वराहमिहिर ही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है, जिसने वैराग्यवृत्ति के कारण नारियो की निन्दा करने वालो की कडी खबर ली है । उसके मत में इस प्रकार नारियो के दोषो की चर्चा करने वालो के वाक्य सद्भाव युक्त नही है । "ऐसा कौन सा दोष है, जो पुरुष नही करते । पुरुष अपनी ठिठाई के कारण ही स्त्रियो को तुच्छ समझते है । मनु ने कहा है कि वे गुणो में पुरुषो से अधिक है, माता और पत्नी नारी ही है । मनुष्य का जन्म स्त्री से ही होता है । हे कृतघ्नो, उनकी निन्दा करते हुए, तुम्हे कहा सुख मिल सकता है ? पति-पत्नी यदि वैवाहिक प्रतिज्ञाओ का उल्लघन करते है तो वे समान रूप से दोषी है । पुरुष इसकी परवाह नही करते, किन्तु स्त्रिया करती है; अतः स्त्रिया श्रेष्ठ है । पुरुष एकान्त में स्त्रियो की खुशामद (चटुलवाक्य) करता है; पर उनकी मृत्यु के बाद (दूसरी स्त्रियो के साथ) विवाह कर के वे वाक्य भुला देता है । स्त्रियां (पति की मृत्यु पर) कृतज्ञतावश उसके शरीर के साथ अग्नि में प्रवेश करती है । निष्पाप स्त्रियो की निन्दा करने वाले पुरुषो की ढिठाई कितनी अधिक है । वे उन चोरो की तरह है; जो चोरी करते हुए भी यह शोर मचाते चोर ठहर, चोर ठहर"[२५] । किन्तु वराह मिहिर का यह विरोध अरण्य रोदन

---

२४. ईसाइयत में भी वैराग्य की प्रवृत्ति प्रबल होने पर सन्तों ने नारी की भरपेट निन्दा की है । टर्टुलियन ने इन्हें कहा था कि तुम शैतान का दरवाजा हो, तुम ने उस व्यक्ति को प्रेरणा दी, जिस पर शैतान हमला करने में असमर्थ था । सैण्ट बर्नर्ड ने अपनी माता को लिखा कि तुम लोग पापिनी हो और तुम ने मुझे पाप में जन्म दिया है । सैण्ट आगस्टाइन के अनुसार स्त्री चाहे माता या बहिन के रूप में हो, हमें सदैव सचेत रहना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक स्त्री में हव्वा का निवास है ।

२५. बृहत्संहिता (७४ अध्याय) ये ऽप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान्वैराग्य मार्गेण गुणान्विहाय । ते दुर्जना मे मनसो वितर्कः सद्भाववाक्यानि न तानि

मात्र था। विषयासक्ति का मूल होने से नारियां हिन्दू समाज में गर्हा और घृणा का पात्र वनी इस अवस्था में उनकी दशा उन्नत होना सभव न था।

नारी के सम्वन्ध में हीन विचारर—प्रायः सभी समाजो में नारी के सम्वन्व मे अच्छी और वुरी धारणायें होती है[२६]। किन्तु इनमें हीन विचारो का ही प्राधान्य रहता है। वैदिक युग में पत्नी की स्थिति ऊँची होती हुई भी, ऐसे विचारो की कमी नही थी। इन्द्र के मतानुसार स्त्रियो के मन को कावू में नही रखा जा सकता; उसे नीचे देखने का आदेश दिया गया है[२७]। उर्वशी अपने विरह में व्याकुल पुरूरवा को समझाती है कि स्त्रियो की मित्रतायें देर तक टिकने वाली नही होतीं, वे भेडिये के दिल है, अर्थात् विश्वास दिला कर अपने वश में आये प्राणियो का वध करने वाली हैं[२८]। तै० स० में नारी की शारीरिक अक्षमता (निरिन्द्रिय) के कारण उसे यज्ञ में सोम का भाग लेने का अनधिकारी तथा पापी पुरुषो से भी गयी वीती वात कहने वाली वताया गया है [२९]। मैत्रायणी सहिता के अनुसार पति से धन द्वारा खरीदी

तेषाम् ॥५॥ प्रब्रूत सत्यं कतरोऽगनानां दोषस्तु यो नाचरितो मनुष्यैः। धाष्टर्येन पुंभिः प्रमदा निरस्ताः। गुणाधिकास्ताः मनुनात्र चोक्तम् ॥६॥ जाया वा स्याज्जनित्री वा स्यात्संभवः स्त्रीकृतो नृणाम्। दम्पत्योः व्युत्क्रमे दोषः समः शास्त्रे प्रतिष्ठितः। नरा न तमवेक्षन्ते तेनात्र वरमंगनाः ॥७॥ अहो धार्ष्ट्यमसाधूनां निन्दतामनघाः स्त्रियः। मुष्णतामिव चौराणां तिष्ठ तिष्ठेति जल्पताम् ॥८॥

२६. फ्रांस में वालजक ने स्त्री को मनुष्यों और देवदूतों को जोड़ने वाली कड़ी कहा और विक्टर ह्यूगो ने वहुत अच्छी तरह पूरा वनाया हुआ शैतान; पहले वनाये गये शैतान में कुछ कमियां रह गयी थीं, भगवान् ने उन्हें दूर करते हुए स्त्री का निर्माण किया। मनु ने ९।२६-२८, ३।५५-६२, नारियों की वड़ी प्रशंसा की है, अन्यत्र (९।१२-१८) उन के दोषों को विस्तार से गिनाया है

२७. ऋ० ८।३३।१७, १९ इन्द्रश्चिद् घा तदब्रवीत् स्त्रिया अशास्यं मनः अधः पश्यस्व मोपरि।

२८. ऋ० १०।९५।१५ पुरूरवो मा मृथाः—न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति। सालावृकानां हृदयान्येताः। सायण भाष्य यथा वत्सादीनां विश्वासमापन्नानां घातुकानि तद्वत्।

२९. तै० सं० ६।५।८।२ तस्मात्स्त्रियोनिरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात्पुंसः उपतिस्तरं वदन्ति। मि० शतपथ ४।४।२।१३ ।

जाने पर भी, दूसरे पुरुषो के साथ विचरण का कार्य कर लेने से, स्त्री झूठ (१।१०।११) तथा विनाश या आपत्ति या मृत्यु की देवता (निर्ऋति) से सवद्ध है[३०]।

मध्ययुग के सस्कृत साहित्य मे स्त्रियो के परपुरुषो को छलने, बहकाने, धोखा देने, अत्यधिक कुटिल, क्रूर तथा कामुक होने का दोषारोपण है। पंचतत्र के मत मे झूठ, विना सोचे काम करना (साहस), छल का व्यवहार, मूर्खता, अतिलोभ, अपवित्रता और निर्दयता स्त्रियो के स्वाभाविक गुण है[३१]। उन का स्वाभाव समुद्र की तरगो के समान चंचल और प्रेम सन्ध्या काल के बादलो रंग के समान क्षणिक होता है (मित्रभेद २०६, २०९)। वे एक पुरुष के साथ बात करती हैं, दूसरे को कटाक्षो से देखती हैं और तीसरे का अपने चित्त में स्मरण करती है (वही १४६)। परपुरुष के लिये लालयित रहने के कारण, वे कुलनाश, लोकनिन्दा और प्राणो के सकट की भी परवाह नही करती (वही १८५-९२) नारी कभी पतिव्रता नही रह सकती (कालोलूकीय १९६, अपरी० ९३), वे केवल अपना, सुख चाहती हैं, मन्दबुद्धि होती हैं (वही ६०-६२), स्त्रियों का आहार दुगना, बुद्धि (चालाकी) चौगुनी, साहस (अविचारपूर्ण कार्य) छः गुना और काम भाव आठ गुना होता है[३२]। स्त्रियो का कभी विश्वास

---

३०. मैत्रायणी सं० १।१०।११ अनृतं स्त्री अनृतमेषा करोति या पत्युः क्रीता सत्यथान्यैश्चरति। मैत्रा० सं० ३।६।३ त्रयो वै नैर्ऋता अक्षाः स्त्रियः स्वप्नः स्त्री को शत० ब्रा० १४।१।१।३१ में भी अनृत कहा गया है। काठक सं० २८।८।४४ में स्त्री को भावुक और निर्वीर्य कहा गया है, वहां उस पर यह भी आरोप है कि वह रात को पति से अपना अभिप्राय सिद्ध कर लेती (इंसा० रि० ई०) है।

३१. मित्रभेद श्लोक, २०७ अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता। अशौचं निर्दयत्वं च स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥

३२. हितोपदेश सुहृद्भेद श्लोक १२०, आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धि स्तासां चतुर्गुणः। षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः॥ बुद्धि का अभिप्राय यहां रंगे हाथ परपुरुष के साथ पकड़े जाने पर भी प्रत्युत्पन्न मति द्वारा बहाना ढूंढ़ने की चतुराई है, देखिए सुहृद्भेद की दूसरी कथा, विग्रह की नन्दमति की सातवीं कथा, समुद्रदत्त वणिक् की संधि की चौथी और वीरधर रथकार की काकोलूकीय की ११ वीं कथा।

नही करना चाहिये (मित्रलाभ १९) । षड्रत्न के मत में गोद में पड़ी युवती की भी चौकसी करनी चाहिये [३३] ।

स्त्रियों का आजीवन सरक्षण—प्राचीन काल में स्त्रियो की स्थिति हीन होने का एक वडा कारण यावज्जीवन इनके परतन्त्र रहने के सिद्धान्त का सर्वमान्य होना था । वैदिक वाङ्मय में इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नही है; किन्तु धर्मसूत्रो के समय से प्राय. प्रत्येक शास्त्रकार ने इस का समर्थन किया । गौतम ने नारी को धर्मकार्य में पराधीन वताया । किन्तु वसिष्ठ ने सामान्य रूप से उसे स्वतन्त्रता न देने की घोषणा करते हुए , वचपन में पिता को, यौवन में पति को और वुढापे में पुत्र को, उस का रक्षक वताया । वसिष्ठ की यह व्यवस्था इन्ही शब्दो में वौधायन (२।२।५२) विष्णु (२५।१३) मनु (९।३) व्यास (महाभारत १३।२०।२१) और नारद (१६।३१) ने दोहरायी है । मनु के मत में स्त्री को घर के कामो में भी (९।१४६-४८) तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार कही भी स्वतन्त्रता नही है[३४] । एक आधुनिक

३३. अके स्थितापि युवति परिरक्षणीया स्त्रियों के सम्वन्ध में इस प्रकार के हीन विचार हिन्दू समाज में ही नहीं, किन्तु सभी समाजों में प्रचलित है । वर्त्तमान काल में औद्योगिक दृष्टि से अत्युन्नत अमरीका के हालीवुड से आने वाले फिल्मो में नारियों के सम्वन्ध में ऐसे विचार मिलते है । लेविन द्वारा प्रस्तुत एक फिल्म में स्त्रियो के सम्वन्ध में निम्न नियम वताये गये है—(१) स्त्री जो वात कहे, उस पर कभी विश्वास मत करो, (२) स्त्री के मौन होने पर सावधान हो जाओ, (३) स्त्री के लिये जो खर्च किया जाता है, वह उस योग्य नहीं है । (४) स्त्रियो को शिक्षित करना वैसा ही है, जैसे रेजर को ऐसे स्थान पर रखना, जहां से उसे वन्दर उठा सकता है । मून एण्ड सिक्सपैन्स नामक फिल्म में एक पात्र का उद्गार है—स्त्रियां वड़े विचित्र पशु है, तुम उन्हें कुत्तों की तरह पददलित करते हुए चल सकते हो । तुम उन्हें उस समय तक पीट सकते हो, जव तक पीटते हुए तुम्हारी वांहें न दुखने लगें और फिर भी वे तुमसे प्रेम करेंगी (एसोशियेटेड प्रेस आफ अमेरिका का समाचार, अमृत वाजार पत्रिका २७ जन० १९४६, पृ० १२)

३४. गौतम ध० सू० १८।१ अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री; वसिष्ठ ५।१-३ अस्वतन्त्रा स्त्री पुरुषप्रधाना । पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने । रक्षन्ति स्थविरे पुत्राः न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ मि० याज्ञ० १।८५ न स्वातन्त्र्यं क्वचित्स्त्रियः । मनु ५।१४७

स्त्री रमाबाई ने इन व्यवस्थाओं पर कटु व्यग्य करते हुए लिखा है कि हिन्दू स्त्री केवल एक ही स्थान -नरक-में स्वाधीन रह सकती है[३५]।

शास्त्रकारो ने सभवत. तीन कारणो से नारी को अस्वतंत्र वनाया था। पहिला कारण नारी के अबला होने के कारण, कुदृष्टि का शिकार होने पर उसकी आत्मरक्षा में असमर्थता थी। ससार में कीचक जैसे दुष्टो की कभी-कमी नही रही; महाभारत के मत मे पतिहीना स्त्री की सब लोग वैसे ही कामना करते है, जैसे पक्षी पृथिवी पर पड़े हुए मास खण्ड की[३६]। ऐसे दुर्जनो से स्त्री के सतीत्व और सम्मान की रक्षा के लिये उसे सदैव किसी पुरुष के संरक्षण में देना वाछनीय समझा गया। दूसरा कारण स्त्री का आर्थिक परावलम्वन और स्वयं जीविका उपार्जन करने में अक्षमता थी। पति ही पत्नी का प्रधान आर्थिक आश्रय था। उस के अभाव मे पालन पोषण की व्यवस्था न होने से, नारी को कोई दु ख न उठाना पड़े, इसलिये ऐसा विधान किया गया। इस विषय में नारद की व्यवस्था से यह उद्देश्य भली भाति स्पष्ट होता है। इसने पति तथा पुत्रो के अभाव मे पति कुल के अन्य व्यक्तियो द्वारा तथा इनके भी न होने पर पितृकुल के व्यक्तियो द्वारा तथा इनके अभाव में राजा द्वारा नारी के भरण पोषण तथा संरक्षण की व्यवस्था की है[३७]। तीसरा कारण यह था कि पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियों पर सतीत्व का वन्धन इसलिये अधिक आवश्यक था कि उस के न रहने पर वर्ण संकरता आदि अनेक दोषो की अधिक संभावना थी। मनु के कथनानुसार यदि स्त्रियो की रक्षा की उपेक्षा की जाय तो वे पितृ एव पति दोनो कुलो को सन्ताप पहुँचा सकती है (९।५)। नारद (१६।३०) के मत मे स्वतन्त्रता से कुलीन स्त्रिया भी बिगड जाती है; अतः प्रजापति ने उन की पराधीनता की व्यवस्था की है[३८]। इससे यह स्पष्ट है कि शास्त्रकारो ने

---

३५. दी हाईकास्ट हिन्दू वुमैन, पृ० ४१

३६. महाभारत १।१६०।१२-१३ उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः। प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम्॥

३७. नारद सं० १४।२९ पक्षद्वयावसाने तु राजा भर्त्ता प्रभुः स्त्रियः। स तस्याः भरणं कुर्यान्निगृह्णीयात्पथश्युताम्।

३८. नारद १६।३० स्वातन्त्र्याद्विप्रणश्यन्ति कुले जाता अपि स्त्रियः। अस्वातन्त्र्यमतस्तासां प्रजापतिरकल्पयत्। मि० हितोपदेश मित्रलाभ श्लोक ११८।

नारी की परतन्त्रता की व्यवस्था उसे 'पुरुष की गुलामी की जजीरो मे जकड़ने के लिये नही, किन्तु उस के हित की दृष्टि से की थी और न केवल हिन्दू शास्त्रकारो अपितु प्राचीन काल के अन्य सभी उन्नत देशो के व्यवस्थापको ने इन्ही परिस्थितियो के कारण नारी के पराधीन होने का ठीक इन्ही शब्दो में विधान किया है[३९]।

पत्नी के कर्त्तव्य—धर्मशास्त्रो मे इन का बडे विस्तार से वर्णन है[४०]। इनमें पतिसेवा और पातिव्रत्य को बहुत अधिक महत्व दिया गया है, इन्हे देखने से पहले भार्या के सामान्य कर्त्तव्यो का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। मनु (५।१५०) के मतानुसार पत्नी में चार बाते होनी चाहियें—वह सदैव हसमुख रहे, गृह कार्यो में दक्ष हो, घर की सब चीजें साफ सुथरी रखे और अपव्ययी न हो[४१]। याज्ञवल्क्य ने इन के अतिरिक्त पति का प्रिय कार्य करना, सास ससुर

---

३९. चीन में कन्फूशियस की व्यवस्था के अनुसार 'बचपन में स्त्री को अपने पिता या बड़े भाई की आज्ञा का पालन करना चाहिये, विवाहित होने पर पति के, तथा पिता और पति की मृत्यु के बाद पुत्रो के आदेश को मानना चाहिये (लेगी-चाइनीज क्लासिक्स १।१०३ पृ०)। टकर ने यूनान की नारी के सम्बन्ध में लिखा है—'स्त्री जीवन के किसी काल में संरक्षक के बिना नहीं रह सकती थी, उस का पिता जीवित न होने पर समीपतम सम्बन्धी उस का संरक्षक होता था और स्त्री के विवाह के बाद भी संरक्षक बना रहता था। पति की मृत्यु के बाद उस का पुत्र उस का संरक्षक होता था (लाइफ इन एंशेण्ट एथेन्स पृ० ५२)। रोम के सम्बन्ध में यूजीन हैकर का कथन है कि रोम में स्त्री पिता, पति या अन्य अभिभावक के संरक्षण में रहती थी, वह उनकी सम्मति के बिना कुछ नहीं कर सकती थी। स्त्रियों को संरक्षण में रखने के निम्न कारण समझे जाते थे—स्त्री चरित्र की चंचलता, कामातुरता और कानूनी मामलो की अनभिज्ञता (ए शार्ट हिस्टरी आफ वुमैन्स राइटस् पृ० २)

४०. मनु० ५।१५०-५६, याज्ञवल्क्य १।८३-८७, विष्णुधर्मसूत्र २५। १-८, महाभारत ३।२३३। १९-५८ में द्रौपदी द्वारा सत्य भामा को तथा १३। १२३ में शाण्डिली द्वारा सुमना को पत्नी के धर्मो का विस्तार से उपदेश है। व्यासस्मृति २।२०-३२, हारीत (स्मृच २५०)

४१. सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया। सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया। कामसूत्र (४।१।३२) के मत में पत्नी को वार्षिक आय के

की चरण वन्दना,[४२] उत्तम आचरण और सयम उस के प्रधान गुण बताये है (१।८३, ८७)। शंख ने पति के उत्तम आचरण में ये बातें गिनायी है—(पति या वड़े व्यक्तियो द्वारा) न कहे जाने पर घर से बाहर न निकलना, ऊपर का कपड़ा ओढे विना न निकलना, जल्दी न चलना, व्यापारी, सन्यासी बूढे और वैद्य के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से न वोलना, नाभि को न दिखाना, टखने (गुल्फ) तक (साडी आदि वस्त्र) पहनना, स्तन विवृत न करना, अपना मुंह (हाथ या वस्त्र से ढके विना) जोर से न हंसना, अपने पति तथा अन्य सम्वन्धियो से घृणा न करना, नर्त्तकी , धूर्ता, प्रेमियो को मिलाने वाली साधुनियो, स्त्रीज्योतिपियो (प्रेक्षणिका), जादू (माया) और वशीकरण की दवाई(मूल)और गुप्तविधि (कुहक)करने वाली तथा दु शील स्त्रियो के साथ न मिलना, क्योकि इन के ससर्ग से कुल स्त्रियो का चरित्र दूषित होता है[४३]—मनु ने स्त्रियो के विगडने के छः कारण वताये है—सुरापान, बुरे व्यक्तियो का सग, पति से दूर रहना, (तीर्थ आदि अन्य स्थानो मे) घूमना, दिन मे सोना, दूसरो के घरो मे रहना[४४]। मनु (८।३६१) और याज्ञवल्क्य (२।२८५) निषिद्ध पुरुप के साथ वोलने पर पत्नी के लिये दण्ड व्यवस्था

अनुसार व्यय करना चाहिये—सांवत्सरिकमायमाख्याय तदनुरूपं व्ययं कुर्यात् । द्रौपदी का कहना है कि उसे पाण्डवों की पूरी सम्पत्ति और आय व्यय का ज्ञान है (३।२३३)।

४२. मिलाइये, विष्णु धर्म सूत्र २५।१-६, महाभारत १३।१२३।१० शंख (स्मृच २५१)

४३. याज्ञ० १।८७ पर मिताक्षरा में उद्धृत—नानुक्ता निर्गच्छेत्, नानुत्तरीया। न त्वरितं व्रजेत् । न परपुरुषमभिभाषेतान्यत्र वणिक्प्रव्रजितवृद्धवैद्येभ्यः। न नाभिं दर्शयेत्। आगुल्फाद्वासः परिदध्यात्। न स्तनौ विवृतौ कुर्यात् । न हसेदनपावृता। भर्त्तारं तद्बन्धून्वा न द्विष्यात् । न गणिकाधूर्ताभिसारिणीप्रव्रजिताप्रेक्षणिकामायामूलकुहककारिकादुःशीलादिभिः सहैकत्र तिष्ठेत् । संसर्गेण हि कुलस्त्रीणां चारित्र्यं दुष्यति । मूलकारिका का अर्थ संभवतः वशीकरण के लिये जड़ी बूटियां देने वाली है। मिलाइये महा० ३।२३३।७-१४ मूलप्रचारैर्हि विषं प्रयच्छन्ति जिघांसवः, काणे हि० खण्ड २, भाग १, पृ० ५६४

४४. ९।१३, पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् । स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसंदूषणानि षट् ॥

भी करते हैं। बृहस्पति ने संक्षेप में पत्नी के ये धर्म बताये हैं—पति आदि बड़े व्यक्तियों से पहले उठना, भोजन आदि उन के बाद लेना तथा उन से नीचे आसन पर बैठना[४५]। व्यास स्मृति (२।३०-३२) में पत्नी के सवेरे उठने से रात के सोने तक सब कर्त्तव्यो का विस्तृत उल्लेख है। महाभारत (१।७४।१२) तथा कालिदास के मत में पत्नी को पितृगृह में चिरकाल तक नही रहना चाहिये; क्योकि इससे कीर्त्ति, चरित्र और धर्म की हानि होती है[४६]। मध्ययुग में स्कन्दपुराण (ब्रह्म खण्ड धर्मारण्य अध्याय ७) में पतिव्रता के धर्मो का विस्तार से उल्लेख करते हुए कहा गया है कि उसे पति का नाम नही लेना चाहिये, क्योकि ऐसा करने से उसकी आयु में वृद्धि होती है (श्लोक १८), पत्नी द्वारा भर्त्सित होने पर जोर से नही बोलना चाहिये और पिटने पर हंसमुख रहना चाहिये[४७]। पद्मपुराण के अनुसार वही पत्नी पतिव्रता है, जो कार्य में दासी, काम सुख में वेश्या, खिलाने में माता और विपत्ति में उत्तम परामर्शदाता होती है[४८]।

प्रोषित पतिका के धर्म—पति के विदेशयात्रा में घर से बाहर होने पर भार्या के आचरण का सक्षेप से उल्लेख करते हुए याज्ञ० (१।८४)ने उस के लिये निम्न बातों का निषेध किया है—खेल, शरीर का सजाना, समाजो और उत्सवों में जाना, हंसना, परपुरुष के घर में जाना। महाभारत में शरीर को सजाने में निषिद्ध वस्तुओ का निम्न उल्लेख है—काजल तथा रोचना (पीला रग) लगाना, (विशेष) स्नान, मालायें, अनुलेपन और आभूषणादि से अपने को सजाना (१३।१२३।२७)। स्मृति चन्द्रिका (पृ० २५३) ने शख लिखित को उद्धृत करते हुए पत्नी के लिये निषिद्ध वस्तुओ का विस्तार से उल्लेख किया

---

४५. स्मृच व्यव० पृ० २५७, पूर्वोत्थानं गुरुष्ववार्क् भोजनं व्यंजनक्रिया। जघन्यासनशायित्वं कर्म स्त्रीणामुदाहृतम् ॥

४६. १।७४।१२ नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते। कीर्त्ति-चारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥ शाकुन्तल ५।१७, सतीमपि ज्ञातिकुलैक-संश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशंकते। मिलाइये मार्कण्डेय पुराण ७७।१९

४७. स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड धर्मारण्य ७।१८-१९ भर्तुर्नाम न गृह्णाति ह्यायुषोऽस्य वृद्धये।.....आक्रुष्टापि नाक्रोशेत्ताडितापि प्रसीदति।

४८. पद्मपुराण सृष्टि खण्ड ४७।५६ कार्ये दासी रतौ वेश्या भोजने जननी-समा। विपत्सु मंत्रिणी भर्तुः सा च भार्या पतिव्रता ॥

है। व्यास के मत में ऐसी स्त्री को अपना चेहरा पीला दिखाना चाहिये, शरीर का श्रृगार न करते हुए और निराहार रहते हुए शरीर को कृश करना उचित है। मनु० (९।७४-७५) तथा विष्णु धर्म सूत्र (२५।९-१०) यह कहते हैं कि विदेश यात्रा से पहले पति को पत्नी के भरण पोषण का प्रवन्ध करना चाहिये, क्योकि ऐसा न होने पर साध्वी स्त्रियो के भी विगड़ने का भय रहता है।

पतिसेवा—धर्मशास्त्रो में स्त्री का प्रधान कर्त्तव्य पतिसेवा और पातिव्रत्य का पालन वताये गये हैं। शख के मत में स्त्री को व्रत, उपवास यज्ञ दानादि से वैसा फल नही मिल सकता जैसा पतिसेवा से। सीता की सम्मति मे पत्नी के लिये पतिसेवा से अतिरिक्त कोई तपस्या नही है। ब्रह्मवैवर्त्तपुराण के अनुसार स्त्रियो का सब से वडा व्रत, तप, धर्म और देवपूजन पतिसेवा है[४९]। भागवत पुराण ने इसका अनुमोदन करते हुए स्त्रियो का परम धर्म पति की शुश्रूषा को ही वताया है (मि० महाभारत० ५।३४।७५)। मनु ने इस पर वल देते हुए कहा है कि साध्वी पत्नी दु शील, स्वच्छन्दगामी और गुणशून्य पति की भी देवता की तरह सेवा करे, इसी से स्त्रिया स्वर्ग मे पूजित होती है; क्योकि स्त्रियो के लिये पृथक् रूप से कोई यज्ञ व्रत या उपवास नही है (५।१५४-५५) ।

महाभारत के कई उपाख्यानो मे पतिसेवा के धर्म की विस्तृत व्याख्या की गयी है। १३।१२३ मे केकय देशवासिनी एक स्त्री सुमना, शाण्डिली से उस के स्वर्ग आने का रहस्य पूछती है और यह उत्तर पाती है कि वह गेरुए वस्त्रो, वल्कलो या जटाओ से स्वर्ग नही पहुँची; किन्तु पति के लौटने पर उसे आसन पर विठाकर उस की पूजा से, उसके पसन्द किये पदार्थों को ग्रहण तथा नापसन्द की वस्तुओ के त्याग से, उस की नीद मे वाधा न डालने से वह स्वर्ग पहुँची है। सत्यभामा को द्रौपदी ने पाच पाण्डवो को अपने वश मे रखने का सव से वडा मंत्र, पतिसेवा ही वताया है। 'मै उन की आज्ञापालक, अहकार

---

४९. शंख व्यक० १३५ न च व्रतोपवासनियमेज्यादानधर्मो वाऽनुग्रहकरः स्त्रीणामन्यत्र पतिशुश्रूषायाः। वा० रा० २।११८।९-१० पतिशुश्रूषणान्नार्या स्तपो नान्यद्विधीयते। भागवत पुराण १०।२९।२४ भर्त्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो........मि० ७।११।२५, ब्रह्मवैवर्त्त पु० कृष्ण खंड उ० ५७।१८ पति-सेवा व्रतं स्त्रीणां पतिसेवा परं तपः। पतिसेवा परो धर्मः पतिसेवा सुरार्चनम् ॥ वहीं ८३।११२ व्रतं तपस्यां देवार्चां परित्यज्य प्रयत्नतः। कुर्याच्चरणसेवां च स्तवनं च परितोषणम् ॥

शून्य, उनके विचारों का सदा ध्यान रखने वाली हूँ, उन्हें बुरा लगने वाले कथन, स्थान, दृष्टि, बैठने, बुरा चलने तथा बुरे इशारो से सदा बचती रहती हूँ। उन के स्नान, भोजन और आसन ग्रहण करने से पहले मै ये कार्य नही करती। उनके अपेय और अभक्ष्य का वर्जन करती हूँ। पाण्डवो की आराधना करते हुए मेरे लिये दिन रात बराबर हैं। मै प्रात काल उनसे पहले उठती हूँ और रात को सब से पीछे सोती हूँ' (३।१२३।४ अनु०)।

हिन्दू परिवार में सभवतः पति सेवा का सर्वोच्च आदर्श सीता ने रखा है। चौदह वर्ष के वनवास की आज्ञा होने पर श्रीराम की यह इच्छा है कि कोमलागी सीता वन्य जीवन के भयकर कष्टो से बची रहे, किन्तु वह पतिसेवा के लिये भीषणतम कष्ट सहने को तय्यार है (वा० रा० २।२६)। "हे राघव, यदि आप आज दुर्गम वन को जाते हो, तो मै आप के आगे आगे काटो और कुशा घास को कुचलती हुई चलूंगी। उच्च अट्टालिकाओ तथा विमानो में बैठकर आकाश मे विहार करने की अपेक्षा, सब अवस्थाओ मे पति के चरणो की सेवा ही श्रेष्ठ है। यदि स्वर्ग में भी वास करना मिले, तो मै उसे आप के बिना पसन्द नही करूँगी"। श्रीराम ने जब उसे पहाड़ी कन्दराओ में गरजने वाले सिंहो, नदियो के सर्वभक्षी ग्राहो, वनो के हाथियो और काले सापो का डर दिखाया तो सीता ने उत्तर दिया —'जब आप मेरे साथ होगे तो मुझे इन हिंस्र जन्तुओ का क्या भय है?.... मार्ग में आने वाले सरकण्डे और काटेदार पेड़ मुझे रुई और मृगचर्म के समान मृदुस्पर्श वाले प्रतीत होगे। आपके साथ जो वस्तु है, वह मेरे लिये स्वर्ग है; आप के बिना जो कुछ है; वह नरक है'(२।३०। ३-१९)। अन्धेरे में छाया व्यक्ति का साथ छोड देती है; किन्तु विपत्ति में सीता ने राम का साथ नही छोडा। उस की यह पतिनिष्ठा हिन्दू नारियो के लिये हजारों वर्षो के प्रबल झझावात में भी अमन्द आभा रखने वाला ज्योति स्तम्भ रहा है।

इस आदर्श का पालन करते हुए हिन्दू पत्नियो ने वृद्ध एव कठोर पतियो की बड़े भक्तिभाव से सेवा की है। महाभारत में ऐसी पतिपरायण स्त्रियो की सूची दी गयी है, जो पति के बूढा होने पर भी उस की सेवा से विरत नहीं हुई। (४।८१।१०)। च्यवन ऋषि तप करते हुए बिल्कुल मिट्टी हो गये, राजा शर्याति के उपद्रवी बच्चो ने उन्हे पत्थर मारे, ऋषि के शाप से बचने के लिये राजा ने उन्हे अपनी पुत्री सुकन्या प्रदान की और वह बडे प्रेम से बूढे पति की सेवा करती रही (श० ब्रा० ४।१।५।१-१२, महाभारत ३।१२२-२३, ४।२१।१०-१४, भागवत पुराण ९।३।१ अनु)। महारूपवती नारायणी

इन्द्रसेना ने हजार वर्ष के वृद्धपति की सेवा की। द्युमत्सेन की पुत्री सावित्री सत्यवान् के साथ यम लोक तक गई। सृञ्जय की पुत्री के साथ नारद के विवाह के समय, उनके भाजे पर्वत के शाप के कारण उनका चेहरा बन्दर जैसा हो गया, किन्तु उसने वानरमुख नारद की सेवा तन्मयता से की, 'अपने पति से अनुराग रखने वाली उस कन्या ने देवता मुनि, यक्ष आदि अन्य किसी पुरुष को मन से भी पतिभाव से नही देखा (१२।३०।३२-३४)। इन आख्यानो के ऐतिहासिक होने मे संदेह संभव है; किन्तु इन्हे निरन्तर श्रवण करने वाले हिन्दू परिवार पर इनके अमित प्रभाव मे रत्ती भर सशय नही हो सकता।

महाभारत मे ऐसे उदाहरणो की भी कमी नही है, जिनमे स्त्रिया अपनी सेवा द्वारा कठोर पतियो को भी सन्तुष्ट करने का यत्न करती रही है। जरत्कारु ने पितरो के उद्धार के लिये नागराज वासुकि की बहन से इस शर्त्त पर शादी की कि यदि वह उन्हे अप्रिय लगने वाला कोई कार्य करेगी या कोई ऐसी वात कहेगी तो वे उसे छोड देगे। एक वार पत्नी की गोद में सिर रख कर सोते हुए सायकाल हो जाने पर भी जब ऋषि की नीद नही खुली तो पत्नी धर्म संकट मे पड गयी। यदि वह उसे जगाती है तो नीद मे वाधा डालती है; नही जगाती तो सायतन धर्मकृत्य का समय समाप्त होने की सभावना थी। जगाने में पति के कोप का भय था; न जगाने मे धर्मलोप की आशका। धर्म रक्षा की दृष्टि से उस ने जब पति को जगाया तो उनके होठ क्रोध से फडकने लगे, पत्नी के आंसुओ की उपेक्षा कर वे उसे छोड कर चले गये (महाभारत १।४५-४८ अ०)। रेणुका को जमदग्नि ने कडी धूप और तपी बालू में वाण लाने के लिये दौडाया था (महाभारत १३।९५-९६ अ०)।

पति के वचन का पालन—याज्ञवल्क्य की सम्मति मे पत्नी का परम धर्म यह है कि वह पति के वचन का पालन करे [५०]। महाभारत मे ऐसे अनेक उपाख्यान है, जिनमे पत्नियो द्वारा पतियो की अनुचित इच्छाओ को भी पूरा करने का वर्णन है। पाण्डु कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरित करता हुआ कहता है कि मदयन्ती ने पति को प्रसन्न करने की इच्छा से वसिष्ठ का अभिगमन किया था [५१]। 'वेदवेत्ता यह जानते है कि पति पत्नी को धर्मानुकूल या धर्मविरुद्ध

५०. याज्ञ० १।७७ स्त्रीभिर्भर्तृवचः कार्यमेष धर्मः परः स्त्रियाः।

५१. महाभारत १।१२२।२३ एवं कृतवती सापि भर्तुः प्रियचिकीर्षया १।१६०।४ में पति के लिये प्राण तक देने का वर्णन है। एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम्। प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्तृहितमाचरेत्॥

जो बात कहे, उस के अनुसार कार्य करना चाहिए[५२]। मार्कण्डेय पुराण (१६ अ०) में इसका सब से सुन्दर उदाहरण कौशिक ब्राह्मण की ऐसी पतिव्रता स्त्री की कथा है, जो अपने कोढी और लगडे पति को उस की इच्छा पूरी करने के लिये वेश्या के घर ले जाती है और अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से अगले दिन सूर्योदय को रोक देती है। ऐसी कथाओ का अभिप्राय केवल पातिव्रत्य की महिमा का वखान करना ही है।

पातिव्रत्य—कौशिक ब्राह्मण की पत्नी मे पातिव्रत्य का उपर्युक्त आदर्श पराकाष्ठा तक पहुँच गया है। पत्नी से ऐसा कार्य कराने का उद्देश्य सभवत· यह है, कि उस में इस बात से कभी कोई ईर्ष्या ही उत्पन्न न हो, कि उस का पति किसी दूसरी स्त्री से प्रेम करता है। पातिव्रत्य की मूल भावना यही है, पति जो चाहे करे, पत्नी को अपने पति के प्रति साध्वी रहना चाहिये। मनु ने 'मन वचन और देह से भी पर पुरुष के साथ व्यभिचार न करने वाली स्त्री को पति के साथ स्वर्ग मे निवास करने वाली साध्वी स्त्री वताया है और परपुरुष के साथ व्यभिचार से स्त्री की निन्दा, पाप रोगो से पीडित होने तथा सियार की योनि पाने का उल्लेख किया है (मनु० ९।२९-३० मि० याज्ञ० १।८७, वसिष्ठ २१।१४)। हिन्दू परिवार में नारियो ने अत्यन्त विपम परिस्थितियो में प्राणो को सकट में डालना पसन्द किया है, किन्तु पातिव्रत्य की मर्यादा का परित्याग नही किया।

आदर्श पतिव्रतायें—प्राचीन साहित्य में सभवत आदर्श पतिव्रता का सवसे सुन्दर उदाहरण सीता है। पचवटी में रावण ने सीता की कुटिया मे परिव्राजक के रूप में प्रवेश किया और उसे अपनी पटरानी वनाना स्वीकार करने पर त्रिलोकी के ऐश्वर्य का प्रलोभन दिया (वा०रा०अर० ४७।२५-३१); परन्तु पातिव्रता सीता ने रावण को धिक्कारते हुए यह सिहगर्जना की—'मै पुरुषसिंह रामचन्द्र के अनुकूल रहने वाली स्त्री हूँ। तू गीदड होकर मुझ शेरनी को पाना चाहता है। जैसे सूर्य की प्रभा को नही छुआ जासकता, उसी तरह तू भी मुझे नही छू सकता' (४७।३४-४७)। राक्षसराज द्वारा लकापुरी में अपहृत होने पर भी सीता में यही दृढता, धीरता और गम्भीरता वनी रही। अशोक-

---

५२. महाभा० १।१२२।२७-२८ धर्ममेवं जनाः सन्तःपुराणं परिचक्षते। भर्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा। यद् ब्रूयात्तथा कार्यमिति वेदविदो विदुः॥

वाटिका में एक वर्ष तक रखकर रावण ने उसे नाना प्रकार की विभीषिकाओ द्वारा भयभीत करना चाहा—'यदि १२ महीने के अन्दर तुम मेरे पास नही आओगी तो रसोइये तुम्हारे शरीर को खण्डखण्ड कर डालेंगे'। १० मास बाद राक्षसियो ने विकराल रूपो द्वारा उसे अनेक प्रकार के भय दिखाये किन्तु सीता अपने पातिव्रत्य पर अटल रही। "दीन हो या राज्यहीन, पति ही मेरा गुरु है। मैं उसमे उसी तरह अनुरक्त हूँ जैसे सुवर्चला सूर्य के, शची इन्द्र के, अरुन्धती वसिष्ठ के, लोपामुद्रा अगस्त्य के, सुकन्या च्यवन के और सावित्री सत्यवान् के साथ थी, जैसे सौदास, सगर और नल के साथ क्रमशः मदयन्ती, केशिनी और दमयन्ती अनुरक्त थी। चन्द्रमा का उष्ण होना, अग्नि का शीतल होना और समुद्र के पानी का मीठा होना सभव था; किन्तु सीता का सतीत्व के पथ से विचलित होना अशक्य था'। रावण का अनन्त वैभव उसे न लुभा सका; उसके दण्ड का भीषण भय भी उसे अपने सकल्प से न डिगा सका। पातिव्रत्य की सर्वोच्च मर्यादा स्थापित कर उसने भगवती का पवित्र पद पाया, 'उसका अनुपम धैर्य, अद्वितीय साहस, अतुलनीय पतिभक्ति और अलौकिक सतीत्व हिन्दू परिवार मे नारियो को सत्पथ पर दृढ़ रहने और सतीत्व की परम्परा अक्षुण्ण रखने की प्रेरणा का अजस्र स्रोत रहा है।

पातिव्रत्य का आदर्श यह है कि एक वार किसी पुरुष से विवाह होने के वाद उस में न्यूनतायें होने पर भी दूसरे पुरुष का विचार न किया जाय। सत्य-वान् सव प्रकार से गुणवान् होते हुए भी एक वर्ष मे मर जाने वाले थे। सावित्री ने सत्यवान् को जव पति रूप से वरण किया तो उसे यह दोष ज्ञात नही था। वाद में नारद द्वारा इस का पता लगने पर जव उस के पिता ने उसे दूसरा पति चुनने को कहा तो सावित्री का उत्तर था कि लम्बी आयु वाला हो या छोटी आयु वाला, गुणवान् हो या गुण शून्य; मैंने एक वार पति चुन लिया है, दूसरा पति नही चुनूगी[53]। पिता को कन्या का आग्रह स्वीकार

---

५३. महाभारत ३।२९४।२७ दीर्घायुरथवाल्पायुः सगुणो निर्गुणोऽपि वा। सकृद्वृतो मया भर्ता न द्वितीयं वृणोम्यहम् ॥ सावित्री की पतिभक्ति के लिये देखिये ३।२९७।५२-५३ ; वरं वृणे जीवतु सत्यवानयम् । न कामये भर्तृविना कृता सुखं न कामये भर्तृविनाकृता दिवम् । न कामये भर्तृविनाकृता श्रियं न भर्तृहीना व्यवसामि जीवितुम् ॥

करना पड़ा। सत्यवान से सावित्री का विवाह हुआ, एक वर्ष तक उसने पति की सेवा की (३।२९ ६।१९)। जब सत्यवान की मृत्यु होनी थी, उस दिन सत्यवान के वन में लकड़ी लाने के लिये जाने पर, सावित्री भी उसके साथ गई। उस ने वन में यमराज को प्रसन्न कर अपने पति के प्राणो को तथा सास ससुर के खोये राज्य तथा दृष्टि शक्ति को प्राप्त किया। (३।२९६।१९) यह कथा गुणहीन पति की प्राणपण से सेवा तथा अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से उसके दोषो को दूर करने का सुन्दर उदाहरण है।

गान्धारी को जब यह पता लगा कि उस का विवाह प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र के साथ होना है तो उस ने अपनी आंखो पर कई तहो वाली पट्टी बांध ली ताकि उसके चित्त में पति के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव न उत्पन्न हो (महाभा० १। ११०।१४)। द्रौपदी ने वन में पतियो के साथ घोर कष्ट सहे, किन्तु पातिव्रत्य की मर्यादा नही छोड़ी। हरिश्चन्द्र की पत्नी तारामती ने अपने पति द्वारा बेचे जाने में भी संकोच नही किया(ब्रह्म०अ० १०४, मार्क० अ० ७, ८, देवीभागवत ७।१८)।

मनु ने यह कहा है कि पति के दु शील होने पर भी पत्नी साध्वी रहे। इस का सर्वोत्तम उदाहरण शची है। इन्द्र हमारे साहित्य में लम्पटता के लिये प्रसिद्ध है किन्तु उस की पत्नी शची ने सतीत्व का उज्ज्वल आदर्श स्थापित किया है। वृत्र का वध करने के बाद इन्द्र ब्रह्महत्या के पाप के कारण जल में छिपा और नहुष उस के स्थान पर देवराज बना, उस ने इन्द्र पद पाने के बाद इन्द्राणी को प्राप्त करने की लालसा की; किन्तु पतिव्रता शची ने अपने पति इन्द्र को ढूढ कर उस की बताई हुई चालाकी तथा बृहस्पति द्वारा दी गयी सहायता से अपने सतीत्व की रक्षा की (महाभा० ५।१० अनु०, १२।३४२।२८-५३)। दक्षपुत्री सती ने अपना पातिव्रत्य कई जन्मो में निबाहा। दक्षयज्ञ में देह त्याग करने के बाद वह अगले जन्म में हिमालय और मैना की कन्या बनी और उसने तपस्या द्वारा महादेव को प्राप्त किया।

सतीत्व की महिमा—हिन्दू धर्मशास्त्रो मे पातिव्रत्य की गरिमा के बहुत गीत गाये गये है। मनुस्मृति (५।१६५-६) याज्ञवल्क्य स्मृति (१।८७) और महाभारत(१४।२०।४)इसे सब से ऊँचे उस स्वर्ग लोक में पहुँचाने वाला मानते हैं, जिसे केवल ब्रह्मा, पवित्र ऋषि और पवित्रात्मा ब्राह्मण ही प्राप्त करते हैं (महाभारत १३।७३।२ अनु० मि० ९।५।४१-४७)। 'पृथिवी के सब तीर्थ पतियो के चरणो में है, सब देवताओ और मुनियो का तेज सतियो मे है,

उनके चरणों की धूल से पृथिवी शीघ्र ही पवित्र हो जाती है[५४]। उनके आसुओं में रावण जैसे बलवान् राक्षस को नष्ट करने की शक्ति है नेत्र (६।१११।६५)। कृष्ण के मतानुसार गान्धारी पातिव्रत्य के कारण अपने क्रोध दीप्त से सारी पृथिवी भस्म कर सकती थी (९।६३।२१)। स्कन्द पुराण (ब्र० ख० धर्मारण्य ७।५४-५६) का कथन है कि जैसे सपेरा विल से साप को निकाल लेता है, वैसे ही पतिव्रता अपने पति के जीवन को यमदूतो से छीन लेती है, उसे देखकर वे भाग खडे होते है[५५]। सावित्री ने इसी प्रभाव से अपने पति को यमराज के चंगुल से बचाया था (दे० पृ० १५४) सीता ने इसी कारण हनुमान की पूछ को आग लगने पर भी उसकी जलने से रक्षा की थी (वा० रा० ५। ५३।२५ अनु०)। सतियो के तेज के सम्मुख तपस्वी ब्राह्मणो की शापशक्ति को नतमस्तक होना पडता था, यह कौशिक ब्राह्मण के आख्यान से स्पष्ट है (महाभारत ३।२०६ अ०)। उस ने अपने पर वीठ करने वाले सारस को दृष्टिमात्र से दग्ध कर दिया; किन्तु पति सेवा मे सलग्न स्त्री के घर पर भिक्षा पाने में विलम्ब होने से वह उस का कुछ नही विगाड सका, उस ने अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से, ब्राह्मण द्वारा सारस को कोप दृष्टि से जलाने की वात जान ली (महाभा० ३।२०६।२३-३२)।

अपने सतीत्व के कारण अनेक असभव, अद्भुत एवं चमत्कारपूर्ण कार्य करने वाली स्त्रियों के अनेक उदाहरणो की चर्चा प्राचीन साहित्य में वहुत पायी जाती है और इनका उद्देश्य सतीत्व के गौरव को वढाना ही प्रतीत होता है। पतिव्रता स्त्री परपुरुष के लिये अदृश्य हो सकती है। अशुचि अवस्था मे उत्तक राजा पौष्य के अन्त पुर मे उस की पत्नी को नही देख पाया (महाभारत २।३। १०७)। स्कन्द० (६।१३५) तथा मार्कण्डेय० (१६।२७) पुराणो के अनुसार अपने कोढी पति को उसकी इच्छा पूरी करने के लिये वेश्या के पास ले जाने वाली पतिव्रता शडिली अथवा दीर्घिका अपने सतीत्व के सामर्थ्य से सूर्योदय रोक देती है। भोजप्रवन्ध की एक कथा के अनुसार अपनी गोद

---

५४. ब्रह्म वै० पु० ३५।१,१९, १२७ पृथिव्यां यानि तीर्थानि सतीपादेषु तान्यपि। तेजश्च सर्वदेवानां मुनीनां च सतीषु वै॥

५५. स्कन्द पुराण ७।५४-५५ व्यालग्राही यथा व्यालं बलादुद्धरते बिलात्। एवमुत्क्रम्य दूतेभ्यः पतिं स्वर्गं व्रजेत्सती। यमदूताः पलायन्ते तामालोक्य पतिव्रताम्॥

में सोये पति की नीद न खराव करने वाली पतिव्रता के उस समय आग में गिर पड़ने वाले बालक को आग ने नही जलाया, वह उसके लिये चन्दन की तरह शीतल हो गयी[५६]। कथासरित्सागर में राजा रत्नाधिप का हाथी मरने पर वह अस्सी हजार रानियो के स्पर्श से जीवित नही होता; किन्तु हर्षगुप्त की पतिव्रता पत्नी शीलवती द्वारा छूते ही जी उठता है (३६ वी तरंग मि० दशकुमार चरित)। राजतरगिणी के अनुसार मिहिरकुल ने चन्द्रकुल्या नदी के प्रवाह को वदलने के लिये तप किया और इसमें वाधक चट्टान में रहने वाले यक्ष से यह वर प्राप्त किया कि पतिव्रता स्त्री द्वारा चट्टान को छू लेने से यह वाधा दूर हो जायगी। हजारो कुलीन स्त्रियो के स्पर्श से यह चट्टान नही हिली; किन्तु एक कुम्हार की पतिव्रता पत्नी के छूने से वह चट्टान हट गयी (१।३१८-२१)। मयूर की साध्वी स्त्री के शाप से वाण कोढी हो गया था (प्रवन्ध चिन्तामणि पृ० ६४-६९)।

सतीत्व का ऐतिहासिक विकास—हिन्दू परिवार में चिरकाल से सतीत्व का यह आदर्श रहा है कि पत्नी अपनी सत्ता को पति में पूर्ण रूप से विलीन कर दे। वृहस्पति के शब्दो में वही स्त्री पतिव्रता है, जो पति के दुखी होने पर आर्त्त, उसके प्रसन्न होने पर हृष्ट, विदेश जाने पर मलिन और दुर्वल तथा पति के मरने पर मर जाती है[५७]। पति के दुःशील होने पर उसे पति की देवता की भांति पूजा करनी चाहिये, एक वार विवाह होने पर उसे पुनर्विवाह का अधिकार नही है (मनु ५।१५४,१५८)।

प्राय यह कहा जाता है कि हिन्दूसमाज में सतीत्व का यह आदर्श अनादिकाल से चला आ रहा है। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह सत्य नही प्रतीत होता। स्त्री पर यह दायित्व डालने तथा पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करने वाले इस एकाकी आदर्श का वीजारोपण नारियो की स्थिति गिरने के साथ साथ व्राह्मण ग्रन्थो के समय हुआ। २०० ई० पू० में मनु द्वारा प्रवल समर्थन के वाद यह शनै शनैः सर्वमान्य होने लगा और गुप्तयुग

---

५६. भोज प्रवन्ध श्लोक २९२ सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न वोधयामास पतिं पतिव्रता। तदाभवत्तत्पतिभक्तिगौरवाद्धुताशनःश्चन्दनपंकशीतलः॥

५७. आर्त्तार्त्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा। मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता॥ वृहस्पति अपरार्क (पृ० १९०) तथा मिताक्षरा (या० १।८६) द्वारा उद्धृत।

के बाद हिन्दू समाज ने इस को पूर्ण रूप से अपना लिया । क्योकि सतीत्व के सिद्धान्त में स्त्रियों के पुनर्विवाह का कोई स्थान नही, किन्तु गुप्तयुग तक हमें स्त्रियो के पुनर्विवाह का उल्लेख मिलता है । कौटिलीय अर्थ शास्त्र ४ थी श० ई० पू० में परस्पर द्वेष के कारण तलाक की व्यवस्था करता है, (३।३) गुप्तयुग तक पति के नष्ट होने (पता न लगने), मरने, संन्यासी, नपुसक या पतित होने पर पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार था (नारद स्त्रीपुस ५।९७, पराशर ४।३०, अग्नि पुराण १५४।५-६)। पुनर्विवाह करने वाली सात प्रकार की पुनर्भू स्त्रियों का नारद ने वडे विस्तार से उल्लेख किया है(स्त्रीपुस ४।४५ अनु०)। रामगुप्त की पत्नी ध्रुवदेवी की अपने देवर चन्द्रगुप्त से दूसरे विवाह की कहानी[५८] भी यह स्पष्ट करती है कि गुप्तयुग तक सतीत्व का आदर्श स्त्रियो के पुनर्विवाह में वाधक नही था ।

जातक साहित्य की साक्षी—ईसा की पहली शतियो के लोक जीवन को प्रतिविम्वित करने वाले जातक साहित्य से भी यह पुष्ट होता है कि उस समय तक सतीत्व का आदर्श सर्वमान्य नही हुआ था। अनभिरत जातक (स० ६५) में अपनी भार्या के दोष से दु.खी शिष्य जव कई दिन अनुपस्थित रह कर, आचार्य के पास जाता है तो आचार्य उसे सान्त्वना देता हुआ कहता है कि नदियो, महामार्गो, शरावखानो, सभाओ तथा प्याऊओ की भांति स्त्रिया लोक मे सव के लिये साधारण होती है, पण्डित लोग इन के विपय में क्रोध नही करते[५९] । एक अन्य जातक (स० १९५) में, वनारस के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी के साथ, जव उस का एक अत्यधिक उपयोगी और प्रिय अमात्य अनुचित सबन्ध स्थापित करता है तो राजा वोधिसत्व को कहता है कि रम्य पर्वत के अंचल में सिंह द्वारा सुरक्षित पुष्करिणी (तालाव) का जल शृगाल ने पिया है । वोधिसत्व राजा के अभिप्राय को समझते हुए यह उत्तर देता है 'महाराज नदी पर सभी प्राणी जल पीते हैं, उस से नदी अनदी नही होती, यदि वह प्रिया है तो उसे क्षमा करें[६०] । इस से यह स्पष्ट है कि उस समय तक सतीत्व

---

५८. हर्षचरित छठा उच्छ्वास, इंडियन कल्चर सं० ४ पृ० २१६

५९. यथा नदी च पन्थो च पण्णागारं सभा प्रपा । एवं लोकस्त्रियो नाम नासं कुज्झन्ति पण्डिता ।।

६०. पब्वतू पत्थरे रम्मे जाता पोक्खरिणी सिवा । तं सिगालो..... जातं सीहेन रक्खितं । पिबन्ति वे महाराज । सापदानि महानदिं । न तेन अनदि

का आदर्श सर्वमान्य न होने से पत्नी पति की सुरक्षित पुष्करिणी नही ब
थी। पातिव्रत्य की महिमा बढने पर यह समझा जाने लगा कि पति ही पत्नी
प्राण है और उस के लिये महत्तम त्याग भार्या का परम धर्म है। किन्तु उच्छं
जातक (सं० ६७) में हम देखते है कि एक स्त्री पति से भी अधिक मह
अपने भाई को देती है। उस का पति, पुत्र और भाई राजकर्मचारियो द्वा
वन्दी वनाये जाते है। राजा उस के वहुत विलाप तथा प्रार्थना करने पर कह
है—'मै तुझे इन तीनो मे से एक को देता हूँ, तू किसे चाहती है?' उस
उत्तर है—"मुझे भाई दीजिये, क्योकिपुत्र और पति सुलभ है; किन्तु भा
सुलभ नही है। देव, पुत्र तो गोद में और पति रास्ते चलती को मि
सकता है; किन्तु वह देश नही दिखाई देता, जहां से भाई लाया
सके[६१]। परवर्ती युगो में पाणिग्रहण द्वारा आजीवन सतीत्व के वन्धन
रहने वाली नारी को महाजनपदयुग मे रास्ता चलते हुए पुरुष मि
सकता था।

किन्तु उपर्युक्त जातक कथाओ से यह परिणाम निकालना ठीक नही
उस समय प्रत्येक स्त्री नदी और तालाव की भांति जन साधारण के उपभो
की वस्तु थी, क्योकि जातको की अनेक कथाओ में नारिया अपने सतीत्व
रक्षा पूरी तरह करती है। जातक (सं० ५५) में एक राजा विद्रोहियो
दमन करने के लिये जाते हुए अपनी पत्नी मृदुलक्षणा को एक परिव्राजक
संरक्षण में छोड़ जाता है, परिव्राजक उस पर काममोहित होकर अपनी कुटि
में निराहार पड़ा रहता है, सात दिन वाद वापिस लौटने पर और यह समाच
ज्ञात होने पर राजा मृदुलक्षणा को अलकृत कर तपस्वी को देता है और सा
ही पत्नी को अपने वल से सदाचार की रक्षा के लिये कहता है। पत्नी पह
तो परिव्राजक से सार्वजनिक शौच गृह साफ करवा के वहां विस्तर विछवा

होति खमस्सु यदि ते पिया। अट्ठ कथा में इस का निम्न स्पष्टीकरण है—जि
प्रकार नदी किसी के पानी पीने से दूषित नहीं होती, उसी प्रकार स्त्री
कामुकता के वशीभूत हो अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे के साथ सहवा
करने से दूषित नहीं होती। क्यों? सव के लिये साधारण होने से। न ही स्त्र
जूठी है। क्यों? जल स्नान से शुद्ध हो सकने के कारण।

६१. उच्छंगे देव मे पुत्तो पथे धावन्तिया पति। तञ्च देसं न पस्सामि

है और फिर परिव्राजक के पास आने पर उसकी दाढी पकड़ कर कहती है 'क्या तुझे अपने श्रमण होने का विचार नही।' इस प्रकार उस का मोहभंग कर अपने सतीत्व की रक्षा करती है। अवदान कल्पलता में जयप्रभा ने अपने पातिव्रत्य का इसी प्रकार संरक्षण किया है। जातक स० ५४६ में एक वधू वर द्वारा सतीत्व की परीक्षा मे खरी उतरती है, सम्पत्ति द्वारा पथभ्रष्ट करने वालो को वह कहती है—'यह धन मेरे पति के चरणो की धूल के भी वरावर नही है।' अन्यत्र वन से पति के लिये कन्दमूल लाने वाली पत्नी का मार्ग रोकते हुए एक यक्ष जव उसे अपनी इच्छा पूरी करने अथवा मृत्यु स्वीकार करने को कहता है तो पत्नी का उत्तर है कि मुझे तुम्हारा शिकार वनना पसन्द है, किन्तु मैं अपने पति के प्रति सच्चे प्रेम का परित्याग नही कर सकती (फासवाल—जातक ५।६८२)। जातक सख्या २६७ में एक पति के सकट ग्रस्त होने पर पत्नी के अतिरिक्त उस के सव साथी भाग जाते हैं, परन्तु पत्नी कहती है—'मैं तुम्हे छोड़ कर नही जाऊँगी। पृथिवी के चारो कोनो पर तुम जितना प्रिय कोई नही मिल सकता'। इसी जातक की निदानकथा मे यह वर्णन है कि अपनी भार्या के साथ यात्रा करने वाले श्रावस्ती के एक भूमिपति पर डाकुओं ने हमला किया, उन का सरदार पत्नी के रूप पर मुग्ध हो गया और उस ने पति को मार कर उसे प्राप्त करना चाहा। साध्वी पत्नी ने सरदार के चरणों पर गिरते हुए कहा कि यदि तुम मेरे पति का वध करोगे तो मै विष खाकर आत्महत्या कर लूंगी, किन्तु तुम्हारे साथ नही जाऊँगी। इन सतीत्व समर्थक कथाओ से तथा ऊपर दी गयी इसे असाधारण महत्व न देने वाली कथाओ से यह स्पष्ट है कि उस समय न तो हिन्दू समाज में यौन अराजकता थी और न सतीत्व का प्रचलित वर्त्तमान एकागी आदर्श, जिसमे पति पत्नी पर इस विषय में समान वन्धन नही थे। पत्नी पति की भाति पुनर्विवाह कर सकती थी। इद्धिदासी के इस प्रकार दो विवाह हुए थे (थेरी गाथा टीका पृ० २६०)। अतः उस समय तक वर्त्तमान काल का सतीत्व का विचार हिन्दू परिवार मे एक सर्वमान्य रूढि के रूप में प्रचलित नही हुआ था।

भारतीय नारी का संघर्ष—उपर्युक्त तथ्य न केवल पालिसाहित्य से अपितु महाभारत तथा काव्यादि सस्कृत साहित्य के सूक्ष्म एव तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होने वाले भारतीय नारी के सघर्ष से भी पुष्ट होता है। कालिदास ने यद्यपि कण्व के मुख से वधू को यह उपदेश दिया है कि पति द्वारा निरादृत होने पर भी पत्नी को क्रोध मे पति के विरुद्ध कोई काम नही करना

चाहिये[६२]। किन्तु महाभारत में हमें अनेक ऐसी ओजस्वी स्त्रियो के दर्शन होते हैं, जो पति के अनुचित कार्य करने पर उसे शिक्षा देने और ठीक रास्ता दिखाने का यत्न करती है। यह तेजस्विता और स्वाधीन वृत्ति क्षत्रिय कन्याओ में विशेष रूप से पायी जाती है। मूलत. क्षत्रियो के शौर्य का यशोगान करने वाले महाभारत पर वाद में ब्राह्मणवाद का मुलम्मा चढ़ाया गया, किन्तु कई जगह यह पूरी तरह नही चढ पाया। हमे उसके नीचे गर्व से मस्तक उठाये स्वाधीन तथा शक्ति सम्पन्न नारी के दर्शन होते है। यद्यपि प्राचीन हिन्दू स्त्री पर सतीत्व की कलई अच्छी तरह चढ़ाने का प्रयत्न हुआ है; किन्तु कुछ स्थानो पर यह खुल गयी है। इस प्रकार की मनस्वी नारियो के सर्वोत्तम उदाहरण शकुन्तला और द्रौपदी है।

मध्यकाल में सतीत्व का यह आदर्श लगभग सर्वमान्य था कि भले ही पति पत्नी को पैरो से ठुकराये, किन्तु पत्नी को उन चरणो की पूजा करनी चाहिये। कालिदास ने शकुन्तला को ऐसा ही उपदेश दिया था। किन्तु उस की सती साध्वी शकुन्तला में तथा महाभारत में वर्णित उस के ओजस्वी रूप में आकाश पाताल का अन्तर है और यह सूचित करता है कि कालिदास के समय तक उसका कितना रूपान्तर हो चुका था। दुष्यन्त द्वारा निरादृत और तिरस्कृत शकुन्तला अपने पति को पंचम अक मे इतना ही कहती है 'अनार्य, तू सव को अपने जैसा ही समझता है, मैं मुह में मधु और हृदय में विष रखने वाले पुरुष के हाथ में पड़ गयी हूँ, किन्तु वाद मे शकुन्तला को यह दुःख होता है कि उस ने ये शव्द क्यो कहे। कण्व का शिष्य शार्गरव उसे यह परामर्श देता है कि यदि तू अपना आचरण शुद्ध मानती है तो पति कुल में तेरा दासी रूप में भी रहना उचित है। (५।२७)। किन्तु महाभारत की शकुन्तला दुष्यन्त द्वारा प्रत्याख्यान किये जाने पर पति का कोई लिहाज न कर उसे खरी वातें सुनाती है (१।७४।२९०), अपने तथा राजा में मेरु पर्वत और सरसो का अन्तर मानती है। राजा को अनेक परुष वचन कहती है और इन के लिये उसे तनिक भी दुःख नही है। पति द्वारा ठोकर खाने पर उसके चरण चूमने के विपरीत, उस ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि अत्यन्त क्रोधाविष्ट होने पर भी पति को पत्नी के लिये कोई अप्रिय कार्य नही करना चाहिये[६३], क्योंकि मनुष्य का काम सुख, प्रेम और (पुत्रादि

६२. अभिज्ञान शाकुन्तल ४।१७; भर्तुः विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।

६३. महाभा० १।७४।४२; सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः।

द्वारा) धर्म का पालन पत्नी से ही हो सकता है। कालिदास की शकुन्तला पति से अपमानित होकर चुपचाप चली जाती हैं; किन्तु महाभारत की शकुन्तला दुष्यन्त को उस के कर्तव्यो का स्मरण कराती है, पत्नी के महत्व तथा अधिकारों का प्रतिपादन करती है।

द्रौपदी को यद्यपि महाभारतकार ने आदर्श पतिव्रता के रूप में चित्रित करने का यत्न किया है, किन्तु अग्निस्वरूपा इस नारी का वास्तविक स्वरूप अनेक स्थानों पर प्रकट हो गया है। द्यूत सभा मे विवसना एवं लाछिता कृष्णा ने अपनी मनस्विता न खोते हुए, पति द्वारा अपने को दांव पर रखने के अधिकार में संदेह प्रकट किया और उसकी कृपा से पाण्डव दासता के वन्धन से मुक्त हुए (२।६५)। वनपर्व मे वह वार वार युधिष्ठिर एवं अन्य पाण्डवो की उनकी नपुसकता के लिये लताडती है (३।१२।६९, ७३, ८०; ३।३०।१, १९-२१; ३।३२); धर्मराज की इच्छा के विरुद्ध वह भीम और अर्जुन को कुलकलक जयद्रथ को मारने की प्रेरणा करती है (३।२७१।४५)। कीचक की घटना ने धर्मराज के प्रति उस की भक्ति के वांव को विल्कुल तोड डाला है (४।१८।१०-११, १४; ४।२२। ४५)६४। इसी प्रकार की एक अन्य मनस्विनी स्त्री दीर्घतमा की भार्या प्रद्वेषी थी। उस के पति द्वारा कामान्ध होकर सव यौन मर्यादायें भंग करने के कारण ही शायद उसे दीर्घतमा कहा गया है। प्रद्वेषी जव इस लम्पट पति और उस के पुत्रों के भरण पोषण से ऊव गयी तो उसने पति को कहा कि अव मैं देर तक तुम्हारा पालन नही कर सकती। इस पर दीर्घतमा ने इस नियम की स्थापना की कि पत्नी का एक ही पति हो सकता है, वह उस के जीवित रहने या मर जाने पर भी किसी दूसरे पुरुष को नही प्राप्त कर सकती। किन्तु प्रद्वेषी ने पति-व्रता नारी की भांति इस नियम का पालन करने के वजाय अपने अन्धे पति को पुत्रो द्वारा गगा में प्रवाहित कर दिया (१।१०४।२९-४०)। प्रद्वेषी की भांति शायद अत्रि की पत्नी को भी दाम्पत्य जीवन मे वड़ा कष्ट उठाना पडा था, उस 'ब्रह्मवादिनी भार्या' ने पति को त्यागते हुए कहा था[६५], मैं अव उस मुनि

---

६४. द्रौपदी के तेजस्वी रूप के अन्य उदाहरणो के लिये देखिये महाभा० ५।८२, १०।१०।२४ अनु०; १२।१४। द्रौपदी ने कई वार युधिष्ठिर की प्रशंसा भी की है ३।२७०। ६-८, ३।२७।१० अनु०, ४।१८।१५-२३,

६५. महाभा० १३।१४।९५। अत्रेर्भार्यापि भर्त्तारं संत्यज्य ब्रह्मवादिनी। नाहं तस्य मुनेर्भूयो वशगा स्यां कथंचन ॥

की आधीनता में नही जाऊँगी (१३।१४।९५)। विदेह राज जनक के संन्यासी होने पर उन की पत्नी ने पति की तीव्र भर्त्सना की है (१२।१८।१२-१५ मि० १४।२०।१ अनु०)

इन सब उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिन्दू नारी आरम्भ से रेणुका और जरत्कारु की पत्नी की भाति पति की दासी बन कर नही रही, सैव्या की तरह उस ने अपने पातिव्रत्य के लिये पति की अनुचित इच्छाओं को पूरा करना अपना कर्तव्य नही समझा, अनुसूया का दु:शील पति की सेवा का आदर्श उसे नापसन्द था। हिन्दू समाज मे पतियो को पाठ पढाने वाली शकुन्तला और द्रौपदी जैसी मनस्विनी तथा पति का परित्याग करने वाली प्रद्वेषी और अत्रिमुनि की पत्नी जैसी स्त्रिया भी होती थी; किन्तु शनै. शनैः हिन्दू परिवार में सतीत्व का वर्त्तमान आदर्श सर्वमान्य हुआ। इस प्रकार सतीत्व के विकास में निम्न अवस्थायें प्रतीत होती है—

(१) पति पत्नी की समान स्थिति—इस दशा में दोनो के अधिकार समान थे; दोनो में समान रूप में एक दूसरे के प्रति सच्चा रहने की आशा रखी जाती थी।

(२) सतीत्व का उषाकाल—इस समय पत्नी पति को देवता स्वीकार करने लगी, उस की स्वाधीनता और अधिकार मर्यादित होने लगे। शकुन्तला जैसी स्त्रियां अपने अधिकारो का प्रबल समर्थन कर उन की रक्षा का यत्न करने लगी। द्रौपदी जैसी पत्नियां पति को देवता स्वीकार करती हुई भी उन की तीव्र आलोचना करने से घबराती नही थी।

(३) सतीत्व का मध्यान्हकाल—इस अवस्था में यह विचार पराकाष्ठा तक पहुँचा कि पत्नी पति के जीवन काल में और उस की मृत्यु के बाद भी किसी दूसरे पुरुष के साथ संबन्ध नहीं रख सकती। पति द्वारा अपमानित और लांछित होने पर अथवा उसके दु:शील होने पर भी पति को देवता समझ कर उस की पूजा करनी चाहिये। पुराणो में सैव्या जैसी पतिव्रताओ का गुणगान किया गया, जो अपने कोढी पति को उस की सन्तुष्टि के लिये वेश्या के पास ले गयी। मध्ययुग में इस आदर्श के सर्वमान्य होने पर लाखो हिन्दू पत्नियो ने चिता पर आरूढ़ हो कर तथा आजन्म वैधव्य का पालन कर के अपनी अपूर्व पतिभक्ति का परिचय दिया।

सतीत्व का एकांगी आदर्श—दाम्पत्यजीवन में अन्योन्य अव्यभिचार से ऊँचा कोई आदर्श नही है और उपर्युक्त एकागी सतीत्व से बढ़ कर कोई विड-

म्बना संभव नही। अथर्ववेद में इन्द्र से यह प्रार्थना है कि वह पति पत्नी को एक दूसरे के प्रति चक्रवाक दम्पति की भांति सच्चा रहने की प्रेरणा करे[६६]। मनु नें संक्षेप मे स्त्रीपुरुष का यह परम धर्म वताया है कि वे मृत्यु पर्यन्त एक दूसरे के प्रति सत्यसन्ध रहे[६७], पर यह वड़े दु:ख की वात है कि अन्यत्र (५।१६८) उसने पत्नी के मरने पर पुरुष को पुनर्विवाह का आदेश दिया[६८], और पति के मरने पर भी पत्नी के पुनर्विवाह का निषेध किया (५।१५७-६१)। पत्नी को पति, अप्रिय वादिनी होने पर छोड़ सकता था (मनु० ९।८१, मि० बौधा० धर्म सूत्र २।२।६५, याज्ञ० १।६३, नारद १५।९३); किन्तु पत्नी, पति को कभी नही छोड़ सकती थी। वही स्त्री आदर्श सती थी, जो पति के दोषो की परवाह न करती हुई जीवन पर्यन्त उस की आराधना करे। इस प्रकार का सतीत्व स्त्री पुरुष के लिये नैतिकता का दोहरा मानदण्ड स्थापित करता है। स्त्रियों से आदर्श पातिव्रत्य की अपेक्षा रखी जाती है; किन्तु पुरुषो के लिये पत्नी व्रत होना आवश्यक नही। सतीत्व का यह आदर्श केवल स्त्रियो के लिये अनिवार्य होने से एकांगी है।

---

६६. अथर्व० १४।२।६४ इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।

६७. मनु० ९।१०१ अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥

६८. मि० याज्ञ० १।८९ वह पति को अविलम्ब दूसरे विवाह का आदेश देता है। मनु और याज्ञ० द्वारा विधुरों को यह अधिकार यज्ञ कार्य करने की दृष्टि से दिया गया था, क्योंकि यज्ञ के लिये पत्नी आवश्यक थी। किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (७।९-१०) ने अपत्नीक को भी सौत्रामणि यज्ञ करने की छूट प्रदान की थी और श्रद्धा को उसकी आलंकारिक पत्नी बताया था। बह्वृच ब्राह्मण (अपरार्क पृ० ११४) पत्नी के बिना अग्न्याधान की व्यवस्था करता है। विष्णु ने पत्नी के मृत होने पर अन्य वस्तु से यज्ञ पूरा करने का विधान किया था (अप० पृ० ११४)। रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ सीता की प्रतिमा बना कर पूरा किया था (वा० रा० ७।९१।२५ मि० गोभिल स्मृति ३।१०)। ऐसा लगता है कि मनु का इन प्राचीन वचनों और उदाहरणों की उपेक्षा कर पुरुषों को पुनर्विवाह का अधिकार देना उचित न था। बाद के टीकाकारों ने इस विषय में मनु का समर्थन करते हुए कहा कि पत्नी का प्रतिनिधित्व मूर्त्ति इस-लिये नहीं कर सकती कि पत्नी द्वारा किये जाने वाले यज्ञ कार्य मूर्त्ति द्वारा नहीं हो सकते (अपरार्क पृ० ११४)।

इस प्रकार का एकागी आदर्श हिन्दू समाज के अतिरिक्त, अन्य समाजो में भी प्राय: जाता है [६९]। स्त्रियो के लिये सतीत्व आवश्यक वनाने तथा पुरुषो पर इस वन्वन को कठोरता पूर्वक लागू न करने के निम्न प्रधान कारण है —(१) नारी

---

६९. श्राडर के मत में आरम्भिक आर्य जातियों में विवाहित पुरुष के व्यभिचार को आपत्तिजनक नहीं माना जाता था, किन्तु पत्नी का व्यभिचार भयंकर अपराध था (प्रिहिस्टारिक एण्टीक्विटीज़ पृ० ३८८) । जापान में पुरुष को स्वेच्छाचरण की अनुमति थी किन्तु स्त्री से न केवल उसके निष्कलंक आचरण की आशा रखी जाती थी, लेकिन यह भी उम्मीद रखी जाती थी कि उस का पति चाहे जितना स्वच्छन्द घूमे, चाहे जितनी रखैलें रखे, पत्नी इस विषय में किसी प्रकार की ईर्ष्या का प्रदर्शन नहीं करेगी (ग्रिफिस- रिलीजन्स आफ जापान पृ० ३२०) कोरिया के पति स्वेच्छाचार को अपना विशेषाधिकार समझते है। कुलीन तरुण वर तीन चार दिन अपनी पत्नी के साथ विताता है और फिर काफी समय गायव रहता है । इससे वह यह सिद्ध करना चाहता है कि वह पत्नी का वहुत अधिक सम्मान नहीं करता; किन्तु स्त्रियो के लिये लिये दाम्पत्य अव्यभिचार आवश्यक है (ग्रिफिस-कोरिया पृ० २५१ अनु०)। चीन में स्त्री का व्यभिचारिणी होना एक जघन्य अपराध था; किन्तु पतियो को रखैल रखने का अधिकार प्राप्त था (ग्रिफिस-पूर्वोक्त पुस्तक पृ० १४९)। मेक्सिकोवासी किसी स्वतन्त्र या अविवाहित स्त्री के साथ पुरुष के सम्वन्ध को न तो व्यभिचार मानते थे और न दण्डनीय अपराध; किन्तु पत्नी के व्यभिचारिणी होने पर उसे मृत्यु दण्ड देते थे। ट्यूटन जातियों में ईसाइयत का प्रचार शुरु होने के कुछ समय वाद तक भी उनके स्मृतिग्रन्थों में पति के व्यभिचार का कोई उल्लेख नहीं मिलता, क्योंकि उनमें इसका रिवाज होने से यह जायज था। रोमन लोगों में विवाहित पुरुष का अविवाहित स्त्री के साथ सम्वन्ध व्यभिचार नहीं माना जाता था। इस विषय में यूनानियों का रुख डिमास्थनीज की इस वक्तृता से स्पष्ट है कि हम अपने आनन्द के लिये प्रेमिकायें, निरन्तर शुश्रूषा के लिये रखैलें और वैध पुत्र पाने तथा साध्वी गृहिणियो के लिये पत्नियां रखते हैं (वैस्टरमार्क—ओडेमा २।४५३-५४) यद्यपि कुछ समाजों में पति का पत्नीव्रत और सत्यसंध रहना आवश्यक है (वैस्टरमार्क—वहीं २।४५२) ; किन्तु सामान्य नियम यही है कि पुरुष के लिये पत्नी व्रत होना उतना आवश्यक नहीं, जितना स्त्री के लिये पतिव्रता होना है ।

को सम्पत्ति समझना (२) मनोवैज्ञानिक कारण (३) स्त्रियो के असतीत्व के भीषण दुष्परिणाम (४) स्त्रियो का चचल स्वभाव (५) अन्तर्जातीय विवाह।

(१) नारी को सम्पत्ति समझना—हिन्दू शास्त्रकारो ने पत्नी को क्षेत्र और पति को क्षेत्री या क्षेत्र का स्वामी कहा है[६९]। क्षेत्र की रक्षा क्षेत्रपति का कर्त्तव्य है। यदि कोई अन्य व्यक्ति विना अनुमति के उस क्षेत्र पर अधिकार करना चाहता है तो यह चोरी है और प्राय: अधिकाश प्राचीन समाजो में चोर के लिये अंगभग आदि कठोर दण्डो की व्यवस्था थी[७०]। व्यभिचार एक प्रकार की चोरी है; अत अनेक जातियों में चोरी के अपराध की तरह व्यभिचार के दोष में भी हाथ काटने की व्यवस्था पायी जाती है[७१]। एक ब्राह्मण वचन में पतियों को सावधान रहते हुए अपने क्षेत्र की रक्षा का आदेश दिया गया है[७२]। यह स्पष्ट है कि सम्पत्ति होने से स्त्रियो पर सतीत्व का वन्धन लगाया गया।

(२) मनोवैज्ञानिक कारण—पुरुष की नैसर्गिक ईर्ष्या, अहभाव और अभिमान की भावनाये पत्नी के सतीत्व का एक प्रवल कारण रही है। प्रेम स्वभावतः ईर्ष्यालु होता है, अत. पुरुष अपने प्रेममात्र पर एकाधिकार चाहता है। पहले उद्धृत किये जातक के शब्दो में (पृ० १५७) वह इससरोवर को अपने लिये सुरक्षित रखना चाहता है। पर पुरुष के साथ पत्नी के सम्वन्ध में मनुष्य की ईर्ष्या कुछ अन्य कारणो से भी उग्र होती है। पत्नी के सती न रहने पर मनुष्य को केवल यही दु.ख नही होता कि उस के अधिकारक्षेत्र पर दूसरे का स्वत्व स्थापित हो गया है, किन्तु इसके रक्षण में असमर्थ होने से उस में आत्मग्लानि का भाव उत्पन्न होता है, उसकी अहंभावना को ठेस पहुँचती है और ये भावनायें उसमें क्रोध (अमर्ष) और प्रतिशोध के भाव उत्पन्न करती है। द्यूतसभा में द्रौपदी का अपमान और उसकी रक्षा में असमर्थ होने पर दुर्योधन द्वारा पाण्डवो को नपुसक कहा जाना महाभारत के युद्ध का एक प्रधान कारण था। रामचन्द्र ने रावण के

---

६९ क. मनु० ९।३३ क्षेत्रभूता स्मृता नारी मि० गौध० सू० १८।११ आप० ध० सू० २।६।१३।६ ; नास्मृ. १५।१९। पति के क्षेत्र का स्वामी होने के लिये देखिये मनु० ९।३२,५३ ; पराशर स्मृति ४।१७ वसिष्ठ ध० सू० १७।६, शंख० (व्य० १५८, ५९)

७०. पोमराय—मैरिज पास्ट प्रेजेण्ट, फ्यूचर पृ० १४२

७१. वैस्टर मार्क—हिस्टरी आफ ह्यूमन मैरिज पृ० १३०

७२. व्यक० १२९ अप्रमत्तो रक्ष तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः।

द्वारा सीता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिये ही लका पर चढ़ाई की थी। ईर्ष्या का भाव पत्नी में भी होता है, उस का प्रेमभाव भी अपने प्रेमपात्र पर एक-मात्र अधिकार चाहता है। ऐसा न रहने पर उसे जो रोष होता है, उस का एक सुन्दर उदाहरण द्रौपदी है। वनवास के वाद अर्जुन जव सुभद्रा से विवाह करके इन्द्रप्रस्थ लौटता है और द्रौपदी के पास जाता है तो वह उसे रोषपूर्वक कहती है—तुम यहा क्यो चले आये, सुभद्रा के पास जाओ। पहले प्रेम का वन्धन कितनी दृढता से वधा हो, नये वन्धन से शिथिल हो जाता है; रस्सी से कस कर वाधी वस्तु पर जव दूसरी मजवूत गाठ लगाई जाती है तो पहली गाठ ढीली पड जाती है[७३]। द्रौपदी का रोष उस समय तक शान्त नही हुआ जव तक सुभद्रा ग्वालिन का वेष धर और लालरग की ओढनी पहन कर उसके चरणो में नही गिर पडी और उसे यह नही कहा कि मै आप की दासी हूँ[७४] किन्तु पत्नी को पति पर अवलम्वित होने से अपनी ईर्ष्या का दमन करना पड़ता है। पुरुष पत्नी पर एकाधिकार स्थापित करने की दृष्टि से उस पर सतीत्व का वन्धन लगाता। है

(३) **असतीत्व के भीषण दुष्परिणाम**—स्त्रियो के सतीत्व की व्यवस्था का तीसरा कारण यह था कि पुरुषो की अपेक्षा उन के असतीत्व के दुष्परिणाम अधिक भयंकर होते हैं। पुरुष के दु.शील होने पर केवल वही वदनाम होता है; किन्तु स्त्री के दुर्वृत्ता होने पर उसकी अपकीर्ति के अतिरिक्त उस का पति और पिता दोनों कलकित होते हैं। मनु के मत में स्त्रियो की रक्षा न करने पर वे दोनो कुलों को सन्ताप देने वाली होती है[७५]। वर्त्तमान समय में फान क्राफ्ट एविंग ने मनु के शव्दो को दोहराते हुए पत्नी के असतीत्व को अधिक गर्हणीय वताया है[७६]। सामान्यत. छिप सकने वाले पाप को लोग पाप नही समझते। पुरुष का व्यभि-चार छिप सकता है; किन्तु पत्नी का असतीत्व गर्भ के रूप में प्रकट हो जाता है। इसे छिपाने के लिये पत्नी इस गर्भ को वैध वता सकती है; पर इस प्रकार

---

७३. महाभारत १।२२३।१७ तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा। सुवद्धस्यापि भारस्य पूर्ववन्धः श्लथायते।

७४. वही १।२२३।१८-२४ प्रष्याहमिति चाब्रवीत्।

७५. मनु ९।५ द्वयोर्हि कुलयोः शोकमावहेयुररक्षिताः मि० ५।१४९

७६. क्राफ्ट एविंग—साइकोपेथिया सैक्सुएलिस (लंडन १९०३) पृ० १४।

वह पति पर अवैध सन्तान के पालन का भार डाल कर, उसे एक वार ठगने के बाद दूसरी वार ठगती है। मिचेल्स के कथनानुसार असाध्वी पत्नी निर्विवाद रूप से अपने व्यभिचारी पति की अपेक्षा अधिक अविवेकपूर्ण और निन्दा योग्य कार्य करती है, वह दूसरे पुरुष के पुत्र को अपने पति का पुत्र बना कर दोहरा धोखा देती है। यदि पति पत्नी के कथन पर विश्वास नही करता तो परिवार मे कलह और अशान्ति का वातावरण उत्पन्न होता है[७७]। किश के शब्दो में पुरुष वैवाहिक नियम का भग कर सकता है; यह आवश्यक नही कि इसके परिणाम अत्यधिक महत्वपूर्ण हो, पर पत्नी का असतीत्व आत्मा को सदा के लिये विषमय बना देता है, प्रेम की नीव हिला देता है, बच्चो की वैधता के सबंध में संदेह उत्पन्न कर देता है और पारिवारिक जीवन में ऐसी खाई खोद देता है जो कभी नही पाटी जा सकती[७८]।

(४) वंशशुद्धि की चिन्ता—पति के असतीत्व से वश की शुद्धता विगड़ने का कोई भय नही; परन्तु पत्नी के कुलटा होने पर इसकी पूरी सम्भावना है। पति की यह इच्छा सर्वथा स्वाभाविक है कि औरस पुत्रो को ही उसकी सम्पत्ति प्राप्त हो, उन में उसकी ममत्व बुद्धि है; किन्तु जारज पुत्रो के साथ ऐसा व्यवहार सम्भव नही। रोमन कानून में केवल पत्नी के असतीत्व को अपराध माना गया; क्योकि इससे परिवार मे अवैध शिशुओ के बढने की सम्भावना थी ७९। भारत मे पत्नी के सतीत्व को महत्व दिये जाने का यह एक प्रवल कारण था। कीचक की कुदृष्टि पड़ने पर द्रौपदी ने भीमसेन को कहा था कि भार्या (की शुद्धता) की रक्षा करने से वश (की शुद्धता) की रक्षा होती है[८०]। हारीत के मत में एक ही पति के नियम से विचलित होने से स्त्रियां कुल में सकर उत्पन्न करती हैं। पति के जीवित रहने पर, जारज सन्तान को कुण्ड और मरने पर गोलक कहते हैं। (सकर से बचने के लिये) पुरुष अपनी पत्नी की रक्षा करे क्योकि "पत्नी (के सतीत्व) के नष्ट होने पर कुल नाश होता है,

---

७७. मिचेल्स—सैक्सुअल ईथिक्स (लन्डन १९१४) पृ० १३६

७८. वैस्टरमार्क द्वारा फ्यूचर आफ मैरिज में उद्धृत पृ० ७१।

७९. हण्टर—ए सिस्टैमैटिकल एण्ड हिस्टारिकल एक्सपोजीशन आफ रोमन ला (लंडन १८८५) पृ० १०७१

८०. महाभारत ४।२१।४० भार्यायां रक्ष्यमाणायां प्रजा भवति रक्षिता मि० वन पर्व ३।१२।७१।

इस से पुत्र पौत्रादि वंश परम्परा (तन्तु) नष्ट हो जाती है। इस के नाश होने पर देवताओ और पितरो के यज्ञो का लोप हो जाता है। यज्ञ नष्ट होने से धर्मनाश और धर्मनाश से आत्मनाश और सर्वनाश हो जाता है"[८१]। पैठीनसि ने भी इन्ही कारणो से पत्नी के सतीत्व की रक्षा पर बल दिया है[८२]। मनु ने महाभारत के वचन को दोहराते हुए सन्तति की शुद्धता की रक्षा के लिये पत्नी के रक्षण का विधान किया है[८३]

(५) स्त्रियो का चंचल स्वभाव—पहले यह बताया जा चुका है, कि हिन्दू शास्त्रकार स्त्रियो का स्वभाव बहुत चचल समझते थे (पृ० ९८); अत. उन्होने स्त्रियो पर सतीत्व का बन्धन लगाना अधिक आवश्यक समझा। मनु० (९।१४-१५) नारी स्वभाव की चपलता का तथा सृष्टि के प्रारम्भ से इसके ऐसा होने का उल्लेख करने के बाद यह कहता है कि पुरुष को परम प्रयत्न से इन की चौकसी करनी चाहिये (९।१६)।

(६) अन्तर्जातीय विवाह—हिन्दू परिवार में, स्त्रियो को पतिव्रता बनाने का एक यह भी कारण प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में निर्धन ब्राह्मण अनेक क्षत्रिय कन्याओ से विवाह करते थे, इन के उग्रस्वभाव और दरिद्रता से ये कन्यायें बहुत कष्ट पाती थी और उन्हे छोडना चाहती थी। परन्तु सतीत्व के बन्धन द्वारा, इन की इस इच्छा पर प्रतिबन्ध लग गया, धीरे धीरे इन्हे यह मर्यादा स्वीकार करनी पड़ी।

दान की गौरवगाथा का गान करने वाले महाभारत के अनेक स्थलो में बहुत बार क्षत्रिय राजाओ द्वारा ब्राह्मणो को स्त्रियो तथा कन्याओं के देने का उल्लेख है[८४]। इन के अतिरिक्त निम्न उदाहरणो में क्षत्रिय कन्याओ का ब्राह्मणो के

---

८१. हारीत विर० ४१० पृ०...... तस्माद्रेतोपघाताज्जायां रक्षेत्, जायानाशे कुलनाशः कुलनाशे तन्तुनाशः, तन्तुनाशे देवपितृयज्ञनाशः यज्ञनाशे धर्मनाशः, धर्मनाशे आत्मनाशः, आत्मनाशे सर्वनाशः।

८२. पैठीनसि—तस्माद्रक्षेद् भार्यां सर्वत.। मा स्म संकरो भवत्वित्याह। अप्रमत्तो रक्ष तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। भार्यां रक्षत कौमारीं बिभ्यन्तः पररेतसः। अप्रमत्तो रक्ष का वचन आप० ध० सू० २।१३।६, हि० ध० सू० २।७ बौधायन २।२।४०-४१ में भी मिलता है।

८३. मनु० ९।७,९ तस्मात्प्रजाविशुद्ध्यर्थं स्त्रियं रक्षेत्प्रयत्नतः।

८४. वृषादर्भि युवनाश्व द्वारा अपनी स्त्रियों के दान का उल्लेख १२।२३४।१५ में है; राजा मित्रसह द्वारा अपनी पत्नी मदयन्ती का दान

साथ विवाह निर्विवाद है। राजा शर्याति ने अपनी पुत्री सुकन्या का दान बूढे च्यवन ऋषि को किया (महाभारत ३।१२)। ययाति ने अपनी अनिन्द्य सुन्दरी कन्या माधवी गालव को गुरु दक्षिणा उतारने के लिये दी (५।११५-२०)। जमदग्नि के साथ परिणीत होने वाली रेणुका भी क्षत्रिय कन्या थी। महर्षि जरत्कारु ने नागराज वासुकि की वहन को उस के भाई से भेंट के रूप में प्राप्त किया (महाभा० १।४७।१-३)। सृष्टि के सव प्राणियो के सर्वोत्तम अगो से विनिर्मित लोपामुद्रा विदर्भराज की पुत्री थी और महर्षि अगस्त्य ने पितरो के उद्धार के लिये उसे विदर्भराज से मागा था (३।९६)।

राजघरानों में वडे आराम से पली, क्षत्रिय कन्याये जव उञ्छवृत्ति को आदर्श मानने वाले ब्राह्मणो के घरो में आती थी, तो उन की निर्धनता और उग्र स्वभाव से वहुत दु.ख झेलती थी। जरत्कारु जैसे कुछ ब्राह्मण अपने श्वसुर से पहले ही शर्त्त कर लेते थे, कि मै तुम्हारी कन्या का भरण पोषण नही करूँगा। लोपामुद्रा ने अगस्त्य से जव अपने पिता के घर जैसा सुख, उत्तम-स्थान और शय्या मागी तो अगस्त्य ने धन प्राप्त करने के लिये पहले ब्रघ्नश्व और त्रसदस्यु नामक राजाओ से याचना की और अन्त मे इल्वल राक्षस से प्रभूत धन प्राप्त किया (महाभा० ३।९८, ९९ अ०)। धनाभाव के अतिरिक्त ब्राह्मणो का कठोर तपस्यामय जीवन और उग्रस्वभाव भी क्षत्रिय कन्याओ को वहुत व्यथित करता था। विवाह के वाद अगस्त्य ने सुहागिन लोपामुद्रा को जोगन का वेप धारण करने का आदेश दिया; उस ने वहुमूल्य आभूषण तथा वस्त्र उतार कर चीर और वल्कल पहने; मृगचर्म ओढा[८५]। सुकन्या भी ऐसी

१३।१३७।१८, १२।२३४। ३०; राजर्षि लोमपाद द्वारा ऋष्यशृंग को अपनी कन्या शान्ता का दान १३।१३७।२५, १२।२३४।३४; १३।१३७ में मदिराश्व द्वारा हिरण्यहस्त को (श्लोक २४) निमि द्वारा अगस्त्य को (श्लोक ११), मरुत्त द्वारा अंगिरा को (१६), भगीरथ द्वारा कौत्स को (२६)कन्यादान का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त राजाओं द्वारा ब्राह्मणों को सैकड़ों दासियों के दानों का वर्णन ३।१८५।३४, १२।२९।१३३, १२।२९।६५, ७।६०।२ १२।२९।३२, ७५७।५, में तथा कन्यादान के विधान का २।३३।५४, २५।१४।४, १५।३९।२०, १७।१।१४, १८। ६।१२-१३, ३।३१५।२-६, ३।२३३ ३।१४३,४।१८।२१ १०२।११, १३।१०३।१०-१२ में स्पष्ट प्रतिपादन है।

८५. महाभारत ३।९७।८ महार्हाण्युत्सृजैतानि वासांस्याभरणानि च। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये लोपामुद्रा ने इस अवस्था में सन्तानोत्पादन स्वीकार

ही अभागिनी क्षत्रिय कन्या थी, उसे जोगन वन कर बूढ़े च्यवन ऋषि की सेवा करनी पडी। इन कन्याओ के साथ कठोर व्यवहार का एक सुन्दर उदाहरण रेणुका है। जमदग्नि के मनोविनोद के लिये उसे जेठ की कड़ी धूप और तपी वालू पर नगे पैर दौड़ना पड़ा (१३।९५।९६)। सरोवर पर स्नान के लिये जाने पर वहा राजा भगीरथ की अपनी पत्नी के साथ जलकेलि देखने पर विलम्ब होने पर, क्रुद्ध जमदग्नि ने परशुराम द्वारा उस का वध करवा दिया था (महाभा० ३।११६, भागवत पु० ९।१६)।

ब्राह्मणो के इन व्यवहारों से क्षत्रिय कन्याओ का ऊवना तथा विद्रोह करना स्वाभाविक था। अत्रि की पत्नी अपने पति के घर से यह कहती हुई चली गयी कि मैं अव अधिक देर तक इस ऋषि के पास नही रह सकती (महाभा० १३। ९४।९५)। प्रद्वेषी ने अपने पति के विरुद्ध विद्रोह किया (महाभा० १।१०४। ३०) उसे दवाने के लिये दीर्घतमा ने कहा—मैं आज से लोक में ऐसी मर्यादा स्थापित करता हूँ कि जीवन भर, नारी एक ही पति पर निर्भर रहेगी। पति के जीवन काल में या उसके मरने पर वह किसी दूसरे पुरुष के पास नही जायगी, यदि ऐसा करेगी तो इस में कोई सन्देह नही कि वह पतित होगी[८६]। दीर्घतमा ने सतीत्व की यह व्यवस्था अपनी पत्नी को नियन्त्रण में रखने के लिये स्वार्थ भाव से की थी।

यद्यपि दीर्घतमा की पत्नी ने इसे स्वीकार नही किया (१।१०४। ३८-४०); किन्तु परवर्त्ती शास्त्रकारो ने इसका प्रवल समर्थन किया (मनु० ५।५६ अनु०, याज्ञ० १।८७, पराशर० ४।२९), विद्रोही स्त्रियो के लिये कठोर व्यवस्थायें की, पुरुष को पत्नी त्याग के वहुत अधिकअधिकार प्रदान किये तथा पातिव्रत्य की महिमा के गीत गाकर स्त्रियो को सतीत्व का आदर्श पालन करने की की प्रवल प्रेरणा प्रदान की। शास्त्रकारो ने एक ओर तो पत्नी के आमरण साध्वी रहने का विधान किया; किन्तु दूसरी ओर उसके जीवित रहते हुए कुछ दशाओ में पति को दूसरा विवाह करने (अधिवेदन) की अनुमति (मनु० ९।

नहीं किया (अन्यथा नोपतिष्ठेयं चीरकाषायवासिनी ३।८७।१९), अगस्त्य को दान मांग कर अलंकृत और भूषित होना पड़ा।

८६. महाभारत १।१०४।३४ अनु० ; दीर्घतमा की पत्नी यद्यपि ब्राह्मणी थी, किन्तु उस का ब्राह्मण पति भरण में असमर्थ होकर शास्त्रीय मर्यादा द्वारा उसे जबर्दस्ती अपने पास रखना चाहता था।

८१, याज्ञ० १।७३, नारद० १२।९४, बौधा० २।४।५।६) । मनु भार्या के अप्रियवादिनी होने पर (दे०ऊं० पृ० ११४) तथा शख अनुकूल न होने पर पुरुष को दूसरे विवाह की अनुमति देता है ८७ । शास्त्रकार पुरुषो को अधिवेदन का अधिकार देकर ही सन्तुष्ट नही हुए; किन्तु उन्होने अधिवेदन से असन्तुष्ट होकर विद्रोह करने वाली नारियो के लिये कठोर व्यवस्था की । मनु के मतानुसार जो नारी पति के दूसरे विवाह से रुष्ट होकर घर से बाहर निकले, उसे फौरन (रस्सी आदि से बाध कर) घर में रोक रखना चाहिये अथवा पितृकुल में छोड देना चाहिये ८८ ।

सतीत्व का भविष्य——पातिव्रत्य का एकागी आदर्श उपर्युक्त कारणो से पिछले दो हजार वर्ष से हिन्दू परिवार में सर्वमान्य रहा है । हिन्दू समाज सीता सावित्री का अनुकरण करने वाली लाखो पतिव्रताओ की चरण रज से पवित्र होता रहा है; किन्तु यह बडे परिताप का विषय है कि पतिव्रता स्त्रियो की तुलना में हमें पत्नीव्रत पतियों के बहुत कम दर्शन होते हैं । सात ऋषियो के बीच में रहती हुई भी अरुन्धती अपनी दृष्टि पति के चरणो में ही रखती थी (कुमारसंभव २।१०); परन्तु वसिष्ठ की कृपा शूद्रा (अधम योनिजा) अक्ष-माला पर भी हुई (मनु० ९।२३) । पाच पाण्डवो ने कुलधर्म की दुहाई देकर द्रौपदी को अपनी पतिव्रता पत्नी बनाया; किन्तु स्वयं अन्य स्त्रियो से विवाह करते हुए एक पत्नीव्रत का पालन नही किया । शची इन्द्र के प्रति साध्वी रही, नहुष की कामेच्छा का शिकार होने से यत्नपूर्वक बची रही; लेकिन उसका पति इन्द्र अप्सराओं से भी सन्तुष्ट न था , उसे अहल्यादि परस्त्रियो के पास जाने मे सकोच नही हुआ । रामायण के कथनानुसार मनुष्यों में परस्त्रीगमन की परि-पाटी का प्रवर्त्तक इन्द्र था (७।३०।३३) । सत्यभामा ने श्रीकृष्ण के साथ पातिव्रत्य धर्म का पालन किया, किन्तु श्रीकृष्ण को एकपत्नीव्रत नही कहा जा सकता । मर्यादा पुरुषोत्तम राम ही एक पत्नीव्रत निभाने वाले पति थे, परन्तु लोकापवाद के भय से अग्नि द्वारा परीक्षित सती साध्वी सीता का परित्याग करने से उन्हे आदर्श पति नही कहा जा सकता । हिन्दू समाज मे एकपत्नीव्रत पतियो का अत्यन्ताभाव तो नही; लेकिन पतिव्रताओ की तुलना में उनकी सख्या बहुत कम है ।

---

८७. स्मृच २४४, अननुकूलां चाधिविन्देत ।

८८. मनु ९।८३ अधिविन्ना तु या नारी निर्गच्छेद्रुषिता गृहात् । सा सद्यः संनिरोद्धव्या त्याज्या वा कुलसंनिधौ।

पातिव्रत्य का उपर्युक्त आदर्श समानता के वर्त्तमान युग में देर तक नही टिक सकता। प्रस्तावित हिन्दू विधान में स्त्री पुरुषो पर समान रूप से एक विवाह का बन्धन लगा कर, पुरुषो से यथेच्छ विवाह का अधिकार छीन लेने की व्यवस्था की गयी थी। नये हिन्दू विवाह विधेयक में भी यही विधान है। जिस प्रकार अब तक स्त्री पति के रहते हुए कुछ दशाओ को छोड कर पुनर्विवाह नही कर सकती थी; उसी प्रकार अब पति भी एक पत्नी के होते हुए दूसरी शादी नही कर सकेगा। इस विधेयक के पास होने से पहले ही, भारत सरकार सरकारी अफ़सरो द्वारा अनेक स्त्रियो के साथ बहुविवाह पर प्रतिबन्ध लगाने का विचार कर रही है।

पत्नी के अधिकार—इस विषय में हिन्दू शास्त्रकार बहुत उदार हैं। पातिव्रत्य पर बल देकर तथा पुरुष को पुनर्विवाह का अधिकार देकर, यदि उन्होंने पति के साथ कुछ रियायतें की हैं; तो व्यभिचारिणी होने तक की दशा में पत्नी के भरण पोषण पाने का तथा स्त्रीधन पर पूर्ण स्वामित्व का अधिकार देकर उस के साथ कम पक्षपात नही किया [८९]।

पिछले अध्याय में यह बताया जा चुका है कि भरण किये जाने के कारण ही पत्नी भार्या कहलाती है, पति का प्रधान कर्त्तव्य उस का पालन पोषण करना है। पत्नी के व्यभिचार से भी पति का यह दायित्व समाप्त नही होता; क्योकि शास्त्रकारो का यह विचार था कि पति का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पत्नी की रक्षा करे ऐसा न होने पर उसके दोष का

---

८९. प्रायः सभी देशों के कानूनों में व्यभिचारिणी पत्नी के लिये कठोर दंड की व्यवस्था है। अंग्रेजी कानून के अनुसार पत्नी के ऐसा होने पर वह पति द्वारा भरण पोषण के अधिकार से वंचित हो जाती है (हेल्सबरी—लाज़ आफ इंगलैण्ड खं० १६, पृ० ६०९-१०)। अधिकांश वन्य समाजों में व्यभिचारिणी के वध के लिये देखिये इंसा-रिली० ई० खं० १२३ पृ०। यूनान में सोलन ने पति को व्यभिचारिणी पत्नी मारने का अधिकार दिया था, रोम में भी यही व्यवस्था थी। जर्मनी में तथा कैन्यूट से पूर्व के इंगलैण्ड में स्त्री को सिर मुडवा कर, कटि तक नग्न करके, सड़कों पर कोड़ों से पीटते हुए जान से मार डाला जाता था। पुराने सैक्सन ऐसी स्त्री को चिता पर जला देते थे। योरोप में मध्ययुग में ही इस अपराध के लिये वध के स्थान पर अर्थदण्ड की व्यवस्था हुई (पोमराय— मैरिज पृ० १४३-४५)

उत्तरदायी पति है (मनु० ८।३१७, महाभा० १२।२६७।३८, वसिष्ठ १९।४४), पत्नी की रक्षा पति में अनुरक्त रहने से ही हो सकती है,[९०] न कि पीटने से[९१] अतः शास्त्रकारो ने व्यभिचारिणी पत्नी के साथ बहुत मृदुता का व्यवहार किया है। अत्रि (३।१९३-१९४) के मत में जो स्त्री स्वयं खीझ कर या पीटने के कारण कहीं जा रही हो, और उसे कोई बलात्कार या चोरी से दूषित करें तो वह त्याग योग्य नही है, ऋतुकाल मे उस का सेवन करना चाहिये, क्योकि रजस्वला होने के बाद वह शुद्ध हो जाती है (मि० वसिष्ठ २८।२-३)। याज्ञवल्क्य (१।७१-७२) स्त्रियो को पवित्र मानता हुआ यह कहता है कि व्यभिचारिणी दशा में वे ऋतुकाल आने पर शुद्ध हो जाती है[९२]। इस सिद्धान्त के कारण अधिकाश शास्त्रकारो ने पत्नी के दुर्वृत्ता होने पर हल्के दण्डो की व्यवस्था की

---

९०. याज्ञ० (१।८१) इसी दृष्टि से पति के स्वदारनिरत होने पर बल देता है मि० याज्ञ० १।७८। मनु० ४।१३३-३४, महाभारत १३।१०४।२१, मार्कण्डेय पुराण ३४।६२-६३ पुरुष के लिये व्यभिचार को बहुत बुरा समझते है।

९१. याज्ञ० १।८० पर विश्वरूप की टीका—रक्षा च स्त्रीणां स्वदारनिरतत्वमेवन तु ताडनादिका। मनु० (९।१०) शक्ति द्वारा स्त्रियों की रक्षा असंभव बताता हुआ घर की आय, व्यय, सफाई, रसोई, घर की सामग्री (पारिणाह्य) आदि के देख भाल में लगे रहने से उनकी रक्षा संभव मानता है।

९२. व्यभिचारादृतौ शुद्धिः याज्ञ० १।७१। मिलाइये वृहद्यम (४।३६) मनु० ५।१०८। देवल इस विषय में इतना उदार है कि अन्य वर्ण के पुरुष से गर्भ धारण करने वाली स्त्री को वह सन्तान उत्पन्न करने तक ही अशुद्ध मानता है, इसके बाद रजस्वला होने पर वह 'निर्मल सोने' के समान पवित्र होती है—असवर्णैस्तु यो गर्भः स्त्रीणां योनौ निषिच्यते। अशुद्धा सा भवेन्नारी यावद्गर्भं न मुंचति। विमुक्ते तु ततः शल्ये रजश्चापि हि दृश्यते। तदा सा शुध्यते नारी विमलं कांचनं यथा (अत्रि० १९५-९६, देवल ५०-५१; मि० अग्निपुराण १६५।६, १९, महाभा० कुं० १३।५८। १० तथा १३।५९।२१-२२)। किन्तु शास्त्रकार पुरुष के व्यभिचारी होने पर उसे अंगभंग, अंकन (दागना), वध, निर्वासन, जुर्माना आदि कठोर दण्डों की व्यवस्था करते है—मनु० ८।३५२, ३६४, याज्ञ० २।२९०, वसिष्ठ २१।१-४, नारद १६।८। इसे प्रायः चोर (याज्ञ० २।३०१) महापापी (नारद १६।२, ६) और ऐसा आततायी (विष्णु ५।१८९, महाभा० कुं० १२।१४।७९-८३) समझा गया है, जिसके वध में कोई दोष नहीं होता।

है। गौतम (२२।३५) ने इस दशा में उस के प्रायश्चित्त की व्यवस्था की है; पहरे में रखते हुए उस के भरण का विधान किया है। याज्ञवल्क्य (१।७०) ऐसी स्त्री को घर के सब अधिकारो से वंचित कर, मैले वस्त्र पहना कर, केवल जीवन निर्वाह योग्य भोजन देकर निरादर के साथ भूमि पर सुलाने को कहता है और ऋतु काल से उस की शुद्धि मानता है; किन्तु गर्भ धारण की स्थिति में उसके त्याग का विधान करता है (गर्भे त्यागो विधीयते)। पर विज्ञानेश्वर वसिष्ठ (३१।१२) के आधार पर याज्ञवल्क्य के इस विधान की उदार व्याख्या करता हुआ कहता है कि केवल शूद्रा के साथ सम्बन्ध होने पर ही वह त्यागयोग्य होगी और त्याग का अर्थ केवल यही है कि वह धार्मिक कार्यो तथा दाम्पत्य अधिकारो से वंचित है, उसे घर से बाहर नही निकाला जायगा; एक कमरे में बन्द करके खाना कपड़ा दिया जाता रहेगा (या० ३।२९७)। वसिष्ठ के मत में (३१।१०) केवल चार स्त्रियां ही परित्याज्य है—शिष्य-गामिनी, गुरुगामिनी, पति की हत्या का यत्न करने वाली तथा शूद्रगामिनी। कुछ शास्त्रकार (मनु० ८।३७१, महाभा० १२।१६५।६४, गौतम २३।२४) शूद्र पुरुष के साथ सम्बन्ध करने वाली के लिये यह कठोर व्यवस्था करते है कि राजा उसे कुत्तो को खिलवा दे, किन्तु सजातीय पुरुष के साथ व्यभिचार मे उनकी व्यवस्था बहुत उदार है। मनु के मतानुसार बहुत खराब (विप्रदुष्टा) स्त्री को घर मे बन्द कर के उससे परस्त्रीगामी पुरुष के लिये विहित प्रायश्चित्त कराना चाहिये, यदि फिर भी वह अपनी जाति के पुरुष से व्यभिचार करे तो उसकी शुद्धि के लिये उस से चान्द्रायण व्रत करवाये (९।१७७-७८)। नारद (५।९१) ने इस दशा में उसका सिर मुडवाने, उसे भूमि पर सुलवाने, बुरा भोजन और कपड़ा देने और उससे घर में झाड़ू लगवाने की व्यवस्था की है। व्यास (२।४९-५०) अगले ऋतुकाल तक उससे धार्मिक, दाम्पत्य और सांपत्तिक अधिकार छीनने का तथा निरादर से बरतने का विधान करता है[९३]।

श्री पाण्डुरग वामन काणे ने उपर्युक्त शास्त्रीय प्रमाणो के आधार पर निम्न परिणाम निकाले है (हि० ध० खं० २ भाग १ पृ० ५७२) (१) व्यभिचार

---

९३. नास्मृ० ५।९१ व्यभिचारे स्त्रिया मौण्डयमधः शयनमेव च। कदन्नं वा कुवासश्च कर्म चावस्करोज्झनम्। व्यास २।४९-५० व्यभिचारेण दुष्टां तां पत्नीमादर्शनाद्दृतोः। हृतत्रिवर्गकरणां धिक्कृतां च वसेत्पतिः। पुनस्तामार्त्तं-वस्नातां पूर्ववद् व्यवहारयेत्।

के कारण पत्नी को पूर्ण रूप से त्यागने का पति को कोई अधिकार नही है। (२) व्यभिचार सामान्य रूप से उपपातक है, प्रायश्चित्त द्वारा उस की शुद्धि हो सकती है (३) प्रायश्चित्त करने वाली स्त्री को, पत्नी के सामान्य अधिकार प्राप्त हो जाते है (वसिष्ठ २१।१२, याज्ञ० १।७२)। जब तक व्यभिचारिणी प्रायश्चित्त नही करती, उसे पत्नी के अधिकारो से वञ्चित कर केवल भोजनमात्र देना चाहिये (याज्ञ० १।७०; महाभा० १२।१६५।१३)। (५) शूद्रगामिनी स्त्री को प्रायश्चित्त के वाद भी कमरे में वन्द करके भोजनमात्र देना चाहिये (वसिष्ठ २१।१०) (६) गर्भपात भर्तृवधादि महापातक न करने वाली स्त्रियां प्रायश्चित्त न करने पर भी भोजनमात्र की अधिकारिणी हैं; यदि वे प्रायश्चित्त करने से इकार करती हैं, तो उन्हे भोजन पाने का अधिकार नही रहता। आधुनिक न्यायालय शास्त्रो की इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं[९४]।

साम्पत्तिक अधिकारो मे भी स्त्री के साथ उदारता का व्यवहार हुआ है (दे० नीचे० अध्याय १६)। स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार है, पति केवल दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, रोगी अथवा वन्दी होने की अवस्था में ही इस का उपयोग कर सकता है। इंगलैण्ड में १८८२ का विवाहित स्त्रियो की सम्पत्ति का कानून वनने से पूर्व, वहाँ पति को विवाह द्वारा पत्नी की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार प्राप्त हो जाता था[९५]।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दू परिवार मे नारी की स्थिति वैदिक युग के वाद वहुत उन्नत नही रही, शास्त्रकारों ने नारी की भर-पेट निन्दा की[९६], किन्तु इसके साथ ही उन्होने कई विषयो मे पत्नी के साथ वड़ी

---

९४. परमी वनाम महादेवी इं० ला० रि० ३४ वं० २७८

९५. हेल्जवरी—लाज़ आफ इंगलैण्ड खण्ड १६ पृ० ६१३-१४

९६. इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य में नारी की घोर निन्दा है। महाभारत कुं० ४।४८।१८-१९, महाभा० १।१३।९१-९४, १३।३८। ११-३० में स्त्री पर कामान्ध होने का तथा महाभा० कुं० १३।७३।२३, कुं० १३।७४।९, महाभा० १३।७५।११-१२, १३।३९।५-१४, १३।४०।३-१५, १३। ४३।१९, अश्वघोष के सौन्दरानन्द काव्य तथा क्षेमेन्द्र के कला विलास में नारियों के दोषों का विस्तृत वर्णन है। किन्तु इस सम्बन्ध में निम्न वातें स्मरण रखनी चाहिये (१) नारियों की यह बुराई इसलिये की गयी है कि पुरुष इन के माया जाल में न फंसें, बृहत्संहिता ने इसे स्पष्ट रूप से वैराग्य मार्ग में

उदारता का व्यवहार किया, कुलटा होने पर उस के लिये अन्य समाजों की अपेक्षा कम कड़े दण्ड विधान की व्यवस्था की, उसे कुछ साम्पत्तिक अधिकार भी दिये। अतः प्राचीन एव मध्ययुगीय भारतीय पत्नी अन्य देशो की तत्कालीन स्त्रियो से कुछ अधिक ही अधिकारो का उपभोग करती रही है।

प्रवृत्त कराने के लिये की जाने वाली निन्दा कहा है (७४।५ येऽप्यंगनानां प्रवदन्ति दोषान् वैराग्यमार्गेण गुणान् विहाय)। (२) इस निन्दा का यह भी उद्देश्य है कि पुरुष इन की रक्षा में सदैव जागरूक रहें। मेधा तिथि ने मनु० ९।२६ का भाष्य करते हुए लिखा है—यदेतद्दोषप्रपंचनं तन्नावज्ञानार्थं परिवर्जनार्थं वाभिशस्तपतितादिवत्। किं तर्हि? रक्षार्थं दोषेभ्यः। (३) मीमांसाशास्त्र का यह नियम है कि निन्दा का तात्पर्य उस वस्तु की गर्हा नहीं; किन्तु उससे विपरीत वस्तु की प्रशंसा होता है (जै० २।४।२१ पर शबर भाष्य न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि? निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्) अतः स्त्रियों के चंचल स्वभाव की निन्दा का वास्तविक आशय सतीत्व की गरिमा का बखान करना है; न कि नारी की यथार्थ प्रकृति का चित्रण करना (४) स्त्रियों की निन्दा के साथ साथ उन की प्रशंसा के पुल बांधने वाले वचनों की भी हमारे साहित्य में कमी नहीं है। दे० मनु० ३।५६-६२, उस के भार्या-रूप की स्तुति (महाभा० १।७४। ४०-५२, १२।१४५।६-१७) का पहले उल्लेख हो चुका है। माता के रूप में उस की महिमा (महाभा० १२।१०८। १६-१८) का वर्णन आगे होगा। शास्त्रकारों ने पतित माता के भी भरण की व्यवस्था की है (बौधा० ध० सू० २।२।४८ पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभि-भाषमाणः मि० आप० ध० सू० १।१०।२८।९ वसिष्ठ१३।४७)। व्यभिचार में उसके साथ उदार व्यवहार का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ०१७३-५)। स्त्रियों को अवध्य बताते हुए कहा गया है कि नैता वाच्या न वै वध्याः न क्लेश्याः शुभ-मिच्छता (महाभा० कुं० १३।५८।९)। उनके साथ उत्तम व्यवहार करने (पृ०१२७) का वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि स्त्री की निन्दा वास्तविक नहीं; किन्तु पुरुष को उससे सावधान रखने के लिये ही है।

पाँचवाँ अध्याय

पिता

पिता के तीन मुख्य कार्य—पिता का महत्त्व तथा सम्मान—पिता का सर्वोच्च स्थान—क्या प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता को अमर्यादित अधिकार प्राप्त थे ? पूर्ण पितृप्रभुत्त्व (Patria potesta) का स्वरूप—पिता के अधिकार—प्राणदण्ड तथा अन्य दण्ड देने का अधिकार—पुत्रो को बेचने और छोड़ने के उदाहरण—शुन. शेप का आख्यान—पुत्रो का दान करना—नारद द्वारा पिता के पूर्ण प्रभुत्व का समर्थन—पिता के पूर्ण प्रभुत्व को मर्यादित करने वाली व्यवस्थायें—पूर्ण प्रभुत्व घटने के कारण—वानप्रस्थाश्रम की व्यवस्था-वृद्धावस्था मे पिता की शारीरिक अशक्ति—क्या वैदिक युग में वृद्ध पिता के परासन या उद्धिति (Exposure) की प्रथा थी ?—पिण्डदान की चिन्ता व अन्य कारण—पिता के विवाह सम्बन्धी अधिकार—वैदिक युग में पूर्ण पितृ प्रभुत्व विरोधी तथ्य —हिन्दू पिता के अधिकारो का ऐतिहासिक विकास-पिता के अन्य कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य-सन्तान का भरण पोषण—पुत्र-गोद लेने-देने का अधिकार—सन्तान का सरक्षण ।

पिता के तीन मुख्य कार्य—पिता परिवार का भरण पोषण तथा रक्षण करने वाला होता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति उस के इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर सकेत कर रही है; यह रक्षणार्थक पा धातु से वना है और इस का अर्थ है—सन्तान की रक्षा करने वाला[1] । पशु पक्षियो में जो परिवार पाये जाते है, उन मे पिता के दो कार्य मुख्य होते है—सन्तान तथा मादा के लिये भोजन लाना तथा उन दोनो के सब प्रकार के संकटो से रक्षा करना। मनुष्य जाति की प्रारम्भिक अवस्था में भी पिता के यही दो कार्य होते है। किन्तु सभ्यता की उन्नति के साथ पिता का, सन्तान शिक्षण का एक तीसरा कार्य भी बढ़ जाता है। कालि-

---

१. पाति रक्षत्यपत्यं यः स पिता, शब्द कल्पद्रुम तृतीय काण्ड, पृ० १४३; किन्तु सेण्टपीटर्सबर्ग कोश में पिता और माता का मूल अनुकरणवाची पा और मा शब्द बताये गये है ।

दास ने पिता के इन तीनो कार्यों का विनय, रक्षण और भरण के नाम से उल्लेख किया है[२]।

वेद मे पिता के त्राता और खाद्य सामग्री दाता के रूप का वड़ा सुन्दर वर्णन है। इन्द्र की स्तुति करने वाला ऋषि त्राता आदि अनेक विशेषणो से उसकी प्रशंसा करता है; किन्तु उसे तव तक सन्तोष नही होता जव तक कि वह इन्द्र को पितृतम नही कह लेता[३], क्योकि रक्षणकर्त्ताओ में पिता से श्रेष्ठ उपमा मिलना असम्भव है। अन्यत्र (१०।४८।१) पिता के पोषक रूप का उन्ल्लेख है। इन्द्र का कथन है कि मै दानी यजमान के लिये भोजन बांटता हूँ, अतः मुझे मनुष्य उसी प्रकार वुलाते है जैसे अन्न देने वाले पिता को[४]।

अत्यन्त प्राचीन काल मे पिता अपने पुत्रो को स्वयं पढ़ाया करता था। वृह० उप० ६।२।१।४ में इसका स्पष्ट उल्लेख है। आरुणेय श्वेतकेतु को उस के पिता ने २४ वर्ष में सम्पूर्ण वेद पढाये थे। विश्वरूप ने याज्ञ० १।१५ में इसी परिपाटी का सकेत किया है। मेधातिथि (मनु० ३।३) कहता है—जिसका पिता विद्यमान है, वही उस का आचार्य है। इस प्रकार हिन्दू पिता वैदिक काल से अपनी सन्तान के पालन, रक्षण और शिक्षण का कार्य करता रहा है।

वास्तव में पिता के लिये सन्तान को जन्म देना सामाजिक दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है, जितना उसका भरण, रक्षण और शिक्षण। सन्तान को जन्म देने की दृष्टि से माता का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है। नौ मास तक गर्भ मे रखने, अपने शरीर से उसका पोषण करने तथा जन्म के वाद अपना स्तन्य पान कराने तथा गोद में खिलाने से वालक का पिता की अपेक्षा अपनी जननी के साथ अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि हमारे साहित्य मे पिता की जनिता या जनक के रूप में इतनी प्रतिष्ठा नही, जितनी सन्तान के पालक के रूप में है।

पिता का महत्त्व तथा सम्मान—अपनी असहायावस्था में पालने के कारण,

---

२. रघुवंश १।२४ प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि। स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

३. ऋ० ४।१७।१७ त्राता नो वोधि......मर्डिता सोम्यानाम्। सखा पिता पितृतमः॥

४. ऋ० १०।४८।१ मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे विभजामि भोजनम्।

पुत्रो मे पिता के प्रति कृतज्ञता, प्रतिष्ठा, और आदर का भाव उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक है। अतः पुत्रो के लिये पिता का सम्मान करना एक आवश्यक कर्त्तव्य है। युवा होने पर, स्वतन्त्रता की भावना का उदय होने के कारण यह सम्भव है कि वे इस कर्त्तव्य के पालन मे प्रमाद करें। अतः प्राचीन काल में स्नातक वनते समय प्रत्येक युवक को गुरु यह आदेश देता था कि माता पिता की देवता की तरह पूजा करो[५]। गौ० ध० सू० (६।१-३) में प्रतिदिन मिलने पर पांव छू कर नमस्कार एवं सम्मान करने योग्य व्यक्तियो मे माता पिता का सर्वप्रथम उल्लेख है। मनुस्मृति में पिता को प्रजापति की मूर्ति वनाया गया है (पिता मूर्त्तिः प्रजापते. २।२२५); मनु के मत में माता पिता सन्तान उत्पन्न करने में जो क्लेश सहते हैं, उस का वदला वह १०० वर्ष में भी नही दे सकती (वही २२७)। "माता पिता और आचार्य का प्रिय कार्य सदा करना चाहिये, क्योकि इन तीनो की सेवा को ही पण्डित लोग परम तपस्या कहते हैं। इनकी सम्मति के विना कोई धर्माचरण नही करना चाहिये। पिता गार्हपत्य अग्नि, माता दक्षिणाग्नि और गुरु आहवनीय अग्नि कहे गये हैं। यही तीनो अग्नियां पृथ्वी मे श्रेष्ठ हैं। जो गृहस्थ इन तीनो के प्रति प्रमादरहित रहता है; वह तीनो लोक जीत लेता है। वह अपने शरीर से प्रकाशित होता हुआ स्वर्गलोक में देवताओ के समान प्रसन्न होता है। माता की भक्ति से भूलोक, पिता की भक्ति से अन्तरिक्ष लोक तथा गुरुशुश्रूषा से ब्रह्मलोक प्राप्त करता है। इन

---

५. तैत्ति० उप० १।११।२ मातृदेवो भव, पितृदेवो भव। सम्मान की यह भावना अन्य जातियों में भी पायी जाती है। यहूदियों में इस के महत्त्व का इसी तथ्य से अनुमान किया जा सकता है कि मूसा की प्रसिद्ध दस आज्ञाओं में ईश्वर विषयक आज्ञाओं के बाद सर्वप्रथम इसका वर्णन है, 'अपने पिता का सम्मान करो, ताकि परमात्मा से दी गयी भूमि पर तुम्हारे दिन लम्बे हो सकें (तुम दीर्घ जीवी हो, एक्सोडस २०।१२ मि० डिट्रानमी ५।१६, लेवेटिकस १९।३, क्रानिकल २३।२६, २७।१६)। प्राचीन मिश्र में दीर्घ जीविता के नाम पर पुत्रों को पिता की आज्ञा पालन करने की अपील की गई थी। प्ताह होतम के उपदेशों में कहा गया है--पिता की आज्ञा मानने वाला पुत्र इस कार्य से दीर्घ जीवन प्राप्त करेगा (अध्या० ४२।४९)। मैक्सिको में बच्चों को प्रारम्भ से यह शिक्षा दी जाती है कि अपने पिता माता की विशेष रूप से प्रतिष्ठा करो। उनके प्रति सम्मान, उनकी सेवा तथा आज्ञा पालन तुम्हारा कर्त्तव्य है।

तीनों के आदर से उसके शुभ कर्म उत्तम फल देने वाले होते हैं और इनका आदर न करने से उसके (श्रौत स्मार्त आदि) सब कार्य निष्फल होते हैं"। "जब तक ये तीनो जीते रहे, तब तक स्वतन्त्र रूप से कोई धर्म कार्य न करे, किन्तु इन के प्रिय हित में तत्पर रहता हुआ सदा इन की शुश्रूषा करे। इन की सेवा करता हुआ, परलोक की इच्छा से मन, वचन तथा कर्म द्वारा जो कुछ धर्म कार्य करे, वह इन को अर्पण कर दे। इन तीनो की यथा योग्य सेवा करने से पुरुष के सम्पूर्ण कर्त्तव्य कार्य समाप्त हो जाते हैं। इन की सेवा ही परम धर्म है (एष धर्मः परः साक्षात्) अन्य सब धर्म (अग्निहोत्रादि) उपधर्म कहे जाते हैं (मनु० २।२२६-३७)।

महाभारत में चिरकारी ने पिता की महिमा का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—"पिता अपने शील चरित्र, गोत्र और कुल की रक्षा के लिये अपने आप को पत्नी में धारण करता है, उसी से सन्तान उत्पन्न होती है।—जातकर्म व उपकर्म के समय पिता जो कुछ कहता है, पिता का गौरव निश्चय करने में वह पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है[६]। पोषण और शिक्षण देने वाला पहला गुरु (पिता) ही परम धर्म है। पिता जैसी आज्ञा दे, वही धर्म है, यह(बात)वेदो में भली प्रकार निश्चित है। पिता के लिये पुत्र प्रीति मात्र है; किन्तु पुत्र के लिये पिता सब कुछ है। शरीर आदि जो कुछ देय पदार्थ है, उन्हें केवल पिता ही पुत्र को प्रदान करता है। अत. पिता के वचन का पालन करना चाहिये। जो पिता के वचन का पालन करते हैं, उन के पाप धुल जाते हैं। पिता ही धर्म है, पिता स्वर्ग है, पिता परम तप है, पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न होते हैं[७]।

---

६. जातकर्म के समय पिता पुत्र को कहता है—तू प्रस्तर हो, (पत्थर की तरह अच्छेद्य हो) तू परशु हो (परशु की तरह शत्रुओं का नाशक हो), तू पुत्र कहलाने वाला वेद है, तू सौ वर्ष तक जीवित रह। नीलकंठ के मत में यहां उपकर्म उस विधि का नाम है, जो पिता के यात्रा से वापिस लौट कर आने पर की जाती है, उस समय पिता पुत्र का मस्तक छूकर कहता था, तू मेरे अंग अंग से पैदा हुआ है, हृदय से पैदा हुआ है, पुत्र नाम वाला तू मेरा ही आत्मा है, वह आत्मा सौ वर्ष तक जीये। अन्य गृह्य सूत्रों में इस का उल्लेख है, आश्व० १।१५।९ अनु० पारस्कर० १।१८, गोभिल० २।८।२१, हिरण्यकेशी २।१।४।१६

७. महा० १२।२६६।१४-२१ गुरुरग्र्यः परो धर्मः पोषणाध्यापनान्वितः। पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः ॥१७॥ तस्मात्पितुर्वचः कार्यं न विचार्यं

पिता का सर्वोच्च स्थान—भारतीय धर्मशास्त्रो में इस विषय पर तीव्र मतभेद है कि माता-पिता और गुरु मे से किसका स्थान सर्वोच्च है। माता के प्रकरण में हम यह देखेगे, कि अनेक स्थानो पर माता को सब से ऊँचा दर्जा दिया गया है (मनु० २।१४५, । याज्ञ० १।३५, गौ० ध० सू० २।५६), अन्य स्थानो पर इन तीनो में गुरु को सब से ऊँचा स्थान दिया गया है (मनु० २।१४६-१४८), विष्णु० ध० सू० ३०।४४ मे आचार्य को दूसरा आध्यात्मिक जन्म देने के कारण सर्वश्रेष्ठ माना गया है। महा० १२।१०८।१८-२० में भी गुरु को इसी कारण ऊँचा स्थान दिया गया है। किन्तु अन्यत्र (महा० १२।२९७।२) पिता को स्पष्ट रूप से सर्वोच्च स्थान दिया गया है, पराशर ने कहा है—"मनुष्यो के लिए पिता ही परम देवता है, पडित लोग पिता को माता से भी अधिक गौरवशाली कहा करते है। (पिता से पुत्रो को) ज्ञान लाभ होता है अतः उसे सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है, क्योकि इस (ज्ञान) से ही विषयो को जीत कर मनुष्य परम पद प्राप्त करते है"[८]।

पूर्ण पितृप्रभुत्त्व (Patria potesta) का स्वरूप—इसमें तो कोई सन्देह नही कि प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता की बहुत अधिक प्रतिष्ठा थी, उसे सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। किन्तु उस के साथ क्या उसे अपरिच्छिन्न और अमर्यादित अधिकार भी प्राप्त थे? यह विषय अब तक बड़ा विवादास्पद रहा है। पुराने जमाने मे, अनेक समाजो मे (विशेष रूप से रोमन समाज में) यह व्यवस्था प्रचलित थी कि परिवार के मुखिया को अपने परिवार के सदस्यो और सम्पत्ति पर पूर्ण, निरकुश, अमर्यादित एवं अपरिच्छिन्न अधिकार प्राप्त होता था; उसे रोमन पेटर फेमलिया (Pater familia) कहते थे और उसके इस प्रकार के अमर्यादित अधिकार को पैट्रिया पोटैस्टा (Patria potesta), इस अधिकार का स्वरूप इन थोडे से तथ्यो से समझा जा सकता है—गृहपति को अपने पुत्रो को प्राणदण्ड देने तथा वध करने का अधिकार था। इन का जीवन मरण पिता के हाथ मे था, राज्य को इन पर कुछ भी अधिकार न था। रोमन कानून की प्रसिद्ध १२ पट्टिकाओ मे से चौथी पट्टिका के दूसरे खण्ड में स्पष्ट

कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः ॥ १९॥ ......पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने सर्वाः प्रीणन्ति देवताः ॥२१॥

८. महा० १२।२९७।२ पिता परं दैवतं मानवानां मातुर्विशिष्टं पितरं वदन्ति। ज्ञानस्य लाभ परमं वदन्ति जितेन्द्रियार्थाः परमाप्नुवन्ति ॥"

शब्दो में यह कहा गया है 'पिता अपने पुत्रो को जेल में डाल सकता है, बेच सकता है और उन का वध कर सकता है'। बेटो को मारने का अधिकार केवल कानूनी रूप में ही रहा हो, सो बात नही है। पिता इस का प्रयोग करते थे और अपने बच्चो को जान से मार डाला करते थे। प्लूटार्क ने ब्रूटस के बारे में लिखा है कि उसने अपने बेटो को बगैर कानूनी कार्यवाही के पिता के अधिकार का प्रयोग करते हुए मरवा डाला था। माम्मसेन ने रोमन परिवार का वर्णन करते हुए लिखा है—घर के सब प्राणी कानूनी अधिकारो से वचित थे; घर के पशुओं और दासो की भांति, पत्नी और बच्चो को भी कोई अधिकार नही थे[९]। बालिग और ज्येष्ठ पुत्र तथा उसके बेटे भी गृहपति के शासन में रहते थे। लड़के लड़किया अपनी स्वतत्र इच्छा से शादी नही कर सकती थी, गृहपति की अनुमति के बिना कोई वैध विवाह सभव न था[१०]। रोमन सम्राट् जस्टीनियन को गृहपति के इस अमर्यादित प्रभुत्त्व पर गर्व था। "हमें अपनी सन्तान पर जो अधिकार प्राप्त हैं, वह रोमन नागरिको की विशेषता है, क्योकि कोई अन्य ऐसी जाति नही है, जिसे बच्चो पर इतने अधिक अधिकार प्राप्त हो, जितने हमें प्राप्त है" [११]।

पितृप्रधान समाज व्यवस्था (Patriarchal system society) को मानव जाति की आदिम व्यवस्था मानने वाले तथा इस सिद्धान्त के प्रबल समर्थक सर हेनरी सुमनेर मेन ने रोमन गृहपतियों के इस अपरिच्छिन्न अधिकार को आदिम आर्य जाति में प्रचलित निरंकुश पैतृक प्रभुत्त्व का अवशेष (Survival) माना है[१२]। इस विषय मे उन्हे अन्य समाजशास्त्रियो का भी समर्थन प्राप्त हुआ है। प्रसिद्ध फ्रेञ्च विद्वान् फुस्तल-दी-कूलाञ्ज और हर्न ने मेन के सिद्धान्तो को पुष्टि की है[१३]। मेन ने प्राचीन कानून और रिवाज (अर्ली ला एण्ड कस्टम) के विशेष नोट (पृष्ठ १२२-२३) में प्राचीन हिन्दू परिवार में इस प्रथा की सत्ता मानी है। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् ज़िमर की भी ऐसी ही मान्यता

---

९. माम्मसेन—हिस्टरी आफ् रोम खण्ड १ पृ० ६४

१०. जस्टीनियन—इंस्टीच्यूशन्स १।१०

११. वहीं १।९।२।१२

१२. मेन-एन्शेण्ट ला पृ० १३८

१३. फुस्तल-दी कूलाञ्ज—एन्शेण्ट सिटी पृ० ११५; हर्न आर्यन हौसहोल्ड, पृ० ९२

है[१४]। अतः इन विद्वानों द्वारा उपस्थित किये जाने वाले पिता की अनियन्त्रित प्रभुता के सूचक प्रमाणो की यहा विवेचना की जायगी । इसे अधिक सुबोध वनाने के लिये पिता द्वारा पुत्रो को प्राण-दण्ड व अन्य-दण्ड देने तथा उन्हे बेचने के अधिकारो का तथा पिता की अनुमति से ही विवाह करने के अधिकार पर पृथक् पृथक् विचार किया जायगा ।

प्राण दण्ड व अन्य दण्ड देने का अधिकार––यद्यपि अन्य जातियो में पिता को काफी अधिक अधिकार प्राप्त थे[१५]। परन्तु अपने पुत्रो को प्राण दण्ड देने का अधिकार केवल रोमन पिताओ को ही उपलब्ध था। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में अपने पुत्र को प्राण दण्ड देने का कही उल्लेख नही। जस्टीनियन की उपर्युक्त उक्ति इस अंश में अवश्य सत्य है कि रोम के सिवाय अन्यत्र पिताओ को अपनी सन्तान को प्राणदण्ड देने का असाधारण अधिकार नही था। हिन्दू परिवार में पिता को ऐसा कोई अधिकार रहा हो, अव तक इस का एक भी पुष्ट प्रमाण उपस्थित नही किया गया। प्राण दण्ड के अतिरिक्त अन्य दण्ड देने का पिता को अधिकार अवश्य था; परन्तु इस विषय में पिता पर काफी प्रतिवन्ध लगाये गये थे। वह अपनी सन्तान को मनमाने ढग से न तो पीट सकता था और न दण्ड दे सकता था।

हिन्दू समाज में पिता द्वारा दण्ड के असाधारण अधिकार को सिद्ध करने के लिये जिमर ने ऋज्राश्व की कथा का प्रमाण उपस्थित किया है। कहा जाता है कि इसे अपने पिता द्वारा अन्धा करने का ऋग्वेद में उल्लेख है (ऋ० १।११६।१६, १।११७।१७-१८)। सायण भाष्य के

---

१४. वैदिक इंडैक्स खं० १ पृ० ५२६ पर उद्धृत ।

१५. चीनियों में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है––'सम्राट को अपनी प्रजा के प्रति पिता की भांति स्नेह रखना चाहिये और पिता को अपने परिवार पर सम्राट् जैसा शासन करना चाहिये, (स्पेन्सर –समाज शास्त्र के सिद्धान्त खण्ड १ पृ० ७३९)। जापानी सन्तान को पिता की आज्ञा आंख मूंद कर माननी पड़ती है। ग्रिफिस ने लिखा है––एक ईसाई कन्याकी तरह सर्वथा निष्पाप एवं निष्कलंक जापानी कुमारी अपने पिता की आज्ञा पर चकले में चली जायगी और अपने सारे जीवन के लिये वेश्यावृत्ति स्वीकार करेगी। अपने पिता की इस आज्ञा का पालन करते हुए, उसके मुख से विरोध का एक शब्द भी नहीं निकलता (मिकाडोज़ एम्पायर पृ० १२४, १४७)।

अनुसार यह घटना इस प्रकार है—वृषागिर के पुत्र राजर्षि ऋज्राश्व के समीप अश्विनो का वाहन गधा वृकी वन कर आया, उसने उस के आहार के लिये नागरिको की सम्पत्ति वनी हुई १०० भेड़ें[१६] काट डाली, नगरवासियो की वडी हानि हुई, इस अपराध के कारण पिता ने उसे अन्धा कर दिया। देवो के वैद्य अश्विनी कुमारो ने पितृ शाप से अनर्वंत (द्रष्टव्य पदार्थों की ओर गमन रहित अन्धे)उसके नेत्रो को विविध पदार्थ देखने योग्य वना दिया[१७]। ऋ० १।११७।१८ में ऋज्राश्व के इस कार्य के वारे में यह कहा गया है कि उस का यह कार्य तरुण व्यभिचारी की तरह (जार कनीन इव) था।

इस कथा के वास्तविक अर्थ के सम्वन्ध में कुछ मतभेद है। श्री पाण्डुरग वामन काले इसमें किसी अलकार की झलक पाते है। उन्होने लिखा है— इन मत्रो मे आलकारिक रूप मे किसी प्राकृतिक घटना का वर्णन है। इनसे यह परिणाम नही निकाला जा सकता, कि एक पिता कानूनी तौर पर अपनी इच्छा से अपने पिता को अन्धा कर सकता था[१८]। श्री काणे ने यह नही वताया कि इन मंत्रो में किस प्राकृतिक घटना का वर्णन है। यदि इस घटना को सत्य मान लें, तो भी इस अकेली घटना से प्राचीन काल मे पिता के अपरिच्छिन्न या पूर्ण प्रभुत्व की सत्ता सिद्ध करना वडा कठिन है। मैकडानल और कीथ का यही मत है। "जिमर ने पिछले कथन (ऋज्राश्व की कथा) से, पूर्ण रूप से विकसित अपरिच्छिन्न पितृ प्रभुत्त्व की सत्ता का अनुमान किया है, किन्तु इस अकेली तथा अर्धपौराणिक घटना पर वल देना वुद्धिमत्ता पूर्ण नही है[१९]।

ताड़न के नियम—इसमे कोई सन्देह नही कि पुत्र के कदाचरण करने पर पिता को उसे साधारण रूप में दण्ड देने का अधिकार था। ऋग्वेद में एक उपमा में यह वताया गया है कि पिता अपने जुआरी वेटे को दण्ड देता है[२०]। एक

---

१६. सौकी संख्या पर मतभेद है। ऋ० १।११६।१६ व १।११७।१७ में सौ भेडें कहीं गई हैं, किन्तु १।११७।१८ में १०१ भेडें उल्लिखित है।।

१७. ऋग्० १।११६।१६। शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृज्राश्वतं पितान्धं चकार। तस्मा अक्षी नासत्या विचक्ष आधत्तं दस्रा भिषजावनर्वन् ।।मि० १।११७।१७ ।।

१८. काणे—हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र खण्ड २, भाग १, पृ० ५०७

१९. वै० इं० खं० १ पृ० ५२६

२०. ऋ० २।२९।५ यन्मा पितेव कितवे शशास।।

नीति के श्लोक में पिता को ६ से १६ वर्ष की आयु तक सन्तान को पीटने का हक दिया गया है[२१]।

कई वार कुछ पिता अपने पुत्रो का ताडना करते समय विवेक खो वैठते है और उन्हे बड़ी नृशंसता से पीटते हैं। अत. शास्त्रकारो ने ताडन के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाए है। महा० (१३।१००४। ३७) मे कहा गया है कि पुत्र और शिष्य की शिक्षा के निमित्त ही ताडना करे[२१]। मनु इस ताड़ना के स्वरूप को और भी अधिक मर्यादित करता हुआ कहता है कि यह रस्सी या बांस की छड़ी से ही सकती है, शरीर के पीठ वाले हिस्से की ओर ही की जानी चाहिये, सिर पर कभी नही मारना चाहिये, इन नियमो की अवहेलना कर, ताडन करने वाले को चोर को दिया जाने वाला दण्ड दिया जाना चाहिये[२२]। इन व्यवस्थाओ से यह स्पष्ट है कि पिता को पुत्र को दण्ड देने तथा पीटने का अधिकार मर्यादित था।

पुत्र को वेचने व छोड़ने का अधिकार—पुत्रो को वेचना बड़ा विचित्र प्रतीत होता है। किन्तु जिस समाज मे पुत्र पिता की सम्पत्ति समझे जाते है, वहां उन्हें गौ, वैल और जमीन की तरह वेचा भी जा सकता है। पहले यह कहा जा चुका है कि रोम में पिताओ को अपने वच्चे वेचने का अधिकार था। इवाल्ड ने यहूदियों के सम्वन्ध मे लिखा है कि इनमें पिता सकट ग्रस्त होने पर कष्ट से मुक्ति के लिये अपने पुत्र को वेच सकता था, अधमर्ण (कर्जदार) होने की दशा में वह उसे अपने उत्तमर्ण (महाजन) के पास वतौर गिरवी के रख सकता था[२३]। ट्यूटन जाति में पिता नावालिग सन्तान को वेच सकता या जंगली जानवरो द्वारा खाया जाने के लिये जगल में छोड सकता था[२४]। क्या हिन्दू परिवार में पिताओं को इस प्रकार के अधिकार प्राप्त थे ?

शुनः शेप की कथा—वैदिक काल में पुत्र के विक्रय का सव से प्रसिद्ध उदाहरण शुन· शेप है (ऐ० ब्रा० ३३ अ०, शाखा०श्रौतसू० १५।२०१ प्र०) ।

---

२१. लालयेत् पंचवर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत् । । महा० १३।१०४।३७ अन्यत्र पुत्राच्छिष्याच्च शिक्षार्थं ताड़नं स्मृतम् ।

२२. मनु० ४।२९९-३०० पृष्ठतस्तु शरीरस्य नोत्तमांगे कथंचन । अतोऽन्यथा तु प्रहरन्प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम् ॥ मि० विष्णु ७१ ।८०-८१ ॥

२३. इवाल्ड-दी एण्टीक्विटीज़ आफ इस्राइल पृ० १९०

२४. वैं० हि० मैं० पृ० १२३

इक्ष्वाकु राजा हरिश्चन्द्र ने नि.सन्तान होने पर वरुण से इस शर्त पर रोहित नामक पुत्र प्राप्त किया कि वह उसे यज्ञ में वरुण को देगा। अनेक वहानो से वह इस यज्ञ को काफी समय तक टालता रहा; किन्तु जलोदर रोग से पीड़ित होने पर जव उस ने अपनी शर्त्त पूरी करने का निश्चय किया तो उस के पुत्र रोहित की भेंट शुनः पुच्छ, शुनः शेप, शुनोलांगूल नाम के तीन वेटो वाले अजीगर्त नामक क्षुधार्त्त ब्राह्मण से हुई तथा उस ने सौ गौओ के लोभ में अपना मंझला वेटा शुन शेप रोहित को वेच डाला, क्योकि छोटा लडका माता का और वड़ा पिता का लाड़ला था। इस के वाद, दो वार सौ सौ गौओ को लेकर उसने अपने पुत्र को यूप से वाधा और उसे मारने की तय्यारी की। वरुणादि देवताओ की स्तुति से शुन. शेप वन्धन मुक्त हुआ और महर्षि विश्वामित्र ने उसे ज्येष्ठ पुत्र वनाया। वडा वेटा होने के कारण उसने विशेष सम्पत्ति और स्नेह की मांग की। इस पर विश्वमित्र के कुछ पुत्रो ने इस व्यवस्था का विरोध किया। पिता के शाप से वे चाण्डालादि नीच जातिया वने। उन्हीं से अन्ध्र, पुण्ड्र, पुलिन्द आदि जातियो की उत्पत्ति हुई।

इस कथा से जहा एक ओर अर्थ लोलुप अजीगर्त्त द्वारा अपने पुत्र को वेचने का पता लगता है, वहा दूसरी ओर यह भी ज्ञात होता है कि पिता के पूर्ण-रूप से स्वच्छन्द आचरण का पुत्र प्रतिवाद भी करते थे। यद्यपि निर्धन शुन. शेप ऐसा करने में असमर्थ था; किन्तु विश्वामित्र के पुत्रो ने शुन. शेप को ज्येष्ठ पुत्र वनाने की पिता की व्यवस्था का प्रवल विरोध किया। शुनः शेप के उदाहरण की परवर्त्ती साहित्य में वहुत चर्चा है[२५]। इसे आलकारिक कथा भी माना गया है। यास्क ने इस का उदाहरण देते हुए पुत्रो के दान और विक्रय का उल्लेख किया है[२६]।

धर्म शास्त्रो में पुत्रों का एक भेद क्रीत है (वसिष्ठ ध० सू० १७।३०-३१ मनु० ९।१७४, याज्ञव० २।१३५, वृहद्विष्णु० स्मृ० १५।२० २१, वौधा० २।२। ३०)। माता पिता को मूल्य देकर खरीदे हुए पुत्र को क्रीत कहते है[२७]। वसिष्ठ

२५. महाभा० १३।३०।१२, वाल्मीकि रामा० १।६१-६२, हरिवंश-पुराण १।२७, विष्णु पु० ४।७, देवी भागवत ७।१४-१७

२६. निरुक्त ३।४ स्त्रीणां दानाविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽ-पीत्येके। शौनः शेपे दर्शनात्।

२७. मनु० ९।१७४ क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात्। स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥

इसके उदाहरण के लिये शुनः शेप का ही उल्लेख करता है। पुत्रो के भेदो मे एक अपविद्ध भी है (वसिष्ठ १७।३४ बौधा० २।२।२७, मनु ९।१७१, याज्ञ० २।१३६, वृहद्विष्णु, १५।१३-१४)। मनु के अनुसार जब माता पिता दोनों अथवा उन में से एक वालक को त्याग देता है और अन्य पुरुष उसे ग्रहण कर अपना पुत्र वनाता है, तव वह पुत्र अपविद्ध कहलाता है[२८]। अपविद्ध की सत्ता से भी यह सिद्ध होता है कि मां वाप को अपना पुत्र त्याग देने का अधिकार प्राप्त था।

कई धर्म शास्त्रियो ने पुत्र के विक्रय का जवर्दस्त समर्थन किया है। वे केवल क्रीत पुत्र का उल्लेख करके ही सन्तुष्ट नही हुए; किन्तु उन्होने यह भी वताया है कि विक्रय का अधिकार माता पिता को किस कारण से प्राप्त है। वसिष्ठ के अनुसार सन्तान पर माता-पिता का पूर्ण अधिकार है "पुरुष माता पिता के शोणित-शुक्र से उत्पन्न होता है, माता पिता उस के जन्म का कारण है, अतः उन को पुत्र के दान विक्रय और त्याग का अधिकार है। किन्तु इकलौते वेटे का दान और प्रतिग्रह नही करना चाहिये"[२९]।

पुत्र की परतन्त्रता—मनु ने यह व्यवस्था की है 'भार्या, पुत्र और दास तीनो परम्परा से अधन माने जाते है; क्योकि वे लोग जो कुछ कमाते है, वह उन के स्वामी का होता है'[३०]।

मनु की इस उक्ति का आशय यह है कि भार्या, पुत्र और दास कभी स्वतन्त्र नही होते। शवर ने (जै० ६।१।१२) इस उक्ति को इन का पारतन्त्र्य सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष द्वारा प्रमाण रूप में उपस्थित किया है;

किन्तु नारद ने पिता के प्रभाव और पुत्र की पराधीनता का जितना स्पष्ट उल्लेख किया है, उतना शायद अन्य किसी धर्म शास्त्री ने नही

---

२८. मनु० ९।१७१ मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा। तं पुत्रं परिगृह्णीयादपविद्धः स उच्यते ॥

२९. वसिष्ठ ध० सू० १५।१-३ शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो भवति मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः, न त्वेकं पुत्रं दद्यात् प्रतिगृह्णीयाद्वा।

३०. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ मि० नारद० टि० ३२, महाभा० ५।८ ३३।६४, २।७१।१

किया। मेन ने भी नारद के प्रमाण पर वहुत वल दिया है (एशेण्ट ला पृष्ठ १२५))। नारद कहता है—"स्वतन्त्रता वडे में रहती है, वडप्पन गुण और आयु के कारण होता है। इस लोक में तीन ही स्वतन्त्र है— राजा, आचार्य और सव वर्णों में अपने अपने घर का मालिक (गृही), ...स्त्रियां, पुत्र, दास और अनुचर वर्ग (परिग्रह) परतन्त्र है, घर में गृही स्वतन्त्र है। उसके न रहने पर जो उनमें उस के वाद का हो (वह गृही वनता है) कानून (व्यवहार) की दृष्टि से (१६ वर्ष का वालिग लडका था पौगण्ड) माता पिता के न जीवित रहने पर ही स्वतन्त्र होता है। इनके जीवित रहने पर वृद्ध हो जाने पर भी पुत्र स्वतन्त्र नही होता[३१]। माता पिता में भी पिता स्वतन्त्र समझा जाता है, क्योकि वीज प्रधान है, पिता के न रहने पर माता और माता के न रहने पर वडा भाई स्वतन्त्र परिवार का पूरा स्वामी होता है"[३२]।

---

३१. अनेक जातियों में पिता के जीवित रहते हुए लड़का वूढ़ा होने पर भी किसी विषय में स्वतन्त्र नहीं होता। निकेलिस ने मूसा के नियमों पर टीकाओं (कमेंटरीज आन दी लाज आफमोजेज खण्ड १, पृ० ४७४) मे लिखा है कि मूसा के समूचे कानून में इस वात का कहीं हल्का भी संकेत नहीं है कि किसी निश्चित आयु में पितृ प्रभुत्व घटेगा और पुत्रो को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी। रोम में प्रौढ़ आयु के वेटे और उन के वच्चे गृहपति की इच्छा के ही आधीन रहते थे। (जस्टीनियन वहीं १।९।३) मैडर्स्ट ने लिखा है कि चीन में यह सिद्धान्त सर्वमान्य है कि कोई व्यक्ति, भले ही उस की आयु कितनी अधिक क्यों न हो-- अपने मां-वाप या वड़े सम्वन्धियो के जीवित रहते हुए, अपनी इच्छा से विवाह नहीं कर सकता (रायल एशि० सोसा० की चीनी शाखा की पत्रिका खण्ड ४ पृ० ११) कुछ अन्य जातियो में प्राचीन काल में असाधारण पितृप्रभाव के रहते हुए भी एक निश्चित आयु में पहुंच कर सन्तान को स्वतन्त्रता मिल जाती थी। एथेन्स में पुत्र २० वर्ष तक ही पिता को शासन सत्ता में में रहता था, उसके वाद वह विवाह करने में स्वतन्त्र होता था। पेरु के इन्का लोगों में लड़का २५ साल की अवस्था में माता पिता से स्वतन्त्र हो जाता था।

३२. नारद ऋणादान २७-३३ स्वातन्त्र्य हि स्मृतं ज्येष्ठे, ज्यैष्ठ्यं गुणवयः कृतम्। त्रयः स्वतन्त्राः लोकेऽस्मिन् राजाचार्यस्तथैव च। प्रति प्रति च सर्वेषां वर्णानां स्वगृहे गृही।.........अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्रा दासाश्च स

नारद के इस कथन का सीधा सादा मतलव यह है कि परिवार में पिता की प्रभुता सर्वोच्च है। पुत्र चाहे बूढा भी हो, किन्तु बाप के रहते हुए स्वतन्त्र रूप से कोई काम नही कर सकता। उस की यह व्यवस्था जस्टीनियन (१।९।३) से पूरा मेल खाती है। पिता के प्रभुत्व का इससे अधिक प्रवल अन्य प्रमाण नही है। किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि नारद यहा आदर्श स्थिति का वर्णन करता है, वास्तविक स्थिति का नही; क्योकि अन्यत्र व्यवहार में वह पिता से कुछ अधिकार छीनता है। हम ऊपर देख चुके है कि वसिष्ठ माता पिता को अपने पुत्रो को दान करने का अधिकार मानता है। (१५।१-२); किन्तु नारद अपने पुत्र और पत्नी के दान का निषेध करता है[३३] और इस प्रकार गृही की स्वतत्रता को वहुत कुछ मर्यादित करता है।

पिता के प्रभुत्व को मर्यादित करने वाली व्यवस्थायें—यह सम्भव है कि नारद द्वारा प्रतिपादित स्थिति हिन्दू परिवार में रही हो; किन्तु वह वहुत अधिक समय तक नही रही। ४ थी शती ई० पू० से हम पिता के अधिकार को मर्यादित करने वाली व्यवस्थाओ का स्पष्ट उल्लेख पाते है। कौटिल्य ने कहा (३।१३) कि वच्चो को वेचने व गिरवी रखने से म्लेच्छो को कोई पाप नही लगता, किन्तु आर्य कभी दास नही हो सकता (आर्य की सन्तान को कभी नही वेचा जा सकता)[३३] क हम ऊपर मनु की इस व्यवस्था का उल्लेख कर चुके है कि पुत्र के कमाए हुए धन पर पिता का पूरा अधिकार होता है (८।४१६)। किन्तु याज्ञ० (२।११८-१९) ने इस सिद्धान्त को परिर्वातत कर के पिता के प्रभुत्व को एक जवर्दस्त चोट पहुँचायी है, वह पुत्रो द्वारा स्वोपार्जित धन पर दायादों का अधिकार नही समझता (मि० मनु० ९।२०८)। मनु ने अपविद्ध पुत्र का अवश्य वर्णन किया है (९।१७१), किन्तु उसे इस प्रकार माता पिता द्वारा पुत्र का त्याग अभिमत नही था। उसने निरपराध पुत्र को छोड़ने वाले पिता के लिये ६०० पण के दण्ड की व्यवस्था की है (८।३८९)। कात्यायन के मत

परिग्रहः। जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः। तयोरपि पिता श्रीमान् वीजप्राधान्यदर्शनात्। अभावे बीजिनो दाता तदभावे च पूर्वजः।

३३. नारद दत्ताप्रदानिका ४ निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति। आपत्स्वपि हि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना। यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्। मि० याज्ञ० २।१७५ स्वं कुटुम्वाविरोधेन देयं दारसुतादृते।

३३. क म्लेच्छानामदोषःप्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।

मे पिता को पुत्र तथा स्त्री के अनुशासन का अधिकार है, किन्तु उस के विक्रय और दान का अधिकार नही है (दे०ऊ०पृ० १०८)। इन व्यवस्थाओ से स्पष्ट है कि यदि किसी समय पितृप्रभुत्व कुछ काल के लिये निरंकुश रूप में था तो वाद में उसे वहुत मर्यादित कर दिया गया।

प्रभुत्व घटने के कारण (क) वानप्रस्थ की व्यवस्था—प्राचीन हिन्दू परिवार में पिता का प्रभुत्व घटने के कई कारण थे। पहला कारण वानप्रस्थ की व्यवस्था थी। मनु ने कहा—'गृहस्थ जव यह देखे कि शरीर पर झुरियां पड़ गयी है, वाल सफेद हो चले हैं और पुत्र का पुत्र उत्पन्न हो गया है तो वह वन में चला जाय[३४]। यह समझा जाता था कि ५० वर्ष की आयु के वाद, मनुष्य को अपनी सांसारिक सम्पत्ति, प्रभुत्त्व और शक्ति लड़को को देकर अपना शेष जीवन आध्यात्मिक उन्नति में लगाना चाहिये। अन्य धर्मशास्त्रो ने इस विषय में अनेक नियम वनाये हैं[३५]। वास्तव में यह एक अत्यन्त दूरदर्शितापूर्ण व्यवस्था थी। आज हमारे परिवारो की अशान्ति का एक प्रधान कारण यह भी है कि व्यक्ति वृद्ध होने पर भी अपने अधिकारो से चिपटा रहना चाहते है, उनकी अधिकार लोलुपता से नवयुवको को कार्य का अवसर नहीं मिलता, अत. स्वाभाविक रूप से उन का वृद्धो से सघर्ष होता है। वानप्रस्थ की व्यवस्था से यह कलह दूर हो जाती है। इससे नारद की यह उक्ति व्यर्थ हो जाती है कि पुत्र के वूढा होने पर भी वह अपने जीवित पिता के आधीन ही रहे। हमारे पास यह जानने का कोई साधन नही है कि सव पुरुष आवश्यक रूप से वानप्रस्थ होते थे या नही। धर्मशास्त्रो में इस आश्रम का सर्वत्र ठीक वैसे ही विधि रूप मे वर्णन है, जैसा गृहस्थाश्रम का, अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि इस का पालन होता होगा। इस से पितृप्रभुत्त्व की मात्रा में पर्याप्त कमी हुई होगी। मेन को हिन्दू पिता का पूर्ण प्रभुत्त्व मानने में मुख्य वाधा वानप्रस्थ व्यवस्था थी, उन्होने इस वाधा को यह कह कर टाल दिया है—"इन वानप्रस्थपरक वचनो का कुछ भी अर्थ क्यो न हो, मै यह नही मान

---

३४. मनु० ६।२ गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः। अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।

३५. गौ० ध० सू० ३।२५-३४, आप० ध० सू० २।९।२१।१८-२१, वौधा० ध० सू० ३।३, वसिष्ठ ध० सू० ९, याज्ञ० १।४५-५५, महाभा० १२। २४५।१-२४

सकता कि इन वचनों से इस सम्मति को कुछ समर्थन प्राप्त होता है कि पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध पारिवारिक सम्पत्ति का किसी भी समय बटवारा कर सकते थे[३६]। बटवारे के प्रश्न पर १३ वे अध्याय मे विचार होगा। किन्तु यहां इतना कहना पर्याप्त है कि वानप्रस्थ की व्यवस्था से पिता स्वेच्छापूर्वक अपने अधिकारो को छोड़ देता था। वानप्रस्थ की व्यवस्था भले ही बहुत अधिक न चली हो; किन्तु इस से पिता के अधिकारो मे काफी कमी आयी होगी।

(ख) शारीरिक अशक्ति —यह प्रश्न हो सकता है कि वानप्रस्थ द्वारा पिताओ ने अपने अधिकारो का छोडना क्यो स्वीकार किया? शक्ति एक प्रकार का मद है और विवशता से ही इसका त्याग हो सकता है। यह लाचारी वृद्धो की अन्तिम समय की कमजोरी है। पिता के प्रभुत्त्व का एक बड़ा कारण शारीरिक शक्ति भी है। इसके भय से बचपन मे निर्बल सन्तान शक्तिशाली पिता के प्रभुत्त्व को स्वीकार करती है। किन्तु वृद्धावस्था आने पर पिता का बल क्षीण हो जाता है। पुत्रो को अब उसका कोई भय नही रहता। इसके साथ ही पिता इस समय जीवन निर्वाह के लिये पुत्रो पर अवलम्बित होता है। कभी उसने सन्तान का भरण-पोषण किया था; किन्तु अब उसे अपने भरण-पोषण के लिये उन का मुह ताकना पड़ता है। इस दशा मे उसका रोब घटना स्वाभाविक है। वृद्धावस्था मे पिता के प्रभाव का भौतिक आधार लुप्त हो जाता है और उसे नैतिक कर्त्तव्यो के आधार पर अक्षुण्ण रख जाता है[३७]। यह कहा जाता है कि वृद्धावस्था में उनका अनुभव बढ जाता है, वृद्धो का अभिवादन और सेवा करनी चाहिये। इस से आयु, विद्या और बल बढते हैं [३८]। किन्तु इन सब विश्वासो के बावजूद, इस वास्तविक स्थिति का अपलाप नही

---

३६. मेन० वहीं, पृ० १२२, मेनका यह कथन ठीक नहीं कि वैदिक युग में बंटवारा नही होता था, दे० ऊ०पृ०४५–४६ तथा अध्याय १३

३७. कई जंगली जातियों में वृद्ध कुछ धार्मिक विश्वासों के कारण अपनी सर्वोच्च स्थिति बनाये रखते है। अफ्रीका में कहा जाता है कि बुढ़ापा और बुद्धि दोनों साथ साथ चलते है। मूर लोग कहते हैं—व्यक्ति बूढ़ा हो कर पीर (सन्त) हो जाता है। सर्व लोगों की एक कहावत है कि बूढ़े आदमियों के सत्कार के बिना मुक्ति नहीं है (वै० शा० हि० मै० पृ० १४६-४७)

३८. मनु० २।१२१; अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः। चत्वा रि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

हो सकता कि पिता शारीरिक दृष्टि से असहाय होने पर अपनी सन्तान की दया पर जीता है। इस अवस्था में उसकी पूर्ण प्रभुता रहना असम्भव है।

परासन की पद्धति—प्राचीन हिन्दू परिवार में इस शक्ति को कम करवाने के लिये पुत्रो ने वल का कहा तक प्रयोग किया था, यह जानने के लिये हमारे पास कुछ निश्चित साधन नही है। दूसरी जातियो के उदाहरण से यह ज्ञात होता है कि कुछ समाजो में पुत्रो ने जहां पिता को वृद्धावस्था में अपने परिवार पर भार समझ कर मारना शुरू किया, वहा पिता के अधिकार का बड़ी शीघ्रता से लोप हुआ। उदाहरणार्थ, टयूटन लोगो में जहां एक ओर पिता को नावालिग वच्चों को वेचने या जगल में जानवरो का भक्ष्य वना देने का अधिकार था, वहा दूसरी ओर वालिग लडके भी अपने कमजोर और वूढ़े मां वाप का वध कर डालते थे, अत वहा पिता का अधिकार पुत्र पर उसी समय तक रहता था, जव तक कि वह युवा नही हो जाता था[३९]। ज़िमर का यह मत है कि वैदिक युग में वेटे वूढे माता पिता को मार देते थे या जगली जानवरो के खाने के लिये उन्हे जगल में छोड देते थे[४०]। किन्तु उस ने अपनी स्थापना की पुष्टि में वहुत निर्वल प्रमाण (ऋ० ८।५१।२, अथर्व १८।२।३४) उपस्थित किये है। इन प्रमाणो में उसका आधार 'उद्धित्' शव्द है। इसका अर्थ है उठाकर अलग रखा हुआ। अथर्ववेद वाले प्रकरण में यह शव्द पितृमेध सूक्त में शवो के प्रसग में आया है। उस समय शवो को जलाने और गाडने की दोनो विधिया वरती जाती थी। पहले प्रकार के शव को अग्निदग्ध (ऋ० १०।१५। १४, अथर्व० १८।२।३४) कहते थे और दूसरे को अनग्निदग्ध (ऋ० वही अथर्व० वही)। अनग्नि दग्ध शव या तो गाड़े जाते थे (निखात), या फेंक दिये जाते थे या उन्हें जगल में खुला (उद्धित) छोड दिया जाता था। १८। २।३४ में मृत शरीर के ही उद्धित करने का वर्णन है, जीवित शरीर का नही। ऋग्वेद वाले मन्त्र में कहा गया है कि पार्षद्वाण ने अपने वूढे सोते हुए पिता को उद्धित अर्थात् जगल में खुला छोड़ दिया[४१]। किन्तु इस एक प्रमाण के आधार पर इस प्रथा का प्रचलन सिद्ध करना वहुत कठिन है। मैक-डानल और कीथ ने लिखा है—'यह सन्दर्भ केवल वाहर फेंके गए किसी एक

---

३९. वै० हि० ह्यूमें पृष्ठ २३३।

४०. वै० इं० खं० १ पृ० ५२७ पर उद्धृत।

४१. ऋ० ८।५१।२ पार्षद्वाणः प्रस्कण्वं समसादयच्छयानं जिव्रिमुद्धितम्।

व्यक्ति के उदाहरण को सूचित करता है और इस प्रथा के प्रचलित या स्वीकृत होने के सम्बन्ध मे कुछ भी सिद्ध नही कर सकता"[४२]।

अपने बूढे पिताओ को इस प्रकार उद्धित करके मारना तो दूर रहा, हम इसके सर्वथा प्रतिकूल वैदिक युग मे पुत्रो को वृद्ध मातापिता की पूजा करते हुए पाते है। ऋ० १।७०।५ में कहा गया है मनुष्य अनेक यज्ञों द्वारा अग्नि की विविध प्रकार से पूजा करके उससे वैसे ही धन प्राप्त करते है, जैसे पुत्र (वृद्ध पिता की पूजा द्वारा) उससे धन पाते है[४३]। अत वैदिक युग में परासन या उद्धिति (Exposure) द्वारा मां बाप को मारने की परिपाटी नही थी और इस प्रथा ने हिन्दू परिवार में पिता के प्रभुत्व को घटाने में कोई हिस्सा नही लिया।

(ग) पिण्डदान—पिता का प्रभुत्व घटने का तीसरा वडा कारण पिण्डदान की चिन्ता थी। पिण्डदान के लिए पुत्र आवश्यक ही नही, किन्तु अनिवार्य माना जाता था। श्राद्ध के समय पुत्र द्वारा दिए जाने वाले अन्न से ही पितर जीवित रहा करते थे। पितरो को अविच्छिन्न रूप से स्वधापहुँचाते रहना पुत्रों पर ही अवलम्बित था। अत· पिता के लिये यह आवश्यक था कि वह पुत्र को प्रसन्न रखे। पुत्रो पर अनुकम्पा के भाव ने ही मनोवैज्ञानिक रूप से, पिता पर यह प्रभाव डाला होगा कि वह पुत्रों के साथ कुछ उदारता का व्यवहार करे।

पिता के विवाह विषयक अधिकार—पूर्ण पितृप्रभुत्त्व वाले समाजो में पिता ही अपनी सन्तान का विवाह करता है, सन्तान को अपनी इच्छा से जीवनसंगी चुनने की स्वतन्त्रता नही होती[४४]। इस दृष्टि से देखा जाय तो वैदिक

४२. वैं० इं० खण्ड १ पृ० ३९५ व ५२७

४३. ऋ० १।७०।१० वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन् पितु र्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त।

४४. मैक्सिको में माता पिता की आज्ञा से विना पूछे शादी करवाने वाले को प्रायश्चित्त करना पड़ता है। चीनियों में व्यक्ति चाहे कितनी बड़ी आयु का हो जाय, मां वाप या अन्य बड़े सम्बन्धी के जीवित रहते हुए वह स्वतन्त्रता पूर्वक विवाह नहीं कर सकता, उन में अभिभावकों की शक्ति इतनी अधिक है कि वे अपनी सन्तान के विदेश में होने पर भी उसका सम्बन्ध निश्चित कर देते हैं और लौटने पर उसे माता पिता द्वारा निश्चित व्यक्ति से ही शादी करनी पड़ती है। इस पद्धति का परिणाम यह हुआ है कि विवाह के समय ही पति अपनी पत्नी के चेहरे को पहली वार देखता है (ग्रे चाइना-खं० १ पृ० २०५, १९८)

युग में पिता का अधिकार बिल्कुल नगण्य था। वैदिक युग में स्त्री और पुरुष दोनों को अपना साथी चुनने की स्वाधीनता थी। ज़िमर ने (पू० नि० पु० पृष्ठ ३०९) यह माना है कि विवाह मे माता पिता या भाई की स्वीकृति लेना आवश्यक था, किन्तु उसने अपनी स्थापना के समर्थन में कोई स्पष्ट प्रमाण नही दिया। माता पिता अपने युवा पुत्र या पुत्री की शादी का नियन्त्रण करते थे, इस की कोई साक्षी नही है, यद्यपि इस में कोई सदेह नही कि वे अपनी सन्तान के लिये उपयुक्त वर अवश्य ढूंढते थे (वै० इं० १।४८२ व ५२७)। गान्धर्व विवाह का वैदिक युग से प्रचलन था और स्मृतियो में भी इसे स्वीकार किया गया है (मनु० ३। ३२)। यह वर वधू की इच्छा से होता था। वात्स्यायन ने इस विवाह का वडा विस्तृत और मनोरंजक वर्णन किया है। कन्याओ को स्वयंवर मे वरण स्वातन्त्र्य प्राप्त था। ६ठी शती ईस्वी पूर्व में वाल विवाह के प्रचलित होने से पहले कन्याओ का वरण-स्वातन्त्र्य छिना और फिर पुत्रों का। संभवत. यही एक एक ऐसा अधिकार है, जिसका हिन्दू पिताओ ने पिछली कई शताब्दियो मे पूर्ण शक्ति के साथ प्रयोग किया है।

वैदिक युग में पिता के पूर्ण प्रभुत्त्व विरोधी तथ्य—वैदिक युग में पिता के पूर्ण प्रभुत्व पर विचार करते हुए हमें कुछ अन्य महत्त्व पूर्ण तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिये। ये इस वात को सूचित करते है कि वैदिक युग में पिता को अपने परिवार पर पूरी प्रभुता नही थी। ऋ० १०।८५।४६ मे नवोढ़ा वधू को यह आशीर्वाद दिया गया है कि तू अपने श्वशुर, अपनी सास, अपनी ननद और देवरो पर शासन करने वाली (सम्राज्ञी) हो[४५]। यदि पुत्र का घर में

रोमन सन्तान की विवाह विषयक पराधीनता का पहले उल्लेख हो चुका है। टयूटनो में भी अभिभावक की स्वीकृति आवश्यक थी। पिता अपनी इच्छानुसार लड़की को दे सकता था। मध्यकाल में माता पिता के न रहने पर अपनी इच्छा नुसार सम्बन्धियों से विना पूछे विवाह करने वाली कन्या निन्दा का पात्र बनती थी (वीन होल्ड० वै० हि० ह्य० मै० में उद्धृत पृ० २३७)

४५. ऋ० १०।८५।४६ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ मेयर ने इस पर बड़ी मनोरंजक आपत्ति की है (सैं० ला० पृ० ४०३) महा० में अनेक स्थानों (१।८२।१६,८। ६९। ३३, ६२; १२।३४।२५, १६५।३०) में कहा गया है कि विवाह के समय झूठ बोलना जायज है, किन्तु उन्होंने स्वयं यह भी माना है कि महा० के आधार पर वैदिक युग के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कोई प्रभाव न हो और पिता का ही वहा पूर्ण साम्राज्य हो तो वधू को यह आशीर्वाद देना व्यर्थ है । पत्नी रानी की तरह वही शासन कर सकती है, जहा उसका पति राजा हो। इस मन्त्र से यह स्पष्ट है कि विवाह के बाद घर में पत्नी का शासन चलता था। मैकडानल व कीथ ने यह कल्पना की है कि कि श्वशुर बूढ़ा होने पर पुत्रवधू द्वारा शासित होता था (वै० इं० १। ५२७)। किन्तु इस मन्त्र के अगले पिछले सारे प्रकरण मे वृद्धावस्था का कोई संकेत नही है ।

पूर्ण प्रभुत्त्व वाले समाजो मे पुत्र वड़ा होने तथा विवाह करने पर भी पिता के परिवार का ही सदस्य वना रहता है, किन्तु वैदिक समाज के सम्वन्ध मे ऐसी वात नही कही जा सकती। इस वात को सिद्ध करने के लिये हमारे पास कोई प्रमाण नही है कि पुत्र वड़ा होने तथा विवाह करने पर पिता के साथ रहता था या अपना घर अलग वसाता था। शायद इस विषय में विभिन्न रिवाज थे (वै० इं० वही)। किन्तु यह स्पष्ट है कि युवा होने पर पिता का अपने पुत्र पर अधिकार वहुत कम हो जाता था। पूर्ण पितृप्रभुत्व वाले समाजो मे पुत्र का सम्पत्ति पर स्वत्त्व पिता के मरने पर ही होता है, किन्तु वैदिक युग मे पुत्र पिता की सम्पत्ति को उसके जीवन काल में ही वांट लिया करते थे। मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा से यह वात स्पष्ट हो जाती है (ऐ० ब्रा० २२।९)। उसके वेदाभ्यास के समय में ही, उसके भाइयो ने पिता का सारा धन आपस में वाट लिया और उसके लिये कोई हिस्सा शेष नही रखा। अध्ययन की समाप्ति पर घर लौटने पर उसने भाइयो से अपना हिस्सा मागा। भाइयो ने उसे पिता के पास भेज दिया। उसने पिता से अपना हिस्सा मागा, पुत्र पिता का सारा धन ले चुके थे। अब पिता ने उसे अंगिरा ऋषि की यज्ञ मे सहायता कर उससे धन प्राप्त करने की सलाह दी। इस से स्पष्ट है कि उस समय पुत्र पिता की सम्पत्ति का स्वयमेव वँटवारा कर लेते थे, पिता को उस में कोई हिस्सा नही मिलता था। पूर्ण पितृप्रभुत्व वाले समाज मे यह सर्वथा अचिन्त-नीय और अकल्पनीय स्थिति है।

कीथ और मैकडानल का यह मन्तव्य है 'फिर भी (ऋज्राश्व के उदाहरण के पुष्ट प्रमाण न होने पर भी)प्रारम्भ में (अन्य आर्य जातियो मे) पिता का अपरिच्छिन्न प्रभुत्व इस वात का प्रमाण है कि वैदिक आर्यों में भी यह स्थिति रही होगी (वै० इ० १।५२ ६) । हम यह देख चुके है कि हर्न और फुस्तल दी कूलाज को भी रोमन समाज के अमर्यादित पितृ प्रभुत्व ने यह कल्पना करने

को प्रेरित किया था कि अन्य आर्यजातियो में भी पिता का इस प्रकार का अपरिच्छिन्न अधिकार था। वास्तव में यह कोई युक्ति नही है कि रोमन आर्यों में इस प्रकार की व्यवस्था थी, अत. वह व्यवस्था अन्य आर्य जातियो में भी होनी चाहिये। सर हेनरी मेन ने स्वय यह स्वीकार किया है (ए० ला० पृ० १३६) कि यूनानियो में पिता का अधिकार पुत्र की नावालिगी तक ही था। एथेन्स में २० वर्ष तक ही पुत्र पिता के प्रभुत्व में रहता था। ओडिसी में वर्णित उलीसस और उस के वेटे की कथा से सूचित होता है कि कुछ अवस्थाओ में वूढे पिता को परिवार के स्वामी पद से हटाया भी जा सकता था। जव रोम अपने समीपस्थ यूनान की समाजव्यवस्था को प्रभावित नही कर सका तो उसने सुदूरस्थ वैदिक आर्यो की परिवार व्यवस्था को प्रभावित किया हो, इसकी सभावना वहुत कम प्रतीत होती है। अत. अन्य प्रमाणो के अभाव में तथा पितृसत्ता विरोधी स्पप्ट प्रमाणो के होते हुए कीथ का यह कथन युक्तियुक्त प्रतीत नही होता कि वैदिक युग में पिता को अपने परिवार पर पूर्ण प्रभुत्व था; यद्यपि पिता को कुछ स्थानो पर अपने पुत्रो के विक्रय का अधिकार अवश्य प्राप्त था।

हिन्दू पिता के अधिकारों का ऐतिहासिक विकास—वैदिक युग के वाद सम्भवत. पिता के पुत्र विक्रय के अधिकार में वृद्धि हुई। धर्मसूत्रो के समय वसिष्ठ इस अधिकार का प्रवल समर्थन करता है। किन्तु यह व्यवस्था देर तक नही चली। ६ठी शती ईस्वी पूर्व से इस विषय मे पिता के अधिकार को नियन्त्रित किया जाने लगा। सभवत. वानप्रस्थ इस का मुख्य साधन था। लगभग इसी समय से वाल विवाह का प्रचलन होने से पिता का अपनी सन्तानो के विवाह को नियन्त्रण करने का अधिकार वढ गया। गुप्तयुग तक पिता के सन्तान को पीटने व वेचने के अधिकार को नियन्त्रित कर दिया गया। किन्तु वाल विवाह की वृद्धि के साथ सन्तान पर उसका प्रभाव अधिक वढता गया। मध्ययुग में वह प्रभाव वहुत अधिक हो गया[४६]। इस युग में पिता के पुत्र के साथ सम्पत्ति

---

४६. यूरोप में भी इस समय परिवार पर पिता का पूर्ण प्रभुत्व माना जाता था। प्रसिद्ध फ्रेंच कानून शास्त्री वोदिन ने १६ वीं शती के अन्त में यह लिखा था, यद्यपि राजा का अपनी प्रजा पर, गुरु का शिष्य पर, सेनापति का सैनिकों पर शासन है किन्तु प्रकृति ने पिता के अतिरिक्त किसी को शासन सत्ता नहीं प्रदान की। पिता महान् सम्राट् ईश्वर की सच्ची प्रतिमा है (डिरिपब्लिका

में तुल्य स्वामित्व के सिद्धान्त ने पैतृक प्रभुत्त्व को कुछ नियन्त्रित करने का यत्न किया। इस युग के अन्त में नेल्सन ने मद्रास के हिन्दू परिवार की चर्चा करते हुए लिखा है—"यह एक असदिग्ध तथ्य है कि मद्रास प्रान्त के हिन्दुओ में आज कल पिता को राजा समझा जाता है। उस पर आश्रित परिवार के लिये वह निरंकुश सम्राट है। उसका वचन कानून है। वह वास्तव में अपने परिवार पत्नी, पुत्र, दास और सम्पत्ति का स्वामी है[४७]।

१९ वी शती के अन्त तक वास्तविक रूप से भले ही पिता परिवार का राजा हो, किन्तु कानूनी दृष्टि से उस पर पर्याप्त नियन्त्रण था, यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू परिवार में पिता का सम्राट का सा प्रभुत्व नैतिक दृष्टि

---

११४ पृ० ३१) सली के, ड्यूक ने अपने संस्मरणों (मेमायर्स खं० ५ पृ० १०) में लिखा है—उस समय फ्रांस में बच्चे माता पिता की आज्ञा न होने पर उनके पास नहीं बैठ सकते थे। हेनरी तृतीय (१५६६) लुई १३वें (१६३९) लुई १४ वें (१६९७) ने इस आशय की आज्ञायें प्रचारित की थी कि माता पिता की अनुमति के विना ३० वर्ष की आयु से पहले कोई लड़का शादी नहीं कर सकता और लड़कियां २५ वर्ष की आयु से पहले विवाह नहीं कर सकती। यदि कोई इस आज्ञा की अवहेलना करता था तो उसे उत्तराधिकार से वंचित कर दिया जाता था। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व की उद्घोषण करने वाली फ्रेंच राज्य क्रान्ति के बाद, नेपोलियन के समय जो नया दीवानी कोड बना, उसमें पिता को बहुत अधिक अधिकार दिये गये है। २१ वर्ष से पहले लड़का पिता की अनुमति के विना पितृगृह नहीं छोड़ सकता था। केवल फौज में भरती होने के लिए उसे अनुमति की आवश्यकता नहीं थी (धारा ३७४), बालक के बड़ा अपराध करने पर पिता के पास उसे दण्ड देने के जबर्दस्त साधन थे (धारा ३७५-८३), पुत्र और पुत्री २५ और २१ वर्ष तक माता पिता की अनुमति के बिना विवाह नहीं कर सकते थे धारा (१४८) इन्हीं बातों को देखते हुए पिछली शती में श्री गुरुदास बैनर्जी ने लिखा था (हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन पृ० १७९) वर्त्तमान समय की किसी भी उन्नत कानून पद्धति में पिता को जितने अधिकार दिये गये हैं, हमारे कानून में उसे उतने ही अधिकार प्राप्त है। वस्तुतः ये अधिकार इतने अधिक नहीं हैं, जितने नेपोलियन के कोड में (३७१-३८७) पिता को दिये गये है।

४७. नेल्सन—हिन्दू व्यू आफ लाइफ, पृ० ३८

से ही था। पिता बच्चे से सेवा तथा आज्ञा-पालन की आशा रखते थे, पर वे उन्हें बाध्य नहीं कर सकते थे। धर्मशास्त्रो ने उनके कानूनी अधिकार बहुत कम कर दिये थे। मनु ने पीटने के अधिकार को मर्यादित किया था। नीति के एक पुराने श्लोक के अनुसार १६वें वर्ष से पुत्र के साथ मित्र का व्यवहार करना उचित है (प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्र मित्रवदाचरेत्)।

पिता के अन्य कानूनी अधिकार और कर्त्तव्य--सन्तान का भरण पोषण-- पहले यह बताया जा चुका है कि पिता का मुख्य कार्य सन्तान का भरण पोषण है। पिता शब्द से यह सूचित होता है कि वह बच्चो की रक्षा तथा पालन पोषण करता है। अत धर्मशास्त्रो में स्वाभाविक रूप से पिता का यह मुख्य कार्य बताया गया है। मनु के अनुसार न करने योग्य सैकडो काम करने पडें तो उन्हे भी करके सन्तान का पालन अवश्य करना चाहिये[४८]। बच्चो के पालन पोषण में वैध और अवैध शिशुओ का भेद करना बहुत अन्याय पूर्ण है। यदि अवैध सम्बन्ध बुरा है तो उसका दण्ड माता पिता को मिलना चाहिये। निर्दोष शिशु को इस कारण पिता के सरक्षण से वंचित करना क्रूरता है। विज्ञानेश्वर (१।१२ ३) जीमूतवाहन (दाय भाग ९।२८) नील कण्ठ (व्यवहार मयूख ४।४।३०) ने विवाहित शूद्रा से उत्पन्न सन्तान के भरण पाने का अधिकार स्वीकार किया था। वर्तमान अदालतों ने भी प्राचीन शास्त्रो का अनुकरण करते हुए जारज पुत्रो के अधिकार को माना है[४९]। उनका भरण का अधिकार इसलिए खण्डित नही हो जाता कि वे अवैध समागम का परिणाम है। शूद्रो मे तो ऐसा पुत्र दाय का अधिकारी होता है। यह नियम हिन्दू स्त्रियो से उत्पन्न बच्चो पर ही लागू होता है। यदि किसी हिंन्दू पुरुष के साथ किसी मुसलमान या ईसाई स्त्री के अवैध समागम से कोई सन्तान उत्पन्न हो तो वह जन्म से हिन्दू न होने के कारण, हिन्दू कानून की भरण पोषण सम्बन्धी व्यवस्था का लाभ नही उठा सकती[५०]।

---

४८. मनु० ९।११ वृद्धौ च माता पितरौ साध्वी भार्या शिशुः सुतः। अप्यकर्मशतं कृत्वा भर्त्तव्याः मनुरब्रवीत्। वर्त्तमान काल में क्रिमिनल ला प्रोसीजर कोड की धारा ४८८ के अनुसार पिता वैध तथा अवैध दोनो प्रकार के पुत्रों के पालन के लिये बाधित है।

४९. पन्डया बनाम पाली १ म० हाई० रि० ४७८

५०. अह्वो पन्त बनाम वजन ४ कल० ला० रि० १५४

पुत्र को अपनी नाबालिगी तक ही पिता से भरण का अधिकार प्राप्त है। बालिग होने पर पुत्र पिता की स्वार्जित सम्पत्ति में से अपने पोषण के लिए हिस्सा नहीं माग सकता। कलकत्ता हाईकोर्ट के एक स्पष्ट निर्णय के अनुसार पिता अपने युवा पुत्र के भरण पोषण के लिए बाध्य नही किया जा सकता, भले ही वह लडका किसी अस्थायी मानसिक पागलपन से या अन्य किसी रोग से पीड़ित भी हो[५१]।

यह प्रश्न विचारणीय है कि किस आयु मे बालक को युवा समझा जाये। सामान्य रूप से बालिग होने पर उसे युवा समझा जाता है। यह स्मरण रखना चाहिये कि अँग्रेजी कानून के अनुसार पुत्र के युवा तथा बालिग होने पर भी निम्न अवस्थाओ में पिता को पुत्र पालना पडता है। (१) बीमारी या किसी दुर्घटना से पुत्र का आजीविका कमाने में असमर्थ होना (२) पुत्र का निर्धन होना[५२]। किन्तु भारतीय क्रिमिनल प्रोसीजर कोड (४८८) मे सिर्फ यही कहा गया है कि बच्चे यदि अपना गुजारा करने में असमर्थ है तो वे पिता से भरण के अधिकारी है। इस में असमर्थता के कारणो की व्याख्या नही की गयी।

पुत्र यदि पिता की आज्ञा का पालन नही करता या पिता के साथ रहने से इकार करता है तो इस कारण से उसका भरण पाने का अधिकार नष्ट नही होता, किन्तु भरण की मात्रा अवश्य कम की जा सकती है[५३]।

विज्ञानेश्वर ने पैतृक सम्पत्ति मे पिता व पुत्रो का सयुक्त स्वत्व माना है। कई बार यह सम्पत्ति अविभाज्य होती है, इस अवस्था में बालिग होने पर तथा अत्यन्त आवश्यकता न होने पर भी पुत्र पिता से भरण पाने का अधिकार रखता है[५४]।

पिता से भरण पाने के लिये पुत्र को यह सिद्ध करना आवश्यक है कि पिता के पास भरण करने के लिए पर्याप्त धन है[५५]।

गोद-लेने देने का अधिकार—माता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर भी सन्तान दूसरे को देने का पूर्ण अधिकार पिता को है। शायद यह पिता के

---

५१. अप्पा कानून बनाम अप्पू ११ म० ९१
५२. स्टीफन की टीकायें (कमैंटरीज) बुक खं० २, पृ० ३०२
५३. शार्दूल सिंह बनाम प्रताप सिंह (१८७७) पं० रिकार्डस् ४६
५४. हिम्मत सिंह गेचर सिंह बनाम गणपति सिंह १२ बं० ९४
५५. मुसम्मात नारायण कौर बनाम रोशन लाल ४नार्थ वैस्टर्न प्रा० १२३

पुत्रदान के पुराने अधिकार (वसिष्ठ० १५।१-२) का ही परिष्कृत एवं विकसित रूप है। पिता के इस अधिकार मे माता कोई बाधा नही डाल सकती। यदि माता अपना पुत्र देने में आपत्ति करे तो भी पिता को अपना पुत्र देने का अधिकार है; क्योकि हिन्दू कानून की दृष्टि में जब एक व्यक्ति अपना पुत्र दत्तक बनाने के लिए देता है, उस समय वह संरक्षक की बजाय पूर्ण स्वामी के रूप में अपने अधिकार का प्रयोग कर रहा होता है[५६]।

सन्तान का संरक्षण—पिता बच्चो का स्वाभाविक सरक्षक है और बालिग होने तक बच्चे उसके सरक्षण में ही रहते है, किन्तु विवाह होने पर कन्या पति के संरक्षण में समझी जाती है। पिता के बाद संरक्षण का अधिकार माता का होता है, किन्तु कई बार पिता के होते हुए बच्चो का सरक्षण माता को दिया जाता है। मनु ने सन्तानपालन स्त्री का कार्य माना है (९।२७)। प्रकृति ने स्वाभाविक रूप से उसे यह कार्य सौंपा है, अत. बच्चों की आयु बहुत छोटी होने तथा पिता के अनाचारी और दुर्व्यवहार करने वाला होने पर बच्चे माता के ही संरक्षण में रहते है[५७]। धर्म परिवर्तन करने पर भी पिता का बच्चो पर सरक्षण का उसका अधिकार बना रहता है।

पुत्र द्वारा पिता का पालन—पिता का यह कर्त्तव्य है कि वह अपनी सन्तान का पालन करे। इसी तरह सन्तान का भी यह दायित्व है कि वे अपने वृद्ध माता पिता का पालन करें। जाति के सरक्षण, कल्याण तथा पारिवारिक सुख के लिये दोनो व्यवस्थाओ का होना आवश्यक है। मनु ने (९।१०-११) में भरण योग्य व्यक्तियो मे वृद्ध माता पिता का सब से पहले निर्देश किया है। अन्यत्र उसने माता पिता को छोडने वाले के लिये ६०० पण के दण्ड की व्यवस्था की है (८।३८९)। वर्त्तमान अदालतो ने इस अधिकार का समर्थन किया है[५८]।

पिता का सन्तान से प्रेम—पिता के अधिकारो की नीरस कानूनी चर्चा के बाद पितृ प्रेम के सरस विषय का प्रतिपादन उचित है। वैदिक काल से हिन्दू पिता अपने पुत्रो से बहुत स्नेह करते रहे है। ऋग्वेद में पिता पुत्र को हाथो पर उठाता है (१।४०।१), पुत्र स्नेह से पिता के आचल को पकडता है (३।५३।२)

---

५६. चित को बनाम जानकी ११ बं० हा० रि० १९९
५७. हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्री धन पृ० १७६
५८. सावित्री बाई बनाम लक्ष्मी बाई २ बम्बई ५७३

पिता के घर आने पर दूर से प्रसन्नता पूर्वक शोर मचाता हुआ पिता के पास आता है। पिता का अपनी सन्तान पर वडा स्नेह है। वह अपनी सन्तान की जितनी सेवा करता है, उसका वदला कभी नही चुकाया जा सकता। रामचन्द्र ने (रामा० २।१११।९-१०) महर्षि वसिष्ठ को कहा है कि—"माता पिता अपनी सन्तान के साथ व्यवहार करते हुए जो काम करते है, उसका प्रतिफल देना वड़ा कठिन है"। रामचन्द्र अपने पिता से जितना स्नेह करते थे, उससे अधिक उनके पिता उनसे करते थे। उन के वन जाने पर, दशरथ उनके अभाव में अधिक देर जीवित नही रह सके। अपनी सन्तान से अधिक प्रेम करने वाले हिन्दू पिताओ मे सम्भवतः प्रथम स्थान शुक्राचार्य का है। अपनी लाड़ली वेटी देवयानी के आग्रह से उन्होने अपने प्राणो को सकट में डाल कर कच को पुनरुज्जीवित किया, वृषपर्वा से झगड़ा किया, उसकी पुत्री शर्मिष्ठा को देवयानी की दासी वनाया, अपनी पुत्री के कहने पर उन्होने उसका विवाह राजा ययाति से किया। पिता को पुत्र की मृत्यु से असह्य दुख होता था। धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रो की मृत्यु पर वडा हृदय विदारक विलाप किया (महाभारत ९।२।३)। 'निश्चय ही मेरा हृदय वज्र से वना हुआ और वड़ा कठोर है, क्योकि पुत्रों की मृत्यु पर सहस्रधा विदीर्ण नही होता।' जब अन्धे हिन्दू पिताओ के पुत्रप्रेम की यह दशा है तो नेत्रवान् पिताओ के प्रेम की सहज में कल्पना की जा सकती है। वर्तमान काल के विदेशी प्रेक्षको ने इस वात को अनुभव किया है कि हिन्दू पिता अपनी सन्तान से वहुत अधिक स्नेह करते है[५९]।

क्या माता पिता अपनी औरस सन्तानो के स्नेह में कोई भेद रखता था? महाभारत में चन्द्रा नगरी के एक ब्राह्मण का कथन है कि कुछ लोगो के मत में पिता पुत्र से अधिक स्नेह करता है, दूसरो का यह विचार है कि वह कन्या से अधिक प्रेम करता है; किन्तु मेरे लिये दोनो समान है[६०]। रामायण मे कुछ भिन्न मत प्रकट किया गया है, इस के अनुसार पिता बड़े पुत्र को प्यार करता है और मा सवसे छोटे लडके को[६१]। शुन.शेप की कथा में हम

५९. फुलर स्टडीज आफ इण्डियन लाइफ पृ० १६२ डुबोइस-हिन्दू मैनर्स एण्ड कस्टाज पृ० ३०७ डुबोइस के मत में कि यह यह प्यार बेवकूफी की हद तक पहुंचा हुआ है।

६०. महा० १।१५९।३७

६१. रामा० १।६१।१९ प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः। मातृणां च कनीयांसस्ततस्माद्रक्ष्ये कनीयसम्।

देख चुके हैं कि उसका यह दुर्भाग्य था कि वह उसका मंझला बेटा था और इस कारण उसे बिकना पड़ा। वास्तव में इस विषय में कोई एक नियम बताना बड़ा कठिन है। 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के अनुसार माता पिता के सन्तान के प्रति प्रेम में विविध स्थितियां दृष्टिगोचर होती हैं। यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि प्राचीन भारत में पिता अपने स्नेह का प्रदर्शन पुत्र का सिर सूंघ कर किया करते थे, काव्यो तथा नाटको में 'शिरसि समाघ्राय, का बहुत प्रयोग हुआ है। रामायण के अनुसार (७।७१।७२) यह स्नेह की पराकाष्ठा है (स्नेहस्य परागति·)।

छठा अध्याय

माता

माता का महत्व—वैदिक युग मे माता—धर्मशास्त्रो मे माता की उच्च स्थिति—महाभारत में माता की महिमा —माता की अपेक्षा पिता की आज्ञा का पालन धर्मानुकूल है—स्मृतियो व काव्यो में माता विदुला—शकर की माता के प्रति श्रद्धाञ्जलि।

माता का महत्त्व—विवाह और परिवार द्वारा मानवीय जीवन की धारा को अविच्छिन्न बनाये रखने के लिये यद्यपि पिता और माता दोनो का सहयोग आवश्यक है, किन्तु सन्तान को नौ मास तक गर्भ मे धारण करने तथा प्रारम्भिक वर्षो मे उसका पालन पोषण करने से माता का सन्तान के साथ पिता की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। माता देहदात्री होने के साथ ज्ञानदात्री भी है। सन्तान पर बचपन में माता के अच्छे या बुरे प्रभाव अमिट रूप से अकित हो जाते है। वह बच्चों का पहला और सब से बडा गुरु है। माता का काम निर्माण करना है[1]। पहले बच्चा उसके रुधिर, हाड, मास से गर्भ में निर्मित होता है और जन्म लेने के बाद वह पालन पोषण से तथा उत्तम शिक्षा द्वारा उसका निर्माण करती है। नैपोलियन के शब्दो में बालक का भावी रूप माता की योग्यता पर ही अवलम्बित है।

वैदिक युग में माता—ऋग्वेद में अनेक स्थलो पर माता का वर्णन है (१।२४।१,७।१०१।३)। इसे सबसे अधिक घनिष्ठ और प्रिय सम्बन्धी माना गया है। भक्त परमात्मा के पालक पिता के रूप से सन्तुष्ट नही, वह उसे माता भी बताता है[2]। अथर्व वेद मे पुत्र को यह हिदायत दी गई है कि वह माता के अनुकूल मन वाला होकर रहे[3]। माता की उच्च-

---

१. माता शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में कोई निश्चित मत नहीं है। सैण्टपीटर्सबर्ग कोश में इसे अनुकरणमूलक मा शब्द से बना हुआ माना गया है, किन्तु वाचस्पत्य शब्दकल्पद्रुम आदि कोशों में निर्माण वाची मा धातु से इसकी व्युत्पत्ति की गई है।

२. ऋ० ८।९८।११। त्वं हि नः पिता वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ।

३. अथर्व ३।३०।२ मात्रा भवतु सम्मनाः।

स्थिति व प्रतिष्ठा इस वात से भी सूचित होती है, पिता के साथ उसका समास वनाते हुए उसे पहले स्थान दिया गया है (ऋ० ४।६।७)। तैत्तिरीय उपनिपद् के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्त कर लेने पर ब्रह्मचारी को उपदेश देता था कि माता की देवता की तरह पूजा करो। (मातृदेवो भव)। वैदिक युग में माताएँ अपनी लड़कियो को विवाह आदि के लिए अलकारो से सजाया करती थीं (ऋ० १०।१८।११)। माताएँ अपनी कन्याओ के विवाह के वारे में पर्याप्त अधिकार रखती थी। श्यावाश्व की इच्छा दार्भ की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने की थी। किन्तु कन्या की माता ने श्यावाश्व को दरिद्र ब्राह्मण समझकर उससे अपनी लडकी का विवाह पसन्द नही किया। वाद में कठोर तपस्या से ऋषि तथा धनी वनने पर ही श्यावाश्व का विवाह दार्भ की कन्या के साथ हुआ[४]।

धर्मसूत्रों में माता—धर्मसूत्रो में माता सम्वन्धी कर्त्तव्यो की विवेचना कुछ अधिक विस्तार से है। ऊपर यह वताया गया है कि माता शिक्षक है। पुराने सूत्रकारो में इस प्रश्न पर मतभेद था कि माता सर्वोत्तम गुरु है या आचार्य। गौतम धर्म सूत्र (२।५६) ने इस मतभेद का उल्लेख करते हुए कहा कि गुरुओ में आचार्य श्रेष्ठ है, किन्तु कुछ लोगो के मत में माता श्रेष्ठ गुरु है[५]।" माता के श्रेष्ठ गुरु होने में भले ही मतभेद हो; किन्तु गौरव की दृष्टि से सूत्रकारो ने उसे वड़ा ऊँचा स्थान दिया है। वसिष्ठ धर्म सूत्र (१३।४८) में कहा गया है कि आचार्य का गौरव दस उपाध्यायो से अधिक है, पिता सौ आचार्यो से अधिक महत्त्व सम्पन्न है और माता का गौरव एक हजार पिताओ से भी अधिक है[६]।

माता का इतना महत्त्व पूर्ण स्थान होने के कारण धर्म सूत्रो ने यह व्यवस्था की है कि माता की सेवा शुश्रूषा और भरण पोषण पुत्र का आवश्यक कर्तव्य है। कई वार ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है कि माता व्यभिचार आदि दोष से कलंकित अथवा अन्य कारणो से जातिभ्रष्ट या पतित हो; उस अवस्था में भी माता का भरण पोषण पुत्र का कर्त्तव्य है। पिता के पतित होने पर भले ही उस का भरण पोषण न किया जाए; किन्तु माता के पतित होने पर

---

४. बृहद्देवता ५।४१ अनु०।

५. आचार्यः श्रेष्ठः गुरूणां मातेत्येके।

६. वसिष्ठ ध० सू० (१३।४८) उपाध्यायाद्दशाचार्याः, आचार्याणां शतं पिता। पितुर्दशशतं माता गौरवेणातिरिच्यते। यह मनु० २।१४५, महा० आ० १३।१०५।१४, १२।१०८।१७ में भी पाया जाता है।

उसका भरण पोषण अवश्य किया जाना चाहिये। आप० ध० सू० (१।१०।२९।९) यह विधान करता है—माता ही पुत्र के लिए अधिकाश कार्य करती है। अतः उसकी सदा सेवा होनी चाहिये। उसके पतित होने पर भी उसका पालन उचित है। बौधा० धर्मसूत्र (२।२।४८) ने इस व्यवस्था में नाम मात्र का परिवर्तन किया है। वह कहता है कि पुत्र पतित माता का भरण पोषण करे, परन्तु उससे किसी प्रकार का भाषण या सलाप न करे। वसिष्ठ धर्मसूत्र (१३।४७) यह व्यवस्था करता है कि पतित पिता छोडा जा सकता है; किन्तु माता नही छोडी जा सकती[७]।

महाभारत में माता की महिमा—माता के विषय में महाभारत में जितने विस्तार से चर्चा है, उतनी शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ में हो। गौतम आचार्य को श्रेष्ठ गुरु मानता था। किन्तु महाभारतकार के मत में माता सब से श्रेष्ठ गुरु है (१।१९६।१६), उस जैसा कोई गुरु नही है (१२।१०८।१८)[८]। भीष्म के कथनानुसार माता पिता और गुरु की पूजा करना ही सर्वोत्तम धर्म है, इनका सम्मान करने वाले सब लोको मे आदर पाते है, अपमान करने वालो के कार्य निष्फल तथा इहलोक और परलोक बिगड़ जाते है। माता पिता अपकारी होने पर भी अवध्य है (१२।१०६ अ०)। गौतम ऋषि के पुत्र चिरकारी ने उसके पिता का वेष धारण कर आनेवाले इन्द्र को आत्मदान करने वाली अपनी माता अहल्या के वध[९] के लिये पिता से आदेश पाने पर मातृ महिमा का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—'माता जैसी (शीतल) छाया, आश्रय-स्थान, रक्षा स्थान या प्रिय वस्तु नही है। वह सन्तान को जन्म देने से जननी, उसके अगो के पुष्टि वर्धन से अम्बा और वीर सन्तानो को पैदा करने से वीरसू है। माता ही सब पीडितों का सुख है। उस के रहने पर सब सनाथ और न रहने पर अनाथ हो जाते है। माता से विमुक्त होने पर पुरुष वृद्ध और दुःखी होता है और उसके लिये जगत् शून्य हो जाता है[१०]।

---

७. आप० ध० सू० १।१०।२८।९ माता पुत्रत्वस्य भूयांसि कर्माण्यारभते। तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपि। बौ० ध० सू० २।२।४८ पतितामपि तु मातरं बिभृयादनभिभाषमाणः। वसिष्ठ ध० सू० पतितः पिता परित्याज्यः माता तु पुत्रे न पतति।

८. माता परमको गुरुः, नास्ति मातृसमो गुरु।

९ मातृवध महापाप है, मातृघाती सप्तम नरक में प्रविष्ट होता है (काशिका० ३।२।८८), भारतीय साहित्य में इसका केवल एक दृष्टान्त परशु

मातृस्नेह—महाभारत में कई स्थानो पर मातृस्नेह का उज्ज्वल चित्र खीचा गया है। इन में पुत्र से मिलने पर माता के नेत्रो मे आनन्दाश्रुओ का पूर उमड़ आता है और उस की छाती दूध से आर्द्र हो जाती है। अर्जुन के धनुर्विद्या के कौशल की प्रशंसा पर कुन्ती की नेत्र और छाती क्रमशः आंसुओ तथा दूध से क्लिन्न हो गये (१।१।३७।१३)। अपने कानीन पुत्र कृष्ण द्वैपायन को बर से देखने पर सत्यवती ने उनका वाहुओं से आलिगन किया, उस समय उसका दुग्ध इतना अधिक प्रसूत हुआ कि वह उससे नहा गई, उसकी आखो से आनन्दाश्रुबहाने लगे [११]। क्रोधभरी सुभद्रा अभिमन्यु की मृत्यु पर विलाप करते हुए मातृत्व की मधुर अनुभूति में उसके के शैराव का स्मरण करती हुई कहती है—हे वत्स! इधर आवो, इधर आओ। मैं तुम्हारे दर्शन से अतृप्त और हतभागिनी हूँ। तुम भूखे हो। मेरी गोद में चढ़ो और जल्दी से मेरे (दूध से) भरे हुए स्तनों का पान करो (७।७८।१६)

स्मृतियों में माता—स्मृति ग्रन्थो में माता को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। मनु० (२।१४५), याज्ञवल्क्य (१।३५) माता को गुरु और पिता से ऊँचा स्थान देते हैं। अत्रि ने (१५१) कहा है कि माता से वढकर कोई गुरु नही है (नास्ति मातुः परो गुरुः)।

कालिदास ने नारी जीवन की सार्थकता मातृत्व मे मानी है। कण्व शकुन्तला को विदा करते समय कहते हैं—तू पवित्र पुत्र को उत्पन्न करके मेरे विरह से उत्पन्न दुःख को भूल जाएगी (४।१८)। शकुन्तला नाटक की परिणति मातृत्व के साथ ही होती है। रघुवंश में (३।१-९) मातृत्व का बड़ा सुन्दर वर्णन है। पुराणो तथा तन्त्रों मे माता को ही आद्यशक्ति मानकर जगदम्बा, जगज्जननी आदि अनेक नामो से उसकी पूजा की गई है। हर्ष चरित मे प्रभाकर वर्धन की पत्नी देवी यशोवती चिता पर चढ़ने का निश्चय करती हुई कहती है 'मै वीर-माता की सन्तान हूँ वीर पुरुष की पत्नी हूँ और मैंने वीर सन्तान उत्पन्न की है (वीरजा, वीराजाया, वीर जननी च), तुम जैसे पुत्रो ने मेरे स्तनो का दूध पिया है'। वास्तव मे यशोवती को अपने वीरसू पुत्रो पर सच्चा अभिमान था।

---

११. संस्कारप्रकाश में उद्धृत पृ० ४७९ न मातापित्रोरन्तरं गच्छेत्पुत्रः। मातुरेवानुब्रूयात्। सा हि धारिणी पोषिणी च।

१२. महा० १।१०५।२६ परिष्वज्य च बाहुभ्यां प्रस्रवैरभ्यसिञ्चत। मुमोच बाष्पं दाशेयी पुत्रं दृष्ट्वा चिरस्य तु॥

विदुला—प्राचीन साहित्य में अपने पुत्रो को वीरता का पाठ पढाने का सर्वोत्तम उदाहरण सभवतः विदुला है । श्रीकृष्ण द्वारा सधिचर्चा का प्रयत्न निष्फल होने पर कुन्ती ने उन के हाथ पाण्डवो को पुराने इतिहास का ओजस्वी सदेश भिजवाया है (महाभा० ५।१३३-३६) सिन्धु देश के राजा से परास्त होकर जब सौवीर देश का राजा सजय सर्वथा निराश हो गया तो उसकी माता विदुला ने उसे वीर बनने तथा शत्रुओ का नाश करने के लिये प्रेरित किया । माता के रोमाचकारी, शक्तिसचारक वीरतापूर्ण वचनों से उत्साहित होकर संजय ने विरोधियो पर विजय पाई । महाभारतकार के शब्दो में जीत चाहने वाले को यह इतिहास अवश्य सुनना चाहिये; पौरुष का सचार करने वाले, कायर को भी वीर बनाने वाले इस इतिहास के श्रवण से माता वीर पुत्रो का जनन करती है ।

शंकर की श्रद्धांजलि—प्राचीन शास्त्रकारो ने नारी की घोर निन्दा है (दे०ऊ० पृ०)। किन्तु कई बार उसके साथ ही उन्होने नारी के पावनतम मातृरूप की बहुत स्तुति भी की है। 'द्वार किमेक नरकस्य, नारी' जैसा वाक्य लिखने वाले श्री शकराचार्य अपनी माता की मृत्यु के समय, उनके पास उपस्थित हुए। सन्यासी द्वारा निषिद्ध होने पर भी उन्होने माता का अन्तिम संस्कार अपने हाथ से किया (शकर दिग्विजय १५।२९-५५) । उस समय अपनी माता को श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हुए श्री शकराचार्य ने जो शब्द कहे हैं, वे बहुत ही सुन्दर हैं[१३]— प्रसूति समय की असह्य वेदना को जाने दीजिए। (खाने पीने की वस्तुओ में अरूचि, शरीर का सूखना, साल भर तक मलमूत्र से भरी खाट पर सोने आदि के कष्ट माता को सहने पडते हैं। गर्भ के तथा पालन के इन कष्टो में से एक कष्ट का भी बदला देने में भी जिसका उन्नत पुत्र समर्थ नही है, उस माता के लिए मेरा नमस्कार हो।' हिन्दू परिवार में माता सदैव ऐसी श्रद्धा का पात्र रही है।'

---

१२. महा० १३।२०।१४, १९। ६-७, ३८।१२-१९। मनु० ९।१८। बौद्ध घ० सू० २।२।२५-५३, मनु० ९।१४, रामा० अरण्य० काण्ड ४५।२९-३०, महा० १३।३८।५-६।

१३. आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा, नैरुच्ये तनुशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी। एकस्यापि न गर्भभारभरण क्लेशस्य यस्याः क्षमो दातुं निष्कृतिमुन्नतो ऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः ॥

सातवाँ अध्याय

पुत्र

पुत्र की कामना—पुत्र की अधिक आकांक्षा रखने के कारण—पितृऋण का विचार—पुत्र की महिमा—अपुत्रता का दुःख—पुत्रप्राप्ति के उपाय—देवपूजन—नरबलि—औषधोपचार—यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति—अन्य उपाय—पुत्र की तीव्र आकांक्षा के कारण—अमृतत्व की प्राप्ति—मनोवैज्ञानिक कारण—पुत्र के सुख—धार्मिक कारण—पुत्र के कर्त्तव्य—माता पिता की प्रतिष्ठा—इनकी सेवा—इनका भरणपोषण—आज्ञा पालन—वश्यता के कारण—कृतज्ञता का भाव—धार्मिक विश्वास—वर और शाप की शक्ति—आर्थिक कारण—वर्त्तमान युग में पुत्रो की वश्यता का ह्रास ।

परिवार का आरम्भ विवाह से होता है और पूर्णता सन्तति से। विवाह का एक मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पादन है, इसके विना मनुष्य अपूर्ण है[1] और सच्चे अर्थों में परिवार का निर्माण नही करता। निःसन्तान पति पत्नी साथ रहने वाला दम्पति मात्र है, सन्तति होने पर ही वे परिवार वनाते है। परिवार का अर्थ है—जिससे व्यक्ति घेरा जाय[2]। यद्यपि एक गृहस्थ घर की स्थावर सम्पत्ति, नौकर चाकरो से घिरा रह सकता है; किन्तु उसे वास्तविक रूप से घेरने वाली उसकी सन्तान ही होती है।

वैदिक युग से हिन्दू दम्पति सन्तति के लिये आतुर रहा है, । विवाह सस्कार के समय उनकी यह कामना होती है—'प्रजापति देवता हमारी सन्तान उत्पन्न करें[3]; यह अनेक सहिताओ, श्रौतसूत्रो और गृह्य सूत्रो में दोहरायी गयी है[4]। ऋ० १०।८५।३८ में पाणिग्रहण के समय अग्नि से यह याचना है—'हमें सन्तान के साथ पत्नी प्रदान कीजिये। अन्यत्र सोम देवता से

---

१. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१० दे० ऊ० पृ० १८

२. परिव्रियतेऽनेनेति शब्दकल्पद्रुम द्वितीय काण्ड पृष्ठ ६३-६४

३. ऋ० १०।८५।४३ आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः ।

४. अथर्व १४।२।४०; काठक सं० १३।१५,४०।१; मैत्रायणी सं० २।१३।२३ आयश्रौ० १४।२८।४, आपगृ० ३।८।१०

पत्नी के लिये उत्तम सन्तान पाने की कामना है[५]। सोम के अतिरिक्त इन्द्र, अग्नि, वृहस्पति आदि देवताओ से भी यही प्रार्थना की गई है कि वे पत्नी को प्रजा से समृद्ध करें (अथर्व० १४।१।५४)[६]। वैदिक साहित्य में अन्य द्रव्यो के साथ सन्तान की याचना वार वार की गयी है[६]। गर्भ को सुरूप और उत्कृष्ट वनाने तथा उसके विविध दोषो के निवारण के लिये अनेक प्रार्थनायें पायी जाती है[७]। कुछ गृह्यसूत्रो में गर्भरक्षण एक पृथक् संस्कार माना गया है (आश्वलायन गृ० १।१३।५-७)।

पुत्र की कामना—सन्तान की प्रवल अभिलाषा होते हुए भी, वैदिक एवं परवर्त्ती साहित्य में पुत्र के लिये तीव्रतम कामना अभिव्यक्त की गयी है। वैवाहिक आशीर्वाद में पुरोहित नवदम्पति को जीवन भर पुत्र पौत्रो के सा' खेलते रहने के लिये कहता है[८]। उस समय पत्नी के लिये यह शुभ कामना प्रकट की जाती थी कि वह उत्तम पुत्रो वाली (सुपुत्रा/ऋ०१।८५।२५) तथा वीरो को जन्म देने वाली हो[९]। पति से कहा जाता था कि वह दस पुत्र उत्पन्न करे (ऋ० १०।८५।४५)। अथर्व वेद (३।२३) में वीर प्रसूति के लिये प्रार्थना है और नारी को कहा गया है कि (पहले) पुरुष सन्तान पैदा करो, उसके वाद भी पुरुष सन्तान ही हो[१०]। ऋग्वेद में सोम (१।९१।२०) तथा त्वष्टा से (३।४।९) पुत्र मांगा गया है। अथर्व (६।८१।२) में मर्यादा (संभवतः पुरुष सन्तान देने वाली—मर्यान् ददाति) देवी से पुत्र का गर्भ धारण कराने की कामना है। ह्विटनी के भाष्यानुसार अन्यत्र (अथर्व० ६।८१।३) पुत्र प्राप्ति के लिये हाथ में वाधे जाने वाले परिहस्त (तावीज़) का संकेत है।

पुत्रप्राप्ति के लिये आशीर्वाद और प्रार्थनायें ही पर्याप्त नहीं थी; किन्तु अनेक विधियो का भी अवलम्वन होता था। तै० ब्रा० के मत में गर्भाधान का उद्देश्य

---

५. अथर्व० १४।१।४९, सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।

६. अथर्व० ७।३३।१, ७।८१।५, १८।३।१७, १९।७।१।१, १३।१।१९

७. अथर्व० ८।६, ६।७, ५।२५, २।२५।३, २०।९६।११-१६।

८. ऋ० १०।८५।४२ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वेगृहे। मि० अथर्व० १४। १।२२, आप० गृ० २।६।१०, शांखा० गृ० १।१६।१२।

९. ऋ० १०।८५।४४ वीरसूर्देवृकामा स्योना शंनो भव द्विपदे शं चतुष्पदे। मि० अथर्व० १४।२।१७, साम ब्रा० १।२।१७

१०. अथर्व० ३।२३।३-५ पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।

पुत्र की प्राप्ति (पुसे पुत्राय वेत्तवै) के लिये था (३।७।१)। आश्व० गृ० सू० ने इसके लिये एक मनोरजक विधि वतायी है (१।७।३-५); विवाह संस्कार में 'गृम्णामि ते सौभगत्वाय' मत्र के साथ वधू का पाणिग्रहण करते हुए, वर पुत्रप्राप्ति के लिये उसका अगूठा पकडे। विवाह के बाद चौथे दिन होने वाले चतुर्थी कर्म अथवा गर्भाधान संस्कार मे वीरपुत्र की प्राप्ति के लिये अथर्व वेद का एक मन्त्र पढ़ा जाता था[११]। निश्चित रूप से पुत्र पाने के लिये पुसवन संस्कार किया जाता था। अथर्व ६।११ मे इसका स्पष्ट उल्लेख है, गृह्यसूत्रो में इसके सम्वन्ध मे विस्तृत व्यवस्थाये है[१२]। इनसे यह स्पष्ट है कि वैदिक परिवार मे पुत्र प्राप्ति की अभिलाषा वहुत अधिक थी।

पुत्री की अपेक्षा पुत्र की अधिक आकांक्षा के कारण—सन्तान की सामान्य कामना होते हुए भी वैदिक युग में पुत्र की इतनी आकांक्षा क्यो रखी जाती थी? उसके लिए विशेष विधियो का अलवम्वन क्यो किया जाता था? इसके सामान्य कारणों पर आगे विशेष विचार होगा (पृ० २२६); यहा केवल पुत्री की तुलना में पुत्र के अधिक चाहे जाने के कारणो की विवेचना उचित प्रतीत होती है। आर्य जाति मे पुत्र पुत्रियो की अपेक्षा अधिक चाहे जाते थे[१३], क्योकि कन्यायें युद्ध मे योद्धा के रूप में तथा भोजन सामग्री के अन्वेषण और संग्रह में पुत्रो की अपेक्षा कम उपयोगी होती थी। आर्य योद्धा थे। वेदो में शत्रुओ के नाश की वहुत प्रार्थनाये है[१४]। विरोधियो का दलन पुत्रियो की अपेक्षा वीर पुत्रो

११. वही ३।२३।२ आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्वाण इवेषुधिम्। आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः। चतुर्थी कर्म के लिये दे० गोभिल गृ० २।५, आप० गृ० ८।१०-११।

१२. आश्व गृ० १।१३, शांखा० गृ० १।२०, पार० गृ० १।१४, गोभिल गृ० २।६।

१३. कुछ जातियों में कन्याओ के कम उपयोगी होने के कारण उनका पालन भार समझा जाता है और उनके वध की दारुण प्रथा भी प्रचलित होती है। चीन की इक्टा नमक मंगोल जाति कन्याओ का वड़ी क्रूरता से वध करती है। उनका वध इस उद्देश्य से किया जाता है कि अगले जन्म में उनकी आत्मा लड़के का रूप धारण करे (वं० ओडेमा १।४०१) कन्यावध के विवेचन देखिये आठवां अध्याय।

१४ अथर्व० ४।३१।३; ५।२०।१; ३।१९।७; ११।९।५; ११।१०।१, १८; १९।२८।३, १९।४६।५।

से सुचारु रूप में पूर्ण हो सकता था। अतः वैदिक आर्य अप
शत्रुओ के नाशक और विजेता पुत्रो की माग करते थे। ऋ०
भक्त की प्रार्थना है कि मेरे पुत्र शत्रुओं का वध करने वाले
शत्रुहनः)। ऋ० ५।२५।५-६ में कहा गया है कि अग्नि भ
हिंसित न होने वाला (अतूर्त) तथा ऐसा पुत्र प्रदान करता है,
का पराभव करता है[१५]। वैदिक साहित्य में पुत्र के अर्थ में
प्रयोग यह सूचित करता है कि प्राचीन समय में पुत्र का व
साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। यजुर्वेद (४।२३) में कहा गया है-
हैं (पुत्रो वै वीरः, मि० श० ब्रा० (३।३।१।१२)। वैदिक मं
यह कामना प्रकट की गई है कि पत्नी वीरो को जन्म देने वाली
८५।४४)। इन्द्राणी अपने को बडे अभिमान से वीरिणी (
अथर्व २०।१२६।९ मि० ६।३१) कहती है। वीरिणी होने से ही
है (ऋ० १०।८६।१०)।

योद्धा जातियां अपनी संख्या बढाने का बहुत यत्न करती
विजय पाने में सहायक होती है। यह तथ्य हिटलर के जर्मनी, मु
तथा वर्त्तमान रूस के इतिहास से स्पष्ट है, इन देशों में अविवा
कर लगाने की तथा अधिक सन्तानो को जन्म देने वाले माता पि
तथा सम्मानित करने तथा अनेक प्रकार की सुविधायें देने व्यव
युग में इस प्रकार की सुविधायें तो न थी; किन्तु पुत्रो के अधिक
दिया जाता था। उस समय विवाहसस्कार के समय पति से
जाती थी कि वह दस पुत्रो को उत्पन्न करेगा (ऋ० १०।८५
युग में इस पर बल देने को यह भी कारण था कि उस समय
(Mercenary soldiers) अथवा वर्तमान काल की
के भाव का जन्म न होने से पारस्परिक संघर्ष मे केवल अपने
रखा जा सकता था। अतः आर्य न केवल पुत्रियो की अपेक्षा पु
आकाक्षा रखते थे; अपितु वे पुत्रो को अधिक सख्या में भी चा

पुत्रों के अधिक चाहे जाने का एक कारण यह भी था कि कि
का पालन करने वाला, पिता की मृत्यु के बाद उसके वश को चला

---

१५. ऋ० ५।२५।५-६ अग्निस्तुविश्रवस्तमं तुविब्र
अतूर्तं श्रावयत्पतिम् पुत्रं ददाति दाशुषे ॥

कुटुम्ब की रक्षा करने वाला और उसके धार्मिक कार्यों का उत्तराधिकारी उसका पुत्र ही होता था, क्योंकि कन्यायें विवाह के बाद दूसरे कुल में चली जाती थी[१६] अतः वे पिता को वृद्धावस्था में सहायता नही दे सकती थी। पिता की मृत्यु के वाद उसका वश चलाने का कार्य नही कर सकती थी। पिता को अपने बुढ़ापे और उत्तराधिकार की उचित व्यवस्था के लिये पुत्र आवश्यक जान पड़ता था। कन्या के विना उसका कार्य चल सकता था; किन्तु पुत्र उसके लिए अनिवार्य था। अतः वह पुत्र के लिए अधिक आकाक्षा रखता था। उसकी प्राप्ति के लिए उपर्युक्त उपायो का अवलम्बन करता था।

पितृऋण का विचार—वैदिक युग के अन्त मे शनैः शनैः पुत्रप्राप्ति पितृऋण की कल्पना अनिवार्य धार्मिक कर्त्तव्य बन गया। शुक्ल यजुर्वेद १९।११ मे इसका संकेत है और ब्राह्मण ग्रन्थो में विस्तार से प्रतिपादन है। शतपथ ब्राह्मण (१।७।२।११) का मत है कि उत्पन्न होते ही ब्राह्मण देवताओ, ऋषियो, पितरों और मनुष्यो का ऋणी होता है। तैत्तिरीय संहिता (६।३।१०।५) ब्राह्मण के लिए केवल तीन ही ऋणो का उल्लेख करती है और कहती है कि ब्रह्मचर्य, यज्ञ और प्रजा द्वारा पुरुष क्रमशः ऋषि, देव और पितृऋणो से मुक्त होता है, जो पुत्रवान् यज्ञ करने वाला और ब्रह्मचर्य का पालक है, वह ऋण निर्मुक्त होता है। ऐतरेय ब्रा० (३३।१) पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए इसका पहला लाभ यह वताता है कि इससे वह अपने ऋण को उतारता है। वसिष्ठ० (१७।१) विष्णु (१५।४४) ने सम्भवतः ऐतरेय ब्राह्मण के ही श्लोक को उद्धृत किया है। शख (दाय० १६१) ने पुत्र द्वारा ऋणमुक्ति का निर्देश किया है। महाभारत शतपथ ब्राह्मण की तरह चार ऋणो का उल्लेख करता है और इनसे

---

१६. ऋ० १०।८५।२५ प्रेतो मुंचामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्। अथर्व सं० १४।१।१८।

१७. तै० सं० ६।३।१०।५ जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी। शत० १।७।२।११ ऋणं ह वै जायते योऽस्ति। स जायमान एव देवेभ्यः ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः। मि० ऐ० ब्रा० ३३।१। शबर (जै० सू० ६।२।३१) ने लिखा है—तैत्तिरीय संहिता के वचन में ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण वर्ण तक सीमित नहीं रखना चाहिए, इसे द्विजाति मात्र (ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय वैश्य) का भी वाचक समझना चाहिए।

मुक्त होने का विस्तार से वर्णन करता है (१।१२०।१५ अनु०)। मनु (९।१०६) यह मानता है कि ज्येष्ठ पुत्र के पैदा हो जाने से ही पिता अनृणी हो जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए इन ऋणों का उतारना आवश्यक था। जैमिनि ने इन ऋणों पर विचार करते हुए यह परिणाम निकाला था कि इनका उतारना ऐच्छिक नही अपितु अनिवार्य कर्त्तव्य है (६।२।३१)। मनु कहता है कि तीनो ऋणो को उतार कर ही मनुष्य अपना मन मोक्ष (सन्यास आश्रम) मे लगाए यदि वह ऋणों को विना उतारे मोक्ष (सन्यास) की आराधना करता है नरक गामी होता है (६।३।५, अप० पृ० ९६)। अगले दोनो श्लोको में भी यही वात दोहरायी गई है। संन्यास अन्तिम आश्रम है, इसमें प्रविष्ट होने से पहले सव कर्त्तव्य पूरे कर लेने चाहिएं। शास्त्रकार स्पष्ट रूप से यह विधान करते है कि तीनो ऋणो से विमुक्त होकर तथा पुत्र पैदा करके ही संन्यास ग्रहण किया जाय (बौधा २।११।३४, आपस्तम्ब २।२४।८)। इन ऋणो को इतना अधिक महत्व देने के मूल में सभवत· यह विचारधारा थी कि अपने माता पिता गुरु तथा समाज से लाभ उठाने वाले व्यक्ति का, सामाजिक हित की दृष्टि से यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वह उसका प्रतिफल समाज को अवश्य देवे। ऐसा न करनेवाला समाज को हानि पहुचाने वाला था। पुत्रोत्पादन समाज के लिये उपयोगी एव आवश्यक था; अतः इसे ऋण का रूप दिया गया।

पुत्र की महिमा—पितृऋण को अनिवार्य वनाने के अतिरिक्त शास्त्रकारों ने पुत्र के गौरव का खूव गान किया है। उनके प्रिय तथा वार वार दोहराये जाने वाले एक श्लोक में कहा गया है—(पुरुष) पुत्र से (स्वर्ग के) विविध लोको की विजय करता है, पौत्र से उन लोको का अनन्तकाल तक उपभोग करता है और पुत्र के पौत्र से (सव से ऊंचे) आदित्य लोक को प्राप्त करता है[१८]। वसिष्ठ ने दो पुराने वचनो को उद्धृत किया है—पुत्रवालो के अनन्त

---

१८. पुत्रेण लोकाम् जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्॥ वसिष्ठ धर्म सूत्र १७।५, विष्णु १५।४६ मनु० ९।१३७, शंख उ० दाय १३१, व्यक० १५९, विर० ५८५। बौधायन २।९।६ में कुछ भिन्न पाठ है—पुत्रेण लोकान् जयति पौत्रेणामृतमश्नुते, अथ पुत्रस्य पौत्रेण नाकमेवाधिरोहति॥ महाभा० १।७४।४० में पहले दो चरण वसिष्ठ सूत्र की भांति है किन्तु अन्तिम दो चरण इस प्रकार है—अथ पौत्रस्य पुत्रेण मोदन्ते प्रपितामहाः॥

(स्वर्ग) लोक है, पुत्रहीन के लिए कोई लोक नहीं है, ऐसा श्रुति में कहा गया है[१९]। शंख कहता है—जिसे अपने जीवन काल में पुत्र और पौत्र प्राप्त हो गये हैं, जिसका वेद (का स्वाध्याय) और यज्ञ अक्षुण्ण रूप से चल रहा है, स्वर्ग उसके हाथ में ही है[२०]। इसी सूत्रकार ने यह भी लिखा है कि पुत्र का मुख देखकर पिता स्वर्ग प्राप्त कर लेता है (दा० १६१)। याज्ञवल्क्य पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को क्रमशः (स्वर्गादि) लोक, अमरता और द्युलोक प्राप्त कराने वाला मानता है (१।७८)

पुत्र की महिमा को इतना अधिक बढाया गया कि उस के अभाव में यज्ञ, दान, तप आदि को व्यर्थ माना गया। शख इस विषय में, अर्थवाद की चरम सीमा तक पहुँच गया है—अग्निहोत्र, तीन वेद और सैकडो दक्षिणाओं वाले यज्ञ, ज्येष्ठ पुत्र के जन्म की सोलहवी कला के भी बराबर नही है[२१]। दूसरे शब्दो मे पुत्र की तुलना में यज्ञादि बिल्कुल नगण्य है।

दो धार्मिक विश्वासो के आधार पर भी पुत्रप्राप्ति को आवश्यक माना गया। पहला विश्वास तो यह था कि पुत्र पिता का नरक से उद्धार करता है। गोपथ ब्राह्मण के समय से हिन्दूसमाज मे यह धारणा प्रचलित है कि पुन् नामक नरक से पुत्र पिता की रक्षा करता है, अतः वह पुत्र कहाता है[२२]। यास्क ने पुत्र की इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है[२३]। अनेक धर्मग्रन्थो में तथा रामायण और महाभारत में इसी व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है[२४] पर पुत्र

---

१९. वसिष्ठ धर्म सूत्र १७।१२ अनन्ताः पुत्रिण.लोकाः, नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति श्रूयते। मि० महाभा० १।१२०।१९ एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः। न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम्॥

२०. शंख दा० १६१, विर० ५८४ पुत्रपौत्रप्रतिष्ठस्य बहुपुत्रस्य जीवतः। अक्षुण्णवेदयज्ञस्य हस्तप्राप्तं त्रिविष्टपम्॥

२१. शंख दा० १६१ अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः यज्ञश्च शतदक्षिणः। ज्येष्ठपुत्रप्रसूतस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

२२. गोपथ ब्रा० १११।१२ यच्च पुत्रः पुन्नामनरकमनेकशततारं तस्मात्पाति तत्पुत्रस्य पुत्रत्वम्॥

२३. निरुक्त २।११ पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद्वा पुन्नरकं ततस्त्रायते इति वा॥

२४. विष्णु धर्म सूत्र १५।४४, मनु० ९।१३८, रामा० २।१०७। १३;

नामक नरक का स्वरूप क्या है, इस पर अधिकांश शास्त्रकार मौन हैं मेधातिथि(९।१३८)ने इसे पृथिवी पर चतुर्विध भूतोत्पत्ति बताया है। यह 'मघ मूल विडौजा टीका' का सुन्दर उदाहरण है, इसमें पुत् की समस्या नहीं सुलझती केवल नन्द की व्याख्या इस पर प्रकाश डालती है। उसने नरक का अर्थ दुः किया है। पुत् एक विशेष प्रकार का दु.ख है। इससे रक्षा करने के कारण तन को पुत्र कहते हैं[२१]। पर नन्द इस दु.ख का स्वरूप नहीं बताता। इस पारलौकिक होने की अपेक्षा हमें ऐहिक होने की सभावना अधिक प्रतीत होती है शायद पिता के वृद्धावस्था के कष्टों को पुत् नाम दिया गया है, इसे दूर करने लिए पुत्र का होना अनिवार्य है।

पुत्र को अनिवार्य बनाने वाला दूसरा धार्मिक विश्वास यह था कि पितर की आत्मायें पुत्रो से पिण्ड और जल का तर्पण पाकर सुखी और सन्तुष्ट रहते हैं। पिण्डदान के लिए पुत्रों का होना आवश्यक है। श्री रामचन्द्र ने भरत क कहा था—मनुष्य को बहुत से गुणवान्, बहुश्रुत पुत्रों की इच्छा इस आश से रखनी चाहिए कि उनमें से कोई एक (पिण्डदान के लिए) गया जायगा[२६] आगे यह बताया जायगा कि निःसन्तान पिताओ को पितरो के पिण्डोदक दा की चिन्ता कितना व्यथित करती थी।

हिन्दू समाज में उपर्युक्त विश्वास प्रचलित होने से जब पुत्र को इतन अधिक महत्ता मिली तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि अपत्यहीनता बहुत बड़ दुःख समझा जाय; उसे दूर करने के लिए नाना उपायो का अवलम्बन किया जाय। वैदिक युग में इसे बहुत बुरा समझा जाता था। निर्धनता और निर पत्यता दोनो एक जैसे हेय और अवाञ्छनीय दु.ख माने जाते थे; ऋ० ३।१६।५

महाभा० १।७४।३९, बृहस्पति (विर० ५८४) में निम्न श्लोक पाया जाता है—पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा। हारीत (दा० १६१) में कुछ भिन्न पाठ हैं। पुन्नामा निरयः प्रोक्त-श्छिन्नतन्तुश्च नैरयः। तत्र वै त्रायते यस्मात् तस्मात् पुत्र इति स्मृतः॥

२५. नन्द, नरको दुःखं तस्य पुदिति नाम्नः तस्मात् पितरं त्रायते इति पुत्र इति।

२६. रामायण २।१०७।१३ एष्टव्या बहवः पुत्राः गुणवन्तो बहुश्रुताः। तेषां वै समवेतानामपि कश्चित् गयां व्रजेत्। विष्णु० ध० सू० ८५।७० महाभा० ३।८४।९७, मत्स्य पुराण २०७। ३९ में भी लगभग यही श्लोक है।

में अग्नि से प्रार्थना है कि हम इन दोनों दुःखो से पीड़ित न हों[२७]। अथर्ववेद (८।६।२५) मे निरपत्यता के सम्बन्ध में कहा गया है यह दु.ख हमारे शत्रुओ को ही पीडित करे । उस समय यह अभिशाप होता था कि तुम्हारी सन्तानें पुत्रो वाली न [२८]। स्त्री का एक मुख्य प्रयोजन सन्तानोत्पादन है [२९]। अतः वन्ध्या को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। शतपथ ब्रा० के मत मे अपुत्रा स्त्री निर्ऋति (नाश या महादु ख) से जकडी हुई होती है[३०] । महाभारत अपुत्रा को निरर्थक मानता है । इतना ही नही; वह जिस पदार्थ को देख लेती है, देवता उस पदार्थ की हवि नही स्वीकार करते; क्योकि वह उस की दृष्टि से दूषित है । ऐसी हवि वाले पुरुष के पितर तेरह वर्ष तक असन्तुष्ट रहते है[३१] । वन्ध्या स्त्री का अन्न इतना बुरा माना जाता था कि इसे स्वीकार करने वाला इससे अपनी आयु क्षीण करता था [३२]।

अपुत्रता का दुःख—पुत्र न होने पर पिता माता अत्यन्त दु.खी रहते थे। प्राचीन साहित्य में पुत्राभाव के सन्ताप से पीड़ित पुरुषो के उदाहरणो की कमी नही है । मान्धाता के पिता युवनाश्व ने निरपत्य होने के कारण राजपाट छोड़ दिया और जगल में जा बसे [३३]। दिलीप ने महर्षि वसिष्ठ के आगे अपना

२७. ऋ० ३।१६।५ मानोग्नेऽमतये मा वीरतायै रीरधः ॥

२८. वसिष्ठ ध० १७।३ प्रजाः सन्त्वपुत्रिणः इत्यभिशाप; ॥

२९. नारी जीवन के तीन मुख्य उद्देश्य थे—सन्तानोत्पादन धर्म का पालन तथा रति फल। कुछ शास्त्रकार पहले दो उद्देश्य ही मानते थे, उदा० आप ध० सू० (२।५।११) कहता है कि धर्म और प्रजा ही पत्नी ग्रहण के प्रयोजन हैं। विज्ञानेश्वर (१।७८) इस पर टिप्पणी करता हुआ कहता है कि रति फल लौकिक प्रयोजन है । मनु ने कहा है स्त्रियां बच्चे पैदा करने के लिए बनायी गई हैं (९। ९६, ९।२६) मि० नारद १२।१९—महाभारत में स्पष्ट रूप से रति और पुत्र दो प्रयोजन माने गये हैं (२।५।११२; ५।३९।६७) ।

३०. शत ब्रा० ५।३।१।१३ या वाऽपुत्रा पत्नी सा निर्ऋतिगृहीता ॥

३१. महाभा० १३।१२७।१३-१४ रजस्वला च या नारी श्वित्रिकाऽपुत्रिका च या। एताभिश्चक्षुषा दृष्टम् हविर्नाशन्ति देवताः। पितरश्च न तुष्यन्ति वर्षाण्यपि त्रयोदश ।

३२. वही १२।३६।२८ राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् । आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥

३३. वही ३।१२७ ।

दु.खड़ा रोते कहा था—मेरे बाद पिण्डदान के विच्छेद को देखने वाले मेरे पूर्वज स्वधा (पितृभोजन) के संग्रह में सलग्न हैं और पर्याप्त भोजन नहीं करते । वे यह बात सोचते हैं कि मेरे बाद उन्हें जल देने वाला कोई नही होगा, अत. वह मेरे दिये हुए जल को (दुःख के कारण) अपनी गरम सासों से कोसा बना कर पी रहे हैं[३४] । दशरथ ने पुत्र न होने पर अपने पुरोहित तथा अन्य ब्राह्मणों को कहा था—'मैं पुत्र के लिए विलाप कर रहा हूँ । मुझे कोई सुख नही है'[३५]। उज्जयिनी के राजा तारापीड़ की पत्नी विलासवती ने जब एक कथा में यह सुना कि अपुत्रो के लिए उत्तम लोक नही है तो वह गहरे शोक में डूब गई, घर आकर स्नान, भोजन आभूषण आदि का परित्याग कर शय्या पर आंसू बहाने लगी[३६] । कथासरित्सागर में पुत्र की चिन्ता से दु.खी रहने वाले शतानीक (२।१) आदि अनेक राजाओ का वर्णन है । पुत्र के न होने पर आज भी हिन्दू समाज में पिता माता दु.खी रहते हैं ।

पुत्रप्राप्ति के उपाय—किन्तु केवल दु खी रहने से अपुत्रता का निवारण नहीं होता । इसे दूर करने के लिए कठोर प्रयत्न करने पड़ते हैं। हिन्दू परिवार में इसके लिए उग्र तपस्या से लेकर जादू टोने तक के सभी उपाय बरते जाते रहे हैं। यहां केवल इनका संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा ।

देव पूजन—पहला उपाय देवताओ की आराधना है । हिन्दू समाज मे ऐसे विश्वासो की कभी कमी नही रही कि सब प्रकार का सुख देवताओ की कृपा से प्राप्त होता है, उनके अप्रसन्न तथा असन्तुष्ट होने पर हमें नाना दु.ख भोगने पड़ते हैं । यदि हम निरपत्यता के दु.ख से पीड़ित होते हैं तो इसका कारण इनमें से किसी की अप्रसन्नता है, हमें उसे प्रसन्न करना चाहिए । विलासवती के दु.खी होने पर राजा ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—देवि, जो बात दैव के आधीन हो, उसके लिए यहा क्या किया जाय ? अधिक रोने से क्या लाभ ? हम देवताओं के अनुग्रह के भाजन नही है । हमारा हृदय पुत्र के आलिगन रूपी अमृत के उपभोग के सुख का पात्र नही है । देवि, गुरुओं

---

३४. रघुवंश १।६६,६७,७१। किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम् । न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी ।। नूनं मत्तः परं वंश्याः पिण्डविच्छेददर्शिनः । न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधा संग्रहतत्पराः ।। मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया । पयः पूर्वैः स्वनिश्वासैः कवोष्णमुपभुज्यते ।

३५. १।८।८ मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम् ।

३६. कादम्बरी निर्णय सागर का अष्टम संस्करण पृ० १३८ अनु०

में भक्ति बढ़ाओ। देवताओं की पूजा दुगनी कर दो। ऋषि जनों की पूजा में उत्साह प्रदर्शित करो। ऋषि श्रेष्ठ देवता है। यत्न पूर्वक सेवा किये जाने पर अभीष्ट फलों और दुर्लभ वरों के भी दाता होते हैं। दूसरे ग्रन्थों से ऐसी बातें सुनी जाती है कि पूर्व काल में मगध में बृहद्रथ राजा ने चण्ड-कौशिक नामक मुनि के प्रभाव से श्रीकृष्ण के विजेता, अतुल भुजबल वाले, अप्रतिरथ जरासन्ध नामक पुत्र को प्राप्त किया। वृद्ध दशरथ राजा ने महामुनि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यश्रृग की कृपा से, विष्णु की बाहुओं के समान अप-राजित, समुद्रों के समान अक्षोभ्य चारपुत्रों को प्राप्त किया। दूसरे राजर्षियो ने भी तपोधन मुनियों की आराधना करके पुत्र दर्शन के अमृतस्वादन का सुख प्राप्त किया। महान् मुनियों की सेवा निश्चित फल देने वाली होती हैं'। विलासवती ने राजा के वचनो का पालन किया और उस समय से देवताराधन, ब्राह्मण पूजा और गुरुजनो की सेवा तथा अनेक प्रकार के उपचार करने लगी और अन्त में उसे पुत्र की प्राप्ति हुई[३७]। दिलीप की कथा यह बताती है कि गर्भस्तम्भ का कारण देवताओ द्वारा दिये गये शाप होते हैं। महर्षि वसिष्ठ ने अपनी दिव्य दृष्टि से दिलीप के अपुत्र होने का कारण जाना और राजा को कहा कि एक बार आप इन्द्रपुरी से लौट रहे थे, आपके मार्ग में कल्पतरु की छाया में सुरभि खडी हुई थी, उस समय आप ऋतुस्नात रानी के पास पहुँचने की जल्दी में थे, आपने प्रदक्षिणा योग्य सुरभि की प्रदक्षिणा नहीं की। उसने आपको शाप दिया—आप मेरा अपमान कर रहे हैं; मेरी सन्तान की आराधना किये बिना आपके सन्तान नही होगी। हे राजन् वह शाप न आपने और न ही आपके सारथि ने सुना; क्योंकि उस समय आकाश गंगा का प्रवाह उद्दाम दिग्गजो के कारण कोलाहल परिपूर्ण था। सुरभि की अवज्ञा से अपने अभीष्ट को रुका हुआ समझो। पूज्य व्यक्तियों की पूजा का व्यतिक्रम कल्याण का प्रतिबन्धक होता है। अब सुरभि की बेटी की सेवा करो, प्रसन्न होने पर वह तुम्हारी कामना पूरी करेगी। दिलीप ने नन्दिनी की आराधना से अभीष्ट फल पाया[३८]।

---

३७. कादम्बरी पृ० १३९ अनु०, ऋषि की सेवा से तथा उनके वर से पुत्रप्राप्ति के लिए दे० महाभा० ३।५३, निःसन्तान विदर्भ राज भीम ने दमन ऋषि को सेवा से प्रसन्न कर उनके वर से तीन पुत्र और एक पुत्री दमयन्ती प्राप्त की।

३८. रघुवंश।१।७५-८१ तथा दूसरा सर्ग। पद्म पु० पाताल खण्ड अ० २८ के अनुसार राजर्षि ऋतंभर ने गो सेवा से सत्यवान् नामक पुत्र प्राप्त किया।

नरबलि—सभी निःसन्तान व्यक्ति विलासवती या दिलीप की तरह अभीष्ट फल सुगमता पूर्वक नहीं प्राप्त कर सकते । वे असन्तुष्ट देवताओ का कोप दूर करने के लिए नरबलि तक की शरण ग्रहण करते हैं । उनके चित्त में यह धारणा होती है कि देवता ने वालक का मार्ग रोक रखा है, इस बाधा को दूर करने के लिए वलि दी जाय तो देवता वलि से प्रसन्न होकर रास्ते से हट जायगा । वालक प्राप्त करने के लिए वालक की ही वलि उत्तम समझी जाती है । अधिक सन्तान उत्पन्न करने के लिए अपने पुत्र की वलि बडी प्रभावजनक मानी जाती है। प्राचीन काल में इस का सर्वोत्तम उदाहरण सोमक है । (महाभा० ३।१२७) । इस धार्मिक राजा की सौ स्त्रिया होने पर भी बुढ़ापे में जन्तु नामक पुत्र हुआ । इस इकलौते बेटे को सब मातायें बड़े प्रेम से पालती थी । एक वार जन्तु को जब एक चींटी ने काटा और वह दर्द से चीखा तो सारी स्त्रिया अन्त.पुर में विलाप करने लगी । इस पर राजा ने दुःखी होकर कहा—एकपुत्रता को धिक्कार है, इससे अपुत्रता श्रेष्ठ है । प्राणियो के सदा दु.खपीड़ित होने से राजा ने इसे दूर कर सौ पुत्र पाने के लिये ऋत्विक् से सलाह की, उसने कहा कहा कि यदि जन्तु की वपा से आहुतिया दी जायें तो मातायें उसके धूएँ को सूंघकर आपके लिए महावलशाली पुत्र उत्पन्न करेंगी। आपका जन्तु उसी (अपनी पहली माता) में दुबारा उत्पन्न होगा[४०] । राजा के वैसा करने पर उसे सौ पुत्र प्राप्त हुए[४१] ।

अपने पुत्र का वलिदान बड़ा क्रूर कार्य है; किन्तु पुत्रो की आकांक्षा इस अचिन्तनीय कार्य को भी सम्भव बना देती है । ऐसी घटनाएँ अतीतकाल में हुई हों, सो बात नहीं । निरपत्यता या अधिक पुत्रो की आकाक्षा वर्तमान समय

---

३९. महाभा० ३।१२०।१२ धिगस्त्विहैकपुत्रत्वमपुत्रत्वं वरं भवेत् । नित्यातुरत्वाद्भूतानां शोक एवैकपुत्रता ॥

४०. यह विश्वास बहुत जातियों में पाया जाता है कि मरा हुआ बच्चा अपनी पहली माता द्वारा दूसरा जन्म ग्रहण करता है—हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैट-निटी १।२०९ अनु०, २१८, २२१, २२६ अनु०, २३० अनु०, २४२ अनु० ।

४१. यह कथा कुछ परिवर्तित रूप में कथा सरित्सागर में भी पाई जाती है, दूसरा लम्बक, तीसरी तरंग ताम्रलिप्ति के धन दत्त की कथा । एक पुत्र को वलिकर अनेक पुत्र पाने के लिए दे० हापकिन्स-फाउन्टेन आफ यूथ जर्नल आफ् अमे० ओरि० सो० २६।६

में भी हिन्दू समाज में औरस पुत्रो की बलि का कारण बनी रही है। पिछली शती तक इस प्रकार की वलियो के दृष्टान्त मिलते हैं। ब्रिटिश सरकार द्वारा नरबलि तथा आत्मघात गैर कानूनी वना दिये जाने के बाद, सार्वजनिक रूप से इस प्रथा का अन्त हुआ।

चेवर्स ने पिछली शती में लिखा था कि हिन्दूसमाज में यह विश्वास प्रचलित है कि नरबलि देने वाले को प्रचुर संख्या में सन्तान की उपलब्धि होती है[४२]। मैकनाटन ने सिलहट के पूर्व जयन्तियापुर में सन्तान के लिये कालीमाता को नरवलियां प्रदान करने का उल्लेख किया है[४३]। वर्त्तमान युग में हिन्दू समाज में औरसपुत्र की वलि का अत्यधिक कारुणिक वर्णन स्लीमैन ने किया है—"जव कोई स्त्री निःसन्तान होती है तो उसकी समझ में जिन देवताओ से सहायता मिल सकती है, वह उन सब की पूजा करती है, उन्हें भेंटें चढाती है। इस वात की प्रतिज्ञा करती है कि यदि उसकी इच्छा पूरी हुई तो वह अन्य वस्तुओं की भेंट चढायेगी। जव छोटी छोटी मनौतियो से कोई फल नही निकलता तो वह संकल्प करती है कि वह अपनी प्रथम सन्तान महादेव को समर्पित करेगी। जव उसे पुत्र मिल जाता है तो वह उसके तरुण होने तक अपने सकल्प को उससे छिपाये रखती है। युवा होने पर वह उसे यह सकल्प बताती है तथा इसे पूरा करने की प्रेरणा करती है। पुत्र उस समय से अपने को महादेव का भक्त समझता है। महादेव पहाड़ियो (मध्यभारत) के वार्षिक मेले पर वह ४००,५०० फीट ऊँची पहाडी के शिखर से अपने को गिरा देता है और पत्थरो पर गिरकर चकनाचूर हो जाता है[४४]।

---

४२. चेवर्स—ए मैनुअल आफ मैडिकल ज्यूरिस्प्रूडेन्स फार इंडिया पृ० ३९९।

४३. चेवर्स ने (पू० नि० पु० पृ० ३९७) बताया है कि पुत्र प्राप्ति के लिये नरबलि की प्रथा मैक्सिको में भी प्रचलित थी। टेज कूकन (Tez cucan) जाति के राजकुमार नेजाहुअल कुयोत (Nezahualcoyott) को विवाह किये अनेक वर्ष बीत गये, उसकी कोई सन्तान नहीं हुई। पुरोहितों ने कहा—यह देश के देवताओ की उपेक्षा का परिणाम है। इसका एकमात्र उपाय नरबलि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करना है (प्रेसकॉट-हिस्ट्री आफ दी कान्क्वैस्ट आफ मैक्सिको, पृ० ९१)

४४. स्लीमैन–रैम्बल्स एण्ड रिकलेक्शन्स १।१३२

औषधोपचार—नरबलि पुत्रप्राप्ति का कठिनतम व क्रूरतम् उपाय है। इसका अवलम्वन वहुत कम होता था। प्रायः अपुत्र माता पिता इस के लिये अन्य उपायो की शरण लेते थे। इन में औषधोपचार, मत्र (जादू टोना) तथा पुत्रेष्टि यज्ञ उल्लेखनीय थे।

निरपत्यता स्त्री और पुरुष दोनो के दोषो से उत्पन्न होती है। पुरुष की नपुंसकता तथा नारी का वन्ध्यात्व सन्तान में प्रतिवन्धक होता है। वर्तमान समय के स्त्री रोग विशारदो ने नपुसकता तथा विन्ध्यात्व के स्वरूप, प्रकार कारण और चिकित्सा के सम्वन्ध मे गम्भीर अनुसन्धान किया है[४५]। प्राचीन काल में भी इनके सम्वन्व मे पर्याप्त विवेचन हुआ था। अथर्ववेद में इन दोनो रोगों की चिकित्सा का निरूपण है। नपुसकता दूर करने के लिये कुष्ठ[४६], अपामार्ग[४७] औषधियो का प्रयोग वताया गया है। वाजीकरण का ४।४ तथा ६।१०१ में वर्णन है। ऋषभ तथा कुछ अन्य औषधियो को वन्ध्यात्व निवारण के लिये उपयोगी माना गया। (वही ३।२३)। अथर्व० ६।११ में शमी वृक्ष पर उगा हुआ पीपल पुत्रदाता माना गया है।। पारस्कर गृह्य सूत्र (१।१३) वन्ध्या होने की अवस्था में सिंही श्वेतपुष्पी का रस पत्नी की नासिका में डालने का सकेत करता है। वाद के चिकित्सा ग्रन्थो में इन रोगों के निवारण के लिये वीसियो योग और औषधिया वतायी गयी है।

ओषधियो के अतिरिक्त पुत्र प्राप्ति के लिये मत्र (जादू टोने) पर भी गहरा विश्वास था। वौधा० (२।९।१२) स्पष्ट रूप से यह सलाह देता है—औषध और मन्त्र की सहायता से प्रजा उत्पन्न करे। प्राचीन काल से इस कार्य के लिये मन्त्र का आश्रय लिया जाता रहा है। शतवार (अथर्व० १९।३६) तथा औदुम्वर (वही १९।३१) मणियों का वांधना वीर पुत्रो को देने वाला होता है। महाभारत तथा पुराणो की अनेक कथाओ में जादू से पुत्रों की प्राप्ति वतायी गयी है। कुछ वृक्षों के फल खाने या इन के साथ आलिगन मात्र से ही स्त्रियां पुत्रो का प्रसव करती है। उर्वशी द्वारा उत्पन्न पुरूरवा के ज्येष्ठ पुत्र आयु ने तपस्या

---

४५. वान डिवैल्ड—फर्टिलिटी एण्ड स्टैरिलिटी इन मैरिज। इस विषय के संक्षिप्त वर्णन के लिए दे० नार्मन हेयर—इंसाइक्लोपीडिया आफ सैक्शुअल नॉलिज, पृ० २५१ से २६५ तथा पृ० २८६-२९५

४६. अथर्व ५।४।१० कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम्।

४७. वही ४।१७।७

द्वारा दत्तात्रेय को प्रसन्न कर एक फल प्राप्त किया। इस के भक्षण से उसकी रानी इन्दुमती का नहुष नामक पुत्र हुआ (पद्म भू खण्ड १०३)। निःसंतान बृहद्रथ ने चण्डकौशिक द्वारा अभिमन्त्रित आधे फल के दो भाग कर, उन्हे अपनी दोनो रानियो को दिया और इन से जरासन्ध का जन्म हुआ (महाभा० २।१७। २२-५१ मत्स्य० ५०)। फल भक्षण द्वारा सन्तान प्राप्ति का विश्वास आज तक हिन्दू समाज मे प्रचलित है [४८]। वृक्ष के आलिंगन से पुत्रोत्पत्ति के उदाहरण जमदग्नि तथा विश्वामित्र हैं। भृगु ने सत्यवती तथा उस की माता को पीपल (अश्वत्थ) और गूलर (उदुम्बर) के आलिगन तथा चरुओ से पुत्र प्राप्ति का वर दिया [४९]। सत्यवती की माता द्वारा पेडो तथा चरुओ की हेराफेरी से उस का पुत्र विश्वामित्र क्षत्रिय होता हुआ भी ब्राह्मण बना और सत्यवती का पुत्र जमदग्नि यद्यपि ब्राह्मण था, किन्तु पोता परशुराम क्षत्रिय स्वभाव वाला हुआ (महाभा० ३।११५। ३१ अनु०) [५०]। आजकल भी हिन्दू समाज की अनेक जातियो में यह विश्वास पाया जाता है [५१]।

यज्ञ से पुत्र प्राप्ति—यह विचार बहुत प्राचीन है। शत० ब्रा० (४।४।२।९)

---

४८. क्रुक—पापुलर रिलीजन एण्ड फाक लोर आफ नार्थर्न इंडिया १। २२५ अनु०। अन्य जातियों में इस विश्वास के लिये देखिये-हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैटर्निटी १।४ अनु०।

४९. महाभा० ३।११५।३५ ऋतौ त्वं चैव माता च स्नाते पुंसवनाय वै। आलिंगेतां पृथग्वृक्षौ साऽश्वत्थं त्वमुदुम्बरम्॥ अथर्व वेद में शमी पर आरूढ़ पीपल का सेवन पुत्रोत्पादक माना गया है। आयुर्वेदिक ग्रन्थो में पीपल पुत्र-दाता कामवृक्ष है (अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र पृ० २१७) सम्भवतः बहुत जल्दी सब स्थानों पर बहुत शीघ्र उग आने तथा खूब बढ़ने के कारण यह उर्वरता का प्रतीक समझा गया, इसीलिये इसके रस का सेवन पुत्र देने वाला माना गया है (काम शास्त्र जन्म वन्ध्या चिकित्सा २४)। हिन्दू समाज में पीपल की प्रतिष्ठा का शायद एक कारण यह भी हो।

५०. मि० वही ३।४।२१ अनु०, महाभा० १२।४८ में केवल मन्त्र सम्पन्न चरु का उल्लेख है। मि० वायु० २।४, हरिवंश १।२७, ब्रह्म० १०, विष्णु० ४।७, भागवत ९।१५, आरण्यक जातियो में वृक्ष के आलिगन से पुत्रोत्पत्ति के लिये देखिये हार्टलैण्ड पूर्व नि० पु० १।१२७

५१. क्रुक—पू० नि० पु० २।९९, १०२, १२२।

के अनुसार यज्ञ से सन्तानें अवश्य पैदा होती हैं (यज्ञाद्ध प्रजा प्रजायन्ते)। ब्राह्मण ग्रन्थो में अनेक ऐसे प्राचीन राजाओं का उल्लेख है, जिन्होने यज्ञ द्वारा पुत्र पाये थे। तै० सं० (५।६।५।३) में वर्णन है कि पर आट्णार, कक्षीवान् औशिज, वीतहव्य श्रायस, त्रसदस्यु पौराकुत्स्य ने अभिजित् यज्ञ की अग्नि का आह्वान किया और प्रत्येक ने सहस्त्रो पुत्र प्राप्त किये। का० सं० (२२।३) पञ्चविंश ब्रा० (२५।१६।३) जैमिनीय उप० ब्रा० २।६।११ में यज्ञ द्वारा पुत्र पाने वाले राजाओं का उल्लेख है। दशरथ ने यज्ञ द्वारा चार पुत्र प्राप्त किये थे (रामा० १।१६)। स्कन्द पु० (३।१।१५) के अनुसार केकय वंशी धर्म सख को भी इसी प्रकार पुत्र मिले थे। द्रौपदी और धृष्टद्युम्न यज्ञीय अग्नि से प्रादुर्भूत हुए थे (महाभा० १।१६९।३९-५६)

पुत्र प्राप्ति के लिये क्या कोई विशेष यज्ञ होता था या सामान्य होम में पुत्र निमित्तिक कुछ आहुतिया डाली जाती थी? प्रायः यह समझा जाता है कि पुत्रेष्टि नामक कोई विशेष यज्ञ होता था। किन्तु यदि वास्तव में कोई ऐसा विशेष यज्ञ था तो हमें उसकी कोई विस्तृत सूचना प्राचीन ग्रन्थो से नही मिलती। केवल आश्वलायन श्रौत सूत्र (२।१०।८-१८) में उसका अत्यन्त सक्षिप्त और अस्पष्ट उल्लेख है। दशरथ की पुत्रेष्टि इस विषय का सब से उदाहरण प्रसिद्ध है; किन्तु इसे ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिये अश्वमेध यज्ञ किया था[५२]। ऋष्य शृंग को अश्वमेध के लिये बुलाया गया। पहले अश्वमेध यज्ञ किया गया (१।१४), उसके बाद राजा के कहने से ऋषि ने अथर्ववेद के मन्त्रो से इष्टि की[५३]। यज्ञीय अग्नि में से एक पुरुष दिव्य पायस (खीर) का प्याला लेकर निकला। दशरथ की रानियां इस पायस के भक्षण से गर्भवती हुईं (१।१६)[५४]।

---

५२. रामा० १।८।८ मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्। १।१२।८९ तदर्थं हय मेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।

५३. रामा० १।१५।२-३ अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्॥ यहां यद्यपि विधानतः शब्द का प्रयोग है, किन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि आश्व० श्रौतसूत्र के अतिरिक्त इसकी विधि का कहीं उल्लेख नहीं है।

५४. यह पायस सामान्य खीर नहीं होगी। संभवतः इसमें अनेक ऐसी वनस्पतियों का रस भी होगा, जो योनि सम्बन्धी दोषों को दूर करने वाला हो।

अन्य उपाय—निरपत्यता दूर करने के उपायो का अन्त नही है। इस सम्बन्ध मे विभिन्न प्रकार के अन्ध विश्वास प्रचलित है। इन के अनुसार पुत्र की कामना से बीसियों विचित्र अनुष्ठान किये जाते हैं। बाण ने इनका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। "विलासवती ने (पुत्रप्राप्ति के सम्बन्ध में) जो कुछ भी कही से सुना, वह सब गर्भ की इच्छा से किया। उसने महान् क्लेश की भी परवाह न की। वह पवित्र वस्त्र धारण कर तथा व्रत रखते हुए, चण्डिका के मन्दिर में हरी कुशाओ से ढकी हुई, नुकीले कीलों वाली शय्याओ पर सोती थी, पवित्र जल से भरे हुए सोने के घडो से गौओं के नीचे नहाती थी। ये घड़े नाना प्रकार के (मागलिक) कुसुमो और फलो से युक्त और (वट आदि) क्षीरस्रावी वृक्षो के पत्तो से चिह्नित और रत्न युक्त होते थे, इन गौओ को बूढ़ी ग्वालिनों द्वारा मागलिक (तिलक आदि) और उत्तम चिह्नो से अकित करवा लेती थी। रानी प्रति दिन उठ कर सब रत्नो से युक्त, सोने से बने तिलो से भरे पात्र ब्राह्मणो को दान करती थी। महातान्त्रिक द्वारा खीचे हुए मण्डल के भीतर बैठकर, नाना बलिदानो से दिग्देवताओ को प्रसन्न कर, कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रियो में चौराहे पर पुण्यस्नान की विधि करती थी। सिद्धो के मन्दिरो में देवताओ के लिए विचित्र मनौतिया की जाती थी, उसने इन मन्दिरो का भी सेवन किया। वह पास के ब्राह्मी आदि माताओं के देवालयो में भी गई। उसने नागकुलो के प्रसिद्ध सरोवर मे स्नान किया[५५]। पीपल आदि की पूजा और प्रदक्षिणा करके उनकी वन्दना की, अखण्डित चावल और दही को चादी के बर्तन मे रख स्नान कर, उसने कम्पमान ककण वाले अपने दोनों हाथों से कौओ को बलि प्रदान की। प्रतिदिन असंख्य फूलो, धूप, विलेपन, अपूप (मालपुए), और पीसे तिल से बनाये अन्न (पलल) तथा खीर से और बलि की खीलों से वह दुर्गा की पूजा करती थी, सिद्ध कहलाने वाले दिगम्बर

इन दोषो के दूर होने पर रानियां गर्भवती हुई। दे० बालकाण्ड (स्वाध्याय मंडल का संस्करण पृ० ४३६-३७)

५५. मि० महाभा० ३।८३।५८ अम्बुमती के मातृतीर्थ में स्नान करने से प्रजा और महाधन की प्राप्ति होती है। मातृतीर्थं च तत्रैव यत्र स्नातस्य भारत। प्रजा विवर्धते राजन्ननन्तां श्रियमश्नुते। ३।८३।१९० के अनुसार नियमपालक ब्रह्मचारी यदि कन्याश्रम में तीन दिन का उपवास करता है तो उसे १०० दिव्य कन्यायें और स्वर्ग का फल मिलता है।

साधुओं को भक्ति युक्त मन से स्वयं जाकर भिक्षा निवेदन करती हुई प्रश्न पूछती थी; ज्योतिषियो के आदेशो का बहुत मान करती थी; निमित्त जानने वालों के पास जाती थी, शकुन जानने वालो के प्रति सम्मान दिखाती थी। अनेक वृद्धो की परिपाटी में चले आ रहे मत्रशास्त्र के रहस्यो को ग्रहण करती थी। पुत्र देखने के लिए उत्सुक (रानी) के दर्शन के लिए आए ब्राह्मणो से वेदपाठ करवाती थी। निरन्तर कही जाने वाली पुण्य कथाये सुनती थी। जादू (मत्र) वाली ऐसी टोकरिया उठाती थी, जिनके अन्दर गोरोचना से लिखा हुआ भोजपत्र होता था। रक्षा ककण (तावीज) के रूप मे ओषधियो के सूत्र बाधती थी। इसके नौकर देवताओ की बात (उपश्रुति)[५६] सुनने के लिए निकलते थे, रानी उन द्वारा कहे लक्षणो को ग्रहण करती थी। आचार्यो को स्वप्न मे देखी अद्‌भुत बातें सुनाती थी। आगनो में प्रति दिन रात के समय गीदडियो को बलि देती थी[५७]।

किन्तु जब देवताओ की आराधना, ऋषियो और गुरुजनो की पूजा सब प्रकार का मत्र तत्र, जादू टोना, दवा दारू तथा यज्ञादि के अनुष्ठान विफल हो जायें तो क्या किया जाय ? इस अवस्था मे शास्त्र पुरुषो को दूसरे विवाह का अधिकार प्रदान करते हैं[५७क] तथा औरस पुत्र के अभाव मे दत्तक आदि गौण पुत्रो से काम चलाने की सलाह देते हैं। उनकी यह सम्मति थी कि अपुत्र पुरुष को जिस किसी तरह हो प्रयत्न पूर्वक पुत्र बनाना चाहिए[५८]।

पुत्र की तीव्र आकांक्षा के कारण—पुत्र बनाने की इस आतुरता के प्रधान कारण अमृतत्त्व की प्राप्ति, मनोवैज्ञानिक भावनाये, पुत्र द्वारा मिलने वाले सुख और धार्मिक विश्वास है।

---

५६. रात को बाहर निकल कर सुना जाने वाला शुभाशुभ वचन उपश्रुति या देवप्रश्न कहलाता है। देवता मनुष्यो द्वारा बहुत सी बातें कहलाते हैं, इनसे जटिल प्रश्नो का निर्णय किया जाता है। यूनान में यह प्रथा Oracle के रूप में प्रचलित थी।

५७. काद० पृ० १४४-४६

५७क. गौतम ध० सू० १८।४-१४ बौधा० २।४।९-१०, वसिष्ठ १७।५६ मनु० ९।५९, याज्ञ० १।६८-६९ दे० ऊ० पृ० ११२

५८. अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डदान क्रियाहेतो र्नामसंकीर्तनाय च। दमी० ५, बालम्भट्टी २।१३५ में यह श्लोक मनु, यम बृहस्पति और व्यास के नाम से उद्धृत है।

(क) अमृतत्त्व की प्राप्ति—पहले यह बताया जा चुका है कि मनुष्य मरण धर्मा है; किन्तु विवाह परिवार और सन्तान द्वारा उसने अपने को अमर बना लिया है। आत्म सरक्षण की सहज भावना से प्रेरित होकर वह प्रजा की आकाक्षा रखता है, पुत्रो द्वारा अपने वश का विस्तार करता है और अमर बनता है। तै० ब्रा० के शब्दो मे सन्तान का उत्पादन ही अमरता है[५९]। अतः वैदिक युग मे प्रार्थना की गई थी कि हे अग्ने, मै सन्तान द्वारा अमृतत्त्व का उपभोग करूँ[६०]।

यद्यपि कुल का विस्तार कन्याओ से भी होता है किन्तु ऊपर बताया जा चुका है कि वशवर्धन आदि उद्देश्य पुत्र पुत्री की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह पूर्ण करता है। पिता मर जाता है किन्तु पुत्र द्वारा उसका वश चलता रहता है, वही उसका नामलेवा और पानीदेवा होता है। दिलीप ने नन्दिनी से अनन्त कीर्त्ति वाले वशकर्त्ता पुत्र की माग की थी[६१]। आत्म सरक्षण की सहज बुद्धि उनमे वशरक्षा के भाव को जागृत रखती है और पुत्र की प्राप्ति को अनिवार्य बनाती है।

मनोवैज्ञानिक कारण—आत्म सरक्षण की भावना से माता पिता के चित्त में पुत्र प्राप्ति के लिए प्रबल अभिलाषा उत्पन्न होती है। प्रकृति ने स्त्री की शारीरिक रचना मातृत्व की दृष्टि से की है, नारी का उच्चतम विकास माता बनने मे है। पिता भले ही अपने नाम को बनाये रखने के लिए पुत्र की इच्छा करे, किन्तु नारी के लिए तो यह प्रकृति सिद्ध अभिलाषा है कि वह सन्तान चाहे। विलासवती के उदाहरण से पुत्र के लिये माता की उत्कट इच्छा पहले स्पष्ट की जा चुकी है। पुरुष मे आत्म सरक्षण आदि पूर्वोक्त भावनाओ के कारण पुत्र की आकाक्षा स्वाभाविक है। वह यह नही चाहता कि उसके परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति, जमीन जायदाद आदि का मृत्यु के बाद कोई दूसरा उपभोग करे। पुत्र आत्मरूप है, पिता उसे देह का अपना अंश मानता है। पुत्र के उपभोग मे वह यह समझता है कि इस सम्पत्ति का मै ही उपभोग कर रहा हूँ

---

५९. तै० ब्रा० १।५।५।६ प्रजामनु प्रजायसे तदु ते मर्त्यामृतम्।

६०. ऋ० सं० ५।४।१० प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्। मि० तै० सं० १।४।४६।१ वसि० स्मृ० ध० सू० १७।४ बौधा० २।६।११।३३।

६१. रघु० २।६४ वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्त्ति सुदक्षिणायां तनयं ययाचे॥

पुत्र के अभाव में उसे अवश्य चिन्ता होती है और वह चाहता है कि उसका पुत्र अवश्य होना चाहिए ।

पुत्र द्वारा मिलने वाले सुख—कालिदास ने कहा है कि शुद्ध वंश में उत्पन्न हुई सन्तति इस लोक में और परलोक में सुख देने वाली होती है[६२]। ऐहिक सुखो में माता पिता को बच्चो से मिलने वाले सुख का दर्जा बहुत ऊँचा है। बच्चे सुख का मूल है। भवभूति ने इन्हे आनन्द की ग्रन्थि कहा है[६३]। वे अपनी मनोरञ्जक क्रीडाओ से माता पिता के चित्त को आह्लादित करते है, अपने स्पर्श-सुख से उन्हें अद्भुत आनन्द प्रदान करते हैं। अपुत्र दम्पति इन सुखो को पाने के लिए उत्कठित रहते हैं। नि.सन्तान राजा तारापीड़को बडी उत्सुकता थी कि कब उसका बच्चा पृथ्वी की धूल से धूसरित इधर उधर घूमता हुआ घर के आगन को अलकृत करेगा, कब वह घर के राजहसों को पकडने के लिये आता हुआ उसे पकडने के लिए दौडती हुई नौकरानी (दाई) को दौडवा दौड़वा कर थका देगा, कब वह माता के पैरो को रंगने से बची हुई मेहदी से बूढे नौकरों के मुह रगेगा, कब वह खेलता हुआ दरबार में प्रवेश करेगा, हजारो राजा उसके लिए हाथ फैलायेंगे किन्तु वह मेरे पास ही दौडा आयेगा। इन्ही मनोरथों को सोचते हुए और चित्त में सतप्त रहते हुए राजा की रात्रिया बडे कष्ट से बीतती थी। निरपत्यता से उत्पन्न शोकाग्नि उसे दिन रात जलाती थी[६४]। चपल बालको की क्रीडाओ से कौन मुग्ध नही होता ? दुष्यन्त ने सर्वदमन (भरत)की बालक्रीडाओ को देख कर कहा—मैं दुलार से बिगडे इस बच्चे को बहुत चाहता हूँ और फिर ठडी आह भर कर बोला—वे व्यक्ति सौभाग्यशाली हैं, जो मुसकरा कर अपने छोटे छोटे दातों को दिखाते हुए, तोतली बोली से मनोहारी वचनो वाले, गोद में बैठने के शौकीन पुत्रो को उठाते हैं और उनके शरीर की धूल से मलिन होते हैं[६५]।

---

६२. रघुवश १।६९ संततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।

६३. उत्तर राम चरित ३।१७ अन्तःकरणतत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्। आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति बध्यते ॥

६४. कादम्बरी पृ० १४२-४३

६५. अभिज्ञान शाकुन्तल ७।१७ आलक्ष्यदन्तमुकुलाननिमित्तहासैरव्यक्तवर्णरमणीयवचःप्रवृत्तीन्। अंकाश्रयप्रणयिनस्तनयान्वहन्तो धन्यास्तदंगरजसा मलिनीभवन्ति ॥

बालक के स्पर्श से माता पिता को अत्यधिक सुख मिलता है। शकुन्तला ने दुष्यन्त को कहा था—छोटे पुत्र के आलिंगन से जैसा सुख मिलता है, वैसा आनन्द (कोमल) वस्त्रो , स्त्रियो और जलो के स्पर्श से नही मिलता। जिस प्रकार दोपायो मे ब्राह्मण श्रेष्ठ है, चौपायो मे गौ वरिष्ठ है, बडे लोगो में गुरु उत्तम है, इसी प्रकार स्पर्शवालों मे (अर्थात् अपने स्पर्श से सुखदाताओं में) पुत्र श्रेष्ठ है। इस लोक में कोई स्पर्श पुत्रस्पर्श से अधिक सुख दायक नही है[६६]। चारुदत्त ने प्राणदण्ड के लिए वध्यस्थल पर जाते हुए अपने पुत्र का आलिंगन करते हुए कहा था—धनी और निर्धन दोनो के लिए समान रूप से यह स्नेह का सर्वस्व है। यह हृदय को चन्दन और उशीर (खसखस) के विना ही ठडक और शान्ति पहुँचाने वाला है[६७]। सक्षेप मे इतना कहना पर्याप्त है कि बालक अक्षय आनन्द का स्रोत है[६८]।

बालक के उपर्युक्त सुख पुत्र पुत्री दोनो से समान रूप से प्राप्त होते हैं। किन्तु युवा होने पर पुत्र माता पिता के लिए अधिक सुख का कारण होता है और कन्या चिन्ता तथा दु ख का हेतु बनती है (दे० अगला अध्याय) ।

युवा पुत्र आर्थिक उत्पादन में पिता को सहायता प्रदान करता है और माता पिता की वृद्धावस्था मे उनका पोषण करता है। आगे पिता पुत्रो के अधिकारो की विवेचना के प्रकरण में बताया जायेगा कि प्राचीन काल में एक ऐसा भी युग रहा है, जब पुत्र की कमाई पर पिता का पूरा स्वत्व था (मनु० ८।४१६) सयुक्त परिवार के आर्थिक पहलू के प्रसग मे यह कहा जा चुका है कि समाज की आरम्भिक अवस्था में परिवार आर्थिक दृष्टि से एक इकाई होता है। परि-

---

६६. महाभा० १।७४।५७-५९ न वाससा न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः। शिशोरालिंग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः। ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठा चतुष्पदाम्। गुरु गंरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः। पुत्रस्पर्शात् सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥

६७. मृच्छकटिक १०।२३ इदं तत्स्नेहसर्वस्व सममाढ्यदरिद्रयोः। अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥

६८. सुभाषितरत्नभाण्डागार पृ० ८४ आनन्दस्रुतिरात्मनो नयनयोरन्तः सुधाभ्यञ्जनम्, प्रस्तारः प्रणयस्य मन्मथतरोः पुष्पं प्रसादो रतेः। आलानं हृदयद्विपस्य विषयारण्येषु संचारिणो, दम्पत्योरिह लभ्यते सुकृततः संसारसारः सुतः ॥

वार के सदस्य इसकी सम्पत्ति बढाने का पूरा प्रयत्न करते हैं। इस में पुत्रों का सहयोग सब से अधिक होता है। उच्च वर्ग मे वृद्धावस्था मे माता पिता सांसारिक स्थिति और पालन पोषण के लिए पुत्र पर अवलम्बित होते हैं। प्राचीन वाङ्मय में पुत्र को लोककृत् संभवत. इसी दृष्टि से कहा गया है[६९]। योग्य पुत्र अपने उत्तम कार्यों से माता पिता का नाम उज्ज्वल करते हैं, उनके गर्व और गौरव का कारण बनते हैं।

धार्मिक कारण—शास्त्रकारो ने सभवतः सामाजिक हित को दृष्टि में रखकर पुत्र प्राप्ति को एक धार्मिक कर्त्तव्य बनाया। समाज जिन नियमो और व्यवस्थाओं से टिका हुआ है, वे सब धर्म हैं। सन्तानोत्पादन समाज की स्थिति और विस्तार का मुख्य हेतु है। अत' यह एक महान् धर्म है, इसका पालन न करने वाला पापी होता है। महाभारत मे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो पुरुष सन्तान उत्पन्न नही करता, वह अधार्मिक होता है[७०]। अपत्योत्पत्ति इतना बड़ा धर्म है कि इसकी तुलना मे अग्निहोत्र तीनो वेद बिल्कुल नगण्य हैं। सन्तान ही तीनो वेद हैं और सदा बने रहने वाले देवता हैं (१।१००।६७-६९)। दुस्तर ससार सागर को पुत्र की नौका से पार किया जा सकता है। स्वर्ग में बने रहने के लिए तथा नरक से बचने के लिए पुत्र आवश्यक है[७१]। शास्त्रकार पुत्र की महिमा का बखान करके सन्तुष्ट नही हुए, किन्तु उन्होंने समाज मे इस विश्वास को प्रचलित किया कि पुत्र प्राप्ति ऋण है, इसे न चुकाने पर पुत्र के अभाव में पिता पुत् नामक नरक में जाता है और उसके पितर पिण्डदान के अभाव में भूखे प्यासे मरते हैं (दे० ऊपर पृ० २१५)। इन विश्वासो के प्रचलित होने पर मनुष्य स्वभावत. पुत्रों की कामना करते हैं।

माता पिता के प्रति पुत्र के अनेक कर्त्तव्य हैं। इनमें माता पिता की प्रतिष्ठा, सेवा, भरण पोषण तथा आज्ञा पालन मुख्य हैं। इन का स्वरूप तथा प्रेरक कारण निम्न हैं।

माता पिता की प्रतिष्ठा—धर्मशास्त्रो मे माता पिता को देवता कहा गया

---

६९. तै० ब्रा० ३।७।७।१० पुत्रः पित्रे लोककृज्जातवेदः।

७०. महाभा० १२।३४।१४ अप्रजायन्नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः॥

७१. महाभा० ५।११८।७-८ अनपत्योऽसि राजर्षे पुत्रौं जनय पार्थिव। पितॄन्पुत्रप्लवेन त्वमात्मानं चैव तारय। न पुत्रफलभोक्ता हि राजर्षे पात्यते दिवः। न याति नरकं घोरं यथा गच्छन्त्यनात्मजाः॥

है (तैड० १।११।२), पुत्र का यह कर्त्तव्य है कि वह इनकी पूजा करे। इनके प्रति गहरी भक्ति और श्रद्धा के भाव रखे। इस सम्बन्ध मे पहले विस्तार से विवेचना हो चुकी है, यहां कुछ अन्य प्रमाण दिये जाते है। एक पतिव्रता पत्नी द्वारा कौशिक ऋषि के दर्पचूर्ण होने का पहले उल्लेख हो चुका है। इस ने ऋषि को धर्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए मिथिलावासी शूद्र कुलोत्पन्न धर्म व्याध के पास जाने का परामर्श दिया (३।२०६।४३-४५)। व्याध कौशिक को धर्म के जटिल रहस्य समझाने के बाद अपने घर ले गया, वहा उसे अपने माता पिता को दिखाते हुए बोला—"ये मेरे लिए सब से बडे देवता हैं। देवताओ के लिए जो कार्य करने चाहिए, वे मै इनके लिए करता हूँ? जिस प्रकार सब के लिए इन्द्रादि तेंतीस देवता पूजनीय है, उसी प्रकार ये वृद्ध मेरे लिए पूज्य है। ब्राह्मण देवताओ के प्रति भेंटे चढाते हुए जिस प्रकार का आचरण करते है, मै अनलस होकर इनके प्रति वैसा आचरण करता हूँ। माता पिता मेरे लिए परम देवता है। मै इन्हे पुष्पो से तथा रत्नो से सदा सन्तुष्ट रखता हूँ। बुद्धिमान् जिन्हे (पवित्र) अग्निया कहते है, मेरे लिए मेरे माता पिता वही अग्निया है। हे ब्राह्मण, मेरे लिए यज्ञ, चारो वेद आदि सभी कुछ यही दोनो है (महाभा० ३।२१२।१८-२२)। माता पिता को देवता समझने, उनकी पूजा, रक्षा तथा शुश्रूषा करने से ही धर्मव्याध ज्ञानी बना। अन्यत्र (३।२०५।३-४) माता पिता को प्रत्यक्ष देवता कहा गया है।

बौद्ध वाङ्मय मे भी माता पिता के प्रति यही भाव उपलब्ध होता है। बोधिसत्व ने माता पिता को ब्रह्मा कहा है[७२]। अन्यत्र वे पुब्ब देवता (श्रेष्ठ देवता) कहे गये है[७२]। सिगालोवाद सुत्त मे मातापिता पूजार्ह माने गये है (बुद्धचर्या पृ० २७८)। हिन्दू समाज मे पिछली शती तक सामान्य रूप से पिता पुत्रो मे वही प्रतिष्ठा पाता था, जो धर्मव्याध के माता पिता ने अपने पुत्र से पाई थी। स्लीमैन ने लिखा है—मै विश्वास करता हूँ कि भूमण्डल मे कोई ऐसा भाग नही है, जहा माता पिता की इतनी प्रतिष्ठा की जाती है[७३]। पिता को देवता माना जाने तथा प्रतिष्ठा देने के कारणो की विवेचना पुत्र के आज्ञा पालन के प्रसंग मे होगी।

---

७२. फासबाल—जातक ५।३३१ ब्रह्मा हि मातापितरो, ६।३६४ पुब्ब देवता नाम मातापितरो।

७३. रैम्बल्स एण्ड रिफ्लैक्शन्स आफ एन इण्डियन आफिशियल १।३३० अनु०।

माता पिता की सेवा—माता पिता के देवता होने से उनकी सेवा को महत्त्व दिया जाना स्वाभाविक है। महाभारत (१२।१०८) में माता पिता तथा गुरु की सेवा को परम धर्म माना गया है। मनु के मत में इनकी शुश्रूषा परम तप है (२।२२९), इसमें कोई प्रमाद न करने वाला तीनो लोको की विजय करता है, माता की भक्ति से इह लोक, पिता की भक्ति से मध्यम लोक तथा गुरु शुश्रूषा से ब्रह्म लोक का भोग करता है (२।२३२-३३)[७४]; जब तक ये जीते रहें, पुत्र उनके प्रिय तथा हितकर कार्यों में सलग्न रहता हुआ उनकी शुश्रूषा करता रहे। इनकी सेवा से ही पुरुष के लिए अनुष्ठान योग्य सभी श्रौत स्मार्त कार्य पूरे हो जाते है; यह सब से बडा धर्म है, (यज्ञादि) दूसरे धर्म गौण हैं[७५]।

माता पिता की सेवा करने वाले पुत्रो में धर्मव्याध, श्रवण, रामचन्द्र, भीष्म और पुरु का स्थान बहुत ऊँचा है। धर्मव्याध ने कहा था—"मेरे प्राण, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र और मित्रजन माता पिता के लिए ही है। मै अपने पुत्र और स्त्री के साथ सदा इनकी शुश्रूषा करता हूँ। हे द्विजश्रेष्ठ, मै सदा इनको नहलाता हूँ, इनके पैर धोता हूँ और अपने आप इन्हे आहार प्रदान करता हूँ, इनके अनुकूल बोलता हूँ, इनके लिए अप्रिय वचन से बचता हूँ। अधर्म युक्त होने पर भी इनके प्रिय कार्य को करता हूँ। हे द्विजोत्तम, मै इसे (सेवा को) महान् धर्म समझ कर करता हूँ" ३।२१४। २३-२६)। रामायण (२।६३-६४) मे अपने अन्धे माता पिता की सेवा करने वाले एक शूद्रा पुत्र का उल्लेख है। परवर्ती साहित्य में यह श्रवण कुमार नाम से प्रसिद्ध हुआ। अपने माता पिता को कांवर पर बिठा कर इसने उन्हें सब तीर्थो की यात्रा कराई थी। राम ने पिता की प्रसन्नता के लिए १४ वर्ष तक का वनवास स्वीकार किया। देवव्रत ने इसी कारण आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की (महाभा० १।१००), इसी कारण उन्हे भीष्म कहा जाने लगा। पुरु ने पिता की प्रसन्नता के लिए भीष्म की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण त्याग किया। यौवन जीवन का सब से स्वर्णिम काल है और वृद्धावस्था सब से कष्ट दायक दशा। पुरु ने अपने पिता की वृद्धा-

---

७४. कोरियावासी यह मानते हैं कि पितृभक्त बालक को पृथ्वी पर उच्चतम सम्मान मिलता है और परलोक में भास्वरतम स्वर्ग प्राप्त होता है। (ग्रिफिस-कोरिया पृ० २३६)

७५. मनु० २।२।३५-३६ मि० महाभारत १२।१०८।८-९ अनु० विष्णु० ३१।५-६।

वस्था लेकर उसके बदले अपने तारुण्य का दान करने मे सकोच नही किया। (भाग० पु० ९।१८, १९)

माता पिता का भरण पोषण—सब पुत्र अपने माता पिता की सेवा मे भीष्म, राम और पुरु जैसे कठोर त्याग करने वाले नही हो सकते; किन्तु उनसे इतने सेवा और त्याग की अवश्य आशा रखी जा सकती है कि वे मा बाप के वृद्ध होने पर उनकी सेवा शुश्रूषा और भरण पोषण अवश्य करे। पुत्र की एक व्युत्पत्ति यह भी की जाती है कि वह माता पिता का पालन और रक्षण करता है (पितॄन् पाति) ।

पिछले अध्याय मे इस विषय मे मनु० (९।१०-११ व ३।३८९) की व्यवस्थाओ का उल्लेख हो चुका है। याज्ञ० और शख लिखित भी पुत्रो द्वारा माता-पिता का भरण आवश्यक मानते हैं और माता पिता को छोडने वाले पुत्र के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करते है। याज्ञ० (२।२३७) ने इस के लिए १०० पण तथा शख लिखित (अप० पृ० ८२३) २०० पण के दण्ड का विधान करते हैं। मनु की ६०० पण की दण्ड व्यवस्था (३।३८९) इन दोनो से कठोर है। याज्ञ० और शंख पतित न होने पर ही इनका भरण आवश्यक मानते हैं, किन्तु बौधायन और (२।२।४८) वसिष्ठ (१३।४०) तथा आपस्तम्ब (१।१०। २८।९ माता के पतित होने पर भी उसका भरण पुत्र का कर्त्तव्य मानते है[७६]।

वर्तमान युग में हिन्दू समाज के योरोपियन प्रेक्षको ने हिन्दू समाज मे

---

७६. इस व्यवस्था का कारण संभवतः यह था कि याज्ञ० और शंख माता पिता की सेवा से धर्म के पालन को अधिक महत्व देते थे। माता पिता की सेवा एक पवित्र कर्त्तव्य है, किन्तु धर्म का पालन उससे भी बड़ा कर्त्तव्य है। अतः पुत्र अपने पतित माता पिता को छोड़ सकता था। ईसाइयत ने भी पुत्रो को यह स्वाधीनता प्रदान की थी। ईसा ने अपने शिष्यों को विश्वास दिलाया था कि मेरे लिए और (भगवान् के) सन्देश के शुभ प्रचार के लिए अपने पिता माता, भाई बहिन, पत्नी, बच्चो, घर तथा भूसम्पत्ति को छोड़ने वाला व्यक्ति, सैकड़ो गुना पिता माता, भाई बहिन प्राप्त करेगा (सैन्ट मार्क १०।२९)। ईसा के इस उपदेश के कारण हजारो व्यक्ति अपने माता पिता को छोड़कर भिक्षु बने। ईसा का प्रेम माता पिता के प्रेम से बड़ा माने जाने लगा, इस कारण माता पिता को छोड़ना या उनके आदेश न मानना ईसाइयत में अच्छा समझा गया। कई सन्तों की प्रतिष्ठा का मुख्य कारण उनका

पुत्रों द्वारा माता पिता के भरण पोषण की प्रशसा की है। विल्किंस ने लिखा है—यदि कोई हिन्दू अपने माता पिता का भरण पोषण कर सकता है; किन्तु वह उनका भार किसी दूसरे पर डालता है, तो यह उसके लिए अत्यधिक अपमान-जनक वस्तु समझी जाती है[७७]। मोनियर विलियम्ज़ ने अविवाहित हिन्दू सिपाहियों के सम्वन्ध में लिखा है कि माता पिता को रुपया भेजने के लिये वे अपनी आवश्यकतायें इतनी कम कर देते हैं कि लगभग भूखे मरने लगते हैं[७८]। डुबोइस ने यद्यपि दक्षिणवासी हिन्दू पुत्रो के पिता के प्रति व्यवहार की

अपने माता-पिता को छोड़ना था (फैटर-पैगनिज्म एण्ड क्रिश्चिएनिटी पृ० १९६)। कैथोलिक लेखकों का यह मत था कि माता पिता का यदि पुत्र के विना भरण पोषण न हो सकता हो तो भी उन्हें ईश्वर के भरोसे पर छोड़कर व्यक्ति को भिक्षु बन जाना चाहिए। थामस एक्विनास (सम्मायिओं लाजिका २।२। १०१४, अपनी कुटिया में ईसा के ध्यान में मग्न ईसाई भिक्षु द्वारा माता पिता की सहायता के लिए अपनी कुटिया छोड़ना और सांसारिक कार्यों में फंसना उचित नहीं समझता था फिर भी माता पिता की पूरी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। अतः ट्रैण्ट की परिषद की (१५४५ -६३) की प्रश्नोत्तरी(३।५।१०)में यह कहा गया कि माता पिता के निर्धन होने पर उनकी सहायता करनी चाहिए और भगवान से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि वे सुखी और समृद्ध जीवन विता सकें। किन्तु ईसाइयत इस विषय में अपवाद है। अन्य सभ्य जातियों तथा आरण्यक समाजो में वृद्ध माता पिता का भरण पोषण सन्तान का कर्त्तव्य माना जाता है। यूनान में कोई व्यक्ति उस समय तक मैजिस्ट्रेट नहीं बन सकता था, जब तक कि वह यह साक्षी उपस्थित न करे कि उसने अपने माता पिता के साथ उचित व्यवहार किया है। जो व्यक्ति मां वाप को भोजन तथा घर में आश्रय देने से इंकार करता था, उसे राष्ट्रिय परिषद् में भाषण देने का अधिकार नहीं होता था। आइसलैण्ड के और यहूदियों के समाज में भी यह एक आवश्यक कर्त्तव्य था (वै० ओडेमा १।५३६-३७)। इस्लामी कानून में कहा गया है —चाहे माता-पिता अपने परिश्रम से आजीविका कमा सकें; पुत्र अपने दरिद्र माता पिता का भरण पोषण करने के लिए वाध्य है (ह्यूजेस-डिक्शनरी आफ इस्लाम पृ० ३०८) आरण्यक समाजो में वूढे मां वाप की सेवा के उदाहरणों की कमी नहीं है (वै० ओडेमा १।५३४-३६)

७७. विल्किस—माडर्न हिन्दूइज्म पृ० ४१८

७८. मोनियर विलियम्ज़—इण्डियन विज़डम पृ० ४४०

वड़ी निन्दा की है; तथापि इस वात की अवश्य प्रशसा की है कि सामान्यतः पुत्र वूढे मा वाप का वड़ा घ्यान रखते है और उन्हे किसी वस्तु का अभाव नही होने देते [७९]।

वृद्ध माता पिता के भरण पोषण के मूल में अनेक कारण है। उनके प्रति पुत्र की कृतज्ञता का भाव इसे आवश्यक वनाता है। भगवान वुद्ध ने सिगाल गृहपति को उपदेश देते हुए कहा था—'माता पिता का प्रत्युपस्थापन (सेवा) करना चाहिये; क्योंकि इन्होने मेरा भरण पोषण किया है' (वुद्धचर्या पृ० २७८)। माता पिता के प्रति पुत्रो का प्रेम तथा भक्ति भी उन्हे इस वात की प्रेरणा करती है कि वे उनको सदा सुखी रखें। श्रवण कुमार अपनी अगाध भक्ति के कारण वूढे मा वाप को कावर में विठाकर तीर्थों की यात्रा कराता रहा। माता पिता का नैसर्गिक सम्वन्ध भी उन्हे पुत्र से भरण पाने के स्वाभाविक अधिकार को उत्पन्न करता है। समाज मे एक वार जव यह अविकार मान लिया जाता है तो इसकी अवहेलना वडी घृणास्पद दृष्टि से देखी जाती है। लोक निन्दा मे वचने के लिए भी मा वाप का पालन किया जाता है, डुवोइस दक्षिण के उच्छृङ्खल पुत्रो की पितृसेवा का यही कारण मानता है (पू० नि० पु० पृ० ३०८) आगे यह वताया जायगा कि वृद्ध पुरुषो की सेवा से उत्तम फलो की आशा रखी जाती है, यह माना जाता हैं कि उनके वचनों में अमोघ शक्ति होती है। अपनी उपेक्षा से कुपित होकर यदि वे कोई शाप देगे तो उसमे भयकर हानि हो सकती है। उस से बचने के लिए उनका भरण करना चाहिए।

हिन्दू समाज मे सयुक्त परिवार की पद्धति भी माता पिता के भरण को आवश्यक कर्त्तव्य वनाने में सहायक सिद्ध हुई। संयुक्त परिवार मे जव पारिवारिक सम्पत्ति के विभाग की पद्धति वढी तो विभिन्न व्यक्तियो के अधिकारो का प्रश्न उठा। उस समय यह अनुभव किया गया कि सव सदस्यो की स्थिति एक जैसी नही है, क्योंकि कुछ व्यक्ति अपने शारीरिक दोषो या (स्त्री) जाति के कारण पारिवारिक सम्पत्ति वढ़ाने मे अन्य सशक्त व्यक्तियो जितना भाग नही लेते। अत. सम्पत्ति का समान विभाग नही हो सकता। किन्तु उनके जन्मसिद्ध अधिकारों की उपेक्षा संभव नही थी। सम्पत्ति के इस अधिकार के वदले में उन्हे परिवार से भरण पोषण पाने का अधिकार दिया गया[८०]। पोषण

७९. डुवोइस—हिन्दू मैनर्स एण्ड कस्टम्ज़ पृ० ३०८

८०. गौड़—हिन्दू कोड पृ० ३१८

सम्बन्धी हिन्दू कानून के मूल में एक और सिद्धान्त भी है, इसके अनुसार पोष्यवर्ग में सर्वत्र माता पिता की सर्वप्रथम गणना की गई है। इसके मूल हेतु स्वाभाविक स्नेह, कृतज्ञता, भक्ति और सम्मान के भाव हैं। इनके कारण पुत्रों का यह नैतिक कर्त्तव्य माना जाने लगता है कि पुत्रों को माता पिता का पालन करना चाहिये।

वर्तमान समय मे न्यायालयों ने वृद्ध माता पिता का भरण पोषण पुत्र का कानूनी कर्त्तव्य माना है[८१]। यह एक वैयक्तिक दायित्व है। पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मिले या न मिले, उसके लिये माता पिता अवश्य भर्त्तव्य हैं[८२]। ऊपर यह कहा जा चुका है कि साम्पत्तिक स्वत्व इस व्यवस्था का एक कारण है। स्वार्जित सम्पत्ति पर अर्जक का पूर्ण स्वत्व माना जाता है। किन्तु विज्ञानेश्वर का यह मत है कि यदि स्वार्जित के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति न हो, तो भी कुटुम्ब (वृद्ध माता पिता, स्त्री और नाबालिग बच्चों) का इस सम्पत्ति से अवश्य भरण करना चाहिए (याज्ञ० २।१७५)।भारतीय न्यायालयों ने भी यह सिद्धान्त स्वीकार किया है[८३]।

आज्ञापालन—वैदिक युग से यह आदर्श रहा है कि पुत्र माता पिता की आज्ञा का पालन करने वाला तथा उसके अनुकूल आचरण रखने वाला हो[८४]। विष्णु० (३१।३-६) के मत में पुत्र को सदा माता पिता व गुरु की आज्ञा का पालक होना चाहिए, वह इनके लिए प्रिय और हितकार्य करे, इनकी आज्ञा के विना कोई कार्य न करे (मि० मनु० २।२२९ न तैरम्यनुज्ञातो धर्ममन्य समाचरेत्)। "यह बात वेदो से भली भाति निश्चित है कि पिता जो कहता है वह धर्म है, अतः पिता के वचन का पालन करना चाहिए। पिता की आज्ञा पालन करने वाले के पाप धुल जाते हैं[८५]। रामायण पिता

---

८१. सावित्रीबाई ब० लक्ष्मीबाई (१८७८) २ बम्ब० ५७३

८२. नर्मदा बाई ब० महादेव (१८८१) ५ बम्ब० ९९,

८३. रामराव ब० राजा आफ पीठापुर (१९१८) ४५ इं० ए० १४८, १५४। अम्मा कन्नू ब० अप्पू (१८८०) ११ म० ९१।

८४. अथर्व० ३।३०।२ अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

८५. महाभा० १२।२६६। १७,१९ पिता यदाह धर्मः स वेदेष्वपि सुनिश्चितः। तस्मात्पितुर्वचः कार्यम् न विचार्यं कदाचन। पातकान्यपि पूयन्ते पितुः शासनकारिणः।

की सेवा और आज्ञा पालन को सर्वश्रेष्ठ धर्म मानती है[८६], इसे प्रसन्नता से करना चाहिए। पिता के मुख से वचन निकलने से पहले ही जो पुत्र पिता के सोचे हुए काम को करता है, वह उत्तम पुत्र है; पिता द्वारा कहे कार्य को करने वाला मध्यम कोटि का पुत्र है, किन्तु पिता के वचन को अश्रद्धा से करने वाला अधम है उसे न करने वाला पिता का विष्ठामात्र (भाग० ९।१८।४४)।

दाशरथि राम हिन्दू समाज में पिता की आज्ञा पालन का सर्वोत्तम दृष्टान्त हैं। वे अपने पिता की आज्ञा से अग्नि में जल मरने, विष खाने और समुद्र में डूब मरने के लिए तैयार थे[८७], क्योंकि उनका मत था कि उन द्वारा माता पिता की प्रसन्नता के लिए प्राण त्याग कर भी जो कार्य किया जा सके, उसे करने के लिए उन्हे तैयार रहना चाहिए (२।१९।२१)। राजसिंहासन के अधिकारी होते हुए चौदह वर्ष तक वनों में धूल छानना उनके लिए मृत्यु तुल्य ही था, किन्तु पिता की प्रसन्नता का ध्यान रखते हुए उन्होने इस कठोर आज्ञा का पालन किया।

वश्यता के कारण (क) कृतज्ञता का भाव—पुत्र अनेक कारणो से माता पिता की वश्यता में रहते हैं। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जन्मदाता और पालक होने से माता पिता के प्रति पुत्र इतनी कृतज्ञता का अनुभव करे कि वह उनके लिए सर्वस्व समर्पण करने को उद्यत हो। राम ने कैकेयी को कहा था—मैं राजा दशरथ के कुपित होने पर एक क्षण भी जीवित नही रहना चाहता। इस दुनिया में मनुष्य जिससे अपना मूल और प्रादुर्भाव देखता है, वह उस प्रत्यक्ष देवता के अनुकूल अपना आचरण क्यो न रखे? (२।१८।१५-१६)। भारतीय वाङ्मय मे कई स्थलो पर यह विचार प्रकट किया गया है कि सन्तान माता पिता के उपकार का प्रतिफल नही दे सकती (रामा० २।१११।९-१०, मनु० २।२२७ भाग० १०।४५।५)। राम माता पिता के उपकार को भी आज्ञा पालन का कारण मानते है (२।१९।१५)।

---

८६. रामा० २।१९।२२ न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया॥

८७. रामा० २।१८।२७ अहो धिङ्‌ नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः। अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं मज्जेयमपि चार्णवे। तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्। करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभि-भाषते॥

पुत्र माता पिता के प्रति कृतज्ञतावश अगाध प्रेम रखते है[८८]। इस के वशीभूत होकर वे माता पिता की कठोर से कठोर आज्ञा का पालन करने में सकोच नही करते। इस विषय में राम के आदर्श दृष्टान्त का ऊपर उल्लेख हो चुका है।

माता पिता के आदरास्पद होने से भी उनकी आज्ञा अनुल्लघनीय होती है। यह पहले बताया जा चुका है कि माता पिता गुरु तुल्य और देवता सदृश हैं। गुरुओ की आज्ञा मे किसी प्रकार का विचार या शंका नही करनी चाहिए—आज्ञा गुरूणा ह्यविचारणीया। माता पिता देवता माने जाते है, अतः उनकी आज्ञा का पालन होना ही चाहिए। इस प्रसग में यह बताना अनुचित न होगा कि इन्हे देवता क्यो माना जाता है और किन कारणो से उन्हे पूजित एव प्रतिष्ठित समझा जाता है।

माता पिता को अधिक आयु के कारण एक प्रकार की विशिष्टता प्राप्त होती है। बालक बचपन में मा बाप को अधिक शक्तिशाली पाता है, अपने अज्ञान से उन्हे सब विद्याओ का आगार समझता है। युवा होने पर वह भले ही अपने को पिता से शक्तिशाली अनुभव करे, किन्तु उसके अनुभव ज्ञान के आगे पुत्र को हार माननी पडती है। कई जातियो मे यह विश्वास पाया जाता है—दीर्घ जीवन और बुद्धिमत्ता सदा साथ साथ चलते है[८९]। वृद्धत्व अपने आप में आदर योग्य होता है। पिता वृद्ध होने से इस आदर का उपभोग करते है। मनु (२।१२१) ने वृद्धो का अभिवादन तथा सेवा आयु, विद्या, यश और बल को बढाने वाली माना है। धम्मपद में भी यही बात दोहरायी गई है। मनु केवल वृद्धो की सेवा का फल बता कर ही सन्तुष्ट नही हुआ, उसने यह भी कहा है, जो युवा वृद्धो को उठ कर अभिवादन नही करते, इनकी मृत्यु संभव है, क्योकि वृद्ध पुरुष के आने पर युवक के प्राण ऊपर की ओर उठते

---

८८. वन्य जातियो में माता पिता के प्रति प्रेम के उदाहरणों के लिए दे० वै० ओडेमा १।६१८ टि० ७, माता पिता के प्रति प्रेम के लिए दे० वहीं टि० ६

८९. लोस्कियल—हिस्ट्री आफ दी मिशन आफ् युनाइटिड ब्रदरन एमोंग-दी इण्डियन्स इन नार्थ अमेरिका, १।१५। पश्चिमी अफ्रीका में वृद्धों को ही ज्ञानी कहा जाता हे (किंग्स्ली-वैस्ट अफ्रीका स्टडीज पृ० १४२) वृद्धों का यह सम्मान कई बार उनके पुरानी धार्मिक परम्पराओ तथा कुछ रहस्यमयी विधियो के ज्ञाता होने से भी होता है (वै० ओडेमा १।६१८)।

है (देह से बाहर निकलने लगते है), प्रत्युत्थान और अभिवादन से वह उन्हे पुनः प्राप्त करता है (२।१२०) । बूढ़ा आदमी सर्वत्र अपने सफेद बालो, अधिक अनुभव और ज्ञान के कारण पूजा जाता है । मूरो की इस उक्ति मे बड़ा सत्य है कि आदमी बूढा होकर सन्त बन जाता है । अतः माता पिता वृद्धावस्था में अपनी आयु तथा पुत्रों से विशिष्ट सम्बन्ध होने के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठा पाते है ।

(ख) धार्मिक विश्वास—धर्म इन विश्वासो को पुष्ट करता है कि माता पिता की सेवा तथा आज्ञा पालन से उत्तम फलो की प्राप्ति और अभीष्ट सिद्धि होगी । यदि इन की सेवा नही की जायेगी तो धर्म कर्म निष्फल होगा । पिता धर्म, स्वर्ग और परम तप है । पिता के प्रसन्न होने पर सब देवता प्रसन्न हो जाते है, (महाभा० १२।२६६।२१) पिता माता और गुरु की आज्ञा के अनुसार चलने वाले के लिये स्वर्ग धन धान्य, विद्या, पुत्र तथा सब प्रकार के सुख-कुछ भी दुर्लभ नही रहता, माता पिता तथा गुरु के आज्ञा पालक महात्मा देवलोक, गन्धर्व लोक, गोलोक तथा ब्रह्मलोक प्राप्त करते है (रामा० २।३०।३६-३७) माता पिता की प्रसन्नता को इतना महत्त्व दिया गया था कि श्रीकृष्ण महादेव जी से यह वर मागते हैं कि माता पिता मुझसे सदा प्रसन्न रहे (महाभा० १३।१५।६) धर्मशास्त्रो मे कई बार यह दोहराया गया है कि माता पिता और गुरु के अनादर से श्रौत स्मार्त आदि सभी प्रकार के धर्म निष्फल होते है (मनु० २।२३४ विष्णु० ३१।९ महाभा० १२।१०८।१२) । उत्तम फलो की प्राप्ति का प्रलोभन और माता पिता के अनादर के दुष्परिणामो का भय पुत्रो को पिता की वश्यता मे रखने मे सहायक होता है ।

(ग) वर और शाप की शक्ति—पिता के आशीर्वचनो और शापो की अमोघता का विश्वास भी पुत्रो को पिता की अधीनता मे रहने को प्रेरणा करता है । माता पिता प्रत्यक्ष देवता है । उनके वचनो मे बडी शक्ति है, यदि वे प्रसन्न हो तो पुत्र को अपने वरदानो से कृतकृत्य कर सकते हैं, रुष्ट हो तो शापों से दण्डित कर सकते है । पुत्र की ऐहिक उन्नति व पारलौकिक सुख के लिए उनके आशीर्वाद और शुभ कामनायें आवश्यक है । पिता के प्रसन्न होने पर उसका प्रत्येक वचन पुत्र के लिए आशीर्वाद होता है, वह सब पापो से मुक्त हो जाता है (महाभा० १२।२६६।२०) । किन्तु पिता के असन्तुष्ट होने पर पुत्र उसके शापो से किसी प्रकार मुक्त नही हो सकता । महाभारत में स्पष्ट शब्दों मे यह घोषणा की गई है सब शापो का कोई प्रतिकार है, किन्तु माता से शाप पाये व्यक्ति का

कहीं छुटकारा नही है[९०]। जमदग्नि के पुत्रो ने पिता की आज्ञा का पालन नही किया। उस ने क्रुद्ध हो कर उन्हें शाप दिया। शाप से वे चेतना शून्य हो गए। परशुराम ने पिता की आज्ञा मानकर उससे माता तथा भाइयो का पुनरुज्जीवन, विजयी होने तथा दीर्घ काल तक जीवित रहने के लिए वर प्राप्त किये। ययाति के पुत्रो ने पिता को अपना यौवन देना स्वीकार नही किया, परिणामतः इन सब को शाप ग्रस्त होना पड़ा (भाग० ९।१९)। आशीर्वाद की लालसा और शापो की भीति पुत्रो को माता पिता की वशवर्तिता में रखती रही है[९१]।

---

९०. महाभा० १।३७।४ सर्वेषामेव शापानाम् प्रतिघातो हि विद्यते। नतु मात्राभिशप्तानां मोक्षः क्व च न विद्यते ॥

९१. प्राचीन काल के कई सभ्य समाजों में माता पिता के वरदानों और शापों में विश्वास पाया जाता था। यूनान में इस प्रकार के विचार की प्लेटो ने विस्तार से चर्चा की है—'न तो कोई देवता और न समझदार आदमी किसी को अपने माता पिता की उपेक्षा करने का परामर्श देगा। अनुश्रुति बताती है कि जब पुत्रो ने ईडिपस (Oedipus) का निरादर किया तो उस ने पुत्रो को शाप दिये। प्रत्येक पुरुष ने ये शाप सुने, देवताओं ने इन शापों का समर्थन किया। एमिण्टर (Amyntor) ने क्रोध में अपने पुत्र फिनिक्स को तथा थिसियस ने हिप्पोलाइटज़् को शाप दिये। अपने बच्चों के प्रति माता पिता के अभिशाप जितने प्रबल होते है; अन्य शाप इतने प्रबल नहीं होते। (लेजेस ९।९३०)।

यहूदियो में माता पिता के आशीर्वाद में अमोघ विश्वास था। एक्लिज़िआस्टिस (३।८ मि० ३।१६) में कहा गया है कि माता पिता का वचन और कर्म द्वारा सम्मान करो, ताकि उनसे तुम्हे आशीर्वाद मिल सके। पिता का आशीर्वाद सन्तानो के घरानों को संस्थापित करने वाला होता है, माता का शाप इनकी नींवों का उन्मूलन करने वाला होता है। वन्य जातियों में भी यह भावना पाई जाती है। विलसन ने म्पोंगवी जाति के सम्बन्ध में लिखा है कि इनमें युवा व्यक्ति वृद्ध पुरुष या पूज्य पिता के शाप के निवारण के लिए जितनी प्रार्थना करते हैं, उतनी किसी अन्य बुराई के निवारण के लिए नहीं करते (वैस्टर्न अफ्रीका पृ० ३९३)। उत्तरी अफ्रीका के मूरो की एक कहावत है कि यदि सन्त शाप दें तो माता पिता उसका प्रतिकार कर सकते हैं; पर यदि माता पिता शाप दें तो सन्त उसका प्रतिकार नहीं कर सकते (वैं० ओरेमा १।६२२), पिता माता

आर्थिक कारण—पुत्र की वश्यता का एक हेतु यह भी है कि वह आर्थिक दृष्टि से पिता पर अवलम्बित रहता है। बचपन में वह पूर्ण रूप से पिता पर निर्भर होता है। व्यावसायिक क्रान्ति होने से पूर्व तक, युवा होने पर उसके लिए स्वतत्र आजीविका के साधन बहुत कम थे। घर उसका प्रधान आश्रय स्थान था। इस में पिता की प्रभुता सर्वोच्च होती थी। पुत्र पिता की प्रभुता में रहता हुआ परिवार की सुख सामग्री का उपभोग कर सकता था। यदि पिता रुष्ट हो तो वह पुत्र को परिवार से पृथक् कर सकता था। उन दिनो परिवार से पृथक होने का अर्थ भूखो मरना था। अत. परिवार में रहते हुए पुत्र को पिता का अनुशासन स्वीकार करना पडता था।

अन्य कारण——प्राचीन काल का पितृप्रधान (Patriarchal) सामाजिक सघटन भी पुत्र को पिता का वशवर्त्ती बनाता था। इस में परिवार के सभी व्यक्ति पिता की प्रभुता मे रहते थे। पुत्र भी परिवार का अग होने से पिता के आधीन था। इस युग में उत्पादक होने से भी, पिता का पुत्र पर स्वाम्य समझा जाता था। धर्मशास्त्रो मे पत्नी को क्षेत्र कहा गया है, उसमें बीज डालकर जो सन्तान होती थी, वह क्षेत्रपति की समझी जाती थी[९२]। श्रीराम जैसे पुत्र स्वय यह स्वीकार करते थे कि उत्पादक होने से माता पिता का हम पर विशेष अधिकार है; हमे उनके अनुकूल आचरण रखना चाहिए (रामा० २।१८।१५-१६)।

इस प्रकार प्राचीन काल मे पुत्र स्वय पिता के प्रति प्रेम, कृतज्ञता और सम्मान के भावो से पिता के वश मे रहता था। उस समय के धार्मिक विश्वास, आर्थिक परिस्थितिया और सामाजिक अवस्थाये उसे माता पिता का आज्ञापालक और वशवद बनाये रखने मे सहायक थी।

वर्तमान युग में पुत्रो की वश्यता का ह्रास—किन्तु आजकल परिस्थितियो के परिवर्तन से पुत्र की वश्यता मे शिथिलता आ रही है। पिता की भक्ति तथा वर और शाप की शक्ति के विचार सदेहवाद और नास्तिकता की बाढ से आप्लावित हो चुके हैं। घर से बाहर आजीविका कमाने के साधनो का विकास होने से पुत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने लगे हैं। समानता और

के वृद्ध होने तथा देवता समझा जाने से ही उनके वर और शाप में यह विलक्षण शक्ति मानी जाती है।

९२. नारद० १२।१९

स्वतन्त्रता की नवीन भावनाओ ने पितृप्रधान परिवार का अन्त कर दिया है, राजनैतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाला युवक पिता की पराधीनता से भी मुक्ति चाहता है। वह अपने को माता पिता के सुखोपभोग का आनुषगिक फल समझता है, अतः उसके मा वाप के प्रति कृतज्ञता के भावो में कमी आ रही है। महाकवि अकवर ने आधुनिक युवको के विद्रोह का उत्तरदायित्व पश्चिमी ढग की शिक्षा पर डालते हुए कहा था—'हम ऐसी कुल कितावो को काविले ज़व्ती समझते है; जिनको पढकर लड़के वाप को खव्ती समझते है'। यह केवल शिक्षा का ही परिणाम नही; किन्तु व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा हमारे आर्थिक और सामाजिक जीवन में हुए मौलिक परिवर्त्तनो का फल है और युगधर्म है। कैन्यूट के आदेशो से समुद्र की लहरें नही रुकी थी, पश्चिमी शिक्षा की निन्दा से पुत्रो की वश्यता में ह्रास की प्रवृत्ति नही रुक सकती।

आठवां अध्याय

पुत्री

वैदिक काल मे कन्या की उपेक्षा—क्या वैदिक युग में कन्यावध प्रचलित था ?--कन्या की उपेक्षा के कारण--मध्ययुग मे कन्यावध—कन्या के प्रति स्नेह—कन्या का दर्शन मांगलिक है ।

वशविस्तार की दृष्टि से पुत्र की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हुए भी, हिन्दू परिवार में कन्या प्राय· उपेक्षा का पात्र और विषाद का कारण समझी जाती रही है । वैदिक काल से हिन्दूसमाज मे लगभग ऐसी स्थिति रही है, वीच में ऐसे भी समय रहे है, जव कन्यावध की दारुण प्रथा कुछ जातियो में विशेप रूप से प्रचलित थी । कन्या के प्रति हिन्दू समाज की सामान्य धारणा सायण द्वारा उद्धृत इस श्लोक से स्पष्ट है—'वह जन्म के समय अपने सवन्धियों को दु ख देती है, विवाह के समय (दहेज के रूप में) वहुत सा धन ले जाती है, यौवन मे (असतीत्वादि) अनेक दोषो से (कुल को) कलकित कर सकती है, (इस प्रकार) लडकी माता पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है'[1] ।

वैदिक काल में कन्या की उपेक्षा--वैदिक युग के परिवार में हमे पुत्रो के प्रति पिता का पक्षपात स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है । धार्मिक दृष्टि से वश चलाने के लिये तथा योद्धाओं की आवश्यकता होने के कारण उस समय पुत्र की अपेक्षा पुत्री की अधिक कामना की जाती थी । ऋग्वेद में वार वार वीर पुत्रो की प्रार्थना की गयी है [2] किन्तु पुत्री की याचना कही नही है । अथर्व-

---

१. संभवे स्वजनदुःखकारिका, सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका । यौवनेऽपि वहुदोषकारिका, दारिका हृदयदारिका पितुः ॥ ऐतरेय ब्राह्मण ३।३।१ के भाष्य में उद्धृत ।

२. ऋ० १।९१।२०, १।९२।१३, ३।१।२३, १०।८५, ४१, ४२, ४५; किन्तु महाभारत में गान्धारी द्वारा कन्या की कामना की गयी है, १।११६।८।८ ममेय परमा तुष्टिर्दुहिता मे भवेद्यदि । मि० वृहदारण्यक उपनिषद् ६।४।१८

वेद के पुंसवन सूक्त में कहा गया है कि पुरुष सन्तान ही उत्पन्न हो (६।११।३), अन्यत्र पुरुष गर्भ के स्त्री गर्भ न होने की कामना है (अथर्व० ८।६।२५)। विवाह का उद्देश्य स्पष्ट रूप से पुरुष सन्तान प्राप्त करना (पुंसे पुत्राय वेत्तवै) बताया गया है (आश्व० गृ० सू० १।७)। ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) के मत में लडकी निश्चित रूप से दु.ख है (कृपण[3] हि दुहिता)। अत यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में कन्या हर्ष का हेतु नही थी।

वैदिक युग में कन्यावध---किन्तु क्या उस समय परवर्ती युगो की भाति कन्यावध की प्रथा प्रचलित थी? इस सम्बन्ध में वैस्टरमार्क, ज़िमर, डेलब्रुइक वैवर और राजवाडे का यह मत है कि उस समय बालिका वध प्रचलित था[4]। किन्तु इन विद्वानो द्वारा इस के समर्थन में उपस्थित किये गये प्रमाणो का अर्थ असदिग्ध और निश्चित नही है। वैस्टरमार्क का इस विषय में ऋ० २।२९।१ का प्रमाण बालिकावध के लिये पुष्ट साक्षी नही प्रतीत होता। इसमें पाप को वैसे ही दूर फेंकने की प्रार्थना है, जैसे गुप्त रूप से प्रसव करने वाली स्त्री अपने बच्चो को फेंकती है। वास्तव में इस मत्र का सम्बन्ध नाजायज बच्चो से है, विवाह द्वारा उत्पन्न सन्तान से नही। ज़िमर और डेलब्रुइक का मुख्य आधार एक याज्ञिक प्रक्रिया के सम्बन्ध में कहे गये तै० स० ६।५।१०।३, मैत्रा० ४।६।४; ४।६।९ और का० स० २७।८ के कुछ वचन है। इन में यज्ञ की समाप्ति पर स्नान (अवभृथ) के लिये जाते हुए सोमरस वाले मिट्टी के पात्र (स्थाली) को वेदी में उसी तरह छोड़ने तथा सोमरस की आहुति वाले चमस को उसी प्रकार अपने साथ ले जाने का वर्णन है जैसे "स्त्री को पैदा होने पर छोड देते है, किन्तु पुरुष को नही छोडते[5]"। यह अर्थ उपर्युक्त आधुनिक विद्वानो के अनुसार है। यहा मूल शब्द 'परास्यन्ति' है। इसका अर्थ ज़िमर और डेलब्रुइक के मत

३· सायण भाष्य---कृपणं केवलं दुःखकारित्वात् दैन्यहेतुः। कृपण शब्द का दूसरा अर्थ कृपा या स्नेह का पात्र भी है। कुल्लूक ने मनु० ४।१८५ में दुहिता कृपणं परम् में इस का यही अर्थ किया है। ऐतरेय ब्राह्मण के आधुनिक अनुवादकों में कीथ सायण का तथा हाग कुल्लूक का अनुयायी है।

४. वैस्टरमार्क---ओरिजिन एण्ड डेवलपमैण्ट आफ मारल आइडियाज़ पृ० ३९३-४१३, जिमर डेलबुइक तथा वैवर प्रमाणो के लिये देखिये वैदिक इंडेक्स खण्ड १, पृष्ठ ४८७।

५ का० सं० २७।९ तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति न पुमांसम्।

मे लडकियो का ऐसे घने जंगलो मे छोड आना है, जहा उन्हे वन्य हिंस्र जन्तु अपना भक्ष्य वना ले । राजवाडे ने इस अर्थ का समर्थन करते हुए लिखा है कि यह उन दुर्दिनो का चित्र उपस्थित करता है, जब बालिका वध ने भारतीय इतिहास के पृष्ठो को काला किया था [६] ।

किन्तु किसी भी प्राचीन टीकाकार ने ऐसा अर्थ नही किया । सायण के के मत में इस का अभिप्राय लडकी को वरकुल में छोडना (तै० स० १।४।२८) है, दुर्गाचार्य (निरुक्त ३।४) इसका समर्थन करते हुए कहता है कि वे लड़की दूसरो को देते है (परास्यन्ति परस्मै यच्छन्ति)[७]। राजवाडे ने सायण के अर्थ को क्लिष्ट मानते हुए क्षत्रियो के उदाहरण से इसकी पुष्टि करने का यत्न किया है ; किन्तु वैदिक साहित्य की कोई निर्विवाद साक्षी नही दी । उपर्युक्त प्रमाणो मे 'परास्यन्ति' का अर्थ यदि यह किया जाय कि पैदा होने पर लडकी को तो (पुरुप शय्या पर ही) छोड देते है तथा लड़के को नही छोडते (उसे प्यार से उठा लेते है) तो यह अर्थ याज्ञिक प्रक्रिया के अधिक अनुकूल तथा कन्या विपयक अन्य सकेतो के साथ अधिक सगत बैठता है । इससे यही परिणाम निकलता है कि वैदिक आर्य कन्या के जन्म पर प्रसन्न नही होते थे, पहले उद्धृत किया ऐत० ब्रा० (३३।१) का वचन भी इस का समर्थक है । अत. इस से कन्या वध की पुष्टि करना उचित नही प्रतीत होता । वैवर द्वारा दिया गया पचविंश ब्राह्मण के आगिरस युक्ताश्व का प्रमाण (११।८।८) कन्यावध का पोषक नही है, क्योकि वहा युक्ताश्व द्वारा शिशुओ को केवल विपरिहार (बाधा या कष्ट) देने का वर्णन है, वध का उल्लेख नही है । पुप्ट साक्षियो के अभाव मे वैदिक युग मे कन्यावध की परिपाटी का प्रचलन अमान्य प्रतीत होता है ।

वैदिक युग की भाति परवर्त्ती काल में भी हिन्दू परिवार मे कन्या उपेक्षा का पात्र रही । वाल्मीकि रामायण के मतानुसार मानाकाक्षी के लिये कन्या का पिता होना दु ख का कारण है, क्योकि यह नही पता होता कि कन्या किस का वरण करेगी, वह माता पिता और श्वशुर—तीनो के कुलो को (दुश्चरित्रता के कारण) सशय में रखती है । (७।९।१०-११, ७।१२।११-१२) । महाभा० में कन्या कष्ट (कृच्छ्रन्तु दुहिता किल १।१५९।११) और शत्रु मानी गमी (१२।२४३।२०) है । कौरव पाण्डवो के भीपण युद्ध का एक अपशकुन कई

---

६. निरुक्त, भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट द्वारा प्रकाशित पृ० ४२१

७. निरुक्त आनन्दाश्रम संस्करण प्रथम भाग प० ८०

स्त्रियो का चार पांच लड़कियां उत्पन्न करना था (महाभारत ६।३।७)। वाण के मतानुसार कन्या युवती होने पर पिता को चिन्ता के भंवर में डाल देती है[८]।

उपेक्षा के कारण—हिन्दू परिवार में कन्या की उपेक्षा और दुर्दशा के प्रधान कारण उस से उत्पन्न होने वाली अनेक प्रकार की चिन्तायें हैं। पहली चिन्ता उसके लिये उपयुक्त वर ढूढने की है, दूसरी उसके लिये दहेज जुटाने की, तीसरी उसकी तनिक असावधानी से अपने कुल की अपकीर्ति की, चौथी श्वशुर कुल मे उस के सुखी रहने की[९]। प्रभाकरवर्धन जैसे सहृदय व्यक्ति के शब्दो में माता पिता को सबसे अधिक दु:ख इस बात का होता है[१०]—'उनके अपने शरीर से उत्पन्न, अपनी गोद में पाले पोसे और कभी न छोडे जाने वाले बच्चो को अकस्मात् दूसरे अपरिचित व्यक्ति ले जाते हैं। इसीलिये सज्जन सन्तान रूप से तुल्य होने पर भी कन्या के पैदा होने पर दु खी होते हैं। इसी भय से मुनि विवाह नही करते, घर छोड़ कर सुनसान जगलो मे रहते हैं।"

मध्ययुग में कन्यावध—मध्य एवं मुगलयुग में राजपूतो तथा हिन्दुओ के अनेक वर्गो में दहेज की कुप्रथा का विकास होने से वालिका वध की दारुण परिपाटी को वडा प्रोत्साहन मिला। वैदिक युग मे इस के प्रचलन में पूरा सदेह है, किन्तु मध्य तथा ब्रिटिशयुग इस का व्यापक प्रचार निर्विवाद है। राजपूतो में पृथ्वीराज चौहान जैसे राजाओ के लिये दहेज में जब खजाने खाली होने लगे[११], वडी गरीवी के समय जव उदयपुर के राणा ने अपनी कन्याओ के विवाह के समय मुख्य भाटो को केवल एक लाख रुपया देना शुरू किया[१२] और वसोली के राजकुमार जैसे कदापि न प्रसन्न होने वाले जामाता हिन्दू समाज मे उत्पन्न

---

८. हर्षचरित ४ र्थ उच्छ्वास पृ० १४०-४१ उद्वेगमहावर्त्ते पातयति पयोधरोन्नमन काले। सरिदिव तटमनुवर्षं विवर्धमाना सुता पितरम् ॥

९. मिलाओ पंचतन्त्र मित्रभेद (जीवानन्द संस्करण) श्लोक २२-२४ पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता, कस्मै प्रदेयेति महान्वितर्कः। दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वेति, कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥

१०. हर्षचरित वही मदंगसंभूतान्यंकलालितान्यपरित्याज्यान्यपत्यकान्यकाण्डएवागत्यासंस्तुतैर्नीयन्ते।

११. टाड-एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान पृ० ६६२

१२. टाड—वहीं।

हुए[१३] तो कन्याओ का विवाह बहुत कठिन हो गया। उस के लिये उपयुक्त वर ढूंढने की चिन्ता तथा विवाह के समय परेशानियो और अपमानो का घूट पीने की अपेक्षा कन्याओ को पैदा होते ही मारना अधिक अच्छा समझा जाने लगा। महाराजा जयसिंह ने इस का मूल कारण दहेज समझते हुए सामन्तो की एक परिषद् बुला कर शादी के खर्च की राशि नियत कर इस बुराई को मिटाना चाहा, किन्तु सलूम्बरा के सरदार चन्दावत के विरोध के कारण यह योजना सफल नही हुई।

१९ वी शती में पंजाब और राजपूताने मे इस कुप्रथा का प्रचार था। पजाव के खत्री, वेदी, जाट, राजपूत और मुहियालो मे इस का प्रसार था। गुरु गोविन्दसिंह द्वारा कुड़ीमारो (कन्यावध करने वालो) की निन्दा इसे नही बन्द कर सकी। पजाव पर अग्रेजो का अधिकार होते ही सर जान लारेन्स द्वारा प्रचालित तीन आज्ञाओ मे एक थी—बेटी मत मारो। १८५२ में मेजर एडवर्डस् ने जयसिंह की भाति पजाव के खत्रियो मे वैवाहिक व्यय नियन्त्रित कर इस कुप्रथा का अन्त करने का निष्फल प्रयत्न किया[१४]। पजाव की १९११ की जनगणना रिपोर्ट में यह बताया गया है कि वालिकाओ के वध के लिये मुख्य रूप से पाच नृशस उपाय वरते जाते थे (१) गला घोटना (२) आक का रस देना (३) पहली घुट्टी में अफीम की वहुत अधिक मात्रा मिला देना (४) माघ पूस की ठड मे शीतल जल डाल कर मारना (५) कुछ भी खाने को न देकर भूखा मारना। १८७० मे वालिका वध को रोकने के लिये एक कानून वनाया गया, किन्तु फिर भी इस कुप्रथा का पूरी तरह से अन्त नही हुआ। १९३० की जनगणना रिपोर्ट के अनुसार ग्वालियर के भादुरिया और तवर राजपूतो मे एक हजार पुरुषो के पीछे स्त्रियो की सख्या क्रमश. ६३४ और ६२२

---

१३. पंजाब की १९११ की जनगणना रिपोर्ट (खंड १ पृ० २५०) में यह लोककथा दी गयी है कि बसोली का राजकुमार कांगड़े की राज कन्या को धूम धाम से व्याह कर और खूब दहेज पाकर जब घर लौटने लगा तो तम्बू गाड़ने वालों को हथौड़ों की कमी महसूस हुई। इस पर वे कांगड़ा के राजा को गालियां देने लगे। राजा ने वह अपमान तो किसी प्रकार सह लिया, किन्तु भविष्य में इस की पुनरावृत्ति रोकने के लिए बालिका वध प्रचलित किया॥

१४. पंजाब की उपर्युक्त रिपोर्ट पृ० २४३

१५. वही पृ० २५८

थी। जयपुर राज्य की शेखावत शाखा के कछवाहो मे प्रति सहस्त्र पुरुषो के पीछे स्त्रिया केवल ५३० थी। इस कमी का एक प्रधान कारण गुप्त रूप से कन्या वध का प्रचलन था[१६]। यह स्मरण रखना चाहिये कि कन्या के आर्थिक रूप से भार होने के कारण प्राचीन काल में भारत की भांति चीन, अरब यूनान आदि देशो में बालिकावध की परिपाटी प्रचलित थी[१७] और कन्या का जन्म दुख का हेतु समझा जाता था।

इसमें कोई सदेह नही कि हिन्दू परिवार में अब बालिकावध की परिपाटी विलुप्त प्राय है; किन्तु कन्याओ की उपेक्षा तथा उनके जन्म को दुख का कारण समझना अब तक प्रचलित है। इस स्थिति का अन्त दहेज प्रथा के उन्मूलन के साथ ही होगा। जब तक माता पिता को कन्या का वर ढूढने और उसे सन्तुष्ट करने की आवश्यकता बनी रहेगी, तब तक हिन्दू परिवार मे कन्या का जन्म चिन्ता का विषय बना रहेगा।

कन्याओं का अक्षतयोनित्व—धर्मशास्त्रो मे विवाह से पूर्व कन्या के कौमार्य को सुरक्षित रखने पर बहुत बल दिया गया है। गौतम (४।१)

---

१६. भारत की जनगणना रिपोर्ट १९३१ खण्ड १, पृ० १९५-९६।

१७. चीनियो का मन्तव्य है कि लड़की ने चाहे रानी बनना हो, उसे मारा जा सकता है, लड़के ने भिखारी बनना हो, तो भी उसे नही मारना चाहिये (इंसा० रिली० ई० खण्ड ५ पृ० ७३२) अरबो में यह कहावत थी कि लड़कियों का दामाद कब्र होता है, उनमें लड़कियों को जिन्दा कब्र में गाड़ने की परिपाटी थी। हजरत उस्मान की आंखों से पहली बार आंसू तब ढलके, जब उन्होने अपनी भोली लड़की को इस प्रकार गाड़ा। हजरत मुहम्मद ने कन्यावध की घोर निन्दा की। प्राचीन यूनानियो में परासन (Exposure) अर्थात् अपनी सन्तानो, विशेष-रूप से कन्याओ को जंगल में फेंक देने की परिपाटी थी। प्राचीन टयूटन लोगो में कन्या का जन्म बड़ी मुसीबत समझा जाता था। आज भी एक लिथुआनी अपनी सन्तान की संख्या पूछे जाने पर, लड़कियों के दुःख का हेतु होने से उनकी संख्या को, अपने उत्तर में सम्मिलित नहीं करता (इंसा० रिली० ख० ५ पृ० ७५३)। जहां कन्या की बजाय लड़के आर्थिक दृष्टि से बोझ होते है, वहां उनके वध की प्रथा पायी जाती है। पैरागुए के अबीपोज लोगो में पत्नी को दाम देकर खरीदने की प्रथा है, लड़को के लिये पैसे खर्च करने पड़ते है; अतः इनमें लड़कों को मारने की पद्धति प्रचलित है (फिक—प्रिमिटिव लव पृ० ५८७)।

अनन्यपूर्वा, वसिष्ठ (८।१) अस्पृष्टमैथुना, याज्ञ० (१।५२) अनन्यपूर्विका कन्या को पाणिग्रहणयोग्य समझता है। मनु (९।१७६) के मत मे विवाह सस्कार अक्षतयोनि का ही हो सकता है। कौमार्य नष्ट करनेवालो के लिये कठोर दण्डो का विधान है। आपस्तम्व (२।१०।२६।२१) ऐसे व्यक्ति के लिये सर्वस्व छीनने की तथा देश निर्वासन की सजा वताता है। मनु किसी कन्या के सम्वन्ध मे झूठा प्रवाद उडानेवाले को १०० पण के दण्ड का विधान करता है (८।२२५)। विष्णु इससे सन्तुष्ट न होकर कठोरतम जुर्माने का समर्थक है (५।४७) । महाभारत में कन्याओ के कौमार्य का लोप राज्य के पतन का चिह्न माना गया है (१०।९०।३०)। कलियुग का एक यह भी लक्षण है कि उस समय कुमारिया मातायें होने लगेगी (नारद १।३१)। महर्षि वेद-व्यास के मत मे कौमार्यनाश से कन्या न केवल अपनी प्रतिष्ठा खोती है (महाभा० १३।३६।१७) किन्तु इससे व्रह्महत्या का एक तिहाई पाप भी प्राप्त करती है[१८] ।

हिन्दू कन्याओ ने अपने कौमार्य को अखण्डित रखने के लिये प्राणो का वलिदान करने मे सकोच नही किया। इसका सर्वोत्तम उदाहरण वेदवती (रामा० ७।१७) है। वृहस्पति के पुत्र व्रह्मर्षि कुशध्वज की इस वाङमयी (वचनो से प्रादुर्भूत) कन्या ने विष्णु को पतिरूप से प्राप्त करने के लिये उग्र तप किया। उसके रूप से मुग्ध हो, रावण ने उसे त्रिलोकी के ऐश्वर्य का प्रलो-भन दिया और जवरदस्ती वालो से पकडा। वेदवती इससे क्रुद्ध होकर चिता जलाकर उसमे यह कहती हुई भस्म हो गयी कि स्त्री के लिये पापी को मारना शक्य नही, किन्तु अपने तप के कारण मै अगले जन्म मे तेरे वध का कारण वनूगी। सीता के रूप मे उत्पन्न हो, वह रावण के वध का हेतु वनी। हिन्दू परिवार में वेदवती जैसी सैकड़ो कन्याओ ने सकट आने पर अपने प्राणो की अपेक्षा कौमार्य को अधिक महत्त्व दिया है।

कौमार्य अक्षुण्ण रखने की भावना, महाभारत मे कई स्थलो पर बडे विचित्र रूप में दृष्टिगोचर होती है। कुछ कारणो से कौमार्य खण्डित होने पर भी कन्याये अक्षतयोनि वनी रहती है। कुन्ती, सत्यवती, द्रौपदी और माधवी इसके प्रधान उदाहरण है। देवो के आह्वान के लिये दिये एक मत्र की कौतुकवश परीक्षा के

---

१८. महाभा० १२।१६५।१२ त्रिभाग व्रह्महत्यायाः कन्या प्राप्नोति दुष्यती।

लिये कुन्ती ने सूर्य को बुलाया और उसके बड़े आग्रह तथा पुन. कन्या हो जाने के आश्वासन पर ही लाचारी में सूर्य से कर्ण को प्राप्त किया (३।१०३-१०६ अ०)। आश्रमवासिक पर्व में इस घटना पर दुखी कुन्ती को व्यास ने यह सान्त्वना दी है कि इसमें तुम्हारा कोई दोष नही, क्योंकि तुम पुन. कन्या हो गयी थी[१९]। पराशर ने इसी शर्त्त पर सत्यवती से कृष्णद्वैपायन को जन्म दिया था[२०]। इन दोनो उदाहरणो मे कन्यात्व एक वार ही दूषित हुआ था किन्तु माधवी और द्रौपदी अनेक समागमो के वाद भी कन्या ही वनी रही[२१]। अपने गुरु महर्षि

---

१९. वही १५।३०।२१ अपराधश्च ते नास्ति कन्याभावं गता ह्यसि।

२०. वही १।६३।७८—उवाच मत्प्रियं कृत्वा कन्यैव त्वं भविष्यसि।

२१. महाभारत में कन्या का समागम के वाद भी, अक्षत योनि वना रहना प्रायः वरदान का प्रभाव वताया गया है, यह असंभव नहीं है; क्योंकि वर्त्तमान काल के शरीरशास्त्री कौमार्य का अक्षतयोनित्व के साथ अविनाभाव सम्वन्ध नहीं समझते। यह प्रधान रूप से योनिमार्ग के द्वार को ढांपने वाली एक झिल्ली (कुमारीच्छद) की वनावट पर आश्रित है। यदि इसके छिद्र में अधिक लचक हो, तो ३०-४० वर्ष तक अपना यौन जीवन विताने के वाद भी स्त्री अक्षतयोनि वनी रहती है। फिलिप ने (दी क्राइसिस आफ मैरिज भारतीय संस्करण वम्वई १९४४ पृ० २१) लिखा है कि वर्षों तक पेशा करने वाली अनेक गणिकायें योरोप में अक्षत योनि वनी रहती हैं। जव झिल्ली के छिद्र में लचक कम हो तभी स्त्री क्षतयोनि होती है और यह क्षत समागम के अतिरिक्त सड़क पर गिर पड़ने, कूदने, धक्का लगने आदि से भी हो सकता है। मध्यकालीन और आधुनिक योरोप में कृत्रिम रूप से अक्षत योनि की स्थिति उत्पन्न करने के अनेक उदाहरण मिलते हैं। डा० वोअर ने एक मध्यकालीन कविता के आधार पर एक ऐसी कुट्टनी का वर्णन किया है, जो पशुओं के व्लैडर सीकर, टांके लगाकर तथा कई पेड़ो की जड़ो से यह कार्य करती थी। १८८०-९० के वीच में लंडन में पालमाल गजट द्वारा ऐसी घटनायें प्रकाश में आयीं, जिन से यह ज्ञात हुआ कि अक्षतयोनि कन्याओं की वढ़ती हुई मांग स्त्रियो को तीन, चार या पांच वार नये सिरे से कुमारी वना कर पूरी की जा सकती थी। (मेहता-साइण्टाफिक क्यूरिआसिटीज़ आफ सैक्स लाइफ पृ० २६९)। योरोप के प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण शहर और कस्वे में कम से कम एक ऐसा डाक्टर अवश्य होता है; जो स्त्रियो में कुमारी वनानेवाले डाक्टर (वर्जिन डाक्टर) के नाम से प्रसिद्ध होता है। गलत कदम उठाने

विश्वामित्र से शिक्षा पूरी करने के बाद जब गालव ने गुरुदक्षिणा देने के लिये बहुत आग्रह किया तो गुरु ने एक ओर से श्यामकर्ण आठ सौ घोड़ों की मांग की। गालव इसे पूरा करने के लिये अपने मित्र गरुड़ की प्रेरणा से राजा ययाति के पास पहुँचा; उसने गालव को अपनी रूपवती कन्या माधवी का दान कर उस द्वारा उसे ८०० घोडे प्राप्त करने का परामर्श दिया। इक्ष्वाकुवंशी राजा हर्यश्व माधवी को चाहते थे, किन्तु उनके पास २०० ही घोड़े थे। माधवी ने गालव को बताया कि किसी ब्रह्मवादी के वर से वह प्रसूति के बाद कन्या हो जायगी[२२], अतः उसे चार राजाओ को दान कर वह उनसे ८०० घोडे प्राप्त करे। गालवने हर्यश्व, दिवोदास, उशीनर और विश्वामित्र को बारी बारी से माधवी देकर अपनी गुरु दक्षिणा प्राप्त की (५।११५-२० अ०)। द्रौपदी का पाच पाण्डवो से परिणय हुआ था और वह प्रतिदिन की समाप्ति पर कन्या हो जाती थी[२३]।

कौमार्य के प्रेरक कारण—कन्याओ को अक्षतयोनि रखने की चिन्ता प्रायः अनेक जातियो में पायी जाती है[२४]। पुरुप अक्षत योमि कन्या ही चाहता है।

वाली स्त्रियां इससे लाभ उठाती हैं और अक्षत योनि की चाह रखनेवाले पुरुषों की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये वार वनितायें भी इससे आपरेशन द्वारा कृत्रिम योनिच्छद लगवाकर कुमारी बनती हैं (क्राइसिस इन मैरिज, पृ० १८-२३)। महाभारत के उदाहरणों का आशय यह भी हो सकता है कि प्रसूति के बाद कुन्ती आदि का शरीर पुनः कन्याओ जैसा हो गया (अत्रिदेव-स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग पृ० १०५–८)यह भी संभव है कि उनके कुमारीच्छद की लचकीली रचना उन्हे कुमारी बनाये रखने का मुख्य कारण हो।

२२. महाभा० ५।११५।२१ मम दत्तो वरः कश्चित्केनचिद् ब्रह्मवादिना। प्रसूत्यन्ते प्रसूत्यन्ते कन्यैव त्वं भविष्यसि ॥

२३. महाभा० १।१९८।१४ महानुभावा किल सा सुमध्यमा, बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥

२४. यहूदियों में यदि कोई कन्या क्षतयोनि सिद्ध होती थी तो उसके पिता के घर के सामने शहर के लोग उसे पत्थरो से मार देते थे (डिट्रानमी २२।१३-२१)। यहूदियों में कन्या के कौमार्य के प्रमाण माता पिता को सौंप दिये जाते थे और बाद में यदि पति पत्नी में इस सम्बन्ध में विवाद हो तो ये प्रस्तुत किये जाते थे। डिट्रानमी से इन प्रमाणों का स्वरूप स्पष्ट नही होता। किन्तु अनेक जातियों में, इसकी साक्षी प्रायः रक्त रंजित वस्त्र होता है। कुछ अरब

विज्ञानिक कारण तथा एक आर्थिक हेतु है। पहला कारण यह है
न्त की भांति 'अनाघ्रात पुष्प, अलून पल्लव, अविद्ध रत्न' की तरह
१०) अक्षतयोनि कन्या का उपभोग चाहता है। महाभारत में अन्य-
कार और निन्दा के अनेक उदाहरण हैं। काशिराज की कन्या
भ्म यद्यपि हर लाया था, किन्तु उसने अम्बा की प्रार्थना पर उसे
पास जाने दिया, क्योंकि वह पति रूप से उसका वरण कर
पर शाल्व ने उसे इसलिये नहीं स्वीकार किया कि वह अन्य-

वैवाहिक प्रीतिभोज के बाद, वर वधू के शयनकक्ष में जाने पर,
र प्रतीक्षा करते हैं; वर के बाहर आने पर सम्बन्धी अन्दर जाकर
ादर का निरीक्षण करते हैं; यदि उस पर खून के धब्बे हों, तो
ई देते हैं; न हों तो क्रुद्ध होकर वधू पर टूट पड़ते हैं, बुरी तरह
घर से बाहर निकाल देते हैं। पिता या पति के घर में उसका कोई
रहता, उसे गणिका होने के लिये बाधित किया जाता है। उत्तरी
कलों में इस प्रकार विवशतापूर्वक यह पेशा अपनाने वालों की संख्या
है। (क्राइसिस आफ मैरिज, पृ० २०)। दक्षिणी स्लावों में कन्यात्व
के लिये बिस्तर की चादर तथा वधू के अधोवसन की जांच होती है।
बल्गेरिया के तुर्कों में यही रिवाज है। दक्षिण अमरीका की युरकरा
ू के सुहागरात वाले अधोवसन का जलूस निकाला जाता है। ब्रान्तोम
म्बन्ध में लिखा है कि प्रथम समागम के बाद वधू का रक्तरंजित वस्त्र
बाहर दिखाया जाता था और उच्च स्वर से वधू के कन्या होने की
जाती थी। (मेयर—सै० ला० पृ० ४३)। प्राचीन भारत में ऐसी
ता हाल की गाथा सप्तशती में वर्णित (गाथा सं० ४५७) कृत्रिम
से सूचित होती है। मध्यकालीन योरोप में चादर पर कबूतर का खून
तथा योनि की दीवारों पर जोंक आदि से घाव बनवा कर तथा ईरान
ी रक्तरंजित कपड़ा रख कर क्षतयोनि कन्यायें अपना कौमार्य सिद्ध
(मेहता—साइण्टिफिक क्यूरिआसिटीज़ आफ सैक्स लाइफ पृ० २६९)।
से बचने के लिये सूडान व अफ्रीका में कन्याओं के यौन अंगों के साथ
एक मुद्रिका बांधी जाती थी कि वे समागम कर ही न सकें।
ओं का मुद्रिकाबन्ध (Infibulation) नहीं होता था, उनका
हो सकता था (वैस्टरमार्क-हिस्ट्री आफ ह्यूमन मैरिज, पृ० १२४)।

पूर्वा थी। अम्बा के बहुत सफाई पेश करने पर भी केंचुली छोडने वाले साप की तरह, शाल्व ने उसका त्याग किया (५।१७५।१९)। अर्जुन ने भुक्तपूर्वा स्त्री को प्राप्त करने वालो की गणना ब्रह्महत्या तथा गोहत्या करनेवाले पापियो के साथ की है (७।७३।४ अनु०)। डा० वोअर के मत मे अक्षतयोनि कन्या के आग्रह का प्रधान कारण पुरुषो की अहभावना और गर्व है। उसकी ईर्ष्या जैसे विवाह के वाद पत्नी के सतीत्व की आकांक्षा रखती है, वैसे ही विवाह से पूर्व उसकी शुद्धता चाहती है। दूसरा मनोवैज्ञानिक कारण हैवलाक एलिस का यह मत है कि कन्या लज्जालु और सकोचशील होने से अधिक चाही जाती है[२५]। तीसरा कारण आर्थिक है। पहले कन्या पिता की सपत्ति थी और विशाखा के शब्दो मे विकाऊ वर्त्तन[२६]। व्यवहार से कोरे कपडे की कीमत घट जाती है। डा० ग्रेड ने टोगो लैण्ड के हब्शियो के सम्बन्ध में लिखा है कि वहा अन्य स्त्रियो की अपेक्षा कुमारी का मूल्य अधिक है[२७]। प्रायः सर्वत्र कन्यादूषण साम्पत्तिक अपराध है[२८]। आजकल पश्चिमी जगत् मे नवीन परिवर्त्तनो के कारण कौमार्य की माग घट रही है[२९]। किन्तु हिन्दू परिवार मे अभी इसके भविष्य के सबन्ध में कुछ कहना कठिन है।

कन्या के प्रति स्नेह—विषाद का हेतु होने पर भी, हिन्दू परिवार में, कन्या माता पिता के अगाध प्रेम का पात्र रही है। शुक्राचार्य जैसे पिताओ को, अपनी लाडली लडकियो की तनिक भी नाराजगी सह्य नही थी, महाभारत के वर्णना-

---

२५. स्टडीज इन सैक्स साइकालोजी खं० १, माडेस्टी का प्रकरण। हमारे यहां रीतिकारों ने इसीलिये मुग्धा नायिका की महिमा का वर्णन किया है।

२६. बुद्धचर्या पृ० २२६

२७. वैस्टरमार्क—हि० ह्यू० मै० पृ० १२४

२८. वही—ओरिजिन एण्ड डेवेलपमेंट आफ मारल आइडियाज खण्ड २, अध्याय ४२

२९. संयुक्त राज्य अमरीका में छः हजार के लगभग स्त्री पुरुषो से पूछे गये प्रश्नों के आधार पर, डा० किन्जी ने गतवर्ष एक महत्वपूर्ण रिपोर्ट (सैक्सुअल विहेवियर इन फीमेल) प्रकाशित की है। इसमें यह परिणाम निकाला गया है कि ये प्रश्न जिन पुरुषों से पूछे गये थे, उनमें केवल ४० प्रतिशत ही कुमारिकाओं से विवाह की इच्छा रखते थे, स्त्रियों में यह संख्या २५ प्रतिशत ही थी।

नुसार देवयानी अपने पिता का प्राण थी[३०]। शुक्राचार्य ने उसके आग्रह से तीन वार दैत्यों द्वारा मारे गये कच का पुनरुज्जीवन किया और अन्तिम वार कच को जिलाने के लिये उन्हे अपने प्राणो को सकट में डालना पड़ा था; क्योंकि दैत्यो ने कच के टुकड़े कर, उन्हे मदिरा में घोलकर शुक्राचार्य को पिला दिया था, और कच उनका पेट फाडे विना वाहर नही आ सकता था (महाभा० १।७६ अ०)। देवयानी जैसा लाड़ प्यार प्राय. पुत्रियो को हिन्दू परिवार में अपने माता पिता से मिलता रहा है। द्रौपदी ने पिता की गोद में वैठे हुए नीति का उपदेश सुना था (महाभा० ३।३२।६५) । ऋग्वेद में अपने माता पिता की गोद मे पड़ी हुई दो वहनों का उल्लेख है (१।१८५।५) ।

शास्त्रकारो ने कन्या को पुत्रतुल्य माना है। मनु के अनुसार जैसे पुत्र अपना ही दूसरा रूप होता है, उसी तरह लड़की पुत्र के वरावर होती है। आत्म रूप कन्या के होते हुए (किसी व्यक्ति के अपुत्र मरने पर भी) दूसरा व्यक्ति उसकी सम्पत्ति में कैसे हिस्सा ले सकता है। (मि० महा० १३।४५।११)[३१] । वह यह भी व्यवस्था करता है कि पिता अपनी कन्या से कोई झगड़ा न करे (४। १८०)। नारद और वृहस्पति पुत्र के अभाव मे कन्या को, पुत्र की तरह पिता की सन्तान होने से सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वताते है[३२] ।

हिन्दू परिवार में कन्या ने पिता के अगाध स्नेह को पाते हुए उसका दुःख दूर करने के लिये महत्तम आत्मत्याग में कभी सकोच नही किया। राम ने पिता का वचन पूरा करने के लिये १४ वर्ष का वनवास स्वीकार किया था; किन्तु असुरराज वृपपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने पिता के कहने से कुल के कल्याण के लिये आजीवन देवयानी की दासता स्वीकार की (महाभा० १।८०।२३)। एकचक्रा नगरी में जव एक ब्राह्मण परिवार में से एक व्यक्ति को वक राक्षस के भोजन के लिये भेजने की वारी आती है तो उस ब्राह्मण की कन्या पिता से आग्रह करती है कि वह उसे भेज कर सकट दूर करे, 'अपत्य इसलिये चाहा जाता है

---

३०. महाभारत १।८०।९-१० दुहितुर्नाप्रियं सोढुं शक्तोऽहं दयिता हि मे। प्रसाद्यतां देवयानी जीवितं यत्र मे स्थितम् ॥

३१. मनु० ९।१३० यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥

३२. नारद दायभाग ५० पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात् वृह० अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ७४३

कि यह हमे (ससार सागर से) पार करायेगा, अब (सकट) काल उपस्थित है, नाव की तरह आप मुझ से (वर्त्तमान विपत्ति के सागर को) पार करें[३३]। मध्ययुग मे कृष्ण कुमारी का कुल की रक्षा के लिये गरलपान द्वारा प्राणत्याग सुप्रसिद्ध है। वर्त्तमान काल में अनेक कन्याओ ने दहेज की चिन्ता से ग्रस्त माता पिता को इस प्रकार निश्चिन्त किया है।

कन्या का दर्शन मांगलिक है—कन्या का पितृत्व दुःखपूर्ण होने पर भी, हिन्दू समाज मे उसका दर्शन सदा शुभ माना गया है, मंगल अवसरो पर उसकी उपस्थिति आवश्यक वतायी गयी है। जयद्रथवध वाले दिन महाराज युधिष्ठिर राजसिंहासन पर वैठने से पहले जिन मागलिक द्रव्यो का दर्शन करते है, उनमें अलकृत कन्यायें भी है (महाभा० ७।८२।२१-२२)। इसी दिन, जव सात्यकि अर्जुन के साथ युद्ध के लिये जाने को तय्यार होता है, तो कन्याये उसका खीलो तथा सुगन्धित मालाओ से अभिनन्दन करती है (७।११२।६५)। रामचन्द्रादि के राज्याभिषेक के समय मागलिक द्रव्यो मे वार-वार कन्याओ का वर्णन है[३४]। शौनककारिका ने आठ शुभ वस्तुओ मे इनकी गणना की है[३५]।

---

३३. महाभा० १।१६१।४ इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामयम्। अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया॥

३४. वा० रा० २।१४।३६ अष्टौ च कन्याः रुचिराः; वा० रा० ६।१२८।३८; ६२। महाभारत ५।१४०।१४; कन्याओं द्वारा खीलों से स्वागत के लिये देखिये रघुवंश २।१२

३५. दर्पणः पूर्णकलशः कन्या सुमनसोऽक्षताः। दीपमाला ध्वजाः लाजाः संप्रोक्तं चाष्टमंगलम्॥ काणे की हि० ध० खंड २, भाग १, पृ० ५११ पर उद्धृत। मि० वामन पुराण १४।३५-३६

नवां अध्याय

भाई बहिन तथा अन्य सम्बन्धी

भाई का महत्व—वड़े भाई के कर्त्तव्य—भ्रातृप्रेम—वहिन—भैयादूज—भाई वहिन का प्रेम—ननद—देवर—वहू—वधू के कर्त्तव्य वौद्ध साहित्य में सास वहू का संघर्ष—वहुओ का उत्पीडन—मामा।

हिन्दू परिवार में भाई का स्थान वहुत महत्वपूर्ण है। छान्दोग्योपनिषद् (७।१५।२) में इस का दर्जा माता पिता के वाद माना गया है। कई वार इसे पत्नी पुत्र और पति की अपेक्षा अधिक गौरव दिया गया है। राम ने शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण के लिये विलाप करते हुए कहा था—'सव स्थानो में पत्नी पाई जा सकती है, (विवाह द्वारा) सम्वन्धी मिल सकते हैं, किन्तु ऐसा कोई स्थान नही, जहां अपना भाई उपलव्व हो सके[1]'। वौद्ध साहित्य में भी ऐसा विचार प्रकट किया गया है। जातक स० ६७ एक स्त्री के पति, पुत्र और भाई को मृत्यु दण्ड दिया जाता है, पत्नी की प्रार्थना पर, राजा उसे उन तीनो में से किसी एक को मुक्त करवाने के लिये चुनने को कहता है, वह यद्यपि यह मानती है कि दस भाई होने पर भी पतिहीन स्त्री वैसे ही है, जैसे जलशून्य नदी या राजा रहित राज्य; तथापि वह मुक्ति के लिये अपने भाई को ही चुनती है, क्योकि उसके मत में पुत्र और पति उसे पुनः प्राप्त हो सकते थे, किन्तु भाई दुवारा कही नही मिल सकते[2]।

---

१. वा० रा० ६।१०१।१४ देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च वान्धवाः। तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

२. भाई की महत्ता के सम्वन्ध में अन्य देशो के उदाहरणो के लिये देखिये—मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया, पृ० ५३१; एक लोकगीत में उपर्युक्त जातक कथा की भांति एक लड़की के आगे उसके मृत्युदण्ड प्राप्त भाई और प्रेमी में से किसी एक को मुक्त कराने के लिये चुनने का विकल्प रखा जाता है, इस पर वह भाई को ही चुनती है, क्योकि 'प्रेमी

भ्राता (भाई) शब्द का धात्वर्थ भी परिवार मे उसके महत्त्व पर सुन्दर प्रकाश डालता है। यह पालन पोषण का अर्थ देनेवाली भृ धातु से बना है। वैदिक युग से भ्राता बहिनो के रक्षक और पोषक रहे है। भ्रातृहीन बहनो की दुर्दशा का उल्लेख आगे होगा।

बड़े भाई के कर्त्तव्य--पिता के अभाव में बड़ा भाई सारे परिवार का पालन पोषण करता है, अत. धर्मशास्त्रो मे उसे पिता तुल्य मानते हुए उसके विशेष कर्त्तव्य और अधिकार बताये गये हैं। "बडा भाई छोटे भाइयो को वैसे ही पाले, जैसे पिता पुत्रो का पोषण करता है" (मनु० ९।१०८ मि० नारद० १३।५)। वह ससार मे पूज्यतम है, जो बड़ा भाई छोटे भाइयो के साथ पिता जैसा व्यवहार करता है, वह पिता माता की भाति पूज्य होता है (मनु ९।१०९, ११०)। मनु के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र के जन्ममात्र से ही मनुष्य पुत्रवान् होता है; अतः सारी पैतृक सम्पत्ति उसी को दी जानी चाहिये। 'पिता के सम्पूर्ण धन को बड़ा भाई ले ले, शेष छोटे भाई उस पर वैसे ही अवलम्बित रहे, जैसे पुत्र पिता पर (मनु ९।१०५-६)। बड़े भाई को सारी सम्पत्ति दिये जाने के विशेषाधिकार का उल्लेख गौतम (२८।३-४) बौधायन (२।३।१३) आपस्तम्ब (२।१४।६) ने भी किया है।

भ्रातृप्रेम--हिन्दू परिवार में भाइयों के पारस्परिक प्रेम के सब से सुन्दर उदाहरण रामायण में मिलते हैं। राम, लक्ष्मण और भरत जैसे स्नेही भाइयो के दृष्टान्त दुर्लभ हैं और ये हजारो वर्षों से हिन्दू समाज में आदर्श समझे जाते रहे हैं। लक्ष्मण रामचन्द्र के दूसरे प्राण (प्राण इवापरः) थे, वे बचपन से मृत्युपर्यन्त राम की सेवा करते हुए छाया के समान उनके अनुवर्ती रहे। सीता कुछ समय के लिये राम से अलग रही, उन्होंने रामचन्द्र की उतनी सेवा नही की, जितनी लक्ष्मण ने। बचपन मे, लक्ष्मण को रामचन्द्र के पास सोये बिना नींद नही आती थी, वे उनके बिना भोजन नही करते थे। राम जब घोडे पर शिकार करने निकलते तो लक्ष्मण उनकी रक्षा के लिए धनुष लेकर उनके पीछे जाते थे। राम जब वन जाने को उद्यत हुए, तो लक्ष्मण ने उनके चरणों पर लोटकर रोते हुए कहा "तुम्हारे बिना मुझे अमरता या त्रिलोकी के ऐश्वर्य की भी इच्छा नही है (वा०रा० २।३१।५)"। जब राम ने उन्हे अपने साथ वन ले चलने

तो गांव में एक बार गुजरने मात्र से मिल सकता है, किन्तु भाई फिर कभी नहीं प्राप्त हो सकता, मेयर पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ५३१

से इकार किया तो उन्होने अपने दृढ सकल्प को इन शब्दो में प्रकट किया—'आपने वचपन मे हम से प्रतिज्ञा की है कि हम जन्म भर तुम्हारे सहचर रहेगे; क्या आज आप उसे तोड़ना चाहते है, राम पिता की आज्ञा पालने के लिए वन गए, किन्तु लक्ष्मण अपने भाई की सेवा के लिए। वनवास काल मे उन्होने वडे भाई की मूक भाव से जो सेवा की है, वह अद्वितीय है—"जव राम पुष्पित तरुओ से फूल तोड़, सीता के केशो में पहिनाते थे, गेरू घिसकर उसके ललाट पर तिलक लगाते थे, कमल तोडते हुए उसके साथ मन्दाकिनी मे स्नान करते थे, गोदावरी तट के वेतस कुञ्जों में उस की गोद में अपना सिर रखकर आनन्द से सोते थे, उस समय लक्ष्मण कुदाल से मिट्टी खोदकर उनके रहने के लिए पर्णशाला वनाते, गोवर और ईंधन इकट्ठा कर आग जलाते, नदी से उनके लिए पानी का कलसा भर कर लाते, रास्ते की पहचान के लिए कुटिया से सरोवर तक पेडों पर चीथड़े वाँधते, रामचन्द्र के लिये दूव और पत्तो की शय्या तय्यार करते थे[३]"। उन्हे इसी में वड़ा आनन्द आता था। वन आते समय ही उन्होने वडे भाई को कहा था—'आप वैदेही के साथ पर्वतशृगों पर रमण करेंगे और मैं आपके सोते, जागते आपका सव कार्य करूँगा, हाथ में धनुष, कुदाल और पिटारी लेकर आपके साथ चलूगा (वा० रा० २।३१।२५-३७)। एक वार घने जगल में रास्ता भटकने पर काले सांपों बीच में विचरते हुये, जव राम जगल के कष्टो से घवरा गये, तो उन्होंने लक्ष्मण को अयोध्या लौटकर माता-पिता को सान्त्वना देने के लिये प्रेरणा की। उस समय लक्ष्मण का उत्तर था—"मै माता पिता और शत्रुघ्न को तो क्या, स्वर्ग को भी आपके विना नही देखना चाहता।" वड़े भाई के लिये लक्ष्मण का यह असीम प्रेम और अनुपम आत्मत्याग कवन्ध राक्षस द्वारा उनके पकड़े जाने पर अत्युज्वल रूप मे प्रकट हुआ है। उस समय उन्होने कहा—"मै राक्षस के पजे मे फस गया हूँ, आप उसे मेरी वलि देकर भाग जाइये, सीता को खोजकर, पैतृक राज्य पुन प्राप्त कर, हमें स्मरण रखियेगा (अरण्यकाण्ड ६९।३८-४०)। यही कारण है, भाइयो के प्रेम का लक्ष्मण से अधिक प्रशसनीय उदाहरण दुर्लभ है।

राम का भी लक्ष्मण के प्रति अगाध स्नेह था। राज्याभिषेक की प्रसन्नता के समय उन्होने लक्ष्मण को कहा था कि मैं जीवन और राज्य की तुम्हारे लिये कामना करता हूँ (जीवितञ्चापि राज्यञ्च त्वदर्थमभिकामये वा० रा० २।४।

३. रामायणी कथा, पृ० १९

४४) । लका मे शक्ति लगने पर जव लक्ष्मण मूर्च्छित हो गये, उस समय राम रावण के वाणो द्वारा अपनी पीठ छलनी होने पर भी लक्ष्मण की रक्षा करते रहे । अपने सजल नेत्रो से लक्ष्मण को छाती से लगा कर वैठे हुए दु ख और शोक की विह्वलता मे उन्होंने कहा था—"तुम वन में जैसे हमारे साथ आये हो; हम भी आज उसी प्रकार तुम्हारे सग यमराज के यहा चलेगे" (६।१०१।१२) ।

भरत का भ्रातृप्रेम—लक्ष्मण की भाति भरत का भ्रातृस्नेह भी अपूर्व है; इसी से उन्होने प्राप्त राज्य का स्वेच्छापूर्वक त्याग किया। अयोध्या लौटने पर जव वसिष्ठ आदि ने उन्हे राज्य ग्रहण करने का अनुरोध किया तो उन्होंने कहा—"रामचन्द्र ही राजा वनेंगे, पैरो पर पड़कर हम उन्हे मना लावेगे; यदि वे न लौटे तो हम भी चौदह वर्ष वन मे ही रहेगे ।" भरत ने चित्रकूट जाकर राम से अयोध्या की राजगद्दी स्वीकार करने का आग्रह किया । वह दृश्य वस्तुत. अद्वितीय था, जव दोनो भाई राजसिहासन फुटवाल की तरह एक दूसरे की ओर फेंक रहे थे । अन्त मे राम द्वारा भरत की प्रार्थना के स्वीकार न होने पर, वे उनकी पदरज से पवित्र पादुकायें लेकर अयोध्या वापिस लौटे, इन्हे राजगद्दी पर स्थापित किया गया और भरत राम की भाति चौदह वर्ष वनवासी और वल्कलधारी रहे । स्वेच्छा पूर्वक इस प्रकार भाई के लिए राज्यत्याग करने वाले विरले होते हैं । राम ने सुग्रीव को ठीक ही कहा था—'भरत के समान भाई इस ससार मे कहा मिलेगा' ।

हिन्दू परिवार मे लक्ष्मण और भरत का सदैव अनुसरण हुआ हो, सो वात नही । महाभारत मे दुर्योधन अपने भाई पाण्डवो को युद्ध के विना सूई की नोक के वरावर भी जमीन देने को उद्यत नही था । ऐसे उदाहरणो की भी कमी नही कि जव 'राम' को अन्न न मिलता हो और 'लक्ष्मण' सोने के थाल में स्वादिष्ट भोजन का आनन्द ले रहा हो, जव 'राम' वनवास के लिये जा रहा हो और 'लक्ष्मण' महल मे खड़ा मौज से तमाशा देख रहा हो । किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि रामयण के लक्ष्मण और भरत हिन्दू समाज मे भ्रातृप्रेम के आदर्श माने जाते रहे है ।

बहिन—भाई के वाद वहिन का वर्णन स्वाभाविक है । वैदिक युग से हिन्दू परिवार मे बहिन भाई का अमित स्नेह और सरक्षण पाती रही है । भाई के कारण सौभाग्यशालिनी होने से ही वह भगिनी कहलाती है और इसी से हिन्दी का बहिन शब्द वना है ।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थलो पर पिता के मृत एव असमर्थ होने पर कन्याओ के भाई पर अवलम्वन का उल्लेख है (ऋ० १०।८५।४६, ऐ० ब्रा० ३।३७।५) । कुछ वैदिक मंत्रो के आधार पर कीथ और मैकडानल ने यह मत प्रकट किया है कि अभ्रातृका कन्याओ का विवाह दुष्कर होने से वे गणिका की अधोदशा प्राप्त किया करती थीं (वैदिक इडेक्स २।४९६)[४]। इस दुरवस्था के मूल कारण के सम्वन्ध में विद्वानो मे मतभेद है । जिमर की कल्पना है कि भाइयों के अभाव में अनाथ लड़कियो का विवाह कठिन होता था । गैल्डनर का मत है कि इसका कारण पिण्डदान की चिन्ता है; क्योकि अपुत्र पिता लडकियो को पुत्रिका वना लेते थे[५], इस कारण जामाता को उनके घर में रहना पडता था । इस से न केवल लडके का पिता उसे पिण्ड-दान करनेवाले पुत्र से वंचित हो जाता था, अपितु मध्यकालीन समाज में ऐसा घरजवाई अत्यत निन्दनीय समझा जाता था; नीति के एक श्लोक में श्वशुर के कारण प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले को नीचतम व्यक्ति कहा गया है[६] ।

राखी—हिन्दू परिवार में भाई वहिनो का नि.स्वार्थ प्रेम राखी तथा भैया दूज के त्यौहारो से प्रतिवर्ष पुष्ट होता है। राखी के ऐतिहासिक उदाहरण मुगल युग से मिलते हैं । उस सकटपूर्ण काल में हिन्दू वहिनो ने न केवल अपने सोदर और समानधर्मा भाइयों से रक्षण पाया; किन्तु विधर्मी भाइयो से भी सहा-यता प्राप्त की थी । इसका सव से प्रसिद्ध उदाहरण १५३२-३३ ई० में हुमायू

---

४. ऋ० ४।५।५ अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः; अथर्व० १।१७।१ अभ्रातरः इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः, ऋ० १।१२४।७; निरुक्त० ३।५

५. मनु० (३।११) इसी दृष्टि से अभ्रातृमती कन्या से विवाह का निषेध करता है—'यस्यास्तु न भवेद्भ्राता न विज्ञायेत वा पिता । नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशंकया। दे० कुल्लूक की टीका—यस्याः पुनर्भ्राता नास्ति तां पुत्रिका-शंकया नोद्वहेत् । 'यदपत्यं भवेदस्यास्तन्मम स्वधाकरम्' इत्यभिसन्धानमात्रा-त्पुत्रिकेत्येके' इत्यभिसंधानमात्रादपि पुत्रिका भवति । मनु की उपर्युक्त व्यवस्था का गौतम (पराशर माधवीय, पृ० ४७४), याज्ञवल्क्य (१।५३), लघुशातातप (३६) लिखित (५१) तथा आश्वलायन (वी० मि० संस्कार प्रकाश पृ० ५३४) ने समर्थन किया है ।

६. उत्तमा आत्मना ख्याताः पित्रा ख्यातास्च मध्यमाः । मातुलेनाधमाः ख्याताः श्वशुरेणाधमाधमाः ॥

द्वारा महाराणा सागा की पत्नी कर्णावती को दिया गया संरक्षण है। बहादुर-शाह ने जब चित्तौड़ पर आक्रमण कर उसे जीत लिया, तो कर्णावती ने इसके उद्धार के लिये हुमायू को राखी भेजी। इससे हुमायू बहुत प्रसन्न हुआ, अपनी बंगालविजय को अधूरा छोड, वह अपनी धर्मबहिन और भाजे को विपत्ति से छुड़ाने के लिये फौरन चित्तौड़ आया और उसने वहां से बहादुर शाह को निकाल भगाया[7]। इस घटना से हिन्दू समाज मे राखी के त्यौहार को बडी लोकप्रियता मिली।

मुगल काल मे प्राय. राजपूत बालाये राखीबन्द भाई बनाती थी और संकटापन्न होने पर उनसे रक्षण पाती थी। राखी पाते ही भाई अपनी बहिन के मगल साधन के लिये प्राण तक देने में सकोच नही करते थे। भाई बहिन के इस प्रकार के नि.स्वार्थ प्रेम के उदाहरण अन्य समाजो में दुर्लभ हैं। टाड ने यह सत्य ही लिखा है कि धर्मबहिन के लिये अपने प्राण तक का दॉव लगाने वाले अनक भाई एक बार भी उसके लावण्यमय मुख की प्रसन्न मुसकान नही देख पाते थे, उस राजपूत बाला से कभी उनका साक्षात्कार भी नही होता था, किन्तु इस पवित्र स्नेहबन्धन में ऐसा आकर्षण था कि राजपूत इसे चाहा करते थे। न केवल हिन्दू अपितु मुगल बादशाह राखी पाकर अपने को कृतार्थ समझते थे। हुमायू के बाद अकबर और शाहजहा ने भी उदयपुर की राज माताओ द्वारा भेजी हुई राखिया स्वीकार की। प्रसिद्ध हिन्दू द्वेषी मुगल बादशाह औरगजेब ने राखी स्वीकार करते हुए अपने पत्रो में उदयपुर की राज-माता को प्रिय और पवित्र बहिन के नाम से सम्बोधन किया है[8]। मध्ययुग मे राजपूताने में राखी का त्यौहार बसन्त काल मे मनाया जाता था[9], किन्तु आजकल उत्तर भारत में यह श्रावण पूर्णिमा को होता है। इस अवसर पर बहिनें भाइयों को राखी बाधती हुई, उन्हे अपने कर्तव्य का बोध कराती हैं और भाई उनके प्रति अगाध स्नेह प्रकट करते हुए, उन्हे अपने दायित्व के प्रति सदा जागरूक रहने का आश्वासन देते है।

---

७. टाड—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान कलकत्ता १८९८ भाग १, पृ० ३२६-२८

८. टाड—एनल्स एण्ड एण्टीक्विटीज आफ राजस्थान ३२७-२८ तथा पाद टिप्पणी

९. वही पृ० ३२६

भैयादूज—भाई वहिन के प्रेम का परिचायक दूसरा त्यौहार भैया दूज दीवाली के वाद कार्तिक शुक्ला द्वितीया को मनाया जाता है। इस दिन प्रति-वर्ष वहिनें, भाइयो को अपने घर मे निमन्त्रित करती है, पूजा और कथा के वाद भाई का टीका करती है। भाई वहिन के चरण छूकर जो कुछ देना चाहता है, देता है और फिर भोजन करता है। पुराणो मे यह कहा गया है कि प्राचीन काल मे इस दिन यम को उसकी वहिन यमुना ने अपने घर में भोजन कराया था, जो भाई इस दिन अपनी वहिनो को वस्त्रालंकार से सन्तुष्ट रखता है, वह अकाल मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। इस त्यौहार के सम्वन्ध मे अनेक मनोरजक लोककथाये प्रचलित है, इनमे प्राय इस वात पर वल दिया है कि वहिनें किस प्रकार जोखिम उठाकर भी अपने भाई का हित साधन करती है। हिन्दू समाज में प्रतिवर्ष मनाया जानेवाला यह पर्व भाइयो के प्रति वहिनो के प्रगाढ प्रेम मे वृद्धि करनेवाला है।

भाई वहिन का प्रेम—वहिनो के प्रति भाइयो ने जो प्रेम प्रदर्शित किया है, उसका एक सुन्दर उदाहरण श्रीकृष्ण हैं। सुभद्रा के प्रति उनके अगाध स्नेह का महाभारत मे कई स्थानो पर वर्णन हुआ है। जव पाण्डव वन जाने लगें तो श्रीकृष्ण अपनी वहिन और भाजे को तेरह वर्ष के लिए द्वारका ले गए। जव खाण्डवप्रस्थ में श्रीकृष्ण अपनी वहिन से मिले तो 'प्रीति से उनके अश्रु वह रहे थे', भद्रभाषिणी सुभद्रा ने माता आदि के लिए उन्हे सन्देश दिए और वार वार उनकी पूजा की (२।२।४-६)।

भाई वहिन के अगाध प्रेम का लोककथाओ एव ग्रामगीतो मे वड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। भैय्या दूज की लोककथाओ से स्पष्ट है कि वहिने भाई का पूर्ण सत्कार करती है, वड़े यत्न से उसके लिये भोजन सामग्री प्रस्तुत करती है, उसकी रक्षा के लिये वडे से वडे खतरे को उठाने को तय्यार रहती है। सुसराल जाने पर भाई के प्रति उनका अनुराग और भी दृढ हो जाता है। वे उसके लिये तरसती है, लोकगीतो और प्रचलित परम्परा मे वही उसे नैहर से लाने वाला है। उसके आने पर सास भले ही उसे 'खराव कोदो का भात और घटिया अरहर की दाल और फूटी हुई हडिया मे गड़िया का पानी, पीपल के पत्ते में चिडिया की वीट, और टूटा पलग देने, को कहे, किन्तु वहिन भाई को वारीक चावल, मूग की दाल, सुराही का गगाजल, लौंग इलायची का वीडा और लाल पलग देती है[१०]। संसार में वही एकमात्र ऐसा व्यक्ति है,

१०. राम नरेश त्रिपाठी—कविता कौमुदी, पांचवां भाग, पृ० ४२६-२७

जिसके आगे वह निर्मुक्त भाव से सुसराल का दुखडा रोकर अपना जी हलका कर सकती है। भाई भी वहिनो से अगाध प्रेम रखते है, वह जो मागती है, उसे देते है और उससे वढकर देते है। एक गीत मे जब वहिन मोतियो के हार की एक लड़ के लिये आग्रह करती है तो भाई कहता है कि इसे तोडने में हजारो मोती गिर जायेंगे, तुम पूरी की पूरी माला ले लो[११]। भाई बहिन के लिये अपनी पत्नी तक को नैहर भेजने या छोडने के लिये उद्यत रहता है[१२]।

ननद—ऋग्वेद मे इसका एक ही वार उल्लेख हुआ है (१०।८५।४६) और वहा नववधू को इस पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है (ननान्दरि भव सम्राज्ञी)। किन्तु ऐसी वस्तुस्थिति सम्भवत बहुत अधिक नही रही। इस शब्द की व्युत्पत्ति से तथा लोकगीतो से यह ज्ञात होता है कि वहू उसकी शासिका के स्थान पर उससे शासिता ही अधिक रही है। ननद शब्द के मूल सस्कृत ननन्द का अर्थ है, जो सेवा की जाने पर भी न प्रसन्न हो[१३]। यद्यपि सभी ननदे ऐसी नही होती है, किन्तु अधिकाश का व्यवहार वहू से सन्तुष्ट न होने तथा कलह कराने वाला होता है, हमारे समाज के सच्चे प्रतिविम्व लोकगीतो मे इनका इसी प्रकार का चित्रण किया गया है।

व्रज, अवध तथा वुन्देलखण्ड मे अत्यधिक प्रचलित एक गीत मे यह वताया गया है कि ननद किस प्रकार राम और सीता मे कलह कराती है और सीता को वन भिजवाती है[१४]। ननद भौजाई पानी भरने के लिए जाती है, भौजाई ननद से उसको हर ले जाने वाले रावण का चित्र बनाकर दिखाने को कहती है, सीता को यह डर है कि यदि इस प्रकार चित्र वनाने की वात राम को पता लगी तो वे उसे घर से निकाल देगे। जव ननद ने दशरथ और लक्ष्मण की लाख शपथे खा कर, भाई को यह समाचार न कहने का वचन दिया तो सीता वह चित्र वनाने लगी, इतने में राम आ गये और सीता ने वह चित्र आचल से ढक लिया, किन्तु लाख कसमे खाने वाली ननद से चुगली खाये विना न रहा गया। राम ने इस अपराध पर गर्भिणी सीता को वन भिजवा दिया। वाल्मीकि,

---

११. वही-वही पृ० ४११

१२. कविता कौमुदी पृ० ४२०-२१, सत्येन्द्र-व्रज लोकसाहित्य का अध्ययन, पृ० ५६०

१३. वाचस्पत्य कोश, पृ० ३९५८ न नन्दति कृतायामपि सेवायां न तुष्यति।

१४. रामनरेश त्रिपाठी—वही, पृ० ८६-८७, सत्येन्द्र—वही, पृ० १३६

भवभूति और तुलसी भले ही राम द्वारा सीता के परित्याग का कारण लोकापवाद और प्रजानुरंजन कहे, किन्तु लोकगीतो मे इसका हेतु ननद ही वताया गया है। एक अन्य गीत मे वारह वर्ष वाद पति प्रवास से लौटता है। उसकी पत्नी ने उसके पीछे पतिव्रता का धर्म पूरी तरह निभाया। ननद इस वात को जानती है, फिर भी भाई के पाव धुलाते हुये चुगली खाती है और भाई को उसके सतीत्व की परीक्षा लेने के लिये उद्यत करती है, जलते हुये तेल में हाथ डालने पर पत्नी जव निष्कलक सिद्ध होती है तो पति को वहुत दुख होता है[15]।

हिन्दू परिवार मे ननदें किस प्रकार वहुओ से, घर के सभी कार्य, धान कूटना, गेहूँ पीसना, रसोई, कपड़े धोना, घर की सफाई, आदि कराती है, इसका मार्मिक चित्रण एक अवधी ग्रामगीत में हुआ है। भाई वहिन को मिलने आया है, चूल्हे की राख घूर पर फेकने जाते हुए, वह पेड़ के नीचे भैया को खडे देखती है, उससे मिलने के लिये सास, जेठानी और ननद के पैरो में पडकर जव छुट्टी मागती है तो ननद कहती हैं 'हे भौजाई, मैं क्या जानू। वखार मे जितना धान है, उतना कूटकर तव भाई से भेट करने जाओ। जितना कोठिला में गेहूँ है, उतना पीसकर, भेंट करने जाओ। पीपल में जितने पत्ते है, उतनी रोटियां पोकर तव भाई से मिलने जाओ[16]।

इस दुर्व्यवहार के कारण वहू का ननद को वैरी समझना और यह कामना करना सर्वथा स्वाभाविक है कि वह शीघ्र ही अपनी सुसराल चली जाये। एक लोकगीत में भौजाई कहती है—'आओ ननदोई जी पलंग पर वैठो, महोवे का पान कूचो'। अपनी कामिनी के लिए पालकी सजाओ और मेरी इस वैरिन को ले जाओ।' जब ननद भौजाई से पूछती है, तुम मुझे वैरिन क्यो कहती हो तो भौजाई का उत्तर है—तुम्हारे कटु वचनो के कारण। कटुवचन का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। एक लोकगीत में जच्चा रानी गोवर हाथ मे लिए सास से पूछती है—मुझे कौन सा घर दोगी; वता दो तो मै उसे लीप लू"। सास वोलने भी न पाई कि ननद ने कहा—'मा, इस किसान की वेटी को भूसे का घर दे दो'। पुत्र जन्म होने, वधाई वजने तथा सोहर होने पर जव ननद खुशी से नाचती हुई भौजाई से कंगन के लिये झगड़ती है तो वह उत्तर देती है—तुम

---

१५. रामनरेश त्रिपाठी—वही भूमिका, पृ० १२१-२२

१६. वही-वही, पृ० ११९-२०

कितना नाचो, मेरा मन प्रसन्न नही है । तुम अपनी बोली याद करो—'इसे भूसे का घर दे दो'[17]।

लोकगीतो में प्रायः ननद भौजाई के पुत्र होने की कामना करती है और उसके होने पर अपना नेग मागती है, इसके न मिलने पर रूठ जाती है और कई बार शाप तक दे डालती है और अभीष्ट वस्तु के मिलने पर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है। भाभी के पुत्रजन्म की सूचना न मिलने पर भी ननद उस के घर आ धमकती है। भाभी को लोकगीतो में प्रायः अनुदार चित्रित किया गया है। ननद के कुछ मागने की आशका से, वह उससे पुत्रजन्म का समाचार छिपाती है और उसे निमन्त्रित नही करती, उसके आ जाने पर भी यह कहने मे सकोच नही करती कि तुम विना बुलाये क्यो आगयी[18]।

देवर—ऋग्वेद में वधू को देवर पर भी शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है (ऋ० १०।८५।४६)। यास्क ने देवर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसे दूसरा वर बताया है (निरुक्त ३।१५)। महाभारत में पति के अभाव मे देवर से विवाह का उल्लेख है[19]। अधिकाश शास्त्रकार सन्तान प्राप्त करने के लिए देवर से ही नियोग की व्यवस्था करते हैं (मनु० ९।५९, गौतम १८।४-७, बौधा० २।४।१-९, याज्ञ० १।६८-६९, नारद १२।८०-८१)। किन्तु इस प्रथा का दुरुपयोग न हो, इस दृष्टि से उन्होने इसके बहुत कठोर नियम बनाये हैं और बार बार यह निर्देश किया है कि यह सम्बन्ध कामभाव से नही होना चाहिये (मनु० ९।६०-६८, नारद १२।८२-८८)। जब ये कठोर नियम भी अनैतिकता रोकने मे असमर्थ रहे तो उन्होने कलिकाल मे इस प्रथा को निषिद्ध ठहराया (ब्रह्मपुराण अपरार्क, पृ० ९७, बृहस्पति कुल्लूक की टीका मनु ९।६८ में उद्धृत)। शास्त्रकारो द्वारा निषिद्ध ठहराने के बावजूद उत्तर भारत की अनेक जातियो मे पति के न रहने पर देवर से शादी की प्रथा पायी जाती है[20]।

---

१७. वही—पृ० १४५

१८. ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन पृ० १३५-३६, ५५९-६०, कविता कौमुदी ६०-६१

१९. १३।८।२२ नारी तु पत्यभावे वै देवरं कुरुते पतिम्।

२०. क्रुक—दी नार्थ वैस्टर्न प्रोविन्सिज, पृ० २२९, मिलाओ यूल—मार्को पोलो २।३७६

देवर भाभी के आदर्श सम्बन्ध का चित्रण रामायण में लक्ष्मण और सीता के उदाहरण मे हुआ है। वनवास में लक्ष्मण ने अपने बड़े भाई और भाभी की घोर कष्ट उठाकर जो सेवा की, उसका पहले उल्लेख हो चुका है। यह सेवा विशुद्ध निष्काम भाव से थी, इसका परिचय उस समय होता है, जब सुग्रीव सीता द्वारा गिराये हुए गहनो को पहचानने के लिए, उन्हे राम और लक्ष्मण के सम्मुख प्रस्तुत करता है। उस समय लक्ष्मण कहते हैं कि मै सीता के केयूर और कुण्डल नही जानता, किन्तु प्रतिदिन चरणो में अभिवादन करने के कारण केवल पांव के आभूषण (नूपुर) ही पहचानता हूँ[२०क]। ऐसा सच्चरित्र देवर भी लाछन से नही बच सका। सुवर्णमृगरूपधारी मारीच राक्षस ने मरते समय राम की सी बोली मे चिल्लाकर कहा कि 'लक्ष्मण कहाँ हैं', तब सीता ने व्याकुल होकर अपने देवर को राम के पास जाने की आज्ञा दी। लक्ष्मण राम की आज्ञा का उल्लंघन कर, कुटिया से बाहर जाने को उद्यत नही थे। उन्होने सीता को बहुत कुछ समझाने की चेष्टा की; किन्तु वह उस समय राम पर विपत्ति की आशका से क्रोधावेश में लक्ष्मण से बोली—'तुम मेरे कारण राम के साथ आये हो या भरत के दूत हो'[२१]। हे लक्ष्मण, तुम्हारा और भरत का उद्देश्य सिद्ध नही होगा, राम जैसे पुरुष को छोडकर मै नीच व्यक्ति की कामना नही करूँगी (३।२१।२७)। सीता को इस तीखे और कटु वचन का फल शीघ्र ही भोगना पडा।

मध्यकाल में ओडछा के महाराज जुझारसिंह के छोटे भाई दीवान हरदेवसिंह ने लक्ष्मण के समान न केवल देवर भाभी के सम्बन्ध की पवित्रता की रक्षा की, किन्तु उसके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपने प्राणो का भी उत्सर्ग किया। बडे भाई प्राय मुगल दरबार में रहा करते थे, हरदौल (हरदेवसिंह) ओड़छा मे रहते हुए अपनी भाभी का माता के समान आदर करते थे। किन्तु दुर्जन पुरुषो ने बडे भाई से देवर भाभी के कलुषित प्रेम की चुगली की। सन्देह में भरे महाराज ओडछा लौटे और महारानी को आज्ञा हुई, 'यदि सती हो तो हरदौल को विषमिला भोजन अपने हाथ से परोसो'। धर्मसकट मे पडकर

२०.क वा० रा० ४।६।२२-२३ नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुंडले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

२१. वहीं ३।४५।२४-२५ सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥

रानी को यह स्वीकार करना पड़ा। प्रतिदिन के समान, मातृस्वरूपा भाभी के हाथ से भोजन करते समय हरदौल ने जब उसकी आखें आसूभरी देखी तो इसका कारण पूछा। रानी ने रोकर अपनी विवशता प्रकट की। हरदौल ने सहर्ष यह कहा—'मा, तेरे हाथ का यह भोजन मेरे लिए अमृत है। तेरे लिए मृत्यु का आलिंगन करके भी मैं अमर हो जाऊँगा'। यह कह उसने वह विषैला भोजन पा लिया। विष ने हरदौल को सचमुच अमर कर दिया। बुन्देलखण्ड का बच्चा बच्चा आज तक हरदौल की पूजा करता है, हर गांव मे उसका चबूतरा बना हुआ है, जहां प्रत्येक शुभ अवसर पर आबालवृद्धवनिता हरदौल के चरणो मे नत मस्तक हो देवर भाभी के पवित्र प्रेम के आदर्श के सरक्षण के लिए प्रबल प्रेरणा प्राप्त करते है।

बहू—वैदिक युग मे यह कामना की जाती थी कि नववधू सास ससुर के लिए सुखकारिणी हो[२२]। इनके प्रति बहू के सम्मान के भाव का उल्लेख अनेक स्थानो पर है[२३]। बहुओ का सास के प्रति व्यवहार बहुत नम्र होता था (का० स० ३१।१)। सास के वृद्ध होने पर बहू घर की रानी बनती थी। उसे विवाह के समय यह आशीर्वाद दिया जाता था कि वह पति के घर मे सास, ससुर, ननद, देवर पर शासन करे (ऋ० १०।८५।४६)।

वधू के कर्तव्य—बौद्ध साहित्य मे इनका विस्तृत वर्णन है। धनजय सेठ ने अपनी कन्या विशाखा को विवाह के समय श्वशुरालय मे दस बातो के पालन करने का उपदेश दिया था—(१) भीतर की आग बाहर नही ले जानी चाहिए अर्थात् सास आदि स्त्रियो की जो गुप्त बात होती है, वह दास दासियो को नही कहनी चाहिए। ऐसी बात बढकर कलह कराती है। (२) बाहर से आग भीतर नही लानी चाहिए (जो बुराइयॉ दास तथा नौकर घर के सम्बन्ध मे कहते है, उन्हे भीतर के आदमियो को नही कहना चाहिये)। (३) देते हुए को देना चाहिये (मागी हुई वस्तुओ को लौटानेवालो को ही इन्हे देना उचित है)। (४) न देते हुए को न दे (मागी वस्तुए न लौटानेवालो को वस्तुये नही देनी चाहिये)। (५) देते हुए और न देते हुए को भी देना

---

२२. अथर्व० १४।२।२६ श्वशुराय शंभूः स्योना श्वश्र्वै।

२३. अथर्व० ८।६।२४ ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि। ऐ० ब्रा० १२।११; स्नुषा श्वशुराल्लज्जमाना निलीयमानैति, मि० तै० ब्रा० २।४।६।१२

चाहिये (अपनी जाति के निर्धन, धनी मित्रों को—चाहे वे प्रतिदान कर सकें या न कर सकें—देना ही चाहिये ।) (६) सुख से खाना चाहिये (सास ससुर के भोजन से पहले न खाकर, उनको परोसकर, सबको भोजन मिलने की बात जानकर स्वय भोजन करना चाहिये ।) (७) सुख से बैठना चाहिये अर्थात् सास ससुर के स्थान पर बैठना उचित नही है । (८) सुख से लेटना चाहिये (सास, ससुर, स्वामी से पहले बिस्तर पर नही लेटना चाहिये; उनके लिये करने योग्य सेवा कर के तब स्वय सोना उचित है) ।(९) अग्निपरिचरण करना चाहिये अर्थात् सास ससुर, स्वामी को अग्निपुंज की भाति देखना उचित है । (१०) भीतर के देवताओ को नमस्कार करना चाहिये अर्थात् गृहद्वार पर आये भिक्षुओ को घर मे विद्यमान भोज्य पदार्थ देकर स्वय खाना उचित है[२४] । बौद्ध साहित्य मे वर्णित अनेक उदाहरणो मे बहू द्वारा सास के सम्मान का उल्लेख है । ऋषिदासी नामक थेरी कहती है 'अपने घर मे पायी हुई शिक्षा के अनुसार मै प्रतिदिन प्रातः साय सास ससुर को प्रणाम करती थी, नतमस्तक हो, उनकी चरण धूलि अपने सिर पर लेती थी (थेरी गाथा स० ४०७) ।

महाभारत में सर्वत्र सास बहू के मधुर सम्बन्ध दृष्टिगोचर होते हैं, इसमें सास ससुर के प्रति विनम्र और सम्मानपूर्ण व्यवहार पर बल दिया गया है । नकुलाख्यान (१४।९०) में बहू अपने श्वशुर से कहती है—'आप मेरे गुरु अर्थात् पतिदेव के गुरु हैं अत. आप देवता के भी देवता है; मेरी देह, प्राण और धर्म आपकी सेवा के लिये हैं[२५]' । उस समय बहुओ से श्वशुरो के प्रति कल्याणी और सौम्य (अनृशस) वृत्ति रखने की आशा रखी जाती थी (५।३०।३५) । शाडिली जिन गुणो के कारण देवलोक पहुँची थी, उनमें एक सास ससुर के प्रति उत्तम व्यवहार था (१३।१२३।१०) । श्वशुर तथा बहू के पारस्परिक व्यवहार में गम्भीरता एव मानमर्यादा का पूरा विचार रखा जाता था; ऐसा

---

२४. अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा १।७।२, अन्तो अग्गि बहि न नीहरितब्बो, बहि अग्गि अन्तो न पवेसेतब्बो, ददन्तस्स दातब्बम्, अददन्तस्स न दातब्बम्, ददन्तस्सापि अददन्तस्सापि दातब्बम् , सुखं निसीदितब्बम्, सुखं भुंजितब्बम्, सुखं निपज्जितब्बम्, अग्गि परिचरितब्बो अन्तो देवतापि नमस्सितब्बा ।

२५. महाभा० १४।९०।७६-७७ गुरोर्मम गुरुस्त्वं वै यतो दैवतदैवतम् । देहः प्राणश्च धर्मश्च शुश्रूषार्थमिदं गुरोः ।।

न रखनेवाले विदुर के मतानुसार नरकगामी होते है (५।३७।५)। सास का अपमान (१३।९४।१३१) तथा बुराई करना (१३।९५।३८) महापाप है। सास के सामने वहू उस समय उपयुक्त वेष में आती थी (११।१०।९४)। सास ससुर के सम्मुख इतनी विनम्र होती थी कि नौकरो तक को आदेश नही दे सकती थी। श्री के मत में दैत्यो में अन्य बुराइयो के साथ एक यह भी दुर्गुण था कि वहा वहुयें सासो के सामने नौकरो पर हुक्म चलाती थी[२६]। इसी कारण श्री ने असुरो को छोड़ दिया।

वौद्ध साहित्य अथवा परवर्त्ती काल मे दृष्टिगोचर होनेवाले सास बहू के संघर्ष का महाभारत में कोई उदाहरण नही मिलता; यहा वहुयें सास के असीम प्रेम का भाजन है। द्रौपदी कुन्ती को उसके सब पुत्रो से अधिक प्यारी है[२७], उसे द्रौपदी के अपमानित होने तथा कष्ट भोगने का असह्य दु.ख है, वह यह भी घोषणा करती है कि उसे अपनी बहू के चीरहरण की दुर्दशा चुपचाप देखनेवाले पाडवो से कोई स्नेह नही (५।९०।४९)। द्रौपदी के वन जाने पर दु खार्त्ता कुन्ती की शोकविह्वलता अपनी वधू के प्रति उस के अगाध स्नेह का परिचायक है (२।७९)। गान्धारी को अपने पुत्रो के मरने का इतना दु:ख नही, जितना अपनी वहुओ के विधवा होने का है[२८]।

महाकवि कालिदास ने महर्षि कण्व द्वारा शकुन्तला को गुरुजनो की शुश्रूषा का उपदेश किया है (शाकु० ४।८) सभी धर्मशास्त्रों में सास ससुर की पूजा करना वधुओं का कर्त्तव्य वताया गया है[२९]।

वहू द्वारा सास ससुर की सेवा के आदर्श का वर्णन अनेक ग्रामगीतो में वड़े सुन्दर ढंग से हुआ है और ये गीत हिन्दू परिवार में वहुओं को इस प्रकार का आचरण करने की प्रेरणा देने के अजस्र स्रोत रहे है। एक लोकगीत में पति अपनी प्रियतमा को कहता है कि आजीविका कमाने के लिये मै आषाढ

---

२६. वही १२।२२८।७६ श्वश्रूश्वशुरयोरग्रे प्रेष्यानशासत।

२७. वही ५।९०।४३ सर्वैः पुत्रैः प्रियतरा द्रौपदी मे जनार्दन।

२८. महाभारत ११।१७।२४ अनु० इदंकष्टतरंपश्यपुत्रस्यापि वधान्मम। इदं दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः। हतपुत्रा रणे वालाः परिधावन्ति मे स्नुषाः। मिलाओ महाभा० ११।१८।२,२२।१५,२४।६

२९. विष्णु स्मृ० २५।१-८ श्वश्रूश्वशुरगुरुदेवतातिथिपूजनम्। शंख-(स्मृच० २५१) श्वश्रूश्वशुराद्यभिवादनानन्तरंगृहावश्यकानि कुर्यात्।

ही दक्खिन चला जाऊँगा, तुम मैके से भाई को वुलाकर नैहर चली जाना। उत्तर देती है 'भाई को क्यो वुलाऊँ ? नैहर क्यो जाऊँ ? मैं सास की करके अपनी आयु विताऊँगी'[३०]। एक अन्य गीत मे पति द्वारा नैहर जाने रणा करने पर भी पत्नी ने अपना यही निश्चय प्रकट किया है —'मैं के पैर धोऊँगी, ननद को प्यार करूँगी, देवर की धोती धोऊँगी और यही राल में ही) रहूँगी'[३१]। एक अन्य गीत मे यह आदर्श वडे प्रभावोत्पादक प्रतिपादित किया गया है। कौन स्त्री सुन्दर सन्तान नही चाहती ? उपाय सास ससुर की सेवा है। सोहर के एक गीत में ससुर वहू से पूछते वहू, तुमने कौन सा तप किया है, जो तुम्हारा वच्चा वड़ा सुन्दर है। उत्तर है। "मैंने सास की वात कभी नही टाली, ननद का तिरस्कार किया, न कभी इधर की वात उधर लगायी, शायद इसीलिये वच्चा सुन्दर हुआ है[३२]"। वस्तुत इस गीत में वताये व्यवहार से ही वहुयें परिवार को स्वर्ग धाम वनाती चली आई है।

बौद्ध साहित्य में सास वहू संघर्ष—सास के प्रति सामान्यत. सेवा और न की भावना होते हुए भी दोनो में सदैव मधुर सम्वन्ध नही रहे। इनके रिक कलह और सघर्ष की चर्चा वौद्ध साहित्य में काफी मिलती है। सास शासन करनेवाली वैदिक युग की वहू इस समय कभी कभी सास के चारो से इतना अधिक परेशान हो जाती थी कि वह उससे वचने लए वौद्ध मठो मे शरण ढूढती थी। कई वार सासें अपनी वहुओ को मूसलो टती हुई उन्हे जान से मार डालती थी[३३]। किन्तु इसके विपरीत कई में वहुओ से परेशान होकर सासो को भिक्षुणी वनना पडता था। सोणा ही अभागिनी थेरी थी (थेरी गाथा स० ४५ की अट्ठकथा; धम्मपद स० की अट्ठकथा) चार वहुएँ जव अपने ससुर से वहुत तग आगईं तो उन्होने अपने घर से निकाल दिया (ध० प० ३२४ की अट्ठकथा)। जातक सं० में सास वहू के झगडे की एक मनोरजक लोमहर्षक कथा है, जिसमे वहू

---

३०. रामनरेश त्रिपाठी—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ५६

३१. वही-वहीं पृ० ६७ सास क चरन पखरवै ननद क दुलरवइ। साहव के धोतिया पछरवइ यहीं हम रइवै।

३२. वहीं पृष्ठ ६५।

३३. अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन, पृ० १०७

सास को मारने के प्रयत्न मे अपनी माता के तथा अपने प्राण गवा वैठती है। अगुत्तर निकाय की अट्ठकथा (१।७।२) मे विशाखा के अपने श्वशुर के साथ झगड़े का उल्लेख है। इसके निर्णय के लिए पच इकट्ठे होते है, वे विशाखा को निर्दोष मानते है और अन्त मे श्वशुर विशाखा से क्षमा मागता है।

वहुओं का उत्पीड़न—किन्तु प्राय वहुये विशाखा जैसी सौभाग्यशालिनी नही होती, उन्हे कई वार सासो तथा ननदो के हाथ अकथनीय कष्ट भोगने पड़ते हैं। हिन्दू परिवार मे वाल विवाह की प्रथा वद्धमूल होने पर अवोध वहुओ का उत्पीड़न अधिक उग्रता से आरम्भ हुआ, सतायी वहुओ ने सास वनने पर अपनी वधुओं के साथ वैसा वर्ताव किया। । यद्यपि प्रत्येक सास कभी वहू रह चुकी होती है, किन्तु सम्भवतः वह अपने साथ हुए दुर्व्यवहार का वदला अपनी वहू पर अत्याचार करके चुकाती है। मूर्ख, गवार और कर्कशा सासे वहू को गालिया ही नही देती, अपितु राक्षसी वनकर मारती पीटती भी है। वहू अपनी व्यथा किससे कहे; पति से, वह तो सास का वेटा है, वहू का पक्ष लेने से कपूत कहलायेगा; ससुर से, वह सास का पति है। कर्कशा सास से भीषण यन्त्रणा भोगती हुई वहुये केवल भाइयो से ही अपना दु.खड़ा रोकर जी हलका कर सकती हैं। एक वहू अपनी दुर्दशा का चित्रण करती हुई भाई को कहती है—'मेरी पीठ देखो, वह धोवी के पाट जैसी है। मेरे कपडे देखो, वे सावन की घटा जैसे मैले हैं। नौ मन कूटती हूँ, नौ मन पीसती हूँ, नौ मन रसोई करती हूँ। सव के खा चुकने के वाद जो टिकरी वचती है, वही मेरा आहार है। उसमें से भी कुत्ते विल्ली को हिस्सा देना पडता है[३४]"। किन्तु वहू मे इतनी शालीनता है कि वह यह नही चाहती कि यह दु.ख किसी और को वताया जाय; क्योंकि पिता इसके सुनने पर मूर्च्छित हो जायेंगे, मा यह जानकर रोते रोते मर जायगी, भाभी इस पर ठट्ठा मारेगी। अतः वह भाई को कहती है कि यह दु.ख अपनी गठरी में वाध रखना, जहां खोलना, वहा रो देना। वहू के दु ख का इससे मर्मभेदी चित्रण और क्या हो सकता है[३५]। दूसरे अध्याय मे यह वताया जा चुका है कि वहुओ के साथ यह दुर्व्यवहार वर्तमान समय मे संयुक्त परिवार के विघटन का एक प्रधान कारण है (पृ० ७९)।

---

३४. रामनरेश त्रिपाठी—पूर्वोक्त पुस्तक, पृ० ४२६

३५. मि० श्वश्रूः पश्यति नैव पश्यति यदि भ्रूभंगवक्रेक्षणा, मर्मच्छेदपटु प्रतिक्षणमसौ ब्रूते ननान्दा वचः अन्यासामपि किं ब्रवीमि चरितं स्मृत्वा मनो वेपते कान्तः स्निग्धदृशा विलोकयति मामेतावदागः सखि ॥

मामा—वैदिक परिवार पितृप्रधान था, अत उसमे माता के भाई का कोई विशेष महत्व न था। उसका मातुभ्राता के नाम से समूचे वैदिक साहित्य में केवल एक वार (मैत्रायणी सहिता १।६।१२) उल्लेख हुआ है; किन्तु महाकाव्यो तथा स्मृतियो के समय मातुल की महत्ता वढ गयी। रामायण में रावण अपनी वहिन का वदला लेने के लिये मामा मारीच से परामर्श करता है और उसके सहयोग से सीता का हरण करता है। महाभारत मे दुर्योधन अपने मामा शकुनि की सलाह तथा कौशल से पाण्डवो को द्यूत मे हराकर वन भिजवाता है। शल्य पाण्डवो का मामा होने पर भी दुर्योधन का मित्र था; (८।७।९) किन्तु कर्ण को आडे समय मे निरुत्साहित कर, शल्य ने अर्जुन को कर्ण पर विजय पाने में वडी सहायता दी। मामा अत्यन्त प्रिय सवन्धी समझा जाता था, श्रीकृष्ण ने युधिष्ठिर को यह चेतावनी दी है कि शल्य के साथ युद्ध करते हुए, तुम उसे अपना मामा समझते हुए उस पर दया न करना[३३]। महाभारत मे अनेक स्थलो पर मामा को प्रिय संवन्धियो मे गिना गया है (९।४।९, ९।९।४६, ६।४६ ।२); किन्तु इससे यह परिणाम नही निकाला जा सकता कि प्राचीन भारत में मातृसत्ता का प्रचलन था[३४], क्योकि महाभारत में ऐसे स्थलो की भी कमी नही, जहा सवन्धियो मे मातुल का कोई उल्लेख नही है (१०।८।९८, १२१; ११।१२।७; १६।१९।५५; १६।२७।२)।

सूत्र साहित्य में अभिवादन तथा मधुपर्क द्वारा सम्मानित किये जानेवाले व्यक्तियो में मामा का स्थान प्रायः चाचा (पितृव्य) के वाद वताया गया है[३५]; किन्तु मनुस्मृति में मामा (मातुल) तथा मासी (मातृष्वसा) को प्रधानता दी गयी है। मनु० ४।१७९-८० में ऐसे व्यक्तियो की सूची है, जिन के साथ झगड़ा नही करना चाहिये, इनमें मामे का चाचे से पहले उल्लेख है (मि० महाभा० १२।२४९।१४-१७)। याज्ञवल्क्य ने भी मामे से विवाद का निषेध किया है (१।१५७-५८)। मनु० ३।११९ मे मधुपर्क द्वारा पूजित होनेवाले व्यक्तियो में मामा की गणना है, किन्तु चाचा की नही, अन्यत्र (३।१३१) गुरु-

---

३३. महाभा० ९।७।३९ न चैवात्र दया कार्या मातुलोऽयं ममेति वै।

३४. मेयर—सेक्सुअल लाइफ इन एंशेण्ट इंडिया पृ० १२९।

३५. मधुपर्क के लिये दे० गौतम ५।२८-३०, वसिष्ठ ११।१, आश्वलायन गृह्यसूत्र १।२४।१-४ अभिवादन के लिये दे० गौतम ६।९, वौधा० २।४६, आपस्तम्ब १।१४।११, वसिष्ठ, १३।१३, विष्णु० ३२।४

पत्नी के तुल्य आदरयोग्य स्त्रियो मे उसने मौसी और मामी का बुआ से पहले उल्लेख किया है। बृहन्नारदीय पुराण (९।९२) मे चाचा को नही, पर मामा को पूज्य माना गया है। विष्णु (३२।३) ने यद्यपि एक ओर चाचा को मामा से पहला दर्जा दिया है, तथापि दूसरी ओर बुआ से मासी को अधिक प्रतिष्ठित वताया है। इससे यह स्पप्ट है कि कि यद्यपि वैदिक एव सूत्र साहित्य मे मामा को परिवार मे प्रतिप्ठा नही मिली थी, किन्तु मनुस्मृति, महाभारत और पुराणो मे उसे सम्मानित स्थान दिया जाने लगा था।

स्त्रीपक्ष के अन्य मवन्धियो मे साला उल्लेखनीय है। इस का सर्वप्रथम वर्णन ऋग्वेद मे है[३६], इसमे इन्द्र और अग्नि को विजामाता तथा श्याल से भी अधिक देनेवाला वताया गया है। यास्काचार्य ने इसकी व्याख्या (निरुक्त ६।२) में यह वताया है कि दाक्षिणात्य रुपया देकर कन्या खरीदनेवाले (क्रीतापति) को विजामाता कहते है, यह अपनी पत्नी को तथा साला वहनोई को कुछ देता रहता है। निरुक्तकार के मत मे स्याल शब्द की दो व्युत्पत्तिया है —(१) यह सम्वन्ध की दृप्टि से पास वाला होता है (२) यह स्य अर्थात् छाज से विवाह के समय वह्नि के हाथ मे खीले डालता है[३७]।

—

३६. १।१०९।२ अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात्।

३७. निरुक्त ६।२ स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः स्याल्लाजानावपतीति वा।

दसवां अध्याय

गृहस्थ के कर्तव्य

पच महायज्ञ—इनका मूल उद्देश्य—देवयज्ञ—भूतयज्ञ—पितृयज्ञ—नृयज्ञ—अतिथि कौन हो सकता है—अतिथि यज्ञ के मूल करण—गृहस्थ का पोष्य वर्ग—गृहस्थ की आजीविका—अन्य कर्तव्य—उपसहार ।

धर्मशास्त्रो में हिन्दू परिवार में गृहस्थ द्वारा पालन किये जाने वाले धर्मों तथा ब्राह्म मुहूर्त्त मे जागरण से रात्रि में शयन पर्यन्त, दन्त धावन, स्नान, पूजा, भोजन आदि सभी छोटे वडे कार्यों का वहुत सूक्ष्मता तथा विशदता से प्रतिपादन है[1]। यहा केवल पचमहायज्ञादि महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्यों का संक्षिप्त वर्णन किया जायेगा।

पचमहायज्ञ—वैदिक युग मे पचमहायज्ञ करना गृहस्थ का प्रधान एवं आवश्यक कर्त्तव्य समझा जाता था । शतपथ ब्राह्मण (११।५।६।१) तथा तैत्तिरीय आरण्यक (२।१०) में इनका विधान किया गया है। आपस्तम्ब धर्म सूत्र (१।४।१२।१३) वौधायन धर्मसूत्र (२।६।१-८), गोभिल स्मृति (२। २६) तथा वाद के सभी धर्म ग्रन्थो मे इनका वर्णन है[2] । सामान्य रूप से गृहस्थ द्वारा निम्न क्रम से इनके अनुष्ठान की व्यवस्था की गई है—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ और मनुष्ययज्ञ । वेद का अध्ययन अध्यापन ब्रह्मयज्ञ, अग्नि मे देवताओ के लिये आहुति देना देवयज्ञ, पितरो का तर्पण पितृयज्ञ, विभिन्न भूतो और प्राणियो को वलि देना भूतयज्ञ और अतिथियो की पूजा मनुष्ययज्ञ है ।

---

१. आप० धर्म सूत्र २।१।१।११; गौतम धर्मसूत्र अ० ५ व ९; वसिष्ठ धर्मसूत्र ८।१-१७, ११।१-४८; मनु० ३।६७-११८, अ० ४;; याज्ञ० १।९६-१२७; विष्णु धर्मसूत्र ६०-७१, दक्ष अ० २, मार्कण्डेय पुराण अ० २९-३०, ३४; महाभा० ३।१२३।४ अनु० १३।१२३ आश्वमेधिक पर्व ४५।१६।२५, तथा १३।९७

२. आश्व० गृ० ३।१।१-४; आप० धर्मसूत्र १।४।१२।१३-१५ तथा १।४।१३।१७; वसिष्ठ धर्मसूत्र ५।८, ८।१७; वौधायन धर्मसूत्र २।६।१-८; गोभिल स्मृति २।२६; मनु० ३।६७ महाभारत १२।२४१।१५; याज्ञ० स्मृत ३।१०२

मनुष्य ब्रह्मयज्ञ (स्वाध्याय) से ऋषियों की, होम से देवों की, श्राद्ध से पितरों की, बलि से भूतों की और अन्न से मनुष्यों की अर्चना करता है[3] (मनु० ३। ७०,८१)।

पंच महायज्ञों का मूल उद्देश्य—इनका वास्तविक प्रयोजन प्रतिदिन भगवान् के प्रति भक्ति और स्वाध्याय, वैदिक साहित्य का सृजन करने वाले ऋषियों के प्रति श्रद्धा, पितरों का स्मरण, समूची सृष्टि के लिए तथा मनुष्य मात्र के प्रति उदारता, दया और अनुकम्पा के भाव प्रदर्शित करना है। अग्निष्टोम आदि वैदिक यज्ञ बहुत व्ययसाध्य और आडम्बरपूर्ण थे, वे पुरोहितों द्वारा कराये जाते थे, इनका उद्देश्य स्वर्ग प्राप्ति था। किन्तु पंच महायज्ञ बहुत सरल और संक्षिप्त थे। इन्हें प्रत्येक गृहस्थ स्वयं करता था और इनका प्रयोजन ईश्वर, ऋषियों, पितरों तथा सभी सांसारिक प्राणियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों से उऋण होना था। किन्तु शास्त्रकारों ने उपर्युक्त सामाजिक दायित्वों को बहुत महत्ता दी और यह कहा कि पांच महायज्ञों से मानव शरीर [illegible] होकर ब्राह्मण कार्यों के उपयुक्त हो जाता है (मनु० २।२८)।

कुछ धर्मशास्त्रों में पंच महायज्ञों का उद्देश्य नाना प्रकार की हिंसा से मुक्त होना बताया गया है। मनु के मत में गृहस्थ के घर में—चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ऊखल-मूसल और पानी का घड़ा—ये पांच वस्तुएं जीवहिंसा की भांति हिंसा के स्थान हैं; इन पांचों से होने वाले पापों के नाश के लिये ऋषियों ने प्रतिदिन पंच महायज्ञों की व्यवस्था की है[4]। अन्य शास्त्रकारों ने भी इसका समर्थन किया है[5]। इन यज्ञों का संक्षिप्त स्वरूप निम्न है।

ब्रह्मयज्ञ—इसका प्राचीनतम उल्लेख शतपथ ब्रा० (११।५।६।३-८) में है। यहां ब्रह्मयज्ञ को प्रति दिन किया जाने वाला वेद का स्वाध्याय बताया

---

३. इनके साथ महा शब्द इनकी महिमा बढ़ाने के लिए जोड़ा गया है—तेषां महासत्राणीति च संस्तुति आप० धर्मसूत्र १।४।१२।१३, १।४।१३।१ मि० बौधा० धर्मसूत्र २।६।१-८

४. मनु० ३।६८-६९ पंच सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः। कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन्॥ तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः। पंच क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम्॥

५. विष्णु० ५९।१९-२०, शंख० ५।१-२, मत्स्यपुराण ५२।१५-१६।

गया है[६] और इसका फल 'स्वर्णपूर्णा समूची पृथिवी के दान से प्राप्त होनेवाले लोक से तीन गुना अक्षय लोक' बताया गया है। यह स्वाध्याय की महिमा का सूचक अर्थवाद मात्र है। इसका उद्देश्य सबको इतिहास, पुराण और वेदाध्ययन में प्रवृत्त कराना था। ब्रह्मयज्ञ में वेद के अतिरिक्त वेदाग, गाथा नाराशसी (वीरो की स्तुतियाँ) तथा अन्य विद्याओ का अध्ययन भी सम्मिलित था। इसका प्रधान प्रयोजन वैदिक ज्ञान की प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखना तथा आगे बढ़ाना था। इसी दैनिक स्वाध्याय से वैदिक साहित्य कठस्थ होकर हजारो वर्षों तक सुरक्षित रहा। बाद में यह यज्ञ वेदाध्ययन का प्रतीक बन गया (मनु० ३।७०)।

देवयज्ञ—अग्नि में विभिन्न देवताओ के प्रति स्वाहा के साथ कुछ आहुतिया देना देवयज्ञ था[७]। ब्राह्मण ग्रन्थो मे प्रतिपादित सप्ताहो, महीनो, और वर्षों चलनेवाले यज्ञ धनाढ्य एवं सम्पन्न व्यक्तियो के लिए ही शक्य थे। किन्तु देवताओं तक हवि का वहन करने वाली अग्नि मे कुछ समिधाएं डालना दरिद्रतम व्यक्ति के लिए भी संभव था; और वह इस प्रकार देवताओ के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित कर सकता था। ये आहुतियाँ सूर्य, अग्नि, प्रजापति आदि देवो के लिये दी जाती हैं (गौ० ५।८-९)। मनु ने अग्निहोत्र की महिमा गाते हुए कहा है—'अग्नि में दी हुई आहुति सूर्य को सम्यक् प्रकार से प्राप्त होती है, इसका रस सूर्य से वर्षा होकर बरसता हैं; वृष्टि से अन्न तथा उससे प्रजा होती है। अतः देवकर्म या अग्निहोत्र में लगा गृहस्थ इस चराचर जगत को धारण करता है' (३।७५-७६)। मध्ययुग में अग्निहोत्र की प्रथा बहुत कम हो गयी, इसका स्थान मूर्तिपूजा ने ले लिया।

भूतयज्ञ—घर में प्रतिदिन पकाये जाने वाले अन्न में से भूतो के लिए जो बलि निकाली जाती है, वह भूतयज्ञ कहलाता है[८]। भारतीय विचार धारा के अनुसार समूचे चराचर जगत मे एक ही शक्ति ओतप्रोत है; अतः सबके प्रति उदारता और सहिष्णुता होनी चाहिए, इसका प्रतीक यह यज्ञ है। इसके नाम

---

६. मि० तै० आ० २।१० यत्स्वाध्यायमधीयते कामप्यृचं यजुः साम वा तद् ब्रह्मयज्ञः संतिष्ठते।

७. तै० आ० २।१० यदग्नौ जुहोत्यपि समिधं तद्देवयज्ञः संतिष्ठते।

८. वही-वहीं यद्भूतेभ्यो बलिं हरति तद्भूतयज्ञः।

और स्वरूप के सम्बन्ध मे प्राचीन और मध्ययुगीन धर्मशास्त्रों में पर्याप्त अन्तर है। पराशर माधवीय (१।३८९) तथा स्मृत्यर्थसार आदि पिछले धर्मशास्त्री देव पितृ और भूत —इन तीनो को वैश्वदेव यज्ञ का नाम देते है; क्योकि इनमें सभी देवताओ की पूजा की जाती है। भूत यज्ञ मे दी जाने वाली वलि अग्नि मे न डालकर, हाथ से साफ की हुई तथा पानी छिड़क कर पवित्र की भूमि पर रखी जाती है, इन्द्र, यम, वरुण आदि देवताओं के अतिरिक्त दिवाचर और नक्तचारी भूतो और पितरों को वलि देने के वाद, अन्त में कुत्तो, पतितों, चाण्डालों, कोढ़ी आदि पाप रोग वालो, कौओ और कीडो के लिए वलि जमीन पर रखी जाती है (मनु० ३।९२; याज्ञ० १।१०३)

इन वलियो का उद्देश्य सव के साथ मिलकर और सवको खिलाकर खाने की भावना है। ऋग्वेद के समय से भारतीय विचार धारा में स्वार्थपूर्वक अकेले भक्षण करना पाप समझा गया है[९]। गीता मे अपने लिए अन्न पकाने वालो को पाप खानेवाला वताया गया है[१०]। भूतयज्ञ त्यागपूर्वक भोग के आदर्श का प्रतीक है। गृहस्थ ने स्वयमेव या अपने परिवार को ही नही खिलाना, किन्तु अपने भोजन मे से सव प्राणियो तथा चाण्डालादि पतित और कोढ आदि भयकर रोगो से पीडित व्यक्तियो के लिए भी कुछ हिस्सा निकाल कर ही खाना है।

पितृयज्ञ—इसमे पितरो का प्रतिदिन तीन प्रकार से सम्मान किया जाता है— जल दान अथवा तर्पण द्वारा (मनु० ३।७०), वलि प्रदान करके (मनु० ३।९१) अथवा प्रतिदिन कम से कम एक ब्राह्मण को खाना खिलाकर (मनु० ३।८२-८३, कात्यायन अपरार्क पृ०१४५)

नृयज्ञ—पच महायज्ञो में अन्तिम किन्तु सामाजिक दृष्टि से सव से अधिक महत्वपूर्ण नृ या अतिथि यज्ञ है। भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से अपने आतिथ्य के लिए प्रसिद्ध है। हिन्दू परिवार मे आदिकाल से अतिथि का सम्मान, स्वागत और सेवा प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य दैनिक कर्तव्य माना जाता रहा है।

---

९. ऋ० १०।११७।४ मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

१०. गीता ३।१३ भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्। मि० मनु० ३।११८ याज्ञ० १।१०४

वैदिक युग मे प्रत्येक स्नातक को समावर्तन के समय यह उपदेश दिया जाता था—'अतिथिदेवो भव' (तै० उप० २।११।२।२)। अथर्ववेद (नवम् कांण्ड, छठा सूत्र) में अतिथि सेवा की महिमा के गीत गाते हुए यह कहा गया है कि अतिथि गृहस्थ का अन्न नही खाता, किन्तु उसके पापो का भक्षण कर लेता है (९।६।२५-२६)। घर में अतिथि के पहली रात रहने से पृथ्वी के पुण्य लोक, दूसरी रात रहने से अन्तरिक्ष के पुण्य लोक, तीसरी रात के वास से द्युलोक और चौथी रात रहने से गृहस्थ अत्यन्त पुण्यवान् लोक प्राप्त करता है, अपरिमित रात्रियो के वास से अपरिमित पुण्य वाले लोक मिलते है (अथर्व० १५।१३।१-१०)। अतिथि सेवा इतनी महत्वपूर्ण है कि यदि अग्निहोत्र के समय अतिथि उपस्थित हो तो उसकी आज्ञा लेकर ही यज्ञ करना चाहिये। (अथर्व० १५।१२)। परवर्ती युगो में भी आतिथ्य की यह भावना वनी रही। मनु ने अतिथि सेवा को धन, आयु और स्वर्ग देनेवाला कहा है (मनु० ३।१०६)। विष्णु धर्म सूत्र के अनुसार अतिथि जिस घर से निराश वापिस लौटता है, वह उसे अपने सव पाप दे देता है; और उसके सव पुण्य ले लेता है (६७।३२)। पराशर० (१।४०) के मत में मित्र हो या शत्रु, मूर्ख हो या पण्डित, वैश्वदेव के समय आनेवाला अतिथि स्वर्ग को लानेवाला होता है (मि० शातातप स्मृच० मे उद्धृत १।२१७)।

महाभारत में घर आये अतिथि के सत्कार के लिए अपने प्राणदान तथा पत्नीदान के अनेक आख्यान कहे गए है। शान्ति पर्व (अ० १४३-४६) में अपनी पत्नी को पकडनेवाले शिकारी के आतिथ्य के लिए एक कवूतर द्वारा स्वय हसते हसते अग्नि में जलकर प्राण देने का उल्लेख है। एक अन्य उपाख्यान में अतिथि सत्कार के लिए राजा सुदर्शन की पत्नी ओघवती के आत्मसमर्पण का वर्णन है (१३।२।३६-९४)। सुदर्शन मृत्यु को जीतना चाहते थे, यम उनकी परीक्षा लेने के लिए उनकी अनुपस्थिति मे उनके घर अतिथि हुए और आतिथ्य मे उनकी पत्नी से आत्मदान की याचना की; पत्नी ने वडे सकोच से यह प्रार्थना स्वीकार की[११]।

---

११. यद्यपि यहां महाभारतकार ने अतिथिसेवा के माहात्म्य को अर्थवाद की दृष्टि से वर्णन करने के लिये ही इस आख्यान को लिखा है, किन्तु कुछ अन्य स्थलों से यह ज्ञात होता है कि अतिथि सेवा के लिये स्त्रियों का प्रयोग होता था। युधिष्ठिर ने अपने राज्य में एक लाख युवती दासियां इस कार्य के लिये

अतिथि कौन हो सकता है—शास्त्रों में यद्यपि अतिथि प्रधान रूप से ब्राह्मण माना गया है (वसिष्ठ ध० सू० ८।७ अतिथिर्ब्राह्मणः स्मृत.) किन्तु साधारण रूप से भोजन के समय आनेवाले चाण्डाल तक को अतिथि समझा जाता था। आपस्तम्ब ने कुछ ऐसे आचार्यों के मत का उल्लेख किया है, जो वैश्वदेव के समय आनेवाले अनधिकारियो का विरोध करते थे; किन्तु उसकी अपनी सम्मति यह है कि उसमे कुत्तो और चाण्डाल तक को भागीदार वनाना चाहिए[१२]। वृद्ध हारीत के मत मे यात्रा से थका हुआ, भूखा, शूद्र या प्रतिलोम (चाण्डालादि) घर आये, तो उसे भी अपने घर पर यत्नपूर्वक खिलाना चाहिए[१३]।

शूद्रो को अन्न से सत्कृत करने का सवसे प्रसिद्ध उदाहरण रन्तिदेव का है।

रखी हुई थीं (२।६१।९ अनु०), दुर्योधन श्रीकृष्ण को हस्तिनापुर आने पर अन्य वस्तुओ के साथ स्त्रियां भेजता है (५।८५।१४, मि० ५।८६।८)। अपनी स्त्री को अतिथिसेवा के लिये देने का रिवाज अफ्रीका के काफिरों, मध्य अफ्रीका की अनेक जातियों एस्किमो लोगों, कैलीफोर्निया, ब्राजील, सुरीनाम, आस्ट्रेलिया के आदि निवासियो तथा प्रशान्त महासागर के द्वीपवासियो में पाया जाता है(वैं० हि० ह्यू० मैं०, १८९१ पृ० ७४-७५)।इस प्रकार के रिवाज का मुख्य कारण अतिथि सेवा की भावना है। एस्किमो ऐसी भेंट को उदारतापूर्ण आतिथ्य का कार्य समझते है, जव हब्शी अपने मेहमानों का स्वागत करना चाहता है तो इसी ढंग से करता है। वस्तुतः इन जातियों में पति अतिथियो के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अपनी स्त्री को उसे वैसे ही दे, देता है जैसे पूजनीय व्यक्ति के प्रति आदर प्रकट करने के लिये वह अपना स्थान छोड़ देता है। मित्रता का एक लक्षण पुत्र और कलत्र का दान भी है। चीन और पूर्वी तिब्वत में इस प्रथा के लिये देखिये मार्कोपोलो—यूल द्वारा संपादित १।२१०, २।५४। अधिक उदाहरणों के लिये देखिये हार्टलैन्ड प्रिमिटिव पैटर्निटी, अध्याय ७, फ़िन्क—प्रिमिटिव लव, पृ० ७८, ४७८, ३२८, ४२९।

१२. आप० ध० सू० २।४।९।५-६ सर्वान्वैश्वदेवे भागिनः कुर्वीताश्वचाण्डालेभ्यः नानर्हद्भ्यो दद्यादित्ये के मि० बौधा० गृ० २।९।२१, वृद्ध गौतम अध्याय ६, पृ० ५३५

१३. वृद्ध हारीत ८।२३९-४० शूद्रो वा प्रतिलोमो वा पथिश्रान्तः क्षुधातुरः। भोजयत्तं प्रयत्नेन गृहमभ्यागतो यदि ॥

(भागपु० ९।२१)। रन्तिदेव बडी निर्धन दशा में थे; ४८ दिन से उन्होंने कुछ खाया पिया न था। ४९वें दिन उन्हे प्रात.काल कुछ हलवा और पानी मिला। सारा परिवार भूख से तड़प रहा था; उसी समय एकएक ब्राह्मण अतिथि आया। उसके साथ भोज्य सामग्री बाटने के बाद एक शूद्र आया। उसे भी हिस्सा दिया गया। बाद में कुत्तो से घिरा अतिथि आया; उसे तथा उसके कुत्तो को भोजन देकर रन्तिदेव के पास केवल जल ही बचा। प्यास से उसका गला सूखा जा रहा था; वह पानी पीना ही चाहता था, किन्तु उसी समय वहा एक तृषित पुल्कस (हीन जाति का चाण्डाल) आ गया; स्वयं प्यास से मरते हुए भी रन्तिदेव ने वह पानी उस चाण्डाल को दे दिया। चाण्डालो की अतिथि सेवा के उपर्युक्त शास्त्रीय आदेशो तथा उदाहरणो के होते हुए गैडन का यह कथन सत्य नही प्रतीत होता कि जाति भेद के बन्धन के कारण भारत मे वैसा आतिथ्य नही पाया जाता जैसा अंग्रेजी के हास्पिटैलिटी शब्द से सूचित होता है (इसा० रिलि० ई० ख० ६, पृ० ८१२)।

स्मृतियों में इस बात पर बल दिया गया है कि अतिथि का नाम और गोत्र नही पूछना चाहिए। आतिथ्य की सच्ची भावना तो यही है कि घर पर जो भी कोई भूखा प्यासा आये; उसकी पूछ होनी चाहिए। मानवीय दृष्टि से विद्वान् और मूर्ख, निर्धन और धनी सब तुल्य है, नाम पूछने से माथा देख कर तिलक लगाने वाली बात हो जाती है। पराशर ने स्पष्ट रूप से कहा है— 'अतिथि से गोत्र, चरण श्रुत और स्वाध्याय को न पूछें' (१।४८)। मनु ने भोजन प्राप्त करने के लिए अपने कुल और गोत्र का निवेदन करने वाले ब्राह्मण को वमन चाटने वाला कहकर (वान्ताशी) उसकी निन्दा की है (मनु० ३।१९८)।

अतिथि बहुधा परदेसी यात्री होता था, अतः याज्ञवल्क्य ने उसे अध्वनीन (१।१११) कहा है। धर्मसूत्रो और स्मृतियो में उसके सायकाल पहुँचने और एक रात निवास का वर्णन है (देखिये गौतम धर्म सूत्र)। मनु (३।१०२) और याज्ञ० (१।१०७) उसे सायकाल के समय लौटाने से इकार करते है। परदेसी यात्री के अतिरिक्त आचार्य के लिए भिक्षा सग्रह करनेवाला ब्रह्मचारी, और वेदाध्येता श्रोत्रिय ब्राह्मण भी अतिथि सत्कार पाता था। पराशर(१।५१) ने ब्रह्मचारी और संन्यासी के लिये पक्व अन्न की भिक्षा का विधान किया है। वृद्धहारीत (८।८९) और दक्ष (८।४३) ने सन्यासियो को खिलाने का फल बहुत बढा चढा कर लिखा है। पहले के मत में (८।८९) सन्यासी जहा भोजन

करता है, वहाँ भगवान स्वय खाना खाते है और दूसरे की सम्मति मे यति के एक रात आतिथ्य ग्रहण करने से गृहस्थ अपने मरण पर्यन्त के पापो से मुक्त हो जाता है ।

अतिथि यज्ञ के मूल कारण--भारत मे इस भावना के तीन प्रधान कारण प्रतीत होते है। (१) भूतदया का भाव, (२) यह विश्वास कि अतिथि के रूप में पूज्य योगी, सिद्ध आदि अनेक उत्कृष्ट कोटि के प्राणी घर पर पधारते है, उनका निरादर नही करना चाहिये । (३) समाज के लिए उपयोगी कार्य करने वालो का भरण पोषण ।

(१) भूतदया का भाव--प्राणिमात्र के प्रति दया और अनुकम्पा की भावना अतिथि सत्कार का प्रधान कारण था । पहले यह बताया जा चुका है कि अतिथि प्रायः यात्री होता था । यास्क ने अतिथि की व्युत्पत्ति गमनार्थक अत और इण धातु से की है [१४]। प्राचीन काल मे यात्रा आधुनिक समय की भाति सुगम और निरापद नही थी; उस समय होटलो की व्यवस्था भी नही थी; जहा यात्री ठहर सके । वह अपरिचित स्थानो मे असहाय होता था; अन्य मनुष्य दया से द्रवित हो, उस परदेसी यात्री की सहायता करते थे [१५]। इसीको धार्मिक दृष्टि से अतिथि यज्ञ का रूप दिया गया। भारतीय वाङमय में अतिथि को सायकाल न लौटने देने और अतिथि के लिये पाँव धोने का जल (पाद्य) आदि देकर उसका स्वागत करना यह सूचित करता है कि अन्य समाजो की भाति भारत में भी यात्री अतिथि के प्रति सेवा की भावना ही इस प्रथा का मूल रही होगी। गौतम (५।३९-४२) और मनु० (३।११२) ब्राह्मण के घर पर निम्न वर्णों के अतिथि आने पर स्पष्ट रूप से यह कहते है कि उन्हे

---

१४. निरुक्त ४।५ अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति अभ्येति तिथिषु परकुलानि वा ।

१५. यूनानी व अंग्रेजी में अतिथि के लिए प्रयुक्त होनेवाले Guest शब्द का मूल अर्थ परदेसी है और पश्चिम में Hospitality का प्रेरक भाव यही था; परदेसी यात्रियों और बीमारों को शरण देने के लिए हास्पिटल ३७० ई० से स्थापित होने शुरू हुए। हास्पिटल का धात्वर्थ अतिथिशाला था। ईसाइयत में इसका प्रधान आधार ईसा का यह वाक्य है--मै परदेसी था, तुमने मुझे अन्दर ले लिया (मैथ्यू २५।३५) इनका अधिक प्रचार चौथी शती ईस्वी के उत्तरार्ध से हुआ (इंसा० रिली० ई० खण्ड ६, पृ० ८०८-१०)

खिलाने का उद्देश्य दया या अनृशंसता का भाव है। गौतम ने आनृशस्यार्थम् पद की द्विरुक्ति कर इस उद्देश्य को भली भांति व्यक्त किया है।

(२) सृष्टि की प्रत्येक वस्तु मे भगवान का रूप देखने वाले हिन्दू समाज के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह अतिथि को भगवान या ऊँची कोटि के प्राणियों के रूप में देखे। वायु पुराण (७१।७४) में कहा गया है कि सिद्ध लोग इस पृथिवी पर विप्र रूप से विचरण करते है; अत. आते हुए अतिथि के पास हाथ जोड़ कर जाय। इसी प्रकार वृहत्पराशर (जीवा० भाग २, पृ० ९९) का भी यह मत है, "योगी विविध वेपो में, मनुष्यों के उपकार के लिए, अज्ञात रूप में, इस पृथ्वी पर विचरण करते हैं; अत द्विज को उचित है कि श्राद्ध काल मे आए अतिथि की पूजा करे।" अन्य जातियो में भी अतिथि सेवा के मूल में यह भाव पाया जाता है [१६]।

(३) ब्रह्मचारी, वेद के विद्वान् ब्राह्मण और सन्यासी हिन्दू समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी वर्ग थे। पिछले दो समाज के नेता और पथप्रदर्शक थे और पहला वर्ग गुरु के पास विद्याध्ययन करता था। गृहस्थ का यह कर्तव्य समझा जाता था कि वह इन सब का भरण पोपण करे; क्योकि ये वर्ग वैयक्तिक स्वार्थ के लिए कुछ भी न कमाते हुए, समाज के उपकार के लिए जीवन यापन करते थे। इसमें कोई सन्देह नही कि इस व्यवस्था का बहुत दुरुपयोग हुआ है; किन्तु वह तो प्रत्येक अच्छी संस्था और प्रथा का होता है। वर्तमान युग में यातायात की सुविधाओ के बढने, होटलो की स्थापना, जीवन सघर्प की जटिलता, व्यष्टिवाद तथा भौतिकता की वृद्धि से हिन्दू परिवार मे इस प्रथा का ह्रास हो रहा है।

---

१६. प्राचीन यूनान में होमर के ग्रन्थो में यह विचार कई स्थानो पर पाया जाता है। नौसिका ओडिसस को भिक्षा देते हुए कहती है कि सब परदेसी और गरीब ज्यूस (यूनानी महादेव) की ओर से आते है। ओडिसी में एण्टिनस जब एक भिक्षुक को स्टूल से पीटता है तो उसके साथी उसे भर्त्सना करते हुए कहते हैं, तू ने अभागे यात्री के साथ अच्छा वर्ताव नहीं किया; शायद यह स्वर्ग का देवता हो। देवता सब तरह के रूप धारण कर हमारे शहरों में परदेसी की तरह घूमते है। बाइबल में भी यह विचार पाया जाता है—हिब्रूज (१३।२) में हिदायत की गई है "आगन्तुको का आतिथ्य करना न भूलो, क्योंकि इस प्रकार कई व्यक्तियों ने अनजाने में देवताओं का आतिथ्य किया है।"

गृहस्थ का शेषभोजी होना—अथर्ववेद में कहा गया है कि अतिथि के भोजन कर चुकने पर ही स्वय भोजन करे [१७]। शतपथ ब्रा० (२।१।४।२) के समय से गृहस्थ का यह धर्म रहा है कि वह अतिथियो के खाने के वाद ही भोजन करे। आप० धर्मसूत्र (२।२।४।११) अतिथि से पहले खानेवाले को अपने घर की समृद्धि, सन्तान, पशु और यज्ञ के तथा वापी कूप तडागादि वनवाने का फल खानेवाला वताता है। आप० धर्मसूत्र (२।४।८।२) तथा वसिष्ठ० (११।१७) दम्पति के शेपभोजी होने का विधान करते है। आपस्तम्व यह व्यवस्था भी करता है कि गृहस्थ घर मे दूध आदि रसवान् पदार्थो का पूरा उपभोग न करे, ताकि कही ऐसा न हो कि वाद मे आने वाले अतिथियो को भोजन मे किसी पदार्थ की न्यूनता से कठिनाई हो, उसे अपने लिए अभिरूप (स्वादिष्ट) पदार्थ भी नही पकवाने चाहिए (नात्मार्थमभिरूपमन्न पाचयेत्)। स्मृतियो मे इसका समर्थन किया गया है (याज्ञ० १।१०५)। मनु के मतानुसार अतिथि से पहले खाने वाले के शरीर को कुत्ते और गिद्ध खाते है (३।११५)।

इस व्यवस्था के मूल में त्याग पूर्वक भोग का आदर्श है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। केवल अपने लिए पकाना और खाना हिन्दू शास्त्रकारो की दृष्टि मे पाप था। मनु के मत मे जो मनुष्य अपने ही भोजन के लिए अन्न पकाता है, वह केवल पाप का भोजन करता है; यज्ञ से वचा हुआ अन्न सज्जनो के लिये खाना उचित है[१८]। आज ससार मे साम्यवाद आदि विचार धाराएँ इसलिए प्रवल हो रही है कि पूजीवादी केवल स्वय खाना चाहता है, दूसरो को नही देना चाहता। उसकी स्वार्थलिप्सा ही भयकर अशान्ति का कारण बनी हुई है। हिन्दू परिवार के इस आदर्श के अनुसार यह स्थिति उत्पन्न ही नही हो सकती; क्योकि इसमें स्वार्थपूर्वक उपभोग नही, किन्तु त्यागपूर्वक भोग है।

गृहस्थ का पोष्यवर्ग—गृहस्थ केवल दूसरो को खिलाने वाला नही; किन्तु उनका पालन पोपण करनेवाला भी है। दक्ष० (२।३६) तथा लघु आश्वलायन (१।७४) के अनुसार दरिद्र होने पर भी गृहस्थ को इन व्यक्तियो का पालन पोपण करना चाहिए—माता, पिता, गुरु, पत्नी, सन्तान, शरण में

---

१७. अथर्व ९।६।३८ अशितावत्यतिथावश्नीयात्

१८. मनु० ३।११८ अघं स केवलं भुंक्ते यः पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते।

आया असहाय व्यक्ति, अतिथि और अग्नि[१९]। यदि व्यक्ति धनी हो तो उसे अपने कुल के तथा मातृकुल के निर्धन प्राणियो, असहायो और शरणागतो का भी पालन करना उचित है। पोष्य वर्ग के पालन से स्वर्ग मिलता है, उनके दुखी होने से नरक में जाना पडता है. अत· यत्नपूर्वक उनका पालन करना चाहिये। जिस मनुष्य के आश्रय से वहुत लोगो का निर्वाह होता है; वास्तव में वही जीवित है, केवल अपना पेट भरनेवाला जीवित दशा में भी मृतक के समान है[१९], व्यास स्मृति में (४।१६-२२) भी केवल अपना पेट भरने वालो की तुलना पशुओ के साथ करते हुए इस प्रकार के भाव व्यक्त किए गये है।

गृहस्थ की आजीविका--पोष्य वर्ग का पालन धनापेक्ष है। इसके उपार्जन के लिए किन वृत्तियो का अवलम्वन किया जाय, इसका भी शास्त्रकारो ने सुन्दर प्रतिपादन किया है। मनु के मत में जीविकोपार्जन की वृत्तियाँ सात प्रकारो मे वाँटी जा सकती है, ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत, सत्य. अनृत और श्ववृत्ति। खेत कटजाने पर खेत में पडे दाने वीनना (उञ्छ) तथा अन्न की वाल वटोरना (शिल) ऋत, विना मागे प्राप्त भिक्षा अमृत, मागकर लाई हुई भिक्षा मृत, कृषि कर्म प्रमृत, वाणिज्य सत्यानृत और नौकरी श्ववृत्ति है। नौकरी कभी नही करनी चाहिये। गृहस्थ की वृत्ति प्राणियो को कष्ट न पहुँचाने वाली या वहुत कम कष्ट पहुँचाने वाली तथा निन्दनीय कर्मों से रहित होनी चाहिये। (मनु० ४।२-६)। ब्राह्मण गृहस्थ के लिए कम से कम द्रव्य सग्रह करना आदर्श समझा गया है। मनु० के कथनानुसार गृहस्थ को उचित है कि वह कुसूल (कोठा) भर अन्न, कुम्भी भर अन्न, तीन दिन खाने योग्य या एक दिन खाने योग्य अन्न का सचय करे[२०] (मनु० ४।७)।

नारद (३।४६-५२) ने धन प्राप्ति के लिये धर्म को महत्वपूर्ण ठहराते हुए धन के शुद्ध, शवल और कृष्ण नामक तीन भेद कर. इनमें से प्रत्येक के सात प्रकार

---

१९. दक्ष २।३२-३५ माता पिता गुरुर्भार्या प्रजा दीनः समाश्रितः। अभ्यागतोऽतिथिश्चाग्निः पोष्यवर्ग उदाहृतः॥ स जीवति य एकैको वहुभिश्चोपजीव्यते। जीवन्तो मृतकास्त्वन्ये पुरुषाः स्वोदरम्भराः॥

२०. टीकाकारों ने--कुसूल और कुम्भी की टीकाकारों ने विभिन्न व्याख्यायें की है। कुल्लूक के मत में जिसके पास तीन वर्ष के निर्वाह के लिए अन्न हो, वह कुसूल धान्यक है और एक वर्ष वाला कुम्भी धान्यक; गोविन्द राज इन्हें क्रमशः १२ और ६ दिन का अन्न रखने वाला वताता है।

वताये है । वेद विद्या, शौर्य, तप, कन्या, शिष्य यज्ञ और वश परम्परा से मिला धन शुद्ध, सूद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क शिल्प, अनुवृत्ति तथा किये उपकार के वदले मे प्राप्त शवल और घूस (उत्कोच) जुआ, चोरी, दुख देने, ठगी (प्रति रूपक) डकैती (साहस) से प्राप्त धन कृष्ण होता है । मनुष्य जिस प्रकार के धन से जो कार्य करता है, उसे इस लोक तथा परलोक मे वैसा ही फल मिलता है । पराशर स्मृति मे भी न्यायोपार्जित वित्त से आत्मरक्षण पर वल दिया है (१२।४३) ।

गृहस्थ के अन्य कर्त्तव्य---उपर्युक्त कर्तव्यो के अतिरिक्त गृहस्थ के प्रधान कर्तव्य माता, पिता और गुरु की सेवा (मनु० २।२२५-२३६ मि० वृहद्विष्णु स्मृति ३१।१-१०, उशना० १।३०-३५) ऋतुकालाभिगामी होना (मनु० ३।४५-५०, परा० स्मृ० ४।१४-१५, व्यास० २।४५) स्वदारनिरत रहना, घर में प्रेम पूर्वक रहना (४।१८१) श्रद्धा से यज्ञ कर्म करना. तालाव कुआँ खुदवाना (४ २२६) तीनो ऋणो से उऋण होना (४।२५७) है। अनुशासन पर्व में अहिंसा सत्य, सव भूतो के प्रति दया, शम, सामर्थ्यानुसार दान गृहस्थ के उत्तम धर्म कहे गये है । दूसरों की स्त्रियो से सम्पर्क न रखना, अपनी पत्नी तथा धरोहर की रक्षा,न दी हुई वस्तु न लेना, मधु, मास का वर्जन यह पांच प्रकार का धर्म सुख वढ़ाने वाला है (महाभा० १३।१४१।२५-२६) ।

उपसंहार---शास्त्रकारो की दृष्टि में हिन्दू परिवार मे गृहस्थ का लक्ष्य पच महायज्ञ तथा अन्य आवश्यक कार्य करते हुए शनैः शनैः धर्मसग्रह करना है । मनु के कथनानुसार "परलोक में सहायता के लिए माता, पिता, पुत्र भार्या और सम्वन्धी नही होते, प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने पाप पुण्य का फल भोगता है । काठ और मिट्टी के ढेले के समान मृत शरीर को सम्वन्धी भूमि पर छोड कर चले जाते है, केवल धर्म ही उसके साथ जाता है । धर्म की सहायता से ही दुस्तर नरक से निस्तार होता है, अतः परलोक में सहायता के लिए धर्म का सदैव धीरे धीरे सचय करना चाहिए"। (मनु० ४।२३९-४२) । गृहस्थाश्रम सुखोपभोग के लिये नही किन्तु धर्म पालन के लिये है । इसमें मनुष्य स्वाध्याय से ऋषियो को, होम से देवताओ को, तर्पण से पितरो को, वलि से भूतों को तथा अन्न से मनुष्यो को तृप्त करता है । वेदाध्ययन से ऋषि ऋण, पुत्रो द्वारा पितृऋण तथा यज्ञो द्वारा देवऋण से मुक्त होकर पुत्र को सव कुछ देकर गृहस्थ ससार मे अलिप्त भाव से रहता है. (मनु० ४।२५७) । पारिवारिक जीवन मे तीनो ऋण उतार कर ही मनुष्य को

मोक्ष मिल सकता है, इन्हें उतारे विना मोक्ष के लिए संन्यासी होने वाला व्यक्ति नरकगामी होता है[२१]। गृहस्थाश्रम सामाजिक कर्त्तव्य होने से एक पवित्र धार्मिक बन्धन है; अतः उसकी उपेक्षा करनेवाला हिन्दू समाज में मुक्ति का अधिकारी नहीं माना जाता।

---

२१. मनु० ६।३५ ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥

ग्यारहवां अध्याय

संयुक्त परिवार तथा उत्तराधिकार के सामान्य सिद्धान्त

सयुक्त परिवार का कानूनी स्वरूप—मिताक्षरा और दाय भाग सम्प्रदाय—दाय शब्द की दो व्याख्यायें—उपरमस्वत्ववाद—जन्मस्वत्ववाद—मिताक्षरा संयुक्त परिवार की विशेषतायें—मतभेद के कारण—सयुक्त सम्पत्ति—शरीक (समाशी)—कर्त्ता—रिक्थहरण के सामान्य नियम—मिताक्षरा का दायाद क्रम—दायभाग का क्रम—मिताक्षरा परिवार के दायाद—पुत्र—विधवा—कन्या-दोहता-मातापिता-भाई-गोत्रज—समानोदक-बन्धु—विज्ञानेश्वर की सपिण्ड शब्द की व्याख्या—दायभाग की व्याख्या—पिण्डदान से दायादों का क्रम निश्चित होना—इसके नियम—दायभाग और मिताक्षरा के दायादो मे अन्तर—सकुल्य-समानोदक—दाय के अनधिकारी—शारीरिक और मानसिक अयोग्यतायें—दूषित आचरण—दायानर्हता के कारण—स्त्रियो का दाय से वचित होना—इसके कारण—मातृक परिवार—प्राचीन भारत मे इनकी सत्ता—मलाबार का मरुमक्कत्तायम् और तरवाड़ ।

१९वीं शती के अन्त तक हिन्दू समाज मे सयुक्त परिवार पद्धति की प्रधानता रही है । इसके ऐतिहासिक विकास की विवेचना दूसरे अध्याय मे की जा चुकी है; यहा इसके कानूनी स्वरूप, इसके सदस्यो के साम्पत्तिक अधिकारों तथा रिक्थहरण (Inheritance) के सामान्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया जायगा ।

स्वरूप—सयुक्त परिवार न केवल निवास, भोजन और धार्मिक कृत्य की दृष्टि से इकट्ठा रहनेवाले व्यक्तियो का समूह है; अपितु इसके सब सदस्य परिवार की सम्पत्ति का सयुक्त रूप से उपभोग करते है[1] । पहले यह बताया जा चुका है कि इस सस्था के विकसित तथा सुदृढ़ होने का एक बड़ा कारण यह था कि यह आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी थी । इसमे रहनेवाले सभी व्यक्तियो का कुटुम्ब की साझी सम्पत्ति से पालन-पोषण होता है । किन्तु ये सब सयुक्त

---

१. अप्पू बियर बनाम रामसुब्बा ११ म्यू० इं० ए० ७५,८९-९०

सम्पत्ति पर अपना स्वत्व रखते हो, सो बात नही। न तो सब व्यक्तियो का सम्पत्ति पर अधिकार होता है और न ही सबके स्वत्व समान होते है।

परिवार की कानूनी मर्यादा—हिन्दू परिवार मे एक मूल पुरुष की तीसरी पीढ़ी तक के वशज अपनी स्त्रियो तथा अविवाहित कन्याओ के साथ इसके सदस्य समझे जाते है; किन्तु इनमें से केवल पुरुष सयुक्त सम्पत्ति में स्वत्व रखने के कारण इसके साझीदार या समाशी (Coparceners) माने जाते है[२]। तीन पीढी की मर्यादा पिण्डदान के आधार पर की गई है। मनु के कथनानुसार तीन पितरो को उदक और पिण्ड दान दिया जाता है, चौथा देनेवाला होता है, पांचवें का कोई सम्बन्ध नही होता[३]। सामान्यत पिण्डदाता ही उत्तराधिकारी होने से पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व रखता है, वह चूकि परदादा तक पिण्डदान करता है, अतः उसका इसी पूर्वज तक की सम्पत्ति पर स्वामित्व माना जाना स्वाभाविक है। इस प्रकार हिन्दू परिवार की कानूनी मर्यादा एक मूल पुरुष की तीसरी पीढ़ी तक ही है और साझेदारी की भी यही सीमा है। इससे अधिक पीढ़ीवाले वाले व्यक्ति संयुक्त सपत्ति मे हिस्सेदार नही समझे जा सकते।

न्यायमूर्त्ति नानाभाई हरिदास के प्रसिद्ध निर्णय (मोरो बनाम गणेश १० ब० हा० रि०, पृ० ४४४) में दिये गये उदाहरणो में सयुक्त हिन्दू परिवार की सीमा अच्छी तरह सुस्पष्ट की गयी है। निम्न चित्र में क मूल पुरुष है, ख ग उसके पुत्र हैं, इन के पुत्र और पौत्र क्रमशः घ ङ और च छ है, च का पुत्र ज है—

---
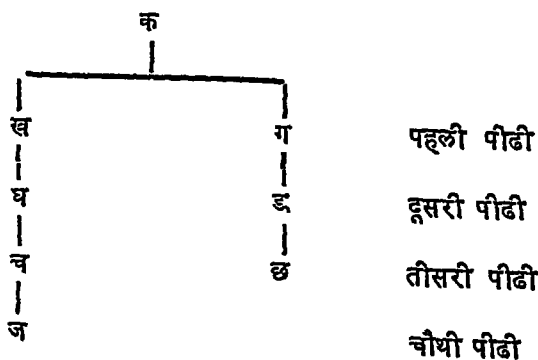
२. सुदर्शनम् बनाम नरसिंहुलु २५ म० १४९ (१५४)

३. मनु० ९।१८६ त्रयाणामुदकं कार्यं त्रिषु पिण्डः प्रवर्तते। चतुर्थः सम्प्रदातैषां पंचमो नोपपद्यते॥

क के जीवन-काल मे उसके पुत्र ख, ग, पौत्र घ ङ तथा प्रपौत्र च छ तों क की सम्पत्ति के साझीदार हैं, किन्तु यदि क के जीवित रहते हुए च का पुत्र ज उत्पन्न होता है तो वह क का प्रपौत्र होने से क की सम्पत्ति में अशहर नही हो सकता, क्योकि वह क से चौथी पीढी में है, परिवार की मर्यादा तीसरी पीढी तक है। किन्तु यदि ज क की मृत्यु के वाद उत्पन्न होता है तो वह ख, घ और च के साथ तीसरी पीढी में होने के कारण अशहर होगा। क के जीवित रहते हुए यदि ख मर जाय तो भी क से चौथी पीढी में होने के कारण ज हिस्सेदार नही वन सकता। यदि ख ग, घ ङ, च छ सभी क के जीवन काल मे मृत हो जाय तो भी सम्पत्ति पर क का ही स्वामित्व रहेगा, उस के मरने पर ही, उत्तराधिकारी होने के नाते ज को सम्पत्ति मिलेगी।

मिताक्षरा और दायभाग सम्प्रदाय—पैतृक सम्पत्ति में अधिकारो की दृष्टि से हिन्दू परिवार पिछले एक हज़ार वर्ष से दो प्रधान सम्प्रदायो मे वटा हुआ है। इन दोनो में मौलिक मतभेद होने के कारण दोनो प्रकार के हिन्दू परिवार के साझीदारो के स्वत्वो में भी पर्याप्त अन्तर है। पहले सम्प्रदाय का प्रधान आधार याज्ञवल्क्य स्मृति पर विज्ञानेश्वर द्वारा १०७०–११०० ई० के वीच मे लिखी हुई मिताक्षरा नामक टीका है और दूसरे का मूल १०९०–११३० ई० के वीच में जीमूतवाहन द्वारा प्रणीत दायभाग नामक ग्रन्थ। पहला सम्प्रदाय मिताक्षरा कहलाता है, वंगाल, आसाम के अतिरिक्त समूचे भारत मे प्रामाणिक समझा जाता है, किन्तु उसके साथ विशेष प्रदेशो मे अन्य ग्रन्थो का प्रामाण्य भी स्वीकार किया जाता है[४]। दूसरा सम्प्रदाय दायभाग कहलाता है। वगाल

४. मिताक्षरा सम्प्रदाय पांच शाखाओं में विभक्त किया जाता है—द्रविड़, महाराष्ट्र, मिथिला, वनारस और पंजाव। इनमें मिताक्षरा के अतिरिक्त कुछ वातों में अन्य ग्रन्थ भी प्रामाणिक माने जाते हैं। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है। कोष्ठों में इनके काल का निर्देश है।

सम्प्रदाय का नाम व क्षेत्र	प्रामाणिक ग्रंथ
(१) द्रविड़ अथवा मद्रास	स्मृति चन्द्रिका (१३वीं शती) सरस्वती विलास (१६वीं शती) व्यवहार निर्णय, पराशर माधव तथा वीर मित्रोदय (१६वीं श०)।

और आसाम में रघुनन्दन (१५१०-६५) के दाय-तत्त्व के साथ परम प्रमाण माना जाता है ।

इन दोनों सम्प्रदायो का मौलिक मतभेद इस प्रश्न पर है कि पैतृक सम्पत्ति (दाय) पर पुत्र का स्वत्व किस प्रकार उत्पन्न होता है । मिताक्षरा के मतानुसार जन्म लेते ही पुत्र का पैतृकसपत्ति में स्वत्व उत्पन्न हो जाता है, अतः यह मत जन्मस्वत्ववाद कहलाता है। दायभाग इससे सर्वथा प्रतिकूल यह मानता है कि पिता की मृत्यु (उपरम) से ही पुत्रो को यह अधिकार मिलता है, अत यह उपरमस्वत्ववाद कहलाता है । विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन से पहले भी ये दो विरोधी विचार धारायें चली आ रही थी, किन्तु इन्होने सर्व प्रथम सुस्पष्ट प्रतिपादन द्वारा इन्हे अपने प्रदेशो में सर्वमान्य सिद्धान्त बनाया ।

दाय शब्द का दोहरा अर्थ—इन परस्पर विरोधी सिद्धान्तो का मूल कारण सम्पत्तिवाची दाय शब्द की दोहरी व्याख्या है । विज्ञानेश्वर के मतानुसार दाय वह सम्पत्ति है, जिसपर उसके स्वामी के साथ सम्वन्ध मात्र के कारण ही दूसरे

---

(२) महाराष्ट्र या वम्वई	इसमें दो उपभेद हैं—
(क) महाराष्ट्र-उत्तरी कनारा, रत्न गिरि जिले तथा वरार	मिताक्षरा तथा व्यवहार मयूख (१७वी श०) इनमें मिताक्षरा अधिक प्रामाणिक है ।
(ख) गुजरात, वम्वई का टापू उत्तरी कोंकण	व्यवहार मयूख मिताक्षरा से अधिक प्रामाणिक है।
(३) वनारस(अजमेर, उत्तर प्रदेश मध्य-प्रदेश, उड़ीसा)	मिताक्षरा वीर मित्रोदय (१६वीं श०)
(४) मिथिला (तिर्हुत, या उत्तरी विहार)	विवाद चिन्तामणि (१५वीं श०), व्यवहार चिन्तामणि, विवाद रत्नाकर मिताक्षरा और वीरमित्रोदय ।
(५) पंजाव	यहां देशाचार मिताक्षरा, वीमि० से अधिक प्रामाणिक है। काश्मीर में अपरार्क अधिक प्रामाणिक है । दे० गोलापचन्द्र सरकार— हिन्दू ला (अष्टम संस्करण, पृ० ४२-४४)

व्यक्ति का स्वामित्व स्थापित हो जाता है[५]। पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार उसके पिता के साथ सम्बद्ध होने के कारण है और यह सम्बन्ध जन्म से उत्पन्न होता है, अत सम्पत्ति पर जन्म से ही स्वत्व समझना चाहिए। दूसरी ओर जीमूतवाहन दाय शब्द की व्युत्पत्ति दानार्थक दा धातु से करते हुए कहता है "जो दिया जाय, वह दाय है"; दान मे देने वाला व्यक्ति अपने अधिकार का त्याग करता है, इस प्रकार उसकी स्वत्व-निवृत्ति से नये व्यक्ति के अधिकार की उत्पत्ति होती है[६]। सम्पत्ति मे अधिकार पाने के लिए यह आवश्यक है कि उसपर जिस व्यक्ति का अधिकार है, उसके स्वत्व की समाप्ति हो; क्योकि इसके विना नया स्वत्व पैदा नही हो सकता; अतः जव पिता की मृत्यु से सम्पत्ति पर उसका स्वाम्य निवृत्त होता है, उसी समय पुत्र का उस पर अधिकार पैदा होता है, उससे पहले या जन्म से नही। दोनो पक्षो ने अपने सिद्धान्तो की पुष्टि निम्न शास्त्रीय प्रमाणो तथा युक्तियो के आधार पर की है।

उपरमस्वत्ववाद—इसका पहला प्रवल और स्पष्ट प्रमाण मनु० (९।१०४) और नारद (दाय भाग २) की यह व्यवस्था है कि पुत्र सम्पत्ति का वंटवारा पिता के मरने पर ही करे; क्योकि वह पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति के स्वामी नही है। देवल ने भी ऐसी व्यवस्था की है[७]। दूसरा प्रमाण 'वाल सफेद होने से पहले यज्ञ करने का विधान करने वाले' 'कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत' आदि श्रुति वाक्य है। यदि जन्म से ही पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व उत्पन्न होता हो तो पिता पुत्र की अनुमति के विना पैतृक सम्पत्ति लगाकर यज्ञ नही कर सकता। इस अवस्था में यज्ञ विपयक उपर्युक्त वचन निरर्थक हो जायेंगे।

जन्मस्वत्ववाद—विज्ञानेश्वर ने उपर्युक्त मत का खण्डन तीन प्रकार से किया है। (१) विष्णु धर्म सूत्र (१७।२), याज्ञवल्क्य (२।१२१), बृहस्पति

---

५. याज्ञ० २।११४ की अवतरणिका—तत्र दायशब्देन यद्धनं स्वामिसंवन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते।

६. दायभाग १।४-५-दीयते इति व्युत्पत्त्या दायशब्दो ददाति प्रयोगश्च गौणः, मृतप्रव्रजितादिस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पत्तिफलसाम्यात्, न तु तत्र मृतादीनां त्यागोऽस्ति। ततश्च पूर्वस्वामिसंवन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वाम्यं तत्र निरूढो दायशब्दः।

७. देवल दायभाग १।१८ द्वारा उद्धृत—पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥

(दायभाग २।५०), कात्यायन और व्यास (अपरार्क पृ० ७२५) के मतानुसार दादा की सम्पत्ति में पुत्र और पिता का एक जैसा स्वामित्व है[८]। इसलिए पुत्र का अधिकार जन्म से ही है। (२) उपरमस्वत्ववादियों की यह युक्ति भी ठीक नहीं है कि जन्म से स्वत्व मानने के कारण पुत्र से अनुमति लिये बिना यज्ञ न करने से श्रुति वचन का विरोध होगा। वस्तुतः पिता को परिवार का अध्यक्ष होने के नाते उसके पालन तथा उसपर आई विपत्तियों के निवारण के लिये आवश्यक यज्ञ तथा श्राद्धादि धर्मकार्य करने का अधिकार है। आपत्काल में कुटुम्ब के हित तथा धर्म-कर्म के लिए वह स्थावर सम्पत्ति का दान, गिरवी या विक्रय कर सकता है[९]। अतः वैदिक यज्ञों के व्यय के लिए उसे पुत्र से पूछना आवश्यक नहीं है। (३) विज्ञानेश्वर ने जन्म स्वत्व-वाद की पुष्टि में गौतम का भी एक प्रमाण दिया है[१०]। यद्यपि यह वर्तमान गौतम धर्मसूत्र में नहीं मिलता; किन्तु डा० जाली द्वारा इसे जाली ठहराया जाना तथा विज्ञानेश्वर द्वारा गढा हुआ मानना (हिन्दू ला, पृ० ११०) ठीक नहीं प्रतीत होता क्योंकि मेधातिथि ने विज्ञानेश्वर से २०० वर्ष पूर्व अपनी टीका (मनु० ९।१५६) में इससे मिलता-जुलता वचन उद्धृत किया है। जीमूतवाहन (दाय १।२०) स्वयं स्वीकार करता है कि स्वत्व की उत्पत्ति कहीं कहीं जन्म से मानी गई है।

मिताक्षरा संयुक्त परिवार की विशेषतायें—पैतृक सम्पत्ति में जन्म द्वारा स्वत्व का सिद्धान्त मानने से मिताक्षरा सयुक्त परिवार दायभाग के सयुक्त परिवार से कई विशेषतायें रखता है। इसके अनुसार अविभक्त परिवार में पैतृक

---

८. विष्णु धर्म सूत्र १७।२—पैतामहेऽर्थे पितृपुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वं। याज्ञ० २।१२१—भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि॥ बृहस्पति० (दाय भाग २।५०)।

९. मिता० याज्ञ० २।११४ पर—तस्मात् पैतृके पैतामहे द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वं तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्बभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्तद्रव्यविनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम् स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। अस्यापवादः। एकोऽपि स्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम्। आपत्काले कुटुम्बार्थे धर्मार्थे च विशेषतः॥

१०. वहीं—तयोत्पत्त्यैवार्थस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः इति गौतम वचनाच्च।

सम्पत्ति पर सभी साझीदारों का सयुक्त स्वामित्व होता है। स्वत्व की उत्पत्ति जन्म से होने के कारण नये उत्तराधिकारियो के आगमन तथा पुराने दायादो के निधन से सम्पत्ति पर स्वत्व रखने वालो की सख्या वढ़ती घटती रहती है। अतः इसमे साझीदारो का हिस्सा कभी निश्चित नही रहता, उनकी संख्या के अनुसार वदलता रहता है। इसकी दूसरी विशेषता अतिजीविता (Surviuorship) द्वारा सम्पत्ति का सक्रमण है। एक हिस्सेदार के मरने पर उसका हिस्सा उसके वाद जीवित रहनेवाले (अतिजीवी) अन्य शरीको या समाशियो को मिल जाता है, वशर्ते कि मृत सम्वन्धी का कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। नारद (१३।२५) ने स्पष्ट रूप से यह कहा है कि यदि कई भाइयो मे से एक अपुत्र ही मर जाय अथवा सन्यासी हो जाय तो स्त्री धन के अतिरिक्त उसकी सम्पत्ति उसके भाई वाट लेवे। मिताक्षरा ने इस व्यवस्था का अनुमोदन किया। अतिजीविता के इस सिद्धान्त के अनुसार मृत समाशी की विधवाओ तथा अन्य उत्तराधिकारियो को पैतृक सम्पत्ति मे उसका स्वत्व प्राप्त नही हो सकता। इसकी तीसरी विशेषता यह है कि इसमें स्त्रिया पुरुष शरीको के साथ समांशी नही हो सकती, भले ही वह मृत व्यक्ति की माता या स्त्री क्यो न हो। मिताक्षरा के अनुसार एक पुरुष के तीसरी पीढी तक के पुरुष वशज ही सम्पत्ति में स्वत्व रखते हैं। १९३७ के 'हिन्दू स्त्रियो के सम्पत्ति के स्वत्व कानून' से इसमें यह परिवर्तन हो गया है कि अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार मृत पुरुष की सम्पत्ति का अधिकार उसके अन्य शरीको को न मिल कर उत्तराधिकारिणी के रूप में उसकी पत्नी को सीमित स्वत्व के रूप मे प्राप्त होता है। इसकी चौथी विशेषता शरीको या समाशियो द्वारा सम्पत्ति का वटवारा करवाने का अधिकार है। पुत्रो का जन्म से ही पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व है, वे उसकी माग कर सकते हैं। पांचवीं विशेषता सम्पत्ति के विनियोग पर पिता का सीमित अधिकार है वह धार्मिक कार्यों के लिए गये विशेष ऋणो के चुकाने के लिए ही सयुक्त सपत्ति का विक्रय कर सकता है[१२]। किन्तु अन्य शरीक सयुक्त सम्पत्ति में अपने स्वत्व का दूसरे हिस्सेदारो से विना पूछे यथेच्छ विनियोग नही कर सकते।

दायभाग परिवार मे उपरमस्वत्ववाद के कारण पिता के मरने पर ही

---

१२. रामलिंग बनाम शिव चिदम्वर ४२ म० ४४०

पत्ति पर अधिकार प्राप्त होता है, अतः पिता के जीवनकाल
स्वत्व नही होता, वे मिताक्षरा परिवार के पुत्रो की भांति
टवारे की मांग नही कर सकते[13]। पिता का उस सम्पत्ति
है [14], लडको का भरण पोषण के अतिरिक्त उस पर
ते है, पिता पैतृक और स्वार्जित दोनो प्रकार की सम्पत्ति का
दान विक्रय आदि द्वारा कर सकता है। इसमें पिता के
माशी भाइयो का हिस्सा निश्चित होता है और उनके न
तिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार यह दूसरे शरीकों को न
क्त के उत्तराधिकारियो को ही मिलता है। पुत्र न होने
को हिस्सा मिलता है। मिताक्षरा में केवल पुरुष ही
शी होते है; किन्तु दायभाग में स्त्रिया भी उत्तराधिकारिणी

वेचना से यह स्पष्ट है कि दोनो सयुक्त परिवारों में निम्न

मिताक्षरा		दायभाग
पत्ति में स्वत्व जन्म से ।	(१)	स्वत्व जन्म से नहीं, किन्तु पिता की मृत्यु से उत्पन्न होता है।
माशी (शरीक) की ते पर उसका हिस्सा ी शरीको को मिलता	(२)	समांशी (Coparcener) की मृत्यु होने पर पुरुष का हिस्सा पत्नी आदि मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों को मिलता है।
रुष समांशी हो ।		

मिताक्षरा २।१।१४ यत्तु बृहस्पतिवचनमविभक्ता विभक्ता वा
रे समाः। एको ह्यनीशः सर्वत्र दानाधमनविक्रये ॥ इति तदपि
व्येषु मध्यस्थत्वादेवास्यानीश्वरत्वात्सर्वाण्यनुज्ञावश्यं कार्या।
ायभाग (२।२८-३०) पिछले नोट के बृहस्पति के वचन को
न से उद्धृत करता हुआ कहता है—व्यासवचनं तु स्वामित्वेन
वरविक्रयदानादिना कुटुम्बविरोधादधर्मभागिताज्ञापनार्थं निषेध-
क्याद्यनिष्पत्त्यर्थम्।

मिताक्षरा	दायभाग
(४) कोई समांशी अपने हिस्से का दान विक्रयादि द्वारा अपहार (Alienation) नही कर सकता।	(३) समांशियो की विधवाये भी समांशी हो सकती है।
	(४) समांशी अपहार या इन्तकाल कर सकते है।
(५) पिता कानूनी आवश्यकता या पूर्ववर्ती ऋण के लिए ही सयुक्त सम्पत्ति का अपहार कर सकता है।	(५) पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है, वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है।

आगे यह वताया जायेगा कि मिताक्षरा और दायभाग मे उत्तराधिकार की कसौटी के सम्वन्ध मे भी मौलिक मतभेद है। पहला रुधिर सम्वन्ध की समीपता या प्रत्यासत्ति (Propinquity) को तथा दूसरा पिण्ड दान को इसका आधार मानता है; अतः दोनो सम्प्रदायो के अनुसार मृत व्यक्ति के उत्तराधिकारियों की परम्परा मे भी वहुत भेद है। यह स्पष्ट है कि दायभाग की व्यवस्था मिताक्षरा की अपेक्षा अधिक व्यष्टिवादी तथा स्त्रियो के प्रति उदार और आधुनिक है।

मतभेद के कारण—मिताक्षरा और दायभाग के उपर्युक्त मतभेदो के मूल कारण के सम्वन्ध मे वहुत ऊहापोह हुआ है, किन्तु अभी तक निश्चित रूप से इसपर प्रकाश नही डाला जा सका। घोप का यह मत है (गौड़-हिन्दू कोड, पृ० ३७-३८) कि जीमूतवाहन, हिन्दू से मुसलमान वने, वगाल के राजा जलालुद्दीन मुहम्मद शाह (लगभग १४१४ ई०) के दरवार मे था, इस राजा ने मुसलमान होने पर भी हिन्दू पण्डितों को सरक्षण देना जारी रखा; दायभाग द्वारा सयुक्त सम्पत्ति में वैयक्तिक अधिकारो पर वल देना तथा कुछ स्त्रियो और वहिन के लड़के को उत्तराधिकारियो में सम्मिलित करना मुस्लिम प्रभाव के कारण है। घोप की इस कल्पना मे जीमूतवाहन का काल १५वी शताव्दी माना गया है। किन्तु श्री काणे ने जीमूतवाहन के दायभाग का रचना काल निर्विवाद रूप से १०९०-११३० के वीच में सिद्ध किया है (हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र प्रथम खण्ड, पृ० ३२६)। यदि यह ठीक हो तो जीमूतवाहन पर मुस्लिम प्रभाव मानने का प्रश्न ही नही उठता, क्योकि वगाल में मुसलमानो का प्रवेश जीमूतवाहन के १०० वर्ष वाद हुआ। सर्वप्रथम मुहम्मद विन वख्त्यार खिलजी ने ११९३-१२०६ के वीच में वगाल जीता और यहा मुस्लिम सत्ता स्थापित की। अतः इससे एक शती पहले होने वाले जीमूतवाहन पर मुस्लिम

प्रभाव की कल्पना निस्सार है । दूसरा मत जस्टिस शारदा चरण मित्र (ला क्वार्टर्ली रिव्यू, भाग २१९ पृ० ३८०-९२ तथा भाग २२ पृ० ५०-६३) का है । वे दायभाग की विशिष्टता का कारण समुद्र पार के देशों के साथ वगाल के समृद्ध समुद्री व्यापार को तथा इस प्रदेश में बौद्ध प्रभाव को समझते हैं । किन्तु मिताक्षरा की जन्मभूमि पश्चिमी भारत का भी समुद्री व्यापार कम समृद्ध नही था । यूनानी यात्रियों ने भडोच तथा कल्याण के समृद्ध वन्दरगाहो का उल्लेख किया है । बौद्ध धर्म भी पश्चिमी भारत मे वगाल से कम नही फैला था। कार्ले, भाजा, नासिक की बौद्ध गुहायें इसका सुन्दर उदाहरण है, फिर बौद्ध धर्म मे दायभाग की कोई अपनी विशिष्ट व्यवस्था नही थी । वर्मा आदि बौद्ध देशो ने उत्तराधिकार के नियम मनुस्मृति से ग्रहण किये ।[१५] अत. यह सभव नही प्रतीत होता कि बौद्ध प्रभाव के कारण जीमूतवाहन की व्यवस्थायें मिताक्षरा से भिन्न हो । ये भेद शायद वगाल तथा पश्चिमी भारत में प्रचलित विभिन्न रीति रिवाजो को शास्त्रीय दृष्टि से समर्थित करने का परिणाम है ।

उपर्युक्त मौलिक भेदो के अतिरिक्त मिताक्षरा व दायभाग के परिवारो में संयुक्त सम्पत्ति के स्वरूप, इसका स्वत्व रखने वाले शरीको के अधिकारो तथा सयुक्त परिवार के व्यवस्थापक या कर्त्ता के अधिकारो मे अधिक अन्तर नही है। यहा क्रमश. इन तीनो का सक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा ।

संयुक्त सम्पत्ति—सयुक्त परिवार में दो प्रकार की सम्पत्ति होती है (१) समाशी सम्पत्ति (Coparcenary property). (२) पृथक् सम्पत्ति । पहली सम्पत्ति में समाशी जन्म द्वारा स्वत्व पाते हैं, उनका इस पर पृथक् वैयक्तिक स्वामित्व नही होता, यह सम्पत्ति उनके मरने पर अतिजीविता के सिद्धान्त के अनुसार अन्य शरीको को प्राप्त होती है, इसके यथेच्छ विनियोग का उन्हें अधिकार नही होता । दूसरे प्रकार की सम्पत्ति में उन्हे विनियोग का अधिकार होता है । समाशी सम्पत्ति प्रधान रूप से पिता, दादा, परदादा से प्राप्त पैतृक सम्पत्ति होती है, इस पर पिता तथा पुत्रो का तुल्य अधिकार होता है[१६] । इसे मिताक्षरा (या० २।११४) मदनरत्न आदि ने अप्रति

---

१५. काणे—हिस्टरी आफ़ धर्मशास्त्र, खं० ३, पृ० ५५९-६० ।

१६. याज्ञ२।१२१—भूर्या पितामहोपात्ता निवन्धो द्रव्यमेव वा । तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि ॥

वन्व दाय का नाम दिया है[१७]। यह स्मरण रखना चाहिए कि यही सम्पत्ति समाशी समझी जाती है। यदि किसी साझीदार को चाचे, भाई, भतीजे, मामे, नाने आदि की सम्पत्ति मिलती है तो वह साझी न होकर वैयक्तिक वन जाती है। भतीजे या पिता को चाचा और पुत्र की सम्पत्ति मे तव तक अधिकार नही, जव तक वे जीवित है या जव तक चाचा और पुत्र, पुत्र का लड़का और पोता विद्यमान है। इनकी सत्ता उनके दायाद होने मे प्रतिवन्ध है; अतः यह सप्रतिवन्ध सम्पत्ति है। उस पर अन्य शरीको का कोई अधिकार नही माना जाता[१८]। पैतृक सम्पत्ति की आय से कमाई सम्पत्ति भी पैतृक मानी जाती है और इस पर शरीकों का अधिकार होता है। परन्तु निम्न प्रकार की सम्पत्ति स्वार्जित कहलाती है, इस पर पाने वाले का पूरा अधिकार होता है, यह अविभाज्य होती है, इस पर अन्य शरीको का कोई स्वत्व नही होता। (१) तीन पीढी से दूर के सम्वन्धी से अथवा चाचे, पुत्र, मामा, नाना आदि से प्राप्त सप्रतिवन्ध सम्पत्ति (२) दान या वसीयत से प्राप्त धन। (३) पैतृक सम्पत्ति को हानि पहुचाये विना कमाया धन (४) विद्याधन[१९]। अगले अध्याय मे इसकी विस्तृत विवेचना की जायेगी।

शरीक या समांशी—तीन पीढी तक सयुक्त परिवार की पतृक सम्पत्ति मे

---

१७. इसे अप्रतिवन्ध कहने का यह कारण है कि पिता या दादा के होने से पुत्र या पौत्र के अंशहर होने में कोई वाधा नही होती; किन्तु जहां पुत्रादि के अभाव में भतीजे को चाचा की संपत्ति मिलती है या पुत्र के निस्सन्तान मरने पर उसकी सम्पत्ति पिता को प्राप्त होती है तो यह सप्रतिवन्ध कहलाती है, क्योंकि इसमें भतीजे या पिता को चाचा की और पुत्र की सम्पत्ति में तव तक अधिकर नहीं, जव तक वे जीवित है या जव तक चाचा और पुत्र का लड़का विद्यमान है, इनकी सत्ता उसके दायाद होने में प्रतिवन्ध है, अतः यह सप्रतिवन्ध सम्पत्ति है। मदनरत्न—यद् द्रव्यं स्वामिनस्तत्पुत्रादेरप्यभावे स्वं भवति स सप्रतिवन्धो दायः यथा पित्रादीनां पुत्रादिधनम्। यत्पुत्रयौ त्रयोः पितृपितामहधनम् जन्मनः आरभ्य स्व भवति सोऽप्रतिवन्धो दायः। तत्र स्वामितत्पुत्रसद्भावस्याप्रतिवन्धत्वात्।

१८. मुहम्मद हुसेन खां वनाम किश्वा इं० ला० रि० अला० ६५५; जमना प्रसाद वनाम रामप्रताप २९ अला० ६६७ (६६९)

१९. मनु० ९।२०६, २०२; याज्ञ० २।११८-१९ तथा मिताक्षरा।

व्यक्ति समांशी (Coparceners) कहलाते है।
гार ये है—प्रत्येक शरीक को साझी सम्पत्ति के सयुक्त
त्व का अधिकार है। वह अपनी स्त्री तथा बच्चो के साथ
, भोजन तथा पूजा करने का अधिकारी है। उसे सयुक्त
पनी पत्नी तथा बच्चो के पालन पोषण का अधिकार है।
धिकार समांशिता के साथ शुरू होता है और उसकी
सका अन्त हो जाता है[२०]। समांशी संयुक्त परिवार की
 अविभक्त भाग का अपहार बम्बई, मद्रास और बरार में
; बंगाल, यू० पी०, बिहार उडीसा, पंजाब, मे यह अधिकार
ा को ही है। यह पहले बताया जा चुका है कि बंगाल में
हिस्सा निश्चित है, परन्तु अन्यत्र शरीको की सख्या बढ़ने
ा बढता रहा है।

 परिवार का सचालक और अविभक्त सम्पत्ति का व्यव-
ा होता है। उसके अभाव में बड़ा भाई अथवा परिवार का
यह कार्य करता है। आजकल इसे कर्त्ता कहा जाता है, किन्तु
ें यह नाम नही मिलता, वहा कुटुम्बी, गृही, गृहपति, प्रभु
) आदि शब्दो का व्यवहार हुआ है। मनु० (९।१०४-१०८)
), नारद (१३।५) पिता की मृत्यु के बाद बड़े भाई का
है कि वह छोटे भाइयो का पितृवत् पालन करे। परिवार का
 कर्त्ता के अधिकार परिवार के अन्य सदस्यों के स्वत्वों की
ोते है। वह न केवल सयुक्त सम्पत्ति का स्वामी होता है,
न्व सम्बन्धी सभी कार्य करता है,[२२] इस सम्पत्ति से
अपने विवेक के अनुसार उपयोग करता है[२३]। शरीकों के प्रति
लिए वह उस समय तक उत्तरदायी नही है[२४], जब तक

ावर बनाम राजा आफ पीठापुर ४१ म० ७७८ (प्रि० कौ०)
ण्डु बनाम गोमा ४३ बं० ४७२
ग्देव बनाम शामलाल १ अला० ७७। धर्मदास व० अमूल्यधन
९ (११३१, ११३२)
मोदरदास बनाम उत्तमराम १७ बं० २७१

परिवार की सम्पत्ति का धोखे से गवन या दुरुपयोग नही करता [25]। कानूनी आवश्यकता पड़ने पर या परिवार के लाभ के लिए वह ऋण ले सकता है और संयुक्त सम्पत्ति की गिरवी अथवा विक्रय कर सकता है[26]। कानूनी आवश्यकता परिवार की ऐसी स्थिति है, जिसमें कानून ऋण लेना अथवा सयुक्त सम्पत्ति का अपहार करना उचित समझता है। हिन्दू परिवार मे उपनयन और विवाह आदि सस्कार, श्राद्ध आदि धार्मिक कर्त्तव्य, वच्चो की शिक्षा, पैतृक ऋण की अदायगी आवश्यक कर्त्तव्य समझे जाते है। कानून भी इन्हे महत्त्वपूर्ण समझता है और निम्न स्थितियो मे कर्त्ता द्वारा ऋण लेना कानूनी आवश्यकता समझा जाता है। (१) ऐसा सरकारी लगान या टैक्स देना, जिसकी अदायगी न होने से सयुक्त सम्पत्ति वेची जा सकती हो [27]। (२) पारिवारिक सम्पत्ति पर अपने स्वत्व की रक्षा के लिए किया जाने वाला व्यय[28]। (३) शरीकों की तथा उनकी पत्नियो और वच्चों की रक्षा का तथा भरण पोषण का व्यय[29] (४) शरीको तथा उनकी लड़कियो के विवाह का खर्चा [30]। (५) आवश्यक धार्मिक कर्त्तव्य पूरा करने का व्यय (६) पिता के ऐसे ऋण जो अनैतिक और कानून विरुद्ध न हो [31]।

रिक्थहरण के सामान्य नियम—प्राचीन धर्मसूत्रो मे रिक्थहरण (Inheritance) के वहुत कम नियम पाये जाते है। सभवतः इसका कारण यह है कि उस समय सयुक्त परिवार की पद्धति अधिक प्रचलित होने से पृथक् सम्पत्ति वहुत कम होती थी, अतः इसके लिए अधिक व्यवस्थाओ की आवश्यकता नही थी। सम्पत्ति पर स्वभावतः पहला अधिकार पुत्र का था। अनपत्य दशा मे मृत व्यक्ति का धन किसे प्राप्त हो, इस विपय मे गौतम(२८।२१) आपस्तम्व(२।६।१४।२-५)वौधायन(१।५।१-१३)वसिष्ठ (१७।८१-८४)क्रम से

---

२५. परमेश्वर व० गोविन्द ४३ कल० ४९९

२६. द्वारकानाथ व० वंगशी ९ कल० वी० नो० ८७९

२७. हनुमान प्रशाद व० मुसम्मात ववुई ६ म्यू० इं० ए० ३९३ (४२१)

२८. गरीवुल्ला व० खलकसिह २५ अला० ४०७ (४१५) प्रि० कौ०।

२९. मिल्लर व० रंगनाथ १२ कल० ३८९

३०. गणपत व० तुलसीराम १३ बं० ला० रि० ८६०, भागीरथी व० जोखूराम, ३२ अला० ५७५

३१. आशुतोष बनाम चिदम्, ३४ कल० बी० नो० १५३ (१९३०)

ण्ड, गुरु, शिष्य राजा को यह सम्पत्ति मिलने की व्यवस्था करते हैं। आगे वताया जायगा कि सपिण्ड शब्द की व्याख्या के सम्वन्ध मे टीकाकारो में ौलिक मतभेद है। प्राचीन धर्मसूत्र इसके स्वरूप का स्पष्ट प्रतिपादन ो करते हैं; वे रिक्थहरण को सगोत्रों तक ही मर्यादित रखते हैं, एक मूल ८ से प्रादुर्भूत सभी वंशजो का एक ही गोत्र समझा जाता था, सम्भवतः समय सम्पत्ति के सभी उत्तराधिकारी सगोत्र (Agnate) ही होते थे, ौतम ने इनके अभाव में उस गोत्र के ऋषि को सम्पत्ति देने का विधान है।

मनु ने सर्वप्रथम अनपत्य व्यक्तियो के दायादो का कुछ विस्तार व से प्रतिपादन किया है। ये इस प्रकार है—(१) पुत्री, (२) दौहित्र, ३) पिता, (४) भाई, (५) माता, (६) दादी, (७) अन्य सपिण्ड (तीन ीढ़ी तक के गोत्रज) (८) सकुल्य (तीन पीढी से ऊपर के गोत्रज), (९) रु, शिष्य, (१०) ब्राह्मण और (११) राजा(९।१८७, १३०, १३६, १८५, १७, १८८-८९)। मनु इन दायादो मे पत्नी का कोई उल्लेख नही करता। ाज्ञ० ने इसका सर्व प्रथम उल्लेख करते हुए अपनी जो व्यवस्था की, वह आज हिन्दू समाज के अधिकाश भाग मे उत्तराधिकार क्रम का मूलाधार वनी ई है। 'स्वर्ग गये हुए (मृत) तथा अपुत्र पुरुष की सम्पत्ति पर निम्न क्रम से ए पहले का अभाव होने पर अगले अगले का अधिकार होता है—(१) ९, (२) कन्यायें, (३) दौहित्र, (४)माता, (५)पिता, (६) भाई, (७) ो के लड़के, (८) गोत्रज (Agnates) (९)वन्धु, (Cognates) १०) शिष्य (११) और सहपाठी[३२]। याज्ञवल्क्य की इस व्यवस्था में न्धुओं का पहली वार स्पष्ट उल्लेख हुआ है। मिताक्षरा के अनुसार वहिन, आ, मौसी आदि के लडके वन्धु (Cognate) हैं; ये स्त्रीपरम्परा द्वारा

३२. याज्ञ० २।१३५-३६; पत्नी दुहितरश्चैव पितरौ भ्रातरस्तथा। गोत्रजा वन्धुशिष्यसब्रह्मचारिणः॥ एषामभावे पूर्वस्य धनभागुत्तरोत्तरः। ह्यपुत्रस्य सर्ववर्णेष्वयं विधिः॥ यहां अनपत्य का अर्थ केवल पुत्र का नहीं, किन्तु पौत्र पर्यन्त सन्तान का अभाव समझना चाहिये। मि० वि० चि०, ० १५१ अनपत्यस्य पुत्रपौत्रप्रपौत्रहीनस्य पुत्रः पौत्रः प्रपौत्रो वा इत्यादिना पाठक्रमेणैव स्वधाधिकारे सिद्धे तत्समानशीलस्य रिक्थग्रहणस्यापि धकारसिद्धेः।

संवद्ध व्यक्ति है, विवाह के वाद दूसरे कुल में जाने पर पत्नी द्वारा पति का गोत्र ग्रहण करने से भाजे का तथा फुफेरे, ममेरे भाइयो का गोत्र भिन्न हो जाता है दूसरे कुल तथा गोत्र का होने के कारण प्रारम्भिक धर्मशास्त्रकारो ने वन्धुओ का दायादो मे उल्लेख नही किया था; किन्तु निकट सम्वन्धी होने के कारण इनका महत्त्व शनैः शनैः स्वीकार किया जाने लगा। याज्ञवल्क्य तथा मिताक्षरा ने वन्धुओ (Cognate) को गोत्रजों (Agnates) अर्थात् अपने कुल की छः पीढी ऊपर के पूर्वजो तथा छ. पीढी नीचे के वंशजो के वाद ही स्थान दिया; किन्तु आगे चलकर यह वताया जायगा कि दायभाग ने सपिण्ड शब्द की नई व्याख्या कर वन्धुओ को दायादो में वहुत ऊँचा स्थान दिया। यह दाय भाग और मिताक्षरा का एक प्रधान अन्तर है।

याज्ञवल्क्य के वाद उल्लेखनीय स्मृतिकार नारद, वृहस्पति, कात्यायन और देवल हैं। नारद की विशेषता यह है कि वह लड़के के अभाव में लड़की के अधिकार का वलपूर्वक समर्थन करता है; क्योकि 'पुत्र और पुत्री दोनो पिता की सन्तान वढाने वाले होते हैं[३३]'। परन्तु याज्ञवल्क्य द्वारा समर्थित पत्नी के अधिकार के सम्वन्ध में वह मौन है। उसके अनुसार अपुत्र व्यक्ति के दायादो का यह क्रम है—पुत्री, सकुल्य, वान्धव, सजाति और राजा (१४।४८, ४९)।

वृहस्पति ने पत्नी के अधिकार का प्रवल समर्थन करते हुए[३४] याज्ञवल्क्य की भाति उसे दायादो में प्रथम स्थान दिया। उसकी तथा कात्यायन की जवर्दस्त वकालत के कारण ही मध्ययुग तथा आधुनिक काल मे विधवाओ को पति की सम्पत्ति में अधिकार मिला है। नारद की भाति वृहस्पति भी कन्या के अधिकार का प्रवल पक्षपाती है[३५]। उसके अनुसार दायादक्रम निम्न है—पत्नी, पुत्री, दौहित्र, पिता, माता भाई, भतीजा, ज्ञाति (सपिण्ड), सकुल्य (समानोदक), वान्धव, शिष्य और आचार्य (दा० १८२)।

मिताक्षरा का दायादक्रम—टीकाकारो ने प्रधान रूप से याज्ञवल्क्य स्मृति

---

३३. ना० सं० १४।१७—पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसन्तानदर्शनात्। पुत्रश्च दुहिता चोभौ पितुः सन्तानकारकौ॥

३४. दा० १४९ में उ० यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य जीवति। जीवत्यर्धशरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्॥

३५. मिता० १।१३५ में उद्धृत—अंगादंगात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्। तस्मात् पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः॥

उद्धृत श्लोको को आधार मानकर दायादो का क्रम निश्चित किया ।
रा और दायभाग के दो सम्प्रदाय उल्लेखनीय है । मिताक्षरा के
विभक्त सम्पत्ति वाले मृत व्यक्ति के दायादो का क्रम निम्न है—(१)
, प्रपौत्र (२) विधवा (३)कन्या (४)दोहता (५)माता (६)पिता
(८)भतीजा (९)भतीजे का लडका—यहा तक दायादो का क्रम
होने से यह वद्धक्रम (Compact series) कहलाता
अभाव में निम्न उत्तराधिकारी होते हैं—(१०)गोत्रज सपिण्ड (११)
(१२) वन्धु (१३) शिष्य (१४) सहपाठी (१५) राजा ।
का क्रम—यह अनेक अंशो मे मिताक्षरा के क्रम से मिलता है ।
दायादो में निम्न अन्तर है—(१)पिता का अधिकार माता से
जाता है, (२) विवाहित कन्याओ में पुत्रवती अथवा जिसके
की सम्भावना हो, उसे तरजीह दी जाती है। (३) उत्तराधिकारिणी
लिए कन्या का रिक्थहरण के समय साध्वी होना आवश्यक है। वद्ध-
सम्वन्धियो के वाद पूर्व के अभाव में निम्न क्रम से उत्तराधिकारी,
—(१) सपिण्ड (२) सकुल्य (३) समानोदक (४) सपिण्डो से
(५) गुरु (६) शिष्य (७) सहपाठी (८) राजा ।
क्त दायादो में से पुत्र, विधवा, कन्या, पिता आदि के अधि-
की अगले अध्यायो में विस्तार से विवेचना की गई है, अत. यहा मिता-
र के दायाद क्रम से इनके सम्वन्ध मे कुछ मुख्य वातो का ही उल्लेख
हुए अन्य दायादो पर सक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा; वर्तमान काल में
ो, कानूनो तथा हिन्दू कोड आदि प्रस्तावित विधानो से इनमें जो अन्तर
है, उसे स्पष्ट किया जायगा ।

मिताक्षरा परिवार के दायाद

(१) पुत्र—पिता की सम्पत्ति पर सवसे पहले पुत्र का अधिकार
जाना सर्वथा स्वाभाविक है । यदि कई पुत्र हो तो उन्हे तुल्य अश प्राप्त
है और बंटवारा मुण्डशः (Per capita) होता है । धर्म-
ो के अनुसार पुत्र शब्द से तीसरी पीढ़ी अर्थात् परपोते तक की सन्तान
जाती है; क्योंकि पिण्ड दान तीन पीढी तक के पूर्वजो को किया जाता
अत. सम्पत्ति के वटवारे के समय, पैतृक द्रव्य को न केवल उसके जीवित
प्त करते है; अपितु यदि पुत्रों में से कोई मर चुका हो तो उसके पुत्र
उसके भी गुजर जाने पर, उसके पुत्र अर्थात् मृत व्यक्ति के प्रपौत्र को भी

सम्पत्ति का अंश मिलता है। मृत व्यक्ति का अधिकार उसके पुत्र को प्राप्त होता है, बटवारे के समय पिता के न होने पर भी वह उसका प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु यह हिस्सा उसे उतना ही मिलेगा जितना उसके पिता को जीवित रहते हुए मिलता, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा। क इस सयुक्त परिवार का मुखिया है, इसके चार बेटे ख, ग, घ, च हैं। जब क मरता है, तो अपने पीछे एक लड़का ख, अपने दूसरे मृत पुत्र ग के दो पोते ग १, ग २, अपने तीसरे मृत पुत्र घ के तीन परपोते छ१, छ २, छ ३, तथा च का एक परपोता त छोड़ता है। निम्न तालिका से यह स्थिति स्पष्ट है—
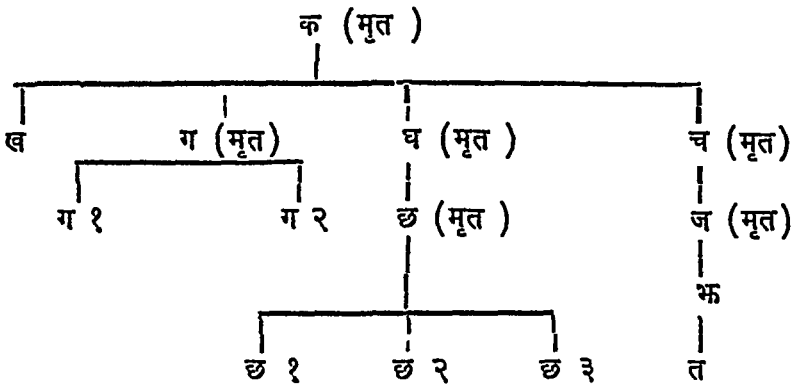
क की सम्पत्ति पर चौथी पीढी का होने से त का कोई अधिकार नही है। अतः यह सम्पत्ति शेष उत्तराधिकारियो मे बाटी जायेगी। इनकी सख्या छः (एक पुत्र, दो पोते, तीन परपोते) है। पर यह छ. अशो मे न विभक्त होकर, तीन हिस्सों में बटेगी, क्योकि पोते तथा परपोते अपने पिता और दादा के प्रतिनिधि होने तथा उनके न रहने के कारण सम्पत्ति ले रहे है। वे पैतृक सम्पत्ति का उतना अश ले सकेगे, जितना उनके पिता और दादा को मिलता, अतः सम्पत्ति के तीन भाग करके एक हिस्सा ख को, दूसरा हिस्सा ग के दो पोतो तथा तीसरा घ के तीन परपोतों को मिलेगा। इस प्रकार पिता के आधार पर किया जाने वाला यह बटवारा पितृतो विभाग (Per stirpes) कहलाता है। कौटिल्य (३।५) तथा याज्ञवल्क्यादि शास्त्रकारो[३६] ने इसका

३६. अर्थशास्त्र ३।५—अपितृका बहवोऽपि च भ्रातरो भ्रातृपुत्राश्च पितुरेकमंशं हरेयुः सोदर्याणामनेकपितृकाणां पितृतो दायविभागः। याज्ञ० २।१२०- अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना।

है और वर्तमान न्यायालयो ने इसे सामान्य रूप से स्वीकार
ै।
—विधवा को पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र के अभाव मे पति की सम्पत्ति में
सघर्ष के वाद मिला है। आपस्तम्व और वौधायन ने इसे दायादों में नही
ने अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति पर पिता (९।१८५) तथा माता (९।
अधिकार वता कर पत्नी की उपेक्षा की है। गौतम ने उसे दायादों
ीछे स्थान दिया, याज्ञ० तथा विष्णु सभवत. पहले स्मृतिकार थे, जिन्होंने
पुरुष का सर्वप्रथम रिक्थहर वताया, वृहस्पति तथा कात्यायन द्वारा
अधिकार के समर्थन का उल्लेख पहले हो चुका है। सभवतः अपने
प्रचलित रिवाजो के आधार पर नारद ने (दाय० २५।२६) इसका
किया ; किन्तु मिताक्षरा ने याज्ञ० २।१३५ के आधार पर इसे पहला
माना और मध्ययुग में सभी निवन्धकारो ने इसे स्वीकार किया। इस
ाप्त होने वाली सम्पत्ति पर विधवा को सीमित अधिकार था। वह केवल
भोग मात्र कर सकती थी, दान विक्रयादि द्वारा इसके इन्तकाल या
का स्वत्व उसे नही था। वर्तमान युग में इस सवन्ध में एक वड़ा क्रान्ति-
१९३७-३८ के 'हिन्दू स्त्रियो के सम्पत्ति सम्वन्धी अधिकार कानूनों'
है। इनसे विधवाओ को पुत्रो के अभाव में नही, किन्तु उनके साथ पृथक्
का अशहर वना दिया गया है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हिन्दू
प्रस्तावित किया गया था कि विधवा के सीमित अधिकार को पूर्ण वना
, यह अभी तक कानून का रूप धारण नही कर सका।
—विधवा के अभाव में कन्या उत्तराधिकारिणी होती है, संभवतः
श० ई० पू० में कौटिल्य ने सर्व प्रथम इसे स्पष्ट रूप से दायाद
था (३।५), क्योकि गौतम वौधायन तथा वसिष्ठ के धर्मसूत्रो में इसका
ों में उल्लेख नही है। मनु (९।१३०) की पुत्र और दुहिता के अधिकारो को
वाली व्यवस्था सभवत. पुत्र वनाई हुई कन्या के लिए है, इस प्रथा
लित होने पर, विधवा के वाद यही अधिकारिणी समझी जाने लगी।
, विष्णु, नारद, वृहस्पति ने कन्या के अधिकार का समर्थन किया। विश्व-
(या० २।१३५ में उद्धृत) धारेश्वर, देवस्वामी देवरात आदि टीकाकार

३७. प्राण जीवन दास व० इच्छाराम ३९ वं०, ७३४; अपवाद के लिए मंजनाथ व० नारायण ५ म० ३६२, नारायण व शंकर ५३ म० १।

(स्मृच २।२९५) याज्ञ० द्वारा कन्या को दिये गये अधिकार को पुत्रिका तक ही सीमित करना चाहते थे, किन्तु मिताक्षरा ने इस का खण्डन करते हुए कन्यामात्र को उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया। कन्याओ में दाय ग्रहण के लिये तारतम्य का विचार सर्वप्रथम कात्यायन (मिता० २।१३५)ने शुरू करते हुए अविवाहित कन्या को तरजीह दी। विज्ञानेश्वर ने विवाहित कन्याओ में भी गौतम के एक वचन के आधार पर निर्धन (अप्रतिष्ठित) को धनी(प्रतिष्ठित) से पहले स्थान दिया। बगाल में दायभाग के अनुसार पिण्डदान द्वारा पितरो को लाभ पहुँचाना ही उत्तराधिकार की प्रधान कसौटी है, अत विवाहित कन्याओ मे पुत्र वाली या सभावित पुत्रा को वन्ध्या, विधवा या लडकिया पैदा करने वाली कन्या की अपेक्षा तरजीह दी जाती है[३८]। बम्बई के अतिरिक्त शेष भारत में कन्याओं का अधिकार सीमित है, किन्तु बम्बई मे कन्याओ को पिता की सम्पत्ति मे पूर्ण स्वत्व प्राप्त होता है[३९]।

दौहित्र—कन्याओ के अभाव मे दोहता (लडकी का लड़का) उत्तराधिकारी होता है। यद्यपि यह भांजे आदि के समान भिन्न कुल (गोत्र) का होता है, किन्तु प्राचीन काल से पुत्र के अभाव मे पितरो का पिण्डदाता होने से इसे पर्याप्त महत्त्व तथा दायादो मे बहुत ऊँची स्थिति मिली है। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब ने दायादो मे इसका उल्लेख नही किया, याज्ञवल्क्य और विष्णु इस सम्बन्ध मे मौन हैं। किन्तु मनु ने ९।१३१-३२ तथा ९।१३६ मे दौहित्र द्वारा अपुत्र पिता को पिण्ड देने तथा सम्पत्ति ग्रहण करने का उल्लेख किया। मेधातिथि और कुल्लूक प्रकरण देखते हुए यहा दौहित्र का अर्थ सामान्य दोहता नही करते; किन्तु पुत्र बनायी लडकी (पुत्रिका) का लड़का समझते हैं। सभवतः इसके अधिकार का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाला पहला शास्त्रकार बृहस्पति है। उसके मत मे जैसे कन्या पितृपक्ष के बन्धुओ के होते हुए भी दायाद

---

३८. दा० ११।२।१-३ दुहितुरधिकारे संतानदर्शनं हेतुतया निगदितं सन्तानश्च पिण्डदोऽभिमतः, अपिण्डदस्यानुपकारकत्वेन अन्यसन्तानादसन्तानाच्चाविशेषात् दौहित्रश्च तत्पिण्डदाता—अतः पुत्रवती संभावितपुत्रा चाधिकारिणी वन्ध्यात्वविधवात्वदुहितृप्रसूतत्वादिना दिपर्यस्तपुत्रा पुनरनधिकारिण्येवेति दीक्षितमतमादरणीयम्।

३९. बिठप्पा ब० सावित्री ३४ बं० ५१०, भागीरथी बम्बई ब० कहनुजीराव ११ बं० २८५ (फु० बै०)

वैसे ही उसका लडका भी अपनी माता व नाना की सम्पत्ति का
ाता है[४०]।

९ द्वारा स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी विज्ञानेश्वर ने 'दुहितरश्च'
।१३५) के 'च' शब्द से दौहित्र के अधिकार की पुष्टि की है। दोहता
की जायदाद पर पूरा अधिकार पाता है, अर्थात् वह जायदाद दोहते
पर उसके वारिसो को मिलती है, नाना के वारिसो को नही। दोहतों
। का विभाग मुण्डश (Per capita) होता है; पितृतः
· stirpes) नही। उदाहरणार्थ—अ की दो लडकिया क ख है,
` तथा ख के तीन लडके है। यहा यह सम्पत्ति दोहतो मे पितृत. तो
ो में बटनी चाहिए, परन्तु मुण्डश यह पाच हिस्सो में विभक्त की जाती
९`के साथ मृत व्यक्ति के निचली तीन पीढियों के वंशज दायाद
हो जाते है।

ो—दोहते के अभाव में माता पिता उत्तराधिकारी होते है। इनमें
पहले हो, इसकी प्राचीन स्मृतिकारो ने स्पष्ट व्यवस्था नही की।
।२१७ में माता को तथा ९।१८५ मे पिता को अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति
धकारी बताता है; किन्तु वह इन के पौर्वापर्य के सम्बन्ध मे मौन है।
(मिता० २।१३५) पिता को तथा बृहस्पति (अपरार्क०, पृ० ७४४)
को पहला स्थान देता है[४१]। मिताक्षरा प्रधान रूप से व्याकरण और
के दो हेतुओ से, माता का स्थान पिता से पहले मानता है। व्याकरण
, पितरौ शब्द एकशेष द्वन्द्व समास है और इसका विग्रह है— माता च
च पितरौ; इसमें माता का उल्लेख पहले है। दूसरा कारण प्रत्यासत्ति है।
पति की अनेक स्त्रिया हो सकती है, इनसे उत्पन्न पुत्रो का वह सामान्य
होता, किन्तु माता पुत्रों के लिए इस प्रकार साधारण नही हो सकती,
पुत्र से पिता की अपेक्षा घनिष्ठ सम्बन्ध होगा (मि० स्मृच० २।२९७, ।
पारिजात, विवाद चिन्तामणि, व्यवहार प्रकाश (पृ० २२५ '
को पहले मानते है, किन्तु व्यवहार मयूख (पृ० २४२-५४) और

४०. दा० पृ० १८० पर उद्धृत—यथा पितृधने स्वाम्यं तस्या सत्स्वपि
।तथैव तत्सुतोऽपीष्टे मातृमातामहे धने॥

४१. श्रीकर ने उक्त दोनों मतों का समाहार करते हुए माता पिता
को एक साथ उत्तराधिकारी माना है, दे० स्मृच० २।२९७।

दायभाग इस पक्ष को स्वीकार नही करते, कात्यायन के आधार पर वे पिता को पहला स्थान देते हैं । अत: वगाल मे तथा मयूख द्वारा शासित प्रदेश गुजरात, वम्वई द्वीप तथा उत्तरी कोकण मे पिता का अधिकार पहले समझा जाता है, उसके अभाव मे माता दायाद होती है । शेष भारत में माता का स्थान पहले माना जाता है। उसका साम्पत्तिक स्वत्व भी अन्य स्त्रियो की भांति सीमित होता है ।

भाई—माता पिता के अभाव मे भाई दायाद समझे जाते हैं। मध्यस्थ या प्रधान पुरुष (Propositus अर्थात् जिस से दायादो की गणना की जाती है) से भाई पिता की अपेक्षा अधिक निकट है, क्योकि उसने अपने भाई के साथ पिता के शरीर के अंशो के अतिरिक्त, माता के अश भी पाये है, ये पिता मे नही है, अतः प्रत्यासत्ति (Propinquity) के आधार पर भाई का स्थान पिता से पहले होना चाहिये। शख लिखित, पैठिनसि तथा देवल (गौध सू० की २८।२५ की टीका पर हरदत्त द्वारा उद्धृत) ने यही क्रम स्वीकार किया है, पहले सभवत. यही परिपाटी रही होगी । किन्तु याज्ञ० ने २।१३५ मे भाई का का माता पिता के वाद उल्लेख किया है । विज्ञानेश्वर सभवतः माता के शरीर से आनेवाले अशो को अधिक महत्त्व नही देता, यह उसके आगे वताये जाने वाले सौतेले भाई को भतीजे पर तरजीह देने के कारण से स्पष्ट है, अतः मिताक्षरा मे भाई को मातापिता के वाद स्थान दिया गया और उस समय से यह व्यवस्था हिन्दू परिवार में सर्वमान्य है ।

मिताक्षरा तथा दायभाग दोनो ने भाइयो मे सौतेले या भिन्नोदर (भिन्न माताओ वाले भाई) का अधिकार सोदर (सगे भाई) के वाद माना है । इस भेद का कारण स्पष्ट है । विज्ञानेश्वर के मतानुसार सोदर भाई मे माता पिता दोनो के शरीर का अश आता है और अन्योदर मे केवल पिता का । अतः रक्त सवन्ध की दृष्टि से अधिक निकट (प्रत्यासन्न) होने से सोदर पहले अधिकार रखता है[४२] । दायभाग के अनुसार भी उसी का हक पहले है; क्योकि वह मृत व्यक्ति के पितृपक्ष के तीन पूर्वजो तथा मातृपक्ष के तीन पूर्वजो को, कुल मिलाकर छ: पिण्ड देगा; जव कि अन्योदर मृत व्यक्ति के पितृपक्ष के तीन पूर्वजों को केवल तीन पिण्ड देगा [४३] ।

४२. याज्ञ० २।१३५-३६, पर मिता० भ्रातृष्वपि सोदराः प्रथमं गृह्णीयुः, भिन्नोदराणां भ्रात्रा विप्रकर्षात् ।

४३. दा० ११।५।१२ सापत्नस्य च सोदरान्मृतदेयषाट्-पौरुषिक-पिण्डदातुर्मृतभोग्यमात्रपित्रादिपिण्डत्रयदातृतया जघन्यत्वात् ।

किन्तु नीलकण्ठ इससे सहमत नहीं, वह भाई (भ्रातरः) शब्द से केवल सोदर भाई ही समझता है। अतः वह मिताक्षरा के सोदर के बाद अन्योदर के क्रम को न स्वीकार कर निम्न क्रम रखता है—सोदर भाई, सोदर भाइयो के लड़के, दादी, बहिन, एक ही साथ दादा तथा अन्योदर भाई और फिर इकट्ठे ही परदादा, चाचा तथा अन्योदर्य का लडका। इस प्रकार तीन पीढियो का संयुक्त रूप से रिक्थहरण मयूख की विशेषता है, इसे बम्बई हाइकोर्ट ने सर्वथा अमान्य ठहराया है, अतः इसकी व्यावहारिक उपयोगिता कुछ भी नही है[४४]। भाइयो के अभाव में उनके पुत्र (भतीजे) तथा इनके अभाव में भतीजे के लडके उत्तराधिकारी होते है[४५]। इन तक बद्ध क्रम या निश्चित व्यवस्था समझी जाती है (मिता० २।१३५)।

गोत्रज—बद्धक्रम की समाप्ति के बाद गोत्रज दायाद होते है। गोत्र में उत्पन्न होने वाले पिता, भाई आदि सभी गोत्रज होते है, किन्तु इनका निर्देश पहले हो चुका है। अत इनके अतिरिक्त अन्य सम्बन्धी निम्न क्रम से दायाद बनते है[४६]—(१२) दादी (१३) दादा। व्यवहार मयूख ने इन दोनो के बीच में बहिन का स्थान माना है। बम्बई के अतिरिक्त अन्य कही भी बहिन की दायादो में गणना नही है। मद्रास में उसे बहुत दूर के बन्धुओ (Cognates) में गिना जाता था। १९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून द्वारा काफी नजदीकी रिश्तेदार होने के कारण भिन्नगोत्र (Cognate) होने पर भी ऊपर नीचे की छठी पीढी तक के सब गोत्रजो की समाप्ति के बाद दायाद बनने वाले कुछ सम्बन्धियो को दादा के बाद निम्न क्रम से रिक्थहर माना है—(१४) लड़के की लड़की (१५) लड़की की लडकी (१६) बहिन (१७) भाजा। इनमें पहले दो तो स्त्री होने के कारण तथा शास्त्रो में निर्दिष्ट न होने के से, पंजाब तथा इलाहाबाद के न्यायालयो द्वारा दायाद नही माने जाते थे। बहिन को केवल बम्बई में ही अधिकार प्राप्त था; और भाजे को बगाल में। कानून द्वारा इन

---

४४. सखाराम ब० सीताबाई ३ बं० ३५३

४५. बुधसिंह बनाम ललतु सिंह ४५३. ए० ।

४६. मिता० २।१३५ भ्रातृपुत्राणामप्यभावे गोत्रजा धनभाजः। गोत्रजाः पितामही सपिण्डाः समानोदकाश्च। तत्र पितामही प्रथमं धनभाक्। पितामह्याश्चाभावे समानगोत्रजाः सपिण्डाः। पितामहादयो धनभाजः इत्येवमासप्तमात् समानगोत्राणां सपिण्डानां धनग्रहणं वेदितव्यम्।

सम्बन्धियो को उत्तराधिकारी बनाकर इनके प्रति होने वाले अन्याय का प्रतिशोध कर दिया गया है।

इनके बाद मिताक्षरा के नियमानुसार जायदाद के वारिस क्रमशः (१८) चाचा (१९) चाचा का पुत्र (२०) चाचा का पोता (२१) परदादी (२२) परदादा (२३) दादा का भाई (२४) दादा का भतीजा (२५) दादा के भाई का पोता होते है। यहा तक के दायाद तो मिताक्षरा ने गिना दिये है और इसके बाद के वारिसो के लिए कहा है कि इसी प्रकार समान गोत्र वाले सपिण्डो में सातवी पीढ़ी तक जायदाद चली जायगी और जब इस प्रकार के सपिण्ड न रहे, तो समानोदक वारिस होगे।

मिताक्षरा की इस व्यवस्था के अनुसार गोत्रज सपिण्ड मृत व्यक्ति से छः पीढी ऊपर तथा छ' पीढी नीचे के सम्बन्धी होते है। इनके वारिस होने के क्रम के सम्बन्ध में पहले काफी विवाद था; किन्तु बुधसिंह बनाम ललतूसिंह के प्रसिद्ध निर्णय (४५ इ० ए०) से सर्वाधिकारी, जाली और मेन द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धान्त सर्वमान्य स्वीकार कर लिया गया है कि उत्तराधिकारियो के क्रम निर्धारण मे प्रत्येक पृथक् शाखा तीन पीढियो मे ठहर जाती है और इसके बाद नई शाखा तीन पीढियो तक चलती है। यह क्रम मृत पुरुष या जायदाद के अन्तिम पूरे स्वामी से शुरू होता है, पहले उसके लडके, पोते तथा परपोते की तीन पीढी तक पहुँचकर समाप्त हो जाता है, फिर विधवा, लड़की और लड़की के लड़के तथा दादी के बाद दादा के पास पहुँचता है, दादा की तथा उसके माता पिता की तीन पीढिया (२१ तक) पूरी करता है, इसके साथ मृत पुरुष के ऊपर की तीन पीढिया समाप्त हो जाती है। इसके बाद नीचे की ओर मृत पुरुष की पहली तथा अन्य तीन उपरली शाखाओ की चौथी, पाचवी, छठी पीढी तक २२ से ३३ तक दायादो का क्रम चलेगा, इन के समाप्त होने पर पुन. पहले ऊपर की ओर चौथी से छठी पीढी के परपोते तक के वशज (४९-५७) दायाद होगे। इस प्रकार मिताक्षरा के अनुसार कुल सत्तावन गोत्रज सपिण्ड दायाद होते है।

इनका क्रम निम्न तालिका से स्पष्ट है। इसमें मृत पुरुष को मध्यस्थ (Propositus) मान कर उस से दायादो की गणना की गयी है, प्रत्येक दायाद की क्रमसख्या उसके साथ दी गयी है। पु०, पि०, मा० क्रमशः पुत्र, पिता, माता के सकेत है। इन गोत्रज सपिण्डो में मृत पुरुष के ऊपर और नीचे की छः पीढ़िया आ जाती है।
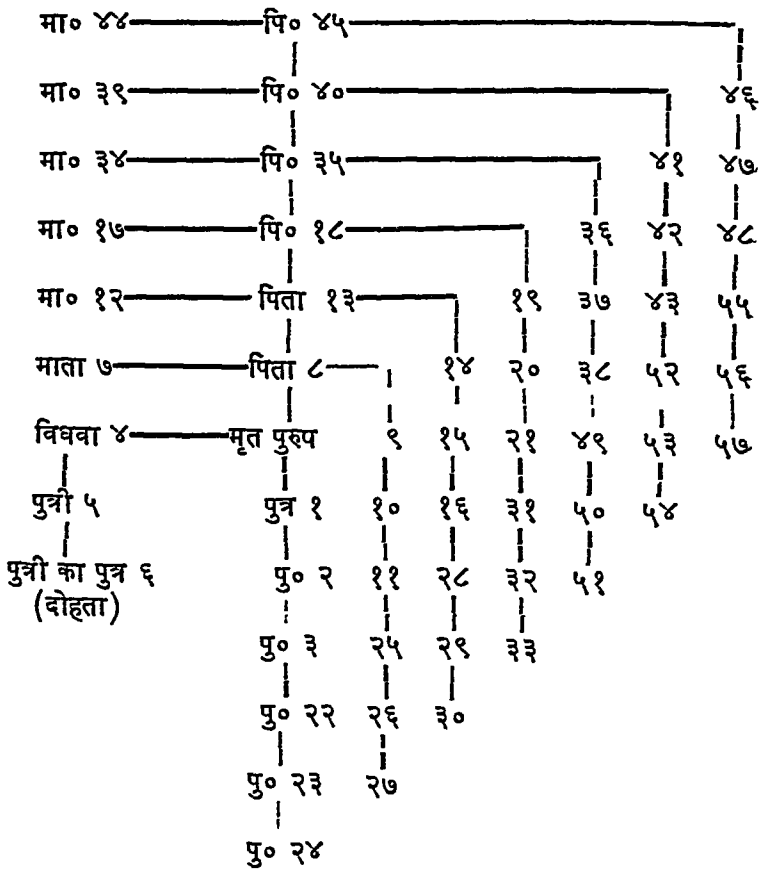
१९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार कानून द्वारा दादा (सं० १३) के वाद मिताक्षरा परिवार में ये चार दायाद इस क्रम से वढाये गये है—लड़के की लडकी (पोती), लडकी की लडकी (दोहती), वहिन, वहिन का लड़का (भाजा)।

समानोदक—गोत्रज सपिण्डो के अभाव में समानोदक दायाद होते है[४७]। ये सातवी से १४वी पीढी तक के सवन्धी होते हैं। इनकी कुल सख्या निम्न प्रकार से १४७ होती है—(१) मृत पुरुष की सातवी से १४वी पीढी तक के सात वशज (२) मृत पुरुष की ७वीं से १४वी पीढी तक के सात पूर्वज (३)

---

४७. याज्ञ० २।१३५-३६ पर मिता० तेषामभावे समानोदकानां धन संवन्धस्ते च सपिण्डानामुपरि सप्त वेदितव्याः।

मृत पुरुष की छ पीढी तक की चचेरे भाइयो की शाखाओ (Collateral lines) में ७ वी से १४ वी पीढी तक के वशज जो कुल मिला कर ४२ होते है। (४) सातवी से १४ वी पीढी तक के पूर्वजो की ७ शाखाओ (Collateral-lines) मे प्रत्येक के १३ वंशज। इनमे पौर्वापर्य का निर्णय प्रत्यासत्ति के आधार पर करते हुए निकटवर्त्ती शाखा को दूरवर्त्ती शाखा पर और एक ही शाखा मे समीपस्थ को दूरवर्त्ती सम्वन्धी पर तरजीह दी जाती है। समानोदकों तक सभी सम्वन्धी एक ही गोत्रोत्पन्न (Agnates) होते है। अपने गोत्र वालो को पहले स्थान देना सर्वथा स्वाभाविक है। गौतम आदि प्राचीन सूत्रकारो ने भिन्न गोत्र वालो को सम्पत्ति मे अधिकारी नही माना था; याज्ञवल्क्य ने सर्व प्रथम समानोदको के अभाव मे इन्हे वन्धु के रूप मे दायाद माना।

वन्धु—(Cognates) वन्धु का वाच्यर्थ है–प्रेम सम्वन्ध से वधा हुआ, किन्तु मिताक्षरा के अनुसार इसका पारिभाषिक अर्थ है—भिन्नगोत्र सपिण्ड जैसे मामा, मौसी या वुआ के लडके। ये सव एक या अधिक स्त्रियो द्वारा सवद्ध होते है। उदाहरणार्थ मामा माता का भाई होने से वन्धु होता है, यह दूसरे अर्थात् नाना के कुल का होने से भिन्नगोत्र है, किन्तु इसके साथ ही सपिण्ड अर्थात् समान देह के अश रखने वाला है, क्योकि माता अपने भाई के साथ नाना नानी के शरीर के अशो को ग्रहण करती है और अपने पुत्र को वे अश प्रदान करती है। पुत्र के शरीर मे माता द्वारा प्राप्त नाना के शरीर के अश है; ये नाना के वेटे मे भी है, अत समान अश होने से भिन्नगोत्र होने पर भी मामा भाजा सपिण्ड होते है। गोत्रज सपिण्ड सात पीढी तक माने जाते है किन्तु भिन्नगोत्रजो की सपिण्डता ५वी पीढी के वाद समाप्त हो जाती है[४८]।

मिताक्षरा मे एक प्राचीन वचन के आधार पर निम्न तीन प्रकार के वन्धु गिनाये गये है—

आत्मवन्धु	पितृवन्धु	मातृवन्धु
(१) वाप की वहन (वुआ) के लडके	(१) पिता के पिता (पितामह) की वहिन के लडके	(१) मा के वाप (नाना) की वहिन के लडके
(२) मां की वहिन (मौसी) के लडके	(२) पिता की मा की वहिन (मौसी) के के लडके	(२) नानी की वहिन के पुत्र

४८. याज्ञ० १।५३ पंचमात्सप्तमदूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा।

(३) मा के भाई (मामा) के लड़के	(३) पिता की मा के भाई के लडके	(३) मा की मां के भाई (मामा) के पुत्र

इनमें अन्तरंग होने से पहले आत्मवन्धु, इनके अभाव मे पितृबन्धु तथा इनके अभाव में मातृवन्धु दायाद होते है। मिताक्षरा की यह गणना वीर मित्रोदय ने उपलक्षण मात्र समझी थी (व्य० प्र० ५३०-३१), क्योकि यदि केवल इन्हे वन्धु माना जाय तो मामा जैसे निकट सम्वन्धी को उपर्युक्त सूची मे न होने के कारण वन्धु नही माना जायगा। प्रिवी कौंसिल ने इनकी कुल सख्या १२३ वताई है[४९]।

प्राचीन धर्मशास्त्रो मे इनका विस्तृत प्रतिपादन न होने के कारण वर्तमान समय में अदालतो में इनका पौर्वापर्य क्रम काफी विवादग्रस्त रहा है[५०], उसका प्रतिपादन अप्रासगिक प्रतीत होता है।

वन्धुओ के अभाव मे क्रमश. आचार्य, सहपाठी और इन सव के अभाव में राजा सम्पत्ति का स्वामी होता है।

दायभाग का क्रम—उपर्युक्त दायादक्रम मिताक्षरा के अनुसार है। अव दायभाग के क्रम पर विचार किया जायगा। पहले सोलह दायादो तक यह लगभग मिताक्षरा के क्रम जैसा है। इसके वाद सपिण्ड शब्द की व्याख्या के कारण दोनो मे अन्तर पड जाता है। मिताक्षरा के अनुसार पिण्ड का अर्थ है—शरीर, निकट सम्वन्ध या प्रत्यासत्ति द्वारा समान शरीरावयव रखने वाला व्यक्ति सपिण्ड होता है, दायभाग पिण्ड का तात्पर्य श्राद्ध में पितरो को दिया जाने वाला चावल का गोला समझता है, उसके मत में इस प्रकार के पिण्ड-दान द्वारा पूर्वजो तथा वशजो से सवद्ध होने वाला व्यक्ति सपिण्ड होता है।

इस प्रकार सपिण्ड शब्द की विभिन्न व्याख्याओ से हिन्दू परिवार के उत्तराधिकारी दायादो की दृष्टि से दो प्रधान सम्प्रदायो में विभक्त है—मिताक्षरा और दायभाग। दोनो ने सपिण्ड शब्द की अपनी व्याख्या को निम्न प्रकार से पुष्ट किया है।

विज्ञानेश्वर की व्याख्या—मिताक्षराकार के मत मे सपिण्ड का अर्थ है—एक ही पिण्ड अर्थात् देह रखने वाला, एक ही शरीर के अवयव रखने के कारण सपिण्डता का सम्वन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्ड है, क्योकि पिता के देह

---

४९. गौड़—हिन्दू कोड पृ० ९७०-९७९

५०. मेन—हिन्दू ला पृ० ६७२-७१

के अवयव पुत्र मे आते है। इसी प्रकार दादा आदि के शरीरावयव पिता द्वारा पोते में आने से वे सपिण्ड है, माता के शरीर का अश आने से पुत्र की माता के साथ सपिण्डता होती है। इस प्रकार जहा जहा सपिण्ड शब्द का प्रयोग हो, वहा एक शरीर के अवयवो का सम्बन्ध समझना चाहिए[५१]। सपिण्ड शब्द की इस व्याख्या के अनुसार मिताक्षराकार प्रत्यासत्ति को ही दायादो का क्रम निर्धारण करने की कसौटी समझता है[५२]। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि मृत व्यक्ति की सम्पत्ति लेने का अधिकार उसी को हो, जो उससे सबसे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखता हो। प्राय सभी जातियो की उत्तराधिकार प्रणालिया इस सिद्धान्त के आधार पर बनी हुई है।

परन्तु इस प्रकार सम्पत्ति प्राप्त करने वाले दायाद के मृत व्यक्ति के प्रति कुछ कर्त्तव्य उत्पन्न हो जाते है, हिन्दू धर्मशास्त्रो के अनुसार उसका सब से पहला और बडा कर्त्तव्य पिण्डदान है, जिससे मृत व्यक्ति को शान्ति मिलती है। दायग्रहण और पिण्डदान मे घनिष्ठ सम्बन्ध है। मनु के मत मे पिण्ड, गोत्र तथा रिक्थ का अनुगामी होता है (गोत्ररिक्थानुग पिण्ड ९।१४३), विष्णु धर्मसूत्र ने स्पष्ट रूप से यह विधान किया है कि जो सम्पत्ति ग्रहण करे, वही पिण्ड दान करे (यश्चार्थहरः स पिण्डदायी स्मृतः)। ब्रह्मपुराण (२२०।७९) मे तो यहां तक कहा गया है कि यदि सम्पत्ति दायादो के अभाव मे राजा को मिलती है, तो वह उसकी दाहादि क्रियाये करवाये। मिताक्षरा द्वारा उद्धृत विष्णुधर्मसूत्र के एक वचन मे पुत्र पौत्र के अभाव मे दोहते को दायाद बताया गया है; क्योंकि पिण्डदान की दृष्टि से दोहते पोतो जैसे समझे जाते है। मनु ने ९।१३६ मे ऐसा भाव प्रकट किया है। यद्यपि प्राचीन धर्मशास्त्रो में पिण्डदाता को स्पष्ट रूप से रिक्थहर नही बताया गया, किन्तु विष्णु तथा मनु के उपर्युक्त वचनो में अस्पष्ट रूप से दायभाग के सिद्धान्त का बीज अवश्य

---

५१. याज्ञ० १।५२ समानः एकः पिण्डो देहो यस्याः सा सपिण्डा....सपिपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरान्वयेन पित्रा सह, एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्।...एवं यत्र यत्र सपिण्डशब्दस्तत्र तत्र साक्षात् परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः।

५२. याज्ञ० २।१३६ न च सपिण्डेष्वेव प्रत्यासत्तिनियामिका अपितु समानोदकादिष्वप्यविशेषेण धनग्रहणे प्राप्ते प्रत्यासत्तिरेव नियामिका।

विद्यमान है। मनु ने पुत्र पौत्रो द्वारा पिण्डदान की महिमा के जो गीत गाये हैं (९।१३७-३९); उनसे भी दायभाग के सिद्धान्त को वल मिलता है।

जीमूतवाहन की व्याख्या—इसके मतानुसार एक पुरुप जीवन काल में अपने तीन पुरुष पूर्वजो (पिता, दादा, परदादा) को पिण्डदान करता है; किन्तु उसकी मृत्यु पर जव उसका पुत्र उसका सपिण्डकरण करता है अर्थात् मृत पिता तथा उसके तीन पूर्वजो के पिण्ड वना कर, उन्हे मिलाकर एक पिण्ड वना कर, (मृत पिता को प्रेत से पितर) वनाता है; तव वह मध्यस्थित मृत पुरुप के पुत्र द्वारा दिये गये तीन पूर्वजो के पिण्डो का अपने पिता और दादा के साथ भोग करता है। इस प्रकार जिन्हे वह पिण्ड देता है और जो उसे पिण्ड देते हैं वे अविभक्त दायाद सपिण्ड कहलाते हैं[५३]। सपिण्ड की यह व्याख्या उसने वौधा० व० सू० (१।५।११३-१५) के वचनो की व्याख्या करते हुए की है, जो सर्वथा उसकी अपनी है। वस्तुत- मूल वचन में दाय को पिण्डवाची मानने का कोई कारण नही, उसे स्वयमेव यह निश्चय नही था कि उसकी यह व्याख्या ठीक है और इससे विद्वानो को सन्तोष होगा। अत उसने पिण्डदान सवन्धी मनु के वचनो (९।१८६-८७) द्वारा अपने अर्थ का समर्थन किया है[५४]।

सपिण्ड शब्द की उपर्युक्त व्याख्या के साथ वह अपने सिद्धान्त की पुप्टि निम्न प्रकार के तर्क से करता है। धनोपार्जन के दो प्रयोजन है—भोग तथा यज्ञ दानादि धर्म कार्यों द्वारा अदृप्ट पुण्यफलो का उपार्जन। किसी पुरुप की मृत्यु हो जाने पर भोग का प्रयोजन तो पूरा नही हो सकता, केवल दूसरा प्रयोजन रह जाता है। अतएव वृहस्पति ने कहा है कि दाय से प्राप्त धन का आधा हिस्सा मृत व्यक्ति के मासिक, पाण्मासिक और वार्पिक श्राद्ध के लिए रखना चाहिए[५५]। मनु ने

५३. जीमूतवाहन का दायभाग ११।१।३८ पित्रादिपिण्डत्रये सपिण्डनेन भोक्तृत्वात् पुत्रादिभिश्च त्रिभिः तत्पिण्डस्यैवदानात् यश्च जीवन् यत्पिण्डदाता स मृतः सन् सपिण्डनात् तत्पिण्डभोक्ता एवं च सति मध्यस्थितः पुरुषः पूर्वेषां जीवन् पिण्डदाता स मृतः तत्पिण्डभोक्ता च परेषां जीवतां पिण्डसम्प्रदानभूत आसीत्, मृतश्च तैः सह दौहित्रादिदेयपिण्डभोक्ता अतो येषामयं पिण्डदाता ये वास्य पिण्डदातारः ते अविभक्तपिण्डरूपं दायमदन्तीत्यविभक्तदायादाः सपिण्डा.।

५४. वहीं—अत्रापरितोषो विदुषां वाचनिक एवायमर्थः तथापि यथोक्त एव वचनयोरर्थो ग्राह्य इत्यस्तु किं विस्तरेण।

५५. दाय भाग ११।६।१३ धनार्जनस्य हि प्रयोजनद्वयं भोगार्हत्वं

पुत्रो तथा रिक्थहरो द्वारा पितरो को पिण्डदान की व्यवस्था करते हुए अंधे बहरे आदि विकलेन्द्रिय पुरुषो को पैतृक धन का अनधिकारी वताया है (९।१२०)। सम्भवतः इसका कारण यह है कि ये विकलाग होने से पिण्डदान द्वारा पितरो को लाभ नही पहुँचा सकते। अत. दायाद होने की सव से वडी कसौटी यह है कि कोई व्यक्ति पिण्डदान से पितरो के लिए कितना उपकारक हो सकता है; जो जितना अधिक उपकारक होगा, वह सम्पत्ति का उतना ही अधिक अधिकारी होगा, क्योंकि उपकारकत्व (Spiritual benefit) ही धनप्राप्ति का निर्णायक है[५६]। दायादो का अधिकार क्रम इसी प्रकार निश्चित करना चाहिए[५७]। यह मत जीमूतवाहन से पहले उद्योत ने स्थपित किया था।

दायभाग के दायाद क्रम को समझने के लिए श्राद्ध का कुछ सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है। उत्तराधिकार के सम्वन्ध मे दो प्रकार के श्राद्ध उल्लेखनीय है— एकोद्दिष्ट तथा पार्वण। जव एक ही मृत पुरुष के लाभ के लिए श्राद्ध किया जाता है तो वह एकोद्दिष्ट होता है। मृत्यु के वाद पहले वर्ष ऐसे ११ श्राद्ध किये जाते हैं और इसके वाद प्रतिवर्ष निधन तिथि पर यह श्राद्ध होता है। कन्या और विधवा एकोद्दिष्ट श्राद्ध ही कर सकती हैं। अमावस्यादि पर्वों पर किये जाने वाले श्राद्ध पार्वण कहलाते हैं। इनमे प्रधान रूप से पितृकुल के तीन तथा गौण रूप से मातृकुल के तीन पूर्वजो को वुलाकर पिण्डदान किया जाता है, अत. इसे त्रैपुरुषिक श्राद्ध भी कहा जाता है[५८]। यह एकोद्दिष्ट से अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसे करने वाले पुत्र, पौत्र पितरो को अधिक लाभ पहुँचाते है।

दायभाग के मतानुसार दायादो के तारतम्य की निर्णायक कसौटी श्राद्ध

दानाद्यदृष्टार्थत्वं च। तत्रार्जकस्य तु मृतत्वाद्ध ने भोग्यत्वाभावेनादृष्टार्थत्वमेवाव शिष्टम्। अत एव वृहस्पति—समुत्पन्नाद् धनादर्धं तदर्थं स्थापयेत् पृथक्। मासे षाण्मासिके श्राद्धे वार्षिके च प्रयत्नतः॥

५६. वहीं ११।६।३१-३२ उपकारकत्वेनैव धनसंबन्धो न्यायप्राप्तो मन्वादीनामाभिमत इति मन्यते इति निरवद्यविद्योद्योतेन द्योतितो ऽयमर्थो विद्वद्भिरादरणीयः।

५७. दायभाग ११।६।२८, तस्माद् यथायथामृतधनस्य तदुपयुक्तत्वं भवति तथा तथाधिकारक्रमोऽनुसरणीयः।

५८. याज्ञ० १।२५१ परमिता०-एकः उद्दिष्टः यस्मिन् श्राद्धे तदेकोद्दिष्टं तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्।

द्वारा पितरो को अधिक लाभ पहुँचाना है। अधिक लाभ पहुँचाने के सम्बन्ध में अनेक जटिल नियम हैं। इनमें से कुछ ये हैं—(१) मृत व्यक्ति के पिण्डदाता को उसके पूर्वजो के पिण्डदाता से तरजीह दी जाती है[५९]। इसके अनुसार निकट सम्बन्धियो का अधिकार पहले समझा जाता है। मृत पुरुष के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र विधवा लडकी और दोहता उसे पिण्ड देते हैं, अत. पिता आदि से उनका अधिकार पहले समझा जाता है, क्योंकि पिता का पिण्ड पुत्र को न पहुँचकर उसके पूर्वजो को मिलता है। (२) मृत व्यक्ति को पिण्ड देने वालो को उससे पिण्ड ग्रहण करने वालो पर तरजीह दी जाती है[६०]। इसी आधार पर दायादो मे पुत्र, पौत्र प्रपौत्र को पिता, दादा, परदादा से पहले स्थान दिया जाता है। (३) पितृ एव मातृ दोनो पक्षो के पूर्वजो को पिण्ड देने वाला केवल पितृ पक्ष के पूर्वजो को पिण्डदान करने वाले से पहले दायाद माना जाता है, अतः सोदर (सगे) को अन्योदर (Half blood) भाई पर तरजीह दी जाती है; क्योंकि सहोदर पिता तथा माता दोनो की तीन पीढियो के पूर्वजो को पिण्डदान करता है, सौतेला केवल पितृपक्ष के पूर्वजो को पिण्डदान करता है। (४) पिण्डदान में जहा स्वकुलीय (Agnate) तथा भिन्न कुलीय (Cognate) सपिण्ड पिण्डदान द्वारा लाभ पहुँचाते हो, वहा स्वकुलीय गोत्रज को तरजीह दी जायगी। उदाहरणार्थ मृत व्यक्ति के पिता के भाई का लडका (भतीजा) तीन पिण्ड देता है—एक अपने पिता को तथा दो मृत व्यक्तियो अर्थात् दादा और परदादा को, इस प्रकार मृत व्यक्ति उसके दो पिण्डो के साथ सपिण्ड होता है। भाजा (पिता की लडकी का लड़का) मृत व्यक्ति के पिता दादा, परदादा को पिण्डदान करता है। भाजे के तीन पिण्ड होने पर भी उसका हक भतीजे के बाद है; क्योंकि भांजे के पिण्ड मातृपक्ष के पूर्वजो के है और भतीजे के पितृपक्ष के पूर्वजो के[६२] (५) उपर्युक्त नियमो का पालन करते हुए जो व्यक्ति पिण्डो की अधिक सख्या देने वाले होते है, उनका हक पिण्डो की कम सख्या देने वालो से पहले होता है। मृत व्यक्ति का भाई उसके समान पिता दादा परदादा को तीन पिण्ड देने वाला होता है, किन्तु उसका चाचा मृत व्यक्ति के दादा परदादा को दो पिण्ड देता है, अतः भाई का हक चाचा से पहले माना जाता है[६२]। यह नियम

५९. गुरु गोविन्द बनाम आनन्दलाल १३ वी० रि० ४९ (५९)

६०. गोविन्द ब० महेश २३ वी० रि० १२७

६१. हरिदास ब० वामाचरण १५ कल० ७८० (७९०)

६२. गुरु गोविन्द बनाम आनन्दलाल १३ वीकली रिपोर्ट–४९ (५९)

प्रत्यासत्ति का पोषक है ।(६)पार्वण और एकोद्दिष्ट श्राद्ध में से पहले को करने वाले को तरजीह दी जाती है, अतः मृत की विधवा या लडकी से पहले पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का हक समझा जाता है (काणे-हि० धा० ३।७४०-४१) ।

दायभाग पिण्डदान के सिद्धान्त को स्वयमेव पूरी तरह लागू नही करता; क्योकि उसके दायादो और श्राद्धाधिकारियो का क्रम एक सा नही है । श्राद्ध की दृष्टि से भाई का स्थान पिता से वहुत पहले माना जाता है, किन्तु दाय भाग के दायादो में उसकी गणना पिता माता के वाद की गई है । वर्तमान न्यायालयो ने भी यह स्वीकार किया है कि जीमूतवाहन का सिद्धान्त सव दशाओ में पूरी तरह से लागू नहीं हो सकता[६३] । सभवत. दायभाग का उद्देश्य नये सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर भाजे मामे आदि कुछ सम्वन्धियो के अधिकार को पुष्ट करना था[६४] ।

मिताक्षरा के दायाद क्रम से अन्तर—दायभाग के उपर्युक्त सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ है कि इसका दायाद क्रम मिताक्षरा के क्रम से कुछ भिन्न हो गया है । मिताक्षराकार सपिण्ड का अर्थ अपने ही गोत्र के ऊपर से नीचे तक की छ. पीढियो के सम्वन्धी समझता है और दायभाग केवल तीन पीढियो तक ही इन्हे सीमित कर, इनमें भिन्नकुल के स्त्री परम्परा द्वारा संवद्ध व्यक्तियो (Cognates) को भी सम्मिलित करता है। भतीजे के लडके के वाद वह पिता के दोहते (या मृत व्यक्ति के भाजे) को भी उत्तराधिकारी मानता है, क्योंकि वहिन का लडका अपने नाना (मृत व्यक्ति के पिता) को पिण्डदान करने से अपने मामा (मृत व्यक्ति) का सपिण्ड है। पिता की वहिन (बुआ) का लडका भी इसी प्रकार परचाचा (मृत व्यक्ति के दादा) को पिण्ड देता है, मामा अपने पिता को (जो मृत व्यक्ति का नाना है) पिण्ड दान करता है, उसका पुत्र और पोता भी मृत व्यक्ति के नाना को पिण्ड देते हैं, इस प्रकार ये सव मृत व्यक्ति के सपिण्ड हो जाते हैं । मौसी का लडका भी अपनी माता के पिता को पिण्ड दान करने से मृत व्यक्ति का सपिण्ड हो जाता है । इस

(५९) फु० वै० । धार्मिक लाभ की कसौटी की विस्तृत व्याख्या के लिए दे० सरकार हिन्दू ला ।

६३. अक्षयचन्द्र वनाम हरिदास ३५ कल० ७२१

६४. इस सिद्धान्त की विस्तृत आलोचना के लिए देखिये सरकार-हिन्दू ला पृ० ४७८–५०१

प्रकार पिता का दोहता (भांजा) दादा का दोहता, नाना, मामा, मामे के लडका, मामे का पोता और मौसी का लडका–भिन्न कुल के ऐसे आठ व्यक्ति ऐसेहै, जो याज्ञ० के शब्दो मे बन्धु (Cognate) हैं, गोत्रजो (Agnates) के बाद दायाद बनते है, किन्तु दायभाग मे इन का स्थान बहुत पहले है।

सकुल्य––*सपिण्डो के अभाव मे दायभाग परिव र की सम्पत्ति सकुल्यो को* मिलती है[६५]। अपने तीन पूर्वजो को पिण्डदान करने के बाद कुशा घास द्वारा हाथ साफ करने से उसका जो अंश या लेप बचता है, वह परदादा से ऊपर की तीन पीढियो के पितरो को दिया जाता है (मनु० ३।२१६)। ऐसे ही परपोते के बाद की तीन पीढिया पिण्डलेप प्रदान करती है। इस प्रकार चौथी से छठी पीढी के पूर्वज और चौथी से छठी पीढी के वंशज सकुल्य कहे जाते है। यह वर्गीकरण दायभाग के मतानुसार है। मिताक्षरा में सकुल्य गोत्रज सपिण्डों में ही आ जाते है, क्योकि इनकी मर्यादा मध्यस्थित पुरुष से ऊपर की तथा नीचे की छ पीढियो तक होती है।

समानोदक––सकुल्यो तथा गोत्रजो के अभाव में समानोदक दायाद होते है। इसका *अर्थ है*–*एक व्यक्ति को जल देने वाले या उससे जल लेने वाले।* यह ऊपर तथा नीचे की ७ वी से १४वी पीढी तक के व्यक्ति है। मनु ने कहा है (५।६०) कि सपिण्डता तो सातवें पुरुष में समाप्त हो जाती है, फिर केवल समानोदक भाव रहता है और जब परिवार में जन्म और नाम का ज्ञान न रहे, तो यह संबन्ध समाप्त हो जाता है। किन्तु उसने इसकी समाप्ति की सीमा नही बताई है। मिताक्षरा में वृहन्मनु के वचन के आधार पर १४वी पीढी तक समानोदक सम्बन्ध माना है। ये कुल १४७ सम्बन्धी होते है, इनके अभाव में दायभाग की व्यवस्था मिताक्षरा जैसी ही है। समानोदको के न होने पर आचार्य, उसके अभाव मे सहपाठी और इनके भी न होने की दशा मे ब्राह्मणो के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियो का धन राजा को मिलता है।

अधिकाश शास्त्रकार (नारद दा० ५१।५२, विष्णु १७।१३-१४ बौधा० धर्म सूत्र १।५।१२०-२२) एक स्वर से यह कहते है कि ब्राह्मण की सम्पत्ति

---

६५. बौधा० धर्म सूत्र १।५।११४-१६ सपिण्डाभावे सकुल्यः दा० भा० ११।१।३८ एतेन वृद्धप्रपितामहप्रभृतयस्त्रयःपूर्वपुरुषाः प्रतिप्रणप्तुश्च प्रभृत्यधस्तनास्त्रयः पुरुषाः एकपिण्डभोक्तृत्वाभावाद् विभक्तदायादाः सकुल्या इत्याचक्षते।

राजा को नही मिलनी चाहिए। किन्तु वर्त्तमान न्यायालयो ने इस व्यवस्था को स्वीकार नही किया। प्रिवी कौन्सिल ने मछलीपट्टम के कलेक्टर बनाम केवली वेंकट (८ म्यू० इ० ए०पृ० ५२६-२७) में इस विषय पर के सब शास्त्रीय वचनो की समीक्षा के बाद यह परिणाम निकाला कि राजा ब्राह्मण की सम्पत्ति ले सकता है। किन्तु इस अवस्था मे राजा के लिये सिद्ध करना आवश्यक है कि मृत व्यक्ति का कोई दायाद नही है।

कात्यायन के अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सम्पत्ति उनके सहपाठी तक दायाद के अभाव मे राजगामी होती थी; किन्तु इसे लेने पर राजा का यह कर्त्तव्य होता था कि वह उस सम्पत्ति से मृत व्यक्ति की और्ध्वदेहिक क्रियाये तथा श्राद्ध करे, उसकी रखैल स्त्रियो तथा सेवको का पालन पोषण करे[६६]। कौटिल्य (३।५) तथा नारद (दायभाग ५२) ने भी इसका अनुमोदन किया है। आधुनिक युग मे रखैलो को पति की सम्पत्ति से भरण पोषण पाने के अधिकार का आधार कात्यायन के यही वचन है (१२ व० २६, २ व० ५७३)।

दाय के अनधिकारी—पारिवारिक सम्पत्ति मे स्वत्व रखने पर भी कुछ दायाद शारीरिक और मानसिक अयोग्यताओ के कारण, आचरण दूषित होने से तथा अन्य हेतुओं से दाय मे अपना अश ग्रहण करने से वचित कर दिये जाते थे[६६क]। ये अनश (वसिष्ठ १७।४६, ४८) या दायानर्ह कहलाते थे। अधापन-बहिरापन, गूगापन, कोढ आदि बीमारिया, मूर्ख, पागल, पतित एव जाति बहिष्कृत होना, सन्यासाश्रम में प्रवेश दायानर्हता के प्रधान कारण थे। कुछ शास्त्रकारो ने स्त्रियो को भी दायानर्ह बताया था; किन्तु दायाधिकार न होने पर भी इन सब को परिवार की सम्पत्ति से पालन पोषण पाने का पूरा अधिकार है[६७]। यहा पहले विविध प्रकार के दायानर्हों का वर्णन कर बाद में उन्हे दाय से

---

६६. याज्ञ० २।१३५ पर मिता० में उ०—अदायिकं राजगामि योषिद्भृत्यौर्ध्वदेहिकम्। अपास्य श्रोत्रियद्रव्यं श्रोत्रियेभ्यस्तदर्पयेत् ॥ मिताक्षरा ने यह कहा है कि यहा योषिद् का अर्थ अवरुद्ध स्त्री (रखैल) लेना चाहिये—तदप्यवरुद्ध स्त्रीविषयं योषिद्ग्रहणात्।

६६क. गौ० ध० २८।४१, आप० ध० सू० २।१४।१, बौधा० ध० २।२।४३-४६, वसिष्ठ ध० १७।४६-४८, विष्णु० १५।३२-३४ कौटिल्य ३।५।

६७. गौ० ध० २८।४१ जडक्लीबौ भर्त्तव्यौ। वि० स्मृ० १५।३२-३४ पतितक्लीबाचिकित्स्यरोगविकलास्त्वभागहारिणः, ऋक्थग्राहिभिस्ते भर्त्तव्याः।

वंचित करने के कारणो पर प्रकाश डाला जायेगा और अन्त में स्त्रियो के अदायाद होने पर विचार किया जायगा ।

शारीरिक अयोग्यतायें—शारीरिक दोषो के कारण दाय से वचित करने की परिपाटी भारत में वहुत प्राचीन काल से चली आ रही है। वृहद्देवता (८।१५६) के अनुसार वडा भाई देवापि कोढी होने से राज्य का अधिकारी नहीं रहा[६८]; गद्दी उसके भाई शन्तनु को मिली। धृतराष्ट्र अन्धे होने के कारण सिंहासन पर नही बैठे थे (म० भा० १।१०६।१०-११)[६९]। शारीरिक अयोग्यताओ के कारण प्राय निम्न व्यक्ति दायानर्ह समझे जाते थे[७०]-जन्माध, वधिर, गूगे, पगु आदि विकलाग, नपुसक और कोढी। १९२८ ई० के हिन्दू उत्तराधिकार (अयोग्यता निवारक) कानून द्वारा इसमें मौलिक परिवर्तन हो गया है। यह दायभाग द्वारा शासित प्रदेश के अतिरिक्त समूचे भारत में लागू है। इसके अनुसार शासित प्रदेश में किसी प्रकार की शारीरिक अयोग्यता, कद्रूपता या बीमारी के कारण कोई व्यक्ति दाय से वचित नही किया जा सकता, केवल पागलपन व जड़ता ही के कारण वह दायानर्ह होगा, किन्तु बंगाल में अभी तक पुरानी व्यवस्था प्रचलित है। वर्तमान न्यायालयो के निर्णयो के अनुसार यदि कोई व्यक्ति जन्म से ही अन्धा गूगा या वहरा हो तथा विकलाग हो[७१] तो वह सम्पत्ति में हिस्सा नही पा सकेगा। अन्धापन मामूली नही, किन्तु दृष्टि-

---

६८. ८।१५६ न राज्यमर्हामि त्वग्दोषोपहतेन्द्रियः।

६९. मि० उद्योग पर्व १४७।३९ अन्धः करणहीनत्वान्न वै राजा पिता तव।

७०. मनु० ९।२०१ अनंशौ पतितौ क्लीवौ जात्यन्धबधिरौ तथा। उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः। याज्ञ० २।१४० क्लीवोऽथ पतितस्तज्जः पंगुरुन्मत्तको जडः। अन्धोऽचिकित्स्य रोगाद्याः भर्त्तव्याः स्युः निरंशकाः। नारद १४।२०-२१ पितृद्विट् पतितः षण्ढो यश्च स्यादौपपातिकः। औरसाऽपि नैतेंशं लभेरन् क्षेत्रजाः कुतः। दीर्घतीव्रामयग्रस्ता जडोन्मत्ताश्च पंगवः। भर्त्तव्याः स्युः कुलस्यैते तत्पुत्रास्त्वंशभाजिनः॥ देवल (स्मृच २७०) मृते पितरि न क्लीबकुष्ठ्युन्मत्त जडान्धकाः। पतितः पतितापत्यं लिंगी दायाश भागिनः॥

७१. गंगेश्वर व० दुर्गा ३।१५ कल० १७ प्रि० कौ०; वाकुवाई व० मंछावाई २ वं० हा० रि० ५

शक्ति का सर्वथा अभाव होना चाहिए। लगडापन आदि विकलागता ऐसी होनी चाहिए जो उसे शारीरिक दृष्टि से असमर्थ बना दे और यह भी पैदायशी होनी चाहिए[७२]। यह अनर्हता स्त्री पुरुष दोनो पर समान रूप से लागू होती [७३]।

प्राचीन शास्त्रकारो ने अचिकित्स्य (लाइलाज) रोगियो (विष्णु० १५।३२) तथा कोढियो को भी दायानर्ह माना था। मिताक्षरा के कथनानुसार क्षय का रोगी सम्पत्ति का हक़दार नही रहता था[७४]। किन्तु वर्तमान न्यायालय केवल उसी दशा में कोढ या बीमारियो को दायानर्हता का कारण समझते है, जब कि वे इतनी उग्र, भयकर या घिनौनी हो कि व्यक्ति सामाजिक संपर्क तथा सम्बन्ध मे बिल्कुल असमर्थ हो जाय[७५]। पिण्डदाता होने तथा अनेक धार्मिक कार्य करने के कारण हिन्दू समाज मे पुत्र की असाधारण महत्ता है; अतः नपुसक भी अनंश माना गया था। वर्तमान अदालतें भी इसे स्वीकार करती थी[७६]।

मानसिक अयोग्यतायें—पागल, उन्मत्त और जन्मजात जड़ (Idiot) को प्राय सभी शास्त्रकारों ने दायानर्ह बतलाया है। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि १९२८ के हिन्दू उत्तराधिकार (अयोग्यता निवारक) कानून मे जन्म से ही इन दोषो वाले व्यक्ति दाय से वञ्चित किये गये है। पागलपन और मूर्खता के अनेक प्रकार हो सकते है; किन्तु न्यायालय केवल उन्ही व्यक्तियो को दाय से वचित करने योग्य समझेंगे, जिनकी जडता और पागलपन इस हद तक बढा हुआ हो कि वे दायाद के रूप में अपने कर्त्तव्यो को समझ न सकें और उनका पालन न कर सके। यह स्मरण रखना चाहिए कि उन्मत्त और जड़ के पुत्र यदि इन दोषो से दूषित नही होगे, तो वे सम्पत्ति में अपना स्वत्व रखेंगे[७७]।

७२. वेंकट ब० पुरुषोत्तम २६ म० १३३ मि० फटिक ब० जगत २२ बी० रि० ३४८।

७३. मिता० २।१४० पतितादिषु पुंल्लिगत्वमविवक्षितम्। अतश्च पत्नी दुहितृमात्रादीनामप्युक्तदोषदुष्टानामनंशित्वं वेदितव्यम्।

७४. मिता० २।१४० अचिकित्स्यरोगोऽप्रतिसमाधयक्ष्मादिरोगग्रस्तः।

७५. कयारोहन ब० सुमरया ३८ म० २५० (२५५) जनार्दन ब० गोपाल ५ बं० हा० रि० (१४५)

७६. ईश्वरचन्द्र बनाम रानी २ बी० रि० १२५ (१२६)

७७. उन्मत्त के लिए दे० आप० ध० सू० २।६।१४।१, वसि० १५।५२-५३, अर्थशास्त्र ३।५; जड़ के लिए दे० गौ० २८।४१, अर्थशा० ३।५

दूषित आचरण और पतित होना--पिता से द्वेष[७८], समुद्रयात्रा[७९] आदि दूषित आचरण और पातको से पतित होने के कारण भी व्यक्ति दाय से वचित हो जाता था। विवाद रत्नाकर (पृ० ४८९) के अनुसार जीवित पिता को मारने वाला तथा मृत पिता को पिण्ड न देने वाला पितृद्वेपी होता है। वर्तमान कानून न केवल हत्यारे को दाय से वचित करता है, किन्तु उस द्वारा उत्तराधिकार पाने वाले व्यक्तियो का हक भी समाप्त कर देता है[८०]। दायभाग (५।३।१००) मे उद्धृत शख लिखित सूत्र मे अपपात्रित और अपयात्रित को भी अनश वताया गया है। व्यवहार मयूख के अनुसार इसका अर्थ व्यवसाय के लिए समुद्र द्वारा दूसरे देश को जाने वाला है[८१]। समुद्र यात्रा कलिकाल में वर्जित होने से ही ऐसी व्यवस्था की गई है, परन्तु वर्तमान न्यायालय इस कारण को स्वीकार नही करते।

असतीत्व मिताक्षरा के अनुसार विधवा को तथा दायभाग के अनुसार सभी स्त्री रिक्थहरों को उत्तराधिकार से वचित कर देता है। असतीत्व के प्रति मनु की दृष्टि कुछ उदार है (९।२९-३०), किन्तु याज्ञ० (१।७०-७२) उसके लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है। कात्यायन (दा० पृ० १७१) ने भी स्त्री के साध्वी होने पर वहुत वल दिया है। वगाल में रघुनन्दन के आधार पर विधवा कन्या आदि सभी स्त्री दायादो के लिए साध्वी होना आवश्यक समझा जाता है[८२], किन्तु अन्यत्र यह विधवा के लिए ही आवश्यक है। १९३७ के हिन्दू नारियो के साम्पत्तिक अधिकार कानून से स्त्रियो के दायाद होने के लिए सतीत्व का वन्धन आवश्यक नही रहा।

---

७८. नारद १४।२० पितृद्विट् पतितो षण्ढः

७९. व्यवहारमयूख पृ० १६३ (अपयात्रित)

८०. कॅचव व० गिरिमलप्पा (१९२४) ५१ इं० ए० ३६८, ३७४; गंगू व० चन्द्रभामा वाई (१९०७) ३२ वं० २७५

८१. व्य० म० १६३ व्यवसायार्थं नावादिना समुद्रमध्ये द्वीपान्तरं गत इति तु युक्तम्, दे० काणे–हिध० ३।६१०

८२. दा० ११।२।३१ पर रघुनन्दन की टीका—पत्नीत्युपलक्षणमिति। अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती–दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः–इत्यादिकात्यायनवचनपर-वचन पूर्वार्धं भर्तुर्धनहरी पत्नी या स्यादव्यभिचारिणी—इति पत्नीपदमुपलक्षणं पूर्वत्र पक्षे तु एकत्र दृष्टः शास्त्रार्थ इति न्यायेन पत्न्यधिकारः, इह तु पत्नीपदेन लक्षणया दुहितृपत्न्योरपि ग्रहणमिति भेदः। सि० त्रैलोकनाथ व० राधा (३० कल० ला० ज० २३५)।

अनेक प्रकार के उपपातकों तथा महापातको द्वारा व्यक्ति वर्ण से पतित समझा जाता था। मनु ११।५९-६६ मे गोहत्या, माता पिता गुरु की सेवा न करना, परस्त्रीगमन, स्वाध्याय तथा अग्निहोत्र का त्याग, ठीक समय पर उपनयन न करना, तालाव, वगीचे, अपना और पुत्र का वेचना, गीले पेड़ काटना, लहसुन आदि निन्दित अन्न खाना उपपातक गिनाये गये है। ब्रह्महत्या, मद्यपान, चोरी, गुरुभार्या गमन और ऐसे पापियों के साथ सहवास महापातक है, इन्हे करने वाला पतित होता है और यदि वह प्रायश्चित्त नही करता तो घटस्फोट द्वारा जाति वहिष्कृत कर दिया जाता है[८४]। सभी शास्त्रकार ऐसे पतित पुरुष को दाय से वचित करते है, उसके पुत्र को भी ऐसा ही समझते हैं[८५], किन्तु उसकी पुत्री के साथ वडी मृदुता का व्यवहार करते हैं, प्रायश्चित द्वारा शुद्धि के वाद उसके विवाह की व्यवस्था करते है[८६]।

हिन्दू धर्म छोडकर इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य मत ग्रहण करने वाला व्यक्ति भी पतित समझा जाता है। जाति वहिष्कृत तथा धर्मान्तर स्वीकार करने वाले १८५० से पहले हिन्दू परिवार की सम्पत्ति में अपना स्वत्व खो वैठते थे; किन्तु १८५० ई० के जाति अयोग्यता निवारक कानून से यह प्राचीन व्यवस्था रद्द कर दी गयी है[८७]। इस कानून के अनुसार अपनी जात विरादरी से वाहर

---

८३. वेदम्मल व० वेदनभग ३१ म० १०० (११०)

८४. हि० ध० २।३८८ मि० गौ० २०१२-७, मनु० ९।१८२-८४, याज्ञ० ३।२९४।

८५. वौधा० २।२।४६ पतिततज्जातवर्जम्; याज्ञ० २।१४० विष्णु० ३।५

८६. वसि० १३।५१-५३ पतितेनोत्पन्नः पतितोभवतीत्याहुरन्यत्र स्त्रियाः। सा हि परगामिनी। तां रिक्थामुपेयात्। मि० या० ३।२६१

८७. सर्व प्रथम १८३२ ई० में वंगाल में यह कानून वनाया गया था। यद्यपि धर्मनिरपेक्ष राज्य की तथा धार्मिक स्वतंत्रता की दृष्टि से यह कानून वाञ्छनीय है, किन्तु इसे वनाने का उद्देश्य कुछ लोगों की दृष्टि में भारत में ईसाइयत के प्रसार को सुविधाजनक वनाना था, क्योंकि इससे पहले ईसाई होने वाले हिन्दू या मुसलमान विधर्मी और पतित होने के कारण संयुक्त सम्पत्ति में अपना अंश खो वैठते थे। सर सय्यद अहमद ने १८५७ के भारतीय विद्रोह का एक कारण इस कानून का पास होना वताया था। आज से १०० वर्ष पूर्व के समाज में हिन्दुओं और मुसलमानों को किसी व्यक्ति के ईसाई हो जाने पर

निकाला हुआ अथवा धर्म त्याग द्वारा मुसलमान या ईसाई बनने पर भी हिन्दू सयुक्त परिवार की सम्पत्ति पर अपने अंश का अधिकार नही खोता । सन्यास ग्रहण करने से भी व्यक्ति दायाधिकारी नही रहता । (वसिष्ठ १७।४६) ।

दायानर्हता के कारण—उपर्युक्त व्यक्तियो को साम्पत्तिक अधिकार से वंचित करने के दो कारण थे (१) इन द्वारा दायादो के कार्यो तथा कर्त्तव्यो को पूरा करने की असमर्थता (२) इनकी धार्मिक कार्य करने की अयोग्यता । जन्म से अन्धे अपनी शारीरिक असमर्थता के कारण व्यापार या कोई अन्य कार्य करने में असमर्थ थे । उनसे सम्पत्ति की ठीक देखभाल और तत्सम्बन्धी कानूनी कार्यवाही करना सभव न था । इसलिए बौधायन (२।२।४३-४६) ने अतीत-व्यवहार अर्थात् कानूनी कार्य करने में असमर्थ नाबालिगो के साथ अन्धे, जड़ आदि व्यक्तियो की गणना की है । बाद में सामाजिक हित की दृष्टि से भयकर व्यक्तियो, परस्त्रीगमन आदि उपपातक और हत्या आदि महापातक करने वालों को पतित ठहराकर उन्हे साम्पत्तिक स्वत्व से वंचित किया गया । (२) धार्मिक कार्य करने की असमर्थता—दाय से वंचित करने का मूल कारण तो लौकिक था; परन्तु बाद में इसमें कुछ धार्मिक कारण भी जुड गये । मीमासको तथा अनेक शास्त्रकारो का यह मत था कि सम्पत्ति का मुख्य उद्देश्य यज्ञादि कर्म सपन्न करना है, जो व्यक्ति यज्ञादि का अधिकार नही रखते, उन्हें सम्पत्ति में भी अधिकार नही मिलना चाहिए । मिताक्षरा (२।१३५) में उद्धृत एक प्राचीन वचन में कहा गया है—सब प्रकार की सम्पत्ति यज्ञार्थ उत्पन्न की गई है, अतः जो व्यक्ति यज्ञ के अधिकारी नही, वे पैतृक सम्पत्ति पर भी अधिकार नही रखते, उन्हे केवल भोजन वस्त्र लेने का अधिकार है[८९] । जैमिनि ने ६।१।४१-४२ में असाध्य शारीरिक विकलता वाले व्यक्ति को वैदिक यज्ञों का अनधिकारी बताया है, शबर इनमें अंधे, बहरे और लगडे की गणना करता है । इन्हे यज्ञ का अधिकार न होने से सम्पत्ति का अधिकारी भी नही समझा गया ।

भी संयुक्त सम्पत्ति में उसके अंशहर होने से स्वभावतः रोष होता था । इंगलैण्ड में १६९८ का ब्लैसफेमी कानून अब तक प्रचलित है ।

८९. याज्ञ० २।१३५पर मिता०–यज्ञार्थद्रव्यमुत्पन्नं तत्रानधिकृतास्तु ये । अरिक्थभाजस्ते सर्वे ग्रासाच्छादनभाजनाः ।। मि० शान्तिपर्व २६।२५; कात्यायन स्मृच० द्वारा उद्धृत (२।२६५) यथा यथा विभागाप्तं धनं यागार्थतामियात् । तथा तथा विधातव्यम् विद्वद्भिर्भागगौरवम् ।।

किन्तु प्राचीन काल मे मीमासको का मत सर्वमान्य नही था। विज्ञानेश्वर (२।१३५) तथा अपरार्क (पृ०७४३) ने इसका विरोध किया। पहले के मत में यदि यह पक्ष मान लिया जाय तो मनुष्य अर्थ और काम के पुरुषार्थ पूरा नहीं कर सकेगा, यज्ञ की दक्षिणा के अतिरिक्त दान नही दिया जा सकेगा। अतः उपर्युक्त वचन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि यज्ञ के उद्देश्य से एकत्र सम्पत्ति इसी कार्य मे व्यय करनी चाहिए। वर्त्तमान न्यायालयो ने भी विज्ञानेश्वर का समर्थन करते हुए कहा है कि श्रौत यज्ञ करने की असमर्थता दायानर्हता का गौण कारण है[९०]; प्रधान कारण शारीरिक और मानसिक अयोग्यतायें है।

स्त्रियां—तै० स० मे कहा गया है कि स्त्रिया शक्ति (इन्द्रिय) रहित होने के कारण (सोमपान) मे कोई भाग (दाय) नही लेती। इस वचन के आधार पर वौधायन धर्मसूत्र (२।२।५३) तथा मनु ने स्त्रियो को दाय का अनधिकारी ठहराया है[९१]। मध्ययुग के स्मृतिकारो में इस वचन की व्याख्या के सम्वन्ध मे वहुत मतभेद है। पराशर माधवीय (ख० ३ पृ० ५३६) के अनुसार इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यज्ञकर्त्ता की पत्नी को पात्नीवत नामक पात्र मे डाले गये सोम रस का अश लेने का अधिकार नही है; इन्द्रिय का अर्थ यहां सोमरस है[९२]। वस्तुतः इसका यही अर्थ ठीक प्रतीत होता है। इस वचन का दाय के साथ कोई सम्वन्ध नही। विज्ञानेश्वर और नीलकठ ने सभवत. ऐसा ही समझते हुए स्त्रियो के रिक्थहरण के सम्वन्ध में इसका कोई उल्लेख नही किया[९३]। परन्तु हरदत्त (गौतम धर्म सूत्र २८।१९, आप० ध० सू० २।६।

---

९०. सुरय्या व० सुब्बम्मा (१९२०) ४३ म० ४१४

९१. तै० सं० ६।५।८।२, तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रियाः अदायादीः वौधा० २।२।५३ न दायं, निरिन्द्रियाः ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः, मनु० ९।१८ निरिन्द्रिया ह्यमंत्राश्च स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः।

९२. परा० मा खं० ३ पृ० ५३६ या च श्रुतिः—तस्मात्स्त्रियो.... अदायादाः इति सा पात्नीवत ग्रहे तत्पत्न्या अंशोनास्तीत्येवं परा। इन्द्रियशब्दस्य 'इन्द्रियं वै सोमपीथः इति सोमे प्रयोग दर्शनात्। किन्तु अन्यत्र सायण ने तैत्ति० सं० (१।४।२७।१) के भाष्य में इस वचन की व्याख्या यह की है कि पुत्रों के रहते हुए स्त्रियों का दाय में हिस्सा नहीं होता (तस्माल्लोके स्त्रियः सामर्थ्य रहिता अपत्येषु दायभाजो न भवन्ति)

९३. लल्लूवाई व० मन कुंवा वाई २ वं० ३८४-४२८; जाली (हिन्दू ला

१४।१) *तथा अन्य मध्यकालीन टीकाकार* उपर्युक्त श्रुति वचन के कारण, स्त्रियों को सामान्य रूप से दाय का अनधिकारी समझते थे। किन्तु पत्नी आदि जिन स्त्रियो के दायाद होने की शास्त्रकारों ने स्पष्ट रूप से व्यवस्था की थी; उन पर यह श्रुति वचन लागू नही समझा जाता था। दायभाग (११।६।११) ने वौधायन के उपर्युक्त वचन को पत्नी के लिए प्रामाणिक नही माना; क्योकि याज्ञ-वल्क्य आदि स्मृतिकारो के विशेष वचनो से उसके दायाद होने का विधान किया गया है[९४]। देवण्ण भट्ट (स्मृच० ख० २ पृ० २९४) तथा मित्रमिश्र (व्यप्र० ५१७) भी इस वचन को अर्थवाद मात्र समझते हुए इसे उन स्त्रियो पर लागू नही करते, जिन्हे धर्मसूत्रो और स्मृतियो में स्पष्ट रूप से दायाद माना गया है। इस सिद्धान्त को मानने का यह परिणाम हुआ है कि मद्रास और वम्वई के अतिरिक्त अन्य प्रान्तो में केवल पाच स्त्रिया—विधवा, पुत्री, माता, दादी, पर-दादी ही शास्त्रो के विशेष वचनो के आधार पर दायाद मानी जाती थी[९५]। १९२९ के रिक्थहरण के हिन्दू कानून के अनुसार तीन और स्त्रियो—पोती, (लडके की लडकी), दोहती (लडकी की लडकी) तथा वहिन को १९३७ के हिन्दू स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकार कानून द्वारा दो अन्य स्त्रियो, मृत व्यक्ति से पहले मरे पुत्र की वधू तथा मृत व्यक्ति से पूर्व मृत पुत्र के पूर्वमृत पुत्र की वधू को भी दायाद वना दिया गया है। इस प्रकार इस समय १० स्त्रिया दायाद हो सकती हैं।

स्त्रियो के दायानर्ह होने के कारण—प्राचीन सूत्रकारो तथा स्मृतिकारो ने स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकारो की जानवूझ कर उपेक्षा की हो, ऐसी वात नही है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं—(१) तत्कालीन परिस्थिति (२) स्त्रीधन

पृ० २१९) और काणे; (हि० ध० ३।७१२) ने इसी अर्थ का समर्थन किया हैं।

९४. पत्न्यादीनां त्वधिकारो विशेषवचनादविरुद्धः।

९५. इन पांचों के अधिकार का विकास शनैः २ हुआ। लड़की (मनु० ९।१३०) कौटिल्य (३।५), माता (मनु० २।१३५, याज्ञ० २।१३५) और दादी (मनु० ९।२।७) के अधिकार पहले माने गये। जब तक पत्नी को पुन-र्विवाह का अधिकार था; तव तक उसे दायाद वनाने की आवश्यकता नहीं थी; किन्तु जव उसे यह अधिकार न रहा तो स्वाभाविक रूप से उसे दायाद मान लिया गया।

की व्यवस्था। सयुक्त कुटुम्ब प्रणाली का प्रचलन होने से स्त्रियो के अधिकारों का प्रश्न वहुत कम उठता था। अत. शास्त्रकारो को दायादो मे इनका उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई। दूसरा कारण स्त्रीघन की व्यवस्था थी। सोलहवें अध्याय में इसका विस्तार से प्रतिपादन होगा। यहा इतना ही कहना पर्याप्त है कि स्त्री को विवाह के समय तथा उसके वाद माता, पिता, भाई, पति आदि सवन्धियो से मिले उपहार और आभूपण उसका स्त्रीघन समझे जाते हैं। इस पर उसका पूर्ण स्वत्व माना जाता है। वह इसका यथेच्छ विनियोग कर सकती है। स्त्रीधन के उत्तराधिकारी पुरुषो की वजाय स्त्रिया होती हैं। सभवतः रिक्थहरण के नियम दो प्रकार के थे—(१) पुरुपो की सम्पत्ति का—इसमें स्त्रियों की अपेक्षा पुरुपो को तरजीह दी जाती थी (२) स्त्रियों की सम्पत्ति का—इसमें स्त्रियो को पुरुपो की अपेक्षा प्रधानता थी। इस प्रकार की व्यवस्था होने पर स्त्रियो को पुरुपो की सम्पत्ति में दायाद बनाने की विशेष आवश्यकता न थी।

यद्यपि मनु (८।४१६) और नारद (६।३९) ने यह कहा है कि पत्नी का सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही होता, किन्तु ये इसी श्लोक मे पत्नी के साथ पुत्र का भी साम्पत्तिक स्वत्व स्वीकार नही करते। कुल्लूक तथा मेधातिथि के मतानुसार इन वचनो का केवल इतना ही अभिप्राय है कि वे इसके विनि-योग में स्वतन्त्र नही[९६]। यदि मनु को स्त्रियो का साम्पत्तिक स्वत्व अभीष्ट न होता तो वह ९।१९४ मे छः प्रकार के स्त्रीधन की क्यो व्यवस्था करता? विज्ञानेश्वर स्त्रियों के दायाधिकार का प्रवल समर्थक था। वह केवल उन्ही स्त्रियो को दायाद नही मानता, जिनका शास्त्रो में विशेष वचनो द्वारा उल्लेख हुआ है। परदादी का कही विधान न होने पर भी वह उसे दायाद वनाता है और परदादा से पहले स्थान देता है[९७]। गोत्रज सपिण्डो मे आनुवशिक पूर्वजो की पत्निया भी सम्मिलित करता है, माता को पिता और दादी से पहले स्थान देता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दू परिवार में विज्ञानेश्वर की व्यवस्था के कारण स्त्रियो को साम्पत्तिक अधिकार आज से हजार वर्ष पहले प्राप्त हो गये थे, किन्तु इगलैण्ड मे स्त्रियो को साम्पात्तिक अधिकार पहली वार १८७० ई० में मिले।

---

९६. मनु० ८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः। कुल्लूक एतच्च भार्यादीनां पारतन्त्र्यप्रदर्शनार्थम्।

९७. याज्ञ० २।१३६ परमिता० पितामहसन्तानाभावे प्रपितामही प्रपितामहः।

यद्यपि अधिकांश हिन्दू समाज में प्राचीन तथा मध्य काल में स्त्रियां दायाधिकार से वञ्चित थी, किन्तु मलावार का हिन्दू समाज इस दृष्टि से निराला था कि वहा के सयुक्त परिवार (मरुमक्कत्तायम तरवाड) में उत्तराधिकार तथा रिक्थहरण के लिये दायादो का क्रम स्त्रियो के सम्वन्ध से निश्चित होता था। इस विशिष्ट प्रथा को समझने के लिये मातृक परिवारो का कुछ परिचय आवश्यक प्रतीत होता है, अतः पहले इनका प्रतिपादन करने के वाद, मलावार के तरवाड़ की विवेचना की जायगी।

मातृक परिवार

हिन्दू परिवार प्रधान रूप से पितृक (Paternal) अथवा पितृ मूलक है, अर्थात् उसका केन्द्र पिता है, उसकी वंश परम्परा पुरुष सन्तान द्वारा चलती है, पुत्र पौत्र उसके वंशज, कुल का अंग तथा पैतृक सम्पत्ति के उत्तराधिकारी होते हैं। किन्तु यह व्यवस्था सार्वभौम नही है, मद्रास के पूर्वी तट पर जन्म लेने वाला पुत्र तो पिता की सम्पत्ति प्राप्त करता है, पर पश्चिमी तट पर उसे इस प्रकार का कोई अधिकार नही; क्योकि वहां मातृक[९८] परिवार (Maternal family) की व्यवस्था प्रचलित है। यहां पहले इन के सामान्य स्वरूप का उल्लेख होगा और वाद में हिन्दूसमाज में पाये जाने वाले रूपो का।

मातृक समाजों में माता कुटुम्व का केन्द्र होती है, परिवार का मूल पूर्वज एक पुरुष नही, किन्तु स्त्री होती है, वंश परम्परा और उत्तराधिकार का आधार नारी मानी जाती है, परिवार का निर्माण एक सामान्य पूर्वज की पुत्र, पौत्रादि पुरुष सन्तान द्वारा नही, पर एक नारी की पुत्री आदि स्त्री सन्तति द्वारा होता है। इस प्रकार के समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार, माता के साथ उसके सम्वन्ध पर निर्भर होते है, अतः इसे मातृकाधिकार (Mother right) भी कहा जाता है। यह एक वडी जटिल रचना है, किन्तु इसके निम्न प्रधान तत्व उल्लेखनीय हैं—

(१) वश परम्परा (Descent)—इसका निर्धारण माता द्वारा

---

९८. पहले इसके लिये मातृ सत्ता अथवा मातृतन्त्र (Matriarchy) शब्द का प्रयोग होता था; अव इसके स्थान पर मातृक के प्रयोग के लिये दे० अगली टिप्पणी।

होता है अर्थात् सन्तान पिता के कुल की नही, किन्तु माता के गोत्र की समझी जाती है। माता के वश का होने से, इसे मातृवशी (Matrilineal) तथा मातृकुल का नाम ग्रहण करने से इसे मातृनामी (Metronymic) समाज कहा जाता है।

(२) विवाह—ऐसे समाजो में शादी के वाद, पत्नी सुसराल न जाकर अपने पितृगृह में रहती है, पति उसे अपने घर न लाकर, स्वय उसके घर पर जाकर निवास करता है। इस प्रकार की व्यवस्था मातृस्थानीय विवाह (Matrilocal marriage) कहलाती है।

(३) रिक्थहरण (Inheritance)—मातृक परिवार में पुत्र को पिता से कोई सम्पत्ति नही मिलती, उसके सभी साम्पत्तिक अधिकार माता के सम्बन्ध से ही निश्चित होते है। इस से यह नही समझना चाहिये कि ये अधिकार, प्रधान अथवा पूर्णरूप से स्त्रियो को प्राप्त है; क्योकि नारियां अधिकाश मातृक समाजो मे साम्पत्तिक अधिकारो से वचित है (इसा० रि० ई० १२।८५१) प्राय. ऐसे परिवारो मे भाई अथवा इनके अभाव मे भाजा रिक्थहर होता है। यह सर्वथा स्वाभाविक है, क्योकि इसमे पिता की सन्तान अपनी माता के साथ ननिहाल मे रहती है, वहा नाना के वाद माता के भाई और भाजे ही दायाद हो सकते है। मामा की अपनी औरस सन्तान तो अपनी माता के साथ दूसरे कुटुंब में रहती है, उसके अपने परिवार मे उसकी सम्पत्ति ग्रहण करने वाला उसकी वहिन का लड़का ही है। उत्तर भारत मे जो सम्वन्ध पिता पुत्र मे है, मलावार मे वह मामा और भाजे में है।

(४) उत्तराधिकार (Succession)—राज्य और पौरोहित्य आदि पद, सामाजिक सम्मान की विभिन्न उपाधिया, एक व्यक्ति के मृत होने पर दूसरे को प्राप्त होना उत्तराधिकार है। मातृक समाजों मे रिक्थहरण के समान युवराज आदि पद पुत्र के स्थान पर भाई और भाजेको मिलते है। ट्रावन्कोर, कोचीन राज्यो में उत्तराधिकारी राजा का लड़का नही, किन्तु उसका भागिनेय (वहिन का लड़का) होता है।

(५) सत्ता—प्रायः यह समझा जाता है कि मातृक परिवार में शासन सत्ता माता के हाथ में होती है, अतः पिछली शती मे समाजशास्त्रियो ने इसे मातृतन्त्र अथवा मातृसत्ता (Matriarchy) का नाम दिया था। इसमे कोई सदेह नही कि ऐसे कुछ समाजों मे स्त्रियो की दशा वहुत उन्नत है, परन्तु

अधिकाश समाजो मे शासनसत्ता निश्चित रूप से पिता अथवा परिवार वृद्धतम पुरुष में निहित रहती है[९९]। कुछ समाजों में यह सत्ता माता भाई (मामा) के पास होती है, ऐसे समाज मातुल प्रवान (Avunculate कहलाते हैं। (इंसा रिली० ई० ख० पृ० १२।८५१)

पिछली शताब्दी में पश्चिमी समाजशास्त्रियो ने मातृक परिवा के उपर्युक्त तत्वो अथवा इनके अवशेषों को अनेक प्राचीन एवं आधुनि जातियो में देखते हुए यह कल्पना की थी कि पहले सर्वत्र मातृतन्त्र की व्यवस् प्रचलित थी। उस समय यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि मानव परिवार की आदि दशा कामचार (Promiscuity) थी, उसके वाद क्रमशः मा तन्त्र (Matriarchy) और पितृतन्त्र (Patriarchy) की अवस्था आई (इसा ब्रिटा० १५।९३) पहले अध्याय में कामचार को मान समाज की आदिम अवस्था मानने का खडन किया जा चुका है (पृ०१०-१२) इस सम्वन्ध में डार्विन का यही कथन पर्याप्त है कि मनुप्य जाति के सामाजि इतिहास में कामचार को एक सार्वभौम दशा स्वीकार करने वाली कल्पना समा शास्त्रीय विचार के सम्पूर्ण क्षेत्र में अव तक की गयी सव से वडी अवैज्ञानिक धारण है (इसा० ब्रिटा० १५।९३)। मेन आदि विचारको ने उस समय यह माना कि कामचार के पश्चात् मानव समाज में दूसरी दशा मातृतन्त्र की और इसके वाद उसमे पितृतन्त्र अथवा पितृसत्ताक परिवार का उद्भव हुआ इस कल्पना के दो वडे आधार थे—पहला तो यह कि सन्तान के मातृत्व निर्णय प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा होता है; किन्तु पितृत्व अनुमान का विपय है; अ कामचार के वाद मातृमूलक परिवार ही सभव थे। दूसरा आधार मातृसत्ता

---

९९. रिवर्स ने लिखा है कि केवल वहुत विरले उदाहरणों में परिवा की शासन सत्ता माता या सव से वूढी स्त्री के हाथ में होती है (इंसा० रि० ई १२।८५१)। मैसाइवर (सोसायटी पृ० २४७-४८) के मतानुसार स्त्री शासक होने पर मातृसत्ता की कल्पना करना ठीक नहीं है, १६ वीं शत में इंगलैंड में एलिजावेथ प्रथम का शासन था, किन्तु वहां शासन सत्ता स्त्रिय के हाथ में नहीं थी, अतः मातृतन्त्र या मातृसत्ता (Matriarchy) शब्द प्रयोग भ्रामक है, वर्तमान मानवशास्त्री अतीत काल में मातृसत्ता को निर्विवा रूप से पुष्ट नहीं कर सके, इसलिए यहां मातृसत्ता के स्थान पर मातृ (Maternal) परिवार के शब्द का प्रयोग किया गया है।

सूचित करने वाले प्राचीन एवं आधुनिक मानव समाजों के प्रचुर उदाहरण थे[१००]।

किन्तु मानवशास्त्र के अधिक अनुसन्धान से दोनो आधार भ्रान्त सिद्ध हुए और यह कल्पना खण्डित हुई कि मातृसत्ताक परिवार कामचार के बाद मानव समाज का सार्वभौम नियम थे। मातृवशी परिवार के समर्थको की सबसे प्रबल युक्ति यह थी कि आरम्भ में बच्चों के पिता का ज्ञान न होने से यह व्यवस्था चली। किन्तु डा० हार्टलैण्ड ने ऐसी बहुत सी जातियो के उदाहरण उपस्थित किये, जहा पितृत्व निश्चित होने पर भी मातृकाधिकार (Mother right) है। आदिम समाजों मे पितृत्व का विचार वर्त्तमान सभ्य जगत् के इस विषय के विचार से भिन्न है, वस्तुत. उनमे सन्तानोत्पादक को जानने की आकांक्षा बहुत कम होती है, दक्षिण अफ्रीका में वधू खरीदने वाला उसकी वैध, अवैध सभी सन्तानों का स्वामी होता है (इसा० आफ सो० सा० खं० १०,पृ० १४५)। मातृसत्ता के पितृसत्ता से पूर्व होने की एक युक्ति यह भी थी कि इस प्रकार का सगठन रखने वाले समाजो की सभ्यता का स्तर बहुत गिरा हुआ है, अतः वह आदिम दशा होनी चाहिये; किन्तु उत्तरी अमरीका की जातियो का अध्ययन करने वाले मानवशास्त्रियो ने मातृवशी इरोकुओई तथा प्युवलो इडियनो को इस महाद्वीप की सभ्यतम जाति ठहराते हुए उपर्युक्त सिद्धान्त पर कुठाराघात किया। मातृसत्ता के प्रचुर उदाहरण भी उसके सार्वभौम प्रसार को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त नही; क्योंकि मैलिनोवस्की के मतानुसार आधुनिक मानवशास्त्रीय अनुसन्धान से यह स्पष्ट है कि 'भूमण्डल के सब भागो मे मातृकाधिकार के साथ साथ पितृसत्ता की संस्थायें दृष्टिगोचर होती हैं, (इसा० ब्रिटा० ख० १५, पृ० ९३)।

---

१००. किसी समाज में निम्नतत्व होने से उसे मातृवंशी कहा जाता है–स्त्री द्वारा वंश परम्परा चलना, परिवार में मामा की महत्त्वपूर्ण स्थिति, बहुभर्तृता, विवाह से पहले स्त्रियों को यौन स्वतन्त्रता प्राप्त होना, रजोदर्शन होने पर स्त्रियो के विशेष संस्कार, मातृशक्ति की उपासना, देवदासियों तथा स्त्री पुरोहितों की व्यवस्था। मातृसत्ता के विस्तृत प्रतिपादन के लिये देखिये––बेखोफन का जर्मन ग्रन्थ (स्टटगार्ड १८६१), मैकलीनान––स्टडीज इन एंशेण्ट हिस्ट्री (लंडन १८७६), मोर्गन-एशेण्ट सोसायटी (लंडन १८७७), हार्टलैण्ड-प्रिमिटिव पैर्टनिटी (लंडन १९०९), ब्रिफाल्ट-मदर्स तीन खण्ड (न्यूयार्क १९२७)

उपर्युक्त प्रमाणो के अतिरिक्त सामाजिक सस्थाओ के इतिहास के अध्ययन की दृष्टि मे हुए एक मौलिक परिवर्तन ने भी मातृसत्ता के सार्वभौम प्रसार की कल्पना को खण्डित किया। पिछली शताब्दी में यह माना जाता था कि मानव समाज का विकास सर्वत्र, समान रूप से और समान दशाओ मे से गुजरते हुए, विकास की एक सरल प्रक्रिया के अनुसार हुआ है; किन्तु वाद में यह ज्ञात हुआ कि सामाजिक विकास एक वडी जटिल प्रक्रिया है, इसमे विभिन्न संस्कृतियो के सम्मिश्रण से नाना रूप उत्पन्न होते रहे है, कोई ऐसे सार्वभौम सामान्य नियम नही, जिन के अनुसार सर्वत्र एक जैसा विकास होता रहा हो (इसा० रि० ई० ख० १२, पृ० ८५८)। इतिहास में न केवल मातृसत्ता के पितृसत्ता में परिणत होने के दृष्टान्त मिलते है, जैसे अफ्रीका तथा मैलेनीशिया में, अपितु पितृसत्ता के मातृकाधिकार में परिणत होने के उदाहरण पाये जाते है, जैसे उत्तरी अमरीका की अनेक जातियो में (इसा० रि० ई० १२।८५८)। इन सव कारणो से अव मातृवशी परिवार को प्राचीन काल मे पितृसत्ता से पूर्ववर्ती सार्वभौम प्रथा नही माना जाता।

मातृवंशी परिवार के उद्भव के सम्वन्ध में तीन कल्पनायें की गयी है—(१) यह आदिम कामचार का स्वाभाविक परिणाम था (२) यह स्त्रियो की *प्रभुता का परिणाम है, उन्हें यह सत्ता प्रारम्भिक काल मे कृषि के* आविष्कार तथा इससे सवद्ध विभिन्न कार्य करने से मिली। (३) यह मातृस्थानीय विवाह अर्थात् शादी के वाद पत्नी के अपने पितृगृह में ही रहने और सुसराल न जाने की प्रथा से प्रादुर्भूत हुई, क्योकि इस दशा में वच्चो का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व रखना कठिन था, उनके लिये मामा की सम्पत्ति पाना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राचीन भारत में मातृक परिवार—श्री सुविमल चन्द्र सरकार[१०१] तथा अन्य कई विद्वानो ने निम्न प्रमाणो के आधार पर प्राचीन भारत में मातृसत्ता की कल्पना की है (१) मातृनामो का प्रयोग—ब्राह्मण ग्रन्थो, उपनिषदो तथा अन्य प्राचीन साहित्य में माता के नाम पर पुत्र का नाम रखने की परिपाटी दृष्टिगोचर होती है। वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में वतायी गयी वंशब्राह्मण तालिका के सव नाम इसी प्रकार के हैं, जैसे, गौतमीपुत्र, कात्यायनीपुत्र। रामायण महाभारत

---

१०१. सम एस्पैक्टस् आफ दी आर्लियस्ट सोशल हिस्टरी आफ इंडिया पृ० ७६-७८, सरकार के अनुसार यमी की यम से प्रणय याचना, मातापितरौ में माता शब्द का पहले प्रयोग, वहिन की वैदिक परिवार में उच्चस्थिति भी प्रारम्भ में मातृतन्त्र की सत्ता के प्रमाण हैं।

में इसके ये उदाहरण ह—सौमित्रि (सुमित्रा का पुत्र), पार्थ, कौन्तेय (पृथा या कुन्ती का लड़का), काद्रवेय, वैनतेय। पाणिनि के गोत्रापत्य प्रकरण के गण-पाठो में अनेक स्त्रियो के नाम है और एक सूत्र (स्त्रीभ्यो ढक् ४।१।१२०) द्वारा वह स्त्री शब्दो वैनतेय से (विनता का पुत्र) आदि रूप बनाता है। (२) अर्जुन का चित्रागदा के साथ विवाह इस शर्त्त पर हुआ था (महाभा० १।२१७।२४-२५) कि उसका पुत्र माता के साथ, नाना के पास ही रहेगा। (३) मनुस्मृति तथा धर्मसूत्रों में मामा को ऊंचा स्थान दिया गया है (दे० ऊ० पृ० २७२) पितृत्व अनिश्चित होने से मातृमूलक नाम का सब से सुन्दर उदाहरण सत्यकाम जाबाल है (छान्दोग्य उपनिषद् ४।४)।

किन्तु ये सब प्रमाण मातृसत्ता के व्यापक एवं सार्वभौम प्रसार को सिद्ध नही कर सकते; क्योकि वैदिक परिवार स्पष्ट रूप से पितृमूलक था (दे० ऊ० पृ०३९)। मातृवशी परिवार में बहुत महत्त्व रखने वाले नाना (मातामह) का उल्लेख वैदिक साहित्य में एक बार भी नही है और मामा का मातुभ्राता के नाम से केवल एकवार वर्णन है (मैत्रा० स० १।६।१२)। मातृनामो का प्राचीन भारत में अवश्य प्रयोग था, किन्तु उससे कही अधिक पितृनामो का व्यवहार होता था। पाणिनि के गोत्रापत्य प्रकरण में अधिकाश नाम पुरुषो के ही है। मातृनामो का प्रयोग मातृवंशी व्यवस्था का ही नही, किन्तु बहुभार्यता का भी परिणाम होता है। सौमित्रि राजा दशरथ की सुमित्रा नामक पत्नी से उत्पन्न सन्तान का बोधक था। कुन्ती के पुत्र कौन्तेय कहलाने के साथ पाण्डव (पाण्डु के पुत्र) भी कहलाते थे। अतः उपर्युक्त उदाहरण मातृसत्ता की प्रथा का व्यापक प्रसार नहीं सिद्ध कर सकते। इनसे यही सूचित होता है कि वर्त्तमान काल की भांति कुछ स्थानो पर इस का अवश्य प्रचलन था।

वर्त्तमान भारत के मातृवंशी परिवार—आजकल भारत में मातृकाधिकार के दो केन्द्र हैं[१०२]—आसाम और केरल। आसाम में खासी, सिनतेंग, गारो आदि जातियो में इसकी अनेक विशेषताये पायी जाती है। दूसरा केन्द्र भारत के पश्चिमी तट पर प्राचीन केरल अर्थात् मलाबार, ट्रावनकोर कोचीन राज्य तथा दक्षिण कनारा के जिला हैं। यहा यह प्रथा नायर और थिया जातियो मे विशेष रूप से पायी जाती है। इस प्रदेश के पारिवारिक संघटन और साम्पत्तिक उत्तरा-

---

१०२. एहरैन फैल्स के मदर राइट इन इंडिया (हैदराबाद १९४१) में भारत के वर्त्तमान मातृवंशी समाजों का विशद विवेचन है।

विकार के नियम दो वातो में शेष हिन्दू समाज से सर्वथा भिन्न है–(१) परिवार और वंश परम्परा का आधार नारी होती है, विवाह के वाद पत्नी सुसराल न जाकर अपने पितृगृह में रहती है। (२) पिता की सम्पत्ति को उत्तराधिकार मे प्राप्त करने वाला उसका पुत्र नही, किन्तु भांजा होता है , अतः मलावार मे रिक्थहरण की व्यवस्था को मरुमक्कत्तायम् कहते है, इसका अर्थ है मरुमक्क अर्थात् भगिनीसुत का ताय या दाय; दक्षिण कनारा के कन्नड़ प्रदेश में यद्यपि इसका नाम आलियसन्तान है, किन्तु इस का शब्दार्थ वही है।

तरवाड़—मलावार मे एक मूल स्त्री से प्रादुर्भूत हुआ, उसके नर नारी वशजो का सयुक्त कुटुम्व तरवाड़ कहलाता है। इसमें अनेक स्त्रियो के वशज सम्मिलित होते हैं, इनमें से प्रत्येक स्त्री तथा उसके वशजो का छोटा परिवार तायवड़ी कहलाता है। प्रायः एक वड़े तरवाड़ में अनेक तायवड़ी सम्मिलित होते है। तरवाड़ एक पारिवारिक निकाय (कारपोरेशन) है, इसकी सम्पत्ति में सव के तुल्य अधिकार है और ये उसे मिताक्षरा परिवार की भांति कुटुम्व में जन्म लेने से ही प्राप्त हो जाते है। प्राचीन परम्परा के अनुसार तरवाड़ की सम्पत्ति अविभाज्य समझी जाती थी और उसके सदस्यो को इससे भरण पोषण पाने का अधिकार होता है। मरुमक्कत्तायम् तरवाड़ का सवसे वूढ़ा पुरुष अथवा उसके अभाव में वृद्धतमा स्त्री इसका प्रवन्ध तथा सचालन करती है, इन्हे क्रमशः कारणवन और कारणवती कहते हैं, आलियसन्तान परिवार में ये एजमान और एजमन्ती कहलाते है, पहले इस परिवार में मुखिया को पारिवारिक सम्पत्ति का यथेच्छ प्रवन्ध करने के काफी विस्तृत अधिकार थे।

१९३२ के मरुमक्कत्तायम् कानन द्वारा तरवाड़ के स्वरूप मे अनेक महत्व-पूर्ण परिवर्त्तन हुए है। पहले यह परिवार सयुक्त होता था, अव इसके वालिग सदस्यो के वहुमत द्वारा वंटवारा चाहे जाने पर इसकी व्यवस्था स्वीकार की गयी है, किसी सदस्य के दूसरा धर्म ग्रहण करने की दशा में तरवाड़ का विभाग अनि-वार्य हो जाता है। कारणवन के अधिकारों को भी इस कानून से मर्यादित कर दिया गया है, अव वह वालिग सदस्यो का लिखित वहुमत प्राप्त करके ही तरवाड़ की स्थावर सम्पत्ति का विक्रय या रेहन कर सकता है। परिवार के संचालन के लिये कारणवन तथा वालिग सदस्यो की वहुसंख्या के वीच में हुआ समझौता करार कहलाता है और कारणवन के लिये इसका पालन आवश्यक है। जव वह इसे पूरा नही करता या उसका नेतृत्व तरवाड़ के लिये हानिकर होता है तो उसे पद-च्युत किया जा सकता है। मरुमक्कत्तायम् तरवाड़ के अन्य सदस्य इसकी सम्पत्ति

के साझीदार और सहस्वामी होते हैं। उन्हे कारणवन से भरण पोषण पाने, तरवाड़ की सम्पत्ति के अनधिकृत अपहार (Unauthorised Alienations) को रोकने, ज्येष्ठ पुरुष की मृत्यु पर कारणवन वनने, विभाग मे अपना अश ग्रहण करने तथा दत्तक पुत्र के सम्वन्ध मे आक्षेप उठाने के अधिकार होते हैं।

पश्चिमी तट पर यह व्यवस्था पहले इतनी वद्धमूल थी कि मलावार में वसे हुए मोपले मुसलमान धार्मिक, सामाजिक तथा वैवाहिक विषयो मे इस्लाम का अनुसरण करते हुए भी साम्पत्तिक उत्तराधिकार में मरुमक्कत्तायम् के अनुयायी थे। इससे अनेक कानूनी उलझनें पैदा हो गयी थी, अतः १९१८ के प्रथम मद्रास कानून द्वारा मोपलो की दाय व्यवस्था शरीअत के अनुसार कर दी गयी।

हिन्दू समाज के संयुक्त परिवार की भाति मलावार का तरवाड़ भी विनाशोन्मुख है। इसका प्रधान कारण व्यष्टिवादी प्रवृत्तिया और औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उत्पन्न नवीन परिस्थितिया है। १९३२ के मरुमक्कत्तायम् कानून से सदस्यो को वटवारे का अधिकार मिल गया है कारणवन के अधिकार नियन्त्रित हो गये हैं। वर्त्तमान युग मे समूचे हिन्दू समाज के कानून को हिन्दू कोड द्वारा एक रूप वनाने का प्रयत्न हो रहा है। यह कहना कठिन है कि मलावार इस युग मे अपना यह निरालापन कव तक वनाये रख सकेगा।

मलावार के हिन्दू समाज की इस विशिष्ट व्यवस्था के उत्पादक कारणो के सम्वन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। अनुश्रुति के अनुसार इसका उद्भव १२५० ई० के एक राजा भूतल पाण्डच की मनमानी व्यवस्था है, वह देवताओ को अपने पुत्र की वलि देना चाहता था, उस की पत्नी ने अपत्य स्नेह वश ऐसा नही होने दिया, किन्तु वहिन ने अपना लड़का देकर उसका यज्ञ पूरा किया। उसके प्रति कृतज्ञता तथा पुत्र के प्रति रोपवश उसने यह व्यवस्था की कि भविष्य मे पुत्र का अधिकार भाजे को मिलेगा। वस्तुतः यह व्यवस्था पश्चिमी तट पर इतनी प्राचीन और वद्धमूल है कि उसे किसी मध्यकालीन राजा के कोप का परिणाम नही माना जा सकता। स्टर्राक ने डिस्ट्रिक्ट मैनुअल् आफ् कनारा में यह कल्पना की है कि इसका प्रधान कारण इन जातियो का लड़ाकू होना, अपने नेता के साथ युद्ध यात्राओ पर वाहर रहना और तथा एक स्त्री के अनेक पति होने की प्रथा थी। यहा भूमि पर और सम्पत्ति में स्त्रियो को स्वत्व इसलिये दिया गया ताकि घर पर रहने वाले पुरुप युद्ध पर वाहर गये व्यक्तियो की अनुप-

स्थिति का लाभ उठा कर उनकी सम्पत्ति न हड़प सकें। नायर मध्यकाल की एक प्रसिद्ध योद्धा जाति थी; अतः उसमें भी उक्त कारण से स्त्रियो को सम्पत्ति में उपर्युक्त का अधिकार मिला [१०३]।

---

१०३. मरुमक्कत्तायम् कानून के विशद विवेचन के लिये देखिये मेन-हिन्दू ला दशम संस्करण पृ० ९६७-६९। इस विषय की सामान्य जानकारी के लिये दे० गज़ेटियर आफ मलाबार (१९०८), फाकेट-नायर्स आफ मलाबार, लोगन-मैनुअल आफ मलाबार।

बारहवां अध्याय

विभाग (बँटवारा)

विभाग के लक्षण—विभाग का विकास—इसकी तीन अवस्थायें और प्रक्रिया—विभाग की प्राचीनता—प्रशंसा—विभाग के तीन काल—विभाज्य द्रव्य—दाय की निरुक्ति और लक्षण—बटवारे की सम्पत्ति—पृथक् सम्पत्ति—अविभाज्य द्रव्य—स्वार्जित सम्पत्ति तथा विद्याधन का विकास—सूत्रकारो और टीकाकारो की व्यवस्थायें—वर्त्तमान दशा—हिन्दू विद्याधन कानून—विभाग की विधि—विषम विभाग—पुर्नविभाग—विभाग के प्रमाण—बटवारे के अधिकारी और अशहर—पुत्र का अधिकार—पितृतो विभाग—विभाग के अनन्तर उत्पन्न, अनुलोमज, दासीपुत्र और नाबालिग पुत्रो के स्वत्व—विभाग के स्त्री अशहर—पत्नीभाग—माता—दादी—कन्याये—अनर्ह अशहर—ससृष्टि-इसका स्वरूप—अधिकारी—प्रमाण और प्रभाव ।

सयुक्त हिन्दू परिवार के सब सदस्य इस की सम्पत्ति का सम्मिलित रूप से उपभोग करते है। उन का इसके किसी अश पर वैयक्तिक स्वत्व नही होता; इसकी उत्पत्ति विभाग या बटवारे से होती है। विभाग का धात्वर्थ है—विशेष रूप से उपभोग। यह बटवारे के बाद ही सभव है; क्योकि सयुक्त सम्पत्ति का सब की सहमति के बिना यथेच्छ विनियोग नही किया जा सकता। दो सयुक्त भाई दो हजार बीघे की भूमि का मिलकर उपभोग कर सकते है, इस पर उन का अविभक्त स्वत्व है, किन्तु वे स्वतन्त्र रूप से इसके किसी अश का दान या विक्रय नही कर सकते। विभाग से उनमें से प्रत्येक को अपने हजार बीघे पर यह अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह अब इसका विशेष रूप से उपभोग करने मे समर्थ है। विभाग दोहरी प्रक्रिया है, इसमें एक ओर प्रत्येक भाई का २००० बीघे के सयुक्त उपभोग का अधिकार जाता रहा, दूसरी ओर १००० बीघे पर उसे पूर्ण अधिकार मिला, इससे उसने अपने अश से भाई के अधिकार का व्युदास (Exclusion) किया। इस प्रकार सयुक्त सम्पत्ति के विभिन्न अंशो पर वैयक्तिक स्वामित्व स्थापित होना ही विभाग है।

विभाग के लक्षण—प्राचीन शास्त्रकारो मे इसके लक्षण के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। विज्ञानेश्वर ने बटवारे के उपर्युक्त स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए इसकी यह व्याख्या की है—'जिस द्रव्य समुदाय (सम्पत्ति) पर अनेक व्यक्तियो का स्वामित्व हो, उसे निश्चित स्थानो में व्यवस्थापित करना विभाग है[1]'। उदाहरणार्थ, चार भाइयो की अविभक्त सम्पत्ति पर उन का सम्मिलित स्वाम्य है, इसके चार भाग कर उन्हे प्रत्येक भाई को देना ही बटवारा है। विज्ञानेश्वर का यह लक्षण उससे बहुत प्राचीन है, इस पर भारुचि और जीमूतवाहन ने आक्षेप किये है। भारुचि इसे इस कारण ठीक नही मानता कि यह धर्म विभाग पर लागू नही होता। विष्णु के मतानुसार सम्पत्ति दो प्रकार की है—भोक्तव्य (ज़मीन, जायदाद), और अनुष्ठातव्य (अग्निहोत्रादि), विभाग भी दो प्रकार का है—दायमूलक और कर्ममूलक[2]। भारुचि अग्निहोत्रादि कर्म को सम्पत्ति मानता है, ऐसी सम्पत्ति में अधिकार और स्वामित्व की कल्पना नही हो सकती, अतः उसे मिताक्षराकार का लक्षण ठीक नही प्रतीत होता। भारुचि का ग्रन्थ उपलब्ध न होने से हमें उसके द्वारा किये गये विभाग के लक्षण का ज्ञान नहीं है।

जीमूतवाहन को उक्त लक्षण मे यह दोष प्रतीत होता था कि इस में पहले समूची सम्पत्ति में अनेक व्यक्तियो के सयुक्त स्वामित्व की तथा बाद में उसके समाप्त होने की क्लिष्ट कल्पना की गयी है। 'दाय के विभाग का क्या आशय है? क्या यह दाय का अवयवो में विभक्त होना है अथवा इसका किसी दायाद से पृथक् होना है? पहला अर्थ इसलिये ठीक नही कि उसके अनुसार दाय नष्ट हो जायगा और दूसरा अर्थ भी अयुक्त है, क्योकि (विभक्त) शब्द का प्रयोग सयुक्त सम्पत्ति के लिये भी देखा जाता है—जैसे युक्त, यह विभक्त सम्पत्ति मेरी नहीं, मेरे भाई की है। भाई यद्यपि अपने अश से सयुक्त है, किन्तु उस के हिस्से को भाई का विभक्त भाग कहा जाता है। अत जीमूतवाहन विभाग का अर्थ स्वत्वों के पृथक्करण की व्यवस्था नही मानता, किन्तु उसे विशेष रूप से विभिन्न व्यक्तियो के स्वत्वो का प्रकटीकरण समझता है। 'जहा विशेष रूप से स्वत्वो की व्यवस्था न हो, वहा गुटिकापात (लाटरी डालना) द्वारा स्वत्वो की अभि-

---

१. याज्ञ० २।११४ पर मिता०—विभागो नाम द्रव्यसमुदायविषयाणामनेकस्वाम्याना तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।

२. सरस्वती विलास पृ० ३४५ पर उद्धृत विष्णु का वचन—पैतृकं धनं द्विविधं भोक्तव्यमनुष्ठातव्यं, पृ० ३४८ द्विविधो विभागः कर्ममूलोदायमूलश्च।

व्यक्ति विभाग है[३]' । इस प्रकार दायभाग के मत मे संयुक्त सम्पत्ति के प्रत्येक अश में दायादो का विभाग से पहले संयुक्त स्वामित्व नही होता, प्रत्येक व्यक्ति का हिस्सा वाद में लाटरी से निश्चित होता है । रघुनन्दन ने दायतत्व (पृ० १६३) में इस लक्षण पर यह आपत्ति ठीक ही की है कि यदि विभाग से पूर्व समाशियो का संयुक्त सम्पत्ति के किसी एक हिस्से पर अधिकार था तो इसका क्या भरोसा है कि लाटरी उसे वही हिस्सा देगी, जो उसके पास पहले था ।

विभाग के इन दो लक्षणो से मिताक्षरा एवं दायभाग के परिवारो मे मौलिक अन्तर आ गया है । मिताक्षरा के सयुक्त परिवार मे पारिवारिक सम्पत्ति पर सब समाशियो (Coparceners) का साझा स्वामित्व है । कुटुम्ब सम्मिलित रहने की दशा मे किसी दायाद का इस सम्पत्ति के किसी विशेष भाग पर स्वत्व नही होना, परिवार के नये सदस्यों के जन्म तथा पुराने सदस्यो की मृत्यु से प्रत्येक शरीक का हिस्सा घटता वढ़ता रहता है, वटवारा होने से पहले तक उनका कोई अश निश्चित नही होता । किन्तु दायभाग परिवार में विभाग से पहले व्यक्तियो का समूची संयुक्त सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व नही, अतः उसमे कोई साझेदारी या समाशिता (Coparcenary) नही हो सकती, वहा पिता के मरने पर ही, पुत्र अपना निश्चित हिस्सा ले सकते है, उस समय इकठ्ठा रहने पर भी उन सब को उस पर सयुक्त अधिकार है, किन्तु संयुक्त स्वामित्व नही है । मिताक्षरा मे पारिवारिक सम्पत्ति मे समाशिता का स्वत्व जन्म से उत्पन्न होता है, दायभाग मे मृत्यु द्वारा ।

विभाग दो प्रकार से होता है—सम्पत्ति का निश्चित भागो मे वटवारा करके अथवा सकल्प मात्र से। वस्तुतः वटवारा अलग होने की मनोवृत्ति का व्यक्त रूप है, अतः नीलकण्ठ के मत में साझी (सावारण) सम्पत्ति न होने पर भी जव कोई यह कहता है कि मैं तुझ से अलग हूँ तो उसे वटवारा ही

---

३. दायभाग पृ० ८ ननु किं दायस्य विभागो विभक्तावयवत्वं, यद्वा दायेन सह विभागोऽसंयुक्तत्वं, न तावत्पूर्वः, दायविनाशापत्तेः । नापि द्वितीयः, संयुक्तेऽपि न ममेदं विभक्तं स्वं भ्रातुरिदमिति प्रयोगात् ।...एकदेशोपात्तस्यैव भूहिरण्यादावुत्पन्नस्य स्वत्वस्य विनिगमनाप्रमाणाभावेन वैशेषिकव्यवहारानर्हतया अव्यवस्थितस्य गुटिकापातादिना व्यंजनं विभागः । विशेषेण भजनं स्वत्वज्ञापनं वा विभागः ।

समझना चाहिये। वर्तमान न्यायालयो ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया है[४]। बटवारे का यह प्रकार केवल मिताक्षरा परिवार में ही सभव है, क्योकि दायभाग में बटवारा पिता की मृत्यु से ही होता है। सयुक्त परिवार से पृथक् होने का एक तीसरा प्रकार भी है। इस में अपनी आजीविका कमाने में समर्थ (शक्त) तथा परिवार की सम्पत्ति की इच्छा न रखने वाले (अनीहमान)को कुछ देकर परिवार से पृथक किया जाता है (मनु० ९।२०७)। विज्ञानेश्वर ने इसका यह कारण बताया है कि इस से भविष्य में होने वाले बटवारे में उसे अपना हिस्सा लेने का अधिकार नही रहता है[५]।

विभाग का विकास—विभाग वैयक्तिक अधिकारो की स्वीकृति है। व्यक्ति को ये अधिकार एक लम्बे सघर्ष के बाद प्राप्त हुए है। गत शताब्दी के अन्त में हेनरी मेन ने इसके ऐतिहासिक विकास की तीन अवस्थाओ की कल्पना की थी[६]। पहिली अवस्था में समूची सम्पत्ति पर जन (Tribe) या जाति का सामुदायिक (Communal) अथवा जातीय स्वत्व होता था, व्यक्ति को विभाग द्वारा सम्पत्ति के स्वच्छन्द उपभोग का अधिकार नही था। व्यास (दा० १२७, विर० ५०४, मपा ० ६८७) और उशना (मिता० २।११९, स्मृच० २७७, मपा० ५६४) के नाम से अनेक ग्रन्थो में यह व्यवस्था पायी जाती है कि यज्ञस्थान, क्षेत्र (खेत), सवारी (पत्र), बनाये हुए भोजन, कुंये और स्त्रियो का हजारवी पीढी तक भी विभाग नही होता[७]।

दूसरी अवस्था में समुदाय (जन या जाति) का सामूहिक अधिकार ग्राम

---

४. व्यम० पृ० ९४, द्रव्यसामान्याभावेऽपि त्वत्तोहं विभक्त इति व्यवस्थामात्रेणापि भवत्येव विभागः। बुद्धिविशेषमात्रमेव हि विभागः तस्यैवाभिव्यंजिकेयं व्यवस्था। सवि० पृ० ३४७, अनेन ज्ञायते परिभाषां विना संकल्पमात्रेणापि विभागसिद्धिः। मि० बालकृष्ण व रामकृष्ण (१९३१) ५८ इं० ए० २२०, ५३ मला० ३००

५. या० २।११६ शक्तस्यानीहमानस्य किंचिद् दत्वा पृथक् क्रिया। मिता० तत्पुत्रादीनां दायजिघृक्षा मा भूदिति।

६. मेन—एंशेण्ट ला (एवरीमैन लाइब्रेरी संस्करण) पृ० १५८-५९

७. अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि। याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः॥

के सवन्धियो , सामन्तो और दायादो के सामूहिक अधिकार तक सीमित हो गया, इन की अनुमति से ही भूमि का दान और विभाग किया जा सकता था[८]। पहली अवस्था मे भूमि पर समूची जाति का स्वत्व था, अव ग्राम का और उसके वाद एक परिवार के दायादो या सम्वन्धियो का सामूहिक स्वत्व वना रहा। ग्राम का सामुदायिक अधिकार उठ जाने के वाद भी कई स्थानो पर इसके अवशेष अव तक पाये जाते है। पूर्व क्रयाधिकार (Right of preemption) या हकशफा इसी प्रकार की व्यवस्था है। इसके अनुसार किसी स्थान पर भूमि या जायदाद खरीदने मे पहला हक़ उसके आस पास वसे व्यक्तियो का होता है, इन के वाद अन्य स्थान वासी इसे क्रय कर सकते है। दूसरी अवस्था में दायादो की अनुमति के विना व्यक्ति स्थावर सम्पत्ति का दान और विक्रय नही कर सकता। मिताक्षरा (२।११३) के अनुसार यदि दायादो मे से एक भी सहमत नही है, तो स्थावर सम्पत्ति के सम्वन्ध मे किया हुआ दान और विक्रय का कार्य मान्य नही होता[९]। वैयक्तिक परिश्रम से कमायी स्थावर सम्पत्ति पर भी परिवार का स्वत्व था। इसके विक्रयादि के लिये सव दायादो की स्वीकृति प्राप्त करने का यह कारण वताया जाता था कि जो पुत्र पैदा हुए है और जो पैदा नही हुए, गर्भ मे है, वे सव भरण (वृत्ति) की आकाक्षा रखते है, अत. (उनकी सहमति के विना) दान और विक्रय नही हो सकता[१०]।

तीसरी अवस्था—दायादो से अनुमति प्राप्त करने की व्यवस्था वहुत जटिल थी। अनेक अवस्थाओ मे पुत्र और पौत्र इतने छोटे होते थे कि उनमें अनुमति देने की क्षमता ही नही होती थी। इस अवस्था मे परिवार पर कोई संकट उपस्थित होने पर दान और विक्रय का अधिकार न होने से अत्यन्त असुविधा होती थी। अतः यह सिद्धान्त समाज मे मान्य हुआ कि आपत्ति के समय, कुटुम्व के पालन और धर्म कार्य के लिये एक व्यक्ति भी स्थावर सम्पत्ति का दान, गिरवी या विक्रय कर सकता है, उसे इस विषय मे अन्य दायादो से अनुमति लेने की

---

८. मिताक्षरा याज्ञ० २।११३ पर—स्वग्रामज्ञातिसामन्तदायादानुमतेन च। हिरण्योदकदानेन षड्भिर्गच्छति मेदिनी॥

९. वहीं—स्थावरे द्विपदे चैव यद्यपि स्वयमर्जितम्। असंभूय सुतान्सर्वान्न दानं न विक्रयः॥

१०. वही—ये जाता येऽप्यजाताश्च ये च गर्भे व्यवस्थिताः। वृत्तिं च तेऽभिकांक्षन्ति न दानं न च विक्रयः॥

आवश्यकता नही है[११]। धीरे धीरे यह नियम व्यापक होने लगा, अन्य अवस्थाओं में भी विभाग द्वारा व्यक्ति को सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व प्राप्त होने लगा। कई स्थानो पर वर्त्तमान समय मे भी दायादो को पारिवारिक सम्पत्ति के विभाग का अधिकार नही है। १९३२ ई० तक मलावार का मरुमक्कतायम् तरवाड (सयुक्त परिवार) अविभाज्य था, इसका सदस्य अपने जीवनकाल मे स्वार्जित सम्पत्ति का पृथक् रूप से उपभोग कर सकता था, किन्तु उस के मरने पर यह सम्पत्ति भी उसके परिवार को प्राप्त होती थी[१२]।

मेन आदि विचारको के मत मे उक्त क्रम से वैयक्तिक अधिकारो का विकास हुआ है, पहले व्यक्ति के अधिकार जाति के तथा वाद में परिवार के स्वत्वो में सश्लिष्ट थे, अन्त में परिवार के सश्लिष्ट अधिकारो में से व्यक्ति के पृथक् अधिकार विश्लिष्ट हुए, वैयक्तिक सम्पत्ति का निर्माण हुआ, उस पर सम्वन्धियो के सयुक्त स्वामित्व का लोप होने लगा, व्यक्ति के पृथक् स्वत्व की उत्पत्ति हुई। वटवारे द्वारा व्यक्ति को ये अधिकार उपलब्ध होने लगे।

पिछले अध्याय मे यह वताया जा चुका है कि आधुनिक समाजशास्त्री गत शताब्दी के समाजविज्ञानियो की भाति किसी सामाजिक सस्था के विकास के सम्वन्ध में यह नही मानते कि उसका सर्वत्र, सार्वभौम रूप से एक जैसी सरल अवस्थाओ में गुजरते हुए उसका विकास होता है। यही वात वैयक्तिक स्वामित्व के अधिकारो के सम्वन्ध में भी कही जा सकती है। ऊपर जान वूझकर भारतीय प्रमाण दिये गये हैं, किन्तु इनसे यह नही समझना चाहिये कि हिन्दू समाज में सर्वत्र यह विकास इन तीनो अवस्थाओ में होकर गुजरा है। प्रागैतिहासिक युग मे जाति के पचायती अधिकार की व्यवस्था सभव है, किन्तु वैदिक युग से हमें स्थावर सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं (ऊ० पृ० ४२-४४) इसके साथ विभिन्न स्थानो पर पचायती प्रभुत्व भी रहा होगा, जिसका सकेत ऊपर उद्धृत किये व्यास और उशना के वचनो में मिलता है। इसी प्रकार यद्यपि मलावार में २०-२५ वर्ष पूर्व तक पारिवारिक सम्पत्ति अविभाज्य थी, तथापि वैदिक युग से हमे विभाग के प्रमाण उपलब्ध होते हैं (दे० ऊ० पृ० ४५), अत. विभाग के विकास के सम्वन्ध में सार्वभौम नियम वताना सभव नही, यहा

---

११. मिता०याज्ञ० २।११४ पर—एकोऽपिस्थावरे कुर्याद्दानाधमनविक्रयम्। आपत्काले कुटुम्वार्थे धर्मार्थे च विशेषतः॥

१२. गोविन्दन वनाम शंकरन ३२ म० २५२ फु० वें०।

केवल उस प्रक्रिया का सक्षिप्त निर्देश किया जायगा, जिससे विभाग का क्षेत्र शनैः शनैः विस्तीर्ण हुआ है।

विभाग की प्रक्रिया—इसके तीन प्रधानतत्व स्वार्जित सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार, विभाज्य द्रव्यो मे वृद्धि और विभाग मे पुत्रो का समान अश ग्रहण करने का अधिकार था। आगे इन की विशद विवेचना की जायगी, यहा कुछ स्थूल तथ्यो का निर्देश पर्याप्त है।

अपने परिश्रम से उपार्जित सम्पत्ति पर कमाने वाले को पूर्ण स्वामित्व न देना, न केवल उसके साथ घोर अन्याय था, अपितु समाज की प्रगति मे प्रबल बाधा थी, क्योंकि ऐसी सम्पत्ति पर निजी अधिकार न होने से वैयक्तिक उपक्रम (Individual initiative) की प्रवृत्ति कुंठित होने की पूरी सम्भावना थी। जब अपने परिश्रम का फल दूसरो को मिलना है, तो इसके लिये प्रयत्न क्यो किया जाय ? स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार देने मे सामूहिक अधिकार की पुरानी परम्परा का भग होता था और न देने मे कमाने वाले के प्रति अन्याय और सामाजिक प्रगति के अवरुद्ध होने का भय था। इस विषम परिस्थिति का यह हल निकाला गया कि स्वार्जित सम्पत्ति के कुछ अश पर व्यक्ति को स्वत्व दिया जाय और शेष भाग पर पूर्ववत् परिवार का स्वामित्व हो। वसिष्ठ ने स्वयमुत्पादित सम्पत्ति मे से दो अश कमाने वाले को देने का विधान किया[१३]। यह व्यवस्था यद्यपि उपार्जनकर्त्ता के साथ पूरा न्याय नही करती थी, किन्तु उसे कुछ अंश भी न देने वाले पुराने विधान की अपेक्षा उदार थी। बाद में मनु० (९।२०८) आदि स्मृतिकारो ने स्वार्जित सम्पत्ति को अविभाज्य बना दिया[१४]।

विभाज्य द्रव्यों में वृद्धि—स्वार्जित सम्पत्ति पर अधिकार स्वीकार करने पर भी बहुत समय तक सम्पत्ति की बहुत सी वस्तुओ, वस्त्र, वाहन, अलंकार कुआ, स्त्रिया, गोचर भूमि, (विष्णु० १८।४४, मनु० ९।२१९) घर (शख दा० १२७) क्षेत्र आदि अविभाज्य माने जाते थे[१४क]। किन्तु बृहस्पति के समय तक वैय-

---

१३. वसिष्ठ० १७।४५ येन चैषां स्वयमुत्पादितं स्यात् स द्व्यंशमेव हरेत्।

१४. मनु ९।२०५ अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत्। स्वयमीहितलब्धं तन्नाकामो दातुमर्हति ॥

१४क. विष्णु स्मृ० १८।४४ वस्त्र पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेमप्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ इसके उत्तरार्द्ध का दा० १२६, विर० ५०४ में यह पाठ है—योग क्षेमं प्रचारश्च न विभाज्यं च पुस्तकम्। इसके अनुसार

क्तिक अधिकारो का इतना विकास हो चुका था कि उसने इन का भी युक्तिपूर्वक विभाग करने की व्यवस्था की (अप० २।११९, स्मृच० २७७)। इस विषय की आगे विस्तार से विवेचना की जायगी। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि छठी सातवी शती तक पुराने काल मे अविभाज्य एव सामूहिक रूप से उपभोगयोग्य समझी जाने वाली वस्तुओ पर भी वैयक्तिक अधिकार स्वीकृत किया जा चुका था।

विभाग में पुत्रो का समान अधिकार—विभाग की व्यवस्था प्रारम्भ होने पर सब पुत्रो के अधिकार तुल्य नहीं थे। पहले कुछ स्थानो में तथा कुछ आचार्यों के मत मे ज्येष्ठ पुत्र को ही दायाद माना जाता था (आप० २।१४।६) यह स्पष्ट है कि दूसरे पुत्रो को यह व्यवस्था स्वीकरणीय नही रही होगी। दूसरी अवस्था में ज्येष्ठ पुत्र को बटवारे के समय अन्य पुत्रो की अपेक्षा अधिक भाग दिया गया (मनु ९।११२)। मनु के समय तक ज्येष्ठ पुत्र तथा दूसरे पुत्रो मे विभाग के समय समान भाग लेने का सघर्ष चल रहा था। अत उस ने इस विषय मे विरोधी व्यवस्थाए की। (९।१०५-६ व ९।१५६)। १४ वे अध्याय में इस विषय की विस्तार से विवेचना होगी, यहा इतना कहना पर्याप्त है कि विज्ञानेश्वर ने ११वी शती ई० मे सब पुत्रो मे समान रूप से विभाग की व्यवस्था को हिन्दू परिवार में सर्वमान्य सिद्धान्त बनाया।

विभाग की प्राचीनता—उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि मध्ययुग तक हिन्दू समाज में विभाग की विस्तृत व्यवस्थाएँ व सिद्धान्त स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु यह समझना भारी भ्रम होगा कि इस से पहले विभाग का नियम प्रचलित नही था, पैतृक सम्पत्ति का बटवारा नही होता था। वैदिक काल मे हमें पिता द्वारा विभाग के स्पष्ट सकेत उपलब्ध होते है (ऋ० १।७०।५, २।१३।४, १०।५।७, अथर्व० १८।३।४३)। तैत्तिरीय सहिता (६।१५।१०।१-२) मे यह कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रो मे दाय का विभाग किया। ऊपर हमने दायविभाग के क्रमिक विकास की जिन अवस्थाओ का उल्लेख किया है, उनमें पहली दो अवस्थाए अत्यन्त प्राचीन एव प्रागैतिहासिक युग की दशाये है। वैदिक काल से हमें विभाग के सकेत मिलते है, धर्मसूत्रो में हमें इस विषय की व्यवस्थायें स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।

विभाग की प्रशंसा—विभाग की व्यवस्था न केवल प्राचीन है, अपितु शास्त्र-

---

पुस्तक भी अविभाज्य हैं। वैजयन्ती ने इसके युक्तिपूर्वक विभाग का उल्लेख किया है—पुस्तकमपि समं विभाज्यम्। विषमं पर्यायेणाध्येतव्यम्। न तु द्वेधा कार्यं स्वरूपनाशापत्तेः (धर्मकोश २।१२०६)

कारो द्वारा वहुत प्रशसित है। वे इसे धर्म को वढाने वाला मानते हैं। गौतम सब से पुराना धर्मसूत्र लेखक है, उसने स्पष्ट शब्दो मे यह घोषणा की है कि विभाग मे धर्म की वृद्धि होती है (विभागे तु धर्मवृद्धि० २८।४)। उस ने यह नही वताया कि विभाग द्वारा धर्मवृद्धि किस प्रकार होती है; किन्तु वाद के शास्त्रकार और और टीकाकार इस पर भी प्रकाश डालते हैं।

मनु ने लिखा है—'भाई इकट्ठे होकर रहे अथवा धर्माचरण की कामना से पृथक् होकर रहे, पृथक् रहते हुए धर्म क्रियाओ की वृद्धि होती है; अत. पृथक् होना या वटवारा करना धर्मानुकूल (धर्म्य) है[15]। मेधातिथि ने इस श्लोक की टीका करते हुए धर्मवृद्धि का अभिप्राय इस तरह स्पष्ट किया है—'सयुक्त परिवार मे किसी व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक धन के व्यय का अधिकार नही होता, ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ अपने धन से ही किए जाते हैं; अत. अविभाग या सयुक्तावस्था मे इन यज्ञो के न किये जाने से धर्म की वृद्धि नहीं होती। किन्तु यदि विभाग हो जाय और सब का अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण स्वत्व हो, तो जहा पहले एक परिवार मे एक यज्ञ होता था, वहा पाच भाइयो के अलग होने पर पाच घरो में यज्ञ होगे। एक यज्ञ के स्थान पर पाच यज्ञ किये जायगे और इस प्रकार धर्म की वृद्धि होगी'। कुल्लूक के समय (११५०-१३००) तक हिन्दू समाज से अग्निष्टोम आदि वडे वडे कर्मकाण्डप्रधान यज्ञो की प्रथा उठ चुकी थी, इनके स्थान पर पञ्च महायज्ञ प्रचलित थे। अत. वह कहता है कि पहले यदि एक घर मे देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, वलिवैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ होते थे तो विभाग से वे अधिक घरो मे होने लगते है, इसलिए विभाग धर्मवृद्धि के लिए होता है[16]।

मेधातिथि ने पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या मे एक वडा मनोरञ्जक प्रश्न उठाया है। यदि वटवारे द्वारा धर्म की वृद्धि होती है तो क्या अविभाग या सयुक्त परिवार प्रथा धर्म वृद्धि मे वाधक है? ऐसा होने से अविभाग क्या अधर्म है? यदि विभाग धर्म हो तो अविभाग अधर्म होना चाहिए। किन्तु मेधातिथि सयुक्त परिवार की परिपाटी को अधर्म मानने के लिए तय्यार न था। समाज मे चिरकाल से प्रचलित व्यवस्था को नवीन तथा क्रान्तिकारी विचारो के समर्थक भले ही अधर्म कहे, किन्तु टीकाकार उसे अधर्म नही मान सकते। अतः मेधातिथि ने

---

१५. मनु० ९।१११ एवं सह वसेयुर्वा पृथग्वा धर्मकाम्यया। पृथग्विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक्क्रिया॥ कुल्लूक की टीका—यस्मात्पृथगवस्थाने सति पृथक् पृथक् पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानधर्मस्तेषां वर्धते तस्माद्विभागक्रिया धर्म्या।

विभाग को धर्म मानते हुए, अविभाग को अधर्म न मानने के लिए लम्बी चौडी युक्ति परम्परा का आश्रय लिया है[१६]। सक्षेप में उस की युक्तियों का अभिप्राय यह है—'यह ठीक है कि अविभाग में ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ नही होते, किन्तु उनके न करने से कोई अधर्म या दोप उत्पन्न नही होता; क्योकि दोष वही पैदा होता है, जहा अधिकारी एव समर्थ होते हुए भी (यज्ञो का) अनुष्ठान न किया जाय। अविभाग में परिवार की सामूहिक अग्नियों पर व्यक्ति का कोई पृथक् अधिकार नही है, अत. वे यज्ञ करने के अधिकारी नहीं हैं। अधिकारी न होने से यज्ञ न करने में कोई दोष नही है, अत. अविभाग अधर्म नही है'। वृहस्पति ने भी मनु का अनुमोदन करते हुए कहा एक पाक से (एक स्थान पर भोजन पकने के कारण संयुक्त परिवार में) रहते हुए भाइयो की पितृपूजा, देवपूजा, व ब्राह्मणो की पूजा एक ही स्थान पर होती है; किन्तु विभक्त होने पर वह पूजा घर घर होने लगती है[१७]। व्यवहारार्थ समुच्चय (पृ० १४५) में यही श्लोक देवल के नाम से उद्धृत है। गौतम, मनु, वृहस्पति, और देवल का समर्थन करते हुए व्यास कहता है कि भाईयो के विभक्त होने पर उन के धर्म की वृद्धि होती है[१८]।

धर्मशास्त्रो द्वारा प्रशसित विभाग के सम्वन्ध में यहा सामान्य सिद्धान्तो की विवेचना होगी। इसमें विभिन्न विपयो का क्रम विज्ञानेश्वर के अनुसार रखा गया है; उस ने दाय भाग की अवतरणिका मे लिखा है[१९] कि यहां इस विपय का निरूपण करना चाहिए कि किस समय, किस वस्तु का, किस प्रकार और किन व्यक्तियो द्वारा विभाग किया जाना चाहिए। यहा इसी क्रम के अनुसार क्रमशः विभाग का काल, विभाग की वस्तु, विभाग का प्रकार, तथा विभाग

---

१६. मेधा० मनु० ९।१११ स्वेच्छाविनियोज्यत्वाभावान्निरपेक्ष्य स्वद्रव्यसाध्येषु ज्योतिष्टोमादिष्वसम्भवात्तत्सिद्धयर्थोऽयं न्यायप्राप्तो विभाग उच्यते।

१७. वृह० (अप० २।११४, स्मृच २५९) एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम्। ...एकं भवेद्विभक्ताना तदेव स्यात् गृहे गृहे ॥

१८. व्यास० (अपरार्क २।११४) भ्रातृणां जीवतोः पित्रोः सहवासो विधीयते। तदभावे विभक्तानां धर्मस्तेषां विवर्धते ॥ मि० नारद दाय भाग ३७।

१९. मिता० २।११४ इदमिह निरूपणीयम्। कस्मिन्काले कस्य कथं कैश्च विभागः कर्त्तव्यः।

के अधिकारियों का तथा अन्त मे वटवारे के वाद पुनः सयुक्त होने अर्थात् ससृष्टता का वर्णन होगा।

विभाग का काल—प्राचीन सूत्र एवं स्मृतिकारो तथा टीकाकारो में वटवारे के काल के सम्वन्ध मे पर्याप्त मतभेद था। यह विविध प्रदेशो मे प्रचलित विभिन्न रिवाजो का परिणाम था, सभवत· इसीलिये एक ही शास्त्रकार अनेक प्रकार की व्यवस्थायें करता है, इन से पुत्र और पिता के वीच विभाग के अधिकार के सम्वध मे हुए सघर्प पर भी सुन्दर प्रकाश पडता है। इस विपय मे शास्त्र तीन प्रकार के कालो या अवस्थाओ का निर्देश करते हैं—(१) पिता की मृत्यु के वाद (२) पिता के जीवन काल मे उसकी इच्छा से (३) पिता के जीवित रहते हुए उस की इच्छा के विरुद्ध। पहली अवस्था मे पिता के मरने पर ही पुत्रो को विभाग का अधिकार था। दूसरी दशा मे पिता की इच्छा से तथा उस के वूढा होने पर विभाग को न्याय्य समझा गया और तीसरी अवस्था मे पुत्रो को पिता की इच्छा के विरुद्ध भी विभाग का अधिकार प्राप्त हुआ।

पहली अवस्था—यद्यपि पिता द्वारा पुत्रो में सपत्ति का वटवारा करने के संकेत हमे वैदिक काल से उपलब्ध होते हैं (ऋ० १।७०।५, तै० स० ३।१।९।४), किन्तु इसे अच्छा नही समझा जाता था। सव से पुराने धर्मसूत्रकार गौतम ने यह विधान किया था कि पुत्र पिता की मृत्यु के वाद ही पैतृक द्रव्य (रिक्थ) का विभाग करे[२०]। हारीत ने स्पष्ट शब्दो में अर्थ सम्वन्धी विषयो मे पुत्र की परतन्त्रता की घोपणा की[२१]। शख ने न केवल पिता के किन्तु माता के जीवित रहते हुए भी पुत्रो को अस्वतन्त्र माना[२२]। वह कहता है कि पिता की मृत्यु के वाद ही पैतृक सम्पत्ति (रिक्थ) का विभाग होता है, पिता के जीवित रहते हुए पुत्र रिक्थ को न वाटें[२३]। कौटिल्य ने भी इसी पक्ष की प्रवल पुष्टि की है[२३]।

---

२०. गौ० ध० २८।१ उर्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं विभजेरन्।

२१. हारीत० (दा० पृ० २३.....व्यक० पृ० १४०, स्मृच पृ० २५६) जीवति पितरि पुत्राणामर्थादाननिसर्गाक्षेपेष्वस्वातन्त्र्यम्॥ आक्षेप का अर्थ अपराध करने पर नौकरों को झिड़कना है।

२२. (अप० २।११४) अस्वतन्त्राः पितृमन्त·, मातरि अप्येवमवस्थितायाम् अतउर्ध्वं रिक्थविभागो, न जीवति पितरि पुत्रा रिक्थं विभजेरन्।

२३. कौ० ३।५ अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्।

मनु, याज्ञवल्क्य और नारद भी इस व्यवस्था का समर्थन करते है[२४]।

दूसरी अवस्था—प्राचीन सूत्रो तथा स्मृतियो द्वारा एक स्वर से अनुमोदित उपर्युक्त व्यवस्था, वैदिक काल से प्रचलित पिता के जीवित रहते हुए सम्पत्ति के विभाग की परिपाटी का अन्त नही कर सकी। वस्तुत वह प्रथा इतनी बद्ध-मूल थी कि उसे कुछ अपवादो और शर्तों के साथ उपर्युक्त शास्त्रो को स्वीकार करना पडा। प्राय सभी स्मृतिकार पिता के जीवनकाल मे उस की इच्छा से किये गये विभाग को बुरा नही मानते। पिता के अशक्त होने तथा व्याधि आदि से ग्रस्त होने पर भी विभाग की अनुमति देते है। अनेक व्यवस्थापक यह शर्त भी रखते है कि माता की रजोनिवृत्ति के बाद विभाग के होने मे कोई दोष नही है।

इसका कारण यह है कि यदि इस समय से पूर्व विभाग किया जायगा तो बाद मे नए दायाद उत्पन्न होने पर सम्पत्ति के पुर्नविभाग की आवश्यकता पडेगी, किन्तु यदि विभाग उस अवस्था मे किया जाय, जब माता की रजोनिवृत्ति से नए दायादो के जन्म की सभावना भी निवृत्त हो चुकी हो तो पुर्नविभाग की कोई आवश्यकता नही रहेगी। किन्तु इस अवस्था में यह विभाग पिता की इच्छा के विरुद्ध नही होना चाहिए।

गौतम (२८।२) पिता के जीवित रहते हुए तथा उसकी इच्छा होने पर तथा माता की रजोनिवृत्ति होने पर विभाग की अनुमति देता है[२५]। उस के समय मे पुत्र पिता की इच्छा के भी विरुद्ध विभाग कर लेते थे, इसकी सूचना इस वचन से मिलती है कि जो पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध विभाग करें, उन्हे श्राद्ध मे निमन्त्रित न किया जाय[२६]। इस से स्पष्ट है कि किस प्रकार पिता की इच्छा के विरुद्ध भी विभाग की घटनाए गौतम के समय अर्थात् ६०० ई० पू० में होती थी। उस ने इनकी निवृत्ति करनी चाही। यद्यपि वह पिता की मृत्यु के बाद विभाग के सामान्य नियम का समर्थक था, पर प्रचलित प्रथा के बल का अनुभव करते हुए पूर्वोक्त दशाओ मे उसने पिता के जीवन काल में विभाग की अनुमति प्रदान की।

---

२४. मनु ९।१०४ ऊर्ध्वं पितुश्चमातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः। याज्ञ० २।११७—विभजेरन् सुताः पित्रो-रूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्, मि० नारद १६।२।

२५. गौधर्म सूत्र २८।२ निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति।

अन्य शास्त्रकारो ने भी अपवाद रूप से कुछ विशेप अवस्थाओ में पिता के जीवन काल मे विभाग की व्यवस्था को स्वीकार किया। बौधायन (२।२।८) ने कहा कि पिता के जीवित रहते हुए भी उसकी अनुमति से दाय विभाग हो सकता है[२७]। शन्ख लिखित इसी शर्त का स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि पिता की इच्छा के विरुद्ध पैतृक सम्पत्ति का विभाग नही होता[२८]।

नारद ने पिता के जीवित रहते हुए विभाग की शर्तों का कुछ विस्तार से उल्लेख किया है 'माता की रजोनिवृत्ति होने पर, बहिनो का विवाह हो जाने पर, पिता में रमण की इच्छा समाप्त होने तथा पिता की द्रव्य विषयक इच्छा समाप्त होने पर (उपरत स्पृह) होने पर, पिता के जीवित रहते हुए विभाग हो सकता है[२९]'। इन चार शर्तों में से पहली शर्त तो पुरानी ही थी और उसका उद्देश्य ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। दूसरी शर्त का प्रयोजन यह था कि यदि बहिनो के विवाह से पहले विभाग हो जाय तो यह सम्भव है कि भाई उनका विवाह करना अपना कर्त्तव्य न समझें और उन्हे इस कारण कष्ट उठाना पड़े। तीसरी शर्त इस बात को सूचित करती है कि पिता वृद्ध होने पर तथा अपनी पत्नी के निवृत्त रजस्वला होने पर भी, कामेच्छा शान्त न होने पर नई स्त्री से विवाह कर के सन्तान उत्पन्न कर सकता है। अतः यदि पिता के कामेच्छा से निवृत्त होने से पहिले विभाग होता है तो यह सम्भावना है कि नई सन्तान हो जाने से पुनर्विभाग की आवश्यकता हो। सभवतः पुनर्विभाग के झंझट से बचने के लिए ही नारद ने यह शर्त लगाई। नारद की चौथी शर्त कुछ विचित्र है। विभाग के समय तक पिता की धन विषयक तृष्णा शान्त हो जानी चाहिए। इसका निश्चय करना बहुत कठिन है कि किसी की धन सम्बन्धी स्पृहा का अन्त हो गया है या नही। कहा जाता है कि तृष्णा व्यक्ति के जीर्ण होने पर भी तरुण ही बनी रहती है। इस अवस्था मे पिता के जीवित रहते हुए विभाग की कभी सम्भावना नही की जा सकती। कामेच्छा तथा वित्त विषयक तृष्णा का अन्त बडी कठिनता

---

२७. बौधा० सू० २।२।८ पितुरनुमत्या दायविभागः सति पितरि।

२८. (अप० २।११४, व्यक १४० स्मृच २५८, धको० २।११४७) नत्वकामे पितरि रिक्थविभागः।

२९. नारद स्मृति १६।२ मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च। निवृत्ते वाऽपि रमणे पितुर्युपरतस्पृहे॥

से होता है, अतः इन शर्तों का आशय लगभग यही था कि विभाग पिता की मृत्यु के वाद हो। यदि पिता वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो जाय तो पिछली दोनो शर्ते पूरी हो जाती थी और इस अवस्था में पिता के जीवन काल मे विभाग सम्भव था। बृहस्पति ने नारद की तरह जटिल शर्तें न रखते हुए केवल माता की रजोनिवृत्ति की ही शर्त रक्खी है[३०]।

तीसरी अवस्था—इस में पहले तो पिता की इच्छा के विरुद्ध कुछ विशेष अवस्थाओ में पुत्रो को विभाग का अधिकार दिया गया, फिर सामान्य रूप से पुत्रों को यह अविकार मिला। कई वार पिता वृद्ध रोगी अथवा विक्षिप्त चित्त हो जाने पर भी अपने अधिकारो का परित्याग करना नही चाहता, इस अवस्था में परिवार में कोई वड़ा आदमी न रहने से परस्पर कलह की पूरी सम्भावना हो सकती है, इसे दूर करने का उपाय यह है कि या तो उस परिवार का कोई नया अध्यक्ष वने, जो कलहों का निवारण करे या वे सव अलग हो जाय। पहली अवस्था में शंख लिखित ने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्व पालन का गुरुतर भार सौंपा; यदि यह सम्भव न हो तो दूसरी अवस्था में वह पिता के वृद्ध, विपरीतचेता (विक्षिप्त) या रोगी होने की अवस्था में पैतृक सम्पत्ति के विभाग की अनुमति प्रदान करता [३१]। शख लिखित का समय ३००-१०० ई० के वीच मे है। अत. यह महत्व पूर्ण परिवर्तन इसी समय के वीच में हुआ होगा।

नारद के समय (४०० ई०) तक सभवतः पिताओ द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग के उदाहरण वहुत वढ चुके थे। अत नारद ने उपर्युक्त नियमो को वहुत शिथिल किया और कहा कि रोग पीडित , गुस्सेवाज, विषयासक्त तथा शास्त्रविरुद्ध कार्य करने वाले पिता को विभाग का कोई अधिकार नही [३२]। ५वीं सदी तक ऐसे पिताओ की सख्या वहुत वढ चुकी थी और समाज पुत्रो के अविकार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर चुका था। इसी समय पिछली परम्परा के के विरोव में व्यास ने यह व्यवस्था की कि पिता के विरोधी होते हुए भी पुत्रो

---

३०. वृह० (दा० २६, व्यक० १४१) मातुर्निवृत्ते रजसि जीवतोरपि शस्यते।

को पैतृक सम्पत्ति में विभाग का अधिकार है[३३]। इस विधान द्वारा पुत्रो को को पिता के जीवन काल में निरपवाद रूप से विभाग का अधिकार प्राप्त हो गया।

टीकाकारों मे विज्ञानेश्वर ने विभाग के तीन काल माने हैं और जीमूतवाहन ने दो। पहले के मतानुसार तीन काल ये हैं—(१) पिता द्वारा बटवारे की इच्छा पर विभाग होना (२) पिता के द्रव्यनिस्पृह तथा कामेच्छा से रहित होने तथा माता के सन्तानोत्पादन की अवस्था लाघने पर पिता की इच्छा के विरुद्ध पुत्रो द्वारा बटवारा[३४] (३) पिता की मृत्यु पर बटवारा। मिताक्षरा ने दूसरे काल की पुष्टि शंख के 'अकामे पितरि रिक्थविभाग' के वचन से की, है यह जन्म द्वारा पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व मानने का स्वाभाविक परिणाम था।

जीमूतवाहन विभाग के केवल दो ही काल समझता है (१) पिता के पतित, सन्यासी अथवा मृत होने के कारण सम्पत्ति पर उसका स्वत्व नष्ट होने से पुत्रों द्वारा बंटवारा (२) पिता की इच्छा से बंटवारा[३५]। सामान्य रूप से देवल के वचन (अपरार्क २।११४) का आधार मानते हुए वह पैतृक सम्पत्ति के बटवारे का उपयुक्त समय पिता की मृत्यु के बाद ही समझता है। वह न केवल पिता के अपितु माता के जीवन काल मे भी बटवारे का विरोध करता है[३६]।

विभाज्य वस्तुयें—विभाग के सम्बन्ध दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि

---

३३. व्यास अपरार्क २।१२१ में उ०—पैतृकेण विभागार्हा: पुत्राः पितुरनिच्छतः। धर्मकोश २।११८०

३४. या० २।११४ पर मिता०—यदा पितुर्विभागेच्छा स तावदेकः कालः। अपरोऽपि जीवत्यपि पितरि द्रव्यनिःस्पृहे निवृत्तरमणे मातरि च, निवृत्तरजस्कायां पितुरनिच्छायामपि पुत्रेच्छयैव विभागो भवति।

३५. दा० १।४४ तस्मात्पतितत्वनिस्पृहत्वोपरमैः स्वत्वापगम इत्येकः कालोऽपरश्च सति स्वत्वे तदिच्छात इति कालद्वयमेव युक्तम्॥

३६. दा० पृ० ६० एकस्मिन्नपि जीवति विभागो न धर्म्यः किन्तु उभयोरभावे। मि० दायतत्व (पृ० १७०) मातरि जीवन्त्यां सोदराणां विभागो न धर्म्यः। यथा शंखलिखितौ रिक्थमूलं हि कुटुम्बमस्वतन्त्राः पितृमन्तो मातुरप्येवमवस्थितायाः।

विभाग किन वस्तुओ का होता है। शास्त्रो में विभाग योग्य (विभाज्य) व
अविभाज्य वस्तुओ का विशद वर्णन है। यहा सक्षेप से पहले विभाग योग्य अ
बाद में अविभाज्य वस्तुओ का वर्णन होगा।

दाय की निरुक्ति—विभाज्य वस्तु को दाय कहा जाता है। निघण्टु
मतानुसार बाटी जाने वाली पैतृक सम्पत्ति दाय है, नीलकण्ठ ने भी ऐसा
कहा है[३७]। मनु ने ९।१०३ में तथा नारद ने १६।१ में बटवारे के प्रक
को दायभाग का नाम दिया है। मेधातिथि और गोविन्दराज ने
९।१०३ की अपनी टीका में दाय की व्याख्या करते हुए उसे अन्वयागत
वंश परम्परा से प्राप्त धन बताया है। बृहस्पति ने दाय की निरुक्ति की है
पिता पुत्रो को जो धन देता है या पिता द्वारा पुत्रो को दिया जाने व
अपना धन[३८]। जीमूतवाहन ने इन दोनो में से दीयते वाली दूसरी व्युत्प
का समर्थन किया है (दे० ऊ० पृ० २९१) और पहली व्युत्पत्ति के प्रयोग
गौण माना है। मित्रमिश्र दाय शब्द को यौगिक न मान कर रूढ शब्द स्वीक
करता है और जीमूतवाहन की निरुक्ति ठीक नही मानता (व्यप्र० ४१२
पावटे ने इसी आधार पर दाय शब्द का मूल विस्तृत करने का अर्थ
वाली एक द्रविड धातु मानी है। किन्तु दानार्थक दा धातु से दाय का इतना स्प
सम्बन्ध है कि मित्रमिश्र के आधार पर उसे रूढ मानना तथा पावटे की कल्प
के अनुसार इसे द्रविड़ शब्द स्वीकार करना उचित नही प्रतीत होता।

दाय का लक्षण—केवल दाय शब्द की निरुक्ति के सम्बन्ध में ही मत
नही, अपितु उसके लक्षण के सम्बन्ध में भी तीन विभिन्न पक्ष पाये जाते हैं। पह
मत असहाय और विज्ञानेश्वर आदि का है। विज्ञानेश्वर कहता है कि स्वा
के साथ सम्बन्ध होने के कारण से ही जो धन किसी दूसरे की सम्पत्ति बन ज
वह दाय कहलाता है (पृ.२९१)[३९]। उदाहरणार्थ पुत्र पिता की सम्पत्ति का स्वा
इसी कारण बनता है कि पिता से उसका सम्बन्ध है, अत पिता की सम्पत्ति द
है। दूसरा पक्ष भारुचि और अपरार्क का है। वे पहले पक्ष पर दो आपत्तिया क
थे, यदि सम्बन्ध द्वारा प्राप्त सम्पत्ति दाय है तो क्रय द्वारा प्राप्त सपत्ति

---

३७. निघण्टु (स्मृच २।२५५) विभक्तव्यं पितृद्रव्यं दायमाहुर्मन
षिणः; व्यम० पृ० ९३, असंसृष्टविभजनीयं धन दायः।

३८. (सवि० ३४४) ददाति दीयते, पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनन्। तद्द

३९. पावटे—दायविभाग।

भी दाय कहना चाहिये, क्योंकि उस मे भी क्रेता और विक्रेता का सम्बन्ध होता है। किन्तु भारुचि का यह आक्षेप इसलिये ठीक नही है कि इस सम्बन्ध के अतिरिक्त यहा खरीदने वाला बेचने वाले को सम्पत्ति का मूल्य भी प्रदान करता है। दाय में मूल्य नही दिया जाता, केवल सम्बन्ध से ही स्वामित्व माना जाता है। भारुचि का दूसरा आक्षेप यह था कि यदि सम्बन्ध से ही प्राप्त होने वाली सम्पत्ति दाय है, तो स्त्रियो को भी सम्बन्ध से स्त्रीधन प्राप्त होता है, इस धन या दाय को ग्रहण करने से स्त्रिया दायाद होगी, किन्तु श्रुति कहती है कि स्त्रिया दायाद नहीं है, अतः श्रुति विरोधी होने से यह लक्षण ठीक नही है[४०]। भारुचि के ग्रन्थो के उपलब्ध न होने से हम यह नही जानते कि वह दाय का क्या लक्षण करता था। तीसरा पक्ष जीमूतवाहन का था। उसने विज्ञानेश्वर के लक्षण में कुछ अन्य शब्दो की वृद्धि की। उसका लक्षण इस प्रकार है—पहले स्वामी के साथ सम्बन्ध के कारण उसके मरने पर जिस सम्पत्ति मे स्वत्व प्राप्त होता है, उस सम्पत्ति के लिए दाय शब्द रूढ़ है[४१]। जीमूतवाहन ने पहले स्वामी के मरने का निर्देश इस लिए किया कि वह पिता के मरने पर ही पुत्र का अधिकार स्वीकार करता था। यह उसका विशेष सिद्धान्त था (दे० ऊ० पृ० २९१)

वर्तमान काल में दाय का स्वरूप—दाय चाहे उसके स्वामी के मृत होने पर प्राप्त हो या उस के जीवन काल में हो, वह दोनो अवस्थाओ मे पैतृक सम्पत्ति ही है। वर्त्तमानकाल मे न्यायालयो ने पैतृक सम्पत्ति (Ancestral Property) का यह लक्षण किया है—अपने पिता, पितामह (पिता के पिता) और प्रपितामह से प्राप्त सम्पत्ति ही दाय या पूर्वज सम्पत्ति होती है[४२]।

४०. स० वि० पृ० ३४७ असहायविज्ञानयोगिप्रभृतीनान्तु यत् स्वामि-सम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तद्दायशब्देनोच्यते इति तन्न सहन्ते भारुअपरार्कप्रभृतय :—............सत्वहेतूनां क्रयादीनां तल्लक्षणसम्भवात्। न च वाच्यमेवकारेण क्रयादयो व्युदस्यन्ते, क्रेतरि दायादो दायं गृह्णातीति लौकिक-प्रयोगाभावादिति। तर्हि स्त्रीणां दायानर्हत्वात् 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदा-यादाः' इति श्रुतेः। स्त्रीधनं दायशब्दवाच्यं न भवतीति तदुत्तरत्र स्फोर्यते।

४१. दा० ३-४ ततश्च पूर्वस्वामिसम्बन्धाधीनं तत्स्वाम्योपरमे यत्र द्रव्ये स्वत्वं तत्र निरूढो दायशब्दः।

४२. मुहम्मद हुसैन ब० किश्वा (१९३७) इं० ए० २५०, लक्ष्मी नरसम्मा ब० रामब्राह्मण इं० ला० रि० (१९५०) म० १०८४; अतरसिंह बनाम ठाकुरसिंह ३५ कल० ११३९ प्रि० कौ०।

इन सम्वन्धियो से अतिरिक्त अन्य सम्वन्धियो से प्राप्त द्रव्य व्यक्ति की पृथक् सम्पत्ति होती है। पहली सम्पत्ति को यदि उत्तराधिकार मे कोई व्यक्ति प्राप्त करता है तो उस पर उस के पुत्र, पौत्र व प्रपौत्र का सयुक्त स्वत्व पैदा हो जाता है। जव किसी व्यक्ति को अपने चाचा, भाई, भतीजो, मामा के सम्वन्धियो[४३] नाना आदि से सम्पत्ति प्राप्त हो तो उसे पैतृक सम्पत्ति या दाय नही कहा जायगा।

वंटवारे की सम्पत्ति—मिताक्षरा सम्प्रदाय मे पिता, दादा और परदादा की सम्पत्ति विभाज्य होती है[४४] क्योकि इस पर पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र को जन्म से स्वत्व प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य के मतानुसार यह संयुक्त सम्पत्ति तीन प्रकार की हो सकती है—(१) भूमि, गृहादि अचल या स्थावर सम्पत्ति (२) द्रव्य (सोना चादी आदि चल या जगम सम्पत्ति (३) निवन्ध अर्थात् एक व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति (राजादि) सस्था (निकाय, ग्रामादि से) नियतकाल पर मिलने वाली निश्चित राशि[४५]। सयुक्त सम्पत्ति में न केवल पैतृक सम्पत्ति का समावेश होता है, किन्तु कृपि वाणिज्यादि से सव सदस्यो द्वारा मिल कर वढायी गयी सम्पत्ति भी उसका अग समझी जाती है। (मनु ९।२१५, या० २।१२०)। इस प्रकार मिताक्षरा सम्प्रदाय में केवल दो प्रकार की सम्पत्ति विभाज्य है–(१) अपने जन्म के कारण पिता दादा से प्राप्त होने वाली (अप्रतिवन्ध दाय) (२) सव सदस्यो के सयुक्त प्रयत्न या घन के आघार से कमायी गयी सम्पत्ति। इस में मुख्य रूप से निम्न प्रकार की सम्पत्ति नही सम्मिलित होती (१) सप्रतिवन्व अर्थात् भाई, चाचा आदि से प्राप्त सम्पत्ति (३२ म० ८८) (२) किसी स्त्री सम्वन्धी से या उसके माध्यम से प्राप्त

---

४३. ३२ म० ८६३, सन्तू वनाम अभय सिंह (१९३१) ला० ७०८

४४. विज्ञानेश्वर (मिता० १।२२०) ने पैतृक सम्पत्ति की मर्यादा दादा तक वतायी है, पर मित्रमिश्र (व्य० प्र० ४६०) और देवण्णभट्ट (स्मृच० २।२७९) ने इसे परदादा तक माना है—अयं च पुत्राणां विभागःपुत्रपौत्र-प्रपौत्र पर्यन्तः.....पुत्रादीनां त्रयाणामेव पार्वणे पिण्डदानात्। वर्त्तमान न्यायालय पिछला मत ही मानते है, दे ऊ० टि० ४२।

४५. या० २।१२१–भूर्या पितामहोपात्ता निवन्धो द्रव्यमेव च। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्य पितुः पुत्रस्य चैव हि॥ निवन्ध के अर्थ के लिये दे० काणे-हि-घ० ३।५७५ तथा नीचे पृ०

जायदाद, जैसे पिता को परनाना से मिला द्रव्य (२९ अला० ६६७) । (३) ४ पीढी से ऊपर के पूर्वज की जायदाद (३६ व० ४२४)। (४) स्वार्जित और वैयक्तिक सम्पत्ति [४६] ।

पृथक् सम्पत्ति--संयुक्त परिवार की साझी सम्पत्ति पर स्वत्व के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी पृथक् सम्पत्ति पर भी स्वामित्व होता है। इस प्रकार की सम्पत्ति अविभाज्य होती है। इसके मुख्य भेद ये है—(१) सप्रतिवन्ध दाय—पिता, दादा या परदादा के अतिरिक्त किसी अन्य सम्वन्धी (भाई, चाचा आदि) से प्राप्त सम्पत्ति। (२) पैतृक प्रसाद अर्थात् पिता द्वारा प्रसन्नतापूर्वक पैतृक सम्पत्ति मे से स्नेहवश पुत्र को दिया हुआ कुछ भाग [४७] (३) पिता द्वारा पुत्रो को प्रीतिपूर्वक दिया हुआ धन[४८]; वर्तमान काल में वम्बई और अलाहावाद हाईकोर्टों ने ही पिता के ऐसे दान पर पुत्र का स्वत्व माना है (१० व० ५२८, ५७९)। कलकत्ता मे इसे पैतृक सम्पत्ति ही माना जाता है (१७ कल० वी० नो० २८०)। (४) मैत्र तथा औद्वाहिक—मित्रों द्वारा अथवा विवाह के समय दिये गये उपहार[४९] (५) नष्ट हुई ऐसी पैतृक सम्पत्ति जिस का उद्धार सयुक्त परिवार की साझी सम्पत्ति से न किया गया हो। (६) संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का लाभ न उठाते हुए कमायी गयी स्वार्जित सम्पत्ति तथा अपनी विद्या से कमाया हुआ द्रव्य—(विद्याधन) ।

हिन्दू परिवार में व्यक्ति को उपर्युक्त प्रकार की सम्पत्ति पर स्वामित्व वड़े लम्बे सघर्ष के बाद मिला है। प्रारम्भ मे परिवार के सव सदस्यो द्वारा कमायी सम्पत्ति पर पिता की ही प्रभुता मानी जाती थी। मनु (८।४१६) ने भार्या, पुत्र और दास को सम्पत्ति के विषय में परतन्त्र माना है और मध्यकाल में हरदत्त आदि टीकाकारो ने इसका यह अर्थ किया है कि पिता के जीवित रहते हुए पुत्र द्वारा कमाया गया धन पिता का ही होता है (अविभक्तेनार्जित पितुरेव)[५०] । सम्भवत इस के वाद दूसरी स्थिति यह थी कि पिता को पुत्र द्वारा

४६. कात्या० स्मृच० २।२७३ में–पैतामहं च पित्र्यं च यच्चान्यत्स्वयमर्जितम्। दायादानां विभागे तु सर्वमेतद्विभज्यते ॥

४७. नारद स्मृति १६।६–शौर्यभार्याधने चोभे यच्च विद्याधनं भवेत्। त्रीण्येतान्यविभाज्यानि प्रसादो यश्च पैतृकः ॥

४८. या० २।१२३–पितृभ्यां यस्य यद्दत्तं तत्तस्यैव धनं भवेत्।

४९. या० १।१८९ मैत्रमौद्वाहिकं चैव दायादानां न तद्भवेत्।

५०. हरदत्त की गौ ध० सू० २८।२९ की टीका।

कमायी सम्पत्ति में पूरा अधिकार तो न रहा, किन्तु उस में से कुछ अश उसे प्राप्त होता रहा। कात्यायन के कथनानुसार पिता पुत्र की ऐसी सम्पत्ति में दो अंश अथवा आधा हिस्सा लेता है; दाय भाग के मतानुसार पैतृक द्रव्य की सहायता से कमायी सम्पत्ति में अथवा पिता के विद्वान् होने पर पुत्र को उसे स्वार्जित द्रव्य का आधा भाग देना पडता था, अन्यथा दो अंश[५१]। किन्तु शनै शनै स्वार्जित सम्पत्ति और विद्याधन के विकास से इस स्थिति का अन्त हुआ।

अविभाज्य द्रव्य—कुछ वस्तुयें स्वरूपत. न बटने योग्य होती हैं; विभाग से निरुपयोगी हो जाती हैं। गाडी, घोडे या वस्त्र के टुकड़े करने से वे वेकार हो जाते हैं। इस प्रकार की वस्तुओ में पहने हुए गहने, बनाया हुआ भोजन, कुआ, वस्त्रादि को सूत्रकारो तथा स्मृतिकारो ने बड़े विस्तार से गिनाया है। इन्हे अविभाज्य बनाने का एक कारण तो यह था कि विभाग से इन की उपयोगिता नष्ट हो जाती थी, इनका खण्डश बटवारा सभव न था। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में यह कम दाम की वस्तुयें थी, परिवार के विभिन्न सदस्य इन का उपभोग करते थे, यदि एक सदस्य के पास एक वस्तु थी तो दूसरे के पास लगभग उसी मूल्य की अन्य कोई वस्तु होती थी, अतः इस प्रकार विभिन्न सदस्यो के स्वामित्व में रहने वाली वस्तुओ के मूल्य में संतुलन बना रहने से विभाग की आवश्यकता नही अनुभव की गयी। किन्तु जब वस्तुओ का मूल्य बढने लगा तो विभाज्य द्रव्यो में भी वृद्धि हुई। इस समय विभाग की प्रवृत्ति भी प्रबल हो रही थी। इन कारणो से अविभाज्य वस्तुओ के बटवारे के उपाय सोचे गये, बारी बारी से अपने हिस्से के अनुसार इन वस्तुओ का उपभोग करने की व्यवस्था बृहस्पति के समय (लग० ३००-५०० ई०) में प्रबल हुई।

हिन्दू परिवार में मुख्य रूप से निम्न प्रकार की वस्तुयें अविभाज्य हैं—(१) ऊपर बताये स्वरूपत. अविभाज्य द्रव्य (२) स्वार्जित सम्पत्ति, विद्याधन और दान वर्गोयन आदि में प्राप्त तथा पिता, दादा, परदादा से अतिरिक्त सवन्धियो

---

५१. दा० पृ० ४९,५२ में कात्यायन-द्वयंशहरोऽर्धहरो वा पुत्रवित्तार्जनात् पिता। मातापि पितरि प्रेते पुत्रतुल्यांशभागिनी॥ तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्धं पितुः। अनुपघाते तु पितुरंशद्वयम्। यद्वा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्धहरत्वं, विद्यादिशून्यस्य जनकतामात्रेण द्वयंशित्वम्।

से मिला धन (३) कुछ विशेष अविभाज्य जमीन्दारिया, राज और वतन, ये सब से वडे लडके को मिलती है, इन का १४वे अध्याय मे वर्णन होगा। शेष प्रकारो के अविभाज्य द्रव्यो का यथाक्रम प्रतिपादन निम्न है।

धर्मसूत्रकारो मे सर्वप्रथम गौतम[५२] ने स्वरूपत अविभाज्य वस्तुओं में कुए (उदक), योगक्षेम[५३] और उत्सवादि के समय वनाये अन्न तथा स्त्रियो का उल्लेख किया है। स्त्रियो का अभिप्राय परिवार के सदस्यो द्वारा दासी (रखैल) बना कर रखी हुई स्त्रियो से है। शख ने इसमे निम्न वस्तुओ की वृद्धि की है– घर (वास्तु), पानी भरने का लोहे का वडा वर्तन (उदपात्र), (शरीर पर धारण किये) आभूषण, स्त्रियो के पहने हुए कपडे, पानी के रास्ते[५४]। मनु (९।११९) और विष्णु (१८।४४) इस मे घोडा, गाडी, प्रचार अर्थात् गोचर भूमि को और वढ़ाते है[५५]। कात्यायन ने उपर्युक्त सूची में निम्न वस्तुयें और वढायी है—(धर्म-

---

५२. गौतम ध०सू० २८।४७-४८—उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः। स्त्रीषु च संयुक्तासु। दे० गौतम की मिताक्षरा टीका—याश्च स्त्रियो दास्यो भ्रात्रादिषु केनचित्संयुक्ता उपभोगपरिगृहीतास्तास्तस्यैव।

५३. योगक्षेम शब्द (मनु० ९।२१९) विष्णु० (१८।४४) में भी आते है। इनके अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारो में निम्न मत है—(१) लौगाक्षि (गौमि० २८।४७) के मत में योग पूर्त्त अर्थात् वापी, कूपादि के बनवाने के लिये और क्षेम श्रौत यज्ञों के निमित्त अलग रखा गया धन है (योगः पूर्त्तं क्षेम इष्टा इत्याहुस्तत्त्वदर्शिनः। अविभाज्ये तु ते प्रोक्ते शयनं चान्नमेव च) (२) विज्ञानेश्वर ने (या० २।११९ की टीका में) प्रजा का कल्याण करने वाले मंत्री, पुरोहितादि को योग और छत्र, चंवर, शस्त्र, जूता आदि जीवन को सुखी बनाने के साधनों को क्षेम माना है। छत्रादि का विभाग नहीं होता (३) विवाद रत्नाकर (पृ० ५०४) ने योग पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त धन को और राजा से मिलने वाली वृत्ति को क्षेम वताया है (४) हलायुध नदी के विभिन्न प्रदेशों को जोड़ने वाली नोका को योग और कल्याण का हेतु होने से दुर्ग को क्षेम कहता है (विर० ५०४)। (ङ) देवण्ण भट्ट नेइसे धनी व्यक्ति से निर्वाह के लिये ब्राह्मण को मिलने वाली वृत्ति वताया है (स्मृच० २।२७७)।

५४. (अप० २।११९) न वास्तुविभागो नोदकपात्रालंकारोपयुक्त-स्त्रीवाससाम्। अपां प्रचाररथ्यानां विभागश्चेति प्रजापतिः॥

५५. मनु० ९।२१९—वस्त्रं पत्रमलंकारं कृतान्नमुदकं स्त्रियः। योगक्षेम-

कोश ख० २ पृ० १२२८) दस्तावेज में चढाया हुआ धन (पत्रनिविष्ट धन), पूजादि धार्मिक कार्य के लिये अलग रखी वस्तुयें, निबन्ध (निश्चित समय पर कहीं से मिलने वाली निर्धारित राशि)। उशना द्वारा निर्दिष्ट (दे० ऊ० पृ० ३४०) अविभाज्य वस्तुओ में याज्य और क्षेत्र ही नवीन हैं। दायभाग के मतानुसार याज्य का अर्थ यज्ञस्थान, मन्दिर अथवा मूर्त्ति है। क्षेत्र की चार व्याख्यायें की गयी हैं—नीलकण्ठ के मतानुसार क्षेत्र तथा वास्तु (घर) के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) धार्मिक कार्य के लिये प्रयोग में आने वाली भूमि, इमारत और गोचर भूमि (२) ब्राह्मण द्वारा दान में प्राप्त की भूमि या घर, यह उसकी क्षत्रिया पत्नी के पुत्र को नहीं मिल सकता (३) भूमि अथवा घर के कम दाम वाला होने पर, उसका नहीं, किन्तु उस की कीमत का बटवारा होता है। चौथी व्याख्या जीमूतवाहन की है—पिता के जीवित रहते हुए पुत्र द्वारा पारिवारिक भूमि पर बनवाया मकान या बगीचा भाइयो में विभाज्य न होकर, उसके निर्माता को प्राप्त होता है[५६]।

बृहस्पति ने उपर्युक्त अविभाज्य वस्तुओ का भी युक्ति पूर्वक विभाग करने का परामर्श दिया[५७]। यह संभवत. उस के समय अर्थात् ३००-५०० ई० के

प्रचारं च न विभाज्यं प्रचक्षते ॥ पत्र का अर्थ प्रायः सभी टीकाकारों ने गाड़ी, घोड़ा ही किया है—जैसे मेधातिथि-पत्रं वाहनं गन्त्री शकटादि, मिता० २।११९ पत्रं वाहनमश्वशिविकादि। प्रचार का अर्थ मेधा० ने गोचरभूमि किया है—प्रचारं यत्र गावश्चरन्ति, मिताक्षरा के मत में यह प्रवेश निर्गम मार्ग है। वैजयन्तीकार पत्र को कर्ज का दस्तावेज भी मानता है।

५६. व्यम० पृ० १३०—वास्तुक्षेत्रयोरविभाज्यत्वमाहुस्तद्धर्मवास्तु गोप्रचारक्षेत्रादिपरम्। प्रतिग्रहोपात्तयोस्तयोः क्षत्रियादिविभागप्रतिषेधपरं पूर्वोक्तनिषेधात्। अल्पमूल्ययोर्मूल्येन विभागो न स्वरूपतः इत्येवं परं वा। दाय-भाग पृ० १२३—पितरि जीवति यस्मिन्वास्तौ येन गृहोद्यानादिकं कृतं तत्तस्याविभाज्यं पितुरप्रतिषेधेनानुमतत्वात्।

५७. (अप० २।११९) वस्त्रादयोऽविभाज्या यैरुक्तं तैर्न विचारितम्। धनं भवेत्समृद्धानां वस्त्रालंकारसंश्रितम् ॥ नव्यस्थितमनाजीव्यं दातुं नैकस्य शक्यते। युक्त्या विभजनीयं तदन्ययानर्थकं भवेत् ॥ विक्रीय वस्त्राभरणमृणमुद्-ग्राह्य लेखितम्। कृतान्नं चाकृतान्नेन परिवर्त्य विभज्यते ॥ उद्धृत्य कूपवाप्यम्भ-स्त्वनुसारेण गृह्यते। यथाभागानुसारेण सेतुः क्षेत्रं विभज्यते ॥ एकां स्त्रीं कार-

बीच में प्रवल होने वाले वैयक्तिक स्वत्व और विभाग की प्रवृत्ति को सूचित करता है। वह अपनी व्यवस्था का आरम्भ इस उक्ति के साथ करता है-- "वस्त्रादि को अविभाज्य कहने वालों (मनु, विष्णु आदि) ने ठीक विचार नही किया है; क्योंकि धनी व्यक्तियो की सम्पत्ति उनके बहुमूल्य वस्त्रो तथा अलकारो मे निहित होती है। यदि इन (कपडो और जेवरो) को संयुक्त सम्पत्ति वनाया जाय तो गुजारा नही चल सकता, एक ही व्यक्ति को ये वस्तुये दी नही जा सकती, अतः इन का युक्तिपूर्वक विभाग करना चाहिये, अन्यथा वे निरर्थक हो जायगी। वस्त्र और अलकार को .बेचकर (प्राप्त धन का विभाग करना चाहिये), कर्ज को वसूली के वाद वाटना उचित है (न कि ऋणपत्र के टुकडे कर के), पकाये हुए भोजन का न बनाये कच्चे अन्न से विभाग उचित है। कुए, वावडी, पानी की नाली (सेतु), खेत का अपने हिस्से के अनुसार उपयोग विभाग है। यदि एक काम करने वाली दासी हो तो अपने अशानुसार वारी वारी से विभिन्न घरो में उससे काम कराया जाय,, वहुत दासिया होने पर उन का वरावर अशो मे बटवारा उचित है। दासो के सम्वन्ध मे यही विधि है। योगक्षेम से होने वाले लाभ को तुल्य रूप से और प्रचार (गोचर भूमि या रास्तो) को अपने भाग के अनुसार बाटना चाहिये।" कात्यायन ने लगभग बृहस्पति का समर्थन किया; घर, खेत, पशु, घर का सामान (ओखली आदि) भारादि वहन करने वाले बैल, घोड़ा आदि पशु (वाह्य), दुधार पशु (दोह्य) आभूषण और मजदूरो का भी वटवारा करने को कहा[५८]।

व्यष्टिवाद की प्रवृत्ति अधिक प्रवल होने पर वृहस्पति के युक्तिपूर्वक विभाग का आधुनिक न्यायालयो ने पूरा अनुसरण किया है। बम्वई हाईकोर्ट ने पारिवारिक मूर्त्तियो तथा पूजास्थानो के वारे में यह निर्णय दिया है कि सम्पत्ति में अपने हिस्से के अनुसार, परिवार के विभिन्न सदस्य इन्हे वारी वारी से रख सकेंगे (आ० इ० रि० १९३७ ब० २०२); जहा मूर्त्ति को पूजने का सब सदस्यो को संयुक्त अधिकार था, वहा विभक्त होने पर, उन्हे वारी वारी से पूजा का अधिकार दिया गया है (१४ वगाल ला रि० १६६)।

येत्कर्म यथांशेन गृहे गृहे। बह्व्यः समांशतो देया दासानामप्ययं विधिः ॥ योगक्षेमवतो लाभः समत्वेन विभज्यते। प्रचारश्च यथांशेन कर्त्तव्यः ऋक्थिभिः सदा॥

५८. (स्मृच २७३) दृश्यमानं विभज्येत गृहं क्षेत्रं चतुष्पदम्। गृहोपस्करवाह्याश्च दोह्याभरणकर्मिणः॥

शास्त्रकार विनष्ट पैतृक सम्पत्ति का अपने प्रयत्न द्वारा उद्धार करने वाले को उस सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वत्व प्रदान करते हैं (मनु ९।२०९, विष्णु १८।४३)। यह चल, अचल दोनो प्रकार की हो सकती है। मिताक्षरा ने शंख के एक वचन के आधार पर पिता द्वारा भूसम्पत्ति का उद्धार करने पर, उसे चौथा हिस्सा ही प्रदान किया है[५९]; किन्तु कात्यायन और बृहस्पति पिता को चल अचल सब तरह की उद्धार की हुई सारी सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्रदान करते हैं[६०]।

स्वार्जित सम्पत्ति

उपर्युक्त वस्तुओ को अविभाज्य बनाने के अतिरिक्त वैयक्तिक परिश्रम और योग्यता से उपार्जित सम्पत्ति को भी अविभाज्य माना गया। इसे दो मुख्य भागो मे बाटा जा सकता है—(१) विद्याधन (२) अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति। इन में विद्याधन का विशेष महत्व है। पहले स्वयमुपार्जित द्रव्य का यही रूप स्वीकार किया गया। बाद में इसके आधार पर वैयक्तिक श्रम से उपार्जित अन्य प्रकार की सम्पत्ति भी अविभाज्य मानी गयी। यहा पहले विद्याधन तथा बाद मे अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति के विकास का वर्णन किया जायगा।

विद्याधन का विकास—गौतम ने सर्वप्रथम छठी शती ई० पू० में विद्याधन के रूप मे स्वार्जित सम्पत्ति को स्वीकार किया[६१] (२८।३१-३२)। विष्णु (१८।४२-४३), कौटिल्य (३।५) मनु (९।२०६, २०८-९), याज्ञवल्क्य (२।११८-९), नारद (१६।७) बृहस्पति (स्मृच० २७६) ने विद्याधन की विविध व्याख्यायें की, कात्यायन (स्मृच० २६४) ने इसके स्वरूप का अन्य सब स्मृतिकारो की अपेक्षा अधिक विस्तार से प्रतिपादन किया। टीका-कारों मे विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य की उदार व्यवस्था को सकुचित बनाया, पर जीमूतवाहन ने इस की उदार व्याख्या की। वर्तमान काल में न्यायालयो ने प्रारम्भ मे विज्ञानेश्वर की सकीर्ण व्याख्या स्वीकार की, कुछ हाईकोर्टों ने यद्यपि इसका

---

५९. याज्ञ० २।११९ में मिता० में उ०—पूर्वनष्टां तु यो भूमिमेकश्चेदुद्धरे-च्छ्रमात्। यथा भागं भजन्त्यन्ये दत्वांशं तुरीयकम्॥

६०. कात्या० (अप० २।१२१)—स्वशक्त्यापहृतं नष्टं स्वयमाप्तं च यद्-भवेत्। एतत्सर्वं पिता पुत्रैर्विभागे नैव दाप्यते॥

६१. गौधसू० २८।३१—स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात्।

उदार अर्थ किया, तथापि प्रिवी कौन्सिल द्वारा अन्त मे संकुचित अर्थ ही ठीक ठहराया गया। इससे बहुत कठिनाई उत्पन्न हुई और इसे दूर करने के लिये १९३० का हिन्दू विद्याधन कानून (हिन्दू गेन्ज आफ लर्निंग एक्ट) बनाया गया। इस प्रकार गौतम की पहली व्यवस्था के २५०० वर्ष वाद विद्याधन पूर्ण एव असदिग्ध रूप से स्वार्जित सम्पत्ति बना।

विद्यावन के अतिरिक्त अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति के क्किास में **तीन अवस्थायें** दृष्टिगोचर होती हैं। **पहली अवस्था** मे कमाने वाले को अपने वैयक्तिक परिश्रम से अर्जित सम्पत्ति परिवार को देनी पडती थी। मनु की पहले उद्धृत की गयी पुत्र को आर्थिक विषय मे परतन्त्र बनाने की व्यवस्था (८।४१६; पृ० ३२७)सभवत इस अवस्था का सकेत करती है। **दूसरी अवस्था** मे आशिक रूप से स्वार्जित सम्पत्ति पर स्वत्व मिलने लगा। वसिष्ठ (१७।४५) ने स्वयमुत्पादित सम्पत्ति मे से कमाने वाले को दो अश देने का विधान किया है। **तीसरी अवस्था** में उसको पूरी स्वार्जित सम्पत्ति पर एक शर्त्त के साथ स्वामित्व दिया गया। यह शर्त्त थी—पैतृक सम्पत्ति का अनुपघात अर्थात् सयुक्त सम्पत्ति को किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाना। सभी स्मृतिकारो ने इस शर्त्त का उल्लेख किया है और इसकी उदार अथवा सकीर्ण व्याख्या से स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र विस्तृत और सकुचित होता रहा है। १९३० के उपर्युक्त कानून द्वारा पैतृक सम्पत्ति को क्षति न पहुँचाने (अनुपघात) वाली शर्त्त को विद्याधन के सम्वन्ध मे दूर किया गया और अब ऐसी सम्पत्ति पर कमाने वाले का निर्बाध अधिकार हो गया है। यहा विद्याधन तथा अन्य प्रकार की स्वार्जित सम्पत्ति पर शास्त्रकारो की व्यवस्थाओ का काल क्रम से निर्देश किया जायगा।

सूत्रकारो मे गौतम द्वारा विद्यावन को अविभाज्य वनाने तथा वसिष्ठ द्वारा कमाने वाले को स्वार्जित सम्पत्ति में दो हिस्से देने की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है (पृ० ३४३) । ४ थी शताब्दी ई० पू० मे सर्व प्रथम[६२] कौटिल्य ने स्वार्जित सम्पत्ति के उस प्रतिवन्ध का उल्लेख किया, जो अगली तेईस शताब्दियो

---

६२. इस शर्त्त का उल्लेख विष्णु ने १८।४२ में इस प्रकार किया है—अनुपघ्नन् पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत्। विष्णु यद्यपि प्राचीन सूत्रकार है, किन्तु उसके श्लोकबद्ध अंश की रचना कौटिल्य के अर्थशास्त्र से काफी अर्वाचीन है (काणे हि० ध० १ ला खण्ड)।

तक इसे मर्यादित करता रहा। उसके शब्दो में 'पितृद्रव्य की सहायता से न प्राप्त किये गये साधनो से, स्वय (अपने श्रम से) उपार्जित सम्पत्ति अविभाज्य होती है[६३]। शख ने सम्भवत. इसी युग में स्वार्जित द्रव्य के एक अन्य क्षेत्र मे उपार्जक का आशिक अधिकार स्वीकार किया। 'यदि कोई अपने कुल की छीनी हुई (नष्ट) भूमि का अपनी शक्ति से उद्धार करता है तो उस का चौथाई भाग उद्धार करने वाले को मिलता है'। परवर्त्ती काल में कात्यायन और वृहस्पति ने ऐसी सम्पत्ति पर उसे पूर्ण स्वामित्व प्रदान किया (दे० ऊ० पृ० ३६०)।

मनु ने स्वार्जित सम्पत्ति के प्रकारो का पिछले सूत्रकारो की अपेक्षा अधिक विस्तार से उल्लेख किया है। ९।२०६ में वह विद्याधन के अतिरिक्त स्वार्जित सम्पत्ति के निम्न तीन भेदो का उल्लेख करता है—(१) मित्रो से प्राप्त धन (मैत्र)। (१) विवाह में श्वशुर आदि से मिला धन (औद्वाहिक)। (३) मधुपर्क में (ऋषि आदि के अतिथि होने पर दे० मनु० ३।११९-२०) मिला हुआ धन, चारो प्रकार की सम्पत्ति अविभाज्य होती है[६४]। उस ने विद्याधन का स्वरूप नही स्पष्ट किया, किन्तु उसका टीकाकार मेधातिथि (९।२०६) कहता है कि विद्या के दो अर्थ हैं—अध्ययनादि कर्म (२) शिल्प (कारीगरी)। मनु का स्वार्जित सम्पत्ति का लक्षण पिछले सूत्रकारो की व्याख्या से मिलता है। वह अपने श्रम से और पितृ द्रव्य को क्षति न पहुँचाते हुए कमायी गयी सम्पत्ति को स्वार्जित कहता है[६५]। ९।२०५ में मनु कहता है कि अविद्या अर्थात् कृषि व्यापार गोपालन, नौकरी (मेधातिथि) आदि से कमाई करने वाले भाइयो के धन का बंटवारा समान रूप से होना है[६६]। पैतृक सम्पत्ति

---

६३. अर्थशास्त्र ३।५—स्वयमर्जितमविभाज्यमन्यत्र पितृद्रव्यादुत्थितेभ्यः।

६४. मनु० ९।२०६—विद्याधनं तु यद्यस्य तत्तस्यैव धनं भवेत्। मैत्रमौद्वाहिकं चैव माधुपर्किकमेव च ॥

६५. वही ९।२०८—अनुपघ्नन्पितृद्रव्यं श्रमेण यदुपार्जयेत्। स्वयमीहितलब्धं च तन्नाकामो दातुमर्हति ॥ अपरार्क के मतानुसार श्रम का अर्थ है—युद्ध, कृषि आदि कार्य।

६६. वही ९।२०५—अविद्यानां तु सर्वेषामीहातश्चेद्धनं भवेत्। समस्तत्र विभागः स्यादपित्र्यः इति धारणा। मि० गौ० ध० सू० २८।३२, अवैद्याः समं विभजेरन्।

का उद्धार करने वाले को शंख ने चौथा भाग देने की व्यवस्था की थी, मनु ने इस पर कमाने वाले का पूरा अधिकार माना[६७]।

याज्ञवल्क्य स्मृति (२।११८-१९) में मनु से लगभग मिलती जुलती व्यवस्था का उल्लेख है। 'पिता के द्रव्य को क्षति पहुँचाये विना कमाया गया द्रव्य स्वार्जित है।' इस सामान्य लक्षण के बाद इसके भेदो को गिनाया गया है। इनमें मनु की व्यवस्था से यह अन्तर है कि याज्ञ० मधुपर्क वाले धन को अलग नही गिनता। यह अतिथि रूप में घर में आये यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण और वेद के विद्वान् को मिला करता था[६८]; अत. सभवत· याज्ञवल्क्य इसे विद्या धन के अन्तर्गत समझता है। मेधातिथि ने अपनी मनु टीका (९।२०६) मे मनु द्वारा माधुपार्किक के पृथक् उल्लेख की बडी वकालत की है। विद्याधन के अतिरिक्त स्वार्जित सम्पत्ति के मनु ने तीन प्रकार वताये थे, याज्ञवल्क्य इन मे से मैत्र और औद्वाहिक को यथापूर्व रखते हुए माधुपार्किक के स्थान पर कुल की नष्ट हुई सम्पत्ति के उद्धार उद्धार का उल्लेख करता है। इसे मनु ने पृथक् रूप से वताया था। अतः यह स्पष्ट है कि मनु की तथा याज्ञ० की व्यवस्था में विशेष अन्तर नही है।

नारद (१६।६, ७-११) ने विद्याधन के अतिरिक्त अविभाज्य स्वार्जित सम्पत्ति के निम्नभेद वताये—शौर्यधन, भार्याधन, माता से प्रीति पूर्वक दिया गया धन। इन मे भार्याधन तो मनु तथा याज्ञवल्क्य के औद्वाहिक धन से मिलता है। शौर्यधन का उल्लेख नवीन है और इस का अर्थ है—युद्ध आदि मे वीरता से प्राप्त की हुई सम्पत्ति। विद्याधन के सम्वन्ध में उसने लिखा है—'यदि विद्या उपार्जन करते समय, किसी भाई के कुटम्व का भरण पोषण दूसरा भाई करता है तो वह अविद्वान् होता हुआ भी विद्याधन मे से कुछ भाग प्राप्त करता है[६९]', गौतम आदि पुराने सूत्रकारो ने विद्याधन के सम्वन्ध में विशेष रूप से ऐसे किसी प्रतिबन्ध का उल्लेख नही किया था, नारद इस का वर्णन करने वाला पहला स्मृतिकार है। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति की सकीर्ण व्याख्या में नारद के इस

---

६७. वही ९।२०९—पैतृकं तु पिता द्रव्यमनवाप्तं यदाप्नुयात्। न तत्पुत्रैर्भजेत्सार्धमकामः स्वयमर्जितम्॥

६८. मधुपर्क के लिये दे० गौ० ध० सू० ५।२५-२७, मनु० ३।११९-२०

६९. ना स्मृ० १६।१०—कुटुम्वं विभृयाद् भ्रातुर्यो विद्यामधिगच्छतः। भागं विद्याधनात्तस्मात्स लभेताश्रुतोऽपि सन्॥

वचन को आधार बनाया है (मिता० २।११८-१९)। नारद ने अन्य भाइयों द्वारा विद्याभ्यासी भाई के कुटुम्ब पालन की दशा मे ही भाइयो का स्वत्व उसकी कमाई पर माना था, किन्तु बाद मे इस नियम को संयुक्त परिवार के व्यय से पलने वाले विद्याभ्यासी भाइयों पर सामान्य रूप से लागू किया जाने लगा और स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र संकुचित हो गया।

बृहस्पति ने पितृदत्त, विद्या, शौर्य और भार्या धनो का उल्लेख किया (स्मृच पृ० २७६, स्मृचि ३०-३१)। इनमें कोई नवीनता नही है।

कात्यायन ने अन्य स्मृतिकारो की अपेक्षा अधिक विशदता और स्पष्टता के साथ स्वार्जित सम्पत्ति के भेदो का प्रतिपादन किया। सर्वप्रथम उस ने विद्याधन का यह लक्षण किया[७०]—'जो विद्या (अपने माता पिता आदि संबन्धियो से भिन्न) किसी दूसरे व्यक्ति के अन्न द्वारा पोषण पाते हुए या (माता पिता के कुल से भिन्न) किसी दूसरे स्थान पर प्राप्त की जाती है, उससे प्राप्त द्रव्य विद्या धन होता है', (मिता० २।११९)। उसके मतानुसार विद्याधन के नौ मुख्य प्रकार हैं—(१) 'यदि आप मेरी यह जटिल समस्या हल कर देंगे तो मैं आपको इस के बदले इतना धन दूंगा,—इस प्रकार की शर्त्त होने पर अपनी विद्या द्वारा दूसरे की जटिल समस्या को हल करके प्राप्त किया जाने वाला धन (२) अपने शिष्य से मिला द्रव्य (३) पुरोहित बनने से प्राप्त हुई दक्षिणा (४) शर्त्त न होने पर भी किसी प्रश्न के निर्णय से प्रसन्न व्यक्ति द्वारा दी सम्पत्ति (५) शास्त्र के अर्थ में संदेह उत्पन्न होने पर, उसके निवारण से अथवा वादी-प्रतिवादी के बीच मे न्याय करने से मिला धन (६) अपने विशेष शास्त्रीय ज्ञान के कारण मिली हुई विशिष्ट दक्षिणा (७) शास्त्र या विज्ञान के विवाद मे जीता हुआ इनाम (८) किसी शास्त्रीय विषय की प्रतियोगिता में अनेक प्रतिद्वन्द्वियो के होते हुए भी अपने प्रकृष्ट अध्ययन से जीता हुआ धन (९) शिल्पो (चित्रकारी, सोने का काम आदि) से प्राप्त द्रव्य[७१]। कात्यायन को इस बात का

---

७०. (मिता० २।११९) परभक्तोपयोगेन विद्या प्राप्ताऽन्यतस्तु यत्। तया लब्धं धनं यत्तु विद्याप्राप्तं तदुच्यते ॥

७१. (अपरार्क० २।११९, स्मृच० २७४) उपन्यस्ते तु यल्लब्धं विद्यया पणपूर्वकम्। विद्याधनं तु तद्विद्यात् विभागे न विभज्यते ॥ शिष्यादार्त्विज्यतः प्रश्नात् संदिग्धप्रश्ननिर्णयात्। स्वज्ञानशंसनाद्वादाल्लब्धं प्राध्ययनाच्च यत् ॥ विद्याधनं तु तत्प्राहुर्विभागे न विभज्यते। शिल्पेष्वपि हि धर्मोऽयं मूल्याद्यच्चाधिकं भवेत् ॥

अवश्य श्रेय है कि उसने विद्याधन के भेदो को विस्तार से बताया; किन्तु उसका विद्याधन का उपर्युक्त लक्षण इतना सकुचित था कि उस से बहुत थोड़े व्यक्ति विद्याधन पर स्वत्व पा सकते थे, क्योकि बहुत कम व्यक्ति दूसरे के अन्न से पोषण पाते हुए विद्याभ्यास करते हैं।

कात्यायन ने शौर्य धन का भी अधिक विस्तार से उल्लेख किया है (अप० २।११९) —"सशय मे पडने पर यदि वह कोई काम हिम्मत से करता है और उस का स्वामी उसके कार्य से प्रसन्न हो जाता है तो इस प्रसन्नता तथा शौर्य से प्राप्त धन उसी का होता है। इसी धन का एक भेद ध्वजाहृत भी है"। यह सग्राम मे शत्रुओ की सेना को भगा कर और स्वामी के लिये प्राणत्याग कर प्राप्त की जाने वाली सम्पत्ति है[७२]। इनके अतिरिक्त कात्यायन ने वैवाहिक धन (अप० २।११८) और स्त्री धन (स्मृच २७६) के अविभाग का उल्लेख किया है। स्मृति चन्द्रिका (पृ० २७५) में उसका विद्वान् भाइयो में शौर्य धन के बंटवारा करने का वचन भी मिलता है।

व्यास ने (स्मृच २७४-७६, धर्म कोश ख०२, पृ०१२३१) ने विद्याधन, शौर्य-धन, स्त्रीधन, पितृदत्त धन के सम्बन्ध मे पुरानी व्याख्यायें दोहरायी है, किन्तु शौर्यधन के विषय में उस ने एक नये प्रतिबन्ध का उल्लेख किया है। कात्यायन ने विद्याधन के सम्बन्ध में पिता की सपत्ति के उपयोग की शर्त्त लगाकर उस का क्षेत्र संकुचित किया था, व्यास ने इसी प्रकार एक अन्य प्रतिबन्ध से शौर्यधन को मर्यादित कर दिया। 'यदि (सग्राम में परिवार की सयुक्त सम्पत्ति के) किसी वाहन (घोडा, रथ तथा शस्त्र आदि की सहायता लेकर) शौर्यादि से कोई व्यक्ति कुछ धन प्राप्त करता है तो उसके भाई भी इसमे भागीदार होते हैं; कमाने वाले को दो हिस्से देने चाहियें और शेष भाई समान अंश ग्रहण करने वाले होते हैं"[७३]। इस का अर्थ यह हुआ कि अविभक्त परिवार में घर की तलवार लेकर लडने वाले को युद्ध मे प्राप्त की सम्पत्ति का अधिकाश भाग भाइयो को सौंप देनाचाहिये,

---

७२. (अप० २।११९) आरुह्य संशयं यत्र प्रसभं कर्म कुर्वते। तस्मिन्कर्मणि तुष्टेन प्रसादः स्वामिना कृतः॥ तत्र लब्धं तु यत्किंचित् धनं शौर्येण तद्भवेत्। ध्वजाहृतं भवेद्यत्तु विभाज्यं नैव तत्स्मृतम्॥ संग्रामादाहृतं यत्तु विद्राव्य द्विषतां बलम्। स्वाम्यर्थे जीवितं त्यक्त्वा तद्ध्वजाहृतमुच्यते॥

७३. वहीं २।११९—साधारणं समाश्रित्य यत्किंचिद्वाहनायुधम्। शौर्यादिनाप्नोति धनं भ्रातरस्तत्र भागिनः। तस्य भागद्वयं देयं शेषास्तु समभागिनः॥

क्योकि उस ने अपने कुटुम्ब की तलवार का प्रयोग किया है । इस बात का कोई महत्व नही था कि उसने अपने प्राण संकट में डाले, अपने कौशल से शत्रु दल को परास्त किया; पर सारा महत्व इस बात का था कि तलवार उसकी अपनी थी या घर की । स्वार्जित सम्पत्ति की व्यवस्था समाज में सर्वमान्य हो चुकी थी, उस का अपलाप असम्भव था, किन्तु उसे नापसन्द करने वाले शास्त्रकार ऐसे प्रतिबन्धो से उसे अन्यथासिद्ध कर रहे थे । ऊपर वसिष्ठ की स्वार्जित सम्पत्ति में कमाने वाले को दो अश देने की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है (पृ० ३४३), अब व्यास ने वही विधान शौर्य धन के सम्बन्ध में किया ।

ऐसी संकुचित व्यवस्थाओ का प्रधान कारण सयुक्त परिवार प्रथा को अक्षुण्ण बनाये रखने की भावना थी । पहले यह बताया जा चुका है कि नारद के समय (लग० १००-४०० ई०) तक विभाग की व्यवस्था का प्रचलन काफी बढ़ चुका था । उस समय पहले नारद ने और बाद में कात्यायन ने परिवार से भरण पोषण पाने की शर्त्त लगाकर विद्याधन का क्षत्र नामशेष कर दिया[७४]। इसके अनुसार केवल ऐसे अनाथ बच्चे विद्याधन के अधिकारी हो सकते थे, जो स्वय अपने व्यय की व्यवस्था करते हों । व्यास ने शौर्य धन को इसी प्रकार मर्यादित किया । स्वार्जित सपत्ति का अर्थ वैयक्तिक सम्पत्ति थी, इस के विस्तार से सयुक्त परिवार के विघटन की आशका थी । आज कल स्वार्जित सपत्ति इस में बहुत सहायक सिद्ध हो रही है, उस समय भी सभवत: ऐसा हुआ होगा; अत: स्वार्जित सम्पत्ति के विभिन्न भेदो के सम्बन्ध मे अब यह शर्त लगायी जाने लगी कि पारिवारिक सम्पत्ति का उन में कोई उपयोग नही होना चाहिये ।

टीकाकार और स्वार्जित सम्पत्ति—मध्यकालीन टीका एव निबन्ध लेखको के सामने स्मृतिकारों की स्वयं कमाये धन के विषय में विभिन्न व्यवस्थायें थी; एक ओर इसकी याज्ञवल्क्य द्वारा की गयी उदार व्याख्या थी और दूसरी ओर कात्यायन और व्यास के संकुचित लक्षण । इन्होंने अपने प्रदेश में प्रचलित रिवाजो के अनुसार जिस पक्ष को अपनी दृष्टि से समयोपयोगी और लोकानुकूल समझा,

---

७४. इस शर्त्त को लगाने का एक कारण भाइयों की ईर्ष्या भी हो सकती है । शायद इसीलिये कात्यायन ने विद्याधन का समान अथवा अधिक विद्या रखने वाले भाइयो में बंटवारा करने को कहा है—नाविद्यानां तु वैद्येन देयं विद्याधनात्क्वचित् । समविद्याधिकानां तु देयं वैद्येन तद्धनम् ॥ दा० पृ० १०८ में उद्धृत ।

उपर्युक्त वचनो की उस पक्ष के अनुसार व्याख्या की। यहां केवल श्रीकर, विज्ञानेश्वर और जीमूतवाहन के मतो का ही निर्देश किया जायगा।

श्रीकर (लग० ८००-१०५० ई०) के ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नही होते किन्तु जीमूतवाहन ने दायभाग में नामोल्लेख पूर्वक[७५] उसके मत का जिस प्रकार प्रबल खण्डन किया है, उससे प्रतीत होता है कि उस का पक्ष वहुत महत्व रखता था (दा० पृ० ११४-२१, १२३-२५)। दायभाग की आलोचना से यह स्पष्ट है कि श्रीकर किसी व्यक्ति के एक परिवार मे पलने पाने पर, उसके विद्याधन पर उस परिवार का अधिकार मानता है। दा० पृ० १२३-२५ से यह भी ज्ञात होता है कि इसे संकुचित बनाने का एक यह भी रूप था कि विद्याधन का अर्थ विद्या के पढ़ाने से मिला धन ही किया जाय, इससे यज्ञ करने से मिली दक्षिणा आदि के ऊपर कात्यायन द्वारा बताये गये (पृ० ३६४) विद्याधन के अनेक भेद बिल्कुल निरर्थक हो जाते थे; इस से अध्यापन से प्राप्त धन के अतिरिक्त सारा धन विभाज्य हो गया। दायभाग ने इस मत की कडी आलोचना की।

विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य की स्वार्जित सम्पत्ति की उदार व्यवस्था को अपने व्याख्या कौशल से सकुचित बनाया। याज्ञ० ने २।११८ में पितृद्रव्य के अविरोध (अक्षति) से कमायी सम्पत्ति को स्वार्जित कहा है। विज्ञानेश्वर इस विशेषण को स्वार्जित सम्पत्ति के आगे बताये गये मैत्रादि तीनों रूपो के साथ जोड़ता है[७६]। विश्वरूप की टीका से हमे यह ज्ञात होता है कि विज्ञानेश्वर से पहले भी इस प्रकार का विचार रखने वाले कई टीकाकार थे; किन्तु विश्व० इन की व्याख्या को सही नही मानता था[७७]। उसकी मुख्य युक्ति यह थी कि पिता के द्रव्य के अविरोध की शर्त्त को स्वार्जित सम्पत्ति के सब रूपों के साथ नही जोड़ा जा सकता, कुछ के साथ इस की कोई सगति नही बैठती,

---

७५. दायभाग ८—तदयमर्थो यया कयाचिद्विद्यया यल्लब्धमर्जकस्यैव तत् नेतरेषां, प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरेणोक्तं श्रीकरादिभ्रमनिरासार्थम्।

७६. मिताक्षरा २।११८-१९, पितृद्रव्याविरोधेन यत्किंचितस्वयमर्जितम्, इति सर्वशेषः। अतश्च पितृद्रव्याविरोधेन यन्मैत्रमर्जितम् ..... इति प्रत्येकमभिसम्बध्यते।

७७. याज्ञ० २।११८ पर विश्व०—अन्ये तु मैत्रादिकमेव पितृधनानुपघातार्जितमविभाज्यमिच्छन्ति, सामान्यविशेषोपसंहृतिन्यायात्। तत्तु सामान्यद्रव्यसाध्यत्वात् विवाहस्यायुक्तमेव।

जैसे विवाह में प्राप्त धन का किसी भी हालत मे पैतृक सम्पत्ति का विरोध नही हो सकता, क्योकि विवाह पर, सब भाइयो के लिये परिवार के सामान्य द्रव्य से ही व्यय किया जाता है, अत इसे पितृद्रव्य का विरोधी कहना ठीक नही है। विज्ञानेश्वर ने सम्भवतः विश्वरूप आदि के आक्षेपो को ध्यान में रखते हुए स्वार्जित सम्पत्ति के सब भेदो में पितृद्रव्य का उपयोग कैसे हो सकता है, यह बडे विस्तार से दिखाया है। 'मित्र से पाए हुए धन के बदले मे प्रत्युपकार के रूप में यदि पिता की सम्पत्ति में से कोई हिस्सा दिया जाता है तो इस प्रकार का मैत्रधन विभाज्य है। आसुरादि विवाहो मे कन्या के पिता को जब कुछ धन दिया जाय तो इस प्रकार के विवाहो में प्राप्त धन पर सब भाइयो का अधिकार हो जाता है। पुत्र यदि पिता के द्रव्य का उपयोग करते हुए कुल की खोई हुई सम्पत्ति का उद्धार करता है, तो वह सम्पत्ति भी सब दायादो में विभक्त होनी चाहिए। पिता की सम्पत्ति के व्यय से प्राप्त की गई विद्या से जो धन प्राप्त किया जाता है, उस पर भी प्राप्त करने वाले का वैयक्तिक स्वत्व नही है[७८]। विज्ञानेश्वर अपनी सकुचित व्यवस्था में इतनी दूर तक चला गया है कि वह दान तक का धन विभाज्य मानता है[७९]। वह अपनी इस व्याख्या को कात्यायन तथा नारद के पूर्वोक्त श्लोको से पुष्ट करता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के धर्मशास्त्री इस विषय में उदार थे। जीमूतवाहन ने जितेन्द्रिय और बालक के स्वार्जित सम्पत्ति विषयक मत अपने पक्ष के समर्थन में उद्धृत किये हैं और स्वय बड़े विस्तार से स्वार्जित सम्पत्ति

---

७८. वहीं—तथा च पितृद्रव्याविरोधेन प्रत्युपकारेण यन्मैत्रम्, आसुरादि विवाहेषु यल्लब्धम्, तथा पितृद्रव्यव्ययेन यत्क्रमायातमुद्धृतं तथा पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्धं, तत्सर्वं सर्वैर्भ्रातृभिः पित्रा च विभाजनीयम्।

७९. वहीं—तथा पितृद्रव्याविरोधेनेत्यस्य सर्वशेषत्वादेव पितृद्रव्यविरोधेन प्रतिग्रहलब्धमपि विभाजनीयम्। विज्ञानेश्वर ने पितृद्रव्य में पिता से ही नहीं, किन्तु माता से भी प्राप्त सम्पत्ति का उल्लेख किया है—मातापित्रोर्द्रव्याविनाशेन यत्स्वयमर्जितम्। इसके अनुसार माता से प्राप्त सम्पत्ति भी उसके मतानुसार बंटवारे में आनी चाहिये, किन्तु आधुनिक न्यायालयों ने इस संकुचित व्याख्या को न मानते हुए माता और नाना आदि से प्राप्त द्रव्य को उसे पाने वाले की पृथक् सम्पत्ति माना है (२७ म० ३०० फु० बैं०, ४५ बं० ३२३)।

को मर्यादित करने वाली युक्तियो का खण्डन किया है। पहले उस ने श्रीकर के तर्कों की धज्जियां उड़ाई हैं—"यदि घर मे भोजन द्वारा ही पैतृक सम्पत्ति का उपघात होता हो तो धन कमाने की प्रत्येक दशा मे ऐसा होगा, क्योकि शरीर भोजन के विना जीवित नही रह सकता और शरीर जीवित न रहने पर धन का उपार्जन नही हो सकता, इसलिए धन कमाने के प्रत्येक उपाय में (घर में भोजन करने से) पैतृक द्रव्य का नाश होगा। जव यह स्थिति है तो 'पितृद्रव्य के अविनाश' का विशेषण लगाना निरर्थक है (क्योकि इस तरह पैतृक सम्पत्ति का नाश तो प्रत्येक अवस्था में होता है)। अतः इस विशेषण के अनर्थक हो जाने से यह प्रतीत होता है कि यहा खाने पीने के उपभोग में व्यय किये गये धन के अतिरिक्त अन्य धन के उपघात का ही उल्लेख है"[८०]। इसके बाद जीमूतवाहन कहता है कि घर मे रहने वाला घर के भोजन का उपयोग करेगा, किन्तु यह उस के धनार्जन मे पितृद्रव्य का उपघाती (विरोधी) नही माना जा सकता। वह विश्वरूप की पूर्वोक्त व्याख्या से अपने पक्ष का समर्थन करता है और अपने मन्तव्य को इस उदाहरण से पुष्ट करता है कि माता पिता पुत्र के उपनयन तथा विवाह पर वहुत अधिक व्यय करते हैं 'किन्तु उपनयन के समय व्रत और भिक्षा से तथा विवाह मे सम्वन्धियो से प्राप्त धन (परिवार का) सावारण धन नही बनता, क्योकि वहा धन प्राप्त करने की इच्छा से उस का व्यय नही किया गया।' तदनन्तर वह इसी उदाहरण के आधार पर स्वार्जित सम्पत्ति की यह कसौटी बनाता है-"अत एव धन प्राप्त करने के उद्देश्य से (परिवार की) साधारण सम्पत्ति के उपयोग से कमाया हुआ धन ही साधारण अर्थात् विभाज्य होता है[८१]।

---

८०. दाय भाग पृ० ११४-१२१ तदा जन्मत आरभ्य भोजनं विना शरीरावस्थितेरभावात् नार्जनं सम्भवतीति सर्व एव धनोपायः पितृद्रव्यविनाशेन स्यात्, अतोऽनुपघ्नन् पितृद्रव्यमिति विशेषणं न स्यादिति। यतो विशेषणानर्थक्यादेव भक्षणाद्युपभोगोपयुक्तधनोपघातादन्यस्यैवोपघातादिरूपस्य वचनार्थत्वात्।

८१. वहीं—अतएव पुत्रोपनयनविवाहयोः सोत्सुकसव्ययपितृकृतवहुतरधनव्ययेऽपि न व्रतभिक्षादिलब्धस्य वैवाहिकस्य वा साधारण्यं धनप्रेप्सया धनव्ययस्याकृतत्वात्। तस्माद्धनोद्देशेनैव साधारणधनोपाघातेनार्जितंसाधारणं नान्यदिति सिद्धम्।

विद्याधन के क्षेत्र को सकुचित करने वाले इस का अर्थ केवल अध्यापन से प्राप्त धन करते थे। जीमूतवाहन ने ऐसा पक्ष मानने वाले निबन्धकारो के नाम का निर्देश न करते हुए उनके मत का उल्लेख तथा खण्डन किया है। सम्भवतः श्रीकर का यही मत था। जीमूतवाहन ने विद्याधन के विस्तृत अर्थ को पुष्ट करने के लिए कई तर्क दिये है। पहले तो उसने कात्यायन द्वारा निर्दिष्ट विद्याधन के भेदो का विस्तार से उल्लेख किया है और इसका उपसंहार करते हुए यह कहा है–"जुये से भी दूसरे को जीत कर जो धन प्राप्त किया जाता है, उसे दूसरे व्यक्ति नही बाट सकते."। उस का मतलब यह है कि धन चाहे किसी विद्या से प्राप्त हो, वह कमाने वाले (अर्जक) का ही है, दूसरो का नहीं। यह बात दिखाने के लिए कात्यायन ने (विद्याधन के स्वरूप को) विस्तार से कहा है[८२]। जीमूतवाहन की इस व्याख्या से यह स्पष्ट है कि वह इसमे सब प्रकार की कलायें सम्मिलित करता है।

यह स्पष्ट है कि जीमूतवाहन का मत बहुत युक्तियुक्त है।

वर्तमान युग में स्वार्जित सम्पत्ति—ब्रिटिश युग के आरम्भ में न्यायालयो ने स्वार्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध में पितृद्रव्य की व्यय विषयक जीमूतवाहन की उदार व्याख्या को छोड कर विज्ञानेश्वर की सकुचित व्याख्या स्वीकार की। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने पेशवाओ के दीवान के रूप मे ३० लाख रु० से अधिक की जागीर प्राप्त की, प्रिवी कौंसिल के निर्णय के अनुसार यह जागीर उसकी स्वार्जित सम्पत्ति नहीं; किन्तु परिवार की सम्मिलित सम्पत्ति समझी गई,क्योकि उस व्यक्ति को बचपन में सयुक्त परिवार की सम्पत्ति से शिक्षा मिली थी, यद्यपि यह प्रारम्भिक शिक्षा से अधिक नही थी[८३]। वास्तव में यह एक विचित्र निर्णय था। प्रिवी कौंसिल के अध्यक्ष लार्ड ब्रूम ने यद्यपि इस में निचली अदालतो के फैसलो को पुष्ट किया, किन्तु यह भी स्वीकार किया उन्हे अपने निर्णय में कोई विश्वास नही है। पर विज्ञानेश्वर का 'पितृद्रव्यव्ययेन लब्धया विद्यया यल्लब्ध, तत्सर्वं सर्वै भ्रातृभि पित्रा च विभजनीयम्' का वाक्य प्रमाण मानते हुए कोई दूसरा फैसला कैसे हो सकता था? बम्बई हाईकोर्ट ने एक वकील की कमाई हुई

---

८२. वही–द्यूतेनापि परं निर्जित्य यल्लब्धं तत्सर्वमविभाज्यमितरैः। तदयमर्थो यया कयाचिद् विद्यया यल्लब्धमर्जकस्यैव तत् नेतरेषां प्रदर्शनार्थं तु कात्यायनेन विस्तरेणोक्तं श्रीकरादिभ्रमनिरासार्थम्।

८३. लक्ष्मण बनाम मल्हार राव ५ बी० रि० ६७ प्रि० कौ०।

सम्पत्ति को स्वार्जित न मान कर विभाज्य माना[८४]; क्योंकि उसे परिवार के व्यय से ही शिक्षा मिली थी। मद्रास हाईकोर्ट ने एक नर्तकी की आमदनी को विभाज्य माना, क्योंकि उसने नृत्य और गायन की शिक्षा परिवार के व्यय से प्राप्त की थी।

पर यह स्थिति देर तक नही रही। बाद में अदालतो ने सामान्य और विशेष शिक्षा में भेद स्वीकार किया। यदि विशेष शिक्षा परिवारिक सम्पत्ति द्वारा प्राप्त की जाती थी तो उस से प्राप्त सम्पत्ति विभाज्य थी; अन्यथा वह स्वार्जित सम्पत्ति मानी जाती थी। एक ज्योतिषी ने परिवार मे रह कर सामान्य शिक्षा प्राप्त की, तदनन्तर ज्योतिष सीखी और उस से सम्पत्ति कमाई, उसका यह धन स्वार्जित माना गया[८५]। फौज को सामान देने वाले एक ठेकेदार[८६] एक सब जज[८७] व पब्लिक वर्क्स विभाग के एक ओवरसियर[८८] द्वारा प्राप्त की गई सम्पत्ति उपर्युक्त कारण से स्वार्जित मानी गई। इस सम्बन्ध मे न्यायालयो के दृष्टिकोण में परिवर्तन का उल्लेख करते हुए प्रिवी कौंसिल ने अपने एक निर्णय मे लिखा था कि विद्याधन के सम्बन्ध मे कुछ परिवर्त्तन तो टीकाकारो द्वारा हुए है और कुछ न्यायालयो द्वारा; ये विभाज्य धनो की श्रेणी को सीमित करने की दिशा में हुए है। पहले विभाज्य सम्पत्ति का आधार शिक्षा काल मे पारिवारिक द्रव्य से पोषण माना जाता था, बाद मे यह उससे शिक्षा पाने के रूप में परिवर्त्तित हुआ और अन्त में शिक्षा को विशेष शिक्षा तक सीमित कर दिया गया; वर्तमान रूप मे स्वार्जित सम्पत्ति के निर्णय का यही आधार है[८९]।

वर्तमान युग में कानून, डाक्टरी आदि के अनेक नए पेशे बन गये है। विज्ञानेश्वर ने तथा मध्यकाल के अन्य निबन्धकारों ने इतने जटिल पेशो की कल्पना नही की थी और उन की व्यवस्थाएँ वर्तमान युग में अपर्याप्त सिद्ध हो

---

८४. मंछा बनाम नरोत्तमदास ६ ब० हा० रि० (अपील विभाग १ (६))।

८५. दुर्गा बनाम गणेश ३२ अला० ३०५

८६. लक्ष्मण बनाम देवी प्रसाद २० अला० ४३५

८७. सोम सुन्दर बनाम गंग विसान २८ म० ३८६

८८. लछमन बनाम जमना बाई ६ बं० २२५

८९. गोकुलचन्द बनाम हुक्मचन्द २ ला० ४० प्रि० कौ०।

रही थी। परिवार के व्यय से डाक्टरी या कानून की शिक्षा प्राप्त करने वाला व्यक्ति विशेष शिक्षा प्राप्त करता था, उपर्युक्त निर्णयो के अनुसार उसकी कमाई हुई सम्पत्ति विभाज्य होनी चाहिए। प्रिवी कौंसिल ने एक मामले में इण्डियन सिविल सर्विस के एक व्यक्ति की कमाई को विभाज्य माना, क्योकि वह इसी उद्देश्य से विलायत भेजा गया था और वहा सात वर्ष तक वह अपने परिवार द्वारा भेजे व्यय से अपना निर्वाह करता रहा था[९०]। इस अभियोग के निर्णय में न्यायाधीशो ने इस वात पर विशेष रूप से वल दिया कि इस विपय के हिन्दू कानून में कई प्रकार के विरोधी नियम उत्पन्न हो गये हैं। सामान्य शिक्षा (ज्ञान) और विशेष शिक्षा (विज्ञान) में भेद करना वडा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। वर्तमान समय में ज्ञान से प्राप्त सम्पत्ति अविभाज्य है, किन्तु विज्ञान से प्राप्त सम्पत्ति विभाज्य है। दोनो अवस्थाओ में एक सयुक्त परिवार का सदस्य कुछ सीमा तक अपने परिवार की सम्पत्ति का ऋणी है। पहली अवस्था में उसने परिवार से भरण पोपण पाया है और इस से पुष्ट होकर वह परिश्रम करने में समर्थ हुआ है; किन्तु विशेप शिक्षा में, वह इस के साथ साथ एक कला में भी कुशल हुआ है। एक मन्दबुद्धि अंशहर के विद्याभ्यास करने पर, सफल न होने पर भी उस की कमाई तो विभाज्य है, किन्तु विना शिक्षा पाए स्वाभाविक रूप से किसी किसी पेशे मे निष्णात होने पर उसकी कमाई स्वार्जित सम्पत्ति है। इस भेद मे व्यक्ति की नैसर्गिक वुद्धि एव योग्यता का कोई ध्यान नही रखा गया। वास्तव में सम्पत्ति का उपार्जन शिक्षा के स्वरूप पर इतना निर्भर नही है जितना अर्जक की वुद्धि और परिश्रम पर, अतः शिक्षा और विशेप शिक्षा का भेद अस्वाभाविक है।

प्रिवी कौंसिल द्वारा इस विषय की असन्तोषजनक अवस्था प्रदर्शित होने तथा नई आर्थिक परिस्थितियो के कारण इस सम्वन्ध में कानून को परिवर्तित करने की आवश्यकता अनुभव की गई। श्री मुकुन्दराव जयकर ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद में इस सम्वन्ध में एक प्रस्ताव उपस्थित किया। इस का उद्देश्य यह था कि चाहे किसी प्रकार की शिक्षा क्यो न हो, परिवार को उसे देने में कितनी ही हानि क्यो न उठानी पडी हो, इस शिक्षा द्वारा जो द्रव्य उपार्जित होगा, वह अर्जक की वैयक्तिक और अविभाज्य सम्पत्ति होगी। यह प्रस्ताव २५ जुलाई १९३० को ही हिन्दू गेन्ज़ आफ लर्निंग एक्ट (हिन्दू विद्या-

---

९०. गोकुलचन्द्र बनाम हुक्मचन्द्र २ ला० ४० प्रि० कौ०।

धन कानून) के रूप में पास हुआ। इस की दूसरी धारा द्वारा सामान्य तथा विशेष, प्रारम्भिक या औद्योगिक सभी प्रकार की शिक्षाओ का भेद विल्कुल समाप्त कर दिया गया; तीसरी धारा द्वारा शिक्षा से उपार्जित सम्पत्ति पर अर्जक का पूरा वैयक्तिक अधिकार मानते हुए कात्यायन और नारद के नियमो को स्पष्ट रूप से रद्द कर दिया गया।

इस कानून के पास हो जाने से कात्यायन, विज्ञानेश्वर आदि की विद्याधन को सकुचित वनाने वाली व्यवस्था तथा प्रिवी कौन्सिल के इन्हे पुष्ट करने वाले निर्णय रद्द हो गये है। अब अपने विद्यावन पर प्रत्येक व्यक्ति को पूरा अधिकार है, वह उस की अविभाज्य स्वार्जित सम्पत्ति है।

विद्यावन के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दू परिवार मे निम्न प्रकार की सम्पत्ति स्वार्जित तथा अविभाज्य समझी जाती है (गौड—हिन्दू कोड पृ० ३७२)

(१) तीन पीढी से दूर के किसी पूर्वज से उत्तराधिकार मे प्राप्त अथवा किसी सपिण्ड या स्त्री सम्वन्धी से प्राप्त सम्पत्ति। (२) दान या सकल्पपत्र से प्राप्त सम्पत्ति, इस मे मित्रो से प्राप्त भेंटें तथा विवाह के समय मे सम्वन्धियो द्वारा प्राप्त सभी भेटे[९१] आ जाती है। एक व्यक्ति ने अपने दामाद को एक दुकान दी, उस ने अपने भाई को उस दुकान में नौकर रखा, भाई ने इस दुकान के मुनाफे में साझीदारी चाही। किन्तु न्यायालय ने श्वशुर से प्राप्त भेंट को उस व्यक्ति की स्वार्जित सम्पत्ति मानते हुए भाई के साझीदारी के दावे को स्वीकार नही किया[९२]।

(३) सयुक्त परिवार की सम्पत्ति को हानि पहुँचाये विना प्राप्त की हुई सम्पत्ति। जैसे यदि सयुक्त परिवार का कोई सदस्य अपने जीवन का वीमा कराता है और उसका प्रीमियम अपने वेतन में से देता है तो बीमे से प्राप्त धन उसकी स्वार्जित सम्पत्ति है।

स्वार्जित सम्पत्ति की विवेचना से यह स्पष्ट है कि वर्तमान काल में हिन्दू गेन्ज़ आफ लर्निंग एक्ट द्वारा स्वार्जित सम्पत्ति का क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत हो गया है।

विभाग की विधि—अविभक्त परिवार की सम्पत्ति के वटवारे मे विभिन्न

---

९१. शिव गोविन्द बनाम शाम नारायण ७ ना० वै० प्रा० हा० को० रि० ७५

९२. बिहारी बनाम लालचन्द्र २५ वी० रि० ३०७

दायादों का भाग निश्चित करने से पूर्व निम्न बातो के व्यय की व्यवस्था करनी आवश्यक है—पारिवारिक ऋण, पिता द्वारा प्रीति पूर्वक दिये जाने वाले छोट उपहार, सयुक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति में से अंश न ग्रहण करने वाले (दाया-नहं) पुरुष तथा स्त्री सदस्यो का भरण पोषण, भाई वहिनो के विवाह का व्यय । पारिवारिक ऋण को विभक्त व्यक्तियो द्वारा चुकाने की वडी स्पष्ट व्यवस्था मनु ने की है, कौटिल्य का भी ऐसा विधान है, कात्यायन ऋण के अतिरिक्त पिता द्वारा प्रसन्नता पूर्वक दिये गये दान को भी इस में सम्मिलित करता है और साथ ही लड़कियो के विवाह तथा श्राद्ध आदि आवश्यक कार्यों का व्यय भी सयुक्त सम्पत्ति में से देने की व्यवस्था करता है[९३] ।

भाइयो की शादी के व्यय के सम्वन्ध में प्राचीन शास्त्रकारो का यह मत था कि अविभक्त सम्पत्ति से इस का प्रवन्ध होना चाहिये, वर्त्तमान न्यायालय इस से सहमत नही है । वृहस्पति की इस सम्वन्ध में वडी स्पष्ट व्यवस्था है—'जिन छोटे भाइयो के (उपनयन विवाहादि) संस्कार न हुए हो, पैतृक सम्पत्ति से उनके सस्कार कराये जाने चाहियें । उससे पहले कौटिल्य ने ऐसी व्यवस्था का उल्लेख किया था । याज्ञ० २।१२४, नारद (२।१३), विश्वरूप (या० २।१२९) भी इसका अनुमोदन करते हैं । मदन पारिजात ने यह लिखा है कि भाइयो और वहनो के विवाह पर्यन्त सस्कार करने के वाद ही वंटवारा करना चाहिये[९४]। यह अधिकार भाइयो तथा वहिनों की शादी तक ही सीमित है,

---

९३. मनु८।१६६ ग्रहीता यदि नष्टः स्यात्कुटुम्वार्थे कृतो व्यय : । दातव्यं वान्धवैस्तत्स्यात्प्रविभक्तैरपि स्वतः ।। कौटिल्य० ३।५ ऋणरिक्थयोः समो विभागः; कात्या० स्मृच २।२७३ में उद्धृत—ऋणं प्रीतिप्रदानं च दत्त्वा शेषं विभाजयेत् । अपरार्क (पृ० ६४८) द्वारा उद्धृत—कुटुम्वार्थमशक्तेन गृहीतं व्याधितेन वा । उपप्लवनिमित्तं च विद्यादापत्कृतं तु तत् । कन्यावैवाहिकं चैव प्रेत-कार्ये च यत्कृतम् । एतत्सर्वं प्रदातव्यम् कुटुम्वेन कृतं प्रभोः ।। नारदस्मृ १६।३२ यच्छिष्टं पितृदायेभ्यो दत्वर्णं पैतृकं च यत् । भ्रातृभिस्तद्विभक्तव्यमृणी न स्याद्यथा पिता ।।

९४. वृह० स्मृच (पृ० २६९) में उद्धृत—असंस्कृता भ्रातरस्तु ये स्यु-स्तत्र यवीयसः । संस्कार्या भ्रातृभिश्चैव पैतृकान्मध्यगाद्धनात् । मदन पारिजात पृ० ६४८ । विवाहान्त संस्कारैरसंस्कृतानां भ्रातृणां भगिनीनां च विवाहान्त-संस्कारं कृत्वा पश्चाद्विभागः कर्त्तव्यः ।

अन्य शरीकों की सन्तान वैवाहिक व्यय के लिए इस धन की नही माग कर सकती।

वर्त्तमान न्यायालयो ने पहले अपने अनेक निर्णयो मे उपर्युक्त सिद्धान्त को स्वीकार किया; किन्तु वाद मे उन्होंने इसे नही माना। वम्वई हाईकोर्ट ने जयराम व० नत्थू (३१ ब० ५४) मे यह व्यवस्था की कि पिता पुत्रो की अविभक्त सम्पत्ति का बटवारा करने से पहले नावालिग पुत्र के उपनयन, वाग्दान और विवाह के लिये व्यय निकाल लेना चाहिये। मद्रास में भी यही सिद्धान्त माना गया (ए० ३८ म० ५५६)। किन्तु वाद में प्रिवी कौन्सिल (ला० रि० ४९ इ० ए० १६८) के एक फैसले के आधार पर वम्वई (२९ व० ला० रि० १४१२) तथा मद्रास (५८ म० १२६) हाई कोर्टों ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार किया। वस्तुत. प्रिवी कौन्सिल ने उक्त निर्णय मे भाइयो के अतिरिक्त अन्य शरीको की सन्तान का यह अधिकार नही माना था।

विषम विभाग—लगभग सभी धर्मसूत्र और स्मृतिया पिता को एक वर्ण की स्त्रियो से उत्पन्न पुत्रो मे समान रूप से बटवारा करने का आदेश देते हैं[९५] इस प्रकार का बटवारा सम विभाग कहलाता है। किन्तु इस के साथ ही हमें पिता द्वारा मनमाना विभाग करने तथा वड़े पुत्र को विशेष भाग देने के प्रमाण मिलते हैं। इस मे कोई सदेह नही कि प्राचीन काल मे ऐसी प्रथा थी। तैं० स० २।५।२।७ मे इस का स्पष्ट सकेत है, बौधायन , मनु आदि शास्त्रकार दोनो प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख करते हैं[९६]। आपस्तम्ब सभवत. पहला सूत्रकार है, जिस ने दोनो प्रकार की व्यवस्था का उल्लेख करते हुए सम विभाग का प्रवल समर्थन किया और विषम विभाग का प्रतिपादन करने वाले श्रुति वचनो को

---

९५. कौ० ३।५ जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्विभजेत। कात्यायन (दा० पृ० ५६) जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चेवैकमस्मात्कारणं विना। उशना (दा० ६५) समत्वेनैकजातानां विभागस्तु विधीयते।

९६. बौधा० ध० सू० २।२।२।५—मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदिति श्रुतिः। समशः सर्वेषामविशेषात्। वरं वा रूपमुद्धरेज्ज्येष्ठः। तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति श्रुतिः। स्मृच २।२६० में निरवसाययन्ति का अर्थ है—तोषयन्ति प्रसन्न करते हैं। मनु० ९।१५६ में भी यह व्यवस्था है—उद्धारं ज्यायसे दत्त्वा भजेरन्नितरे समम्।

अनुवाद मात्र कहा[९७]। किन्तु उसकी उक्ति से यह स्पष्ट है कि अनेक स्थानों में वड़े लड़के को सोना, काली गौये तथा भूमि की काली पैदावार देने की परिपाटी थी। मनु (९।११४) सव प्रकार के धनों में से श्रेष्ठ भाग, उत्कृष्ट सम्पत्ति तथा दस पशुओं में से सर्वोत्तम पशु वडे लडके को देने का विधान करता है[९८]। गौतम (२८।५) हारीत (वि र० पृ० ४७१) आदि शास्त्रकारों ने भी इस प्रकार की व्यवस्थाये की हैं। वड़े लडके को विशेष अंश (उद्धार) देने के अतिरिक्त, उसे सारी सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाने का भी आपस्तम्व (२।६।१४।६), मनु (९।१०५-७) तथा नारद (दायभाग ५) ने

९७. आप० धर्मसूत्र २।६।१४।१,६-७, १०-१३ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा।...ज्येष्ठो दायाद इत्येके। देश विशेषे सुवर्णं कृष्णा गावः कृष्णं भौमं ज्येष्ठस्य।.... तच्छास्त्रैर्विप्रतिषिद्धम्। मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते। अथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीत्येकवच्छ्रूयते। अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदः सर्वे हि धर्मयुक्ता भागिनः।

९८. सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥ कुल्लूक के मत में यह व्यवस्था ज्येष्ठ पुत्र के गुणवान् तथा शेष पुत्रों के निर्गुण होने की दशा में है। इसके अतिरिक्त मनु ने दो और व्यवस्थायें की है—(१) वड़े लड़के को अविभक्त धन का वीसवां भाग और सब द्रव्यों में श्रेष्ठ वस्तु देनी चाहिये, मंझले को ४० वां हिस्सा, छोटे को ८० वां भाग, इन हिस्सों के बाद शेष धन वरावर वांटना चाहियें (९।११२)। (२) ज्येष्ठ पुत्र को दो भाग मिलें, उससे बाद वाले पुत्र को १½ अंश तथा छोटे पुत्रों को एक एक अंश। अग्रज को दो भाग देने का समर्थन वसिष्ठ (१७।४२), नारद० (दा० १३) वृहस्पति (दा० ४२ पृ० स्मृच २६६) ने किया। वृहस्पति ने दो अंश उसी अवस्था में देने को कहा जब वड़ा भाई विद्या तथा गुणों में छोटे भाइयों से वढ़ा चढ़ा हो—जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात्। समांशभागिनस्त्वन्ये तेषां पितृसमस्तु यः॥ वृहस्पति ने पिता के जीवन काल में होने वाले विभाग में पिता को भी अपने लिये दो अंश रखने की व्यवस्था की है—जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयम्। (स्मृ च० २।२६१ मि० नारद दा० १२), शंख लिखित ने एक पुत्र होने की दशा में ही पिता को यह अधिकार दिया है—स यद्येकपुत्रः स्याद् द्वौ भागावात्मनः कुर्यात् (विर० पृ० ४६५)।

उल्लेख किया है। मनु के मतानुसार वड़े लडके को यह अधिकार इस लिये दिया गया है कि इससे पिता पितृऋण से मुक्त होता है।

किन्तु मध्ययुग मे पुत्रों के विषम विभाग का विरोध किया जाने लगा। हजार वर्ष पहले आपस्तम्ब ने बड़े लड़के को विशेष अश देने का सर्वप्रथम विरोध किया था, अव कात्यायन और बृहस्पति ने उसे पुष्ट किया। कात्यायन के मत में धर्मानुकूल बंटवारा वही है, जिसमे पिता और भाई अविभक्त संपत्ति का समान रूप से बटवारा करते हैं; बृह० पिता पुत्र को स्पष्ट रूप से पैतृक द्रव्य में बरावर के हिस्से का अधिकारी (समाशी) वताता है[९९]।

इस समय शनै. शनै हिन्दू परिवार मे विषमविभाग की परिपाटी का लोप हो रहा था, पुत्र को विशेष अंश देने के विरुद्ध भाव इतना प्रवल हो गया कि इसे नियोग के समान प्राचीन काल में प्रचलित तथा शास्त्र प्रतिपादित होने पर भी, वर्त्तमान समय में-वर्जित समझा जाने लगा। मनुस्मृति का पहला टीकाकार, मेधातिथि सभवतः इस प्रथा का अन्तिम प्रवल पोषक था[१००]; किन्तु बटवारे मे पुत्र के समानाधिकार की माग इतनी प्रवल हो चुकी थी, उसे देर तक रोकना सभव न था। विज्ञानेश्वर ने जन्म से पैतृक सम्पत्ति में पुत्रो के स्वत्व की भांति, उनके सम विभाग का निम्न रीति से प्रवल समर्थन किया— 'यद्यपि शास्त्रो मे विषम विभाग की व्यवस्था देखी जाती है (जैसे, मनु० ९।१०५, ११२, ११६, ११७, या० २।११४); किन्तु इस का पालन नहीं करना चाहिये, क्योकि यह लोगो द्वारा निन्दित है और याज्ञ० (१।१५६)ने यह व्यवस्था की है

---

९९. कात्या० (स्मृच २।२६० पृ०) सकलं द्रव्यजातं यद्भागै गृह्णन्ति तत्समैः। पितरौ भ्रातरश्चैव विभागो धर्म्य उच्यते ॥ वृह० (व्यम० द्वारा उ० पृ० ९५) क्रमागते गृहक्षेत्रे पितापुत्राः समांशिनः। पैतृके न विभागार्हाः सुताः पितुरनिच्छया ॥

१००. मनु० ९।११२ की टीका में—इयमुद्धारनियोगस्मृतिरतिक्रान्तकालविषया न त्वद्यत्वे। अनुष्ठेये नियतकालत्वात्स्मृतीनामिति केचित्।... तस्मादुद्धारनियोगगोवधस्मृतय उपदिष्टा नानुष्ठेयाः। तदेतदपेशलम्। यहां नियतकाल का अर्थ यह है कि मनु० १।८५ के अनुसार विभिन्न युगों में विभिन्न धर्म होते हैं, जैसे नियोग, लम्बे यज्ञ (सत्र) प्राचीन काल के धर्म थे, वैसे उद्धार (बड़े भाई को अधिक भाग देना) भी प्राचीन युग का धर्म था, वर्त्तमान युग का नहीं। किन्तु मेधातिथि विभिन्न युगों के लिये पृथक् धर्म नहीं स्वीकार करता।

कि धर्मानुकूल होने पर भी लोकनिन्दित कार्य नही करना चाहिये, यह स्वर्ग प्राप्ति में सहायक नही होता। उदाहरणार्थ, यद्यपि याज्ञ० ने यह विधान किया है (१।१०९) कि वेद के विद्वान् ब्राह्मण के अतिथि होने पर बडा बैल या बकरा उसे प्रस्तुत करे, किन्तु जनता द्वारा निन्दित होने पर अब इसका पालन नही होता। इसी प्रकार एक अन्य वैदिक वचन में मित्र वरुण के लिए अनुबन्ध्या नामक वाझ गाय को मारने का विधान है, पर जनता द्वारा जघन्य ठहराये जाने से ऐसी गौ का वध नही होता। यह कहा गया है—'जैसे, नियोग और अनुबन्ध्या वध की परिपाटी आजकल प्रचलित नही है, वैसे ही ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश (उद्धार) देने का रिवाज भी आजकल नही है[१०१]। देवण्णभट्ट के कथनानुसार धारेश्वर ने बड़े बेटे द्वारा बीसवां हिस्सा लेने के (मनु ९।११२) आदि के वचनो का विचार 'लोक द्वारा परित्यक्त होने से' नही किया (स्मृच २।२६६) मदनरत्न ने यह कहा कि 'विषम विभाग का प्रतिपादन करने वाले वचन कलियुग से अतिरिक्त काल पर लागू होते है, उसने आदिपुराण का एक वचन उद्धृत किया है तथा विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत 'यथा नियोगधर्म:' का वचन स्मृति संग्रह नामक ग्रन्थ से उद्धृत किया है[१०२]। मित्र मिश्र (व्यवहार प्रकाश पृ० ४४२) आदि परवर्त्ती निबन्धकारो द्वारा यह सिद्धान्त सर्वमान्य है[१०३]।

१०१. या० २।११७ परमिता०—अयं विषमो विभागः शास्त्रदृष्टस्तथापि लोकविद्विष्टत्वान्नानुष्ठेयः अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्नतु—इति निषेधात्। यथा—महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्—इति विधानेऽपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। यथा वा—मैत्रावरुणीं गां वशामनुबन्ध्यामालभेत इति गवालम्भनविधानेपि लोकविद्विष्टत्वादननुष्ठानम्। उक्तं च—यथा नियोगधर्मो नो नानुबन्ध्यावधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव संप्रति वर्तते॥ इति। तस्माद्विषमो विभागः शास्त्रदृष्टोपि लोकविरोधाच्छ्रुति विरोधाच्च नानुष्ठेयः इति सममेव भजेरन्निति नियम्यते।

१०२. काणे०, हि ध० ३।६२९ पर उ०—एवमादीनि विषमविभागप्रतिपादकानि मन्वादिवचनानि कलियुगव्यतिरिक्तविषयाणि। अतएव कलौ विषमविभागनिषेध आदिपुराणे—ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥

१०३. कुछ टीकाकारों ने याज्ञ० के उपर्युक्त वचन (अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं) में लोक का दूसरा अर्थ किया है, क्योंकि वे जनता के हाथ में श्रुति का विरोध

यह इस बात का सुन्दर उदाहरण है कि शास्त्रकार अपनी व्यवस्थाओं को किस प्रकार समयानुकूल बनाया करते थे और उनमें संशोधन किया करते थे; वैदिक विधियों और शास्त्रीय वचनो के होते हुए भी, वे जनता की इच्छा तथा लोक प्रचलित आचार के आगे नतमस्तक होते थे।

बटवारे के समय अशो के निर्धारण के सम्बन्ध में निम्न सामान्य नियम उपर्युक्त विवेचन से निकाले जा सकते है— (१) अपनी पैतृक सम्पत्ति का पुत्रो मे बंटवारा करते हुए पिता और सब पुत्र समान अंश ग्रहण करते है, किन्तु यदि पिता अपनी स्वार्जित सम्पत्ति का बटवारा करता है तो उसे अपने दो हिस्से रख कर, शेष भाग का पुत्रो में सम या विषम अशो में वितरण का अधिकार है। (२) भाइयो में बटवारा होने पर सब को समान अश मिलते है। (३) जो पुरुष विभाग में अश प्राप्त करने का अधिकारी है, उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों को अपने पिता के प्रतिनिधि होने के नाते अंश पाने का अधिकार प्राप्त होता है। (४) दो विभिन्न शाखाओं के (चाचा, भतीजा) के व्यक्तियों के दायाद बनने पर उनमे पितृतो विभाग (Per stirpes) होता है। (५) पिता की मृत्यु के बाद बंटवारे में पुत्र को विशेष अंश (उद्धार) पाने का सामान्यरूप से कोई अधिकार नही है। पिता विषम विभाग नही कर सकता (लक्ष्मण व० रामचन्द्र ७ इ० ए० १८१)।

पुनर्विभाग—यदि कोई दायाद बटवारे के समय अनुपस्थित हो तो उसका

करने वाली शक्ति नहीं देना चाहते थे। जैसे, विश्वरूप ने लोक का यह अर्थ किया है—लोकं कर्मसाध्यं ये जानन्ति ते लोकविदो मन्वादयः, तैर्द्विष्टं नाचरेत्'। मित्रमिश्र ने लोक का अर्थ युग किया—अत्र लोकपदेन युगमुच्यते। 'अन्यथा धर्मानुकूल तथा स्वर्ग में सहायक (स्वर्ग्य) बातों में गड़बड़ पड़ जायगी। शास्त्रों का ज्ञान न रखने वाले नीच पुरुषों द्वारा निन्दित होने से कोई कार्य अस्वर्ग्य नहीं होता, क्योंकि वे यज्ञों में अग्नि सोम को बलि दिये जाने वाले पशुओं की हिंसा की निन्दा करते है (किन्तु उन द्वारा निन्दित होने पर भी यह कार्य अस्वर्ग्य नहीं है व्य० प्र० पृ० ४४२)। वस्तुतः यह बाल की खाल उतारना है। शास्त्रकार लोकानुकूल सामाजिक संशोधन के पक्षपाती थे। मनु ने ४।१७६ में 'लोक विक्रुष्ट' धर्म के परित्याग का आदेश दिया है। विष्णुधर्म सूत्र का मत है (७१।८४-८५)—लोक विद्विष्टं च धर्ममपि (परिहरेत्)

हक़ मारा नही जाता, उसके उपस्थित होने पर पुर्नविभाग द्वारा उसको अश दिया जाता है। इस सम्वन्ध में वृहस्पति ने सातवी पीढी तकके वंशज को उसका हिस्सा देने की व्यवस्था की है[१०४], किन्तु वर्तमान न्यायालय १९०८ के मर्यादा कानून (Law of Limitation) के अनुसार निश्चित अवधि तक ही उसे यह अश दिला सकते हैं।

मनु का मत है कि वटवारा एक वार ही होता है (सकृदंशो निपतति ९।४७); किन्तु निम्न अवस्थाओं में विभाग दुवारा भी होता है।

वटवारे के समय अविभक्त कुटुम्ब की सम्पत्ति का कुछ अंश यदि कोई दायाद छिपाता है, या किसी अन्य कारण से कुछ भाग वटने से रह जाता है तो इस का वाद में वटवारा होता है [१०५]। प्राचीन काल में इस प्रकार धोखे से सम्पत्ति छिपाकर किसी अशाधिकारी को उसके हिस्से से वचित करना वुरा और राजदण्ड योग्य समझा जाता है था। ऐतरेय० व्रा० (६।७) के शव्दो में हिस्से के हकदार को उसके भाग से वचित करने वाला व्यक्ति उसे तथा उस के पुत्र और पौत्र को दण्डित या नष्ट करता है (चयते)[१०६]। मनु (९।२१३) ने ऐसा करने वाले वडे भाई से उसकी ज्येष्ठता का पद और विशेष अश छीनने तथा उसे राजा द्वारा दण्डित करने का विधान किया है। टीकाकारो ने इस पर वडी मनोरंजक मीमांसा की है। सयुक्त सम्पत्ति को इस प्रकार छिपाने वाला क्या चोर है ? विश्वरूप, जीमूतवाहन, हलायुध और जितेन्द्रिय इस पक्ष के है कि वह चोर नहीं है, जो वस्तु दूसरे की हो, उसे लेने में स्तेय दोष होता है, किन्तु अविभक्त सम्पत्ति पर उस का अन्य दायादो के साथ सयुक्त स्वामित्व है, अत वह चोर नही हो सकता। दूसरी ओर मिताक्षरा और मित्रमिश्र उपर्युक्त ऐतरेय व्राह्मण के वचन तथा मनु की व्यवस्था के आधार पर उसे चोर

---

१०४. वृह० (दा० पृ० १३३) गोत्रसाधारणं त्यक्त्वा योऽन्यदेशं समाश्रितः। तद्वंश्यस्यागतस्यांशः प्रदातव्यो न संशयः॥ तृतीयः पंचमश्चैव सप्तमो वापि यो भवेत्। जन्मनामपरिज्ञाने लभेतांशं क्रमागतम्॥ मि० ध० को० २।१५६९

१०५. याज्ञ० २।१२६—अन्योन्यापहृतं द्रव्यं विभक्ते यत्तु दृश्यते। तत्पुनस्ते समैरंशैर्विभजेरन्निति स्थितिः।

१०६. यो वै भागिनं भागान्नुदते चयते वैनं स यदि वैनं न चयतेऽथ पुत्रमथ पौत्रं चयते त्वेवननमिति।

मानते हैं, मीमासा के एक न्याय (जै० ६।३।२०) द्वारा उसे अपराधी ठहराते हैं (दे० याज्ञ० २।१२६) । मध्यकालीन टीकाकार कुल्लूक और जगन्नाथ मनु की उक्त व्यवस्था को ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अंश के विषय मे ही समझते हैं। कात्यायन का मत है कि इस प्रकार सम्पत्ति छिपाने वाले के साथ राजा को जवर्दस्ती नहीं करनी चाहिये, किन्तु सामादि उपायो से उससे इसे प्राप्त करना उचित है (दा० पृ० २२२) ।

विभाग के प्रमाण—पहले यह वताया जा चुका है कि विभाग एक विशिष्ट मनोवृत्ति का स्थूल परिणाम है और सकल्पमात्र से हो सकता है। इसके लिये, लिखित कार्यवाही आवश्यक नही, मौखिक समझौता ही पर्याप्त है । कई वार ऐसी दशा मे विभाग के सम्वन्ध मे सन्देह उत्पन्न हो जाता है । प्राचीन शास्त्रकारो ने इस सम्वन्ध मे अनेक नियम दिये है । अविभक्त परिवार मे व्यक्ति की कोई पृथक् सत्ता नही होती, अत. वह दान, विक्रय, साक्षी देना जमानत आदि के कार्य नही कर सकता, पृथक् रूप से ये कार्य करने वाले को विभक्त ही समझा जाना चाहिये । अतः नारद ने कहा है—साक्षी देना, जमानत देना और दान लेना पृथक् हुए (विभक्त) भाई ही करते हैं; अविभक्त नही[१०७]। इस के अतिरिक्त धर्म कर्म, चूल्हा (पाक), आय, व्यय, पशु अन्न, घर आदि पृथक् रूप से रखना विभक्त होने का प्रमाण है। जो ये क्रियाये अपने धन से स्वतन्त्र रूप से करते हे, उन्हें लिखित साक्षी के विना ही विभक्त समझना चाहिये। याज्ञ० (२।१४९) के मतानुसार विभाग के ये प्रमाण हैं—अपने गोत्र के व्यक्तियों (ज्ञाति) तथा मामा आदि मातृपक्ष के सम्बन्धियो (वन्धुओ) की साक्षी, विभाग का अभिलेख, घरों तथा खेतो पर वैयक्तिक अधिकार[१०८] । इस पर टीका करते हुए मिताक्षरा ने बताया है कि नारद पृथक रूप से खेती करना तथा अलग अलग पंचमहायज्ञादि करना विभाग का प्रमाण समझता है। नारद (१६।१४) और कात्यायन (स्मृच० २।३११) के मत मे दस वरस तक पृथक् रहने वाले, पृथक कार्य

---

१०७. नास्मृ० १६।३८-४० दानग्रहणपश्वन्नगृहक्षेत्रपरिग्रहाः । विभक्तानां पृथग्ज्ञेयाः पाकधर्मागमव्ययाः ।। साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च । विभक्ताः भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम् ।। येषामेताः क्रियाः लोके प्रवर्तन्ते स्वरिक्थतः । विभक्तानवगच्छेयुर्लेख्यमप्यन्तरेण तान् ।।

१०८. विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः । विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः ।।

करने वाले भाइयों को पैतृक सम्पत्ति की दृष्टि से पृथक समझना चाहिए[१०९] बृहस्पति ने कहा है कि लेखपत्र और साक्षी के अभाव में विभाग का निर्णय अनुमान से किया जाय[११०]।

वर्तमान काल में न्यायालय भोजन, निवास, धर्म कर्म, आय व्यय आदि की दृष्टि से अलग होने को ही विभाग का निर्णायक प्रमाण नही मानते, यह सिद्ध करना भी आवश्यक होता है कि ऐसे कार्य पृथक रहने की दृष्टि से ही किये जा रहे हैं[१११]।

विभाग के अधिकारी और अंशहर

सयुक्त परिवार के सभी सदस्य बटवारे में हिस्सा नही प्राप्त करते। यद्यपि एक अविभक्त कुटुम्ब में एक पूर्वज के सभी पुरुष वशज अपनी स्त्रियो तथा अविवाहित कन्याओं के साथ रहते हैं, किन्तु विभाग की दृष्टि से इस मे वही सदस्य अधिकारी समझे जाते हैं, जिनका पारिवारिक सम्पत्ति मे स्वत्व जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है। ऐसे व्यक्ति तीसरी पीढ़ी तक की पुरुष सन्तान अर्थात् एक व्यक्ति, उसके पुत्र, पुत्र के पुत्र और पुत्र के प्रपौत्र हो सकते हैं। इन सब को विभाग की माग का अधिकार है। इन के अतिरिक्त परिवार के निम्न सदस्यो को विभाग कराने का अधिकार न होने पर भी, बंटवारा होने पर अपना हिस्सा पाने का हक है—(१) पत्नी (२) माता (३) दादी।

पुत्र का अधिकार—मिताक्षरा ने पुत्र को पिता की इच्छा के विरुद्ध भी पैतृक सम्पत्ति का बटवारा कराने का अधिकार दिया है। उसने बडे स्पष्ट शब्दो में यह व्यवस्था की है—यद्यपि माता ने सन्तानोत्पादन की अवस्था न लाघी हो, पिता में सम्पत्ति की अभिलाषा हो तथा वह बंटवारा न चाहे तो भी पुत्र की इच्छा से पैतृक सम्पत्ति का विभाग होता है[११२]। अपने मत की पुष्टि उसने मनु०

---

१०९. नास्मृ० १६।४१—वसेयुर्ये दशाब्दानि पृथग्धर्माः पृथक्क्रियाः। विभक्ता भ्रातरस्ते तु विज्ञेया इति निश्चयः॥

११०. स्मृच २।३१० में उ० बृह०—साहसं स्थावरं न्यासः प्राग्विभागश्च रिक्थिनाम्। अनुमानेन विज्ञेयं न स्यातां पत्रसाक्षिणौ॥

१११. जीनू भाई बनाम कृष्णाजी ६ बं० ला० रि० ३५१

११२. याज्ञ० २।१२१ मिता० पर —तथा च सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति।

(९।२०९)से भी की है (या० २।१२१)। आजकल बम्बई के अतिरिक्त मिताक्षरा द्वारा शासित हिन्दू परिवार में पुत्रो को यह अधिकार प्राप्त है। वम्वई हाईकोर्ट ने आपा जी नरहर बनाम रामचन्द्र के मामले (१६ बं० २९) बहुमत से यह निर्णय किया था कि जन्म से पैतृक सम्पत्ति मे स्वत्व होने पर भी, पुत्र पिता की इच्छा के विरुद्ध उसके बटवारे के लिये या उस में हिस्सा पाने के लिये पिता के विरुद्ध दावा नही कर सकता। इस मामले में यद्यपि सस्कृतज्ञ न्यायाधीश श्री काशीनाथ त्र्यवक तैलग ने अन्य जजो के बहुमत से अपना विरोध प्रकट किया था, उन का पक्ष शास्त्रीय दृष्टि से ठीक था, किन्तु अल्पमत होने से उनकी सम्मति नही मानी गयी[११३]।

यह स्पष्ट है कि पुत्र का विभाग का अधिकार जन्म द्वारा पैतृक सम्पत्ति में उसके स्वत्व का स्वाभाविक परिणाम था। पिता की इच्छा के विरुद्ध वटवारा करने वालो को गौतम ने ६०० ई० पू० में श्राद्ध में न वुलाने योग्य ठहराया था (दे० ऊ० पृ० ३४८)। अन्य शास्त्रकारो ने पुत्र के इस अधिकार पर नाना प्रकार के प्रतिवन्ध लगाने चाहे थे (दे० ऊ० पृ० ३४७)डेढ हजार वर्ष के विरोध के बाद मिताक्षरा द्वारा पहली वार असदिग्ध और स्पष्ट रूप से पुत्र को यह अधिकार मिला। विज्ञानेश्वर के वाद मित्रमिश्र ने उसका समर्थन किया और मदन पारिजात(पृ० ६६२)ने विरोध। वर्त्तमान न्यायालयो में केवल वम्वई ही मिताक्षरा का विरोधी है।

पितृतो विभाग—यद्यपि पुत्रो को पैतृक सम्पत्ति में समान अंश मिलते है, किन्तु उन की मृत्यु हो जाने पर उनके पुत्रो(अर्थात् पौत्रो)को पिता का ही अश मिलेगा, न कि पुत्रो की भाति समान अश। मिताक्षरा द्वारा दिये उदाहरणो

---

११३. बहुमत का यह निर्णय पिता के अपने भाइयों तथा पिता के साथ अविभक्त होने की दशा में प्रधान रूप से याज्ञ० २।१२० के आधार पर है, क्योंकि विज्ञानेश्वर ने 'अनेक पितृकाणां तु पितृतो भाग कल्पना', की उपमा में यह कहा है कि पिता के मृत होने पर उस के पौत्रों में सम्पत्ति का वंटवारा उनके पिताओं को मिलने वाले हिस्से के आधार पर होता है। इससे यह अनुमान किया गया है कि पिता के भाइयों से विभक्त होने, पिता के भाई न होने की दशा में अपने पिता के साथ संयुक्त होने पर पोते दादा की सम्पत्ति में हिस्सा नही मांग सकते (विभक्ते पितर्यविद्यमानभ्रातृके वा पौत्रस्य पैतामहे द्रव्ये विभागो नास्ति) मि० काणे—हिध० ३।५७०।

को[११४]निम्न तालिका में प्रकट करने से यह बात भली भांति स्पष्ट हो जायगी ।
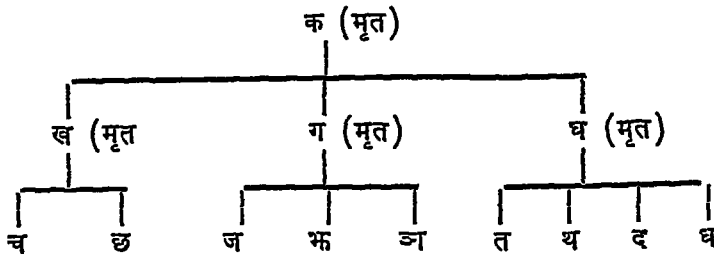
इसमे क के पुत्र तीन अविभक्त भाइयो में से ख के दो पुत्र च छ, ग के तीन पुत्र ज, झ ञ और घ के चार पुत्र त थ द ध हैं, ख ग घ के मृत होने पर जब क की पैतृक सम्पत्ति का बटवारा होगा तो सम्पत्ति को दायादो की कुल सख्या नौ (२ + ३ + ४) द्वारा समान भागो मे नही बांटा जायगा, प्रत्युत उन के पिताओ की दृष्टि से तीन अशों मे ही विभक्त किया जायगा, एक अश ख के दो बेटो में, दूसरा अश ग के तीन बेटो में तथा तीसरा अश घ के चार बेटों में बटेगा। इस प्रकार च को कुल सम्पत्ति का $\frac{१}{६}$ प्राप्त होगा और त को $\frac{१}{१२}$ । यह सिद्धान्त इसलिये बना है कि क की सम्पत्ति में च छ, ज झ ञ, त थ, द ध को अपने पिताओ के प्रतिनिधि रूप में हिस्सा प्राप्त हुआ है। इस प्रकार का बंटवारा पितृतो विभाग (Per stirpes) कहलाता है । प्रायः सभी शास्त्रकारो नें इसकी व्यवस्था की है[११५]।

विभागके अनन्तर उत्पन्न पुत्रो के अधिकार के सम्बन्ध में प्राचीन स्मृतिकारों ने विभिन्न व्यवस्थायें की थी। विष्णु (१७।३) और याज्ञवल्क्य (२।१२२) बाद में पैदा हुए पुत्र को अपना अश देने के लिये पुनः बटवारा करवाने

११४. मिता० २।१२० यदाऽविभक्ता भ्रातरः पुत्रानुत्पाद्य दिष्टं गतास्तदैकस्य द्वौ पुत्रावन्यस्य त्रयोऽपरस्य चत्वार इति पुत्राणां वैषम्ये तत्र द्वावप्येकं स्वपित्र्यमंशं लभेते, अन्ये त्रयोऽप्येकमंशं पित्र्यं, चत्वारोऽप्येकमेवांशं पित्र्यं लभन्त इति ।

११५. दे० ऊपर पृ० ३०३ । बृह० अपरार्क (पृ० ७२७) द्वारा उद्धृत—समवेतैस्तु यत्प्राप्तं सर्वे तत्र समांशिनः । तत्पुत्रा विषमसभाः पितृभागहराः स्मृताः ॥

के पक्षपाती हैं[११६]। गौतम (२८।२९), मनु (९।२१६) नारद (१३।४४), बृहस्पति (मिता० २।१२२) ऐसे पुत्र को केवल पिता का ही हिस्सा देते हैं[११७]; किन्तु यदि पिता अपने विभक्त पुत्रो के साथ पुनः मिल गया है तो वह उनके साथ ही अश ग्रहण करेगा। मिताक्षरा ने इन विरोधी वचनो का इस प्रकार समन्वय किया है कि पिछले वचन एक सामान्य नियम का प्रतिपादन करते है और पहले वचन केवल उस पुत्र तक ही सीमित है, जो विभाग के समय गर्भस्थ था, क्योकि कानून की दृष्टि से पुत्र की सत्ता गर्भ में आ जाने के बाद से ही स्वीकार की जाती है[११८]। मिताक्षरा ने इस सम्बन्ध में वसिष्ठ की पुरानी व्यवस्था का उल्लेख किया है कि गर्भलक्षण स्पष्ट होने की दशा में बटवारे को प्रसूति पर्यन्त स्थगित रखना चाहिये, यदि इसका ज्ञान न हो तो बाद में पुन विभाग होना चाहिये। इस बटवारे को पहले विभाग के बाद हुए आय व्यय का पूरा ध्यान रखते हुए ही किया जायगा। पुत्रो को विभाग कराने का अधिकार मिताक्षरा परिवार मे ही प्राप्त है, दायभाग मे पिता के जीवित रहते हुए पैतृक सम्पत्ति पर उनका कोई हक नही है।

अनुलोम विवाहों के पुत्र--हीन वर्ण की स्त्रियों के साथ उच्च वर्ण के पुरुषो का विवाह अनुलोम कहलाता है। प्राचीन काल मे इन विवाहो का काफी

---

११६. विष्णु धर्म सूत्र १७।३ पितृविभक्ता विभागानन्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युः। या० २।१२२ दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥

११७. गौध० सू० २८।३० विभक्तजः पित्र्यमेव, बृह० मिता० द्वारा २।१२२ पर उद्धृत--पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्। विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥ वर्त्तमान न्यायालय बृहस्पति के इस वचन तथा मिताक्षरा के 'विभागोत्तरकाल पित्रा यत्किंचिदर्जितं तत्सर्वं विभक्तजस्यैव' के अनुसार विभाग के बाद उत्पन्न पुत्र का पिता के विभाग द्वारा प्राप्त अंश तथा स्वर्जित सम्पत्ति दोनों पर अधिकार मानते हैं--दे० नवलसिंह व० भगवान (१८८२) ४ अला० ४२७

११८. मिता० २।१२२ एतच्च विभागसमयेऽप्रजस्य भ्रातुर्भार्याया-मस्पष्टगर्भायां विभागादूर्ध्वमुत्पन्नस्यापि वेदितव्यम्। स्पष्टगर्भाणां तु प्रसवं प्रतीक्ष्य विभागः कर्त्तव्यः। यथाह वसिष्ठः। 'अथ भ्रातृणां दायविभागो यश्चानपत्याः स्त्रियस्तासामापुत्रलाभात् इति'। मिताक्षरा की या० २।१२२ की उपर्युक्त व्याख्या से अपरार्क, कुल्लूक, विवाद रत्नाकर, विवाद चिन्तामणि, मदन

प्रचलन था और धर्मशास्त्रो में ऐसे विवाहों से उत्पन्न पुत्रो के अंशो का विस्तार से वर्णन है। मनु (९।१५३) तथा याज्ञ० (२।१२५) की व्यवस्था के अनुसार यदि एक ब्राह्मण की चार वर्गों की चार पत्निया हो और उनके चार पुत्र हों तो सारी सम्पत्ति दस भागो में बाट कर उसका निम्न प्रकार से विभाग होगा—४ भाग ब्राह्मणी के पुत्र को, ३ भाग क्षत्रिया के, २ भाग वैश्या तथा १ भाग शूद्रा के पुत्र को[११९]। यदि ऊपर के तीन वर्णों की पत्नियो से सन्तान न हो, केवल शूद्रा की ही सन्तान हो तो भी उसे दसवा हिस्सा ही मिलेगा (मनु० ९।१५४ मि० महाभा० १३।४७।२१) आज कल न्यायालयो ने इस पुरानी व्यवस्था को स्वीकार किया है। यदि किसी ब्राह्मण की चारो वर्गों की पत्नियो में से केवल उच्च वर्ण की किसी पत्नी से एक सन्तान हो तो वह पिता की सारी सम्पत्ति का स्वामी बनेगी, यदि एक सन्तान केवल शूद्रा से हो तो वह $\frac{1}{10}$ सम्पत्ति ही पा सकती है, यदि एक सन्तान उच्च वर्ण की पत्नी से तथा एक शूद्रा से हो तो पहली को $\frac{9}{10}$ तथा दूसरी को $\frac{1}{10}$ सम्पत्ति प्राप्त होगी (नाथ व० छोटालाल ३२ व० ला० रि० १३४८)।

दासीपुत्र—तीन उच्च वर्णो द्वारा रखैल स्त्री (अपरिणीता दासी) से उत्पन्न पुत्र को प्राचीन काल से पैतृक सम्पत्ति में कोई अधिकार नही प्राप्त है, वह केवल भरण पोषण ही पा सकता है। गौतम के शब्दो मे शिष्य की भाति आज्ञाकारी होने पर उसे केवल जीवन निर्वाह की वृत्ति पाने का हक है[१२०]। किन्तु शूद्र का रखैल (दासी) से उत्पन्न पुत्र मनु के मत में पिता की अनुमति से उसकी सम्पत्ति का अशहर हो सकता है। इस विषय की विस्तृत व्यवस्था याज्ञवल्क्य ने की है—'शूद्र द्वारा दासी में उत्पन्न पुत्र पिता की इच्छा से अंशहर होता है। यदि पिता मर जाय तो भाई उसे एक अश का आधा प्रदान करें, भ्रातृहीन होने पर

पारिजात और सरस्वती विलास सहमत है दे० झा०—हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज २।१२५-२९, ३४७-५२; विश्वरूप और दीप कलिका असहमत हैं दे० काणे हि० ध० ३।५९७

११९. मनु० ९।१५३ चतुरोऽंशान् हरेद्विप्रस्त्रीनंशान् क्षत्रियासुतः। वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमंशं शूद्रापुत्रो हरेत् ॥ मि० बौधा० २।२।२।१०, वसिष्ठ १७।४४, विष्णु स्मृति १८।१-३१ कौ० ३।६, याज्ञ० २।१२५।

१२०. गौतम० २८।२७ शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना।

वह दोहते के अभाव में सारी सम्पत्ति को ले सकता है[१२१]। वर्तमान न्यायालयो ने भी शूद्र के दासी पुत्र को यह अधिकार प्रदान किया है। वह चूंकि 'पिता की इच्छा' से अशहर है अतः उसे वैध पुत्रो की भांति पैतृक सम्पत्ति में जन्म से स्वत्व नही प्राप्त है, वह बटवारे की माग नही कर सकता (१८ कल० १५१), आजकल विभिन्न अदालती निर्णयो से शूद्र के दासी पुत्र के अधिकारो के सम्बन्ध में श्री काणे (हिध० ३।६०१) ने निम्न परिणाम निकाले हैं —(१) पिता अपनी इच्छा से अपने जीवन काल में उसे वैध पुत्रो के बराबर हिस्सा दे सकता है; किन्तु उसे पिता की जीवित दशा मे विभाग कराने का अधिकार नही है (४ ब० ३७, ४४-४५, २३ मद्रास १६)। (२) पिता की मृत्यु के अनन्तर शूद्र का दासी पुत्र अन्य वैध पुत्रो के समान दायाद (Coparcener) हो जाता है, अतः उसे विभाग कराने का अधिकार है। (३) विभाग में दासी पुत्र का अंश वैध पुत्र से आधा होता है, यदि एक वैध और एक दासीपुत्र हो पहले को ३/४ तथा दूसरे को १/४ सम्पत्ति मिलेगी। (४) विभाग न होने की तथा वैध पुत्रो के मृत होने की दशा में समाशिता के अन्तिम अतिजीवी (Survivor) होने के कारण उसे सारी सम्पत्ति प्राप्त होगी। (५) याज्ञ० के उपर्युक्त श्लोक में चूंकि पुत्र का ही उल्लेख है, अतः दासीपुत्री को रिक्थ तथा भरण पोषण का कोई अधिकार नही है।

नाबालिग पुत्रों का अधिकार—प्राचीन काल मे सामान्य रूप से शरीको के बालिग होने पर ही बटवारा होता था, किन्तु कौटिल्य और बौधायन से यह स्पष्ट है कि उन की नाबालिगी बटवारे में बाधक नही होती थी। अर्थशास्त्र के अनुसार नाबालिग (अप्राप्त व्यवहार) शरीकों को, उन के बालिग होने तक, पारिवारिक ऋण (देय) से रहित उनका अश उनकी माता के संबन्धियो अथवा गांव के वृद्ध पुरुषो के पास रखना चाहिये, विदेश गये व्यक्ति के लिये भी यही नियम है[१२२]। कात्यायन ने भी ऐसी व्यवस्था की है[१२३]। इससे यह

१२१. या० २।१३३-३४—जातोऽपि दास्यां शूद्रेण कामतोऽशहरो भवेत्। मृते पितरि कुर्युस्तं भ्रातरस्त्वर्धभागिकम्। अभ्रातृको हरेत्सर्वं दुहितॄणां सुतादृते॥

१२२. अर्थशास्त्र ३।५ प्राप्तव्यवहाराणां विभागः। अप्राप्तव्यवहाराणां देयविशुद्धं मातृबन्धुषु ग्रामवृद्धेषु वा स्थापयेयुराव्यवहारप्रापणात् प्रोषितस्य वा। मि० बौधा० ध० सू० २।२।४२।

१२३. कात्या० (अपरार्क पृ० ८४४-४५)—संप्राप्तव्यवहाराणां विभागश्च विधीयते। पुंसां च षोडशे वर्षे जायते व्यवहारिता॥ शास्त्रकारों में इस

स्पष्ट है कि नावालिगी में भी उस समय वटवारा होता था। मित्रमिश्र के कथन से यह स्पष्ट है कि किसी एक व्यक्ति की इच्छा से ही वंटवारा सभव है[१२४]।

वर्तमान न्यायालय भी किसी शरीक की नावालिगी को वंटवारे में वाधक नही समझते, यदि उसे सव शरीको के वालिग होने तक प्रतीक्षा करने को कहा जाय तो उसका यह अधिकार निरर्थक हो जायगा। विभाग में नावालिगों के हितो की रक्षा उनके सरक्षको द्वारा होती है, वटवारे में यदि उन के साथ कोई अन्याय हुआ हो तो वालिग होने पर वे उस के प्रतिशोध के लिये दावा कर सकते हैं।

प्रश्न पर काफी मतभेद है कि वालिग होने की आयु १६ वें वर्ष का प्रारम्भ है या इसका अन्त। कात्यायन, अंगिरा (मिता० २।२४३) और नारद पहले मत के पक्षपाती हैं; अंगिरा के एक वचन के अनुसार सोलह साल से कम आयु (ऊन-षोडश:) का व्यक्ति वाल है, कात्यायन ने ऊपर वाले श्लोक में सोलहवें वर्ष में व्यक्ति की व्यवहारिता वतलायी है, नारद भी १६ वें वर्ष तक व्यक्ति को वाल कहता है (वाल आ षोडशाद्वर्षात्पोगण्ड इति शस्यते ऋणादान ३५)। किन्तु हरदत्त, विवाद रत्नाकर और वीरमित्रोदय १६वां वर्ष समाप्त होने पर व्यक्तियो को प्राप्त व्यवहार मानते हैं। गौ० ध० सू० १०।४८ की टीका में हरदत्त ने ने लिखा है—यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। विवाद रत्नाकर (पृ० ५९९) का मत है—आङ अभिविधौ। तेन सप्तदश वर्षात्प्राक्। मित्रमिश्र भी १६ वर्ष पूरा होने पर ही व्यवहारज्ञता (सांसारिक विषयों को समझने की शक्ति) मानता है-षोडशवर्षस्य वार्धिकत्वमाह (व्यप्र० २६३)। आजकल सामान्यरूप से वालिग होने की आयु १८७५ के नवें कानून के अनुसार १८ वर्ष है, किन्तु विवाह, दत्तक पुत्र लेने आदि की दृष्टि से १६ वर्ष की पुरानी हिन्दू व्यवस्था प्रचलित है। वंगाल में १५ वां वर्ष समाप्त होने पर (काली चरण व० भगवती १० वं० ला० रि० २३१) तथा वम्वई और मद्रास में १६वां वर्ष पूरा होने पर (शिवाजी व० दातू १२ वं० हा० को० रि० २८१, रीड व० कृष्ण ९ म० ३९१,३९७) व्यक्ति वालिग होता है।

१२४. वीर मित्रोदय व्यवहार प्रकाश पृ० ४६०— अत्र च पुत्रेच्छया यो जीवद्विभागो यश्चाजीवद्विभागः स एकेच्छयापि भवत्यविशेषात्।....अन्यथा तदनुमतिमन्तरेण विभागाभावे तद्धनस्य वन्धुमित्रेषु न्यासविधानमनुपपन्नं स्यात्।

विभाग के स्त्री अंशहर

वटवारे के समय परिवार के स्त्री सदस्यो के हितो की सुरक्षा के लिये शास्त्रकारो ने अनेक व्यवस्थाये की है; इन के अनुसार पत्नी, विधवा, माता दादी और कन्या को निम्न प्रकार के स्वत्व प्राप्त होते है ।

पत्नी—यदि पुत्र पिता के जीवित रहते हुए वटवारा कराते है या पिता पुत्रो से अलग होता है तो याज्ञवल्क्य के अनुसार पत्नी को इस वटवारे मे पुत्र के अंश के समान हिस्सा मिलेगा, यदि अनेक पत्निया हो तो प्रत्येक का भाग पुत्र के अश के तुल्य होगा; किन्तु इसमें यह शर्त्त है कि इस प्रकार हिस्सा लेने वाली स्त्रियो के पास पति अथवा श्वशुर से दिया हुआ स्त्रीधन नही होना चाहिये, यदि यह हो तो इसे सम्मिलित करते हुए, पुत्र के अश से आधा ही पत्नी को मिलेगा[१२५]। विज्ञानेश्वर ने यह भी स्पष्ट किया है कि पत्नी को यह अश पति की इच्छा से प्राप्त होता है, स्वेच्छा से नही[१२६] । इस का अर्थ यह है कि पत्नी विभाग के लिये माग नही कर सकती ।

आपस्तम्व के मतानुसार पति पत्नी का विभाग नही होता[१२७], अतः हिन्दू पत्नी को विभाग में अश पाने का उपर्युक्त अधिकार नाममात्र ही है, वास्तविक नही। मित्रमिश्र के शब्दो मे पति की सम्पत्ति में पत्नी का स्वत्व दूध और पानी की तरह एक हो जाता है[१२८] । इस सिद्धान्त को मानने का परिणाम यह हुआ है कि पत्नी का स्वत्व पति के स्वत्व के साथ जुडा होने के कारण पति की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है । विधवा होने पर, उसे पति की सम्पत्ति का वटवारा होने पर, पति के जीवित रहते हुए पति को प्राप्त होने वाला अश नही मिलता, केवल भरण पोषण पाने का अधिकार होता है । आगे (पृ० ३९३) यह बताया जायगा कि १९३७ तथा १९३८ के हिन्दू स्त्रियो की सम्पत्ति के

---

१२५. या० २।११५ यदि कुर्यात् समानंशान्पत्न्यः कार्याः समांशिकाः । न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा श्वशुरेण वा । मिता० दत्ते तु स्त्रीधने अर्धांशं वक्ष्यति —'दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत् (या० २।१४८)

१२६. मिता० या० २।५२ पर-तस्माद्भर्तुरिच्छया भार्याया अपि द्रव्य-विभागो भवत्येव न स्वेच्छया ।

१२७. आप ध० सू० २।६।१४।१६ जायापत्योर्न विभागो विद्यते ।

१२८. व्यप्र० पृ० ५१० पत्न्याः पतिद्रव्ये स्वत्वं नीरक्षीरवदेकलोली-भावापन्नं सहाधिकारिककर्मोपयोगि न तु भ्रातृणामिव परस्परम् ।

कानूनो से ही उसे अंशहर होने का अधिकार मिला है। प्राचीन काल में विश्वरूप (८००-८२५ ई०) ने विधवाओ को अपने मृत पति का अश देने का समर्थन उक्त कानून से ११०० वर्ष पूर्व किया था[१२९]।

पत्नीभाग—गौतम, व्यास तथा बृहस्पति ने एक पुरुष की अनेक स्त्रिया और वहुत पुत्र होने पर उन पत्नियो अथवा माताओ के आधार पर बटवारा करने की व्यवस्था की है[१३०]। इसमे अशहर का हिस्सा पत्नी या माता के कारण निश्चित होने से यह पत्नीभाग या मातृभाग कहलाता है। इस की यह विशेषता है कि इसमें अंश निर्धारण पुत्रो की सख्या से नही; किन्तु माताओ की सख्या से होता है। जैसे एक पुरुष की तीन स्त्रिया हो, पहली से एक, दूसरी से दो, तीसरी से तीन सन्तानें हो तो सामान्य नियम के अनुसार पुत्रो की सख्या के अनुसार सम्पत्ति छः भागो में बटनी चाहिये; किन्तु मातृभाग के अनुसार वह तीन भागो मे बटेगी, पहली स्त्री के लड़के को $\frac{1}{3}$, दूसरी के पुत्रो को $\frac{1}{6}$ तथा तीसरी की प्रत्येक सन्तान को $\frac{1}{9}$ हिस्सा प्राप्त होगा।

कुछ विशेष जातियो और स्थानो में इस प्रथा के प्रचलित होने के कारण, रिवाज के आधार पर इस प्रकार के बटवारे को वर्त्तमान अदालतें स्वीकार करती है। मदुरा जिले के चेट्टियो में विभाग पत्नीभाग के सिद्धान्त के अनुसार होता है (पलनियप्पा व० अलयन ४८ इ० ए० ५३९)।

माता—याज्ञवल्क्य (२।१२३), विष्णु (१८।३४) तथा नारद (दा० १२) ने स्पष्ट रूप से माता को पिता की मृत्यु के बाद विभाग के समय अंशहर बताया है[१३१]। इस विषय में उस के अधिकार पत्नी के स्वत्वो जैसे ही हैं, वह पुत्रो को बटवारे के लिये बाधित नही कर सकती और इस के होने पर, उसे पुत्र के समान अश देते हुए, उसके पास विद्यमान स्त्रीधन की राशि उसके अंश में से घटा दी जाती है।

---

१२९. या० २।११९ की बालक्रीडा टीका—समांशदानपक्षे प्रमीतभर्तृकाः पुत्रपौत्रपत्न्यःस्वपत्न्यश्च भर्तृभागार्हाः कार्याः।

१३०. गौ० ध० सू० २८।१५ प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः। दायभाग पृ० ६० पर उद्धृत व्यास—समानजातिसंख्या ये जातास्त्वेकेन सूनवः। विभिन्नमातृकास्तेषां मातृभागः प्रशस्यते॥ दायभाग में बृह० का भी इसी प्रकार का एक वचन उद्धृत है।

१३१. या० २।१२३ पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरेत्।

मध्यकाल में अनेक शास्त्रकार माता को यह अधिकार नही देना चाहते थे। उन का यह कहना था कि माता को अश प्रदान करने वाले शास्त्रीय वचनो का अर्थ केवल इतना ही है कि वह अपने निर्वाह मात्र के लिये आवश्यक सम्पत्ति ही ग्रहण करे। श्रीकर आदि का यह मत भी था कि माता को समान अश देने की वात वही लागू होती है, जहा पैतृक सम्पत्ति कम हो, अधिक होने पर माता को केवल जीवनोपयोगी धन पाने का ही अधिकार है। विज्ञानेश्वर ने इन दोनों मतो का खण्डन किया है (या० २।१३५)। "यदि माता को केवल गुज़ारा पाने का हक है तो उस को 'समान अश' देने की व्यवस्था करने वाले शास्त्रीय वचनो की क्या आवश्यकता थी? यदि कम सम्पत्ति में उसे समान अश देने तथा अधिक द्रव्य मे भरण पोषण का अधिकार स्वीकार किया जाय, तो इसमें एक ही शब्द (समान अश) द्वारा दो विभिन्न दशाओं में दो विभिन्न व्याख्यायें करने का दोष (विधिवैरूप्य) उत्पन्न होगा"[१३२]।

विज्ञानेश्वर के प्रवल समर्थन के बावजूद, मध्यकाल के अधिकाश निवन्धकार माता के अशहर होने के विरोधी थे। देवण्ण भट्ट ने यद्यपि माता के अश का समर्थन किया (स्मृति चन्द्रिका २।२६८)[१३३]; किन्तु यह नक्कारखाने में तूती की आवाज़ थी। व्यवहारसार, विवादचन्द्र आदि ग्रन्थो मे यही मत प्रतिपादित किया गया[१३४] कि स्त्रीमात्र पैतृक सम्पत्ति की अशहर नही हो सकती, उन्हे केवल अपने गुजारे के लिये आवश्यक धन पाने का ही हक है। उन का प्रधान आधार

१३२. मिता० या० २।१३५ पर—एतेनाल्पधनविषयत्वं श्रीकरादिभिरुक्तं निरस्तं वेदितव्यम्।.... अथ 'पत्न्यः कार्याः समांशिकाः' इत्यत्र मातात्यंशं समं हरेत् (याज्ञ० २।१२३) इत्यत्र च जीवनोपयुक्तमेव धनं स्त्री हरतीति मतं, तदसत्। अंशशब्दस्य समशब्दस्य चानर्थक्यप्रसंगात्। स्यान्मतम्। बहुधने जीवनोपयुक्तं धनं गृह्णाति, अल्पे तु पुत्रांशसमांशं गृह्णातीति। तच्च न विधिवैषम्यप्रसंगात्।

१३३. स्मृच० २।२६८ में देवल—जनन्यस्वधना पुत्रैर्विभागेंशं समं हरेत् इति स्मरणात्। अस्वधना प्रातिस्विकस्त्रीधनशून्या जननी पुत्रैरजीवद्विभागे क्रियमाणे पुत्रांशसममेवांशं हरेदित्यर्थः। देवण्ण भट्ट का यह समर्थन ऐसी निर्धन माता के लिए है, जो अपने भरण पोषण तथा धर्मकार्य करने में असमर्थ है, सरस्वती विलास (पृ० ३५८) ने अपरार्क का भी ऐसा ही मत बताया है।

१३४. विवादचन्द्र पृ० ६७ स्त्रीणां सर्वासामनंशत्वमेव। यत्राप्यंश-श्रवणं 'पितुरूर्ध्वं विभजतां माताप्यंशं समं हरे' दित्यादौ तत्रापि किंचिद्दानं विव-

तै० स० (६।५।८।२) में सोमयज्ञ की विधि के संवन्ध में कहे गये एक वचन के आवार पर बौधायन का यह कथन है कि शक्तिहीन होने के कारण स्त्रियां दायाधिकारिणी नही होती। मनु ने भी ऐसी ही वात कही है (९।१८)। पिछले अध्याय में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है (पृ० ३२५)। इन शास्त्रकारो के विरोव से यह स्पष्ट है पत्नी तथा माता को अंशहर होने का अविकार वहुत सघर्ष के वाद मिला है। वीच में एक ऐसा काल रहा है, जिस में वह पूर्ण रूप से अंश न प्राप्त करती हुई, केवल एक निश्चित राशि या भरण मात्र पाने की हकदार थी। व्यास के मतानुसार पति की सम्पत्ति में से वह अविक से अविक दो हजार पण ही पा सकती थी (स्मृच पृ० २८१ में उद्धृत)।

जीमूतवाहन ने माता को पुत्र का समाशहर माना है, किन्तु सौतेली माता के लिये निर्वाह मात्र की व्यवस्था की है, क्योंकि माता को जननी होने के नाते ही अशहर होने का अविकार है, ऐसा न होने से वह सौतेले वेटो की सम्पत्ति का हिस्सेदार कैसे वन सकती है[१३५] ?

दादी—अपने पुत्र की मृत्यु की दशा में, पोतो के वीच मे अथवा अपने वेटे और मृत पुत्र के लड़को के मध्य मे, वटवारा होने की दशा में दादी अशहर होती है। इसका प्रवान आधार अपरार्क (पृ० ७३०), दायभाग (पृ० ६७) तथा स्मृतिचन्द्रिका (पृ० २६७)द्वारा उद्धृत व्यास का एक वचन है[१३६]।

वर्तमान न्यायालयो के फैसले इस सम्वन्व मे परस्परविरोवी है। पहले अलाहावाद हाईकोर्ट की फुलवेंच ने वनारस सम्प्रदाय के मिताक्षरा परिवार में दादी का हिस्सा स्वीकार नही किया। (शिवनारायण व० लछमीनारायण ३४ अला० ५०५) किन्तु इसी न्यायालय ने वाद के दो निर्णयो मे (४७ अला० १२१७, ५० अला० ५३२) दादी को अशहर माना। वम्वई हाईकोर्ट ने पोतों

क्षितम्। अर्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ 'न दायं निरिन्द्रिया अदाया हि स्त्रियो मताः' इति बौधायनवचनात्। निरिन्द्रियाः निःसत्वा इति प्रकाशः। अदाया अनंशा इत्यर्थः।

१३५. दायभाग ३।२९-३० पितरि चोपरते सोदरभ्रातृभिर्विभागे क्रियमाणे मात्रेऽपि पुत्रसमांशो दातव्यः। समांशहारिणी मातेति वचनात्। मातृपदस्य जननीपरत्वात् न सपत्नीपरत्वमपि सकृच्छ्रुतस्य मुख्यगौणत्वानुपपत्तेः।

१३६. असुतास्तु पितुः पत्न्यः समानांशाः प्रकीर्तिताः। पितामह्यश्च सर्वास्ता. मातृतुल्याः प्रकीर्त्तिताः॥

तथा सौतेली दादी के विभाग मे उस का अधिकार स्वीकार किया (३९ बं० ३७३), पर पिता पुत्र के बटवारे में इस अधिकार को अस्वीकार किया (५४ ब० ४१७)। इन निर्णयो को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है—(१) पोतो के बटवारे मे दादी अशहर हो सकती है, भले ही वह सौतेली हो (३९ बं० ३७३)। (२) चाचा भतीजे के बटवारे मे भी उसे यह हिस्सा मिलता है (५० अला० ५३२)। (३) किन्तु चाचा की जगह पिता और पुत्र हो तो उसे यह अधिकार नही है (३२ ब० ला० रि० ४८)। कलकत्ता तथा पटना हाईकोर्टों पिता और पुत्र के बटवारे मे भी दादी का हक माना है[१३७]। व्यास के उपर्युक्त वचन में दादी को माता के समान कहा गया है, अतः पुत्र सहित और पुत्र रहित सभी दादियो का अशहर होना उचित प्रतीत होता है।

दक्षिण भारत मे स्मृतिचन्द्रिका और सरस्वती विलास का प्रामाण्य अधिक माना जाता है, पहले यह बताया जा चुका है कि माता को वे अशहर होने का अधिकार निर्धन दशा मे ही देते है, वे इस का उद्देश्य उस का भरण पोषण मानते है, अत. वहां स्त्रियो, विधवाओं माता तथा दादी को हिस्सा देने की परिपाटी लुप्त हो चुकी है (८ मद्रास १२३)। अन्यत्र मिताक्षरा परिवार मे उपर्युक्त स्त्रियो को अशहर होने का हक है।

१९३७ तथा १९३८ ई० के हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार के कानून— इन कानूनो से उपर्युक्त स्त्री अंशहरो की स्थिति तथा अधिकारो में परिवर्त्तन आ गया है, पहले यह बताया जा चुका है कि सम्पत्ति पर पत्नी और पति का सयुक्त स्वत्व होने से, पति की मृत्यु के बाद पत्नी को उस का अश नही प्राप्त होता था। अब ऐसा नही रहा। उक्त कानूनो से मृत समाशी (Coparcener) की पत्नी को अविभक्त परिवार की सम्पत्ति मे वैसा ही स्वत्व प्राप्त हो गया है, जैसा उसके पति को था। उसे पुरुष समाशी की भाति बंटवारे की मांग करने तथा उस में अपना हिस्सा पाने का हक है। इन कानूनो मे यह भी व्यवस्था की गयी है कि यदि मिताक्षरा कानून द्वारा शासित कोई व्यक्ति पृथक् सम्पत्ति छोडकर तथा दायभाग परिवार का व्यक्ति कोई सम्पत्ति छोड कर मरता है तो उसकी विधवा या विधवायें उस सम्पत्ति में से पुत्र का समाश प्राप्त करने की अधिकारिणी है, बशर्त्ते कि वह बिना वसीयत किये मरा हो। इस प्रकार की व्यवस्था पूर्वमृत

---

१३७. बदरीराम व० भगवत ८ कल० ६४९; कृष्णलाल व० नन्देश्वर ४ पटना ला जर्नल ३९,४२-४४।

पुत्र की विधवा के लिये तथा पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र की विधवा के लिये भी की गयी है। विधवा को पति का स्वत्व देने से मिताक्षरा और दायभाग कानूनों मे काफी समानता हो गयी है; मृत समाशी की विधवा को पारिवारिक सम्पत्ति का समाशी वनाने से मिताक्षरा परिवार का यह मौलिक सिद्धान्त समाप्त हो गया है कि इसमें केवल पुरुष समाशी ही अतिजीविता (Survivorship) के कारण सयुक्त सम्पत्ति को ग्रहण करते है[१३८]।

कन्यायें—सयुक्त परिवार के विभक्त होते समय अविवाहित कन्याओं तथा भाइयो के वैवाहिक व्यय की व्यवस्था शास्त्रकारो ने की है। यदि विभाग पिता के जीवन काल मे होता है तो कन्या विवाह तक पिता के सरक्षण में रहती है, उसको कन्या के भरण पोषण तथा विवाह का व्यय करना पडता है। किन्तु जब पिता की मृत्यु पर वटवारा होता है तो मनु० (९।११८) और याज्ञवल्क्य (२।१२४) ने अविवाहित कन्याओ को भाइयो के हिस्से का चतुर्थांश देने की व्यवस्था की थी[१३९]। सभवतः इसका उद्देश्य उनके विवाह के व्यय तथा दहेज के लिये आवश्यक राशि की व्यवस्था करना था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की व्यवस्था से यह उद्देश्य भली भाति प्रकट होता है[१४०]।

मध्ययुग से टीकाकारों में इस प्रश्न पर तीव्र मतभेद रहा है कि अविवाहित वहनें पैतृक सम्पत्ति मे अपने भाइयो के साथ अशहर होती है, अथवा अपने विवाह के लिये आवश्यक धनमात्र प्राप्त करती है। असहाय, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र पहले मत के पक्षपाती है और भारुचि, अपरार्क, देवण्णभट्ट, जीमूतवाहन पराशर माधवीय, सरस्वती विलास, विवाद रत्नाकर, विवाद चिन्तामणि दूसरे मत के अनुयायी है। विज्ञानेश्वर

---

१३८. इंडियन ला रिपोर्टर (१९४२) मद्रास ६३०।

१३९ मनु ९।११८ स्वेभ्योंऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥ या. २।१२४ असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः। भगिन्यश्च निजादंशाद्दत्वांशं तु तुरीयकम्।

१४०. कौ० ३।५ संनिविष्टसममसंनिविष्टेभ्यो नैवेशनिकं दद्युः। कन्याभ्यश्च प्रादानिकम्॥ श्रीमूला टीका के अनुसार संनिविष्ट—विवाहित, नैवेशनिक का अर्थ है—निवेशनं परिणयनं तत्प्रयोजनकं द्रव्यं, अर्थात् विवाहोपयोगी धन। प्रदानं विवाहः तत्पर्याप्तं द्रव्यम् प्रादानिकम्॥

ने दूसरे मत का प्रबल खण्डन करते हुए कहा है[१४० क] 'निजादंशात्, (या० २।१२४) के वचन से यह स्पष्ट है कि लडकिया भी पिता की मृत्यु के बाद अश लेने वाली होती है'। चौथे हिस्से (तुरीयक) की यह व्याख्या नहीं करनी चाहिये कि इस का अर्थ विवाह संस्कार के लियै आवश्यक धन देना है, क्योकि ऐसी व्याख्या मनु (९।११८) वचन की विरोधी होगी, मनु ने हिस्सा न देने वालो को पतित कहा है।

बहिनो के हिस्से के सम्वन्ध में मिताक्षराकार ने वडे विस्तार से विचार किया है–यदि कन्या ब्राह्मणी की सन्तान होगी तो उसे १ हिस्सा (ब्राह्मणी के पुत्र को मिलने वाले ४ हिस्सो का $\frac{१}{४}$) मिलेगा[१४०]; क्षत्रिया की पुत्री को क्षत्रिय पुत्र के तीन हिस्सो का एक चौथाई अर्थात् $\frac{३}{४}$ प्राप्त होगा, इस प्रकार वैश्य तथा शूद्र वर्ण की स्त्रियो की लडकियो को $\frac{१}{२}$ तथा $\frac{१}{४}$ हिस्से मिलेंगे। कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—ब्राह्मणी का एक पुत्र और कन्या होने पर पहले सम्पत्ति को आधा आधा बाटा जायगा, फिर इस का एक चौथाई अर्थात् कुल सम्पत्ति का ($\frac{१}{८}$) लड़की को मिलेगा, और शेष सात हिस्से लड़के को। दो पुत्र तथा एक पुत्री की दशा में सम्पत्ति पहले तीन हिस्सो में बाट कर उस $\frac{१}{४}$ अर्थात् कुल सम्पत्ति का $\frac{१}{१२}$ लड़की को मिलेगा और $\frac{११}{१२}$ दो पुत्रो में समान रूप से बाटा जायगा। एक पुत्र और दो पुत्रिया होने पर उपरोक्त प्रकार से ($\frac{१}{३}\times\frac{१}{४}$) से एक लडकी का हिस्सा $\frac{१}{१२}$ तथा दो का अश $\frac{१}{६}$ हुआ, शेष $\frac{५}{६}$ सम्पत्ति पुत्र को मिलेगी। ब्राह्मणी की एक पुत्री तथा क्षत्रिया का एक पुत्र होने की दशा में सारी सम्पत्ति ४+३ अर्थात् सात हिस्सो मे बंटेगी, इनमें एक हिस्से का एक चौथाई अर्थात् $\frac{१}{४}$ कन्या को तथा शेप ६$\frac{३}{४}$ लडके को मिलेगा। इसी प्रकार ब्राह्मणी के दो पुत्र तथा क्षत्रिया की एक कन्या होने पर सम्पत्ति पहले ४+४+३ अर्थात् ११ अशो में बाटी जायगी। एक अंश का $\frac{१}{४}$ कन्या को देने के बाद शेष १०$\frac{३}{४}$ भाग दोनो पुत्रो में बाटा

---

१४० क. अनेन दुहितरोऽपि पितुरूर्ध्वमंशभागिन्य इति गम्यत।

१४०. पहले यह बताया जा चुका है कि मनु ९।११२–१३ तथा या० २।१२५ के अनुसार असवर्ण विवाहों में अनुलोमज सन्तान को माता के वर्ण के आधार पर क्रमशः ४ : ३ : २ : १ के अनुपात से पैतृक सम्पत्ति में हिस्से मिलेंगे दे० ऊ० पृ० ३८६

जायगा (मिता० २।१२४)। विज्ञानेश्वर ने विभिन्न अवस्थाओ में कन्याओं के अंश का वड़े विस्तार से सभवतः इसलिये वर्णन किया है कि किसी को इन के अशहर होने में सन्देह न रहे।

जीमूतवाहन ने इसके विरोधी पक्ष का प्रतिपादन करते हुए कहा—(पैतृक सम्पत्ति) के कम होने पर पुत्रों को अपने अपने भाग का चौथा अश देना चाहिये जैसा मनु (९।११८) का मत है, अधिक धन होने पर विवाह के लिये आवश्यक धन प्रदान करना उचित है; दायतत्त्व ने भी इसका समर्थन किया[१४१]। स्मृति चन्द्रिका (२।२६९) व्यवहार मयूख (पृ० १०६) पराशर माधव (३।५१०) और व्यवहारप्रकाश (पृ० ४५६) इस मत का समर्थन विष्णु (१५।३१), देवल और शख के वचनो के आधार पर करते हे,[१४२] इन सब में कन्या को विवाह के लिये धन देने को कहा गया है। वर्त्तमान समय मे न्यायालय दूसरे पक्ष को मानते हुए अविवाहित कन्याओ को वैवाहिक व्यय ही प्रदान करते है, पैतृक सम्पत्ति में उन का अशहर होना नही स्वीकार करते। अलाहावाद हाईकोर्ट ने भगवती शुक्ल व० राम जतन (४५ अ० २९७) के मामले में यह निर्णय दिया है कि शास्त्रो के 'चतुर्थांश' का अर्थ विवाह के लिये आवश्यक धन है। यह नियम विभाग चाहने या उसका दावा करने वाले व्यक्ति की अविवाहित वहन के लिये ही है, उसके भाइयो की लड़कियो के लिये नही (मि० ५३ मद्रास ८४)।

अनर्ह अंशहर—पिछले अध्याय में यह वताया जा चुका है अनेक प्रकार के शारीरिक और मानसिक दोषो वाले व्यक्ति (नपुंसक, पतित, लगडा, उन्मत्त, मूर्ख, अन्धा आदि) निरशक अर्थात् सम्पत्ति के अशहर होने के अयोग्य समझे जाते थे (पृ० ३२०-३२१)। अव १९२८ के 'हिन्दू उत्तराधि-

---

१४१. दायभाग पृ० ६९-७० अल्पधने पुत्रैः स्वात्स्वादंशादाकृष्य कन्याभ्यश्चतुर्थांशो दातव्यः। यथा मनुः स्वेभ्यः (९।११८) एवं च वहुतरधने विवाहोचितं दातव्यं न चतुर्थांशनियम इति सिध्यति। दायतत्व पृ० १७१ एवं तुरीयांशप्रतिपादकमपि विवाहोचितद्रव्यदानपरम्।

१४२. विष्णु धर्म सूत्र १५।३१ अनूढानां तु कन्यानां स्ववित्तानुरूपेण संस्कार कुर्यात्। देवल (स्मृच २।२६८) कन्याभ्यश्च पितृद्रव्यं देयं वैवाहिकं वसु। शंख (स्मृच २।२६९)—विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या लभेत्।

कार (अनर्हता निवारण)' कानून से मिताक्षरा परिवार में जन्मजात मूर्ख और पागल के अतिरिक्त सब व्यक्ति दायाद बन सकते हैं, अतः बंटवारे में अंशहर भी हो सकते हैं। दायभाग परिवार में अभी तक ये अनर्हतायें बनी हुई हैं। इन अनर्ह पुरुषो के पुत्र दोषरहित होने पर भागहर होते हैं और इनकी लडकिया विवाह पर्यन्त भरणीय होती हैं (याज्ञ० २।१४१)। यदि बटवारे के समय कोई व्यक्ति किसी शारीरिक या मानसिक दोष से ग्रस्त है, किन्तु वाद में उसका दोष चिकित्सा से दूर हो जाता है तो विभाग के वाद उत्पन्न पुत्र की भाति वह अपना अश प्राप्त करने के लिये बंटवारा दुबारा करा सकता है। बटवारे से पहले ही दोष होने पर उपर्युक्त व्यक्ति अनश होते हैं, विभाग के वाद दोष उत्पन्न होने पर उनसे उनका अश नही छिन सकता[१४३]। दोषो के कारण उत्पन्न होने वाली अशहरण की अयोग्यता स्त्री पुरुप दोनो के लिये समान है, अत. पतितादि दोषों से युक्त होने पर पत्नी, पुत्री और माता आदि भी अनश होती हैं (दे० ऊ० पृ० ३२१)।

संसृष्टि—विभक्त परिवार के पुन. सयुक्त होने को ससर्ग या ससृष्टि कहा जाता है। मिताक्षरा के अनुसार विभक्त धन पुनः सयुक्त किया जाने पर ससृष्ट कहलाता है, ऐसे धन वाला ससृष्टी होता है[१४४]। यह प्रथा हिन्दू परिवार में अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद (१०।८४।७) तथा अथर्ववेद (४।३१।७) में वरुण और मन्यु से ससृष्ट धन पाने की प्रार्थना की गयी है[१४५]। प्राचीन सूत्रकारो ने इस सम्वन्ध में अनेक नियम दिये हैं। गौतम अपुत्र संसृष्टी के मरने पर, उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी उसके साथ सयुक्त होने वाले को बताता है (२८।२९)। विष्णु (१८।४१) और मनु (९।२१०) ससृष्टि के बाद विभाग होने पर समान अंश बाटने की व्यवस्था करते हैं, इसमें वडे पुत्र को विशेष अश नही मिलता, किन्तु कौटिल्य संसृष्टि के वाद वटवारे मे उस व्यक्ति को दो अश देता है, जिसके प्रयत्न से सम्मिलित धन में वृद्धि हुई हो[१४६]।

१४३. मिता० २।१४०—एतेषां विभागात्प्रागेव दोषप्राप्तावनंशत्वमुपपन्नं न न पुनर्विभक्तस्य। विभागोत्तरकालमप्यौषधादिना दोषनिर्हरणे भागप्राप्तिरस्त्येव। विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक् इत्यस्य समानन्यायत्वात्।

१४४. मिता० २।१३८—विभक्तं धनं पुनर्मिश्रीकृतं संसृष्टं तदस्यास्तीति।

१४५. संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं दत्तां वरुणश्च मन्युः।

१४६. गौ ध०सू०२८।२९ संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्। विष्णु १८।४१

पुन सम्मिलन या संसर्ग किन व्यक्तियो मे हो सकता है, इस प्रश्न पर शास्त्रकारो में मतभेद है। विज्ञानेश्वर, जीमूतवाहन और स्मृति चन्द्रिका वृहस्पति के एक वचन के आधार पर विभक्त पिता, भाई और चाचा मात्र को ससृष्टि का अधिकारी समझते हैं, फूफा के लडके या दादा के साथ ससर्ग नही स्वीकार करते[१४७]। किन्तु नीलकण्ठ और मित्रमिश्र के अनुसार वृहस्पति द्वारा निर्दिष्ट सम्बन्धी उपलक्षण मात्र है। बटवारे के समय के किसी भी सदस्य पत्नी, दादा, भाई के पोते, चाचा के लडके आदि का परिवार के साथ संसर्ग संभव है[१४८]। विवाद रत्नाकर (पृ० ६०५-६) तथा विवादचिन्तामणि (पृ० २४५) भी नीलकण्ठ के अनुयायी है। अत. वर्त्तमान काल में नीलकण्ठ के व्यवहार मयूख को अधिक प्रमाण मानने वाले बम्बई प्रान्त मे तथा विवाद रत्नाकर और चिन्तमणि द्वारा शासित मिथिला मे किसी भी सबन्धी के साथ ससर्ग सभव है(३३ कल० ३७१,३७५)। मद्रास हाईकोर्ट का भी यही मत है (२७ म० १११८)। किन्तु बगाल, उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में ससृष्टता केवल पिता, भाई और चाचा के साथ ही सभव है।

ससृप्टता के लिये सयुक्त होना, विभक्त होना और पुन· सयुक्त होना आवश्यक है। एक घर में निवास और भोजन तथा साझा व्यापार ही इसके पर्याप्त प्रमाण नहीं, किन्तु आपस में यह समझौता आवश्यक है कि कि मेरी सम्पत्ति तेरी है और तेरी सम्पत्ति मेरी है (७ कल० वी० रि० ३५)। मौखिक समझौता भी इसे सिद्ध करने के लिये काफी है (३० कल० ७२५)।

समृप्ट होने के बाद परिवार के सदस्यो की स्थिति क्या विभाग से पहले

विभक्ताः सह जीवन्तो विभजेरन् पुनर्यदि। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्यैष्ठ्यं तत्र न विद्यते। को० ३।५; अपितृद्रव्या विभक्तपितृद्रव्या वा सहजीवन्तः पुनर्विभजेरन्। यतश्चोत्तिष्ठेत स द्वयंशं लभेत।

१४७. मिता० २।१३८ संसृष्टत्वं च न येन केनापि किन्तु पित्रा भ्रात्रापि पितृव्येण वा। यथाऽऽहवृहस्पतिः–'विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संस्थितः। पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते। दा० २२०(घ० को० २।१५५६) परिगणितव्यतिरिक्तेषु संसर्गकृतो विशेषः नादरणीयःपरिगणनानर्थक्यात्। स्मृच० ३०२ पितृभ्रातृपितृव्यव्यतिरिक्तभ्रातृपितृव्यपुत्रादिना सह संसर्गो न विद्यते

१४८. व्यवहारमयूख पृ० ६५ पित्रादिपदानि विभागकर्तृ मात्रोपलक्षकाणि। तेन पत्नीपितामहभ्रातृपौत्रपितृव्यपुत्रादिभिरपि सह संसृष्टता भवति। मि० व्यप्र० पृ० ५३३

के सयुक्त परिवार के दायादो की सी होती है ? अथवा वे केवल साझीदार होते है ? इन प्रश्नो पर न्यायालयो ने विरोधी निर्णय दिये हैं। मद्रास हाईकोर्ट ने पहले इन्हे केवल साझीदार स्वीकार किया था (१६ म० ४४०)। किन्तु कलकत्ता (१९ कल० ६३४) तथा बाद मे मद्रास हाईकोर्ट (१९ म० ला जर्नल ७२३) ने भी यह स्वीकार किया कि ससृष्टि के बाद इसके सदस्य संयुक्त परिवार के सदस्य हो जाते है, अत. परिवार की सयुक्त सम्पत्ति पर जन्म से उनका स्वत्व हो जाता है और वे अतिजीविता (Survivorship) के सिद्धान्त के आधार पर दूसरे सदस्यो की मृत्यु पर उनकी जायदाद के हकदार होते हैं। यह व्यवस्था मिताक्षरा के इस वचन के सर्वथा अनुकूल है कि —पुत्राभावे ससृष्टयेवापहरेत् न पत्न्यादि.(या० २।१३८)।

ससृष्टि के मामले न्यायालयों मे बहुत कम आते है। एक बार बटवारा होने के बाद विरले ही परिवार पुनः सयुक्त होते है।

तेरहवाँ अध्याय

पिता के साम्पत्तिक अधिकार

पिता के साम्पत्तिक स्वत्व की तीन अवस्थायें—मध्यकालीन टीकाकार और पिता के विभाग विषयक अधिकार—विभाग मे पिता का विशेष अश ग्रहण करना—पिता का पुत्रो को विषम भाग देने का अधिकार—पैतृक सम्पत्ति पर पिता का अधिकार—पिता द्वारा सम्पत्ति के दान का अधिकार—पिता के ऋण तथा अपहार (इन्तकाल)—पूर्ववर्ती ऋण।

कुटुम्ब का भरण, पोषण तथा सरक्षण करने से परिवार में पिता का स्थान सर्वोच्च है। पाचवे अध्याय में यह बताया जा चुका है कि रोमन साम्राज्य जैसे कई प्रदेशो में पिता को अपनी सन्तान के विक्रय तथा वध के अधिकार थे प्राप्त थे, वहा उसकी स्थिति निरकुश सम्राट् की सी थी। किन्तु प्राचीन हिन्दू परिवार में उसके अधिकार इतने अमर्यादित नही थे। यहा पिता के साम्पत्तिक अधिकारो का ही प्रतिपादन किया जायगा।

सत्ता और सम्पत्ति का चोली दामन का साथ है। जब तक परिवार में प्रधान शक्ति पिता के हाथ मे रही, सम्पत्ति पर उस का स्वत्व बना रहा। यहा इसके निम्न रूपों का विवेचन होगा—(१) अपनी इच्छा से बंटवारा करने का अधिकार (२) बटवारे में स्वय विशेष अश लेने का अधिकार (३) पुत्रो को यथेच्छ भाग देने का अधिकार। बहुत समय तक पिता को बटवारे में स्वय दुगना हिस्सा या कुल सम्पत्ति का आधा भाग लेने तथा ज्येष्ठ पुत्र को अधिक अश देने का अधिकार प्राप्त था। किन्तु पुत्रो के अधिकारो का विकास होने पर शनै शनै सब दायादो का पैतृक सम्पत्ति पर तुल्य स्वत्व माना जाने लगा, इस के यथेच्छ विनियोग का अधिकार पिता से छिन गया, उसे यह अधिकार केवल स्वार्जित सम्पत्ति पर ही रह गया।

सयुक्त सम्पत्ति पर पिता के स्वत्व की तीन अवस्थायें—पारिवारिक द्रव्य पर पिता अथवा पुत्र के स्वत्व के विकास को तीन प्रधान अवस्थाओ में बाटा जा सकता है—(१) पहली अवस्था मे इस पर पिता का पूर्ण स्वामित्व होता था। (२) दूसरी दशा में पहले पिता की इच्छा से तथा बाद में उसकी इच्छा

के विरुद्ध विभाग द्वारा पैतृक द्रव्य पर पुत्रो का पूर्ण स्वामित्व स्थापित हुआ। (३) तीसरी दशा मे यह विचार विकसित हुआ कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्र का स्वत्व विभाग द्वारा नही, किन्तु जन्म से ही उत्पन्न हो जाता है; ११वी शती मे विज्ञानेश्वर के प्रबल समर्थन से पुत्रो ने इस अधिकार को पूर्ण रूप से पाया, पिता के अधिकारो का अन्त हुआ। जीमूतवाहन ने बंगाल मे इस प्रवृत्ति का विरोध किया और वहा आज तक पिता के अधिकार बहुत कुछ सुरक्षित हैं। ये तीनो अवस्थाये विषय की स्पष्टता एवं सुबोधता की दृष्टि से की गयी हैं; कालक्रम के विचार से नही, आज भी विशाल हिन्दू समाज मे कानूनो और विधि विधानो की एकरूपता नही है, प्राचीन काल में भी नही थी। अनेक विरोधी व्यवस्थाये एक ही समय में प्रचलित होती थी। पहली दो अवस्थाये वैदिक युग मे विभिन्न स्थानो पर पायी जाती हैं।

पहली अवस्था—पिता का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व होना—इस अवस्था के अनेक सकेत हमे वैदिक संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थो मे उपलब्ध होते हैं। शुन. शेप के उपाख्यान में यह वर्णन है कि विश्वामित्र ने, शुनः शेप को ज्येष्ठ पुत्र बनाने के कारण रुष्ट हुए अपने पचास पुत्रों को दायाधिकार से वंचित किया[1]। काठक सहिता के अनुसार पिता पुत्र का शासक है (पिता पुत्रस्येशे ११।४)। पचविंश ब्राह्मण (१६।४।४) से यह सूचित होता है कि पिता जिस पुत्र को चाहे सम्पत्ति दे सकता था, विभाग में वह अपने कुछ पुत्रो को दाय से वचित करने मे भी समर्थ था। शतपथ ब्रा० (५।४।२।८) से यह ज्ञात होता है कि वह सब से प्रिय पुत्र को उत्तराधिकारी बना सकता था[2]। वसिष्ठ ने माता पिता द्वारा पुत्रो के दान और विक्रय का अधिकार स्वीकार किया है; यास्काचार्य ने भी (निरुक्त० ३।४) माता पिता द्वारा सन्तान के दान विक्रयादि की व्यवस्था का उल्लेख किया है[3]। मनु ने पुत्र द्वारा कमाये धन

१. ऐत० ब्रा० ३३।८

२. शत० ब्रा० ५।४।२।८; तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमो भवति तस्माएतत्पात्रं प्रयच्छतीदं मेऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति। यद्यपि यह राज्याभिषेक का प्रकरण है, तथापि इससे इच्छानुसार पिता द्वारा पुत्रों में पक्षपात करने की प्रथा सूचित होती है।

३. निरुक्त ३।४ स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोऽपीत्येके शौनः शेपे दर्शनात्। वसिष्ठ १५।२ तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

पर पिता का स्वत्व माना है (८।४१६)। हारीत ने पिता के जीवित रहते हुए आर्थिक मामलो मे पुत्र की परतन्त्रता की घोषणा की है[४]। शंख पिता के जीवित रहते हुए पुत्र को पराधीन (अस्वतन्त्रा पितृमन्तः दा० पृ० २३)। मानता है, कौटिल्य की भी ऐसी ही व्यवस्था है (अनीश्वरा. पितृमन्तः ३।५)। गुप्त युग में नारद (१।३२-४२) का यह कथन था कि पिता परिवार के सदस्यों पर उसी प्रकार शासन करता है, जैसे राजा प्रजा पर या गुरु शिष्यो पर। पिता के जीवित रहते हुए, पुत्र बालिग होने पर भी पिता के अधीन रहते हैं, (दे० ऊ० पृ० १८८) इस अवस्था में पुत्रो का कोई साम्पत्तिक स्वत्व नही होता।

पिता के पूर्ण प्रभुत्व की स्थिति में पुत्र पैतृक सम्पत्ति को उसकी इच्छा और अनुग्रह से प्राप्त करते है। वैदिक साहित्य मे पुत्रो द्वारा पिता से धन मागने की अनेक प्रार्थनायें है, इन से यह स्पष्ट है कि वे पैतृक धन को अधिकार के नही; किन्तु कृपा के रूप में चाहते है। ऋ० १।२६।३ में भक्त अग्नि से याचना करता है—"आप मेरे पिता के तुल्य है, मैं आप का पुत्र हूँ, आप मुझे अभीष्ट धन देने की कृपा करें"। ऋ० १।७०।१० मे उपासक की उक्ति है—हे अग्ने मनुष्य अनेक (पूजा) स्थानो में विविध रूप से आप की उपासना करते है, आपसे वे वैसे ही धन पाते है, जैसे पुत्र वृद्ध पिता से धन प्राप्त करते है[५]। अनेक देवताओ से इस प्रकार की प्रार्थनाये है कि वे भक्तो को वैसा ज्ञान और धन दें, जैसा पिता पुत्रो को प्रदान करता है[६]। वैदिक साहित्य में

---

४. हारीत (दा० २३ पृ०) जीवति पितरि पुत्राणामर्थादानादिसर्गाक्षेपेष्वास्वातन्त्र्यम्।

५. ऋ० १।७०।१० वि त्वा नरः पुरुत्रा सपर्यन्पितुर्न जिव्रेर्वि वेदो भरन्त। पिता द्वारा बालिग पुत्र को धन देने के लिये देखिये ऋ० ३।४५।४—आ नस्तुजं रयिं भराशं न प्रतिजानते। सायण भाष्य—यथा पिता प्रतिजानते व्यवहारज्ञाय पुत्राय स्वकीयस्य धनस्य भागं ददाति तद्वत्। पिता द्वारा पुत्रों में धन के बंटवारे का संकेत तै० ब्रा० ३।७।६।२२ में भी है—उद्यन्नद्य विनो भज। पिता पुत्रेभ्यो यथा। ऋ० ७।९७।२ में बृहस्पति को पिता की भांति धन देने वाला कहा गया है। ऋ० ८।४८।७ में पैतृक धन के भोग की उपमा दी गयी—इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः।

६. ऋ० ७।३२।२६ इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा। मि० तै० सं० ७।५।७।४, का० सं० ३३।७, अथर्व १८।३।६७, २०।७९।१, ऐ० ब्रा० ४।

इन्द्र से ऐसी प्रार्थना बार बार की गयी है। पिता द्वारा पुत्रो को धन बांटने का उल्लेख सहिताओ मे अनेक स्थानो मे है[७]।

दूसरी अवस्था-पैतृक सम्पत्ति पर पुत्रों का स्वत्व और इसका बंटवारा कराना—वैदिक परिवार मे पिता के जद्दी जायदाद पर प्रभुत्व और उसके स्वय बटवारा करने की व्यवस्था सर्वमान्य रही हो, ऐसा नही प्रतीत होता। सहिताओ मे पैतृक धन पर पुत्रो के स्वत्व के अनेक सकेत है। नाभानेदिष्ठ की कथा के दो रूप यह सूचित करते है कि उस समय समाज मे दोनो व्यवस्थाये प्रचलित थी और ब्राह्मण ग्रन्थो के समय पुत्रो द्वारा बटवारे की माग कुछ प्रबल होने लगी थी।

पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर पिता के साथ समान रूप से स्वामित्व माना जाना पिता के अधिकार पर प्रबल प्रहार था, क्योकि पुत्र का यह अधिकार स्वीकार करने से पिता के स्वत्व बहुत मर्यादित हो जाते थे। प्राचीन सहिताओ में इसके अस्पष्ट सकेत है[७क]। ऐतरेय आरण्यक मे सर्वप्रथम पिता पुत्र के

१०।२, ताण्ड्य ब्रा० ४।७।२।८, आश्व० श्रौतसूत्र ६।५।१८, वैतान सूत्र २७।१२, शांखायन श्रौतसूत्र ८।२०।२४

७. ऋ० १०।१५।७ पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात। मि० शुक्ल यजुर्वेद १९।६३, अथर्व १८।३।४३। राधा विनोदपाल ने ला आफ़ प्राइमोजेनिचर (पृ० २२५) में वैदिक युग के पुत्र की स्वोपार्जित सम्पत्ति पर भी पिता का अधिकार सिद्ध करने के लिये ऋ० १।१२६।३ का मन्त्र उपस्थित किया है। इसमें सायण के कथनानुसार कक्षीवान् ऋषि द्वारा राजा स्वनय से घोड़े, वधुओ वाले दस रथ और साठ हजार गौयें भेंट में पाने का वर्णन है और अन्त में कहा गया है 'सनत् कक्षीवां अभिपित्वे अह्नाम्' सायण ने इसके दो अर्थ किये है सनत्—स्वीकृतं रथवध्वादिकं स्वपित्रे समर्पयति, स्वयं वा स्वीकरोति अर्थात् वह राजा से प्राप्त रथ, वधू आदि अपने पिता को समर्पित करता है या स्वयं स्वीकार करता है। पहला अर्थ मानने पर यह सूचित होता है कि उस समय पुत्र की स्वार्जित सम्पत्ति पर भी पिता का स्वामित्व होता था, किन्तु यह अर्थ इसलिये ठीक नहीं प्रतीत होता कि इसमें 'स्वपित्रे' शब्द का अपनी ओर से अध्याहार करना पड़ता है, दूसरे अर्थ में इसकी आवश्यकता नहीं है। ग्रिफिथ ने सायण का दूसरा अर्थ ठीक समझा है।

७ क. ऋ० १।७३।१ में पिता से प्राप्त सम्पत्ति की तरह अग्नि अन्न का

सयुक्त स्वामित्व का वर्णन मिलता है "(लोक में) पुत्र की जहा कही कोई वस्तु होती है, वह पिता की होती है; जो वस्तु पिता की होती है, वह पुत्र की होती है"[८] । तैत्तिरीय सहिता मे दो वार (२।६।१।६, ६।५।१०।१२) याज्ञिक प्रक्रिया की उपमाओ द्वारा पिता के धन पर पिता और पुत्र दोनों का अधिकार वताया गया है । 'पिता यज्ञ की मुख्य विधि (प्रयाज) है, पुत्र गौणविधि (अनुयाज); (अनुयाज के लिये लकडी के प्याले अथवा उपभृत मे हवि रखी जाती है, पुरोडाशादि की हवि डालने की वारी आने पर काष्ठ के प्याले की सारी हवि प्रयाज या मुख्य विधि के साथ डाल दी जाती है, इसके वाद यज्ञ मे प्रयाज की ही हवि शेप रहती है और उससे प्रयाज(पिता) और अनुयाज (पुत्र) दोनों की हवि समझी जाती है, इसी तरह पिता की सम्पत्ति दोनो की सम्पत्ति होती है ।) प्रयाजो से यज्ञ करने के वाद वह (दोनो विधियों की सामान्य) हवियो को डालता है; (अत) पिता पुत्र के साथ (अपने धन को) साधारण (अर्थात् दोनो का) वनाता है[९] ।

तैत्तिरीय सहिता के एक दूसरे स्थल में पैतृक धन पर, पिता पुत्र के सयुक्त स्वत्व का एक अन्य याज्ञिक विधि के दृष्टान्त द्वारा वर्णन है ।

दाता कहा गया है (रयि र्न यः पितृवित्तो वयोधाः ३ । ऋ० १।७३।९ में यह प्रार्थना है कि पिता से प्राप्त धन के स्वामी होकर हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष के जीवन का उपभोग करें (ईशानासः पितृवित्तस्य रायो विसूरयः शत हिमा नो अश्युः) ।

८. ऐ० आ० २।१।८ यत्र ह क्व च पुत्रस्य तत्पितुर्यत्र वा पितुस्तद्वा पुत्रस्य ।

९. तै० सं० २।६।१।६ पिता वै प्रयाजाः प्रजाऽनूयाजा यत्प्रयाजानिष्ट्वा हवींष्यभिघारयति पितैव तत्पुत्रेण साधारणं कुरुते । सायण ने इस का भाष्य करते हुए लिखा है—लोकेन हि वालेन यदुपार्जितं तद् द्रव्यं स पुत्र उत्तरकाले स्वजीवनार्थमसाधारणत्वेन संगृह्य गुप्तं करोति न तु पित्रे प्रयच्छति न तु भ्रातृभ्यः । पित्रा तु यदुपार्ज्यते तत्पितुर्वालपुत्रस्य तद् भ्रातृणां च साधारणं भवति । तेन हि द्रव्येण सर्वेऽपि जीवन्ति । इस व्याख्या के अनुसार पुत्रो द्वारा कमाये धन पर तो पिता का स्वत्व नहीं है, किन्तु पिता द्वारा उपार्जित द्रव्य पर पुत्रों का अधिकार है । सायण यद्यपि मध्यकालीन टीकाकार है; किन्तु उसके उपर्युक्त संदर्भ के भाष्य के वैदिक युग की स्थिति का प्रतिपादक होने में कोई संदेह नहीं प्रतीत होता ।

अग्निष्टोम यज्ञ में दी जाने वाली सोमरस की पहली आहुति आग्रयण कहलाती है, इस के लिये सोमरस निकाला जाता है; किन्तु यदि इसमें कोई कमी पड जाती है तो पास मे रखे कलश के रस से इसे पूरा किया जाता है, यदि कलश में कुछ कमी हो तो आग्रयण के रस से उसकी पूर्त्ति होती है। इस विधि को अपनी उपमा का विषय वनाते हुए सहिताकार कहता है—"पिता आग्रयण है, पुत्र कलश; यदि आग्रयण (में रस) समाप्त हो जाय तो कलश से (रस) ले लो, जैसे असहाय पिता पुत्र के पास आता है। यदि कलश का (रस) समाप्त हो तो वह आग्रयण से ले ले, जैसे पुत्र असहायावस्था में पिता के पास आता है"[१०]।

पैतृक सपत्ति पर पुत्रों को स्वत्व सभवतः पिता पुत्र की एक दूसरे पर निर्भरता विशेषतः बुढापे मे पिता के पुत्र पर अवलम्बित रहने से मिला होगा। शतपथ और गोपथ ब्राह्मणो मे यही वात कही है। 'आरम्भिक जीवन मे पुत्र पिता पर निर्भर रहते हैं और पिछले जीवन मे पिता पुत्रो पर[११]'। कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् से यह सूचित होता है कि पिता द्वारा एक वार अपने अधिकार छोडने पर उस सम्पत्ति पर पुत्रो का स्वत्व उत्पन्न हो जाता था। इस उप० में पिता द्वारा वीमारी मे मरणासन्न होने पर, अपनी सारी भौतिक एवं मानसिक शक्तियो का पुत्र को दान करने का आलकारिक वर्णन है, ऐसा दान होने के वाद यदि वह सौभाग्यवश नीरोग होकर काल का ग्रास नही वनता तो उसे या तो पुत्र की प्रभुता मे रहना पड़ता है या सन्यासी होना पड़ता है[१२]।

तैत्तिरीय सहिता और ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) मे मनु के पुत्र नाभानेदिष्ठ की कथा दो विभिन्न रूपो में मिलती है और यह सूचित करती है कि

---

१०. तै० सं० ६।५।१०।१,२ पिता वा एष यदाग्रयणः पुत्रः कलशो यदाग्रयण उपदस्येत्कलशाद् गृह्णीयाद्यथा पिता पुत्रं क्षित उपधावति तादृगेव तद्यत्कलश उपदस्येदाग्रयणाद् गृह्णीयाद्यथा पुत्रः पितरं क्षित उपधावति तादृगेव तदात्मा वा एष यज्ञस्य यदाग्रयणो यद् ग्रहो वा कलशो वोपदस्येदाग्रयणाद् गृह्णीयात् ।

११. गोपथ ब्रा० ४।१७ तस्मात्पूर्वे वयसि पुत्राः पितरमुजीवन्ति। तस्मादुत्तमे वयसि पुत्रान् पितोपजीवति मि० शतपथ ब्रा० १२।२।३।४

१२. कौ० उप० २।१५ स यद्यगदः स्यात्पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत्परि वा व्रजेत् ।

उस समय समाज में कोई एकरूप व्यवस्था नही थी, यद्यपि प्राय. पिता सम्पत्ति का बटवारा करता था, किन्तु कई वार भाई स्वय विभाग कर लेते थे। इस कथा का पहला रूप तै० स० ३।१।९।४ में है। इस के अनुसार मनु ने पुत्रो में दाय (पैतृक सम्पत्ति) का बटवारा किया, उसका छोटा पुत्र नाभानेदिष्ठ उस समय वेदाध्ययन कर रहा था, मनु ने उस का हिस्सा नही रखा, उसने आकर पिता से पूछा कि मुझे हिस्सा क्यो नही दिया गया[१३]। पिता का उत्तर था कि उसने उसे उस के हिस्से से वचित नही किया। वाद में उसने पिता के परामर्श से अगिरा ऋषि को यज्ञ मे सहायता करके पशुओ के रूप में सम्पत्ति प्राप्त की। इस कथा से पिता का सम्पत्ति पर पूर्ण स्वाम्य एव उसे मनमाने ढग से वाटने का अधिकार सूचित होता है। वाद में वसिष्ठ, विज्ञानेश्वर आदि ने विभाग के वाद उत्पन्न पुत्रो का जन्म से स्वत्व मानते हुए, इनके लिये पुनर्विभाग की व्यवस्था की (दे० ऊ० पृ० ३८५)। किन्तु सहिता युग में मनु ने १५-१६ वर्ष के लडके का अश नहीं रखा; पुत्र द्वारा हिस्सा मागने पर भी पुनर्विभाग नही हुआ। यह उस समय वटवारे में पिता के पूर्ण अधिकार को सूचित करता है, किन्तु साथ ही यह भी वताता है कि पुत्र अपने हिस्से की माग करने लगे थे।

किन्तु ऐतरेय ब्राह्मण (२२।९) मे इस सम्बन्ध की दूसरे प्रकार की कथा से विभिन्न स्थिति का वोध होता है। इस में पिता की वजाय वडे भाई स्वय-मेव छोटे भाई नाभानेदिष्ठ की अनुपस्थिति में सपत्ति आपस मे वांट लेते हैं। वेदाध्ययन समाप्त कर लौटने पर जब वह अपने भाइयो से हिस्सा मागता है तो वे उसे 'धर्म रहस्यो के निर्णेता (निष्ठाव)' पिता के पास जाने को कहते हैं। पिता उसे अगिरा ऋपि की यज्ञ में सहायता कर, उससे धनोत्पादन करने का परामर्श देता है। तैत्तिरीय सहिता की कथा से इस मे यह वड़ा अन्तर है

---

१३. तै० सं० ३।१।९।४ मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्स नाभानेदिष्ठं ब्रह्म-चर्यं वसन्तं निरभजत्स' आऽगच्छत्सोऽब्रवीत्कथा मा निरभागिति न त्वा निर-भाक्षमित्यब्रवीत्।

१४. ऐ० ब्रा० २२।९ नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभजन्सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येतमेव निष्ठावमववदितारमित्य-ब्रुवस्तस्माद्धाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावोऽववदितेत्येवाऽऽचक्षते। स पितरमे-त्याब्रवीत्त्वा ह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिताब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथाः।

कि यहां भाइयो ने पिता के जीवन काल में सभवत. पिता से विना पूछे आपस में पैतृक सम्पत्ति का बटवारा कर लिया है। यह पिता की शक्ति क्षीण होने तथा पुत्रों का पक्ष प्रवल होने की सूचना देता है तथा तैत्तिरीय सहिता से एतरेय ब्राह्मण के युग तक हुए पुत्रो के अधिकार मे वृद्धि का ज्ञापक है।

जैमिनीय ब्राह्मण (३।१५।६) से भी इस की पुष्टि होती है। इस में दी गयी अभिप्रतारण की कथा से ज्ञात होता है कि जब वह बूढ़ा लेटा हुआ था तो पुत्रो ने उस की सम्पत्ति बाट ली, वडा शोर हुआ, पिता ने पूछा—यह कैसा शोर है ? उसे कहा गया—भगवन्, पुत्र आप की सम्पत्ति बाट रहे हैं। उस ने कहा—मैंने सुना था कि पिता के जीवित रहते हुए पुत्र दाय को प्राप्त कर लेगे[१५]। ये शब्द उस की लाचारी और बेबसी स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं। पिता के जीवित रहते हुए और उसके विरोधी होने पर भी पुत्रो द्वारा बटवारे का यह उदाहरण ब्राह्मण युग के अन्त मे पुत्रो के विभाग विषयक अधिकारों के बढने का सूचक है।

किन्तु शास्त्रकारो ने पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति के विभाग विषयक इस अधिकार पर अकुश लगाने का यत्न किया। कौटिल्य पिता के विभाग सम्बन्धी अधिकार का समर्थन करता हुआ कहता है—'उत्तम (कुलीन) तथा जीवित माता पिता वाले पुत्रो का (पैतृक धन में) स्वामित्व नही होता (अनीश्वरा· पितृमन्त.); माता पिता के मरने के बाद ही पिता द्वारा कमाए धन का विभाग करना चाहिये[१६]। मनु (९।१०४) ने पिता के अधिकार के सम्बन्ध मे कौटिल्य की व्यवस्था का अनुसरण किया और कहा कि भाई माता पिता के मरने पर ही, पैतृक सम्पत्ति को आपस मे मिल कर समान रूप से बांट ले, क्योंकि माता पिता के जीवित रहते हुए उनका उस पर कोई स्वामित्व नही है[१७]। गौतम (२८।१) तथा शख (दा० २९) ने पिता की मृत्यु के बाद ही बटवारा करने को कहा[१८]।

१५. दे० ऊ० पृ० ४५

१६. कौ० ३।५ दायविभागः। अनीश्वराः पितृमन्तः स्थितपितृमातृकाः पुत्राः। तेषामूर्ध्वं पितृतो दायविभागः पितृद्रव्याणाम्।

१७. मनु० ९।१०४ ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्। भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥

१८. गौ० ध० सू० २८।१ ऊर्ध्वं पितुः पुत्राः रिक्थं भजेरन्। शंख (दा० पृ० २९ धर्मकोश २।११४८) अतऊर्ध्वं रिक्थविभागो, न जीवति पितरि पुत्रा रिक्थं भजेरन्।

तीसरी स्थिति—पिता के ईशित्व की समाप्ति—शास्त्रकारो की उपर्युक्त व्यवस्थायें समय के प्रवाह के विरुद्ध थी, इसलिये ये पिता के स्वत्वो की रक्षा देर तक नहीं कर सकी। शनै. शनै· पिता द्वारा अथवा उसकी मृत्यु के वाद वटवारे का सिद्धान्त क्षीण होने लगा, इस विषय में पिता की प्रभुता अथवा ईशित्व समाप्त हो गया। पितृप्रभुत्व की प्रवल वकालत करने वालो को भी लाचारी मे पिता के जीवित रहते हुए पुत्रों द्वारा वटवारे का अधिकार मानना पड़ा। कौटिल्य ने यद्यपि 'अनीश्वराः पितृमन्त' की घोपणा की, तथापि इस के साथ उसे यह मानना पडा कि अपने जीवनकाल मे वटवारा करने पर पिता किसी पुत्र को विशेष हिस्सा न दे और किसी को अकारण उसके भाग से वञ्चित न करे[१९]। गौतम ने पिता के जीवन काल में उस की इच्छा से तथा माता की रजोनिवृत्ति पर विभाग का काल माना (२८।२), वौधायन भी पिता के जीवित रहते हुए उसकी अनुमति से दाय भाग की व्यवस्था करता है (२।२।८)। नारद के समय पुत्रो का पक्ष इतना प्रवल हो गया था कि वह न केवल पिता के जीवन काल मे कुछ अवस्थाओ में पुत्रो को विभाग का अधिकार देता है, अपितु रोगी, क्रोधी, विषयी, भोगपरायण, शास्त्रविरुद्ध कर्म करने वाले पिताओं से विभाग का अधिकार छीन लेता है[२०]। देवल सभवत. अन्तिम स्मृतिकार है, जो पिता के निर्दोष होने पर पुत्रो का पैतृक सम्पत्ति पर कोई स्वत्व नही मानता और उन्हे पिता की मृत्यु के वाद ही धन का वटवारा करने को कहता है[२१]। पिछले अध्याय मे यह वताया जा चुका है कि ११ वी शताब्दी मे पिता की अनिच्छा मे भी पुत्रो को विभाग का अधिकार देकर विज्ञानेश्वर ने इस विषय मे पिता के ईशित्व का समूलोन्मूलन किया था (दे० ऊ० पृ० ३५१)। इस समय वगाल के अतिरिक्त शेष भारत में पिता और पुत्र के विभाग सवन्धी अधिकारो मे कोई विषमता नही है। किन्तु वगाल में जीमूतवाहन के प्रवल समर्थन से पिता के विभाग सम्वन्धी अधिकार पूर्ववत् वने हुए है।

१९. कौ० ३।५ जीवद्विभागे पिता नैकं विशेषयेत्। न चैकमकारणान्निर्भजेत्।

२०. नास्मृ० १६।१६ व्याधितः कुपितश्चैव विषयासक्तमानसः। अन्यथाशास्त्रकारी च न विभागे पिता प्रभुः॥

२१. (दा० १३, अप० २।११४) पितर्युपरते पुत्रा विभजेयुर्धनं पितुः। अस्वाम्यं भवेदेषां निर्दोषे पितरि स्थिते॥

मध्यकालीन टीकाकार और पिता के विभाग विषयक अधिकार—जीमूतवाहन प्राचीन शास्त्रो की सही व्याख्या करता हुआ सम्पत्ति पर पिता का ही पूर्ण स्वामित्व मानता है, विश्व रूप भी इसी मत का है, किन्तु विज्ञानेश्वर, देवण्ण भट्ट, वरदराज और मित्रमिश्र लोक प्रचलित व्यवस्था को स्वीकार करते हुए पिता के एकमात्र स्वाम्य को नही स्वीकार करते ।

जीमूतवाहन ने मनु (९।२०४) तथा देवल के वचनो को उद्धृत करते हुए पिता के जीवित रहते हुए पुत्रो का सम्पत्ति पर अस्वामित्व माना है । मनु का वचन उद्धृत करने के बाद वह लिखता है, 'माता पिता के जीवित रहते हुए पुत्रो का धन पर कोई अधिकार नही है, किन्तु उसके मर जाने पर ही है । यही बात सूचित करने के लिए मनु आदि के वचन है[२२] । देवल के वचन पर उसने इसी प्रकार की टिप्पणी की है (दा० १३) । वह पिताके मरने के बाद ही सम्पत्ति पर पुत्रो का स्वत्व मानता है ।

किन्तु विज्ञानेश्वर (या० २।११४) जन्म से ही पुत्रो का सम्पत्ति पर स्वत्व स्वीकार करता है । जब पुत्र को उत्पत्ति से ही पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व प्राप्त है तो पिता उस का कैसे अपहरण कर सकता है ? विज्ञानेश्वर की व्यवस्था पिता के अधिकारो को मर्यादित एव सकुचित करने वाली है। उसने (अनीशास्ते हि जीवतो मनु० ९।२०४) के सम्बन्ध मे कहा कि यह वचन माता पिता द्वारा कमाए धन के विभाग मे ही लागू होता है[२३], इस पर पुत्रो का कोई अधिकार नही। वरदराज[२४] देवण्ण भट्ट[२५] तथा-मित्रमिश्र ने (व्यप्र० पृ० ४३२) ने उपर्युक्त अस्वामित्व प्रतिपादक वचनो में अस्वाम्य का अर्थ अस्वातन्त्र्य किया । इस के अनुसार पुत्रो को पिता के जीवन

---

२२. दा० १८ जीवतोः पित्रोर्धने पुत्राणां स्वाम्यं नास्ति किन्तूपरतयोरिति ज्ञापनार्थं मन्वादिवचनम् ।

२३. मिता० या० २।१२१ की टीका में—'जीवतोरस्वतन्त्रः स्याज्जरयापि समन्वितः' इत्येतदपि पारतन्त्र्यम् मातापित्रर्जितद्रव्यविषयं । तथा—'अनीशास्ते हि जीवतो.' इत्येतदपि ।

२४. धर्मकोश २।११५७ एवमादीन्यस्वातन्त्र्यपराणि न स्वत्वाभावपराणि ।

२५. स्मृच० २५६ अत्रास्वाम्यवचनमस्वातन्त्र्यप्रतिपादनार्थमिति मन्तव्यम् । व्यप्र० ४३२ निर्दोषे पितरि स्थिते—पितृधने पुत्राणां जन्मना स्वाम्यस्य लोकसिद्धत्वम् ॥

में पिता की सम्पत्ति पर अधिकार तो था, किन्तु वे उसका यथेच्छ विनियोग नही कर सकते थे।

वर्त्तमान युग में बगाल में पैतृक एवं स्वार्जित दोनो प्रकार की सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग (दान विक्रय, त्याग) का पिता को अधिकार प्राप्त है तथा पुत्र पिता के जीवित रहते हुए बटवारा नही करा सकते। इसका मूल आधार सन् १८३१ का सदर दीवानी अदालत का यह फैसला है कि 'बगाल प्रान्त मे अवस्थित एक हिन्दू पिता अपनी स्थावर सम्पत्ति का विक्रय, दान या रेहन कर सकता है। अपने पुत्रो की अनुमति के विना वह उन्हें वसीयत-नामे द्वारा इसके उत्तराधिकार से वञ्चित कर सकता है" (मेन-हिन्दू ला दशम सस्करण पृ० ३५३)। पुत्र का स्वत्व इस मामले मे कितना नगण्य है, यह इससे स्पष्ट है कि एक पुत्र ने पिता द्वारा २००) रु० में खरीदी हुई जमीन पर स्वार्जित सम्पत्ति के २०४०) रु० लगा कर एक मकान वनाया, यह मकान पिता का ही समझा गया, क्योंकि पिता के जीवन काल में पुत्र को संयुक्त परि-वार की सम्पत्ति में कोई स्वत्व नही था (१३ कलकत्ता वी० नो० ३९७)।

वगाल मे पिताओ को यह अधिकार जीमूतवाहन के दायभाग के आधार पर दिया गया। वस्तुत· दायभाग पिता को यह पूर्ण अधिकार केवल स्वार्जित सम्पत्ति पर ही देता है, पैतृक सम्पत्ति पर नही। उसने लिखा है—'यह स्पष्ट है कि यदि पिता पुत्रो में बटवारा करता है तो वह स्वोपार्जित धन में से अपनी इच्छा से पुत्रो को थोडा या वहुत हिस्सा दे सकता है; पैतृक सम्पत्ति मे यह वात नही, क्योंकि उस पर पिता पुत्र दोनो का तुल्य स्वामित्व है, पिता का मनमानापन (स्वच्छन्द वृत्ति) नही[२६]। इस स्पष्ट वचन के होते हुए भी वगाल के न्यायालयो ने स्वार्जित और पैतृक सम्पत्ति का भेद न रखते हुए जीमूतवाहन की व्यवस्था के साथ न्याय नही किया। इस का प्रधान कारण सभवत कोलब्रुक द्वारा किया गया दायभाग के दूसरे अध्याय के ४६ वें पैराग्राफ का अशुद्ध अनुवाद है। इसमे पिता को दो अश देने का समर्थन करते हुए जीमूतवाहन ने पिता के साथ विशेष व्यवहार के अनेक कारण दिये है। इनमें से एक यह भी है कि उसे दान विक्रय और त्याग का अधिकार है (दान-

---

२६. दाय भाग पृ० ३२ इदं सुव्यक्तं यदि पिता पुत्रान्विभजति तदा स्वोपार्जेऽर्थे न्यूनाधिकविभागं स्वेच्छया पुत्रेभ्यो दद्यात् पैतामहे तु नैतत् यस्माच्चत्र तुल्यं स्वामित्वं न पुनः पितुः स्वच्छन्दवृत्तिता।

विक्रयपरित्यागक्षमस्य)। यहां जीमूतवाहन वस्तुत. निरुक्त (३।४) और वसिष्ठ (१५।२) की व्यवस्था को शब्दश. दोहरा रहा है, उसका अभिप्राय पिता द्वारा पुत्रो के दान, विक्रय और परित्याग का था। किन्तु कोलब्रुक इस प्राचीन परम्परा से अनभिज्ञ होने के कारण यहा इस का अर्थ करता है—पिता को सम्पत्ति के दान, विक्रय और त्याग का अधिकार है। १८३१ ई० में सदर दीवानी अदालत के तथा परवर्ती निर्णय इस भ्रान्त अनुवाद के आधार पर हुए हैं।

मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेशो में पुत्रो का पिता की सम्पत्ति पर जन्म से स्वत्व होता है, अतः पुत्र पिता को वंटवारे के लिये बाधित कर सकता है। (५ कल० १४८ [१६५] प्रि० कौ०)।

पिता द्वारा पैतृक सम्पत्ति बटवारे की यह व्यवस्था तीन अवस्थाओ में से गुजरी है। पहली अवस्था में (प्रारम्भ से ४ थी शती ई०) पिता बटवारे में अपने लिए यथेच्छ सम्पत्ति रख सकता था। दूसरी अवस्था में (४ थी ई० से ११ वी शती ई०) पिता को दो अंश रखने की अनुमति दी गई। तीसरी अवस्था मे यह अनुमति केवल स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित रखी गई, पैतृक सम्पत्ति में पिता को पुत्रो के तुल्य भाग दिया जाने लगा।

पहली अवस्था—इसे हारीत का धर्मसूत्र सूचित करता है। इसके अनुसार पिता सम्पत्ति में जितना भाग चाहे, उतना अपने लिए रख कर शेष धन बाट देता था। 'पिता अपने जीवन काल में ही पुत्रो मे सम्पत्ति का बँटवारा कर वानप्रस्थ हो या सन्यास ग्रहण करे, अथवा थोडी सम्पत्ति पुत्रो में बाट दे और अधिक द्रव्य स्वय लेकर घर मे ही रहे। यदि वह निर्धन हो जाय तो (अपने दिये भाग में से कुछ हिस्सा कुटुम्ब पालन करने के लिए पुनः) पुत्रों से वापिस ले ले। यदि पुत्र निर्धन हो तो उनको फिर अपनी सम्पत्ति बाट दे"[२७]। हारीत ने अपने मन्तव्य के समर्थन में ऊपर उद्धृत तैत्तिरीय सं० (दे० पृ० ४०५)के वचन से मिलती हुई एक प्राचीन श्रुति का उल्लेख किया है।

दूसरी अवस्था—पिता को अपने लिए यथेच्छ धन ग्रहण करने का अधि-

---

२७. हारीत (स्मृच २६२, धर्मकोश २।११६३) जीवन्नेव वा पुत्रान् प्रविभज्य वनमाश्रयेत। वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। स्वल्पेन वा विभज्य भूयिष्ठमादाय वसेत्। यद्युपदश्येत्पुनस्तेभ्यो गृह्णीयात्। क्षीणांश्च विभजेत्।

कार देर तक नही रहा। पुत्रों का पक्ष प्रवल होने पर यह समझा जाने लगा कि पिता द्वारा इस प्रकार मनमाना भाग लेना ठीक नही है, उसका अंश निश्चित हो जाना चाहिये, यह निश्चित भाग पुत्रो के अश से दुगना माना गया। अयर्व (१२।२।३५) में पिता के द्विभागहर होने का अस्पष्ट उल्लेख है; किन्तु नारद (४थी शती ई०) ने पिता के दो हिस्से लेने का स्पष्ट विधान किया है[२८]। वृह० (दा० पृ० ३६,४४; स्मृच० पृ० २६१) ने भी इसका अनुमोदन किया[२९]। कात्या० (दा० ४९, दात, १७४) ने पिता को पुत्र के कमाए धन का आधा द्रव्य या दो भाग देने की व्यवस्था की[३०]।

तीसरी अवस्था (११ वीं शती से वर्तमान समय तक)—विज्ञानेश्वर पुत्रो के अधिकारो का प्रवल समर्थक था। वह पैतृक सम्पत्ति मे पिता का कोई विशेष अधिकार नही मानता था, किन्तु पिता के द्व्यशहर होने का समर्थन करने वाले शास्त्रीय वचन इसमें वावक थे, अत. उसने यह लिखा कि नारद का उपर्युक्त वचन स्वार्जित सम्पत्ति पर ही लागू होता है (या०२।१२१ पर-मिता०)। हरिनाथ, मदनसिंह, वरदराज, भवस्वामी, मित्रमिश्र, दिनकर भट्ट विज्ञानेश्वर की व्याख्या के समर्थक है।

किन्तु जीमूतवाहन ने पिता द्वारा दो अश लेने का समर्थन किया। "जव ज्येष्ठ पुत्र को द्विभागहर वनाया गया है तो पिता को क्यो न वनाया जाय? पिता मे अनेक विशेपताएँ है, वह (पुत्रो का) उत्पादक है, उसे पुत्रो के दान, विक्रय तथा परित्याग का अधिकार है, वह पितामह के धन पर पौत्रो के सम्वन्ध का कारण होता है, अतिपूज्य है, अतः उसे दुगना हिस्सा मिलना

---

२८. अयर्व० १२।२।३५ द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या। अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ना० स्मृ० १६।१२ द्वावंशौ प्रतिपद्येत विभजन्नात्मनः पिता। मि० मिताक्षरा (२।१२१) इत्येतदपि स्वार्जितविषयम्। ; किन्तु दा० (पृ० ३६-३७) इसके आधार पर पैतामह धन में से पिता द्वारा दो हिस्से लेने का उल्लेख करता है।

२९. वृह० (दा० ३६,४४) जीवद्विभागे तु पिता गृह्णीतांशद्वयं स्वयम्। दाय भाग की इस पर यह टिप्पणी है—सामान्येनांशद्वयाभिधानोपदेशो वृह-स्पतिना दर्शितः पृ० ४४।

३०. कात्या० (दा० ४९, दात १७४) द्व्यंशहरोऽर्धहरो वापुत्रवित्तार्जनात्पिता।

ही चाहिये[३१]" । जीमूत० ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पिता का द्वयश ग्रहण का यह अधिकार पैतृक (पैतामह) सम्पत्ति में ही है (दा०पृ० ३२)। वह इस अधिकार को स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित करने का विरोधी है[३२] और इस सवन्ध में उसने वडी प्रवल युक्ति दी है—"पिता का द्वयश ग्रहण स्वार्जित सम्पत्ति मे ही होता है, यह कहना ठीक नही है, क्योकि (स्वार्जित सम्पत्ति का) बटवारा पिता की इच्छा के अनुसार होता है और इच्छा से विभाग करने में, दो भाग, तीन भाग, इन से कम या अधिक भाग भी पिता प्राप्त कर सकता है। ऐसा करने से दो भाग लेने की विधि व्यर्थ हो जायगी और यदि यह कहा जाय कि दो भाग लेने का नियम वनाने के लिए यह वचन कहा गया है तो विष्णु[३३] के (पिता को स्वार्जित सम्पत्ति में पूरी स्वतन्त्रता देने वाले) वचन का विरोध होगा[३४]" । बृहस्पति के ऊपर उद्धृत किये वचन पर टिप्पणी करते हुए जीमूत० ने पैतृक धन से पिता के दो भाग ग्रहण करने के अधिकार को स्वीकार किया (दा० ३६)।

पैतृक सम्पत्ति में पिता के अधिकार के अतिरिक्त जीमूतवाहन ने कात्यायन के ऊपर उद्धृत वचन के आधार पर पुत्र के कमाए हुए धन मे से पिता को विशेष भाग दिया है—"यदि पुत्र पिता के द्रव्य के उपयोग से कुछ सम्पत्ति कमाता है तो उसका आधा भाग पिता को मिलता है (और शेष आधे भाग मे से) पुत्र को दो अश मिलते है, बाकी दायादो को एक एक अंश। यदि पिता की सपत्ति का उपयोग न किया गया हो तो उस में पिता के दो हिस्से होते हैं, पुत्र के भी इतने ही भाग होते हैं; शेष दायादो का इसमे कोई अश नही

---

३१. दा० ४४ पृ० तदेवमुक्तप्रवन्धेन यत्र भ्रातुरेव पितृधने भागद्वयं कथा तत्र जनकस्य दानविक्रयपरित्यागक्षमस्य पितामहसंवन्धमूलस्य अतिगुरोः पितुरेव स्वपितृधने भागद्वयं न संभवति ?

३२. दा० पृ० ३६, स्वार्जितधनात्तु यावदेव ग्रहीतुमिच्छति तावदेव गृह्णीयात् ।

३३. विष्णु० १७।१, पिता चेत् पुत्रान् विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपत्तेऽर्थे ।

३४. दा० वहीं—किंच पितुरंशद्वयाभिधानं स्वोपात्तद्रव्यगोचरमित्यनुपपन्नं तदिच्छानुरोधित्वाद्विभागस्य, इच्छातश्च भागद्वयत्रयन्यूनाधिकानामपि प्राप्तेर्विफलो विधिः, नियमार्थत्वं च वचनस्य न वर्णनीयं विष्णुविरोधात् ॥

होता। अथवा पिता के विद्या आदि गुणो से सम्पन्न होने पर, उसे आधा भाग दिया जाय, क्योंकि हम यह देखते है कि विद्या आदि के कारण बड़ा होने पर एक भाई को अन्य भाइयो की अपेक्षा अधिक अश दिया जाता है; विद्यादि से हीन होने पर सन्तान का (उत्पादक) होने से ही (पिता) द्वयश-हर होता है। अत. कुल परम्परा से प्राप्त धन में से या पुत्र द्वारा कमाए धन से पिता स्वयं दो भाग ग्रहण करे[३५]"।

जीमूतवाहन की इस व्यवस्था का रघुनन्दन ने समर्थन किया, किन्तु मित्रमिश्र (व्य०प्र० ४४५) मिताक्षरा (२।१२१) का अनुमोदन करते हुए इसका घोर विरोधी है। उसने जीमूत० की व्याख्या को इसलिए दोषयुक्त बताया,; क्योंकि वह "पुत्रवित्तार्जनात्" में षष्ठी तत्पुरुष का समास मानता है; मित्र-मिश्र यहां द्वन्द्व समास मानता हुआ[३६] इसका अर्थ जीमूत० से बिल्कुल भिन्न करता है और पिता के द्वयश ग्रहण का अधिकार केवल पिता की स्वार्जित संपत्ति मे ही मानता है। धन का आधा भाग या दो अश ग्रहण करने की जीमूत० की व्यवस्था हमे उचित नही जान पड़ती। जीमूतवाहन को इस बात का श्रेय है कि उसने स्वार्जित सपत्ति की बडी उदार व्याख्या की, किन्तु पुत्र की स्वार्जित सपत्ति के विषय में उसका यह अनुदार दृष्टिकोण बहुत विचित्र प्रतीत होता है। सभवत. इसका यह कारण है कि वह बटवारे में पिता को अधिक अधिकार देना चाहता है।

पिता द्वारा विषम विभाग—प्राचीन काल में जब सम्पत्ति मे पिता का पूर्ण स्वामित्व स्वीकार किया जाता था तो यह सर्वथा स्वाभाविक था कि उसे यह सम्पत्ति पुत्रो मे अपनी इच्छा के अनुसार बांटने का भी अधिकार हो। हम देख चुके है कि हारीत पिता को इसी प्रकार का अधिकार देता है

---

३५. दा० ५१ तत्र पितृद्रव्योपघातेन पुत्रार्जितवित्तस्यार्धं पितुः अर्जकस्य पुत्रस्यांशद्वयं इतरेषां एकैकांशिता अनुपघातेन तु पितुरंशद्वयं अर्जकस्यापि तावदेव इतरेषामनंशित्वम्। यदा विद्यादिगुणसम्पन्नस्य पितुरर्धहरत्वं विद्यादिनाऽपिज्येष्ठस्यैवाधिकांशदर्शनात्, विद्यादिशून्यस्य जनकता मात्रेण द्व्यंशित्वम्। तेन क्रमागतधनाद्वा पुत्रार्जितधनाद्वा भागद्वयं पिता स्वयं गृह्णीयात्।

३६. षष्ठी तत्पुरुष के अनुसार इस का विग्रह है—'पुत्रस्य वित्तार्जनात्'। द्वन्द्व समास में इसका विग्रह इस प्रकार है—पुत्रश्च वित्तं चेति पुत्रवित्ते तयोरर्जनात्।

(दे० उ० पृ० ४११) किन्तु धर्मसूत्रो के समय से पुत्र के अधिकारो का समर्थक एक वर्ग पितासे इस विषम विभाग के अधिकार को छीनने का यत्न कर रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि पिताओ के पास यह अधिकार छठी शती० ई० तक ही रहा। वृहस्पति इसका अन्तिम समर्थक था। कात्यायन ने सर्वप्रथम समविभाग पर बल दिया और १२ वी शती के प्रारम्भ तक इस मत का इतना आदर हो गया कि पिता के अधिकारो के प्रवल पोषक जीमूतवाहन को भी यह स्वीकार करना पडा कि पिता को वटवारे में किसी पुत्र के साथ पक्षपात करने का अधिकार नही है।

वैदिक साहित्य मे कुछ ऐसे सकेत पाये जाते है, जिनसे यह सूचित होता है कि पिता अपने किसी एक पुत्र को स्वेच्छापूर्वक अपना उत्तराधिकारी वना सकता था; इसके लिए ज्येष्ठ पुत्र को चुनना आवश्यक न था। इस प्रकार के चुनाव में मे प्रेम ही मुख्य निर्णायक तत्त्व होता था। शत० ब्रा० ५।४।२।८ मे पिता अपने प्रियतम पुत्र के हाथ मे पात्र देता हुआ कहता है—'मेरा यह पुत्र मेरे पौरुष को स्थिर रक्खे[३७]'। ताण्डच ब्राह्मण।१६।४।४।३-४ से भी यही स्थिति सूचित होती है—"प्रजापति ने यह कामना की कि मेरी सन्तानो मे इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हो। उसने (अपनी) माला इन्द्र को प्रदान की। सन्तानो ने इन्द्र की श्रेष्ठता स्वीकार की।.......अत. पुत्रो मे जो दाय मे अधिकतम सपत्ति प्राप्त करता है, लोग उसके सम्बन्ध मे यह मानते है कि यह पुत्र (सारी पैतृक सपत्ति का स्वामी) होगा"[३८]। सभवतः इन्ही प्रमाणो के आधार पर कीथ और मैकडानल इस परिणाम पर पहुँचे है —'सव सदर्भ इस विचार का खण्डन करते है कि परिवार की सम्पत्ति कानूनी तौर से पारिवारिक सम्पत्ति थी; इस पर परिवार के सव व्यक्तियो का स्वत्व था। यह स्पष्ट है कि यह घर के मुखिया (प्रायः पिता) की सम्पत्ति होती थी। परिवार के दूसरे सदस्यों का इस पर केवल नैतिक अधिकार ही होता था। पिता इस अधिकार की उपेक्षा कर सकता था' (वैदिक इडैक्स १।३५१)।

---

३७. शत० ब्राह्मण ५।४।२।८ तद्योऽस्य पुत्रः प्रियतमः। तस्मा एतत्पात्रं प्रयच्छतीदं येऽयं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनवदिति।

३८. ता० ब्रा० (१६।४।४।३-४) सोऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति तामस्मै स्रजं प्रत्य मुंचत्ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त।.... तस्माद्यः पुत्राणां दायं धनतममिवोपैति तं मन्यतेऽयमेवेदं भविष्यतीति॥

अपनी इच्छानुसार पुत्रों में मनमाना वटवारा करने के पिता के अधिकार पर प्रतिवन्ध लगाने वाला सर्वप्रथम धर्मसूत्रकार आपस्तम्व ही प्रतीत होता है। वह कहता है कि पिता अपने जीवन काल मे क्लीव (नपुसक) उन्मत्त तथा पतित (जाति वहिष्कृत) पुत्रो को छोड़ कर, (अन्य पुत्रो में) दाय का समान रूप से विभाग करे[३९]। आप० के सामने समान विभाग में सब से वड़ी वाधा थी—शास्त्रीय प्रमाण तथा लोकाचार द्वारा ज्येष्ठ पुत्र को, अन्य अन्य पुत्रो की अपेक्षा दिया जाने वाला विशेष अश। ज्येष्ठ पुत्र के अधिकारों के प्रकरण में इसका विस्तार से विचार होगा। यहा इतना कहना पर्याप्त है कि आप० ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अश ग्रहण करने के अधिकार को स्वीकार नहीं किया और अपने मन्तव्य की पुष्टि में "मनु. पुत्रेभ्यो दाय व्यभजत्' (तै० स० ३।१।९।४) का प्रमाण उपस्थित किया, उसके मतानुसार इस वचन में श्रुति द्वारा अविशेष (समान) विभाग की ही व्यवस्था की गई है[४०]। यद्यपि श्रुति में समान या तुल्य शव्द का प्रयोग नही है, किन्तु आपस्तम्व के टीकाकार हरदत्त के अनुसार 'पुत्रेभ्य.' का वहुवचन में किया गया प्रयोग तुल्य विभाग को सूचित करता है[४१]।

किन्तु आप० की यह व्यवस्था मान्य नही हुई। याज्ञ० (२।११४-११६) पिता को इच्छानुसार विभाग करने की आज्ञा देता है। पिता चाहे तो ज्येष्ठ पुत्रको श्रेष्ठ भाग दे अथवा सभी पुत्र समान अश ग्रहण करने वाले हो[४२]। याज्ञवल्क्य इतनी व्यवस्था से ही सन्तुष्ट नही हुआ; किन्तु उसने यह भी कहा कि पिता द्वारा किया गया न्यून या अधिक अशो का विभाग धर्मानुकूल है[४३]। नारद, याज्ञ० की इन दोनो व्यवस्थाओ का अनुकरण करता है और विषम विभाग के धर्मानुकूल होने के कारण का भी निर्देश करता है।—"सम, न्यून, या अधिक धनो के साथ पिता द्वारा जो विभाग किया गया है, उन दायादो के

---

३९. आप० धर्म सूत्र २।१४।१ जीवन्पुत्रेभ्यो दायं विभजेत समं क्लीवमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य। मि० हिरण्यकेशी धर्मसूत्र २।७

४०. वहीं २।१४।११ मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजदित्यविशेषेण श्रूयते।

४१. वहीं–पुत्रेभ्य इति वहुवचननिर्देशादित्यविशेषेण श्रूयते।

४२. याज्ञ० २।११४ विभागं चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्। ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समाशिनः॥

४३. वहीं २।११६ न्यूनाधिकविभक्तानां धर्म्यः पितृकृतः स्मृतः।

लिये वही धर्म है, क्योकि पिता निश्चित रूप से सब का स्वामी है (सर्वस्य हि पिता प्रभु:)[४४]। यहा यह स्पष्ट नही है कि 'सर्वस्य' (सवका) विशेषण का विशेष्य क्या है ? यह पुत्र, विभाग या धन तीनो का विशेषण हो सकता है और ये तीनो पिता के प्रभुत्व को सूचित करते है।

बृहस्पति (दा० ५३, अप० २।११४,११६) ने इस सम्बन्ध मे जो व्यवस्था की है, वह कई दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। याज्ञ०, नारद आदि की व्यवस्थाओ में पिता के विषम विभाग को धर्मानुकूल मानने का विधान है। ऐसा प्रतीत होता है कि छठी श० ई० मे, पुत्रो ने इस व्यवस्था के धर्मानुकूल होने पर भी, इसका पालन करने से इन्कार किया। यह स्पष्ट था कि पुरानी व्यवस्था से काम काम नही चल सकता था । अतएव बृहस्पति को यह आवश्यकता प्रतीत हुई कि वह पुरानी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर विधान वनाये। अतएव उसने यह कहा—"पिता ने जिन (दायादों के) सम, न्यून या अधिक भाग निश्चित कर दिये है, उनका इसी प्रकार पालन हो; यदि उनका वैसा पालन नही होता तो उन दायादो को दण्डित (विनेय) किया जाना चाहिए[४५]"।

किन्तु समय के प्रभाव से पुत्रो का अधिकार बढ चुका था। वृह० अपनी कैन्यूट जैसी आज्ञाओ से उनके अधिकार के ज्वार को अधिक देर तक नही रोक सकता था। शास्त्रकारो को लोकाचार के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा। कात्यायन ने यह अनुभव किया कि बृह० ने दण्ड के जिस बाध से पुत्राधिकार के प्रबल प्रवाह को रोकना चाहा था, वह भग्न हो चुका है। प्राचीन शास्त्र (आपस्तम्ब के अपवाद को छोडकर) सम विभाग के विरोधी थे; किन्तु लोकमत इसका प्रवल पोषण कर रहा था। शास्त्र और लोकाचार में प्रायः पिछला ही विजयी होता है। अतः कात्यायन ने घोषणा की कि सम विभाग ही धर्मानुकूल है[४६]। इसके वाद, उसने याज्ञ०, वृह० और नारद द्वारा स्पष्ट

---

४४. नारद स्मृ० १६।१५ पित्रैव तु विभक्ता ये समन्यूनाधिकैर्धनैः। तेषां स एव धर्म्यः स्यात्सर्वस्य हि पिता प्रभुः ॥

४५. बृह० (दा० पृ० ५३, अप० २।११४, ११६) समन्यूनाधिकाः भागाः पित्रा येषां प्रकल्पिताः। तथैव ते पालनीया विनेयास्तेस्युरन्यथा ॥

४६. कात्यायन (स्मृच० २६०) सकलं द्रव्यजातं यद्भागंगृ ह्णन्ति तत्समैः। पितरौ भ्रातरश्चैव विभागो धर्म्य उच्यते ॥

शब्दो में स्वीकार किये गये पिता के विषम विभाग के अधिकार पर कुठाराघात किया—"अपने जीवन काल में विभाग करने पर पिता किसी पुत्र के साथ (अधिक भाग देकर) विशेषता (पक्षपात प्रदर्शन) न करे तथा किसी को विना कारण अकस्मात् (क्रोधादि से) उसके भाग से वञ्चित न करे"[४७]। कात्या० के इस वाक्य को हिन्दू परिवार में पुत्रो के अधिकार का मैग्ना कार्टा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

टीकाकारो मे विश्वरूप ने पुरानी व्यवस्था का समर्थन करना चाहा। यद्यपि उस समय प्रथा द्वारा पिता के विषम विभाग के अधिकार में परिवर्तन आ गया था, तथापि विश्वरूप के सामने याज्ञ० (२।११४) का इस अधिकार का प्रतिपादक स्पष्ट वचन विद्यमान था। उसने असदिग्ध शब्दो में पिता के स्वत्व को स्वीकार किया। "उस समय (विभाग के समय पिता अपनी) इच्छा से जिस पुत्र को जितना धन देना पसन्द करता है, उसे उतना ही धन दे। पुत्रो की इच्छा से उनमें धन न बाटे। पुत्र पिता से विभाग नही करवा सकते और न वे पिता से किसी विशेष नियम का पालन करवा सकते है।...... वहा (विभाग में) वैसा ही होना चाहिए, जैसी पिता की इच्छा हो। पुत्रो के आश्रय से की जाने वाली विभाग सम्बन्धी व्यवस्था दोष पूर्ण (अनवद्य) है[४८]"। विभाग में पिता के अमर्यादित अधिकार का इससे अधिक विशद प्रतिपादन क्या हो सकता है ?

परन्तु विज्ञानेश्वर ने, पुत्रो के अधिकार का समर्थक होने से पिता के इस अधिकार को मर्यादित किया, याज्ञ० २।११४ की व्यवस्था को अपनी व्याख्या द्वारा सकुचित बनाया। उसके मत मे यह विषम विभाग स्वर्जित सम्पत्ति के सम्बन्ध मे ही किया जाता है[४९]। यह हम पहले देख चुके है (पृ० ३६७) कि स्वर्जित सम्पत्ति को विज्ञानेश्वर ने कितना सीमित बनाया है, अतः इस व्यवस्था

---

४७. कात्या० (दा० ५६) जीवद्विभागे तु पिता नैकं पुत्रं विशेषयेत्। निर्भाजयेन्न चैवैकमकस्मात्कारणं विना॥ ऐसी व्यवस्था यद्यपि कौ० ३।५ में है (दे० ऊ० पृ० ३७५); किन्तु यह उस समय सर्वमान्य नहीं हुई।

४८. विश्व० २।११८ तदेच्छया यावद् यस्मै रोचते दातुं, तावदेव तस्मै दद्यात्, न पुत्रेच्छया। न पुत्रैः पिता विभागं विशेष नियमं वा कारयितव्य इत्यर्थः। ......तत्र तथैव स्याद् यथैव पितुरिच्छेति पुत्राश्रयो विधिरनवद्यः।

४९. मिता० २।११४ अयं च विषमो विभागः स्वार्जितद्रव्यविषयः।

को स्वोपात्त द्रव्य के विषय मे लागू करके, उसने पिता से मनमाने बटवारे का अधिकार लगभग छीन ही लिया ।

जीमूतवाहन सम्भवत. प्राचीन परम्परा का विचार करते हुये इस अधिकार को पैतृक सम्पत्ति पर ही लागू करता है (दा० पृ० ५३) । किन्तु अन्य निबन्धकार उससे सहमत नही हैं । देवण्ण भट्ट पिता के अधिकार को मर्यादित करता हुआ कहता है कि बृहस्पति के उपर्युक्त वचन में 'शास्त्रोक्त रीति से' यह पद अवशिष्ट है[५०] । इसका मतलब यह है कि पिता को शास्त्र मे वर्णित ज्येष्ठादि पुत्र को ही विशेष अंश देने का अधिकार है, अपनी मनमानी करने का नही । विज्ञा० स्वर्जित सम्पत्ति मे पिता को यथेच्छ अधिकार देने को तैयार था, किन्तु देवण्ण भट्ट उसे यह अधिकार भी देने को तय्यार नही । 'पिता अपने अर्जित धन मे भी यदि एक पुत्र को हजार स्वर्ण मुद्राएँ (निष्क) बाटता है और दूसरे को केवल एक कौडी देता है तो यह विभाग धर्मानुकूल नही हो सकता" । विज्ञानेश्वर ने पैतृक सम्पत्ति के स्वेच्छापूर्वक विभाग का पिता से अधिकार स्वर्जित सम्पत्ति तक सीमित किया था, देवण्ण भट्ट ने स्वार्जित सम्पत्ति मे भी उसके अधिकार को शास्त्रोक्त विधि द्वारा मर्यादित किया ।

माधवाचार्य (पमा० ४९२) और प्रतापसिंह देव (सवि० ३५४) ने पिता के इस अधिकार को बिल्कुल समाप्त कर दिया । ऐसा जान पड़ता है कि १४ वी शती तक हिन्दू समाज मे पिता द्वारा स्वेच्छा पूर्वक या शास्त्रोक्त विषम विभाग की पद्धति बिल्कुल उठ चुकी थी । १२ वी शती मे देवण्ण भट्ट भी इसे दूसरे युग की प्रथा बताता है (स्मृच० २७९) तथा स्वार्जित सम्पत्ति में विषम विभाग को शास्त्रोक्त रूप मे ही इसे स्वीकार करता है । किन्तु माधवाचार्य शास्त्रोक्त होने पर भी इसे लोक व्यवहार के प्रतिकूल होने से अकरणीय ठहराता है—"यह ठीक है कि विषम विभाग शास्त्रोक्त है; किन्तु लोकाचार विरोधी होने से इसका उसी प्रकार आचरण नही किया जाता जैसे शास्त्रविहित होने पर भी यज्ञ में गौ का वध नही किया जाता[५१]" । वरदराजने माधवाचार्य का समर्थन किया । प्रतापसिंहदेव ने लोक विरोधी होने के अतिरिक्त

---

५०. स्मृच० २६१ पित्रा शास्त्रावगत प्रकारेणेति शेषः ।... नहि स्वेच्छयैव स्वार्जितधनेऽपि कस्यचित्पुरुषस्य निष्कसहस्रेण कस्यचित्पुत्रस्य कपर्दिकमात्रेण विभागः कृतो धर्म्यो भवितुमर्हति ।

५१. प० मा० ४९२ सत्यं शास्त्रतो विषमविभागोऽस्ति तथापि लोकविद्विष्टत्वादनुबन्ध्यादिवत् नानुष्ठीयते ॥

दूसरे श्रुति वचनो का विरोधी होने से विषम विभाग को अपालनीय बताया[५२]। इसके बाद पिता का यह अधिकार स्वार्जित सम्पत्ति तक सीमित रह गया।

पैतृक सम्पत्ति पर पिता का अधिकार—विष्णु ने सर्वप्रथम स्वाम्य की दृष्टि से पिता की सम्पत्ति के दो भाग किये (१) स्वार्जित सम्पत्ति, (२) पैतामह (पितामह या दादा से प्राप्त) सम्पत्ति। 'पिता यदि पुत्रो में सम्पत्ति का बंटवारा करता है तो स्वार्जित सम्पत्ति में उसे इच्छानुसार विभाग का अधिकार है, किन्तु पैतामह सम्पत्ति में पिता और पुत्र दोनो का समान रूप से स्वामित्व होता है[५३]। याज्ञ० ने २।१२१ मे इस प्रकार की सम्पत्ति की कुछ विस्तार से चर्चा की है। 'जो भूमि, निवन्ध[५४] या अन्य सम्पत्ति दादा से प्राप्त की जाती है, उसमें पिता और पुत्र दोनो का स्वाम्य समान होता है'[५५]। वृह० ने दादा से प्राप्त स्थावर, जगम सम्पत्ति पर पिता पुत्र दोनो का तुल्य भाग माना है (दा० ४५-४६, अप० २।१२१)। व्यास भी यही व्यवस्था करता है।

---

५२. सवि० ३५४ विशमविभागश्च शास्त्रदृष्टोऽपि लोकविरोधात् श्रुत्यन्तरविरोधत्वान्नानुष्ठेय इति ॥

५३. विष्णु स्मृति १७।१-२ पिता चेत्पुत्रान्विभजेत् तस्य स्वेच्छा स्वयमुपात्ते ऽर्थे। पैतामहे त्वर्थे पितापुत्रयोस्तुल्यं स्वामित्वम् ॥

५४. निवन्ध के अर्थ के सम्बन्ध में टीकाकारों व निबन्ध लेखको में पर्याप्त मतभेद है। इसका विज्ञानेश्वर सम्मत अर्थ तो निर्धारित मूल्यवाली सम्पत्ति (Evaluated Property) प्रतीत होता है। विश्व० इसका अर्थ अक्षय निधि करता है, जीमूतवाहन इसे प्रतिज्ञात धन समझता है (निवन्धः कार्त्तवयामिदं दास्यामीति यन्निबद्धम् दा० ३०) देवण्णभट्ट इसे याचको द्वारा विभिन्न वस्तुओं का नियत रूप से लिया जाने वाला अंश मानता है (निवन्धः क्लृप्तया याचकादिभिः पण्यादिषु गृह्यमाणोऽशः। स्मृच० २७९) चंडेश्वर इसेखान आदि से प्राप्त होने वाला नियत धन समझता है (वि० ५६१) प्रतापसिंह राजा के मंत्री या मुख्याधिकारी से नियत की गई दैनिक या मासिक वृत्ति को निवन्ध मानता है (स० वि० ३७३) मित्रमिश्र राजा द्वारा निश्चित घाटों पर, तथा नदी पार कराने वालों द्वारा ली गई चुंगी को निवन्ध कहता है।

५५. याज्ञ० २।१२१ भूर्या पितामहोपात्ता निवन्धो द्रव्यमेव वा। तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चोभयोः ॥

विज्ञा० ने याज्ञ० २।१२१ की व्याख्या करते हुये कुछ महत्वपूर्ण परिणाम निकाले हैं; इन से उसने पिता के अधिकार कम करके पुत्र पौत्रो को कुछ अधिक स्वत्व दिये हैं। वह मनु द्वारा प्रतिपादित पिता के जीवनकाल में पुत्रो के अनीशित्व या अस्वाम्य को स्वार्जित सम्पत्ति तक परिमित करता है और यह कहता है 'माता के निवृत्त रजस्का न होने तथा पिता द्वारा विभाग न चाहने पर भी पुत्र की इच्छा से पैतामह सपत्ति का विभाग हो सकता है। यदि पिता पुत्रो से विभक्त नही हुआ है और वह उस अवस्था मे पैतामह सम्पत्ति का दान या विक्रय करता है तो पौत्र को उसे इसके दान या विक्रय करने से रोकने का अधिकार है। पिता द्वारा कमाई सम्पत्ति में पुत्र को यह विशेषाधिकार प्राप्त नही है, क्योकि उस पर पिता का स्वत्व है[५६]। विज्ञानेश्वर ने स्वार्जित सम्पत्ति मे भी पुत्र का अधिकार बढाया है "पिता को इस के विक्रय या दान मे भी पुत्र की अनुमति प्राप्त करनी चाहिए, यद्यपि पैतामह और पैतृक (पिता द्वारा उपार्जित) सम्पत्ति मे पौत्र का अधिकार जन्म ग्रहण करने से ही है, तथापि पैतृक सम्पत्ति में वह पिता के आधीन है, पिता के अर्जक होने के कारण, उसका प्राधान्य है, अत. पिता द्वारा स्वार्जित सम्पत्ति का उपयोग करने पर पुत्र से अनुमति ली जानी चाहिये[५७]।"

नि स्सन्देह विज्ञानेश्वर के समय तक एक नया युग प्रारम्भ हो गया था। पुराने जमाने मे पिता को सारी सम्पत्ति पर पूरा अधिकार था, अव उसे अपनी कमायी सम्पत्ति के दान या विक्रय के लिए भी पुत्र से अनुमति प्राप्त करना उचित समझा गया। पहले सव अधिकार पिता के थे, अव इन्हे पुत्र को देने का यत्न होने लगा।

जीमूतवाहन की व्यवस्था—जीमूत वाहन ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया। वंगाल में पिताओ को आज तक उसकी

---

५६. मिता० या० २।१२१ पर—तथा सरजस्कायां मातरि सस्पृहे च पितरि विभागमनिच्छत्यपि पुत्रेच्छया पैतामहद्रव्यविभागो भवति। तथाऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्याधिकारः। पित्रर्जितेन तु निषेधाधिकारः तत्परतन्त्रत्वात्।

५७. मिता० या० २।१२१ पर—अनुमतिस्तु कर्तव्या। तथा हिं पैतृके पैतामहे च स्वाम्यं यद्यपि जन्मनैव तथापि पैतृके पितृपरतन्त्रत्वात् पितुश्चार्जकत्वेन प्राधान्यात् पित्रा विनियुज्यमाने स्वार्जिते द्रव्ये पुत्रेणानुमतिः कर्तव्या॥

व्यवस्था से विशेष अधिकार प्राप्त हैं। हम देख चुके हैं कि वह पिता के मरने पर ही पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार मानता है। अतः उसने याज्ञ० २।१२१ की व्याख्या यह की है कि पैतामह धन पर जिस तरह पिता का स्वाम्य है, पिता के मरने पर उसी तरह, उस पर उसके पुत्र का स्वामित्व होता है। वह इस सदर्भ की धारेश्वर द्वारा स्वीकृत एक दूसरी व्याख्या भी करता है। पैतामह धन मे पिता पुत्र के सदृश स्वाम्य का यह अर्थ है कि यदि पिता उस धन के विभाग या दान की इच्छा रखता है तो स्वार्जित धन की तरह उस का अपनी इच्छा से न्यूनाधिक विभाग नही कर सकता। विष्णु के पूर्वोक्त वचन को उद्धृत करके जीमूत० यह परिणाम निकालता है कि पैतामह धन में पिता की स्वच्छन्द वृत्ति नही है। वह कहता है कि तुल्य स्वामित्व का प्रतिपादक करने वाले इस वचन के सम्बन्ध मे दो मत हैं (१) यह पैतामह धन में पिता पुत्र को तुल्य भाग देने के लिए है, (२) पुत्रों को विभाग कराने की स्वतन्त्रता देने के लिए है। ये दोनो मत हेय है। अत. पैतामह धन में पिता के दो भाग होते है तथा पिता की इच्छा से ही विभाग होता है, पुत्र की इच्छा से नही (दा० ३२)[५८]।

विज्ञा० ने कहा था कि पिता के न चाहते हुये भी पुत्र की इच्छा से पैतामह धन का विभाग होता है, जीमूत० उससे सर्वथा प्रतिकूल व्यवस्था करता है कि पिता की इच्छा से ही विभाग होता है, पुत्र की इच्छा से नहीं। इस समय बगाल में जीमूत वाहन की व्यवस्था मान्य है तथा शेष भारत मे विज्ञानेश्वर की।

जीमूतवाहन की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वह पिता को विशेष अधिकार अवश्य देता है; किन्तु वे अधिकार विशेष सम्पत्ति तक ही सीमित है। पैतृक संपत्ति मे भी वह उसे अधिक अंश देने की व्यवस्था करता है, परन्तु उस पर उसका स्वत्व मर्यादित है। वह उस का विक्रय दान आदि द्वारा अपहार (Alienation) या इन्तकाल नही कर सकता। जीमूतवाहन ने पिता को निम्न अधिकार प्रदान किये है—

---

५८. दा० पृ० ३२ अतः पितापुत्रयोः पैतामहधने समविभागार्थं सदृशं स्वाम्यमिति वचनं, पुत्राणा वा विभागस्वातन्त्र्यार्थमिति मतद्वयमपि हेयम्।...अतः पैतामहादिधने पितुर्भागद्वयं पितुरिच्छात एव विभागो न पुत्रेच्छयेति सिद्धम्।

(१) पिता अपनी स्वार्जित सम्पत्ति का पुत्रो मे विषम विभाग कर सकता है, उस सम्पत्ति का जितना चाहे उतना हिस्सा अपने पास रख सकता है, किन्तु पैतृक सम्पत्ति में उसे यह स्वच्छन्दता प्राप्त नही है।

(२) पिता पुत्र द्वारा कमाई सम्पत्ति में से उस का आधा भाग या दो अश ग्रहण कर सकता है।

(३) पैतृक सम्पत्ति का विभाग पिता के जीवन काल में पिता की इच्छा से ही हो सकता है।

(४) पैतृक सम्पत्ति के विभाग मे वह पुत्र से दुगना हिस्सा ले सकता है, किन्तु दुगने से अधिक अंश की वह माग नही कर सकता।

(५) पिता पुत्रो में पैतृक सम्पत्ति का विषम विभाग नही कर सकता; उसे यह धन सब पुत्रो मे समान रूप से बाटना पडेगा।

(६) वह पैतृक सम्पत्ति का अपहार परिवार के पालन के लिये ही कर सकता है।

वर्तमान काल में न्यायालयो ने बगाल मे पिता को जीवनकाल मे अपनी इच्छानुसार पैतृक सम्पत्ति के विनियोग पर पूरा स्वत्व दिया है, पुत्र को इसमें भरण पाने के अतिरिक्त कोई अधिकार नही है[५९]। इस विषय मे उसे पुत्रो से सहमति प्राप्त करना आवश्यक नही[६०]। पिता अपने वसीयतनामे द्वारा जिस पुत्र को चाहे, उसे यह सम्पत्ति प्रदान कर सकता है[६१]।

मिताक्षरा की विरोधी व्यवस्था--इस सम्प्रदाय मे दायादो का स्वत्व जन्म से माना जाता है (दे० ऊ० पृ० २९१)। इस का पिता के अधिकार पर बड़ा प्रभाव पड़ता है, वह सयुक्त परिवार का प्रबन्धक (कर्त्ता) मात्र समझा जाता है, सयुक्त सम्पत्ति पर उसका स्वत्व दायभाग सम्प्रदाय के पिता की तरह अमर्यादित नही है; उसका अधिकार उसके पुत्रो तथा अन्य समाशियो के स्वत्वो से नियन्त्रित होता है, वह इनकी सहमति के बिना पैतृक सम्पत्ति का अपहार नही कर सकता[६२]।

---

५९. टैगोर बनाम टैगोर १८ वी० रि० ३५९

६०. धरमदास बनाम अमूल्य धन ३३ कल० ११११ (११२४)

६१. देवेन्द्र बनाम ब्रजेन्द्र १७ कल० ८८६

६२. बच्चू बनाम मान कौर बाई ३४ इं० ए० १०७, सुन्दरमय्या बनाम सितम्मा ३५ म० ६२८

पिता का पैतृक सम्पत्ति के दान का अधिकार—किन्तु यह मानना भ्रम होगा कि मिता० सयुक्त परिवार में पिता विल्कुल परतन्त्र है और उसे पैतृक सम्पत्ति मे से किसी प्रकार के दान का अधिकार नही है; इस में पिता को परिवार का मुखिया होने से किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त है। वह अपनी सन्तानो तथा अपने दायादो को स्नेहवश पैतृक सम्पत्ति के विभिन्न अशों को भेंट या उपहार के रूप में दे सकता है। इस तरह प्रेम के कारण पिता द्वारा सन्तानो को दिये जाने वाले दान में, स्त्री पुरुष का भेद नहीं किया जाता। इस प्रकार की भेंटे पिता कन्या को भी दे सकता है[६३]। किन्तु ऐसा उपहार कन्या की पुत्री[६४]; कन्या के पुत्र[६५], विधवा या माता[६६], या निकट के सम्बन्धी को[६७] नही दिया जा सकता।

ये दान न्यून मात्रा में (Inconsiderable) तथा युक्तियुक्त होने चाहिये। न्यायालयो ने सयुक्त परिवार की स्थावर सम्पत्ति मे से भी दिये जाने वाले दानो को उपर्युक्त प्रकार का होने पर, उचित ठहराया है। कन्या को[६८] या अपनी कन्या के विवाह पर दामाद को पिता[६९] या माता[७०] द्वारा दिये गये दान वैध स्वीकार किये जाते है। पिता को स्थावर और जगम दोनो प्रकार की सम्पत्ति में से ऐसे दान करने का अधिकार है[७१]।

पिता के ऋण तथा अपहार(Alienation)—स्नेहवश अपनी सन्तान को, पैतृक सम्पत्ति का कुछ अश दान करने के अतिरिक्त पिता को एक अन्य महत्वपूर्ण अधिकार भी प्राप्त है, यह ऋण लेने तथा उसके वदले में अपनी पैतृक सम्पत्ति का अपहार कराने के सम्बन्ध में है। पुत्रो को इन ऋणो तथा

---

६३. सीता महालक्ष्मम्मा बनाम कोयय्या ७१ म० ला० ज० २५९

६४. वहीं

६५. श्रीवर बनाम श्री निवास १९३४ म० ८१

६६. सुब्बा बनाम अदम्मा ४७ म० ला० ज० ४६५

६७. उमा बनाम महावीर १९२९ ए० ८५४

६८. रामलिंग बनाम नारायण ४५ म० ४८९, हरिदास व० देवकुअर वाई ५० वं० ४४३

६९. सुन्दर रमय्या बनाम सितम्मा ३५ म० ६२८

७०. चूड़ामन बनाम गोपी० ३७ कल० १

७१. सुन्दररमय्या बनाम सितम्मा ३५, म० ६२८

अपहारो को स्वीकार करना पड़ता है। उन का यह पवित्र धार्मिक कर्तव्य है कि वे पिता के ऐसे ऋणो का अपाकरण करे, जो अवैध, अनैतिक तथा अव्यावहारिक न हों।

प्राचीन काल में हिन्दू शास्त्रकारो ने पिता के ऋण की अदायगी (अपाकरण या प्रतिदान) के लिये पुत्र को उत्तरदायी स्वीकार किया था। विष्णु (६।२७-२८) ने यह व्यवस्था की थी कि धन लेने वाले के मर जाने, सन्यासी होने या २० वर्ष तक विदेश मे रहने वाले व्यक्ति के पुत्र पौत्रो को उसका ऋण चुकाना चाहिए। गौतम (१२।३७) व मनु (८।१६६) यह कहते हैं कि यदि कोई एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति का रिक्थ प्राप्त करता है तो रिक्थहर को उसका ऋण भी उतारना चाहिए। कौटिल्य (३।१६) ने ऋण के लिए लिये पुत्रो को जिम्मेदार ठहराया है। याज्ञ० २।४५ किसी व्यक्ति द्वारा कुटुम्बार्थ लिये ऋण को चुकाने का उत्तरदायित्व उस व्यक्ति के रिक्थियो पर पर डालता है। न केवल पिता के मरने पर किन्तु सकट ग्रस्त होने पर भी पुत्र और पौत्रो को उसका ऋण चुकाना चाहिए (२।५०)। नारद स्मृति (४।२) भी पुत्रो को पिता के ऋण के लिये जिम्मेवार ठहराती है। नारद ने इस विषय में बडे विस्तार से व्यवस्था की है (४।२-२४) "पिता पुत्रो को इसी स्वार्थ के कारण चाहते हैं कि पुत्र जिस किसी प्रकार से सभव होगा, देवो, ऋषियो और पितरो के उत्तम ऋणो से तथा मनुष्यो के अधम ऋणो से मुझे मुक्त करावेगा (४।५) अतएव उसे यह उचित है कि वह स्वार्थ का परित्याग करे, अपने पिता को ऋण से मुक्त कराये ताकि पिता नरकगामी न हो" (वही)। वृहस्पति (मिता० २।५०, अप० २।५०) पिता के ऋण को पुत्र व पौत्र द्वारा देय बताता है, साथ ही यह कहता है कि पोते को दादा का ऋण चुकाते समय उसका व्याज नही देना चाहिय और प्रपौत्र को अपने प्रपितामह का ऋण चुकाने में कोई बाध्यता नही है[७२]। पिता के आपद्ग्रस्त होने पर, उसके ऋण की जिम्मेवारी पुत्रों पर है। कात्यायन (अप० २।५०, स्मृच० १७०) की व्यवस्था वृहस्पति से मिलती है।

अप्रतिदेय ऋण—किन्तु पुत्र पिता के सब प्रकार के ऋण उतारने के लिये बाध्य नही है। यह सम्भव है कि पिता ने कोई ऋण शराब पीने या जुआ

---

७२. वृह० (मिता० या० २।५० में) ऋणमात्मीयवत् पित्र्यं पुत्रैर्देयम् विभावितम्। पैतामहं समं देयं न देयं तत्सुतस्य तु॥

खेलने के लिये लिया हो । शास्त्रकार इस प्रकार के अनुचित ऋणों के लिये पुत्रो को जिम्मेवार नहीं ठहराते । उन्होंने ऐसे ऋणो को वड़े विस्तार से गिनाया है । गौ० ध० सू० (१२।३८) ने पिता के निम्न ऋण अप्रतिदेय वताये हैं—(१) जमानत के लिये लिया गया ऋण (प्रातिभाव्य) (२) व्यापारार्थ ऋण—कोई व्यक्ति व्यापार करने के लिये रुपया उधार लेता है, उसे लेकर विदेश चला जाता है, वहा उसकी मृत्यु हो जाती है, इस अवस्था में उसके पुत्र पिता का ऋण चुकाने के लिये वाध्य नही है। (३)शुल्क—आसुर विवाह में लड़की के पिता को दिया जाने वाला धन। यदि लडके का पिता शुल्क देने का वचन दे कर मर जाता है तो लडकी का पिता उस शुल्क को वायदा करने वाले व्यक्ति के पुत्र से नही ले सकता। (४) शराब पीने के लिये लिया गया सौरिक ऋण (५) आक्षिक—जुआ खेलने के लिये लिया गया ऋण (६) जुर्माना । वसिष्ठ (१६।२६) कौटिल्य (३।१६) प्राय. इन्ही अप्रतिदेय ऋणो का वर्णन करते है। याज्ञ० (२।४७) निरर्थक दानो तथा कामोपभोग के लिये स्त्रियो को प्रतिज्ञा किये धनो को भी इसी प्रकार का ऋण समझता है[७३]। नारद (ना० स्मृ० ४।९) और वृहस्पति (व्यक० १२१) काम के अतिरिक्त क्रोध के आवेश में प्रतिज्ञात धनो का भी वर्णन करता है। उशना (मिता० २।४७) ने व्यावहारिक नामक अप्रतिदेय ऋण का उल्लेख किया है। देवण्ण भट्ट व्यावहारिक को सौरिक या शराव पीने के लिये लिया गया ऋण समझता है (स्मृ च० १७०)। उपर्युक्त प्रकारो के ऋण पुत्र द्वारा अप्रतिदेय थे; किन्तु अन्य सव ऋण उतारने योग्य माने जाते थे।

शास्त्रकारो ने एक ओर तो पुत्र का यह आवश्यक कर्त्तव्य माना है कि वह पिता के अप्रतिदेय ऋणो के अतिरिक्त अन्य कर्जों को चुकाए; दूसरी ओर विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट शव्दो मे पुत्रो की सहमति के विना पैतृक सम्पत्ति का अपहार करने के पिता के अधिकार को स्वीकार नही किया। (पृ० ४२१) पुत्र पिता का ऋण उताने के लिये वाध्य है, किन्तु इसके साथ ही उन्हे यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे पिता को पैतृक सम्पत्ति के गिरवी या विक्रय करने से रोक सकें। पिता को ऋण लेने का अधिकार है; पर पैतृक सम्पत्ति के इन्तकाल का हक़ नही है। यदि कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो कि पिता के कर्ज़ देने के लिये

---

७३. याज्ञ० २।४७ सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम् । वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्न पैतृकम् ॥

पैतृक सम्पत्ति का विक्रय आवश्यक प्रतीत हो तो उस समय दो स्थितिया उत्पन्न हो सकती हैं । (१) पुत्र पिता के ऋण का दायित्व अपने ऊपर समझ-कर, इस अपहार को स्वीकार कर ले ।(२) पुत्र यह सिद्ध करने का यत्न करें कि पिता को अपहार या इन्तकाल का कोई अधिकार नही है ।

पूर्ववर्त्ती ऋण--(Antecedent Debt) यह स्पष्ट है कि ये दोनो परस्पर विरोधी स्थितियां है । दोनो उचित भी जान पडती है । पिता के ऋण की पुत्रो द्वारा अदायगी होनी चाहिये; पर पैतृक सम्पत्ति पर भी पुत्रों का स्वत्व सुरक्षित रहना चाहिए । वर्तमान न्यायालयो मे पहले इस प्रश्न पर पर पर्याप्त मतभेद था; किन्तु अब उन्होने इस विषय मे मध्यममार्ग निकाल लिया है । पिता को पैतृक सम्पत्ति गिरवी रखकर कर्ज लेने का अधिकार नही है । किन्तु यदि उसने कोई ऋण लिया है, वह उसे चुका नही सका और इसके लिये कोई अपहार (Alienation) करता है, तो पुत्र को इस अपहार के विरोध का कोई अधिकार नही; क्योकि वह पिता का ऋण चुकाने के लिये वाघ्य है । इस अवस्था मे पहले लिये ऋण (Antecedent Debt) को चुकाने के लिये ही अपहार किया जाता है । ऋण की पूर्ववर्तिता (Antecedency) के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रारम्भ मे किसी अपहार सम्बन्धी व्यवहार (Legal Transaction) से सम्बद्ध न हो । पूर्ववर्ती ऋण ऐसे व्यवहार से पूर्व एव उससे सर्वथा स्वतन्त्र होना चाहिये[७४] । प्रिवी कौंसिल ने व्रजनारायण बनाम मगल प्रसाद के मामले में पूर्ववर्तिता (Antecedency) की बडी स्पष्ट व्याख्या की है । इसका आशय (सम्पत्ति की) गिरवी या रेहन (के व्यवहार) से पहले होने वाली पूर्ववर्तिता है । इसका न केवल समय की दृष्टि से अपितु आधि (Mortgage) की घटनामात्र से कोई सम्बन्ध नही होना चाहिये ।

पिता का पैतृक सम्पत्ति पर विशेषाधिकार--पूर्ववर्ती ऋण को चुकाने के के लिये पिता सयुक्त परिवार की सपत्ति मे न केवल अपने अश एव स्वत्व को बेच सकता है, अपितु पुत्रो के हिस्से और हक भी बेच सकता है[७५] । व्रजनारायण वाले मामले में प्रिवी कौन्सिल ने पिता के इस अधिकार की व्याख्या करते

७४. चेतराम व० रामसिंह ४४ अला० ३६८ (३७४) प्रि० कौ०; व्रिज नारायण ब० मंगल प्रसाद ४६ अला० ९५ प्रि० कौ०

७५. व्रिजनारायण बनाम मंगल प्रसाद ४६ अला० ९५ प्रि० कौ०, रामेसर बनाम कल्लू राम वहीं २६४, अनन्तू बनाम रामप्रसाद वहीं २९५

हुये कहा था कि पिता का ऋण यदि पूर्ववर्ती है, वह किसी अनुचित या अवैध कार्य के लिये नहीं लिया गया तो उस की अदायगी की डिग्री को पूरा करने के लिये पारिवारिक सम्पत्ति जब्त भी की जा सकती है।

पिता के ऋण के लिए पुत्रो का दायित्व कितना है? यदि पिता वहुत अधिक कर्ज और वहुत कम सम्पत्ति छोड़कर मरे तो क्या पुत्रों की सारी सम्पत्ति ऋणों की अदायगी के लिए जब्त की जा सकती है? इस विषय में न्यायालयों में मतभेद है। वम्बई के न्यायालय पुत्र पर पिता के सव ऋणो को उतारने का दायित्व डालते थे और उसमें इस वात का विचार आवश्यक नही समझते कि पुत्र को विरासत में कितनी सम्पत्ति मिली है[७६]। किन्तु अन्य प्रान्तो के न्यायालय पुत्र के दायित्व के निर्धारण में रिक्थ की मात्रा का विचार आवश्यक समझते है[७७]। कई अवस्थाओ में यह हो सकता है कि पिता एक हजार रुपये की सम्पत्ति और दो हजार रुपये का कर्ज छोड कर मरा हो। उस अवस्था में पुत्र के साथ यह घोर अत्याचार है कि पिता का कर्ज चुकाने के लिए उसकी सम्पत्ति कुर्क करके उसे दर-दर का भिखारी वना दिया जाय। १८६६ ई० में वम्वई प्रान्त में 'पूर्वजो के ऋणो के लिए हिन्दुओ का दायित्व कानून' (Hindus' Liability For Ancestors Debts Act) वना कर पुत्रो के प्रति होने वाले इस अन्याय का प्रतिकार किया गया। पिता अपना ऋण चुकाने के लिए पुत्र के अविभक्त अंश का यथेच्छ विनियोग कर सकता है और उत्तमर्ण भी पिता के कर्जे की वसूली की डिग्री द्वारा पुत्र के पृथक् अश को छीन सकता है[७८]। पिता के दिवालिया होने पर अदालत द्वारा ऋण की वसूली करने वाला सरकारी अधिकारी दिवालिये पिता तथा उसके पुत्रों की सयुक्त पारिवारिक सम्पत्ति को ऋण चुकाने के लिए वेच सकता है, वशर्ते कि पिता के वे ऋण अवैध या अनैतिक न हो[७९]।

---

७६. प्राणवल्लभ वनाम देवकृष्ण (१८२४) वं० से० रि० ४; नरसिंह राव व० अम्वाजी० २ वं० हा० रि० ६४

७७. रामय्या व० अली साहिव २ म० हा० रि० ३३६ दयामणि व० वृन्दावन (१८५६) सदर दीवानी अदा० व्रं० ९७; कन्हैया वनाम वख्तार १ सदर दी० अदा० नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज ४

७८. अतुल कृष्ण व० लालानन्द जी १४ पर ७३२ फु० वैं० चन्द्रदेव व० माता प्रसाद ३१ अला० १७६ फु० वैं०

७९. वरद राजन् वनाम श्री निवास राव (१९२४) म० ७९२

अनैतिक ऋण—पुत्र पिता के अपहार सम्वन्धी अधिकार का इस आधार पर विरोध कर सकता है कि पिता जिन ऋणो को चुकाने के लिये पैतृक सम्पत्ति की आधि (Mortgage) या विक्रय कर रहा है, वे अनैतिक थे। हम ऊपर यह देख चुके है कि प्राचीन शास्त्रकारो ने किन ऋणो को पुत्र द्वारा अप्रतिदेय स्वीकार किया था। न्यायालय उनमें से अधिकांश ऋणो को वर्तमान समय मे भी अप्रतिदेय स्वीकार करते है। उन के प्रतिदान के लिये पिता पुत्रो के अंशो का अपहार नही कर सकता। शराव पीने के लिये[८०], जुआ खेलने के लिये[८१], चकलो में जाने या वेश्याओ को लाने के लिये[८२] यदि एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को ऋण देता है तो वह उस ऋण की अदायगी के लिये कर्ज़-दार को अदालत द्वारा बाध्य नही कर सकता, क्योकि अदालत कर्ज़ के उपर्युक्त उद्देश्यो को अवैध समझती है, अतः वह इन कर्ज़ो के सम्वन्ध के सारे व्यवहार को अवैध मानती है। अवैध कार्यों की कोई कानूनी सत्ता नही होती, उपर्युक्त उद्देश्यो के लिये दिये गये ऋण कानूनी साधनो से वापस नही लिये जा सकते। प्राचीन शास्त्रकारो ने, सौरिक, आक्षिक और काम ऋणो के नाम से इन्ही का वर्णन किया है। वर्तमान न्यायालय कुछ अन्य ऋण भी इसी कोटि के समझते है। उदा० क और ख में यह समझौता होता है कि ख की कन्या क के पुत्र से शादी करेगी और यदि शादी नही होगी तो ख, क, को ५०००) देगा। इस प्रकार का समझौता सार्वजनिक नीति एव व्यवहार का विरोधी है, अत. अदालत द्वारा मान्य नही होता[८३]।

गौतम (१२।३८) विष्णु (६।२८) कौटिल्य (२।१६) ने आसुर विवाह में कन्या के पिता द्वारा लिया जाने वाला शुल्क अप्रतिदेय माना गया है। किन्तु वर्तमान समय मे एक न्यायालय ने इस प्रकार के विवाह को रिवाज के रूप मे स्वीकार करते हुए इस ऋण की अदायगी आवश्यक मानी है[८३]। शुल्क का दूसरा अर्थ राज्यधिकारियो को दी जाने वाली चुगी भी है (विश्व० २।५३)। वर्तमान काल मे यह तुरन्त दिया जाने वाला धन समझा

---

८०. रवीन्द्र व० नानक चन्द्र (१९०९) पं० रि० नं० २४

८१. सुब्बराय व० देवेन्द्र ७ म० ३०१

८२. राजेन्द्र बनाम अब्दुल हकीम ३९ इंडिया केसेज (कल०) ७६७

८३. देवरयन बनाम मुद्दुरमन ३७ म० ३९३, वेंका व० लक्ष्मी ३२ म० १८४ फु० बैं०, शुल्क के लिये दे० ३२ अला० ५७५

जाता है, क्योंकि चुंगी लेने वाले का कर्त्तव्य है कि वह फौरन चुंगी ले।। यदि किसी व्यक्ति की चुंगी अवशिष्ट रहती है तो इसका उत्तरदायी उस व्यक्ति का पुत्र नही, किन्तु चुंगी का अधिकारी है।

गौतम (१२।३८) ने पिता का जुर्माना पुत्र द्वारा अप्रतिदेय माना था। वर्तमान न्यायालय भी इसे पुत्र द्वारा अप्रतिदेय मानते है, क्योंकि यह पिता का वैयक्तिक दायित्व है। यदि कोई अपराध करता है, उस अपराध के लिये उसे अदालत द्वारा जुर्माना होता है, उस जुर्माने को देने के लिये वह जो कर्ज़ा लेता है, उस का दायित्व पिता पर ही है, पुत्र पर नही[८४]।

किन्तु यदि पिता सार्वजनिक द्रव्य का दुरुपयोग करता है या किसी ट्रस्ट का दुरुपयोग करता है[८५] तो न्यायालय पिता के दायित्व को पूर्ण करना पुत्र का कर्त्तव्य समझते हैं। इसे पुत्र का कर्तव्य मानने का कारण यह है कि कानून सार्वजनिक द्रव्य के दुरुपयोग या गबन को पूरा करना चाहता है और पिता के असमर्थ होने पर पुत्र द्वारा इसकी पूर्ति मे कोई दोष नही समझता।

प्रातिभाव्य ऋण के सम्बन्ध में शास्त्रकारो मे मतभेद है। गौतम (१२। ३८) वसिष्ठ (१६।२६) कौटिल्य (३।१६) नारद (स्मृ० ४।९) बृह० (व्यक० १२१) पिता के प्रातिभाव्य ऋण को पुत्र द्वारा अप्रतिदेय मानते है; किन्तु याज्ञ० (२।४७) कात्यायन (अप० २।४७, स्मृच० १७०) उशना (मिता० २।४७) वृद्ध हारीत (७।२४९) इसका कोई उल्लेख नही करते। वर्तमान न्यायालय जमानतो के स्वरूप पर पुत्र का दायित्व निश्चित करते है। यदि पिता ने किसी व्यक्ति के नियत समय पर नियत स्थान पर उपस्थित होने[८६] अथवा किसी व्यक्ति के सद्व्यवहार (Good Behaviour) रखने[८७] अथवा किसी अवैध कार्य के लिये[८८] जमानत दी हो तो इन जमानतो से पिता के ऋणी होने पर पुत्र उस ऋण के लिये उत्तरदायी नही है; किन्तु दूसरे व्यक्ति के ऋण की अदायगी आदि के लिये जमानत देने से यदि पिता ऋणग्रस्त

---

८४. गरुड़ बनाम नरेल्हा ४८ इं० के ७४०

८५. तोशन पालसिंह व० डिस्ट्रिक्ट जज ५६ अला० ५४८ प्रि० कौ० छकोरी बनाम गंगा ३९ कल० ८६२

८६. द्वारका बनाम किशन ५५ अला० ६७५

८७. चौधरी व० हमगैंवा १० पट ९४

८८. सत्याचरण व० सतपीर ४ प० ला० ज० ३०९

होता है, उस हालत मे पुत्र[८९]और पौत्र[९०]पिता के ऋण के प्रतिदाता होते है।

उशना ने अव्यावहारिक ऋण का प्रतिदान पुत्र के लिये आवश्यक नही माना था। इस अव्यावहारिक के अर्थ के सम्बन्ध में हाईकोर्टा मे मतभेद है। वम्बई हाईकोर्ट ने दरवार बनाम खाचर के मामले मे इसका अर्थ असाधारण (Unusual)या कानून अथवा रूढि से न स्वीकार किया जाने वाला किया था। "सरल भाषा में कहा जाय तो इस का आशय यह है कि पुत्र को पिता के उन ऋणो के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता, जिन को पिता एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप मे कभी ग्रहण न करता। वह (पुत्र) पिता के उन्ही ऋणो के लिये उत्तरदायी है, जिन्हे पिता ने वैध रूप से ग्रहण किया हो। वह पिता की दुर्वलता-ताओ, मूर्खताओ या वहमो के कारण ग्रहण किये ऋणो के लिये जिम्मेवार नही है[९१]"। किन्तु यह व्याख्या बड़ी अस्पष्ट और सकीर्ण है। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति कौन से ऋण लेना पसन्द नही करेगा, इस प्रश्न का निर्णय बहुत कठिन है। वाद के मामलो मे बम्बई हाईकोर्ट ने स्वय इस व्यवस्था को स्वीकार नही किया[९२]। कलकत्ता हाईकोर्ट ने अव्यावहारिक ऋण का अर्थ किया है—ऐसा ऋण जो वैध न हो, साधारण (Usual), पारम्परिक (Customary) या लोक प्रचलित न हो[९३]। किन्तु प्रत्येक प्रदेश में विभिन्न आचार और रूढिया प्रचलित होती है, अतः किसी ऋण के पारम्परिक होने या साधारण होने का निश्चय करना कठिन है। अत. मद्रास हाईकोर्ट ने[९५] बगाल हाईकोर्ट की व्याख्या स्वीकार नही की। अलाहावाद हाई कोर्ट ने यह स्वीकार किया कि इस विषय मे

---

८९. रसिक ब० सिंहेश्वर ३९ कल० ८४३, कामेश्वरम्मा ब० वेंकट ३८ म० ११२०

९०. महावीर ब० सीरी ४६ इं० के० २७, बाल०कृष्ण ब० शाम ५६ इं० के ९६२

९१. दरबार ब० खाचर ३२ बं ३४८ ॥

९२. रामकृष्ण ब० नारायण ४ बं० १२६(१३०), हममहन्त ब० गणेश ४३ बं० ६१२ ॥

९३. छकोरी बनाम गंगा ३९ कल० ८६२ (६८)

९४. दे० पिछला नोट

९५. गरुड़ ब० नरेला ३५ म० ला० ज० ६६१

कोई निश्चित नियम नही बनाये जा सकते कि कौन सा कार्य उत्तम नीति तथा सद्व्यवहार के विरुद्ध है[९६]। यही स्थिति ठीक प्रतीत होती है।

पुत्र द्वारा प्रतिदेय पिता का ऋण अवैध या अनैतिक नही होना चाहिए[९७]। पिता के सामान्य रूप से अनाचारी होने के कारण पुत्र उसका ऋण चुकाने के दायित्व से नही बच सकता[९८]। पिता को सामान्य रूप से अनैतिक सिद्ध करने का कोई लाभ नही। यह सिद्ध करना आवश्यक है कि ऋण अनैतिक कार्य के लिये लिया गया था[९९]। सट्टे को अदालतो ने अनैतिक कार्य नही स्वीकार किया[१००], इस के लिये पिता द्वारा लिए ऋण का पुत्र जिम्मेवार है।

---

९६. रघुनन्दन व० वदरी इं० ला० रि० १९३८ अला० ३३०, ३३५, व्रिज व० फणि १९३८ अला० ३७७

९७. व्रिजनारायण वनाम मंगल प्रसाद दे० ऊ० टि०

९८. हरनारायण व० अरोड़ सिंह (१८७२) पं० रि० ४४

९९. श्री नारायण वनाम रघुवंश राव १७ कल० वी० नो० १२४ प्रि० कौ०

१००. मुथ्यु स्वामी वनाम माइयीन (१९३७१) म० ला० ज० २३१

चौदहवाँ अध्याय

पुत्र के अधिकार और प्रकार

पैतृक सम्पत्ति में जन्म से स्वत्व का सिद्धान्त—पिता की प्रभुता से पुत्र की मुक्ति—ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार—वारह प्रकार के पुत्रो का स्वरूप—वर्गीकरण—गौणपुत्रो का क्रम—इनके साम्पत्तिक अधिकार—औरस पुत्र—पुत्रिकापुत्र—क्षेत्रज—कानीन—गूढ़ज—सहोढ़—पौनर्भव—पारशव—दत्तक पुत्र ।

वर्तमान हिन्दू परिवार में सामान्यत. सव पुत्रो को पैतृक सम्पत्ति में समान अंश पाने का अधिकार है, इसे एक स्वाभाविक नियम समझा जाता है। पर दो हजार वर्ष पहले ऐसी स्थिति नही थी। उस समय पैतृक सम्पत्ति पर पिता का पर्याप्त स्वत्व था, वंटवारे में वह अपने लिये और ज्येष्ठ पुत्र के लिये विशेष अंश रख सकता था, कई स्थानो पर ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र उत्तराधिकारी वनाने की परिपाटी थी। इसके अतिरिक्त कुछ शास्त्रकार पिता द्वारा पुत्र के दान और विक्रय सम्वन्धी कुछ अधिकारो स्वीकार करते थे। इस प्रकार पिता के स्वत्वो की तुलना में पुत्र के अधिकार वहुत कम थे।

सयुक्त परिवार मे पुत्र को अपने अधिकारो के लिये पिता से और वड़े भाई से दोहरा सघर्ष करना पडा है। पहले पुत्र पिता के जीवन काल मे उसके नियन्त्रण में और उस की मृत्यु के वाद वड़े भाई के अनुशासन में रहता था, इन दोनो की प्रभुता से मुक्ति पाने मे उसे वहुत समय लगा है। पिछले अध्याय मे उसके पिता के साथ हुए सघर्ष का कुछ परिचय दिया जा चुका है। पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र के अधिकारो का विकास, पिता के स्वत्वों के ह्रास का मनोरजक इतिहास है। इसमे प्रधान रूप से तीन अवस्थायें रही हैं—(१) पिता का पैतृक सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व (२) पिता का इसमें स्वय विशेष अंश ग्रहण करने या वडे लडके को विशेष अश देने का अधिकार (३) पिता पुत्रो का पैतृक द्रव्य पर समान रूप से स्वत्व। इनमे पहली दो अवस्थाओं का पिछले अध्याय मे वर्णन हो चुका है। यहां केवल तीसरी अवस्था का ही उल्लेख किया जायगा। इसके वाद पिता द्वारा पुत्र के दान विक्रयादि के अधिकारों

पर प्रतिबन्ध का तथा अग्रजाधिकार (Primogeniture) के विकास और ह्रास का तथा अन्त में पुत्र के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख होगा।

पैतृक सम्पत्ति पर पिता के स्वामित्व तथा उसके मनमाना वंटवारा करने के पिता के अधिकार का पिछले अध्याय में प्रतिपादन किया गया है। विज्ञानेश्वर ने ११ वीं शताब्दी के अन्त में इस के विरोध में पुत्र के स्वत्वो का प्रवल समर्थन किया। सम्भवत. उस युग में हिन्दू परिवार मे पिता की प्रभुता का अन्त हो रहा था, विज्ञानेश्वर ने इस लोक प्रचलित व्यवस्था को शास्त्रीय रूप से पुष्ट किया। दायभाग की अवतरणिका (या०२।११४) में पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों के स्वत्व को उसने इस आधार पर पुष्ट किया है कि जन्म लेते ही पिता की जायदाद में पुत्रो का हक पैदा हो जाता है। यह सिद्धान्त विज्ञानेश्वर से पहले का है[1]; किन्तु इसका विशद प्रतिपादन और विरोधी पक्ष के प्रमाणो का खण्डन सर्वप्रथम विज्ञानेश्वर ने ही किया। उसके प्रवल पोषण से तथा समयानुकूल होने से वगाल के अतिरिक्त शेप भारत में यह सिद्धान्त सर्वमान्य हुआ। पुत्र के के अधिकारो की दृष्टि से जन्म द्वारा स्वत्व के सिद्धान्त का वहुत महत्त्व है। पहले इसका निर्देश हो चुका है (दे० पृ०२९१), यहा विज्ञानेश्वर द्वारा दी गयी युक्तियो का ऐतिहासिक महत्त्व होने से उनका सक्षिप्त उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

जन्मना स्वत्ववाद—विज्ञानेश्वर से पहले पैतृक सम्पत्ति मे पुत्र के स्वत्व की उत्पत्ति प्राय. पिता द्वारा वटवारा करने से समझी जाती थी। किन्तु यदि वटवारे से ही स्वत्व उत्पन्न होता है तो पिता की सम्पत्ति पुत्रो तक ही क्यो मर्यादित रहती है? इस मर्यादा का कारण रक्त सम्वन्ध या प्रत्यासत्ति है। यह जन्म से ही उत्पन्न हो सकती है, अन्य किसी प्रकार से नही। अत: प्रत्यासत्ति से स्वत्व मानने का अर्थ जन्म से स्वत्व का सिद्धान्त मानना है। यह वडा क्रान्तिकारी सिद्धान्त था, क्योकि इससे पिता और पुत्र के अधिकारो मे मौलिक परिवर्तन आ गया। पुराने सिद्धान्त के अनुसार वटवारे से पहले सपत्ति पर पिता का पूर्ण प्रभुत्व था, पुत्रो का उस पर कोई अधिकार नही था;

---

१. सरस्वती विलास (पृ० ४०२) में उद्धृत विष्णु और भारुचि के वचनो से यह स्पष्ट है। पहले ने यह स्पष्ट घोषणा की है—जन्मना स्वत्वमापद्यते, दूसरे के मत में जन्म से पुत्र का ही स्वत्व होता है,पुत्र वनायी हुई लड़की का नहीं—पुत्रस्यैव न तु पुत्रिकाया इति भारुचिः।

किन्तु नये सिद्धान्त के अनुसार पुत्रो को जन्म से ही पैतृक सपत्ति पर पिता के साथ सयुक्त स्वामित्व प्राप्त हो गया।

विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ० २।११४) जन्म द्वारा स्वत्ववाद का समर्थन करते हुए पहले इसके विरोध में दी जाने वाली तीन युक्तिया दी है—(१) जन्म से पैतृक सम्पत्ति पर पुत्र का स्वत्व मानने से शास्त्रो द्वारा विहित यज्ञ नही हो सकेंगे। यज्ञ धन द्वारा किये जाते है, धन पर पिता और पुत्रो का सयुक्त स्वामित्व है, पुत्र की अनुमति के विना यज्ञ के लिये व्यय नही हो सकता और पुत्र के शिशु होने से उससे यह अनुमति प्राप्त करना सभव नही है। (२) नारद ने प्रसन्न होकर पिता द्वारा पुत्रो को दी गयी भेट को अविभाज्य वताया है। पैतृक द्रव्य पर पिता पुत्र के सयुक्त स्वत्व होने से यह भेट देना सभव ही नही है। (३) नारद ने मणि मुक्तादि चल सम्पत्ति का स्वामी पिता को माना है (अविभज्य) पर स्थावर सपत्ति का नही। जन्म से स्वत्व होने पर चल, अचल सपत्ति पर स्वामित्व का यह भेद निरर्थक है। अतः स्वत्व जन्म से नही, किन्तु विभाग द्वारा या सम्पत्ति के स्वामी की मृत्यु से मानना चाहिये।

पूर्वपक्ष की उपर्युक्त स्थापना के वाद विज्ञानेश्वर ने निम्न युक्तियो से अपने पक्ष की पुष्टि की है—(१) लोक मे यह प्रसिद्ध है कि पुत्र का स्वत्व जन्म से ही माना जाता है। (२) विभाग शब्द से यह स्पष्ट है कि स्वत्व जन्म से होता है, क्योकि इस से यह समझा जाता है कि विभाग की जाने वाली सम्पत्ति पर अनेक व्यक्तियो का स्वामित्व है, यह वात लोकप्रसिद्ध है। विभाग उस सम्पत्ति का नही हो सकता, जो दूसरे की हो या जिसका कोई स्वामी न हो। (विभाग निश्चित व्यक्तियो मे होता है, इसलिए उन का स्वत्व विभाग की क्रिया से पहले होना चाहिये); अत. यह नही माना जा सकता कि स्वत्व विभाग के वाद उत्पन्न होता है, वह उससे पहले जन्म द्वारा ही होता है (३) गौतम ने कहा है कि उत्पत्ति से सम्पत्ति पर स्वामित्व होता है[२]। इस के वाद उसने पूर्व-पक्ष की उपर्युक्त युक्तियो का खण्डन किया और अन्त मे सिद्धान्त पक्ष इस प्रकार रखा है—'अत. पिता से प्राप्त (पैतृक) और दादा से प्राप्त (पैतामह)

---

२. याज्ञ० २।११४ की अवतरणिका—लोके च पुत्रादीनां जन्मनैव स्वत्वं प्रसिद्धतरं नापह्नवमर्हति। विभागशब्दश्च बहुस्वामिकधनविषयो लोकप्रसिद्धो नान्यदीयविषयो न प्रहीणविषयः। तथा 'उत्पत्त्यैवार्यस्वामित्वं लभेतेत्याचार्याः' इति गौतमवचनाच्च।

सम्पत्ति मे जन्म से ही स्वत्व होता है, ऐसा होने पर भी पिता को शास्त्रीय वचनो द्वारा प्रतिपादित आवश्यक धर्मकार्यों के लिये, प्रीतिपूर्वक दान करने, कुटुम्व पालन करने तथा (परिवार को) आपत्ति से मुक्त कराने के लिये चल सम्पत्ति के विनियोग में स्वतन्त्रता है[३]। किन्तु स्वार्जित और पैतृक दोनो प्रकार की सम्पत्ति का विनियोग करने में करने में वह पुत्र के आधीन है। मिताक्षरा ने पिता की स्वार्जित सम्पत्ति मे पुत्र के अधिकार को पुष्ट करने के लिये दो प्राचीन वचनो को उद्धृत किया है। इनके अनुसार पुत्रो से परामर्श किये विना ऐसी सम्पत्ति के दान और विक्रय का निषेध है। किन्तु विज्ञानेश्वर इन वचनो को धर्मशास्त्र का उपदेशमात्र समझता है, कानूनी वन्धन नही[४]।

विज्ञानेश्वर के सम्मुख प्राचीन शास्त्रकारो के पिता को सम्पत्ति का मनमाना वटवारा करने का अधिकार देने वाले अनेक वचन थे। इन सव के निराकरण का उसके पास एक ही आधार है कि ये पिता की स्वार्जित सम्पत्ति के सम्वन्ध मे है। उदाहरणार्थ याज्ञ० २।११४ मे ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का श्रेष्ठ अश देने का विधान है, नारद (दायभाग १२) द्वारा पिता को दो हिस्से देने की तथा मनु द्वारा पिता के जीवन काल में पुत्रो के स्वतन्त्र न होने की व्यवस्था (९। १०४) की गयी है। पुत्र के समानाधिकारविरोधी इन सव वचनो को विज्ञानेश्वर पिता की स्वार्जित सम्पत्ति तक ही सीमित कर देता है। पिछले अध्यायो में यह वताया जा चुका है कि विज्ञानेश्वर ने पिता की अनिच्छा होने पर भी पुत्रो द्वारा पैतृक सम्पत्ति के वंटवारे का सिद्धान्त स्वीकार किया है (दे० पृ० ४२१)

पिता की प्रभुता से पुत्र की मुक्ति—प्राचीन हिन्दू परिवार में पुत्र पिता के आधीन था, पिता को उसके यथेच्छ विनियोग अर्थात् उस दान करने, वेचने

---

३. वही—तस्मात्पैतृके पैतामहे च द्रव्ये जन्मनैव स्वत्वम्, तथापि पितुरावश्यकेषु धर्मकृत्येषु वाचनिकेषु प्रसाददानकुटुम्वभरणापद्विमोक्षादिषु च स्थावरव्यतिरिक्त द्रव्य विनियोगे स्वातन्त्र्यमिति स्थितम्।

४. वही—स्थावरे तु स्वार्जिते पित्रादिप्राप्ते च पुत्रादिपारतन्त्र्यमेव। तथा याज्ञ० २।१२१—तथा ऽविभक्तेन पित्रा पैतामहे द्रव्ये दीयमाने विक्रीयमाणे वा पौत्रस्य निषेधेऽप्यधिकारः। पित्रर्जिते न तु निषेधाधिकारः। तत्परतन्त्रत्वात् अनुमतिस्तु कर्त्तव्या। आधुनिक न्यायालयो ने पिता को स्वार्जित सम्पत्ति के यथेच्छ विभाजन का अधिकार दिया है (२५ इ० ए० पृ० ५४, ६७-६८)।

या छोड देने के कुछ अधिकार प्रप्त थे। इस सम्वन्व मे पुत्र की पिता की प्रभुता से मुक्ति का इतिहास स्थूल रूप से तीन अवस्थाओ में वाटा जा सकता है।

(१) पहली अवस्था में पिताओ को पुत्रो के दान, विक्रय और परित्याग के कुछ अधिकार थे। यास्क (निरुक्त ३।४) तथा वसिष्ठ (१५।१-३) ने उनका स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। ऐतरेय ब्राह्मण की शुनः शेप की कथा मे अजीगर्त्त द्वारा अपने पुत्र के विक्रय का वर्णन है। प्रायः सभी धर्म सूत्रो और स्मृतियों मे गौण पुत्रो का एक प्रकार क्रीत अर्थात् मूल्य द्वारा खरीदा गया पुत्र है (मनु० ९।१७४ याज्ञ० २।१३५)। किन्तु मनु के लक्षण से यह स्पष्ट है कि क्रीत पुत्र केवल अपुत्र व्यक्ति ही खरीद सकते थे। स्मृतियो में क्रीत का उल्लेख होते हुए भी यह कल्पना करना ठीक नही प्रतीत होता कि उस समय अजीगर्त्त जैसे लोभी पिता पुत्रो का विक्रय करते थे, क्योकि छठी श० ई० पू० से पिता के इस अधिकार पर प्रतिवन्ध लगाने वाली दूसरी अवस्था आरम्भ हो चुकी थी।

(२) छठी श० ई० पू० से पुत्रो का पक्ष प्रवल होने लगा। गौतम ने यह व्यवस्था की कि पिता आपत्काल मे ही पुत्र का दान कर सकता है, अनापत्ति मे पुत्र देने वाले के लिये उस ने छ. वर्ष का प्रायश्चित्त वताया है। विष्णु भी पुत्र को अदेय बताता है, उस के मत मे लड़के और स्त्री को देने वाला पतित होता है। कौटिल्य की यह व्यवस्था है कि केवल म्लेच्छ के पुत्रो को वेचा और गिरवी रखा जा सकता है, किन्तु आर्यपुत्र को कभी दास नही वनाया जा सकता है[५]।

(३) चौथी शताब्दी ई० पू० से पुत्र का परित्याग करने वालो के लिये शास्त्रकारों द्वारा कठोर दण्डो का निर्देश मिलता है। गौतम द्वारा वताये प्रायश्चित्त इसके लिये अपर्याप्त समझे गये, इनके स्थान पर राजदण्डो का विधान किया जाने लगा।

कौटिल्य के मातनुसार पिता पुत्र, भाई वहिन, मामा भांजा तथा गुरु शिष्य मे से यदि कोई एक दूसरे को विना पतित हुए छोड़ता है तो उसे पूर्व साहस

---

५. गौ० ध० सू० (सवि० २७८) अनापदि पुत्रदारादिदाने षड्वार्षिकं चरेत्। विष्णु० (सवि० २७७)पुत्रदारादिदाता पतितो भवति। कौ० ३।१३ म्लेच्छानामदोषः प्रजां विक्रेतुमाधातुं वा। न त्वेवार्यस्य दासभावः।

दण्ड देना चाहिये[६]। मनु (८।३८९) तथा याज्ञ० (२।२३७) पुत्र का त्याग करने वाले के लिये दण्ड का विधान करते है । याज्ञ० के मतानुसार पुत्र अदेय है (२।१७५) । गुप्तकाल मे नारद ने आपत्ति काल में भी न देने योग्य आठ वस्तुओ मे पुत्र की गणना की । इन के देने और लेने वालों को धर्मज्ञाता राजा द्वारा दण्डित करने की व्यवस्था की[७] । बृहस्पति ने भी ऐसा विधान किया (अप० २।१७५) । कात्यायन ने स्पष्ट शब्दो में यह घोषणा कि कि पुत्र और स्त्रियो के अनिच्छुक होने पर, उन का विक्रय या दान नही करना चाहिये (अप० २।१७५) । इस प्रकार छठी शताब्दी ई० के बाद से पिता को पुत्रो को यथेच्छ दान, विक्रय या परित्याग का अधिकार नही रहा; पुत्र इस दृष्टि से पिता की प्रभुता से स्वतन्त्र हो गये ।

ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार—पुत्र को पैतृक सम्पत्ति मे समानाधिकार प्राप्त करने के लिये न केवल पिता के साथ, अपितु वडे भाई के साथ भी सघर्ष करना पडा है । हिन्दू परिवार में विभिन्न कालो और स्थानो में ज्येष्ठ पुत्र को पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकार देने का अग्रजाधिकार का नियम (Law of Primogeniture) प्रचलित रहा है, कुछ स्थानों में बटवारे के समय वडे भाई को विशेष अश देने की परिपाटी थी। अव भी अनेक जमीन्दारियो में इनके कुछ अवशेष मिलते हैं। किन्तु आजकल सामान्य रूप से पुत्रो मे पैतृक सम्पत्ति का समान रूप से बटवारा होता है । प्राचीन काल मे यह नियम सार्वभौम न था । उस समय विभिन्न स्थानो पर ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार के तीन रूप प्रचलित थे—(१) वडे लडके का पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होना (२) उसका पैतृक सम्पत्ति मे विशेष अश या उद्धार ग्रहण करना (३) उसका सम्पत्ति में दुगना भाग लेना।

ब्राह्मण ग्रन्थों में हमें सर्वप्रथम ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकार के विभिन्न

---

६. कौ० ३।२० पितापुत्रयोर्दम्पत्योर्भ्रातृभगिन्योर्मातुलभागिनेययोः शिष्याचार्ययोः. . .परस्परमपतितं त्यजतः पूर्वः साहसदण्डः ।

७. ना स्मृ० ७।४ अन्वाहितं याचितकमाधिः साधारणं च यत् । निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये इति । आपत्स्वपिहि कष्टासु वर्त्तमानेन देहिना । अदेयान्याहुराचार्या यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम् ॥ वही ७।१२ गृह्णात्यदत्तं यो मोहाद्यश्चादेयं प्रयच्छति । दण्डनीयावुभावेतौ धर्मज्ञेन महीक्षिता ॥

रूपो—दुगना हिस्सा लेने, उद्धार प्राप्त करने तथा एकमात्र उत्तराधिकारी होने के कुछ सकेत मिलते हैं। पर छठी शती ई० पू० से वडे लडके के विशेष अधिकारो का विरोध होने लगा। अगले डेढ हज़ार वर्ष तक यह परिपाटी हिन्दू परिवार में उग्र विरोध के वावजूद लडखडाती हुई चलती रही। नवी शताब्दी मे याज्ञ०स्मृति तथा मनुस्मृति के पहले टीकाकार विश्वरूप (८००-८२५) और मेधातिथि (८२५-९०० ई०) इस के अन्तिम प्रवल पोषक थे। इसके वाद आठवी से दसवी शती के वीच स्मृतिसग्रह ने ज्येष्ठाधिकार की अन्त्येष्टि की, विज्ञानेश्वर (१०७०-११००) देवण्ण भट्ट (११७०-१३००) आदि निवन्ध-कारो ने इस ने इसका श्राद्ध किया। वर्तमान काल मे कुछ अविभाज्य जागीरो और जमीन्दारियो के रूप में ही इस की सत्ता अवशिष्ट है। यहा पहले वैदिक युग मे ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकारो का उल्लेख होगा, वाद में छठी श० ई० पू० से छठी श० ई० तक के काल में इसके विविध रूपो का दिग्दर्शन कराया जायगा, अन्त मे इसके लुप्त होने का तथा वर्तमान युग की अग्रजाधिकार वाली जमीन्दारियो का वर्णन होगा।

वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार—इस काल मे सवसे वडे लडके के अधिकारो को दो मुख्य वर्गों मे वाटा जा सकता है—(१) अन्य पुत्रो की अपेक्षा दुगना अथवा विशेष अश पाने का अधिकार (२) पिता की सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी वनना। वैदिक साहित्य मे दोनो प्रकार के कुछ सकेत मिलते है और इन से यह सूचित होता है कि उस समय वर्तमान काल की भाति समूचे हिन्दू समाज मे कोई एक नियम प्रचलित नही था।

ऋ० ६।६९।८ मे इन्द्र और विष्णु की स्पर्धा का वर्णन है, इस मे हज़ार गौओ को पहले तीन हिस्सो मे वाटने तथा वाद मे इनमे से दो हिस्से वड़े भाई इन्द्र द्वारा लेने का वर्णन है[८]। वाद मे ज्येष्ठ पुत्र के लिये दो अंशो की व्यवस्था

---

८. उभा जिग्यथुर्न पराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्चनैनोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां, त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ यह मन्त्र तै० सं० ३।२।११।२, ७।१।६।७, काठक सं० १२।१४, मैत्र सं० २।४।४, अथर्व० सं० ७।४४।१, ऐ० ब्रा० ६।१५।६ श० ब्रा० ३।३।१।१३ गो० ब्रा० २।४।१७ में भी है। तै० सं० में इसका सायण भाष्य निम्न है—हे विष्णो त्वमिन्द्रश्चोभौ यदपस्पृधेथां यदा परस्परं स्पर्धितवन्तौ तत्तदा गोसहस्रं त्रेधा विभज्यैरयेथा-मिन्द्रस्य द्वौ भागौ विष्णोरेको भाग इत्येवं प्राप्तवन्तौ मि० तै० सं० ७।१।५।४

करने वाले वसिष्ठ (१७।४०) आदि शास्त्रकारों को संभवतः इस श्रुति वचन से प्रेरणा मिली होगी ।

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि उस समय कुछ स्थानों में ज्येष्ठता के तारतम्य से पुत्रो में विभाग होता था, सर्वप्रथम बड़ा लड़का पैतृक सम्पत्ति में अपना हिस्सा चुनता था, उसके बाद आयु के क्रम से अन्य पुत्रो को अपने अंश पसन्द करने को कहा जाता था । प्रजापति ने इस प्रकार सब से पहले ज्येष्ठ पुत्र अग्नि को, उस के बाद क्रमश. इन्द्र और सोम को पैतृक सम्पत्ति का वरण करने के लिये कहा था[९] ।

धर्मसूत्रो और स्मृतियों में ज्येष्ठ तथा गुणी पुत्रो के लिये 'उद्धार' की व्यवस्था पायी जाती है, पैतृक सम्पत्ति मे से निकाला अथवा उद्धृत किया विशेष अंश उद्धार कहलाता था, पहले यह बड़े भाई को दिया जाता था; बाद में इस पर गुणवान् भाइयों का अधिकार माना जाने लगा । वैदिक वाङ्मय में गुणी भ्राता को उद्धार देने के कुछ सकेत पाये जाते है । मैत्रायणी सहिता के अनुसार वृत्र का वध करने से इन्द्र ने 'उद्धार प्राप्त किया, अत· यह इस का ही हिस्सा होता है[१०]' । शतपथ ब्रा० ३।४।१।११, ३।९।४।९ तथा मैत्रायणी स० ४।३।२ मे भी उद्धार का उल्लेख है ।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार (Primogeniture)—क्या वैदिक युग में ज्येष्ठ पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होने का नियम प्रचलित था ? सर्वाधिकारी का मत है कि प्राचीन भारत में अग्रजाधिकार उत्तराधिकार का निश्चित कानून (Settled law) था, हिन्दू कानून के एक अन्य विशारद जे० सी० घोष ने इसे वैदिक युग का प्रचलित (Prevailing) कानून बताया है[११] । इन विद्वानोके पाण्डित्य के प्रति पूरा सम्मान

९. जैमि० उप० ब्रा० १।५१ तदिदं साम सृष्टमद उत्क्रम्य लेलायदतिष्ठत्, तस्य सर्वे देवा ममत्विन् आसन् मम ममेति, तेऽब्रुवन् विदं भजामहा इति । तस्य .. विभागे न समपादयन्, तान् प्रजापतिरब्रवीदपेत मम वा एतत्, अहमेव वो विभक्ष्यामीति । सोऽग्निमब्रवीत् , त्वं वै मे ज्येष्ठः पुत्राणामसि, त्वं प्रथमो वृणीष्वेति. . .अथेन्द्रमब्रवीत् त्वमनुवृणीष्वेति । अथ सोममब्रवीत् त्वमनुवृणीष्वेति ।

१०. मैत्रा० सं० ४।३।१ स एतमुद्धारमुदहरद्वृत्रं .. हत्वा । तदुद्धार एवास्यैष भाग एव ।

११. प्रिन्सिपज् आफ हिन्दू ला आफ इनहेरिटेन्स पृ० १७६; प्रिन्सिपल्ज आफ हिन्दू ला पृ० १७

रखते हुए भी हमें ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग के आरम्भ में अग्रजाधिकार की परिपाटी न तो 'प्रचलित' और न 'निश्चित' कानून थी। इसे सिद्ध करने के लिए इन विद्वानों द्वारा दिये गये प्रमाण निर्विवाद नहीं हैं, वैदिक साहित्य में केवल एक ही प्रमाण ऐसा है, जो असंदिग्ध रूप से इस प्रथा को सूचित करता है, किन्तु उस के विरोध में अग्रजाधिकार विरोधी प्रमाण पर्याप्त संख्या में हैं।

सम्पत्ति का एक मात्र उत्तराधिकारी होना तथा सब पुत्रों में धन का बटवारा होना विरोधी व्यवस्थायें हैं। यदि उस समय अग्रजाधिकार प्रचलित कानून था तो हमें इसका अधिक तथा बटवारे की प्रथा बहुत कम उल्लेख मिलना चाहिये। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। वैदिक वाङ्मय में पैतृक सम्पत्ति को पिता द्वारा पुत्रों में बांटने के अनेक संकेत हैं (ऋ० १।२२।७, १।७०।१०, ७।३२।२६)। ऋ० १।७३।९ में यह प्रार्थना है कि पिता के धन के स्वामी होते हुए हमारे विद्वान् पुत्र सौ वर्ष की आयु का भोग करें[१२]। इसी प्रकार ऋ० २।१३।४ में सन्तान (प्रजाओं) में रोपक धन के विभाग का वर्णन है। यदि उस समय ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का 'निश्चित' नियम होता तो एक पुत्र को ही सम्पत्ति देने का उल्लेख होता है।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार का अभाव भ्राता शब्द की व्युत्पत्ति (ऋ० १।१६१।१) तथा भाइयों द्वारा बटवारे के संकेतों से भी पुष्ट होता है। यास्क ने भ्राता शब्द की दो निरुक्तियां की हैं, इन में पहली के अनुसार यह शब्द ग्रहण करने का अर्थ देने वाली भृ धातु से बना है, अंश ग्रहण करने वाला भ्राता होता है; भाई पिता की सम्पत्ति में अंश ग्रहण करते हैं, अतः वे भ्राता कहलाते हैं। इस व्युत्पत्ति की पुष्टि ऋ० १।१६१।१ से होती है[१३], इस मंत्र के सायणभाष्य के अनुसार "सुधन्वा के ऋभु आदि तीन पुत्र थे, उन्होंने उत्तम कर्मों से देवपद प्राप्त किया। वे किसी यज्ञ में सोमपान के लिये उपस्थित हुए। उन तीनों की आकृति मिलती थी, अग्नि उन जैसा रूप धारण कर उनके पास आ बैठा, उस ने भी सोमपान में उन की हिस्सेदारी चाही, उस समय तीनों भाई संदेह में पड़ गये कि अंश ग्रहण करने वाला चौथा भाई कहां से आ गया है"। इस मंत्र से यह स्पष्ट है कि भ्राता पिता की सम्पत्ति के भागहर होते थे। अग्रजाधिकार में

---

१२. ईशानासः पितृवित्तस्य रायो वि सूरयः शतहिमा नो अश्युः।

१३. निरुक्त ४।२६ भ्राता भरतेर्हरति कर्मणो, हरते भागम्, भर्तव्यो भवतीति वा।

पैतृक सम्पत्ति पर वड़े भाई का एकाधिकार होने से भाइयो में उसका वंटवारा सभव नही है।

शतपथ ब्राह्मण (१।२।५।१-४) मे प्रजापति के पुत्र—असुरो तथा देवताओं द्वारा पृथिवी को वाटने का विस्तृत वर्णन है[१४]। देवताओ और असुरो मे स्पर्धा हुई, देवता हार गये, असुरो ने सारी भूमि को अपना समझा, उन्होने पूर्व-दिशा से पश्चिम दिशा की ओर वैलो की खालो से नापते हुए पृथिवी को वांटना शुरू किया। देवताओ ने उन से कहा—इसमे हमारा भी हिस्सा है (नोऽप्यस्यां भाग इति)। असुरो ने उन्हे उतनी भूमि देना स्वीकार किया, जितने पर विष्णु शयन करें'। असुर देवताओ के वड़े भाई थे, अग्रजाधिकार के अनुसार सारी सम्पत्ति उन्हे मिलनी चाहिये, किन्तु यहा देवता स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इसमें हमारा हिस्सा है, अग्रजाधिकार में छोटे भाई इस प्रकार किसी अंश की माग नही कर सकते। शतपथ ब्राह्मण में अनेक वार असुरो तथा देवताओ में सम्पत्ति वटने का वर्णन है (१।७।२।२२, ३।२।१।१८, ९।५।१।१२)। जैमिनीय ब्राह्मण (३।१५६) में अभिप्रतारण के पुत्रो द्वारा सम्पत्ति के वटवारे का उल्लेख है (दे० ऊ० पृ० ४५)। यह भी सव पुत्रो में पैतृक द्रव्य के विभाग का प्रतिपादक है।

घोष ने विभाग के इन प्रमाणो के आधार पर यह कल्पना की है कि वैदिक युग के आरम्भ में अग्रजाधिकार था, इस के कठोर प्रयोग की भीषणता से वचने के लिये पिता को अपने जीवन काल मे वटवारा करने का अधिकार दिया गया[१५]। किन्तु किसी ऐतिहासिक घटना को सिद्ध करने के लिये केवल अभावात्मक प्रमाण पर्याप्त नही; उसे पुष्ट करने के लिये भावात्मक साक्षी भी आवश्यक है। घोष ने इसे नही प्रस्तुत किया; किन्तु विभाग को परवर्ती मान कर उससे पहले अग्रजाधिकार की सत्ता मान ली है। यह कल्पना तभी सत्य हो सकती है, जव दोनो में कार्यकारण भाव हो। वस्तुत' ऐसी वात नही है, विभाग से पहले सदैव अग्रजाधिकार प्रचलित

---

१४. देवाश्च वाऽसुराश्च। उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततो देवा अनु व्यमिवासुरय हासुरा मेनिरेऽस्माकमेवेदं खलु भुवनमिति। ते होचुः हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै ता विभज्योपजीवामेति तामौक्षणैश्चर्मभिः पश्चात्प्राञ्चो विभजमाना अभीयुः। तद्वै देवाः शुश्रुवुः।.......ते होचुः। नोऽप्यस्यां भाग इति ते हासुरा असूयन्त। इवोचुर्यावदेवैष विष्णुरभिशेते तावद्वो दद्म इति।

१५. घोष पूर्व-निर्दिष्ट पुस्तक पृ० १७।

होता हो, ऐसा कोई नियम नही है । इगलैण्ड में नार्मन विजय (१०६६ ई०) से पूर्व सम्पत्ति का पुत्रो मे सम विभाग होता था। हेनरी प्रथम (११००-३५) के समय से अग्रजाधिकार का नियम प्रचलित हुआ[१६]। यहा विभाग पहले था, अग्रजाधिकार वाद मे उत्पन्न हुआ । योरोप मे भी अग्रजाधिकार विभाग के वाद प्रचलित हुआ । वस्तुत यह वडी जटिल सामाजिक पद्धति है, विभाग से उस के प्रादुर्भाव का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही । अत. घोष द्वारा प्रतिपादित विभाग के प्रमाणों के आधार पर अग्रजाधिकार को वैदिक काल का 'प्रचलित' कानून नही कहा जा सकता ।

सर्वाधिकारी द्वारा वैदिक युग में इस प्रथा को मानने का मुख्य आधार शुनःशेप की कथा में ज्यैष्ठ्य शब्द का प्रयोग है, उनकी व्याख्या के अनुसार इस शब्द का अर्थ अग्रजाधिकार (Primogeniture) है । किन्तु ये दोनो वाते ठीक नही प्रतीत होती । इस कथा का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ० १८६)। शुनः-शेप को अपना ज्येष्ठ पुत्र वताते हुए विश्वामित्र ने उस की स्थिति सुदृढ करने के लिये यह कहा है—'मधुच्छन्दा, रेणु, अष्टक तथा जो भी कोई और भाई है, वे यह सुन ले कि वे सब शुन.शेप से 'ज्यैष्ठ्य' होने का अभिमान न करें'। यहां ज्यैष्ठ्य का अर्थ अग्रजाधिकार या सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी होना नही, किन्तु 'वडा होना' मात्र है । सायण जैसे प्राचीन और कीथ जैसे अर्वाचीन टीकाकारो ने इस का यही अर्थ किया है[१७]।

यदि उपर्युक्त स्थल में ज्यैष्ठ्य का यह अर्थ ठीक मान भी लिया जाय तो विश्वामित्र के अगले वचनो से इसका विरोध होता है । इनमें उसने सव पुत्रों द्वारा दाय प्राप्त करने का उल्लेख किया है[१८]। यह स्पप्ट रूप से अग्रजाधिकार विरोधी व्यवस्था है ।

इस कथा से यह भी सूचित होता है कि वड़े लड़के की ज्येष्ठता और

---

१६. पाल—ला आफ प्राइमोजेनिचर अध्याय २

१७. ऐ० ब्रा० ३३।५ मधुच्छन्दाः शृणोतन ऋषभो रेणुरष्टकः । ये के च भ्रातरः स्थ नास्मै ज्यैष्ठाय कल्पध्वमिति । सायण भाष्य—सर्वेऽपि शुनःशेपात् ज्यैष्ठाय न कल्पध्वं ज्येष्ठत्वाभिमानं मा कुरुत । कीथ-ऋग्वेद ब्राह्मण हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज सं० २५ पृ० ३०७ ।

१८. ऐ० ब्रा० ३३।६ युष्मांश्च दायं म उपेता विद्यां याम् च विद्मसि । सायण भाष्य—मे मदीयं दायं धनं युष्मांश्चोपेता प्राप्स्यति, चकाराद्देवरातं च ।

श्रेष्ठता के दावे को अन्य पुत्र स्वीकार नहीं करना चाहते थे। विश्वामित्र के एक सौ एक पुत्रों में से पचास ने देवराज को ज्येष्ठ बनाना अपने लिये हितकर नहीं समझा, उन्होंने विद्रोह का झण्डा खडा किया, विश्वामित्र शाप द्वारा ही उनका विरोध शान्त कर सके (ऐ० ब्रा० ३३।१८) । छोटे तथा बड़े भाईयों के संघर्ष की यह चर्चा हमें ऐतरेय ब्राह्मण में अन्यत्र (४।२४) भी मिलती है । एक बार जब देवताओं ने इन्द्र की ज्येष्ठता को स्वीकार नहीं किया, तो इन्द्र ने बृहस्पति द्वारा द्वादशाह यज्ञ करवा के देवताओं से अपना बड़ा होना स्वीकार कराया ।

ज्येष्ठ पुत्र द्वारा सम्पत्ति के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का सुस्पष्ट एवं निर्विवाद उल्लेख वैदिक वाङ्मय में केवल तैत्तिरीय संहिता (२।५।२।७) में एक बार हुआ है । यहा पूर्णिमा के दिन किये जाने वाले यज्ञ के देवता का प्रश्न उठाया गया है । प्रजापति को इसका देवता बताते हुए यह कहा गया है कि उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र इन्द्र को अपनी सारी सम्पत्ति प्रदान की, ताकि वह याव-ज्जीवन उसका उपभोग करे । इसी का अनुकरण ससार में किया जाता है, ज्येष्ठ पुत्र को ही सम्पत्ति दी जाती है[१९]।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार की सत्ता सूचित करने वाले अकेले इस प्रमाण के आधार पर इसे प्राचीन भारत का 'निश्चित नियम' नहीं कहा जा सकता । इससे केवल यही परिणाम निकाला जा सकता है कि उस समय कुछ स्थानों पर इस परिपाटी का प्रचलन रहा होगा ।

अग्रजाधिकार के उद्गम के कारण—वैदिक युग मे इस प्रथा का जन्म किन कारणों से हुआ, इसका उत्तर हमें इस प्रश्न की सामान्य विवेचना करने वाले समाजशास्त्रियों से ही मिल सकता है, किन्तु उन के उत्तर भारतीय परि-स्थिति के लिये सत्य नहीं प्रतीत होते । इस प्रथा के उद्गम के कारणों के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों में दो पक्ष हैं । पहला पक्ष पुराने समाजशास्त्रियों का है, यह सामन्त पद्धति को इस का मूल समझता है । दूसरा पक्ष नवीन विचारकों का है, यह भूसम्पत्ति को अविभक्त बनाये रखने की इच्छा ही अग्रजाधिकार का प्रधान कारण मानता है । पहले पक्ष के समर्थक मेन (एशेण्ट ला, अध्याय ७) और

---

१९. तै० सं० २।५।२।७ ब्रह्मवादिनो वदन्ति किं देवत्यं पौर्णमास्यमिति प्राजापत्यमिति ब्रूयात्तेनेन्द्रं ज्येष्ठं पुत्रं निरवासाययदिति तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति । सायण भाष्य—निःशेषमायुषोऽवसानं धनेन युक्तो यथा प्राप्नोति तथा कुर्वन्तीत्यर्थः ।

ब्राडरिक तथा वेडन पावेल है। ब्राडरिक ने लिखा है—"अग्रजाधिकार सामन्त पद्धति के युग की उपज है, इसे इससे पूर्ववर्त्ती युग में नही खोजा जा सकता; यह उन्ही देशो मे प्रचलित है, जिन्होने सामन्त पद्धति को ग्रहण किया है"[२०]। मेन का भी यही मत है। इस कल्पना के अनुसार वैदिक युग में अग्रजाधिकार के लिये सामन्त पद्धति होना आवश्यक है। वेडन पावेल की ऐसी ही मान्यता है कि इगलैण्ड के नार्मन आक्रान्ताओ की भांति भारत के आर्य विजेताओं ने इस प्रदेश को जीत कर, यहा के मूल निवासियों को दास वनाया; आर्येतर जातियो से खेती कराते हुए वड़ी जागीरो पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया[२१]। वेडन पावेल की यह कल्पना वैदिक साहित्य से पुष्ट नही होती, आर्य स्वयं कृषि करते थे (ऋ० १०।३४।१३, १०।११७।१-७), पचविंश ब्रा० (१७।१) में आर्यों के समाज से बाहर के व्रात्य लोगो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि वे खेती नही करते। वैदिक साहित्य मे वड़ी वड़ी जागीरो का कोई उल्लेख नही है। अत. वैदिक युग में भारत मे सामन्त पद्धति की सत्ता अनिश्चित है, उससे अग्रजाधिकार की उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त नही प्रतीत होता।

मेटलैण्ड और विनोग्रेडोफ ने अग्रजाधिकार को भूसम्पत्ति अविभक्त वनाये रखने की इच्छा का परिणाम वताया है[२२]। मेटलैण्ड ने सामन्त पद्धति को अग्रजाधिकार का मूल कारण मानने वालो पर तीव्र आक्षेप करते हुए कहा है—'यह (सामन्त पद्धति) एक वहुत अच्छा शब्द है जो हमारी वीसियों अज्ञानताओ को ढकने का वढ़िया आवरण है'[२३]। सर पाल विनोग्रेडोफ के मत में इसका उद्गम आर्थिक परिस्थिति मे ढूढना चाहिये, आदिम युग मे सघ मे ही शक्ति होती है, उस समय पारिवारिक सम्पत्ति के वटवारे से कुटुम्व कमजोर होता है, अतः उसे सुदृढ़ वनाये रखने के लिये अग्रजाधिकार का नियम आवश्यक होता है[२४]।

---

२०. दी ला एण्ड कस्टम आफ़् प्राइमोजैनिचर पृ० ९५

२१. वेडन पावेल—इंडियन विलेज कम्यूनिटीज पृ० १९०

२२. मेटलैण्ड-हिस्टरी आफ इंगलिश ला, विनोग्रेडोफ—औट लाइन्स आफ हिस्टारिकल ज्यूरिसप्रूडेन्स।

२३. मेटलैण्ड-कलेक्टेड पेपर्स खण्ड १ पृ० १७५

२४. विनोग्रेडोफ-पूनि० खण्ड १ पृ० २८६, मि० इंसा० सो० सा० पृ० ४०२।

वैदिक युग में अग्रजाधिकार की व्याख्या के लिये यह कारण भी पर्याप्त नही प्रतीत होता। यदि विनोग्रेडोफ की संघशक्ति वाली युक्ति सही हो तो वैदिक साहित्य के प्राचीनतम भाग में अग्रजाधिकार के अधिक सकेत मिलने चाहिये, क्योकि उस समय अन्य जातियो के साथ सघर्ष उग्र होने के कारण पारिवारिक सम्पत्ति की अखण्डता और दृढता अधिक आवश्यक थी। किन्तु वैदिक युग की साक्षी इसके विरोध में है। उपर्युक्त कल्पना के अनुसार पहले अग्रजाधिकार और बाद में बटवारा होना चाहिये, यहा बटवारे के उल्लेख पहले मिलते है और अग्रजाधिकार के उस के बाद। अत: विनोग्रेडोफ का यह कारण भारतीय अग्रजाधिकार पद्धति की समुचित व्याख्या नही कर सकता।

इसमें कोई सदेह नही कि अग्रजाधिकार का एक प्रधान कारण भूसम्पत्ति को अखण्ड बनाये रखने की इच्छा है, किन्तु इसके साथ ही भारत मे ज्येष्ठ पुत्र के कई महत्वपूर्ण दायित्व भी इसमे सहायक सिद्ध हुए है। पिता के बाद परिवार के नेतृत्व का तथा भाइयो के पालन पोषण के कार्य का भार वही उठाता था[२५] (कौ० ३।५, मनु० ९।१०५)। परिवार का सारा उत्तरदायित्व उठाने के कारण उसे परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का एकमात्र उत्तराधिकारी बनाया जाना स्वाभाविक ही था। सयुक्त परिवारो में जहा पिता का पैतृक सम्पत्ति पर स्वत्व माना जाता था, वहा उसके मरने पर ज्येष्ठ पुत्र के परिवार का संचालक बनने के कारण कुटुम्ब की सम्पत्ति पर उसका एकाधिकार माना जाना नैसर्गिक था।

ज्येष्ठ पुत्र को यह अधिकार देने का एक कारण सभवत: उस का धार्मिक दृष्टि से असाधारण महत्व रखना था। वैदिक युग मे प्रत्येक गृहस्थ के लिये आहिताग्नि होना आवश्यक था। गृहपति की मृत्यु पर उस की अग्निया उस के शव के साथ रख दी जाती थी (आश्व० गृ० सू० ४।२।११-१३)। इस प्रकार पुरानी अग्नियों के नष्ट हो जाने पर नये सिरे से अग्न्याधान आवश्यक हो जाता था। शाखायन गृह्यसूत्र मे यह अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को दिया गया है, यह इस बात का प्रतीक था कि उस ने सारा घर सभाल लिया है; क्योकि गृह्य सूत्रो से हमे ज्ञात होता है कि नये घर के निर्माण के समय अग्न्याधान होता था (पार० गृ० २।१।२)। अत: जब शाखायन ज्येष्ठ पुत्र द्वारा अग्न्याधान की व्यवस्था

---

२५. गौ ध० सू० २८।३ सर्वं वा पूर्वजस्येतरान् विभृयात्पितृवत्, मि० कौ० ३।५, पितुरसत्यर्थे ज्येष्ठाः कनिष्ठाननुगृह्णीयुः, अन्यत्र मिथ्यावृत्तेभ्यः, नारद० १६।५ विभृयाद्वेच्छतः सर्वान् ज्येष्ठो भ्राता यथा पिता॥

करता है तो उसका आशय यह है कि वह परिवार मे पिता का स्थान ग्रहण करे और कुटुम्व पालन का उत्तरदायित्व स्वीकार करे।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि वैदिक युग मे ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अश देने की परिपाटी थी, अग्रजाधिकार का प्रचलन वहुत कम था, यह अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को सभवतः अग्न्याधान तथा परिवार पालन का उत्तरदायित्व ग्रहण करने से मिला था।

६०० ई० पू० से ६०० ई० तक अग्रजाधिकार का विकास—इन १२०० वर्षो मे हिन्दू समाज मे अग्रजाधिकार की सस्था ने स्थिर होने का यत्न किया; किन्तु यह अन्य पुत्रो के वैयक्तिक अधिकारो के प्रवल विरोध मे नही टिक सकी। इस काल मे कि अग्रजाधिकार ने दो मुख्य रूपो द्वारा छोटे भाइयो के वैयक्तिक अधिकारो के साथ समझौता करना चाहा। पहला रूप तो यह था कि ज्येष्ठ पुत्र को पूरा अधिकार न देकर अन्य पुत्रो से दुगना हिस्सा दिया जाय और दूसरा यह था कि सम्पत्ति का कुछ विशेष अश (उद्धार) वड़े भाई के लिये पहले रख दिया जाय और फिर सम्पत्ति का सव पुत्रो मे समान रूप से बटवारा किया जाय। अन्त में ये दोनो रूप मान्य नही हुए। इस काल के अनेक सूत्रकार और स्मृतिकार निश्चित रूप से कोई एक व्यवस्था नही करते। मनु आदि ने अग्रजाधिकार के उपर्युक्त दोनो रूपो की तथा समान विभाग की विरोधी व्यवस्थाये की। इसका कारण सभवतः यह था कि उस समय इस सम्वन्ध मे हिन्दू समाज मे कोई सर्वसम्मत व्यवस्था प्रचलित नही थी। यहा कालक्रम से विभिन्न शास्त्रकारो की व्यवस्थाओ का उल्लेख किया जायगा।

गौतम ने २८ वें अध्याय मे दाय विभाग मे निम्न छ. वैकल्पिक व्यवस्थायें की हैं—(१) (पिता के जीवित रहते हुए विभाग होने पर) सारा धन अग्रज (पूर्वज) को दिया जाय। वह पिता की तरह दूसरो (छोटो भाइयो) का भरण करे (२८।३)। इसमे परिवार के पालन के दायित्व का ध्यान रखते हुए ज्येष्ठ पुत्र को ही सारी सम्पत्ति दी गयी है। (२) (पिता की मृत्यु के वाद विभाग होने पर सम्पत्ति का) वीसवा भाग, गौ आदि की एक जोड़ी, ऊपर नीचे दोनों ओर की दतपक्तियो से युक्त (अश्वादि) पशुओ से युक्त रथ और एक वैल ज्येष्ठ पुत्र का होता है। (मझले वेटे का विशेष भाग) काणे, वूढ़े (खोर), लगडे (खोट), शृगहीन (कूट) पूंछ रहित (वण्ड) पशु होंगे, वशर्तें कि ये अधिक सख्या मे हो। छोटे पुत्र का (अधिक भाग) भेड़, अन्न, लोहा (लोहे के वर्तन) घर, (वैलों से युक्त) रथ, चौपायो में से एक

एक जानवर होता है। बाकी बची हुई सम्पत्ति को समान रूप से बाट लिया जाय [२५क]।

(३) तारतम्य विभाग—प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति में पुत्रों को ज्येष्ठता के क्रम से चुनाव कर के हिस्सा लेने का अधिकार हो। उदा०—पहले बड़ा लड़का अपने लिये सब खेतों में से अपना हिस्सा चुने, उसके बाद छोटे भाई आयु के क्रम से अपना हिस्सा पसन्द करे। पशुओं के बटवारे में सब भाई क्रम से एक बार में दस दस पशु चुनते हैं। किन्तु एक शफ वाले (घोड़े) तथा द्विपद (दासी आदि) को दस-दस की सख्या में नही लिया जाता [२५ख]।

(४) (एक पुरुष की अनेक पत्नियां होने पर उनके पुत्रो में से आयु की दृष्टि से) सब से बड़े पुत्र को (भले ही वह बाद मे विवाहित स्त्री का लड़का—कनिष्ठिनेय ही क्यो न हो) एक बैल अधिक मिलता है। सब से पहले परिणीत स्त्री के सब से बडे लड़के (ज्यैष्ठिनेय) को पन्द्रह गौयें और एक बैल दिया जाता है (२८।१२-१३)

(५) पश्चात् परिणीत पत्नी का ज्येष्ठ पुत्र पूर्व परिणीत पत्नी के छोटे भाइयो के साथ तुल्यरूप से दाय का बटवारा करे (२८।१४)

(६) माताओं के अनुसार प्रतिवर्ग में पुत्रो के अशो का बटवारा किया जाय, अर्थात् जितनी मातायें हो, धन के उतने हिस्से कर दिये जाय। एक माता के जितने पुत्र हो उस माता के हिस्से को उन पुत्रों मे ज्येष्ठता के क्रम के अनुसार बाट दिया जाय [२५ग]।

---

२५ क. गौध सू० २८।५-८ विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मियुनमुभयतोदद्युक्तो रथो गोवृषः। काणखोरकूटवण्डा मध्यमस्यानेकाश्चेत्। आविर्घान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्पदां चैकैकं यवीयसः। समधेतरत्सर्वम्। इसके अतिरिक्त गौतम की एक अन्य व्यवस्था यह भी है कि बड़ा भाई (पूर्वज) दो अंश ले तथा अन्य सब एक-एक अंश लें (२८।९-१० द्व्यंशी वा पूर्वजः स्यात्। एकैकमितरेषाम्)। स्मृतिचन्द्रिका (प्र० २६६) विवाद रत्नाकर (पृ० ४७८) इसे विद्यादि गुणो वाले ज्येष्ठ भाई पर ही लागू करते हैं (मि० विर०—इदं च ज्येष्ठस्यैव गुणातिशययुक्तत्वे अन्येषा निर्गुणत्वे)।

२५ ख. गौ ध सू० २८।११-१३ एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वो लभेत। दशकं पशूनां। नैकशफद्विपदानाम्।

२५ ग. वहीं २८।१५ प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः।

गौतम की इन छः व्यवस्थाओ से यह सूचित होता है कि उस समय इस विषय मे हिन्दू समाज मे कोई एकरूप व्यवस्था नही थी। गौतम यद्यपि पहली व्यवस्था में सारी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को सौंपता है, किन्तु वह उसे यह इसी शर्त पर दे रहा है है कि वह सारे कुटुम्व का पालन करेगा। यह स्पष्ट है कि गौतम को इस व्यवस्था से कोई प्रीति नही है; क्योकि यह व्यवस्था करने के वाद अगले ही सूत्र में, वह विभाग में धर्म की वृद्धि स्वीकार करता है (विभागे तु धर्मवृद्धिः २८।४) इसके वाद वह अन्य पाच व्यवस्थाओ मे विभाग के प्रकारो का निर्देश करता है। इन पाचो व्यवस्थाओ में ज्येष्ठ पुत्र के प्रति स्पष्ट पक्षपात है। उदा० दूसरी व्यवस्था को लीजिये, इस मे सम्पत्ति का २० वा भाग, पशुओ की जोड़ी, रथ और वैल वड़े भाई को मिले है। तीसरी व्यवस्था में सम्पत्ति में चुनाव करने का उसे पहले हक़ है। किन्तु इसके साथ हम यह भी देखते है कि गौतम विशेप हिस्सा न केवल वड़े भाई को देता है, किन्तु सव भाइयो को देता है। दूसरी व्यवस्था मे काणे वैल मझले के हिस्से मे और भेड़ तथा लोहे के वर्तन सव से छोटे पुत्र के हिस्से मे आये है। ज्येष्ठ पुत्र के प्रति विशेप पक्षपात तथा सव भाइयो को विशेप हिस्सा देने से यह सूचित होता है कि उस समय ज्येष्ठ पुत्र को अधिक हिस्सा देने की परिपाटी तो अवश्य थी, किन्तु छोटे भाइयो के साथ इस परिपाटी से होने वाले अन्याय के प्रतिशोध के लिये यह व्यवस्था की गयी कि उन्हे भी कुछ विशेप भाग दिया जाय।

गौतम की दायविभाग की छ विभिन्न व्यवस्थाओं मे से एक मे भी सव पुत्रो मे सम्पत्ति के समान रूप से वटवारे का उल्लेख नही है। इससे सूचित होता है कि उस समय अग्रजाधिकारवादी प्रवल थे।

किन्तु वौधायन के समय तक स्थिति मे कुछ अन्तर आ चुका था; पुत्रो के समानाधिकार का पक्ष काफी प्रवल हो चुका था। गौतम ने वटवारे के अपने छ. प्रकारो में इसका कोई उल्लेख नही किया था; किन्तु वौधायन इस सम्वन्ध की अपनी चार व्यवस्थाओ मे सर्वप्रथम इसका उल्लेख करता है। उसके मत मे वटवारे के निम्न प्रकार है—

(१) सब भाइयो मे समानरूप से विना किसी विशेपता (पक्षपात) के सम्पत्ति का वंटवारा किया जाय[२६]।

(२) अथवा ज्येष्ठ पुत्र उत्कृष्ट सम्पत्ति को ग्रहण करे (२।२।६-७)।

---

२६. वौधायन धर्मसूत्र २।२।३ समशः सर्वेषामविशेपात्।

इसके समर्थन में बौधायन ने तैत्ति० स० (२।५।२।७) वाले ऊपर उद्धृत (पृ० ४४४) वचन का प्रमाण उपस्थित किया है।

(३) अथवा दस हिस्सों में से एक ज्येष्ठ को दिया जाय तथा शेष सम्पत्ति समानरूप से बांटी जाय (२।२।८-९)।

(४) यदि पिता के जीवित रहते हुए पिता की अनुमति से विभाग हों तो गौ, घोड़े, बकरियां, भेड़ें ज्येष्ठ पुत्र का अंश होती हैं (२।२।८९)।

बौधायन की व्यवस्था गौतम की व्यवस्था से कम पेचीदा है तथा उससे बाद की दशा सूचित करती है। उसने २।२।१२-१३ में विभाग में एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—'ज्येष्ठांश पर केवल आयु के कारण ज्येष्ठ भाई का अधिकार नहीं होता, किन्तु गुण के कारण भी बड़े भाई का अधिकार होता है।' हम यह बता चुके हैं कि अग्रजाधिकार कुटुम्ब पालन के दायित्व का परिणाम था। कई बार यह संभव था कि बड़ा भाई अयोग्य सिद्ध हो, उस अवस्था में क्या उसे ज्येष्ठांश मिलना चाहिये ? गौतम ने इस विषय को स्पष्ट नहीं किया, किन्तु बौधायन गुणवान् को ज्येष्ठांश का अधिकारी मानता है और अपनी इस मान्यता का कारण बताते हुए कहता है—गुणवान् ही बाकी भाइयों का पालक होता है; अतः वह ज्येष्ठांश का अधिकारी होता है[२७]। बाद में अग्रजाधिकार को न्याय्य सिद्ध करने का एक आधार गुणवान् होना भी माना गया और इससे योग्य किन्तु छोटे भाइयों को भी सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त हुआ।

आपस्तम्ब को इस बात का श्रेय है कि धर्मसूत्रकारों में सर्वप्रथम उसने बड़े स्पष्ट और प्रबल शब्दों में सब पुत्रों में समान विभाग का प्रतिपादन किया। गौतम समान विभाग की चर्चा ही नहीं करता। बौधायन उसकी चर्चा अवश्य करता है, पर उसके साथ ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने वाली अन्य व्यवस्थाओं का भी उल्लेख करता है, आपस्तम्ब ज्येष्ठ पुत्र के एकमात्र उत्तराधिकारी होने का बड़ी उग्रता से खण्डन करता है। आपस्तम्ब के वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस समय कई स्थानों में ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अंश देने की परिपाटी प्रचलित थी और कई आचार्य ज्येष्ठ पुत्र को ही एकमात्र दायाद मानते थे। आपस्तम्ब लोक प्रचलित परिपाटी के अनुसार बड़े पुत्र को कुछ विशेष अंश देने को सहमत है; किन्तु ज्येष्ठ पुत्र के सम्पत्ति पर एकमात्र अधिकार के सिद्धान्त का खण्डन करता है। इस सम्बन्ध में उसकी व्यवस्थायें अधोलिखित हैं—

---

२७. बौधायन धर्म सूत्र २।२।१३ गुणवान् हि शेषाणां भर्ता भवति।

(१) ज्येष्ठ पुत्र को (गौ आदि किसी) एक धन से सन्तुष्ट कर पिता अपने जीवन काल में पुत्रों में सम्पत्ति का समान रूप से बटवारा करे। नपुंसक, पागल और जाति से बहिष्कृत (पतित) पुत्र को जायदाद न बांटे[२८]।

(२) कुछ आचार्यों का यह मत है कि ज्येष्ठ पुत्र ही दायाद होता है। कुछ देशों में ज्येष्ठ पुत्र को सोना, काली गौयें (या) भूमि से उत्पन्न होने वाली काली पैदावार (माषादि अथवा खान से निकाला जाने वाला लोहा आदि) का अंशहर मानते हैं। किन्तु यह (ज्येष्ठ पुत्र के एक मात्र उत्तराधिकारी होने अथवा विशेष अंश ग्रहण करने का नियम) शास्त्रों द्वारा निषिद्ध है, क्योंकि श्रुति में यह कहा गया है कि मनु ने अपने पुत्रों में सम्पत्ति समानरूप से बांटी थी (तै० स० ३।१।९।४)। अपने पक्ष का श्रुति से समर्थन करने के बाद आपस्तम्ब के लिये यह आवश्यक था कि वह अग्रजाधिकार के पक्ष में दी जाने वाली 'ज्येष्ठं पुत्र धनेन निरवसाययन्ति' वाली श्रुति (तै० स० २।५।२।७) की अपने पक्ष के अनुकूल व्याख्या करे। बौधायन ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अंश के समर्थन में इसी को उद्धृत किया था(२।२।५)। आपस्तम्ब ने इस श्रुति की प्रामाणिकता का निराकरण इस प्रकार किया[२९] कि 'यह केवल एक घटना का

---

२८. आपस्तम्ब २।६।१३।१२ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा; २।६।१४।१ जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीवमुन्मत्तं पतितं च परिहाप्य।

२९. आपस्तम्ब २।६।१४।१२-१३ तथापि तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्तीति....। अथापि नित्यानुवादमविधिमाहुर्न्यायविदो यथा तस्मादजावयः पशूनां सह चरन्तीति। आपस्तम्ब का यह खण्डन युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार 'तस्माज्ज्येष्ठं पुत्रं धनेन निरवसाययन्ति' का वचन विधि नहीं, किन्तु अनुवाद वचन है, उसी प्रकार 'मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्' का वचन भी विधि वाक्य नहीं हो सकता। दोनों तुल्य रूप से एक घटना का वर्णन करते हैं; किन्तु आपस्तम्ब एक से विधि का ग्रहण करता है और दूसरे को अनुवाद मात्र समझता है। हरदत्त ने आपस्तम्ब की टीका में इस दुर्बलता को स्वीकार किया है। स्मृति चन्द्रिका ने (पृ० २६०) निरवसाययन्ति का अर्थ किया है—तोषयन्ति अर्थात् प्रसन्न करते हैं। आपस्तम्ब का भी यही मत है— (दे० २।६।१३।१२ एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा)। विवाद रत्नाकर की व्याख्या इससे भिन्न है—ज्येष्ठं पुत्रं धनेनोद्धरणलक्षणेन निरवसाययन्ति इतरपुत्रेभ्यः पृथक् कुर्वन्ति। (पृ० ४६७)।

वर्णन करने वाली (अनुवाद मात्र) है, मीमासक (न्यायवित्) घटना का वर्णन करने वाले वाक्य को विधि नही मानते'।

आपस्तम्ब की उपर्युक्त व्यवस्थाओ से यह सूचित होता है कि वह पुत्रों के समान अधिकार का प्रबल पक्षपाती और अग्रजाधिकार का घोर विरोधी था, पर उस समय समाज में अग्रजाधिकार की परिपाटी पर्याप्त प्रबलता के साथ प्रचलित थी। लोकाचार या रूढि के सामने प्रत्येक शास्त्रकार को नतमस्तक होना पडता है। आपस्तम्ब यद्यपि समविभाग का समर्थक था, किन्तु वह सहसा ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार की उपेक्षा नही कर सकता था। अत' उसने समान विभाग की व्यवस्था करते हुए अग्रजाधिकारवादियो के साथ यह समझौता किया कि बटवारे से पहले ज्येष्ठ पुत्र को कुछ विशेष धन देकर सन्तुष्ट कर लिया जाय (मि० हिरण्यकेशी धर्मसूत्र २।७)।

आपस्तम्ब ने आदर्श की दृष्टि से अग्रजाधिकार का विरोध किया, किन्तु यह लोकाचार सम्मत नही था। अत. आपस्तम्ब के बाद के सूत्रकारों वसिष्ठ (१७।३९-४२) और विष्णु (१८।३६-३७ व सवि० ३७३) ने विषम विभाग तथा ज्येष्ठ पुत्र के विशेष अधिकार को स्वीकार किया है। वसिष्ठ की व्यवस्था गौतम की दूसरी व्यवस्था (२८।५-८) से मेल खाती है, किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ये दोनो सूत्रकार ज्येष्ठ पुत्र को एकमात्र उत्तराधिकार देने के नही, किन्तु विशेषाश देने के पक्षपाती है।

कौटिल्य (३।६) से यह ज्ञात होता है कि चौथी शती० ई० पू० मे हिन्दू समाज मे अग्रजाधिकार की परिपाटी का प्रचलन कम हो चला था। वह उसका बिलकुल उल्लेख नही करता। पर उस समय ज्येष्ठ पुत्र को विशेष अश अवश्य मिलता था, यह उसे इसलिये दिया जाता था कि बडा लडका होने के कारण पितरो के श्राद्ध आदि में उसे विशेष व्यय करना पडता था[३०]। ज्येष्ठ पुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रों को भी सन्तुष्ट करने के लिये कौटिल्य ने विशेष भाग दिये है।

बौधायन के अतिरिक्त पिछले सूत्रकार बडे लडके के नालायक होने पर उसे विशेष अश देने के विषय मे मौन है। बौधायन ने सामान्य रूप से पुत्र के गुणवान् होने की शर्त का उल्लेख किया है, किन्तु इस की विशेष व्याख्या नही की। कौटिल्य ने सर्व प्रथम इस कमी को पूरा किया। वह बडे लड़के की तीन

---

३०. कौ० ३।६।६ प्रतिमुक्तस्वधापाशो हि भवति। श्री मूला टीका— यस्माद् ज्येष्ठः कण्ठनिवेशितपितृकर्मपाशो भवति।

प्रकार की अयोग्यताओ का वर्णन करते हुए, प्रत्येक अयोग्यता के लिये विभिन्न प्रकार के दाय की व्यवस्था करता है। 'यदि ज्येष्ठ पुत्र मानुपोचित गुणो से हीन हो तो वह ज्येष्ठांश के तृतीय भाग को प्राप्त करे, यदि वह अन्याय पूर्वक जीविका का उपार्जन करता है या धर्म कार्यो का परित्याग करता है तो वह चतुर्थ भाग को प्राप्त करे और यदि वह कामाचार (अपनी इच्छा के अनुसार अप्रतिवद्ध रूप से सव काम) करने वाला है तो उसका सारा हिस्सा छीन लिया जाय[३१]। मध्यम और कनिष्ठ भाइयो मे यही नियम होता है। इन मे से जो मानुष गुणो से सम्पन्न हो, उसे ज्येष्ठाग का आधा हिस्सा मिलता है (३।६।१६-१७)।

कौटिल्य की इन व्यवस्थाओं से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि वह विशेषांश को जन्म मूलक अधिकार नही मानता, वल्कि उस अश के लिये कुछ गुण भी आवश्यक समझता है, जिन के अभाव मे ज्येष्ठाश छीना जा सकता था। अग्रजाधिकार पर यह एक प्रवल प्रहार था। अग्रजाधिकार जन्म को प्रधान मान कर चलता है, इस व्यवस्था मे छोटे पुत्रो का असन्तोप स्वाभाविक है। अत ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाश की व्यवस्था को गुणो के आधार पर न्याय्य ठहराया गया। इसमे दूसरे पुत्रो के लिये भी यह मौका था कि वे अपने गुणों से ज्येष्ठ अश प्राप्त कर सके। आगे चल कर हम देखेगे कि इस सिद्धान्त को स्वीकृत करने का यह परिणाम हुआ कि अग्रजाधिकार का शनैः शनैः विल्कुल लोप हो गया। कौटिल्य (३।७) से यह प्रतीत होता है कि उस समय समाज के निम्न वर्ग मे समान विभाग की पद्धति ही प्रचलित थी। विशेपाश तथा विशेप भाग सम्पन्न व्यक्तियो मे ही संभव है, पशुओं की अधिक सख्या होने पर ही उनमे चुनाव तथा गौतम आदि द्वारा निर्दिष्ट विभाग हो सकता है, किन्तु यदि घर मे एक ही पशु हो तो उसमे ज्येष्ठाश की कल्पना किस प्रकार हो सकती है। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए कौटिल्य कहता है कि सूत, मागध, व्रात्य और रथकारो मे सम्पत्ति का विचार करके ही विभाग होगा (३।६।१९)। ३।७।४४ मे कहा गया है कि समस्त संकर जातियो (निषाद, अम्वष्ठ, श्वपाक, चण्डाल आदि नीच जातियो) मे विभाग समान (अर्थात् ज्येष्ठाश रहित) रूप से होता है[३२]।

---

३१. कौटिल्य ३।६।१३-१५ मानुषहीनो ज्येष्ठस्तृतीयमंशं ज्येष्ठांशाल्लभेत। चतुर्थमन्यायवृत्तिः निवृत्तधर्मकार्यो वा। कामाचारः सर्वं जीयेत।

३२. वहीं ३।७।४४ सर्वेषामन्तरालवर्णानां समो विभागः।

महाभारत मे विरोधी व्यवस्थाये दृष्टिगोचर होती है। १३।४७।१६ मे और १३।४७।५७ में सवर्णा स्त्री के पुत्रो मे ज्येष्ठांश का विचार न कर के समान विभाग की व्यवस्था की गयी। किन्तु १३।४७।५८,६० में ज्येष्ठांश की तथा विषम विभाग की चर्चा है। इससे यह स्पष्ट है कि वर्तमान महाभारत के निर्माण काल तक सम विभाग की व्यवस्था व्यापक रूप से प्रचलित हो चुकी थी, पर ज्येष्ठांश की व्यवस्था भी समाज मे पायी जाती थी।

मनुस्मृति मे इस विषय की पाच व्यवस्थायें पायी जाती है—(१) ज्येष्ठ पुत्र ही सारे पैतृक धन को ग्रहण करे। शेष भाई जिस प्रकार पिता से भरण पाकर जीवन विताते थे, उसी तरह वे बड़े भाई के आश्रय से जीवन वितावें[३३]। (२) ज्येष्ठ पुत्र को सब प्रकार की सम्पत्ति में से उत्कृष्ट पदार्थों का बीसवां हिस्सा दिया जाय। मझले को इस का आधा (४० वां) तथा सब से छोटे को बड़े लड़के का चौथाई (१।८०) भाग दिया जाय[३४]।

(३) अग्रज सब प्रकार की सम्पत्ति मे से श्रेष्ठ भाग को ग्रहण करे, वह सम्पत्ति मे प्रत्येक सर्वोत्तम पदार्थ को तथा दस (गौ आदि पशुओं) को भी प्राप्त करे[३५]।

(४) दस पदार्थों के ग्रहण का नियम (उद्धार), अध्ययन आदि योग्यता (कर्म) से सम्पन्न पुत्रो में नहीं होता। यद्यपि अग्रज के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिये उसे कुछ वस्तु अवश्य दी जाती है[३६]।

(५) दूसरी तीसरी व्यवस्था के अनुसार उद्धार निकाल कर, बाकी सम्पत्ति तुल्य रूप से वाटी जाय। यदि उद्धार नही निकाला जाता तो ज्येष्ठता आदि के तारतम्य से विभाग किया जाय। 'ज्येष्ठ को दो अंश दिये जाय, उसके बाद उत्पन्न होने वाले को डेढ़ अंश दिया जाय तथा छोटे भाइयो को एक एक अंश दिया जाय, (मनु ९।११७)।

---

३३. मनु० ९।१०५ ज्येष्ठ एव तु गृह्णीयात्पित्र्यं धनमशेषतः। शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैव पितरं तथा॥

३४. वही ९।११२ ज्येष्ठस्य विंश उद्धारः सर्वद्रव्याच्च यद्वरम्। ततोऽर्धं मध्यमस्य स्यात्तुरीयं तु यवीयसः॥

३५. वही ९।११४, सर्वेषां धनजातानामाददीताग्र्यमग्रजः। यच्च सातिशयं किंचिद्दशतश्चाप्नुयाद्वरम्॥

३६. वही ९।११५ उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु। यत्किंचिदेव देयं तु ज्यायसे मानवर्धनम्॥

मनु द्वारा ज्येष्ठ पुत्र की प्रशंसा—मनु की इन विविध व्यवस्थाओं को ध्यानपूर्वक देखने से यह ज्ञात होता है कि दूसरी शती ई० पू० में ज्येष्ठ पुत्र अपने पुराने अधिकारों को खो रहा था। इस सारे प्रकरण में मनु ने ज्येष्ठ पुत्र के विशेषाधिकारों का वर्णन करते हुए, उसे इन्हे देने के औचित्य को भी सिद्ध किया है। ९।१०५ मे वह ज्येष्ठ पुत्र को एक मात्र उत्तराधिकारी मानता है, किन्तु उसे ज्येष्ठ पुत्र के एक-मात्र उत्तराधिकार के तीव्र विरोध का ज्ञान है। अत. वह अगले पाच श्लोको मे (९।१०६-१०) उसे शान्त करने के लिये ज्येष्ठ पुत्र की प्रशसा द्वारा यह सिद्ध करना चाहता है कि उसे दिया जाने वाला अधिकार सर्वथा उचित ही है। 'ज्येष्ठ पुत्र के जन्म मात्र से मनुष्य पुत्रवान् होता है, उससे वह पितृ ऋण से मुक्त होता है। अत ज्येष्ठ पुत्र सारी सम्पत्ति का अधिकारी है। मनुष्य जिस पुत्र से ऋण उतारता है, जिस पुत्र द्वारा अनन्त सुखो का भोग करता है, वही धर्मज पुत्र है, शेष पुत्रो को कामज पुत्र कहते है। ज्येष्ठ पुत्र को यह उचित है कि वह छोटे भाइयो का पिता की तरह पालन करे। छोटे भाई धर्मपूर्वक अपने को उसका पुत्र समझते हुए बडे भाई के साथ व्यवहार करे, ज्येष्ठ पुत्र ही कुल को बढाता है, वही कुल का नाश करता है, ज्येष्ठ पुत्र ससार मे सब से अधिक पूजा का पात्र है (पूज्यतमो लोके), ज्येष्ठ पुत्र सज्जनो द्वारा निन्दनीय नही होता। ज्येष्ठ पुत्र का यह धर्म है कि वह अपने भाइयो पर पितृवत् स्नेह रखे तथा उनका भरण पोषण करे। जब तक वह इस कर्तव्य को पूर्ण करता है, उस समय तक उसे ऊँची प्रतिष्ठा पाने का अधिकार है, इस कर्तव्य के पूरा न करने पर वह इस सम्मान का अधिकारी नही है। 'जो ज्येष्ठ पुत्र ज्येष्ठ वृत्ति (ज्येष्ठ पुत्र के दायित्व को पूरा करने वाला) हो, वह माता पिता की तरह (पूजनीय) होता है, जिस मे ज्येष्ठ वृत्ति नही है, उसकी (मामा, आदि) बन्धुओं की तरह (सामान्य रूप से) पूजा करनी चाहिये' (९।११०, मि० महाभा०भा० १३। १०५)। मनु द्वारा की गयी ज्येष्ठ पुत्र की यह विस्तृत स्तुति उसके विशेष अधिकार के समर्थन की अन्तिम प्रबल चेष्टा प्रतीत होती है।

छोटे भाई बडे भाई के विशेषाधिकार रूपी दुर्ग पर जबर्दस्त धावा कर रहे थे। कौटिल्य के समय मे उन्होने इस दुर्ग की दीवार मे गुणवत्ता की एक दरार डाल दी थी। मनु के समय तक वह दरार चौड़ी होकर रास्ता बन गया। छोटे भाइयो ने इस रास्ते से अग्रज के विशेषाधिकार के दुर्ग मे प्रवेश पा लिया था। मनु इसकी सर्वथा उपेक्षा न कर सकता था। प्राचीन व्यवस्था के प्रति

उसका आदर था, अत गौतमादि का अनुकरण करते हुए उसने ज्येष्ठ पुत्र के लिये द्वयश और विंश विभाग आदि 'उद्धारों' की व्यवस्था की, किन्तु वह गुणवान् भाइयो की उपेक्षा नही कर सकता था। उसे यह स्वीकार करना पडा कि योग्य भाइयो मे उद्धार की व्यवस्था नही होती (उद्धारो न दशस्वस्ति सम्पन्नानां स्वकर्मसु ९।११५)। किन्तु मनु ने यह व्यवस्था समय के प्रभाव से विवश होकर की। उसकी सहानुभूति इस व्यवस्था के साथ नही थी। इस विषय मे आपस्तम्ब के साथ उसकी तुलना बडी रोचक है। आपस्तम्ब ने अपने समय के लोकाचार ओर रिवाज के प्रतिकूल होते हुए भी सब पुत्रो के समानाधिकार का प्रबल समर्थन किया। किन्तु लोकाचार के साथ समझौता करने के लिये उसे बाध्य होना पडा। उसने लाचारी मे यह स्वीकार किया कि बडे पुत्र को धन से सन्तुष्ट कर के शेप सम्पत्ति का सम विभाग किया जाय। किन्तु मनु के समय पुत्रो के समानाधिकार का आन्दोलन प्रबल रूप धारण कर चुका था। गुणवान् छोटे भाइयो के अधिकार की उपेक्षा नही की जा सकती थी। मनु ज्येष्ठ पुत्र का समर्थक था। उसे 'उद्धार' के निषेध का उल्लेख मजबूरी मे करना पडा, पर समान विभाग की व्यवस्था करते हुए भी वह बडे भाई के साथ विशेष पक्षपात करना न भूल सका। उसने कहा—बडे भाई को सम्मान प्रदर्शित करने के लिये कुछ तो देना ही चाहिये (यत्किचिदेव देय स्यान् ज्यायसे मानवर्धनम् ९।११५)। पहले विशेष अश पर ज्येष्ठपुत्र का अधिकार था, अब उसे यह एक रियायत के रूप में दिया जा रहा था। मनु की उक्त व्यवस्थाओ मे ज्येष्ठाधिकार अपनी आखिरी सासें ले रहा प्रतीत होता है।

याज्ञवल्क्य के समय तक ज्येष्ठ पुत्र की तुलना मे छोटे भाइयों का अधिकार अधिक व्यापक रूप से स्वीकार किया जा चुका था। वह केवल पितृकृत विभाग मे ही, पिता को विषम विभाग करने की आज्ञा देता है (२।११४); किन्तु पिता की मृत्यु के बाद पैतृक सम्पत्ति के अथवा मिलकर काम करने मे प्राप्त सम्पत्ति के विभाग मे सब भाइयो को समान अश ही प्रदान करता है (२।११७, १२०)। आपस्तम्ब ने ६०० ई० पू० में जिस कार्य को शुरू किया था, याज्ञवल्क्य ने पहली दूसरी शती ईस्वी मे उसे पूर्ण किया।

किन्तु पिछली एक सहस्राब्दी की प्रथा का हिन्दू परिवार से एकाएक लोप हो जाना संभव न था। नारद ने ज्येष्ठ को अधिक अश देना स्वीकार किया (१६।१३-१४)। किन्तु इसके साथ ही उसने ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार एक दूसरी दृष्टि से कम किया। मनु० ९।१०५ में 'एव' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि

ज्येष्ठ पुत्र ही सारी पैतृक सम्पत्ति ले सकता है, उसके अयोग्य होने पर दूसरे पुत्र कभी ऐसा नही कर सकते थे। नारद ने इस नियम को कुछ परिवर्तित करते हुए कहा कि छोटा भाई भी योग्य होने पर यह उत्तरदायित्व सभाल सकता है १६।५)।

वृहस्पति ने योग्यता की शर्त पर इतना वल दिया कि आयु के कारण प्राप्त होने वाली ज्येष्ठता तथा विद्या व अन्य गुणो के कारण होने वाली ज्येष्ठता में कोई अन्तर नही रहा। इन दो विशेपताओ वाले पुत्र दुगना हिस्सा पा सकते थे[३७]। वह सामान्यरूप से पुत्रो को समाशी मानते हुए भी विद्या एव शिल्प सम्पन्न पुत्रो को अधिक हिस्सा (उद्धार) देने को तैयार है (स्मृच २६४)। मनु ने ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार का समर्थन करते हुए उसकी तारीफ के पुल वाधे थे। वृहस्पति ने अव इसके विपरीत गुणवान् पुत्र की प्रशसा की। मनु ने जन्म पर बल दिया, बृहस्पति ने विद्या पर। विद्यावान् तथा विशेप योग्यता वाले पुत्र के विशेष अधिकार का समर्थन करते हुए उसने कहा 'जिस पुत्र की विद्या, विज्ञान, शौर्य, सम्पत्ति, ज्ञान दान व अन्य धार्मिक क्रियाओ में कीर्ति फैली होती है, पिता ऐसे पुत्र से ही पुत्रवान् समझे जाते है[३८]। मनु ने ज्येष्ठ पुत्र से पिता को पुत्रवान् माना था, वृहस्पति योग्य पुत्र से उसे ऐसा मानता है। देवल ज्येष्ठाश का समर्थक अन्तिम स्मृतिकार है (विर० ४७२)।

संग्रहकार द्वारा अग्रजाधिकार की अन्त्येष्टि—नवी शती ई० तक हिन्दू समाज मे पुत्रो के समाश ग्रहण करने की प्रथा इतनी व्यापक और प्रवल हो चुकी थी कि मनु आदि द्वारा प्रतिपादित विपम विभाग की व्यवस्था समाज से विल्कुल उठ गयी। प्राचीन शास्त्रो में प्रतिपादित होने से इस प्रथा को प्रतिष्ठा वडी प्राप्त थी।। किन्तु इस समय तक हिन्दू सभाज की अनेक प्राचीन तथा प्रतिप्ठित प्रथाओ मे मौलिक परिवर्तन आ चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थो के समय मे श्रुति द्वारा प्रतिपादित वैदिक यज्ञो का वहुत प्रचार था। बौद्ध धर्म के प्रचार के वाद इन यज्ञो की प्रथा विल्कुल उड गयी थी। प्राचीन युग मे नियोग का प्रतिपादन किया गया था, किन्तु वाद का हिन्दू समाज इसे छोड चुका था। शास्त्रसम्मत होने पर भी

---

३७. दा० ४२ जन्मविद्यागुणज्येष्ठो द्व्यंशं दायादवाप्नुयात् ॥

३८. [व्यक० १४३] पितृरिक्थहराः पुत्राः सर्व एव समांशिनः। विद्याकर्मयुतस्तेषामधिकं लब्धुमर्हति। विद्याविज्ञानशौर्यार्थे ज्ञानदानक्रियासु च। यस्येह प्रथिता कीर्तिः पितरस्तेन पुत्रिणः ॥

यदि कोई प्रथा लोक विरुद्ध है तो क्या वह करणीय है ? मनु ने विभिन्न युगों के लिये विभिन्न नियमो की कल्पना की थी (मनु १।८५-८६)। मध्यकाल मे शास्त्रकारो ने इस आदेश का बडा लाभ उठाया। उन्हे कई प्रथाये ऐसी दिखाई दी, जो शास्त्र सम्मत होने पर भी समाज मे अप्रचलित तथा लोकाचार विरुद्ध थी। उन्होने इन्हे पूर्वयुग की व्यवस्था कह कर, कलियुग मे उनके पालन का निषेध किया। ये व्यवस्थाये कलिवर्ज्य कहलायी। स्मृतिसग्रह में हम यह उल्लेख पाते है कि जिस प्रकार आज कल नियोग का धर्म अथवा यज्ञ में गोवध प्रचलित नही है, उसी प्रकार उद्धार (ज्येष्ठ पुत्र के लिये विशेष अंश निकालना) वाले विभाग की परिपाटी भी अब नही है[३९]। नाहकार इतने से ही सतुष्ट नही है। वह यह भी बताना चाहता है कि ज्येष्ठ पुत्र को जो विशेषाधिकार दिया गया था, वह उसकी योग्यता के कारण ही दिया गया था। यदि उसमे यह योग्यता न हो और छोटे भाई इस कार्य के लिये योग्य हो तो उन्हे सम्पत्ति का एकाधिकार मिलना चाहिये[४०]। इस प्रकार नवी शताब्दी तक ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार लगभग लुप्त हो गये। मध्यकाल के टीकाकारो ने विश्वरूप (याज्ञ० २।१२१) तथा मेधातिथि (मनु० १।८५) ने उसका समर्थन किया; किन्तु विज्ञानेश्वर (याज्ञ० २।११७) ने इसका प्रबल विरोध किया (दे० ऊ० पृ० ३७७-७८), देवण्ण भट्ट भी इसी मत का था (स्मृच० २६५-६६)। मनुस्मृति के टीकाकार राघवानन्द और कुल्लूक ज्येष्ठ पुत्र को विशेषाधिकार देने वाली व्यवस्था (९।१०४ तथा ९।११५) को ज्येष्ठ पुत्र के गुणवान् होने तथा शेष पुत्रो के निर्गुण होने पर ही लागू करते है।

अग्रजाधिकार के उच्छेद की प्रक्रिया और कारण—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस प्रथा का उन्मूलन शनै शनै अनेक शताब्दियो मे पुत्रो द्वारा समानाधिकार की माग प्रबल होने से हुआ। छठी शताब्दी ई० पू० में गौतम द्वारा अग्रजाधिकार के अतिरिक्त विभाग सम्बन्धी ऊपर बतलायी गयी (पृ० ४४८) पाच व्यवस्थाओ से यह स्पष्ट है कि उस समय इस विषय में हिन्दू समाज मे एकरूपता नही थी। एक ओर कुछ व्यक्ति परिवार के भरण

---

३९. मदनरत्न ९२ अ, स्मृति संग्रहेऽपि-यथा नियोगधर्मो नो नानुबन्ध्या-वधोऽपि वा। तथोद्धारविभागोऽपि नैव सम्प्रति वर्तते ॥ मिता० २।११७

४०. स्मृच० २६३ सर्वमेव हरेज्ज्येष्ठोऽनुजेष्वनधिकारिषु। मध्यमो वा कनिष्ठो वा ज्यायस्यनधिकारिणि ॥

पोषण के लिये वड़े वेटे को सव अधिकार देना चाहते थे, दूसरी ओर अन्य शास्त्रकार छोटे भाइयो के अधिकारो की उपेक्षा नही चाहते थे । इन दोनो पक्षो मे अनेक समझौते हुए । वडे पुत्र को विशेष अश देने के साथ छोटे भाइयो को भी अलग हिस्से मिले । तारतम्य विभाग की व्यवस्था की गयी, सव सपत्ति भाइयो की सख्या के अनुकूल भागो मे वाट कर, आयु के क्रम से उन्हे अपना हिस्सा चुनने का मौका दिया गया । किन्तु छोटे भाई केवल जन्म के कारण ज्येष्ठ पुत्र को ऊँचा स्थान देने को सभवत· उद्यत न थे । मनु ने वडे वेटे की तारीफ के पुल वाधते हुए जन्म के कारण उसे विशिप्ट स्थिति देनी चाही, पर गुणवान् छोटे भाइयो की उपेक्षा सभव न थी, उसे उनका अधिकार मानना ही पडा, इससे उसने अग्रजाधिकार के विनाश का मार्ग प्रशस्त कर दिया । याज्ञ० ने पिता की मृत्यु के वाद पुत्रो के समान विभाग की स्पप्ट व्यवस्था की । बृहस्पति ने जन्म के स्थान पर गुणो को महत्ता देकर अग्रजाधिकार पर प्रवल आघात किया, विषम विभाग की कसौटी गुण माने गये । किन्तु इन के आधार पर विशम विभाग का देर तक टिकना सभव न था; क्योकि जन्म की भाति, गुणो का कोई निश्चित स्वरूप न था । अत. स्वाभाविक रूप से सव पुत्रो मे समाश ग्रहण की परिपाटी प्रचलित हुई ।

सर्वाधिकारी ने अग्रजाधिकार के उच्छेद का प्रधान कारण वहुभार्यता की प्रथा वतायी है । 'पति की सव स्त्रिया यह प्रयत्न करती थी कि वे अपनी सन्तानो के लिये अधिक से अधिक धन प्राप्त कर सके । यदि देश मे वहुभार्यता की प्रथा न होती तो अग्रजाधिकार की परिपाटी भारत मे कही अधिक समय तक पूरे बल के साथ चलती रहती (प्रिन्सिपल्ज़ आफ हिन्दू ला आफ इन हैरिटेंस पृ० १८४) । इसके अतिरिक्त छोटे भाइयो द्वारा वैयक्तिक अधिकारो की तथा समाश ग्रहण की माग इस प्रथा के विलुप्त होने के महत्वपूर्ण कारण थे ।

वर्त्तमान समय में हिन्दू समाज मे अनेक जमीदारिया, राज, वतन और पलयम अग्रजाधिकार की परिपाटी को जीवित रखे हुए हैं । इन मे अधिकाश का जन्म मध्यकाल की राजनैतिक और सैनिक आवश्यक्ताओ से हुआ । मुगल सम्राट् सामन्तो को सैनिक देने के वदले तथा उच्च पदाधिकारियो को उन की सेवाओ के प्रतिफल रूप में जागीरें दिया करते थे । राजाराम के समय से महाराष्ट्र मे सेनापतियो को सरजाम और वतन देने की परिपाटी का वडी तेजी से विकास हुआ । ब्रिटिश सरकार ने इन जमीदारियो, जागीरो और वतनो को स्वीकार किया । प्रिवी कौन्सिल ने अपने कई निर्णयो मे अनेक

अविच्छेद और स्वर्ग की प्राप्ति के लिये आवश्यक है। इससे पिण्डदानादि के
धार्मिक और कुल परम्परा के अविच्छिन्न बने रहने के सामाजिक प्रयोजन
...रे होते है। विष्णु धर्म सूत्र में कहा गया है कि बहुत पुत्रों की इच्छा (इस
...ष्टि से) रखनी चाहिये कि उनमें से कोई (पिण्डदान) के लिये गया जायगा,
...श्वमेध यज्ञ करेगा अथवा (मृत पिता के सम्मान में) काले साँड का दान
...ेगा। बृहस्पति ने पुत्र की आकांक्षा के निम्न प्रयोजन बताये हैं--नरक से
...त्त, गया जाकर श्राद्ध करना, साँड छोड़ना, यज्ञ करना, वापी, कूप, तड़ाग,
...दर आदि बनवाना, बुढ़ापे में पालना और श्राद्ध देना[४२]।

इन सब प्रयोजनों को औरस पुत्र ही अच्छी तरह पूरा कर सकता है। किन्तु
...के अभाव में स्थानापन्न, प्रतिनिधि या गौणपुत्रों द्वारा भी ये प्रयोजन कुछ
... में पूर्ण हो सकते हैं। मनु के कथनानुसार (९।१८०) यदि गौण पुत्र न
...किये जाय तो (धार्मिक) क्रियाओं (सन्तानोत्पादन, श्राद्धादि) के लोप
...भावना है, अत. प्रतिनिधि पुत्रों को औरस पुत्र न होने की दशा में स्वीकार
...चाहिये[४३]। बृहस्पति के शब्दों में जैसे सत्पुरुषों ने (यज्ञ में) घृत के
... में तेल को घी का स्थानापन्न बनाया है, वैसे औरस पुत्र तथा पुत्रिका
...होने पर ग्यारह प्रकार के पुत्रों को उन का प्रतिनिधि बनाया
...[४४]।

...निधि अथवा गौणपुत्रों के स्वरूप, संख्या,[४५] क्रम तथा स्वत्वों के
...शास्त्रकारों में बहुत मतभेद है। यहाँ इनके सामान्य स्वरूप, तथा

...विष्णु धसू० ८५।६७ एष्टव्याः बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गया व्रजेत्।
...श्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्॥ मि० मत्स्य पुराण २२।६ वायु पु०
...ह्म पु० २२०। ३२-३३। बृहस्पति--पराशर माधवीय द्वारा उद्धृत
...३०५ कांक्षन्ति पितरः पुत्रान्नरकापातभीरवः। गयां यास्यति यः
...मान् संतारयिष्यति॥ करिष्यति वृषोत्सर्गमिष्टापूर्तं तथैव च। पाल
...त्वे श्राद्धं दास्यति चान्वहम् मि० मत्स्य पु० २०८।२-१०।
...मनु० ९।१८० पुत्रप्रतिनिधीनाहुः क्रियालोपान्मनीषिणः।
...अप० २।११८ द्वारा उद्धृत--आज्यं विना यथा तैलं सद्भिः प्रति-
...तथैकादशपुत्रास्तु पुत्रिकौरसयोर्विना॥
...गौण पुत्रों की संख्या के सम्बन्ध में निम्न रूप उल्लेखनीय हैं--
...२८।३३-३४) बौधा० (२।२।१८-३८), वसिष्ठ (१७।...)

ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालने के वाद प्रत्येक प्रकार के पुत्र के सम्वन्ध मे कुछ स्थूल तथ्यो का निर्देश किया जायगा।

प्रतिनिधि पुत्रो का स्वरूप—वसिष्ठ ने यह घोषणा की है कि पुराने ऋषि मुनियो के अनुसार पुत्र वारह प्रकार के ही है —(द्वादश इत्येव पुत्राः पुराणदृष्टाः ।१७।१२)। मनु के अनुसार इन का स्वरूप निम्नलिखित है। (१) औरस—जो पुत्र विवाह सस्कार से युक्त समान वर्ण की पत्नी मे स्वयं (पति के वीर्य से) उत्पन्न किया जाय, उसे औरस कहते है (९।१६६) (२) क्षेत्रज—जो पुत्र मरे हुए, नपुंसक, (असाध्य) रोगी पुरुष की स्त्री में शास्त्र प्रतिपादित व्यवस्था के अनुसार नियुक्त अन्य पुरुष के वीर्य से उत्पन्न होता है, उसे क्षेत्रज कहते हैं (९।१६७) (३) दत्रिम—जव माता पिता आपत्काल में अपने सदृश (समान जातीय) किसी मनुष्य को जल से सकल्प करके प्रीतिपूर्वक अपने पुत्र को देते है, तव उसे दत्तक कहते है (९।१६८)। (४) कृत्रिम—जव गुणदोष के विचार मे चतुर, पुत्र के गुणो से युक्त, अपने सदृश (समान जातीय) किसी व्यक्ति को अपना पुत्र वनाया जाता है, तो उसे कृत्रिम पुत्र समझना चाहिये (९।१६९)। (५) गूढज—कोई पुत्र घर में उत्पन्न होता है, उसके विषय मे यह ज्ञान नही होता है कि यह किस के वीर्य से उत्पन्न है, वह

विष्णु (१५।१-२) के मतानुसार इन की संख्या १२ है। (२) आपस्तम्ब एक ही प्रकार का पुत्र अर्थात् औरस ही मानता है (३) मनु ने यद्यपि (९।१५८-६०) में वारह पुत्रो का उल्लेख किया है तथापि ९।१२० में वह पुत्रिकापुत्र का वर्णन करता है। इस प्रकार उस के मत में तेरह प्रकार के पुत्र होते है। (४) महाभारत ने १।७४।९९ में पाच प्रकार के पुत्र माने हैं, १।१२०।३३-३५ में वारह प्रकार के और १३।४९।१-२८ में २० प्रकार के। अनुशासन पर्व के पिछले संदर्भ में इस संख्या वृद्धि का कारण यह है कि इसमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाहो से उत्पन्न छः छः प्रकार के १२ पुत्र इस प्रकार वढ़ाये गये हैं (१) छः अपध्वंसज अथवा अनुलोमज पुत्र—ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्णों की स्त्रियों से उत्पन्न तीन प्रकार के पुत्र, क्षत्रिय की वैश्य, और शूद्र पत्नी की दो प्रकार की सन्तान और वैश्य का शूद्रा से उत्पन्न पुत्र। (२) छः अपसद (प्रतिलोमज)—शूद्र के ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या से उत्पन्न तीन पुत्र, वैश्य के क्षत्रिया, ब्राह्मणी से पैदा हुए दो प्रकार के लड़के और क्षत्रिय का ब्राह्मणी से उत्पन्न एक पुत्र।

गूढोत्पन्न है, वह उस भार्या के पति का होता है (९।१७०) (६) अपविद्ध—जब माता पिता दोनो मिल कर, या दोनो मे से कोई एक अपने पुत्र को छोड़ दे और उसे कोई दूसरा व्यक्ति ग्रहण करे तो वह अपविद्ध कहलाता है (९।१७१) (७) कानीन—कन्या (कुमारी) अवस्था मे पिता के घर मे एकान्त में उत्पन्न पुत्र कानीन है। कन्या से उत्पन्न यह पुत्र विवाह करने वाले का होता है (९।१७२)। (८) सहोढ—विना जाने अथवा जानकर जब गर्भवती कन्या से विवाह सस्कार किया जाता है तो उसके पुत्र को सहोढ कहते है। वह पुत्र विवाह करने वाले का होता है (९।१७३) (९) क्रीतक—पुत्र बनाने के लिये जिसे मूल्य देकर माता पिता से खरीदा जाता है वह क्रीतक कहलाता है (भले ही वह खरीदने वाले के साथ गुणो या जाति की दृष्टि से समानता रखता हो या न रखता हो) (९।२७४)। (१०) पौनर्भव—जब स्त्री पति द्वारा छोडे जाने पर, अथवा विधवा होने पर अपनी इच्छा से पुन. अन्य पुरुष की भार्या बन कर पुत्र उत्पन्न करती है तो वह पौनर्भव कहलाता है (९।१७५)। (११) स्वयदत्त—माता-पिता से हीन (अनाथ) या विना कारण माता द्वारा छोडा हुआ जो पुत्र स्वय जाकर किसी का पुत्र बनता है तो वह उसे लेने वाले का स्वयदत्त पुत्र होता है (९।१७७)। (१२) पारशव—जिस पुत्र को ब्राह्मण कामवश शूद्रा मे उत्पन्न करता है, उसे पारशव कहते है, क्योकि वह पिण्ड-दानादि का कर्म करता हुआ (पारयन्) भी शव तुल्य है (९।१७८)

इन के अतिरिक्त मनु कन्या को भी पुत्रिका बनाने की विधि का विस्तार से उल्लेख करता है (९।१२७-३५)। 'अपुत्र इस विधि से (अपनी) कन्या को पुत्रिका बनाये। (वह यह निश्चय करे कि) इस पुत्री से जो पुत्र होगा, वही मेरा पिण्डदान करने वाला होगा (९।१२७)। वह भावी जामाता को कन्या देने से पहले कहे—'मै तुझे अभ्रातृका कन्या (आभूपणो से) अलकृत करके दूगा, (किन्तु) इससे जो पुत्र उत्पन्न होगा, वह मेरी सन्तान होगी'।

अन्य ग्रन्थो मे उपर्युक्त प्रकार के पुत्रो का कुछ भिन्न नामो से उल्लेख है तथा कुछ अन्य भेदो का भी निर्देश है। उदाहरणार्थ महाभारत मे आदिपर्व (१२०। ३३-३४) मे औरस और पारशव को स्वयजात तथा हीनयोनिधृत (निम्नवर्ण की स्त्री से उत्पन्न) के नाम से कहा है, गूढज के लिये स्वैरिणीजात शब्द का प्रयोग किया है, क्षेत्रज के लिये उसने प्रणीत और परिक्रीत नामक दो भेद किये है। नि.शुल्क रूप मे उत्तम पुरुष के वीर्य से उत्पन्न किया पुत्र प्रणीत है और जब

नियोग करने वाला कुछ प्रतिफल लेता है तो यह परिक्रीत कहलाता है[४६]। ज्ञातिरेत सहोढ का विशेषण हो सकता है और स्वतत्र रूप मे क्षेत्रज का वाचक भी। उस के मत मे कृत्रिम स्वय किसी दूसरे के पास आने वाला लडका है, यह मनु के स्वयदत्त से मिलता है। अनुशासन पर्व मे (४९।३-११) पुत्रो की नामावलि मनु से कुछ भिन्न है। यहा औरस, क्षेत्रज और सहोढ के लिये क्रमशः अनन्तरज, निरुक्तज और अध्यूढ का प्रयोग किया गया है। विष्णु धर्मसूत्र

४६. मि० महाभा० १।१२०।३६ तथा १।१०५।२ ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् धनेनोपनिमन्त्र्यताम्। विचित्रवीर्यक्षेत्रेषुयः समुत्पादयेत् प्रजाः॥ काणे ने प्रणीत का अर्थ पुत्रिकापुत्र किया है (हिध ३।६४५)। इरावती कर्वे (किनशिप टर्म्ज इन महाभारत—सुखठणकर मेमोरियल वाल्यूम पृ० १३०) ने प्रणीत को क्षेत्रज माना है और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र को इस का उदाहरण बताया है। स्वैरिणीजात का दृष्टान्त भीष्म है, क्योंकि उसकी माता गंगा अपनी इच्छा से शन्तनु के पास आयी थी, विवाह के विना मनोवांछित काल तक उस के पास रही और अपनी मर्जी से उसे छोड़ कर चली गयी। महाभा० में दत्तक और कृत्रिम के कोई उदाहरण नहीं है, कर्ण कानीन का तथा अंगद पौनर्भव का दृष्टान्त है। यहां महाभारत के पारिवारिक संगठन के सम्बन्ध में कुछ बातों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

इसकी प्रधान विशेषतायें संयुक्त कुटुम्ब पद्धति, और परिवार के मुखिया द्वारा इसके सब सदस्यों पर अमर्यादित अधिकार है। पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा अच्छा नहीं समझा जाता था। आदिपर्व में विभावसु और सुप्रतीक नामक दो भाइयो की कथा है, जो इकट्ठा रहने की बजाय पैतृक द्रव्य का विभाग करना चाहते थे, मरने के बाद अगले जन्म में वे एक दूसरे से लड़ने वाले हाथी और कछुआ बने, इन दोनों को गरुड़ ने खा लिया (महाभा० भां० १।२५।१०-१७); प्राचीन परम्पराओं का पालन करने वाले उपरिचर के राज्य में पुत्र पिताओं से बंटवारा नहीं चाहते थे (वही १।५७।११ न च पित्रा विभज्यन्ते)। परिवार में पिता की प्रभुता सर्वोच्च होती थी। पिता शक्तिशाली होने पर पुत्रो को अपने अधिकार से वंचित कर सकता था। ययाति ने छोटे लड़के को (वही १।८९) तथा भरत ने नौ बड़े पुत्रों की उपेक्षा कर भुमन्यु को अपना राज्य दिया (वहीं—१।८९। १७,१८)। राज्य प्रायः बड़े लड़के को मिलता था, किन्तु शारीरिक दोष होने पर छोटा लड़का भी उत्तराधिकारी बनता था। त्वचा संबन्धी

'यत्र क्वचनोत्पादित' नामक एक पुत्रभेद का उल्लेख करता है (१५।२७); नन्द-पण्डित के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—(१) अपरिणीत शूद्रा स्त्री से उत्पन्न सन्तान (२) सवर्ण अथवा असवर्ण, विवाहित अथवा अनूढ किसी प्रकार की स्त्री से उत्पन्न सन्तान। हारीत का सहसादृष्ट (विर० पृ० ५४९) नामक प्रकार अन्यत्र नही मिलता, काणे के मतानुसार यह सभवतः कृत्रिम है—हारीत (स्मृच २३९) तथा पराशर (४।२३-२४) कुण्ड और गोलक नामक पुत्रो का वर्णन करते हैं; पति के जीवित हुए पत्नी की जारज सन्तान कुण्ड और उसके मर जाने पर गोलक कहलाती है[४७]।

वर्गीकरण के कारण—सभवतः किसी अन्य प्राचीन सभ्य समाज मे विभिन्न प्रकार के पुत्रो का इतना विशद प्रतिपादन नही मिलता[४८]। पुराने रोम तथा

रोग के कारण देवापि को (वहीं भां० ५।१४७।२४-२५) और अन्धा होने से धृतराष्ट्र (भां० १।१०२।२३) को ज्येष्ठ पुत्र होने पर भी गद्दी नहीं मिली। महाभारत में राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भ्रातृक उत्तराधिकार (Fraternal Succession) की एक विशिष्ट परिपाटी दिखाई देती है, इसके अनुसार पिता के बाद बड़ा भाई और उसकी मृत्यु पर उसका छोटा भाई उत्तराधिकारी होता था। वनपर्व में घोषयात्रा में पाण्डवों की उदारता से पराभूत होकर जब दुर्योधन आत्महत्या का निश्चय करता है तो दुःशासन को अपना उत्तराधिकारी बनाता है (३।२४९।२३)। उद्योग पर्व में कृष्ण ने कर्ण को पाण्डवों के साथ मिलने का प्रलोभन देते हुए कहा है कि ऐसा होने पर वह राजा तथा युधिष्ठिर युवराज होगा(भां० ५।१३८।१८)। आदि पर्व में भीष्म ने चित्रांगद को कौरवों का राजा तथा उस के छोटे भाई विचित्र वीर्य को युवराज बनाने की बात कही है और चित्रांगद के अपुत्र मरने पर वह राजा बना (भां० १।९५।६,१२)। परवर्ती साहित्य में ऐसे उत्तराधिकार का कोई उल्लेख नही है। ऐसी परिपाटी अफ्रीका की किकुयू और काफिर जातियों तथा अजटकों और मसरियों में प्रचलित थी (लुई -प्रिमिटिव सोसायटी पृ० २३८)। मध्यकालीन रूस के यारोस्लाव राजवंश में भी इसका रिवाज था (इंसा० ब्रिटा० खं० १९ पृ० ७१३)।

४७. परा० ४।२३ पत्यौ जीवति कुण्डस्तु मृते भर्तरि गोलकः।

४८. डा० जाली ने इस वर्गीकरण को भारत के पारिवारिक कानून की विलक्षण विशेषता बताया है (हिं० ला क० पृ० १५६)।

आधुनिक इगलैण्ड में औरस के अतिरिक्त केवल दत्तक पुत्र की ही व्यवस्था प्रच-लित है[४९]। हिन्दू परिवार के इस वर्गीकरण के उद्‌गम के सम्वन्ध में अनेक विद्वानो ने ऊहापोह किया है। कुछ ने इसे आर्थिक और धार्मिक आवश्यकताओ का परिणाम माना है; दूसरे इसे प्राचीनकाल की नैतिक अराजकता का चिह्न समझते हैं। डा० जाली ने टैगोर व्याख्यानमाला में पहले पक्ष का पोषण करते हुए कहा था कि इस व्यवस्था का उद्देश्य परिवार के लिये अधिकतम सख्या में शक्तिशाली कार्यकर्त्ता प्राप्त करना था तथा पितरो के लिये पिण्डदान की व्यवस्था करना था (हि० ला क० पृ० १५६, १५७)। डा० जाली के ये दोनो उद्देश्य प्राचीन ग्रन्थो से पुष्ट नही होते।

इसमें कोई सन्देह नही कि कृषि प्रधान प्राचीन समाज मे परिवार के सदस्यों की अधिक सख्या आर्थिक दृष्टि से वाछनीय होती थी (दे० ऊ० पृ० ३७), किन्तु उस के लिये गौण पुत्रों की व्यवस्था आवश्यक नही है। हिन्दू समाज मे अनेक स्त्रियो से शादी करके पुत्रो की अधिक सख्या सुगमता पूर्वक प्राप्त की जा सकती थी। गौण पुत्रो से यह सख्या कभी नही वढ सकती थी, क्योंकि ये सव औरस पुत्र के अभाव मे ही वनाये जाते थे। मनु के मतानुसार औरस सन्तान के न होने पर (सन्तानस्य परिक्षये) अपुत्र व्यक्ति द्वारा ही क्षेत्रज (९।५९), पुत्रिका पुत्र (९।१२७-२८) और दत्तक पुत्र वनाये जाते थे। अत. यह स्पष्ट है कि एक पुत्र के रहते हुए दूसरे पुत्र नही ग्रहण किये जाते थे। यदि जाली का पुत्रो की आर्थिक महत्ता विपयक कथन सत्य हो तो पिताओ द्वारा अपने पुत्र छोडने (अपविद्ध), वेचने (क्रीतक) और देने (दत्तक) की वात नही समझ आती।

पिण्डदान तथा धार्मिक कार्यो की दृष्टि से भी इस वर्गीकरण का विशेष महत्व नही प्रतीत होता, क्योकि इनमें अनेक ऐसे पुत्र थे, जो यह कार्य नहीं कर सकते थे। मनु ने पौनर्भव को श्राद्ध मे वुलाने योग्य नही समझा (३।१८१)। यद्यपि मनु ने क्रिया लोप की आशका से प्रतिनिधि पुत्रो की व्यवस्था की है

---

४९. रोम में दत्तक वनने वाले पुत्र पर उसके उत्पादक पिता का स्वत्व समाप्त होकर पालक पिता का अधिकार स्थापित हो जाता था। उत्पादक कुल से उसका सम्वन्ध सर्वथा विच्छिन्न हो जाता था (म्यूर हैड—हिस्टारिकल इंट्रोडक्शन टू दी प्राइवेट ला आफ रोम पृ० २७, ११८, ३७८) इंगलैण्ड में १९२६ के पुत्रीकरण के कानून से इस व्यवस्था को मान्यता मिली है।

(९।१८१), किन्तु उस का सिद्धान्त पक्ष यह है कि क्षेत्रज आदि गौण पुत्र वास्तव मे उत्पादक के ही है। उस के मत मे एक मनुष्य (छेद आदि दोष वाली) खराव नौका से (नदी या समुद्र) को पार करता हुआ जैसा फल पाता है, वैसा ही फल वह इन कुपुत्रो (क्षेत्रजादि) की सहायता से (नरक के) अन्धकार को पार करता हुआ पाता है[५०]। मेधातिथि ने अपन भाष्य (९।१६६) मे तथा दत्तक मीमासा (पृ० ३२-३९) ने यह भली भांति स्पष्ट किया है कि औरस तथा पुत्रिकापुत्र के अतिरिक्त अन्य पुत्रो की धार्मिक क्रियाओ का पिता को पूरा लाभ नही मिल सकता[५१]। यद्यपि स्त्रियो को भी पिण्डदान का अधिकार होता है, किन्तु उनका पिण्डदान पुत्र के पिण्डदान की क्रिया की समता नहीं कर सकता। यही दशा गौण पुत्रो के धर्म कार्य की है, वे औरस की भाति अधिक धार्मिक उपकार नही कर सकते। मीमासा दर्शन मे प्रतिनिधि के प्रश्न पर विचार करते हुए कहा गया है कि इसका प्रयोग करने पर वैदिक विधि मे न्यूनता आ जाती है (जै० ६।३।३५ पर शबर भाष्य)। सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र ने स्पष्ट शब्दो में यह कहा है कि पुत्र का प्रतिनिधि नही हो सकता[५१]। इससे यह स्पष्ट है कि क्षेत्रजादि गौण पुत्र औरस पुत्र की भाति धार्मिक कार्य करने मे असमर्थ है। अतः उपर्युक्त वर्गीकरण का उद्देश्य पितरो को धार्मिक लाभ पहुचाना भी नही है।

जाली का यह मत भी ठीक नही प्रतीत होता कि इस वर्गीकरण में रक्त-सम्बन्ध (प्रत्यासत्ति) पर कोई ध्यान नही दिया गया, यह माता के अवैध संबध पर आधारित है (हि० ला० क० पृ० १५६)। गोपालचन्द्र सरकार ने भी ऐसा ही परिणाम निकाला है—'पुत्रो के विभिन्न प्रकारो के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उस समय यौन सम्वन्ध वहुत शिथिल थे[५२]। यदि ऊपर वताये गये बारह तेरह प्रकार के पुत्रो को ध्यान से देखा जाय तो यह प्रतीत होगा

५०. मनु ९।१६१ यादृशं फलमाप्नोति कुप्लवैः संतरन् जलम्। तादृशं फलमाप्नोति कुपुत्रैः संतरंस्तमः॥

५१. दमी० ३८-३९ यथौरसो भूयांसं शक्नोत्युपकारं कर्त्तुं न तथेतर इति। सत्याषाढ़ श्रौत सूत्र ३।१ न स्वामित्वस्य भार्यायाः पुत्रस्य.....प्रतिनिधि र्विधीयते।

५२. वैदिक काल से भारत में नारियों की यौन नैतिकता का मानदण्ड तथा आदर्श बहुत ऊँचा रहा है (कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया खं० १, पृ० ८८, वैदिक इंडेक्स १।४७९, मनु० ५।१५९-६०, विष्णु २५।१७, याज्ञ० १।७५,

कि इन में से नौ का अवैधता के साथ कोई सम्बन्ध न था। औरस, पुत्रिका, दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, स्वयदत्त, अपविद्ध, पौनर्भव और पारशव पुत्रो में अनैतिकता का लेशमात्र भी नही था। शेष चार मे से क्षेत्रज का आधार विश्वव्यापी नियोग की प्रथा थी (इसा० ब्रिटा० ख०१३ पृ० ९७९)। आगे इसके सम्बन्ध में बताये जाने वाले नियमो से यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें नैतिकता के बन्धनो का पूरा पालन किया जाता था। वाकी तीन पुत्रो में से सहोढ और गूढज वर्त्तमान काल मे प्रिवीकौन्सिल के निर्णय तथा भारतीय साक्षी कानून के अनुसार लगभग वैध है[५३]। कानीन पुत्र भी अवैध नही है, इसे वाद मे विवाह द्वारा

ब्राह्मण ग्रन्थो में पत्नी के व्यभिचार सम्बन्धी अनेक संकेत (वै० ई० १।३९६, ३९७, ४८०)यौन सम्बन्ध की शिथिलता नहीं सूचित करते। यदि ऐसा होता तो शास्त्रकार व्यभिचार को उपपातक तथा इसके लिये पति पत्नी को कठोर दण्डो और प्रायश्चित्तों की व्यवस्था न करते। उदाहरणार्थ मनु० ८।३७१; गौतम २३।१४ में व्यभिचारिणी पत्नी के लिये प्राणदण्ड का उल्लेख है, नारद (१२।९१) में इसके लिये सिर मुंडवाने का, मनु० ८।३५२ में जार के लिये अंग भंग का आदि, ८।३७२ में जलाने का, ८।३७३ में भारी जुर्माने का, ८।३७४-७५ में अंग भंग और संपत्ति छीनने का, ८।३७६ में जुर्माने का, ८।३७९ में सिर मुंडवाने तथा प्राण दण्ड का उल्लेख है। मनु ११। ५९, १७७ में व्यभिचार पति पत्नी दोनो के लिये उपपातक माना गया है। नारद १२।७० में इस के लिये जुर्माने का विधान है, बृहस्पति (से० बु० ई० संस्करण २३।१२-१६) इसके लिये जुर्माने के अतिरिक्त, अंगभंग और मृत्यु-दण्ड की भी व्यवस्था करता है, गौतम धर्मसूत्र २३।१५ में जार के वध का तथा २२।१५,२९,३०,३४, ३५ में दो तीन वर्ष के प्रायश्चित्त के दण्ड का वर्णन है और १२।२ में अंगभंग का, वसिष्ठ २१।८ में मनु ११।११८ के अनुसार प्रायश्चित्त करने को कहा गया है। जार तथा उसकी सन्तान को श्राद्ध तथा सामाजिक सम्बन्ध के अयोग्य समझा जाता था (गौतम १५।१७,१८, याज्ञ० १।२२२,२२४)। व्यभिचारिणी स्त्री से सब अधिकार छीन लिये जाते थे तथा उसे केवल शरीर धारण के लिये आवश्यक भोजन दिया जाता था (याज्ञ० १।७७)। इन कठोर दण्डो के होते हुए यह कल्पना नहीं की जा सकती कि उस समय यौन संबन्धो में बड़ी ढील थी।

५३. पेड्डा अम्मनी व० जमीन्दार आफ मरुंगापुरी (१८७४) १ इं० ए० २९३) के मामले में प्रिवी कौन्सिल ने यह निर्णय दिया था कि शास्त्रीय

वैध बनाने की परिपाटी प्राचीन रोम और मध्यकालीन योरोप में व्यापक रूप से प्रचलित थी [५४]। अतः पुत्रो के वर्गीकरण में न तो अवैध पुत्रो की प्रधानता है [५५]

वचनों से यह सिद्ध नहीं होता कि हिन्दू कानून के अनुसार पुत्र की वैधता के लिये उसका गर्भाधान और जन्म विवाह के बाद ही होना चाहिये। माननीय जज इसे हिन्दू कानून नहीं समझते। वे इस विषय में हिन्दू और अंग्रेजी कानून एक समझते हैं, भारतीय साक्षी कानून की धारा ११२ के अनुसार स्त्री पुरुष का एक वार विवाह सम्बन्ध हो जाने के बाद उत्पन्न प्रत्येक सन्तान वैध समझी जाती है, बशर्त्ते कि वह इस विवाह के भंग होने के २८० दिन के अन्दर उत्पन्न हुई हो। इस प्रकार वैधता के लिये विवाहोत्तर गर्भाधान आवश्यक नहीं है। प्रिवी कौन्सिल का यह निर्णय बौधायन के इस वचन का स्पष्ट विरोधी है— सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्रं विद्यात् (२।२।१४)। इसमें संस्कृता शब्द से स्पष्ट है कि विवाह के बाद गर्भाधान आवश्यक है (मि० वसिष्ठ १७।१३, विष्णु० १५।२, मनु० ९।१६६)। श्री गुरुदास बैनर्जी (हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्रीधन पृ० १६६) तथा गोपालचन्द्र सरकार (हिन्दू ला १० म संस्करण पृ० १३६) ने इस निर्णय से असहमति प्रकट की है। प्रिवी कौन्सिल ने उपर्युक्त निर्णय में विवाह संस्कार पर बल देने वाले शास्त्रीय वचनों को नैतिक उपदेश मात्र माना है; कानूनी बन्धनों का प्रतिपादक नहीं, क्योंकि शास्त्रो में विधवा विवाह निन्दित होने पर भी उसके लिये कोई पृथक् विधि नहीं बताई गई।

५४. पुराना रोमन कानून कानीन सन्तान को इसके बाद किये गये विवाह द्वारा वैध स्वीकार करता था (मेकेन्जी-रोमन ला पृ० १३०, १३४, इंस्टीटयूटस् आफ जस्टीनियन १।१०।१३)। मध्यकालीन चर्च में तथा रोमन कानून का अनुसरण करने वाले अधिकांश देशों—फ्रांस, स्काटलैण्ड, संयुक्त राज्य अमरीका में यही नियम प्रचलित है, इन सब में प्रायः यह शर्त्त है कि बाद में विवाह से सन्तान को वैध बनाने वाले व्यक्तियों में से किसी एक का भी तीसरे व्यक्ति के साथ वैवाहिक सम्बन्ध नही होना चाहिये। (इंसा० सो० सा० ७।५८६)। १९२६ के वैधता कानून से इंगलैण्ड ने भी कानीन पुत्र को जायज बनाने की व्यवस्था की है।

५५. मेन ने यह सत्य ही लिखा है (हिन्दू ला पृ० ११६) कि १२ पुत्रों में से कोई भी अवैध सम्बन्ध का परिणाम नहीं है। इस उक्ति की पुष्टि इन तीन

और न इसका कारण यौन सम्बन्धो की शिथिलता प्रतीत होता है। वस्तुतः यह भ्रम गूढज, सहोढ और कानीन पुत्रों का यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण उत्पन्न हुआ है। सम्भवत इस वर्गीकरण का प्रवान उद्देश्य था अवान्तर भेदो की पाण्डित्यपूर्ण मीमासा करने की प्राचीन शास्त्रकारो की सामान्य प्रवृत्ति[५६] तथा माता पिता की भूल से दुख पाने वाले निर्दोप शिशुओं के समुचित पालन पोपण की चिन्ता। अनुशासन पर्व में स्पप्ट शव्दो मे कहा गया है—इन (गूढज, सहोढ, कानीन) के पुत्र होने को मिथ्या नही किया जा सकता[५७], माता द्वारा छोडे गये पुत्र जव दूसरे व्यक्तियो द्वारा पाले जाते है और उन के जन्मदाता का ज्ञान नही होता तो वे पालने वाले के वर्ण के समझे जाते हैं और वही उनके संस्कार करता है (१३।४९।२५-२६)। कानीन और सहोढ के सव सस्कार अपने पुत्र की भाति करने चाहियें' (१३।४९।२७)।

प्राचीन शास्त्रकारो में १२ प्रकार के पुत्रो का सव से सरल और सुवोध वर्गीकरण सभवत देवल (दा० पृ०१४७) ने किया है। वह इन्हें चार भागों में वाटता है (१) आत्मज अर्थात् स्वयमुत्पादित पुत्र, जैसे औरस, पुत्रिका, पौनर्भव, पारशव या शौद्र (२) परज—अपनी पत्नी मे दूसरे के वीर्य से उत्पन्न, जैसे क्षेत्रज (३) लव्व (दूसरे से प्राप्त) जैसे दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयदत्त, अपविद्ध (४) यादृच्छिक जैसे गूढज, कानीन और सहोढ।

वातो से होती है (१) पत्नी के जारज पुत्र कुण्ड और गोलक कहलाते थे, उन्हें पिण्डदान, सम्पत्ति आदि प्राप्त करने का कोई अविकार नहीं था (मनु० ३।१७४, ९।१४३, १४४, १४७, मिता० याज्ञ० १।९० पर)। इस प्रकार ये १२ पुत्रों से सर्वथा भिन्न थे। (२) यदि क्षेत्रज पुत्र जारज होता तो नियोग के लिये कठोर वन्धन लगाने और नियम वनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी (३) शास्त्रो में व्यभिचारिणी स्त्री को दाम्पत्य एवं धर्म कार्य से वंचित करने की व्यवस्था की गयी है (याज्ञ० १।७०)। क्षेत्रज, गूढज, सहोढ आदि को उत्पन्न करने वाली के लिये ऐसा विधान नहीं है, अतः इन पुत्रों को जारज नहीं, किन्तु वैध मानना चाहिये।

५६. विवाहो का आठ प्रकार का वर्गीकरण (मनु ३।२१, विष्णु २४। १७-१८, याज्ञ० १।५८-६१) इस प्रवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है। इनमें से पहले चार प्रकार के विवाहों में वहुत सूक्ष्म अन्तर है।

५७. महाभा० १३।४९।११ पुत्रा ह्येते न शक्यन्ते मिथ्याकर्त्तुं नराधिप।

क्षेत्रज के अतिरिक्त वस्तुत दो प्रकार के ही पुत्र थे—औरस और दत्तक। १२, १३ पुत्रो की सूची शास्त्रकारो के अति सूक्ष्म भेदो के आधार पर नये वर्ग बनाने की प्रवृत्ति का परिणाम था। ये सब पुत्र इन दोनो मे सम्मिलित किये जा सकते हैं। औरस के अतिरिक्त पौनर्भव और पारशव आत्मज ही थे, विधवा का पुनर्विवाह तथा शूद्रा के साथ पाणिग्रहण बुरा समझा जाने से ही ऐसे पुत्रों को औरस होते हुए भी नीची निगाह से देखा जाता था, अतः इनका पृथक् उल्लेख किया गया है। दत्तक, कृत्रिम, क्रीत, स्वयदत्त और अपविद्ध वस्तुतः दत्तक पुत्र हैं। पुत्रिकापुत्र और कानीन भी ऐसे ही हैं, क्योकि पहले मे पिता अपना वश अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से लडकी के पुत्र को अपना पुत्र समझने का सकल्प करता था, दत्तक मे दूसरे का बेटा गोद लिया जाता है, इसमे अपने दोहते को ऐसा बना लिया गया है। कानीन पति द्वारा स्वीकार किया हुआ पुत्र है, औरस ! पुत्र न होने पर दूसरे का बेटा होने की दशा मे अच्छा दहेज मिलने पर ही वर इसे स्वीकार करता है और इस प्रकार वह एक प्रकार से सौतेले बेटे को दत्तक बनाता है (मेन-हिन्दू ला पृ० ११६)। गूढज और सहोढ को भी औरस या दत्तक ही मानना चाहिये, क्योकि वे प्रायः उस की अपनी सन्तान होते थे, दूसरो के वीर्य से प्रादुर्भूत होने पर पत्नी के व्यभिचार की सिद्धि कठिन होने अथवा उसके प्रति अनुकम्पा के भाव से इन्हे अपना पुत्र बना लिया जाता था। ऐसे पुत्रो की सख्या बहुत कम होती थी, इन से प्राचीन हिन्दू परिवार की आचारहीनता के सम्बन्ध मे कोई धारणा बनाना उचित नही प्रतीत होता। शास्त्रकारो द्वारा इन के निर्देश का कारण पुत्र के भेदो की सूक्ष्मतम मीमासा करना तथा कानीन आदि के भरण पोषण की व्यवस्था करना था।

गौण पुत्रों का क्रम—इस सम्बन्ध में धर्मसूत्रो और स्मृतियो में तीव्र मतभेद है। निम्न तालिका मे कालक्रमानुसार विभिन्न शास्त्रकारो द्वारा विविध प्रकार के पुत्रो को दिये दर्जे को अको से सूचित किया गया है।

शास्त्रकार	औरस पुत्र	क्षेत्रज	पुत्रिकापुत्र	कानीन	गूढज	पौनर्भव	सहोढ	दत्तक	कृत्रिम	क्रीतक	अपविद्ध	स्वयंदत्त	निषाद या पारशव
गौतम (२८।३३-३४)	१	२	१०	७	५	९	८	३	४	१२	६	११	—
बौधायन (२।२।३६-३७)	१	३	२	८	६	११	९	४	५	१०	७	१२	१३
आपस्तम्ब (२।६।१३)	१	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
वसिष्ठ (१७।१२-३८)	१	२	३	५	६	४	७	८	—	९	११	१०	१२
कौटिल्य (३।७)	१	३	२	६	४	८	७	९	११	१२	५	१०	—
हारीत (विर० पृ० ५४९)	१	२	५	४	६	३	१०	७	१२	८	९	११	—
शंख (विर०पृ०५४७)	१	२	३	५	६	४	८	९	—	१०	७	१२	११
मनु (९।१५८-६०)	१	३	२	८	६	११	९	४	५	१०	७	१२	१३
विष्णु (१५।१-२७)	१	२	३	५	६	४	७	८	—	९	११	१०	१२
याज्ञवल्क्य (२।१२८-३२)	१	३	२	५	४	६	११	७	९	८	१२	१०	—
नारद (१३।४५-४६)	१	२	३	४	६	७	५	९	११	१०	८	१२	—
बृहस्पति (से.बु पृ. ३७५)	१	८	२	१०	१२	९	११	३	६	५	४	—	७
देवल (दायभागपृ०१४७)	१	३	२	४	५	८	७	९	११	१२	६	१०	—
यम (विर०' पृ० ५४७)	१	२	३	५	६	४	८	९	१०	११	७	१२	—
आदिपर्व (१२०।३३-३४)	१	३	२	५	६	४	११	७	९	८	—	१०	१२
ब्रह्मपु० (अप० पृ० ७३७)	१	२	३	७	५	१०	८	४	—	९	६	११	१२

उपर्युक्त तालिका पर सामान्य दृष्टिपात से यह प्रतीत होता है कि पुत्रों के क्रम निर्धारण मे कोई मौलिक सिद्धान्त नही है, एक ही पुत्र को विभिन्न शास्त्रकार वडा ऊंचा और नीचा दर्जा प्रदान करते हैं; जैसे दत्तक को गौतम, वौधायन चौथा, हारीत और याज्ञवल्क्य सातवा, वसिष्ठ और विष्णु आठवा, कौटिल्य, नारद, देवल और यम नवा स्थान देते हैं। किन्तु यदि इन क्रमो का सावधानी से अवलोकन किया जाय तो कुछ मौलिक सिद्धान्त प्रतीत होते हैं; इनमें प्रत्यासत्ति अथवा रक्तसम्वन्ध की समीपता (Propinquity) प्रधान है। इसके अतिरिक्त स्थानीय रीति रिवाजो की विभिन्नता तथा विविध प्रकार के पुत्रो के सम्वन्ध में शास्त्रकारो के अपने वयक्तिक आदर्श और विचार भी इस क्रमभेद का कारण है।

आठ शास्त्रकार-हारीत, वसिष्ठ, विष्णु, शख लिखित, कौटिल्य, याज्ञवल्क्य, नारद और यम प्रत्यासत्ति के सिद्धान्त का अनुसरण करते है, अत. सव से पहले आत्मज वर्ग के औरस तथा पुत्रिकापुत्रो का उल्लेख करते है, इनमे सन्तान के साथ माता पिता दोनों का सम्वन्ध होता है, फिर केवल माता से सम्वन्ध रखने वाले परज वर्ग के क्षेत्रज को तथा गूढज, कानीन, सहोढ आदि को स्थान देते हैं और अन्त मे माता पिता दोनो से असवद्ध दत्तक, क्रीतक, कृत्रिम आदि को। वसिष्ठ, विष्णु, यम और शख का पहले छ· पुत्रो का क्रम लगभग एक है, नियोग की प्रथा प्राचीन काल मे अधिक प्रचलित होने से इन्होंने क्षेत्रज को दूसरा स्थान दिया है, पुत्रिका पुत्र को तीसरा, विधवा का पुत्र अपना होने से पौनर्भव को चौथा स्थान मिला है, इसके वाद कानीन, और गूढज और सहोढ का दर्जा है। इनके वाद दत्तकादि तथा शूद्रा के पुत्र हैं। पुत्र के पिता की प्रभुता मे माने जाने के कारण उसका अपने को स्वय दान करना शायद समाज मे वुरा माना जाता था, अतः उसे सामान्य रूप से वहुत नीचा दर्जा दिया गया था, सव से निचला दर्जा शूद्रा के पुत्र का था, क्योंकि ऐसा विवाह जघन्य समझा जाता था। इस क्रम में यह वात ध्यान देने योग्य है कि दत्तक पुत्रके साथ माता पिता का कोई रक्त सम्वन्ध न होने से उपर्युक्त शास्त्रकार उसे आठवा या नवा स्थान देते है। आपस्तम्व द्वारा पुत्र के दान का निषेध (२।६।१३।१२) भी पुत्र की हीन स्थिति का कारण हो सकता है।

मनु, गौतम और वौधायन का क्रम उपर्युक्त क्रम से कई वातो मे वडा भेद रखता है। ये सव दत्तक तथा पुत्रिकापुत्र को ऊँची स्थिति देते हुए उसे पहले छ. पुत्रो मे गिनते हैं। इसके निम्न कारण प्रतीत होते हैं।

मनु कुमारी कन्याओ के विवाह पर वल देता था[५८] अत उसने कानीन और सहोढ पुत्रो को आठवा नवा स्थान दिया (९।१६०)। स्त्रियो के पुनर्विवाह का विरोधी होने से उसने पौनर्भव को ग्यारहवें स्थान पर रखा। वसिष्ठ आदि की व्यवस्थाओ में इन पुत्रो का दर्जा ऊँचा था, मनु द्वारा इन्हे पीछे डाल देने से दत्तक तथा कृत्रिमादि पिछले पुत्रो का स्थान स्वयमेव ऊँचा (चौथा और पाचवाँ) हो गया। गौतम और वौधायन ने लगभग मनु का अनुसरण किया है। गौतम के क्रम की एक विलक्षणता पुत्रिका-पुत्र को वहुत नीचा अर्थात् दसवा दर्जा देना है। सर्वाधिकारी के मत में इसका कारण यह है कि दूसरे कुल मे विवाह होने से कन्या की सहानुभूति पैतृक कुल की अपेक्षा श्वशुर कुल से हो जाती है, पितृकुल से उसका सम्वन्ध विच्छिन्न हो जाता है (प्रिन्सि०आफ इनहे० पृ० १९२-९३)। पर पुत्रिका के पिण्डदान के लिये पितृकुल में लौटकर आने के कारण उसका सम्वन्ध पितृकुल से वना रहता है, अत. यह कारण ठीक नही प्रतीत होता। गौतम के समय घरजवाई के रिवाज को जघन्य समझा जाता था, सभव है यह इसका मुख्य हेतु रहा हो[५९]।

गौण पुत्रों के दो वर्ग—धर्मसूत्रो तथा स्मृतियो मे गौण पुत्रो को छ-छः पुत्रो के दो वड़े भागो में वाटा गया है। गौतम (२८।३३-३४) के अनुसार औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न तथा अपविद्ध रिक्थभाक् अर्थात् पैतृक सम्पत्ति ग्रहण करने वाले तथा पिता का गोत्र लेने वाले होते हैं, इनके अतिरिक्त शेष छः पुत्र पैतृक सम्पत्ति न लेकर केवल गोत्र ही ग्रहण करते है। वौधायन ने (२।२ ३६-३७) पुत्रो को इसी प्रकार रिक्थभाक् तथा गोत्रभाक् नामक दो वर्गों में वाटा है[६०], किन्तु उसने पहले वर्ग मे पुत्रिकापुत्र को भी सम्मिलित किया है। स्मृतिकारो ने इन्हे वन्धु दायाद (दायाद वान्धव) तथा अदायाद वान्धव नामक दो वर्गों मे वाटा है। मनु के मतानुसार पहले वर्ग मे औरस (पुत्रिका), क्षेत्रज, दत्त, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्धनामक पुत्र सम्मिलित है (९।१५८)। इन्हे वन्धु दायाद इसलिये कहते है कि ये पिता के तथा (नज़दीकी उत्त-

---

५८. मनु० ८।२२६ पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः।

५९. गौतम ने इसी कारण अभ्रातृमती कन्या के विवाह का निषेध किया है (२८।२०), दे० ऊ० पृ० २६०

६०. गौ० २८।३३-३४ पुत्रा औरसक्षेत्रजकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः। कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः॥

राधिकारी न होने पर) पिता के सम्वन्धियो (बन्धुओ) की दाय या सम्पत्ति को ग्रहण करते है। कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयदत्त और शौद्र अदायाद बान्धव, केवल बान्धव अर्थात् पिता के गोत्र से सवद्ध होते है। किन्तु पिता के सम्वन्धियो की सम्पत्ति के दायाद नही वन सकते[६१]। वसिष्ठ (१७।५-२५), शख लिखित (विर०पृ० २४७) तथा नारद (दा० ४७) के अनुसार, पहले वर्ग मे निम्न प्रकार के पुत्र है—औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका पुत्र, पौनर्भव, कानीन और गूढज। इनमे पिछले तीन पुत्र मनु के अनुसार दूसरे वर्ग के है। इस सबध मे सव से स्पष्ट और सुवोध व्यवस्था कौटिलीय अर्थशास्त्र ने की है—"औरस पुत्र ही पिता के सम्वन्धियो का दायाद हो सकता है, दूसरे से उत्पन्न किया गया पुत्र (परजात) उसे पालन करने वाले पिता का ही दायाद होता है, उसके सम्वन्धियो का नही[६२]।

गौण पुत्रों के साम्पत्तिक अधिकार—इस विषय मे शास्त्रकारो ने विभिन्न व्यवस्थाये की है। यदि किसी व्यक्ति द्वारा पुत्रिकापुत्र, क्षेत्रज या दत्तक ग्रहण करने के वाद औरस पुत्र उत्पन्न होता था तो वडी विपम समस्या उत्पन्न हो जाती थी। ऐसी दशा मे सामान्यत. मनु (९।१६३) औरस को ही पैतृक सम्पत्ति का अधिकारी समझता है; वह पुत्रिका और क्षेत्रज के अतिरिक्त दूसरे गौण पुत्रो को केवल निर्वाहमात्र देने को कहता है, ताकि उनके प्रति कठोरता न हो[६३]। किन्तु पुत्रिकापुत्र के बाद औरस पुत्र होने पर दोनो के लिये समान अंश ग्रहण करने का विधान करता है[६४]। ९।१६४ मे वह औरस को अपनी

---

६१. बन्धुदायाद की यह व्याख्या दायभाग (पृ० १४७) के अनुसार है—औरसादयः षट् न केवलं पितृदायहराः किन्तु बन्धूनामपि सपिण्डादीनां दायहराः। अन्ये परभूताः पितुरेव परं दायहराः न सपिण्डादीनां मि० मिता० याज्ञ० २।१३२। कुल्लूक के अनुसार बान्धव होने का अर्थ है उदक दानादि का वन्धु कार्य करना (मनु० ९।१५८)

६२. कौटिल्य ३।७ स्वयंजातः पितृबन्धूनां च दायादः। परजातः संस्कर्तुरेव न बन्धूनाम्।

६३. मनु० ९।१६३ एक एवौरसः पुत्रः पित्र्यस्य वसुनः प्रभुः। शेषाणामानृशंस्यार्थम् प्रदद्यात्तु प्रजीवनम्॥

६४. मनु० ९।१३४ पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते। समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः॥

गोत्रभाक् पुत्रो को औरसादि रिक्थभाक्
वल चौथाई भाग लेने को कहता है (चतु-
कात्यायन वाद में औरस पुत्र उत्पन्न होने
सरा हिस्सा ही देते है वशर्त्ते कि वे सजा-
वल भरण के अधिकारी है। कौटिल्य
२) के मतानुसार वारह प्रकार के पुत्रो में
सवर्ण होने पर पिण्डदान के अधिकारी

कानीन, सहोढ और गूढज को भरणमात्र

सम्पत्ति मे स्वत्व तथा अन्य अधिकारो के
मतभेद है कि यह नही प्रतीत होता कि वे
दन कर रहे है, किन्तु इनका उद्देश्य पुराने
न मात्र है[६७]। क्षेत्रज, गूढज, सहोढ और

तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः।
ाः ॥ मि० कात्यायन विचि० पृ० १५०।
याशहराः। असवर्णाः ग्रासाच्छादनभागिनः।
ूर्वाभावे परः परः।
८१)। इस सम्वन्ध में यह वात देखने योग्य
वार के सम्वन्ध में कठोर व्यवस्थायें की थीं
सहोढ और गूढ़ज को उन्होंने विशेष उद्देश्य से
के विवाह तक नाना के अधिकार में समझा
ा विवाह के वाद पति के स्वत्व में आ जाता था
उसके ग्रहण का अर्थ यह था कि पति पत्नी के
है। सहोढ में भी यही स्थिति थी। पति द्वारा
व्यक्तियों को यह अधिकार न था कि वे ऐसे
ातः शास्त्रकारो ने इन्हे वैध स्वीकार कर इन
(काणे-हि० ध० ३।६५२-५३)
० १२३; ३८ म० ११४४।

कानीन का रिवाज उस युग में लगभग उठता जा रहा था। बृहस्पति ने गुप्त युग के अन्त में वडे स्पष्ट शब्दो मे कहा—'पुराने ऋषियो ने अनेक प्रकार के पुत्र वनाये थे, आज कल के शक्तिहीन लोगो द्वारा वैसे पुत्र वनाना सभव नही है[६८]'। इस से स्पष्ट है कि उस समय गौण पुत्रो की पद्धति लगभग लुप्त हो गयी थी।

मध्यथुग मे विज्ञानेश्वर ने नियोग को निषिद्ध ठहराया तथा कानीन और सहोढ जैसे पुत्रो को असवर्ण और अवैध वताया (२।१३३)। अपरार्क (२।१३२) ने शौनक के एक वाक्य के अनुसार कलियुग मे दत्तक तथा औरस के अतिरिक्त अन्य पुत्रो का ग्रहण निषिद्ध ठहराया। हेमाद्रि ने यही वचन आदि पुराण के नाम से उद्धृत किया है। मध्यकाल के अधिकाश शास्त्रकार और निवन्ध ग्रन्थ—देवण्ण भट्ट (स्मृच २८८,) [६९] पराशर माधवीय (पृ० ५२२), सुवोधिनी (२।१३२) दत्तक मीमासा (पृ० २३) व्यवहार मयूख (पृ० ४७) विवाद ताण्डव (पृ० ३६४), वालभट्टी(२।१३२) दत्तक चन्द्रिका (पृ० ४)—शौनक की भाति दो पुत्र ही मानते हैं।

मध्ययुग मे गौण पुत्रो की प्रथा लुप्त होने का प्रधान कारण हिन्दू समाज मे होने वाले कुछ मौलिक परिवर्त्तन थे। नियोग तथा विधवा विवाह की प्रथायें बन्द हो जाने से क्षेत्रज और पौनर्भव पुत्र अनावश्यक हो गये, अनुलोम विवाहो के अप्रचलित होने पर पारशव की जरूरत नही रही; वालविवाह के व्यापक प्रसार से कानीन और सहोढ पुत्र अन्यथा सिद्ध हो गये। पुत्रो का स्वत्व वढने तथा पितृ प्रभुत्व मर्यादित होने से क्रीतक पुत्र का लोप हो गया।

वर्त्तमान काल मे वारह प्रकार के पुत्रो मे से औरस तथा दत्तक के अतिरिक्त मलावार के नम्बूदरी व्राह्मणो मे पुत्रिकापुत्र की तथा मिथिला मे कृत्रिम पुत्र की

---

६८. अप० १।१६९ अनेकधा कृताः पुत्राः ऋषिभिर्ये पुरातनैः। तच्छक्यं नाधुना कर्तुं शक्तिहीनैरिदन्तनैः॥ वृहस्पति ने कुछ पुत्रों की निन्दा की है—क्षेत्रजो गर्हितः सद्भिस्तथा पौनर्भवः सुतः। कानीनश्च सहोढश्च गूढोत्पन्नस्तथैव च॥ विर० पृ० ५५२ पर उद्धृत।

६९. देवण्ण भट्ट स्पष्ट रूप से कहता है कि गौण पुत्रो की परिपाटी समाज से उठ चुकी है; उनके वर्णन से ग्रन्थ का व्यर्थ में विस्तार होगा। अतएवास्माभिरसवर्णपुत्राणां दत्तकेतरेषां गौणपुत्राणां पुत्रिकायास्तत्सुतस्य च भागविधयो न निबध्यन्ते संप्रत्यननुष्ठीयमानत्वात् वृथा च ग्रन्थविस्तारापत्तेः।

परिपाटी स्वीकृत की जाती है। क्षेत्रज पुत्र[७०] केवल इसी रूप मे अवशिष्ट है कि कुछ जातियो में पति की मृत्यु होने पर पत्नी उसके भाई के साथ शादी कर लेती है, दक्षिण भारत की शवर, गौड, इडीयार जातियो मे, पजाव के जाटो और मध्य भारत के राजपूतो में ऐसी प्रथा है (मेन-हिन्दू ला पृ० १२५)।

वारह प्रकार के पुत्रो में आजकल औरस के अतिरिक्त केवल दत्तक का ही प्रचलन है, अतः यहा इसी का कुछ विस्तार से प्रतिपादन होगा, इससे पहले पुत्रो के अन्य प्रकारो का सक्षिप्त उल्लेख होगा।

औरस पुत्र---शास्त्रविहित पाणिग्रहण सस्कार से परिणीत पत्नी में स्वयमुत्पादित सन्तान औरस होती थी[७१]। यद्यपि आपस्तम्व और वौधायन इस के लिये सवर्णा पत्नी भी आवश्यक मानते है[७२], किन्तु अधिकांश शास्त्रकार ऐसा कोई वन्धन नही मानते। विज्ञानेश्वर (२।१३३) और अपरार्क (पृ० ७४०) ब्राह्मण की क्षत्रिय, वैश्यादि स्त्रियो के साथ अनुलोम विवाह से उत्पन्न पुत्र भी औरस मानते है[७३], पर शूद्रा पत्नी से पैदा हुए पारशव पुत्र को औरस से भिन्न समझते है। प्राचीन शास्त्रो के अनुसार औरस पुत्र के वैध होने के लिये उसका गर्भाधान और जन्म विवाह के वाद आवश्यक था। पर पहले (पृ० ४६९) यह वताया जा चुका है कि प्रिवी कौन्सिल के निर्णय के अनुसार वैधता के लिये विवाह संस्कार के वाद गर्भाधान आवश्यक नही रहा, क्योकि यद्यपि मनु ने कन्या

---

७०. जगन्नाथ तर्क पंचानन ने तथा उसके आधार पर कोलब्रुक ने (डाइजैस्ट २ पृ० ४१७) ने उड़ीसा में नियोग की सत्ता मानी थी। किन्तु सर्वाधिकारी को उड़ीसा में अन्वेषण के वाद यह परिपाटी कानूनी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं जान पड़ी। पिछली शताव्दी में आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने नियोग का समर्थन किया (सत्यार्थ प्रकाश, वैदिक यत्रालय अजमेर, सप्तम सस्करण पृ० ११६-२४) किन्तु लोक विरुद्ध होने से इसका प्रचलन नहीं हो सका।

७१. मनु० ९।१६६, याज्ञ० २।१२८, वौधा० २।२।१४, विष्णु० १५।२, कौटिल्य ३।७ स्वयं जात. कृतक्रियायामौरसः। वसिष्ठ १७।१३ स्वयमुत्पादितः स्वक्षेत्रे संस्कृतायां प्रथमः।

७२. आप० २।१३।१ तथा वौधा० २।२।१४ सवर्णायां संस्कृतायां स्वयमुत्पादितमौरसं पुत्र विद्यात्।

७३. मिता० २।१३३ तथानुलोमजानां मूर्धावसिक्तादीनामौरसेष्वन्तर्भावस्तेषामप्यभावे क्षेत्रजादीनां दायहरत्वं वेदितव्यम्।

के ही विवाह पर बल देते हुए यह कहा है कि 'पाणिग्रहणिका मन्त्राः कन्यास्वेव प्रतिष्ठिताः (८।२२६) किन्तु इसके साथ ही उसने सहोढ(९।१७३)' कानीन (९।१७२) तथा पौनर्भव (९।१७५) पुत्रो के रूप मे ऐसी स्त्रियों का विवाह स्वीकार किया है, जिनका कन्यात्व खण्डित हो चुका है ।

हिन्दू परिवार में प्रारम्भ से औरस पुत्र की तीव्र आकाक्षा रही है। वैदिक युग मे इससे भिन्न अन्य पुत्र गर्हा की दृष्टि से देखे जाते थे। ऋ० ७।४।७ मे अग्नि से प्रार्थना में कहा गया है—'अन्य व्यक्ति द्वारा उत्पन्न तनय पुत्र नही होता, वह प्रमादी (मूर्ख या उन्मत्त) व्यक्ति का पुत्र हो सकता है[७४]। इससे अगले मत्र के अनुसार दूसरी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न पुत्र (अन्योदर्य) को ग्रहण करने का विचार भी चित्त मे नही लाना चाहिये, भले ही वह अत्यन्त सुख देने वाला (सुशेव) हो, क्योकि 'वह अन्त मे अपने उत्पादक पिता के घर की ओर लौट कर आता है। (अत शत्रुओ को) भय से कपाने वाला, (शत्रुओ का) पराभव करने वाला पुत्र हमे प्राप्त हो[७५]'।

पुत्रिकापुत्र—औरस पुत्र के अभाव में जब पिता वश चलाने के लिये लडकी के लडके को पुत्र बना लेता था तो यह पुत्रिकापुत्र कहलाता था। यह व्यवस्था दो प्रकार से होती थी—(१) विशेषविधि द्वारा—गौतम (२८।१८), बौधा० (२।३।१५) वसिष्ठ (१७।१५-१७), मनु (९।१२५) विष्णु (१५।४-५) के अनुसार पिता अपनी भ्रातृहीन पुत्री का विवाह करने से पहले जवाई के साथ स्पष्ट रूप से यह समझौता कर लेता था कि इससे उत्पन्न सन्तान मेरी होगी। गौतम इसके लिये होम आवश्यक समझता है[७६], वसिष्ठ और

---

७४. ऋ० ७।४।७ न शेषो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य मा पथो विदुक्षः। निरुक्त ३।२ में इस की टीका करते हुए दुर्गाचार्य ने लिखा है कि महर्षि वसिष्ठ के सब पुत्र मारे जाने पर जब अग्नि ने उन्हे दत्तक, कृत्रिम, क्रीतादि पुत्र स्वीकार करने के लिये कहा तो वसिष्ठ ने इन पुत्रों की निन्दा करते हुए अग्नि से औरस पुत्र की ही याचना की, इसका इसमें तथा अगले मंत्र में उल्लेख है।

७५. ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। अधा चिदोकः पुनरित्स एत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥

७६. गौतम धर्म सूत्र २८।१८ पितोत्सृजेत् पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य। वसिष्ठ १७।१८ अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्। अस्यां यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

विष्णु के मतानुसार होम ज़रूरी नहीं; किन्तु पिता के लिये दोहते को अपना बेटा बनाने की घोषणा आवश्यक थी। (२) कुछ प्रदेशो में यह घोषणा करना ज़रूरी नही था, कन्या दान करते समय यदि पिता के मन में यह अभिप्राय हो कि वह इस की सन्तान को अपनी सन्तान मानेगा तो इस मानसिक अभिप्राय (अभिसंधि) मात्र से वह कन्या पुत्रिका हो जाती थी[७७]। बृहस्पति ने होम तथा अभिसंधि दोनो प्रकार से इसे बनाने का वर्णन किया है (विर० ५६२)।

अभ्रातृमती कन्या के पुत्रिका होने की संभावना के कारण शास्त्रकारो ने उसके साथ विवाह का निषेध किया है[७८], क्योकि वसिष्ठ धसू० द्वारा उद्धृत एक प्राचीन श्रुति के अनुसार परिणीत होने पर भी पिण्डदान के लिये यह पिता के घर मे आती थी और उसका पुत्र बन जाती थी। वसिष्ठ इस कन्या को ही पुत्र समझता था। याज्ञवल्क्य स्मृ० २।१२८ की व्याख्या करते हुए विज्ञानेश्वर ने इसके दो अर्थ किये है—(१) उपर्युक्त प्रकार का समझौता जिस पुत्रिका के साथ हुआ है, वही पुत्र है (२) ऐसी पुत्रिका का लडका पुत्रिका पुत्र है[७८क]।

---

७७. गौतम धर्मसूत्र २८।१९ अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम्।

७८. वही २८।२० तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम्। मि० याज्ञ० १।५३, मनु० ३।११; किन्तु आजकल धनी पुरुष की ऐसी लड़की को युवक अधिक पसन्द करते हैं।

७८क. महाभारत में इन दोनों प्रकारों के पुत्रिकापुत्रों के कई अस्पष्ट पौराणिक दृष्टान्त है और कई मातृमूलक उदाहरण। पहले प्रकार में प्रजापति की पचास कन्यायें हैं, जिन्हें उसने एक हज़ार पुत्रों की मृत्यु पर अपनी पुत्रिका बनाया (महाभा० भां० १।६०।११)। सम्भवतः इडा मनु की लड़का बनायी हुई ऐसी पुत्रिका थी। दूसरे प्रकार का उदाहरण बभ्रुवाहन है, जो मणलूरपुर के राजा की पुत्री चित्रांगदा के अर्जुन के साथ विवाह से उत्पन्न हुआ था। इस का पहले उल्लेख हो चुका है (पृ० ३३३)। यह संभवतः मातृ स्थानीय विवाह (Matrilocal marriage) पद्धति का परिणाम था। महाभारत में इस पद्धति के अन्य कई उदाहरण मिलते हैं —जैसे जरत्कारु के पुत्र आस्तीक का अपने मामा के घर पर रहना (म० भा० भां० १।४४।२१), अर्जुन से विवाह करने के बाद भी नागकन्या उलूपी का पितृगृह में रहना (वहीं भां० १।२०६।३५); भीम के पुत्र घटोत्कच का अपनी माता हिडिम्बा के साथ नाना के घर रहना (वही भा० १।१४३।३६-३७)।

पुत्रिकापुत्र का दर्जा औरस पुत्र के तुल्य ही माना जाता था। मनु (९।१३०) और महाभारत (१३।४५।१३) की दृष्टि में पुत्र और पुत्री मे कोई अन्तर नही है (पुत्रेण दुहिता सम); याज्ञ० (विर० ५६२) पुत्रिकापुत्र को औरस ही मानता है, देवल की सम्मति के अनुसार वह औरस तुल्य है (तत्तुल्यः पुत्रिकापुत्रः विर० ५६०), शख का भी यही मत है (विर० ५६०)। मनु पौत्र और दौहित्र मे कोई भेद नही करता (९।१३९), क्योकि पौत्र की भाति दौहित्र भी पिण्डदान द्वारा अपने नाना का उद्धार करता है (मि० विष्णु १५। ४७)। देवल (विर० ५६१) इस समानता का कारण स्पष्ट करते हुए कहता है कि उसके शरीर में माता पिता के अश इकट्ठे होते है। अतएव बारह पुत्रो मे पुत्रिकापुत्र को बहुत ऊचा स्थान प्राप्त हुआ है। मनु, बौधायन, कौटिल्य याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, देवल, महाभारत और ब्रह्मपुराण उसे औरस के बाद दूसरा स्थान देते हैं, वसिष्ठ, शख लिखित, विष्णु और नारद नियोग के कारण क्षेत्रज के बाद इसका तीसरा दर्जा मानते हैं, केवल गौतम ही उसे बहुत पीछे दसवा स्थान देता है, विज्ञानेश्वर के मतानुसार यह असवर्ण पुत्रिका-पुत्र के लिये है। मनु के मत मे पुत्रिकापुत्र का साम्पत्तिक अधिकार औरस पुत्र के तुल्य है (९।१३४)। किन्तु कात्यायन सवर्ण पुत्रिकापुत्र के लिये औरस पुत्र होने की दशा मे तृतीयाश (विर० ५४४) या चतुर्थाश (मिता० २।१३२) तथा असवर्ण होने की अवस्था मे भरण मात्र की व्यवस्था करता है।

हिन्दू परिवार मे पुत्रिकापुत्र की प्रथा के सकेत वैदिक युग से उपलब्ध होते है। वसिष्ठ द्वारा १७।१६ मे उद्धृत श्रुतिवचन ऋ० १।१२४।७ मे उषा के रूपवर्णन की एक उपमा मे मिलता है[७९]। यास्क ने इस मंत्र का

सुपर्ण वैनतेय ने एक ब्राह्मण को निषादी स्त्री के साथ ससुराल में रहते हुए देखा था (वही भा० १।२५।१-६)। उपर्युक्त पांच उदाहरणो में दो नाग, एक राक्षस और एक निषाद जाति का है, मणलूरपुर संभवतः दक्षिण भारत में था। अतः ये सब दृष्टान्त आर्यजाति से बाहर के प्रतीत होते हैं।

७९. वसिष्ठ १७।१६ विजायते अभ्रातृका पुंसः पितृनस्येति प्रतीचीनं गच्छति पुत्रत्वम्। ऋ० १।१२४।७ अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्त्तारुगिव सनये धनानाम्। जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥ कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने इस मंत्र से यह परिणाम निकाला है कि भरण पोषण करने वाले भ्राता के अभाव में कन्या अपने रूप द्वारा धनोपार्जन करती थी (वै० इं० १।३९५)

तथा दो अन्य मत्रो का अर्थ पुत्रिकापरक किया है (निरुक्त० ३।४)। उक्त मत्र का आशय उसके अनुसार यह है कि अभ्रातृका कन्या (विवाह के वाद) पिता की वश परम्परा वनाये रखने तथा पितरो को पिण्ड देने के लिये अपने पितृकुल में आ जाती है, पति के पास नही जाती। दूसरा मन्त्र अथर्व० १।१७।१ से मिलता है; इसमे भ्रातृहीन कन्याओ की भाति कान्तिहीन रक्त वाहिनियो के निश्चल खडे होने का वर्णन है, यास्क की व्याख्या के अनुसार इसका यह अर्थ है कि जैसे अभ्रातृका कन्यायें विवाह के वाद अपने पति की कुल-परम्परा को वनाये रखने का तथा (पुत्रो द्वारा) उसे पिण्ड देने का रास्ता रोक देती है, वैसे ही इन का मार्ग अवरुद्ध होता है। यास्क द्वारा इस सम्वन्ध मे उपस्थित किया तीसरा मत्र शासद्वह्नि (ऋ० ३।३१।१) वहुत ही अस्पष्ट है, इसके अतिरिक्त वह अभ्रातृका के साथ विवाह का निषेध करने वाला एक स्पष्ट प्राचीन वचन भी उद्धृत करता है[८१]।

मध्ययुग में पुत्रिकापुत्र की व्यवस्था लगभग लुप्त हो गयी। चौद वी शती के एक राजा मदनपाल के आश्रित विश्वेश्वर भट्ट ने ही इस का कुछ विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रथा के लुप्त होने के कई कारण थे। अभ्रातृमती कन्या के साथ विवाह के निषेध से ऐसी लडकियो के लिये वर मिलना कठिन था, क्योकि इस की सन्तान पति को नही, किन्तु नाना को मिलती थी। इस समय दत्तक की प्रथा लोकप्रिय हो रही थी, ऐसी कन्या के माता पिता के लिये यह अधिक सुविधाजनक थी। पुत्रिकापुत्र वनाने पर यह आवश्यक नही था कि नाना को दोहता ही प्राप्त हो, दोहती भी मिल सकती थी। इगलैण्ड के ट्यूडर राजा हेनरी सप्तम ने पुत्रप्राप्ति के लिये सात विवाह किये, किन्तु उसकी लडकियां ही पैदा हुईं। ऐसी अवस्था मे नाना के लिये वशवर्द्धक पुत्र की समस्या पूर्व-वत् वनी रहती थी। पुत्रिकापुत्र की अपेक्षा दत्तक पुत्र वनाने में निश्चित रूप से पुत्र की प्राप्ति का तथा कन्या को आसानी से वर मिलने का लाभ था, अत पुत्रिकापुत्र की प्रथा लुप्तप्राय हो गयी।

---

८०. निरुक्त ३।४ अमूर्या यन्ति जामयः सर्वा लोहितवाससः। अभ्रातर इव योषास्तिष्ठन्ति हतवर्त्मनः॥ अभ्रातृका इव योषास्तिष्ठन्ति सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय हतवर्त्मानः।

८१. निरुक्त ३।५ नाभ्रात्रीमुपयच्छेत्तोकं ह्यस्य तद्भवति॥ विश्वरूप (या० १।५३) के अनुसार यह भालचि का वचन है।

वर्त्तमान काल मे पटना हाई कोर्ट ने पुत्रिकापुत्र की पद्धति को अप्रचलित मानाहै (१ पटना ला जर्नल ५८१)। किन्तु मलाबार के नम्बूदरी ब्राह्मणो मे यह 'सर्वस्वधनम्' नाम से प्रचलित है। इसकी विधि इस प्रकार है कि पिता कन्यादान करते समय अपने जामाता को यह कहता है—'मै तुझे अलकारों से सजी हुई इस कन्या का दान करता हूँ, इसका कोई भाई नही है, इस कन्या से उत्पन्न होने वाला पुत्र मेरा लड़का समझा जायगा' (कुमारन् व० नारायण १८८६, ९ म० २६०)। ऐसी व्यवस्था पुरुषसन्तान के अभाव मे ही की जाती है, किन्तु यदि ऐसी पुत्रिका की सन्तान न हो तो उसके पिता की सम्पत्ति उसके पति को न मिलकर, पितृकुल मे ही रहती है (११ म० १५७)।

क्षेत्रज—पुत्रप्राप्ति के लिये पति अथवा गुरुजनो की आज्ञा से किसी नियत व्यक्ति के साथ किया जाने वाला विधवा स्त्री का सम्बन्ध नियोग था और इस से उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज कहलाता था। प्राचीन काल मे नियोग का प्रचलन होने पर गौणपुत्रो में क्षेत्रज का स्थान बहुत ऊँचा था। गौतम, वसिष्ठ, हारीत, शंख लिखित, नारद, विष्णु और यम इसे दूसरा तथा बौधायन, कौटिल्य, मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति, देवल, महाभारत और ब्रह्मपुराण तीसरा स्थान देते है (दे० ऊ० पृ० ४७२)। नियोग की प्रथा बहुत प्राचीन थी। ऋग्वेद में पति के मरने पर देवर द्वारा नियोग का उल्लेख है (को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् ऋ० १०।४०।२ तथा ऋ० १०।१८।८)। महाभारत के अनेक स्थलो में ब्राह्मणो द्वारा नियोग कराने का वर्णन है[८२]। धर्मशास्त्रो में सगोत्र, सपिण्ड या देवर इसके अधिकारी बताये गये है।

---

८२. पाण्डु ने १।१२० में कुन्ती को इस विषय में शरदण्डायन की पुत्री से सिद्ध ब्राह्मण द्वारा, १।१२२।२२ में वसिष्ठ द्वारा सौदास की पत्नी मदयन्ती से सन्तान उत्पन्न करने के दृष्टान्त दिये है। इस के अन्य उदाहरण ये हैं—राजा बलि की पत्नी सुदेष्णा का ऋषि दीर्घतमा से पुत्र पाना (१।१०४।४५), विचित्रवीर्य की पत्नियों से महर्षि व्यास द्वारा धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर की उत्पत्ति (१।१०६ अ०) मेयर के मत में इन दृष्टान्तों का उद्देश्य ब्राह्मणों की तपस्या के गौरव को बढ़ाना है, इनमें ऐतिहासिकता का अंश बहुत कम है (सै० ला० १। १६९), सत्य का अंश केवल इतना ही है कि कभी कभी उत्कृष्ट गुणवाली सन्तान की प्राप्ति के लिये पुरोहितो से सहायता ली जाती थी। ग्रीनलैण्ड वासी एस्किमो जाति में अब तक यह व्यवस्था की जाती है (वै०ह्यू० मै०पृ० ८०)।

बौधा० (२।३।१७-१८) विधवा को नियोग का अधिकार देता है, किन्तु पति के जीवन काल में उसके क्लीव या व्याधिपीड़ित होने पर भी वह ऐसा कर सकती है। कौटिल्य पत्नी के किसी सम्बन्धी अथवा सगोत्र द्वारा (३।६) तथा विष्णु सपिण्ड (सातवी पीढी तक के सम्बन्धी) अथवा उत्तम वर्ण वाले व्यक्ति को नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार देता है[८३]। मनु ने औरस पुत्र के अभाव में देवर या सपिण्ड को इस कार्य में समर्थ बताया है (९।५९) । याज्ञवल्क्य (२।१२८) सगोत्र अथवा इतर व्यक्ति से उत्पन्न पुत्र को क्षेत्रज कहता है, (क्षेत्रज क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा); विज्ञानेश्वर यहा इतर से सपिण्ड या देवर का ग्रहण करता है।

क्षेत्रज पुत्र उत्पन्न करने के सम्बन्ध में शास्त्रकारो ने बडे कठोर नियम बनाये है, ताकि नियोग का दुरुपयोग न हो, कर्त्तव्यबुद्धि से सन्तान-प्राप्ति के लिये ही इस प्रथा का व्यवहार हो। मनु (९।६०) तथा नारद (स्त्री पुस ८२) नियुक्त पुरुप को शरीर पर घी मलने के लिये कहते है, विश्वरूप के मतानुसार यह कामप्रवृत्ति को रोकने के लिये है, उस स्त्री के साथ मनु भाषण तक वर्जित ठहराता है (९।६०), एक या दो पुत्रो की प्राप्ति के बाद नियोग करने वाले पुरुप को उसे अपनी पुत्रवधू समझना चाहिये और स्त्री को उस पुरुप को श्वशुरतुल्य मानना उचित है (९।६२), इन नियमो का पालन न करने वाले पुरुष पुत्रवधूगामी होने के तथा गुरुपत्नीगामी होने के महापापो से पतित होते है (९।६३; मि० नारद स्त्री पुंस ८५, ८६) । इस अवस्था मे उनकी सन्तान जारज समझी जाती थी और उन्हे सम्पत्ति मे हिस्सा नही मिलता था (मनु ९।१४३-४४, गौतम २८।२३) । विधवा या पत्नी सदैव पति, गुरु आदि बडे व्यक्तियो की आज्ञा और अनुमति से ही नियत व्यक्ति से नियोग कर सकती थी।

क्षेत्रज पुत्र पर अधिकार के सम्बन्ध मे शास्त्रकारो ने बहुत विवाद किया है। पुरानी परिभाषा के अनुसार नियोग से सन्तान उत्पन्न करने वाला उत्पादक पिता बीजी (गौ० ४।३) या जनक (आप० २।१३।६) कहलाता था। पुत्र उत्पन्न करने वाली स्त्री को क्षेत्र कहते थे (गौ० १८।११, महाभा० १।१२०

---

८३. बौधा० २।२।२० मृतस्य प्रसूतो यः क्लीवव्याधितयोर्वाऽन्येनानुमते स्वे क्षेत्रे क्षेत्रजः। कौ० ३।७ सगोत्रेणान्यगोत्रेण वा नियुक्तेन क्षेत्रजातः क्षेत्रजः पुत्रः।

२२-२३), इससे उत्पन्न पुत्र क्षेत्रज और उसका पति क्षेत्रिक (मनु० ९।३२, ३३, ५३) कहा जाता था। विवादास्पद प्रश्न यह था कि क्षेत्रज पर किसका स्वत्व है। इस सम्बन्ध मे तीन पक्ष थे (१) उस पर वीजी या उत्पादक का अधिकार है (२) क्षेत्रिक का स्वत्व है (३) उस पर दोनो का स्वामित्व है।

वीजी के अधिकार का वीज ऋ० ७।४।८ मे मिलता है, इसमे कहा गया है कि औरसेतर पुत्र निश्चित रूप से अपने उत्पादक पिता के घर मे लौट आता है (अधा चिदोक' पुनरित्स एति)। यास्क (निरुक्त ३।१) ने पुत्र उत्पादक का ही माना है। आपस्तम्व (२।१३।६) तथा वौधायन (२।२।३८-४१) में उद्धृत तीन पुरानी गाथाये इस मत को पुष्ट करती है, 'इनमे यह कहा गया है कि वीजी ही पुत्र का स्वामी होता है, 'तुम सावधान होकर सन्तानरूपी तन्तु की रक्षा करो, तुम्हारे खेत मे दूसरे पुरुष बीज न बोये, परलोक मे पुत्र उत्पादक का होता है, पति इस सन्तान को निष्प्रयोजन ही अपना वताता है'[८४]। वसिष्ठ (१७।६३-६४) नियोग की आज्ञा पाये विना इसे करने वाली स्त्री के पुत्र पर उत्पादक का अधिकार मानता है। मनु क्षेत्रज पर (९।१९०) वीजी का स्वत्व मानता है। महाभारत के मत में माता तो धौंकनी (भस्त्रा) मात्र है, पुत्र उसी का होता है, जिससे उत्पन्न होता है। कौटिल्य के समय मे भी कुछ आचार्यों का ऐसा मत था [८४क]।

दूसरा पक्ष यह था कि क्षेत्रज क्षेत्रिक अर्थात् नियोग करने वाली स्त्री के पति का है। वसिष्ठ ने एक रोचक उदाहरण से इस पक्ष की पुष्टि की है— "यदि किसी व्यक्ति का साड दूसरे पुरुष की गौओ मे सौ वछडे उत्पन्न करे तो वे गौओ के मालिक के ही होगे, साड के स्वामी की दृष्टि से सांड अपनी शक्ति का व्यर्थ ही व्यय करता है"[८५]। महाभारत ने यह घोषणा की कि वेदो से यह वात निश्चित है कि पाणिग्रहण करने वाले व्यक्ति का ही पुत्र पर स्वत्व होता है (१।१०४।६)। मनु ने इस प्रश्न की वडे विस्तार से मीमासा की है (९।

---

८४. बौधा० २।२।३४१ अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परवीजानि वाप्सुः। जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति ॥

८४.क महाभा० १।९५।३० भस्त्रा माता पितुः पुत्रो येन जातः स एव सः। मि० कौ० ३।६ माता भस्त्रा यस्य रेतस्तस्यापत्यम् इत्यपरे।

८५. वसिष्ठ० १७।९ यद्यन्यो गोषु वृषभो वत्सानां जनयेच्छतम्। गोमिनामेव ते वत्सा मोघं स्यन्दितमार्षभम् ॥ मि० मनु० ९।५०

३४-५६) वस्तुत दोनो पक्षों में इस बात पर तीव्र मतभेद है कि बीज प्रधान है या क्षेत्र। इसमे कोई सदेह नही कि बीज बहुत महत्व रखता है, वही उत्पत्ति का आधार है, जैसा बीज बोया जाता है, वैसा फल मिलता है। किन्तु स्वामित्व के विचार से मनु के मत में क्षेत्र ही प्रधान है। वह इस पक्ष को मुख्य रूप से निम्न उदाहरणो और युक्तियो से पुष्ट करता है (१) 'बाढ और हवा के द्वारा (दूसरे के खेत से) लाया हुआ बीज जिस व्यक्ति के खेत में उगता है, उसके फल पर उस खेत के मालिक का स्वत्व होता है, न कि बीज बोने वाले का[८६]। पत्नी पति का क्षेत्र है, उपर्युक्त न्याय से उसमें उत्पन्न पुत्र पर उसके पति का अधिकार उचित है।(२) जैसे दूसरो की गौ आदि मे अपने साड से उत्पन्न बछडो पर साड के मालिक का अधिकार नही होता, वैसे ही दूसरे की स्त्रियो में उत्पन्न सन्तान पर उत्पादक का स्वत्व नही है[८७]। (३) जिस वस्तु पर किसी का पहले अधिकार हो जाता है, उसके बाद उस पर दूसरे का स्वत्व नहीं हो सकता। जैसे पृथिवी के पहले राजा पृथु हुए, उसके बाद यद्यपि अनेक राजा इसके स्वामी हुए, किन्तु यह अब तक पृथिवी ही कहलाती है। जो जगल के झाड झखाड ठूठादि साफ करता है, (साफ की हुई भूमि) पर उसका स्वत्व माना जाता है। मृग पहले जिसके तीर से मारा जाता है, उसी का समझा जाता है[८८]। इसी प्रकार विवाह द्वारा पत्नी पर जब पति का स्वत्व हो गया तो उसमे उत्पन्न पुत्र उसी का होगा, उत्पादक का नही (४) विवाह एक अविच्छेद्य [illegible] है, पति, पत्नी और पुत्र तीनो मिल कर एक होते है; जो पति है, वही [illegible] है, अत. पत्नी मे उत्पन्न वस्तु पर पति का ही अधिकार है[८९]। इन कारणों [illegible] मनु का मत है—बीजाद्योनिर्गरीयसी (९।५२), वह क्षेत्रज पर क्षेत्रिक

---

८६. मनु ९।५४ ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति। क्षेत्रिकस्यैव [बी]जं न वप्ता लभते फलम् ॥

[८]७. वही ९।४८ यथा गोऽश्वोष्ट्रदासीषु महिष्यजाविकासु च। नोत्पादकः [प्रज]ाभागी तथैवान्यांगनास्वपि ॥

[८]८. वही ९।४४ पृथोरपीमां पृथिवीं भार्यां पूर्वविदो विदुः। स्थाणुच्छेदस्य [केदारमाहु]: शल्यवतो मृगम् ॥

[८९]. वही ९।४५-४६ एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह। विप्राः [प्राहुस्तथा] चैतद्यो भर्त्ता सा स्मृतांगना ॥ न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या [विमुच्यते] ।

का ही अधिकार स्वीकार करता है। उपर्युक्त युक्तियो के अतिरिक्त इस पक्ष को उचित मानने का यह भी कारण है कि यदि क्षेत्रज पर वीजी का स्वत्व माना जाय तो नियोग द्वारा पुत्र प्राप्ति का प्रयोजन पूरा नही हो सकेगा; उसे सार्थक करने के लिये उस पर क्षेत्रिक का अधिकार मानना उचित है।

कुछ शास्त्रकारो ने वीज और क्षेत्र दोनो की समान रूप से महत्ता स्वीकार करते हुए क्षेत्रज पर वीजी और क्षेत्रिक दोनो की प्रभुता मानी है। हारीत के शब्दो मे 'बीज के विना क्षेत्र में फल नही उत्पन्न हो सकता और विना क्षेत्र के वीज नही पैदा होता, इस प्रकार दोनो का (समान महत्व) दिखाई देने से पुत्र दोनो का होता है, ऐसा कई आचार्यों का मत है[९०]। वौधायन (२।२।२१-२३), कौटिल्य (३।७) ऐसा मानते हुए क्षेत्रज के दो पिता और दो गोत्र मानते है, वह दोनो को पिण्ड दान करने वाला तथा उनकी सम्पत्ति का हरण करने वाला होता है[९१]। क्षेत्रिक और बीजी दोनो का पुत्र होने से विज्ञानेश्वर ने उसे द्वयामुष्यायण कहा है (या० २।१२७)। मनु बीजी और क्षेत्रिक दोनो मे इस सम्वन्ध मे पहले समझौता हो जाने की दशा मे इस पर दोनो का स्वत्व मानता है (९।५३)

क्षेत्रज प्रथा का उद्गम—इसके उद्भव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। ब्रह्मपुराण (अपरार्क द्वारा उद्धृत पृ० ७३७) में इस विषय में एक मनोरजक कल्पना की गयी है। क्षत्रिय जाति (अपने दुष्कर्मो के कारण ऋपियो द्वारा) शप्त होने तथा निरन्तर युद्धों मे लगी रहने से जव क्षीण होने लगी, तो वे औरस और पुत्रिकापुत्र के अभाव में क्षेत्रज आदि पुत्र बनाने लगे[९२]।

क्षेत्रज पुत्र का निषेध—इसके विरोध मे सब से पहले आवाज उठाने वाले

---

९०. विर० ५५७ नाबीजं क्षेत्रं फलति नाक्षेत्रं बीजं प्ररोहतीत्युभयदर्शनादुभयोरपत्यमित्येके।

९१. कौ० ३।७ स एव द्विपितृको द्विगोत्रो वा द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति। मि० या० २।१२७ उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः।

९२. राज्ञां तु शापदग्धानां नित्यं क्षयवतां तथा। अथ संग्रामशीलानां न कदाचिद् भवन्ति ते॥ औरसो यदि वा पुत्रस्त्वथवा पुत्रिकासुतः। विद्यते न हि तेषां तु विज्ञेयाः क्षेत्रजादयः॥

आपस्तम्ब (२।१३।५-७) और बौधायन थे[९३]। आपस्तम्ब ने पहले तो इसका इस आधार पर निषेध किया है—क्षेत्रज पर उत्पादक का ही अधिकार है। (उत्पादयितु. पुत्र इति ह ब्राह्मणम् २।१३।५), अत. यह किसी भी पति के लिये बेकार है। इस के बाद वह तीन पुरानी वैदिक गाथाओ से इस मत को पुष्ट करता है कि क्षेत्रज पितृलोक (यमस्य सादने) में उत्पादक का ही होता है, अत. दूसरे के बीज से अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिये। नियोग के पुराने उदाहरणो के सम्बन्ध मे आपस्तम्ब का यह मत था कि पुराने जमाने के लोगो में धर्म का व्यतिक्रम (प्रजापति का पुत्रीगमनादि) और जघन्यकार्य (परशुराम द्वारा मातृवध) देखे जाते है; किन्तु उनमें विशेष तेज होता था, इस कारण वे दोषी नही होते थे, उनके व्यतिक्रम और साहस को देख कर आजकल वैसा कार्य करने वाला दोषी होता है[९४]। आपस्तम्ब ने अन्यत्र (२।१०। २७।४६) नियोग करने वालों को वैवाहिक प्रतिज्ञा भग करने के कारण नरकगामी बताया। बौधायन ने आपस्तम्ब की ही वैदिक गाथाये उद्धृत कर क्षेत्रज का विरोध किया है। मनु नियोग की घोर निन्दा करता है (९।६४-६८)। 'यह पशु धर्म (पापी) राजा वेन के समय से मनुष्यो को कर्त्तव्य रूप में बताया जाने लगा, इससे वर्णसकर की स्थिति उत्पन्न हुई। उस समय से विधवा स्त्री को पुत्र प्राप्ति के लिये नियोग का आदेश देने वाले व्यक्ति की सज्जन पुरुष निन्दा करते है'। नियोग का निन्दक होते हुए भी सभवत समाज मे इसके प्रच-

---

९३. आप० धर्म सूत्र २।१३।६ इदानीमेवाहं जनकः स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा। यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन्॥ रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने। तस्माद् भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः। तीसरी गाथा 'अप्रमत्ता रक्षथ, के दे० ऊ० टि० सं० ८४।

९४. वही २।१३।७-९ दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्। तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते, तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः। कुमारिल भट्ट व्यास के नियोग का समर्थन करते हुए कहता है कि उनका यह पापकार्य इससे पहले तथा बाद में की तपस्या के बल से पाप नहीं रहा, तपस्या का इतना बल रखने वाला व्यक्ति यह कार्य कर सकता है (तन्त्र वार्त्तिक पृ० २०३)। पाण्डु ने कुन्ती को नियोग के लिये प्रेरणा करते हुए संभवतः इसी दृष्टि से उसे उत्कृष्ट तप वाले पुरुष के पास जाने को कहा है—मन्नियोगात्सुकेशान्ते द्विजातेस्तपसाधिकात्। पुत्रान्गुणसमायुक्तानुत्पादयितुमर्हसि (१।१२२।३०-३१)।

लित होने के कारण मनु को इसकी सत्ता स्वीकार करनी पडी, अतएव उसने कठोर प्रतिवन्धो के साथ इसकी अनुमति दी (९।५९-६३)। गुप्त युग मे बृहस्पति ने इसे द्वापर और कलियुग के लिये अशक्य वताया क्योकि इस समय मनुष्यो मे कृतयुग और त्रेतायुग का तप और ज्ञान नही रहा (कुल्लूक की टीका मनु ९।६८)[९५]। शनै शनै. इस प्रथा का हिन्दू समाज से लोप हो गया, कुछ जातियो मे देवर के साथ विधवा की शादी के रूप मे इसका कुछ अवशेष अव तक वचा हुआ है।

क्षेत्रज का दायाधिकार—मनु (९।१४५) याज्ञ० (२।१२९) नारद (विवाद पद २३) क्षेत्रज को औरस के समान दायाद मानते है। वौधायन० कौटिल्य और याज्ञ० के मत मे यह दोनो पिताओ की सम्पत्ति का स्वामी होता है।

कानीन—यह अविवाहित कन्या का पुत्र होता है[९६]। अथर्व वेद (५।५।९) मे इस शब्द का प्रयोग है तथा शुक्ल यजुर्वेद मे (३०।६) कुमारी पुत्र के नाम से सभवत इसका उल्लेख है। इसके प्रसिद्ध उदाहरण व्यास और कर्ण है। कानीन पुत्र पर स्वामित्व के सम्बन्ध मे दो पक्ष थे (१) वसिष्ठ (१७।२२-२५), याज्ञ० (२।१२९), अग्निपुराण (२५६।१६) इस पर नाना का अधिकार मानते थे। वसिष्ठ ने एक प्राचीन वचन उद्धृत कर इस पक्ष का समर्थन किया है—'यदि अविवाहिता पुत्री समान वर्ण वाले पुरुष से पुत्र प्राप्त करती है तो इससे नाना पुत्र वाला माना जाता है, वह पुत्र नाना को पिण्ड देगा तथा उसकी सम्पत्ति का स्वामी होगा[९७]। (२) दूसरा पक्ष विष्णु (१५।१२), मनु (९।१७२), नारद (विर० ५६५) तथा ब्रह्मपुराण (व्यप्र० ४७५) का है, ये कानीन पर उस कन्या के साथ विवाह करने वाले का स्वामित्व स्वीकार करते है[९८]। सोलहवी शती मे मित्रमिश्र ने बडे विस्तार से पहले पक्ष का खण्डन किया (व्यप्र०

---

९५. उक्तो नियोगो मुनिना निषिद्धः स्वयमेव तु। युगक्रमादशक्योऽयं कर्तुमन्यैर्विधानतः॥ तपोज्ञानसमायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः। द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता॥

९६. पाणिनि० ४।१।११६ कन्यायाः कानीन च।

९७. अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः। पुत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम्॥

९८. विष्णु० १५।१२ स च पाणिग्राहस्य। नारद—कानीनश्च सहोढश्च गूढायां यश्च जायते। तेषां वोढा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः स्मृताः॥

४७५-७६), किन्तु पारिजात ने दोनो पक्षो में इस प्रकार समन्वय स्थापित किया है कि नाना के अपुत्र होने पर कानीन उसका पुत्र होता है, और ऐसा न होने पर वह उस कन्या के साथ शादी करने वाले का। यदि दोनो का पुत्र नही होता तो कानीन अपने नाना और पिता दोनों का बेटा बनता है[९९]। बच्चे के पिता से भिन्न किसी व्यक्ति के साथ शादी होने की दशा में बच्चे के हित की दृष्टि से नाना का घर ही सुरक्षित स्थान है। पर ऐसा बहुत कम होता था, प्राय: ऐसी दशा में कानीन के पिता के साथ ही कन्या का विवाह होता है, इस अवस्था में वह उसका स्वामी होता है। सभवत: इस वस्तुस्थिति को दृष्टि में रखते हुए मनु और नारद ने कानीन पर पति का स्वामित्व माना है। पहले यह बताया जा चुका है कि रोमन कानून में परवर्त्ती विवाह द्वारा कानीन पुत्र को वैध स्वीकार किया गया था, मध्यकालीन चर्च तथा योरोप के अनेक देशो में तथा ९२६ के बाद इगलैण्ड मे कानीन पुत्रो को वैध माना जाता है[१००]। इसका धान कारण निर्दोष सन्तान की हितचिन्ता है, यदि पति पत्नी अपने स्खलन फल का उत्तर दायित्व उठाने को तय्यार है तो कानून को उसे जायज मानने आपत्ति नही है।

अधिकाश अवस्थाओ में कानीन के औरस पुत्र होने के कारण शास्त्रकारो ने पुत्रो मे उसे काफी ऊँची स्थिति दी है। हारीत, नारद और देवल इसे तथा वसिष्ठ, शख लिखित, याज्ञ०, नारद, विष्णु, यम और महाभारत स्थान देते है।

· विर० ५६५ में उद्धृत-अथापुत्रो यदि मातामहस्तदा तस्य पुत्रः सहोढश्चासपुत्रश्चेत्तदा वोढु:; उभयोरपुत्रत्वे चोभयोरिति पारिजातः।

· १२३६ ई० में इंगलैण्ड के सरदारो (Barons) तथा चर्च पर प्रबल मतभेद उत्पन्न हुआ। चर्च के मतानुसार यदि कोई शिशु · के बिना उत्पन्न होता है और उसके जन्म के बाद माता पिता लेते है तो वह शिशु वैध माना जाना चाहिये। इंगलैण्ड के सरदार के सामान्य कानून के विरुद्ध समझते थे, उन के मत में गर्भाधान से पहले हो, किन्तु प्रसूति इसके बाद ही होनी चाहिये। १९२६ स पुराने कानून का अन्त कर पश्चात्कालीन विवाह द्वारा वैधता on Per Subsequence Matrimonium) का रोमन कर लिया है (इंसा० सो० सा० ७।५८६)।

गूढज—पति के घर में गुप्त रूप से उत्पन्न होने वाला पुत्र गूढज कहलाता है (वसिष्ठ,१७।२४, याज्ञ० २।१२९, कौ० ३।७, मनु० ८।१७०)। ऋ० २।२९।१ मे इसका अस्पष्ट निर्देश है[१०१], इसमे नैतिक नियम के धारक, सदैव गतिशील (इषिरा.) आदित्यो से प्रार्थना की गयी है कि वे भक्त से पाप को वैसे ही दूर करें, जैसे गुप्त रूप से शिशु प्रसव करने वाली स्त्री उसे दूर रखती है। प्रायः इसे भ्रमवश जारज समझ लिया जाता है, वस्तुतः यह ऐसा पुत्र है, जिसके पितृत्व के सम्बन्ध में सदेह उत्पन्न हो जाय। सम्भवत· पति के घर मे होने पर पत्नी से उत्पन्न होने वाला यह ऐसा पुत्र था,जिसे शुरू मे औरस मान कर उसके जातकर्मादि सब सस्कार कर दिये जाते थे, किन्तु बाद मे किन्ही व्यक्तियों द्वारा उसके सम्बन्ध मे यह सशय पैदा कर दिया जाता था कि यह किसी अन्य पुरुषके समागम का परिणाम है, (मेन-हिन्दू ला पृ० ११६), इस प्रकार उसका पितृत्व गूढ अर्थात् अस्पष्ट हो जाता है। बौधायन के लक्षण और उसकी टीका से इस अर्थ की पुष्टि होती है[१०२]। यह ध्यान रखना चाहिये कि गूढज के उत्पादक मे सदेह मात्र होता था, उसके जारज होने का कोई निश्चित या पुष्ट प्रमाण नही था। केवल सदेह उत्पन्न होने से ही ऐसे पुत्र को औरस से भिन्न माना गया। व्यभिचार प्रमाणित होने पर याज्ञवल्क्य पत्नी के लिये कठोर दण्ड की व्यवस्था करता है (१।७०); किन्तु वह गूढज को बहुत ऊचा (चौथा) स्थान देता है। इससे यह स्पष्ट है कि वह गूढज को जारज नहीं मानता। मनु ९।१४२ मे जारज को रिक्थहर नही मानता, किन्तु गूढज को दायादो मे छठा स्थान देता है। बौधायन, वसिष्ठ, हारीत, शंख, नारद, विष्णु उसे यही स्थान देते है, गौतम और देवल के अनुसार इस का पाचवा और कौटिल्य के मत मे चौथा स्थान है। अत गूढज प्रमाणित व्यभिचार वाला नही, किन्तु सदिग्ध पितृत्व वाला पुत्र है।

सहोढ—यदि किसी गर्भिणी कन्या का विवाह सस्कार किया जाता

---

१०१. धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत्कर्त्त रहसूरिवागः।

१०२. बौधा० २।२।२६ गृहे गूढोत्पन्नोऽन्ते ज्ञातो गूढजः। बौधायन विवरण—गृहेऽतिगुप्तायामपि स्त्रियाममुनोत्पादितोऽयमिति पूर्वमज्ञातः। पश्चात्कालान्तरे येन केनचित् व्यभिचारादिना कारणेनास्यामुत्पादितोऽयं पुत्र इति विज्ञायते तथापि गूढज इत्यभिप्रायः।

है तो इससे उत्पन्न पुत्र सहोढ (अपने साथ लाया हुआ) कहलाता है[१०३]। बौधायन के मतानुसार पति को संस्कार के समय कन्या के गर्भ का ज्ञान हो सकता है और नही भी हो सकता । सहोढ के विभिन्न शास्त्रकारो द्वारा किये लक्षणो मे अन्य व्यक्ति द्वारा गर्भाधान का कोई सकेत नही । पति के लिये शास्त्रीय दृष्टि से कन्या की गर्भस्थिति का ज्ञान होना, या न होना समान रूप से आपत्तिजनक है। यदि उसे इस बात का ज्ञान है तो कन्या के अक्षतयोनि न रहने के कारण उसका विधिपूर्वक विवाह संस्कार नहीं हो सकता, क्योकि पाणिग्रहण केवल अक्षतयोनि का ही होता है (मनु ८।२२६)। यदि पति को गर्भ का ज्ञान नही तो बाद मे इस के अन्य बीज से होने की आपत्ति उठायी जा सकती है। दोनो दशाओ मे सहोढ की स्थिति औरस जैसी नही होती; शास्त्रीय दृष्टि से वह हीन कोटि का पुत्र है । दोनो दशाओ मे वह दत्तक पुत्र की भाति ग्रहण किया जाता है । (मेन-हिन्दू ला पृ० ११७) । सहोढ को प्रायः सभी कानून पद्धतियों में स्वीकार किया जाता है (दे० ऊ० पृ० ४६९) ।

यद्यपि आजकल हिन्दू परिवार मे गूढज और सहोढ को नामतः नही स्वीकार किया जाता, किन्तु प्रिवीकौन्सिल के ऊपर उद्धृत किये गये (पृ० ४६९) निर्णय के तथा भारतीय साक्षी कानून की अनुच्छेद स० ११२ के अनुसार इनकी वैधता की सम्भावना बहुत बढ गयी है ।

कानीन, गूढज, और सहोढ जारज न होते हुए भी निन्दित पुत्र थे, अत एव अधिकाश दशाओ मे औरस होने पर भी उन्हे हीन स्थिति दी गयी। इस सम्बन्ध मे शास्त्रकारो ने घटनासिद्ध (Factum valet) का नियम लागू किया। कानीन पुत्र होना बुरी बात है, किन्तु उसके हो जाने पर निर्दोष शिशु की रक्षा होनी चाहिये। कौमार्य खण्डित करने के अपराध मे शास्त्रकारो ने कठोर दण्ड की व्यवस्था की है (आप० २।२६।२१ मनु ८।३४) कर्ण के उदाहरण से स्पष्ट है कि प्राचीन समाज मे कानीन पुत्र गर्हित समझे जाते थे ; किन्तु ये अवैध नही थे ।

पौनर्भव—पुनर्भू स्त्री से उत्पन्न पुत्र पौनर्भव है । यह औरस है, किन्तु

---

१०३. वसिष्ठ १७।३६ सहोढ सप्तमः। गर्भिणी या संस्क्रियते तस्याः पुत्रः। स पाणिग्राहस्य मि० विष्णु० १५।१५-१७, कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१७३, याज्ञ० २।१३१ । बौधा० २।३।३० या गर्भिणी संस्क्रियते विज्ञाता वाऽविज्ञाता वा तस्यां यो जातः स सहोढः।

हिन्दू समाज में विधवा स्त्री के पुनर्विवाह को अच्छा न समझा जाने से इसे हीन स्थान दिया गया। पौनर्भव पुत्र के सम्बन्ध में विचारणीय प्रश्न यह है कि किस स्त्री को पुनर्भू माना जाय। बौधा० (२।३।२७) नपुसक (क्लीव) या जातिच्युत (पतित) पति को छोड कर अन्य पुरुष से सम्बन्ध करने वाली स्त्री को पुनर्भू मानता है। कात्यायन का भी यही मत है (विर० ५६४)। वसिष्ठ (१७।२०-२१) क्लीब और पतित के अतिरिक्त उन्मत्त पति को छोड कर अथवा विधवा होने पर दूसरे पुरुष से शादी करने वाली को पुनर्भू कहता है। इसके अतिरिक्त वह उस स्त्री को भी पुनर्भू मानता है, जो अपने कौमार (कुमारावस्था के) पति को छोड कर दूसरे पुरुष के साथ रहती है, और फिर उस (पूर्व पति) के कुटुम्ब मे आश्रय ग्रहण करती है [१०४]। विष्णु (१५।८-९) के मतानुसार—'अक्षत योनि कन्या (पूर्व पति के मर जाने पर) यदि पुनर्विवाह करती है अथवा कोई कन्या विवाह सस्कार से पूर्व किसी पुरुष के साथ सहवास रखती है तो वह पुनर्भू कहलाती है'। मनु कहता है जब पति से छोडी गयी स्त्री अथवा विधवा स्त्री अपनी इच्छा से दूसरे पुरुष को अपना पति बनाती है तो वह पुनर्भू होती है (९।१७५)। मनु ने ९।१७६ मे पुनर्भू का एक दूसरा लक्षण भी किया है। यह बड़ा विचित्र जान पडता है। पिता कन्या का विवाह एक पुरुष के साथ निश्चित करता है, कन्या उसे पसन्द नही करती, वह अपने परिणय के लिये दूसरे पुरुष के पास जाती है, उसके साथ उसका विवाह हो जाता है। किन्तु फिर वह कन्या (सम्भवतः अपनी भूल का अनुभव करके) पिता द्वारा पसन्द किये पति के पास आती है (गतप्रत्यागताऽपि वा)। इस अवस्था में यदि वह अक्षतयोनि है तो उसका विवाह सस्कार हो सकता है (९।१७६)[१०५]। यह कहना बहुत कठिन है कि कन्याये जब अपने प्रेमियो के पास जाती थी तो अक्षतयोनि की मर्यादा का कहा तक पालन करती थीं। वसिष्ठ ने यह उचित समझा कि वह इस विषय में अक्षतयोनि की शर्त का उल्लेख न करे। मनु ने इस शर्त का उल्लेख विशेष

---

१०४. वसिष्ठ० १७।२०-२१ या कौमारं भर्तारमुत्सृज्यान्यैः सह चरित्वा तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति सा पुनर्भूर्भवति। या च क्लीबं पतितमुन्मत्तं वा भर्तारमुत्सृज्यान्यं पतिं विन्दते मृते वा सा पुनर्भूर्भवति।

१०५. सा चेदक्षतयोनिः स्याद् गतप्रत्यागताऽपि वा। पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति॥

उद्देश्य से किया है। मनु की यह मान्यता है कि स्त्री का विवाह एक वार ही होता है (सकृत्कन्या प्रदीयते ९।४७) और विवाह कन्याओ का ही होता है (८।२२६); अत उसने अक्षतयोनि होने की अवस्था मे ही पुनर्भू का विवाह सस्कार स्वीकार किया। याज्ञ० क्षता व अक्षता दोनो प्रकार की स्त्रियो को पुनर्भू मानता है, याज्ञ० (१।६७, २।१३०)।

नारद ने पुनर्भू के विषय को अधिक स्पष्ट किया है। वह पुनर्भू के तीन भेद मानता है। (१) एक कन्या का पाणिग्रहण हो चुका है, किन्तु वह अक्षत-योनि है। इस अवस्था में दुवारा विवाह सस्कार होने से वह पुनर्भू कहलाती है। (२) वह कन्या भी पुनर्भू है जिसे माता पिता व गुरु लोग देश धर्म का विचार करके किसी पुरुष को प्रदान करते है, किन्तु वह (व्यभिचार का भाव उत्पन्नहोने पर) अपने को किसी दूसरे पुरुष को सौंपती है (और पुनः अपने पहले पति के पास लौट आती है) (३) वह स्त्री भी पुनर्भू है, जिसे पति के मरने पर तथा देवरो के अभाव मे उस स्त्री के सम्वन्धी किसी समानजातीय सम्वन्धी को प्रदान करते है (ना० स्मृ० १५।४५-४८)।

पुनर्भू के सम्वन्ध में कौटिल्य का लक्षण वडा सरल और स्पष्ट है। वह पुनर्विवाहित स्त्री को पुनर्भू मानता है (३।७)। स्त्रियो द्वारा पुनर्विवाह के वुरा माना जाने से (गौ० २८।३३, मनु० ५।१५७-१६०, ९।६५) पौनर्भव पुत्र को औरस होते हुए भी वडी हीन स्थिति प्रदान की गयी। हारीत ने औरस पुत्र होने के नाते, उसे वारह पुत्रो मे तीसरा स्थान दिया; वसिष्ठ, विष्णु, शख लिखित और यम ने चौथा। अन्य सव शास्त्रकार उसका स्थान काफी नीचे मानते है। याज्ञवल्क्य इसे ६ ठा, नारद ७वां, कौटिल्य और देवल ८वा, वृहस्पति और गौतम ९वा, वौधायन तथा मनु ११वा स्थान तथा व्रह्मपुराण १२वा स्थान देता है। १८५६ के विधवा पुनर्विवाह कानून द्वारा अव पौनर्भव औरस पुत्र के तुल्य हो गया है।

पारशव—यह व्राह्मण का शूद्रा में उत्पन्न हुआ पुत्र होता था (वौधा० २।३।३० , मनु० ९।१७८)। शास्त्रकारो ने व्राह्मणादि के शूद्रा के साथ अनुलोम विवाह की घोर निन्दा की है[१०५]। मनु के मतानुसार व्राह्मण शूद्र

---

१०५. अर्थशास्त्र में शूद्रा में उत्पन्न पुत्र को निषाद या पारशव कहा गया है। जीमूतवाहन (दा० ९।२४-२८) निषाद और पारशव में सूक्ष्म अन्तर वताता है–निषाद अविवाहित शूद्रा की प्रसूति होता है तथा पारशव विवाहिता का।

के साथ (परिणय द्वारा) सन्तानोत्पत्ति करके अपना ब्राह्मणत्व खो देता है (३।१७)। वसिष्ठ (१।२७, १४।५) इस विवाह की निन्दा करता हुआ इसे कुलनाश का कारण बताता है। मनु ने बड़े विस्तार से तथा कठोर शब्दो मे अनुलोम विवाहो की गर्हणा की है (३।४-१९)। शंख आपत्तिकाल मे भी ऐसे विवाह का विरोध करता है, क्योकि इस विवाह से शूद्र पुत्र उत्पन्न होने पर सब सपिण्ड पितर भी शूद्र हो जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट शब्दो मे इस का विरोध किया है (१।५६)। अन्य शास्त्रकारो ने भी इस से मिलती जुलती व्यवस्थाये की है[१०६]। इन विवाहो की घोर निन्दा होने पर भी, ये हिन्दू समाज में प्रचलित थे।

इन विवाहो को हीन दृष्टि से देखे जाने के कारण औरस पुत्र होने पर भी, निषाद या पारशव को बारह पुत्रो में बहुत नीचा स्थान दिया गया है। शख ने इसे ग्यारहवा और बौधायन, वसिष्ठ, कौटिल्य तथा मनु ने बारहवा स्थान दिया है। निषाद के सम्पत्ति के अधिकार को केवल कौटिल्य ने स्वीकृत किया। कौटिल्य ३।६ के अनुसार पारशव को पैतृक सम्पत्ति का तीसरा हिस्सा प्राप्त होता है (मि० वि० १२।३०)। जायसवाल ने यह लिखा है कि कौटिल्य के अनुसार शूद्रा स्त्री का औरस पुत्र गौण पुत्रो के अभाव मे दायाद बनता है (मनु एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० २४३) किन्तु उन्होने इस विषय मे कौटिल्य का कोई स्पष्ट प्रमाण नही प्रस्तुत किया। अन्य शास्त्रकार पारशव को अदायाद मानते है। (१५।३७)

शेष पाच पुत्र दत्तक, क्रीत, कृत्रिम, अपविद्ध और स्वयदत्त पुत्रीकरण (Adoption) के ही अवान्तर भेद है[१०७], गोद लेने के विभिन्न ढगो और परिस्थितियो से इन्हे अलग नाम दिये गये है। दत्तक में लड़के के माता पिता

---

१०६. विष्णु० २६।२५-२६, ४६-७; बौधा० २।१।४१ वृद्धयम ३।१३, यम (वी मि० ७५०) हारीत (वी मि० ७५०, ७५१) उशना (वहीं) भविष्य पुराण (वहीं) ब्रह्मपुराण (वहीं)।

१०७. पुत्रीकरण की इन सब विधियो के प्रेरक हेतु संभवतः लौकिक और धार्मिक प्रयोजन थे। अपुत्र व्यक्ति बीमारी और बुढ़ापे में अपने को असहाय पाता था और अपनी सम्पत्ति दूरवर्त्ती सम्बन्धियो को नहीं देना चाहता था। धार्मिक कारणों में पिण्डदान की चिन्ता थी (मेन-हिन्दू ला पृ० ११५)

स्वय अपने पुत्र को किसी अन्य अपत्यार्थी पुरुष को दान करते है। क्रीत में पुत्र चाहने वाला पुरुष दाम देकर किसी पुरुष से उसका बच्चा खरीदता है और उसे अपना पुत्र बनाता है[१०८] (वसिष्ठ १७।३०-३२)। इसका प्रसिद्ध उदाहरण हरिश्चन्द्र द्वारा अजीगर्त्त से खरीदा जाने वाला शुन शेप है। कृत्रिम मे पुत्राकाक्षी माता पिता किसी मातृपितृहीन सवर्ण पुरुष को उसकी सहमति से अपना पुत्र बनाते है[१०९]। स्वयदत्त मे लडका स्वयमेव अपने को किसी का पुत्र बनने के लिये प्रस्तुत करता है, जैसे शुन.शेप विश्वामित्र का बेटा बना था[११०] (ऐ० ब्रा० ३३।५)। कृत्रिम और स्वयदत्त दोनो मे पुत्र बनने वाले प्राय अनाथ होते है, इन दोनो में केवल इतना ही अन्तर है कि पहले मे पुत्रीकरण का प्रस्ताव पिता की ओर से तथा दूसरे मे लडके की ओर से किया जाता है। अपविद्ध भी पुत्रीकरण का एक रूप है[१११]। माता पिता द्वारा छोड दिया जाने पर अनाथ बच्चा अस्वामिक होता है, इस पर इसे प्राप्त करने वाले का अधिकार होता है।

पुत्रीकरण का प्राचीन काल में अधिक प्रचलन न था, आपस्तम्ब ने पुत्रो के दान और क्रय का बड़े स्पष्ट शब्दो में निषेध किया था (२।६।१३।१२)। वसिष्ठ ने यद्यपि इस मत का खण्डन करते हुए (१५।१ अनु०) दत्तक पुत्र की विधि का कुछ विस्तार से उल्लेख किया, किन्तु समाज में अन्य पुत्रो का अधिक

---

१०८. बौधा० २।३।२६, वसिष्ठ १७।३०, विष्णु० १५।२०-२१, कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१७४, याज्ञवल्क्य २।१३१। शुनः शेप के लिये दे० ऐ० ब्रा० ३३।३ तथा वसिष्ठ १७।३१ हरिश्चन्द्रो ह वै राजा सोऽजीगर्त्तस्य सौयवसेः पुत्रं चिक्राय।

१०९. बौधा० २।२।२५ सदृशं यं सकामं स्वयं कुर्यात्स कृत्रिमः। कौटिल्य ३।७, मनु० ९।१६९।

११०. बौधा० २।२।३२ मातापितृविहीनो यः स्वयमात्मानं दद्यात् स स्वयदत्तः। वसिष्ठ १७।३३-३५ विष्णु० १५।२२-२३, कौटिल्य, ३।७ मनु ९। १७७, या० २।१३१। इसके उदाहरण के लिये दे० शुनः शेप की प्रार्थना ऐ० ब्रा० ३३।५ यथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रताम्।

१११. या० २।१३२ उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत्सुत', बौधा० २।२।२७, वसिष्ठ १७।३७-३८, विष्णु० १५।२४-२६, कौटिल्य ३।७ मनु ९।१७१।

प्रचलन होने से उस ने दत्तक को आठवा स्थान दिया। मनु, गौतम और बौधायन के अतिरिक्त अन्य सब शास्त्रकार उसे वहुत पीछे स्थान देते है। मध्ययुग में नियोग तथा अन्य प्रकार के पुत्रो के निषेध से औरस के अतिरिक्त मुख्यरूप से दत्तक पुत्र का ही रिवाज रह गया। अतः यहां इस का उल्लेख किया जायगा।

दत्तक पुत्र

वर्त्तमान हिन्दू परिवार मे इस का विशेष महत्त्व है। औरस के अतिरिक्त यही एक मात्र वैध पुत्र है। अपरार्क, देवण्ण भट्ट, शौनक, माधवाचार्य, नीलकण्ठ आदि सभी मध्यकालीन शास्त्रकारो ने इस के अतिरिक्त क्षेत्रज आदि अन्य सभी गौण पुत्रो को कलिकाल मे वर्जित ठहराया है[११२]। प्राचीनकाल मे इस का प्रचलन कम होने से इस के सम्बन्ध में वहुत थोड़ी व्यवस्थायें मिलती है, उन की व्याख्या मे निबन्धकारो ने असाधारण बुद्धि कौशल प्रदर्शित किया है और वर्त्तमान न्यायालयो के विद्वान् विचारपतियो ने अपने ऊहापोह द्वारा परस्पर विरोधी निर्णयो से इस विषय को अत्यन्त जटिल बना दिया है[११३]। जहा एक ओर मध्यकालीन शास्त्रकार वसिष्ठ स्त्री द्वारा दत्तक पुत्र ग्रहण करने के एक ही वाक्य की चार प्रकार से व्याख्या करते है (पृ० ५०३), वहां दूसरी ओर प्रिवी कौन्सिल ने इस सवन्ध मे अपने पचास वर्ष पुराने निर्णयो के प्रतिकूल फैसले दिये है। इससे पुत्री करण (Adoption) वर्त्तमान समय मे अत्यन्त जटिल गोरख धन्धा वन गया है, अतएव काणे के शब्दो में यह हिन्दू कानून मे मुकद्दमेबाजी की सब से उर्वर क्षेत्र बना हुआ है (हि ध० भाग २, ख० ३, पृ० ६६५)। यहा केवल दत्तक पुत्र के विकास तथा इसके सम्वन्ध की स्थूल व्यवस्थाओ का निर्देशमात्र किया जायगा।

---

११२. अप० पृ० ७३९ पुत्रप्रतिनिधीनां मध्ये दत्तक एव कलियुगे ग्राह्यः। अत एव कलौ निवर्त्तन्त इत्यनुवृत्तौ शौनकेनोक्तम्—'दत्तौरसेतरेषां तु पुत्रत्वेन परिग्रहः। स्मृच० २८९ एवं च गौणपितृद्वारा धनागमनं कलौ दत्ताख्यं पुत्रं प्रत्येव। परामा० पृ० ५२२। व्यम० पृ० ४७ अत्र दत्तकभिन्ना गौणाः पुत्राः कलौ वर्ज्याः।

११३. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये दे० टैगोर ला व्याख्यानमाला में गोलापचन्द्र सरकार शास्त्री का एडोप्शन द्वितीय संस्करण कलकत्ता १९१६।

वैदिक युग में औरस पुत्र की आकाक्षा की जाती थी। अग्नि से यह कहा जाता था कि दूसरे का पुत्र अपनी सन्तान नही हो सकता, मूर्ख का ही ऐसा पुत्र होता है, दूसरे के पुत्र न तो लेना चाहिये और न उसके लेने की वात मन में लानी चाहिये[११४]। किन्तु औरस पुत्र की प्रधानता होते हुए भी, उस युग में दत्तक पुत्र की सत्ता के कुछ सकेत मिलते हैं। तै० स० (७।१।८।१) में यह वर्णन है कि अत्रि ने और्व को अपना इकलौता वेटा दिया। ऐतरेय ब्राह्मण में विश्वामित्र द्वारा १०१ पुत्र होते हुए भी शुन शेप को देवरात के नाम से अपना सन्तान वनाने का उल्लेख है[११५]।

प्राय सभी धर्मसूत्रो और स्मृतियो मे दत्तक पुत्र का उल्लेख है। आपस्तम्व ही ऐसा सूत्रकार है, जो पुत्र के दान और क्रय का विरोधी होने से (२।१३।१०) इस का कोई वर्णन नही करता। वसिष्ठ अन्य शास्त्रकारो की भाति इसके नामोल्लेख से सन्तुष्ट नही, किन्तु नौ सूत्रो में (१५।१-९)पुत्रीकरण की विविध व्यवस्थाओ का प्रतिपादन करता है। ये सूत्र दत्तक पुत्र की परवर्त्ती विवेचना का मूल आधार हैं। दत्तक पुत्र के दर्जे के सम्वन्ध में सूत्रकारो में मतभेद है। गौतम (२८।३२-३३), वौधा० (२।२।३।३१-३२) मनु (९।१५९, १६०) इसे औरस तथा क्षेत्रज पुत्र के वाद वारह पुत्रो में तीसरा स्थान देते हैं। किन्तु इसका विशद प्रतिपादन करने वाला वसिष्ठ (१७। २६, २८) इसे आठवा स्थान देता है, विष्णु का भी यही मत है (१५।१८)। याज्ञवल्क्य (२।१२८-३२) ने इसे सातवा और कौटिल्य (३।७) तथा नारद (१३।४५-४७) ने नवा स्थान दिया। विभिन्न स्मृतियो में दत्तक पुत्र के दर्जे का यह अन्तर सम्भवत. स्थानीय रीति रिवाजो की विभिन्नता का परिणाम था[११६]। इस सम्वन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नारद स्मृति का टीकाकार असहाय (६०० ई०) और याज्ञवल्क्य स्मृति का भाष्यकर्त्ता

---

११४. ऋ० ७।४।७ न शेवो अग्ने अन्यजातमस्त्यचेतानस्य; ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवाउ।

११५. अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्यांकमाससाद स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्ऋषे पुनर्मे पुत्रं देहीति नेति होवाच विश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति स ह देवरातो वैश्वामित्र आस।

११६. जायसवाल—मनु एण्ड याज्ञवक्य पृ० २५२, सेन—हिन्दू ला, पृ० १९४

विश्वरूप (८०० ई०)अपनी मूल स्मृतियो के विरोध में दत्तक को तीसरा स्थान देते हैं (मेन-हिन्दू ला पृ० १९४)।

मध्यकाल मे दत्तक प्रथा की परिपाटी इतनी प्रवल हुई कि औरस के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के पुत्र निषिद्ध ठहराये गये। ऊपर इस सम्वन्ध में अनेक शास्त्रकारो की व्यवस्था का उल्लेख हो चुका है। उस समय दत्तक पुत्र की प्रथा लोकप्रिय होने के सम्वन्ध में मेन की कल्पना युक्तियुक्त प्रतीत होती है[११७]। उसके मतानुसार इस समय विभिन्न राज्यो में पारस्परिक सग्राम होने तथा इन मे सामन्तो की मृत्यु से बडी जमीदारियो और छोटी रियासतो के उत्तराधिकार का प्रश्न बडा जटिल हो गया। ऐसे सकटपूर्ण समय मे जायदाद को अपने कुल मे सुरक्षित रखने का उपाय दत्तक पुत्र बनाना था, अन्यथा

---

११७. मेन—वहीपृ० १९५। दत्तक प्रथा के प्रसार के अन्य कारण नियोग की प्रथा का न रहना, विधवा पुर्नाविवाह को बुरा समझा जाना तथा विवाह से पूर्व कन्या के अक्षतयोनि होने पर बल देना था। इस के अतिरिक्त, यह प्रथा आर्यों के अन्य जातियों के साथ सम्पर्क में आने का परिणाम भी हो सकती है। (इरावती कर्वे—किनशिप टर्म्ज़ इन दी महाभारत पृ० १३३)। वर्तमान समय में दत्तक प्रथा लगभग सभी आदिम जातियों में पायी जाती है। (सुमनेर केलर एण्ड डेवी-पू० नि० पु० खं० ३ पृ० १९२३-२६)। सुमनेर ने इस पद्धति के व्यापक प्रसार का एक कारण मातृतन्त्र (Matriarchy) बताया है, इस व्यवस्था में पत्नी पति के घर में न रहकर पिता के घरपर ही ही रहती है और वच्चे अपने ननिहाल में पलते और सम्पत्ति का स्वामी होते हैं (दे० ऊ० पृ० ३२८-२९)। इस प्रणाली में अपनी सम्पत्ति पर पुत्रों को अधिकार देने का एक उपाय दत्तक प्रथा है, अपनी वहिन द्वारा औरस पुत्र गोद लेकर व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति अपने वच्चों को दे सकता है। (सुमनेर–वहीं)। यद्यपि दत्तक प्रथा प्राचीन क्रीट व चीन में प्रचलित थी (इंसाइक्लोपीडिया आफ् रिलीजन एण्ड ईथिक्स खण्ड १ पृ० ११४,१०७) किन्तु पुरानी आर्य जातियों में यूनान और रोम के अपवाद को छोड़ कर इसका कहीं प्रसार नहीं था (इंसा० सो० सा० खं० १, पृ० ४६१)। आधुनिक योरोप में सर्वप्रथम नैपोलियन कोड में रोमन आदर्श पर फ्रांस में इसे ग्रहण किया गया और बाद में अन्य योरोपियन देशों में इसका प्रसार हुआ (इंसा० सो० सा० वहीं)।

सामन्त के युद्ध में मरने पर उसकी पत्नी अथवा अन्य उत्तराधिकारियों को जायदाद पर अपना हक साबित करने में काफी परेशानी उठानी पड़ती थी। दत्तक पुत्र बना लेने पर सम्पत्ति निर्विवाद रूप से मृतक के कुल में बनी रहती थी। इस कल्पना की पुष्टि इस बात से भी होती है कि शौनक ने पुत्रीकरण की विधि में राजा को बुलाने तथा मधुपर्क से सम्मानित करने की बात लिखी है[११८]। हिन्दू परिवार में मध्यकाल मे दत्तक पुत्र की प्रथा सर्वमान्य होने पर १७वीं शताब्दी से इस पर स्वतन्त्र निबन्ध लिखे जाने लगे। इन में नन्द पण्डित (१५९५-१६३०) की दत्तक मीमासा और देवण्ण भट्ट की दत्तकचन्द्रिका उल्लेखनीय है। प्रिवी कौन्सिल के निर्णयानुसार आजकल पुत्रीकरण के सम्बन्ध में ये परम प्रमाण हैं, इन दोनो में मत भेद होने पर बगाल और दक्षिण भारत मे पहले ग्रन्थ का तथा मिथिला और बनारस में दूसरे ग्रन्थ का अनुसरण किया जाना चाहिये (१२ मूर इ० ए० ३९७ पृ० ४३७)। इन के अतिरिक्त अत्रि, शौनक, शाकल और कालिका पुराण के वचनो को उद्धृत करते हुए व्यवहार मयूख (१६१०-६० ई०), सस्कारकौस्तुभ आदि ग्रन्थो में भी इस विषय का प्रतिपादन है।

पुत्रीकरण के सम्बन्ध में प्रधान रूप से निम्न प्रश्न विचारणीय है—(१) पुत्रीकरण के प्रयोजन (२) दत्तक पुत्र बनाने का कानूनी अधिकार किन व्यक्तियो को है (३) दत्तक बनने के लिये पुत्र देने का किन व्यक्तियो को अधिकार है। (४) दत्तक कौन हो सकता है? (५) दत्तक पुत्र बनाने की की आवश्यक विधिया (६) दत्तक पुत्र बनने के परिणाम (७) दत्तक पुत्र बनाने के अन्य प्रकार।

पुत्रीकरण के प्रयोजन—इसके प्रयोजन दो प्रकार के है। (१) धार्मिक (२) लौकिक। बालम्भट्टी (या० २।१३५) में मनु, बृह० यम के तथा दत्तक मीमासा (पृ० ३) में अत्रि के नाम से उद्धृत किये गये श्लोको में इसके प्रयोजन भली-भाँति स्पष्ट किये गये है[११९]। यम के मतानुसार अपुत्र व्यक्ति को जिस

११८. दत्तक मीमांसा पृ० ७२ पर उद्धृत —मधुपर्केण संपूज्य राजानं च द्विजान् शुचीन्।

११९. अपुत्रेण सुतः कार्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नतः। पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नाम संकीर्त्तनाय च॥ धर्मकोश व्यवहार काण्ड भाग २ पृ० १३१६, पृ० १३४८, पृ० १३५२ पर क्रमशः मनु, बृहस्पति और यम के वचन दिये गये हैं। इसी ग्रन्थ के पृ० १३५२ पर अत्रि का इससे मिलता हुआ वचन है।

किसी तरह प्रयत्नपूर्वक निम्न प्रयोजनो के लिये पुत्र बनाना चाहिये—(१) पिण्डदान अथवा श्राद्ध करने के लिये (२) जल द्वारा पितरो का तर्पण करने के लिये (३) दाहादि संस्कार के निमित्त (क्रियाहेतोः) (४) वंश का नाम चलाते रहने के लिये। इसमे पहले तीन प्रयोजन धार्मिक है और चौथा लौकिक। अत्रि ने धार्मिक प्रयोजनो का ही वर्णन किया है। प्रिवी कौन्सिल ने अपने एक निर्णय (६० इ० ए० पृ० २४२) मे मनु ९।१०६-७, १३७-३८ के आधार पर पुत्रीकरण का प्रधान प्रयोजन धार्मिक ही माना है।

किन्तु दत्तक प्रथा का प्राचीन इतिहास और वर्त्तमान स्थिति यह सूचित करती है कि इसमे वश रक्षण और धन प्राप्ति के लौकिक प्रयोजन भी महत्व-पूर्ण रहे है। बौधायन गृह्य शेष सूत्र के अनुसार पुत्र को ग्रहण करते हुए कहा जाता है—मै तुझे धर्म और सन्तति के लिये ले रहा हूँ (धर्माय त्वा प्रति-गृह्णामि, सतत्यै त्वा प्रतिगृह्णामि)। आगे यह बताया जायगा कि प्राचीन साहित्य में वशरक्षा की दृष्टि से लडकियो को गोद लेने के अनेक दृष्टान्त मिलते है। मेन ने पजाब के जाटो, सिक्खो तथा तामिल जाति के ऐसे उदाहरण दिये है, जहा वश परम्परा बनाये रखने के लिये दत्तक पुत्र लेने की परिपाटी है (हिन्दू ला पृ० १९७)। शुक्रनीति में कहा गया है कि धनी व्यक्ति को देखकर ही मनुष्य दत्तक पुत्र बनना चाहते है[१२०]। आजकल दत्तक पुत्र लेने वाला भले ही धार्मिक प्रयोजन से यह कार्य करे, किन्तु दत्तक पुत्र बनने वाले तथा उसके माता पिता के मन मे अनायास सम्पत्ति पाने की आकाक्षा ही प्रधान होती है। विधवायें प्रायः अपने पति के भाई, भतीजों से विद्वेष के कारण दतक पुत्र से सम्पत्ति की साझीदारी का समझौता कर आर्थिक दृष्टि से लाभ उठाने के लिये ही कोई लडका गोद लेती है (काणे हि० ध० ३।६६६)। अतः वर्त्तमान युग मे हिन्दू परिवार मे दत्तक पुत्र ग्रहण करने में लौकिक प्रयोजन की प्रधानता प्रतीत होती है।

दत्तक पुत्र बनने के अधिकारी—१६ वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर किसी हिन्दू पुरुष को अथवा उस की ओर से उसकी विधवा को पुत्र गोद लेने का अधिकार है। किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है कि गोद लेते समय उसका कोई पुत्र न हो। दतक मीमासा मे यह बताया गया है कि पुत्र का अर्थ प्रपौत्र

---

१२०. शुक्रनीति २।३१ ते दत्तकत्वमिच्छन्ति दृष्ट्वा यद् धनिकं नरम्।

पर्यन्त सन्तान है[१२१]। सामान्यत. इसके अभाव में दत्तक पुत्र लिया जाता है। किन्तु यदि ऐसी इकलौती औरस सन्तान हो, जो पतित, सन्यासी या हिन्दू धर्म छोड़ चुकी हो, दूसरे को दत्तक बनने के लिये दी जा चुकी हो, जिसका केवल अवैध पुत्र ही हो, तो ऐसे व्यक्ति भी दत्तक पुत्र ग्रहण कर सकते हैं। दत्तक पुत्र की व्यवस्था पिण्डदान और वशरक्षा के लिये है, अत अविवाहित (१२ व० ३२९) और विधुर भी लड़का गोद ले सकते हैं। सन्यासी और नपुसक दत्तक पुत्र नही ले सकते, किन्तु कोढी पुरुष को पुत्रीकरण का अधिकार है।

मध्यकाल में शूद्रो द्वारा दत्तक पुत्र ग्रहण करने के सम्बन्ध में दो पक्ष थे। पहला पक्ष रुद्रधर और वाचस्पति का था[१२२]। ये शूद्र को इस का अनधिकारी मानते थे, क्योकि पुत्रीकरण की विधि में होम आवश्यक था। शूद्र वेदाध्ययन का अधिकारी न होने से इसे नही कर सकता था, अत उसके लिये लडका गोद लेना संभव न था। दूसरा पक्ष कमलाकर, रघुनन्दन, नीलकण्ठ और नन्द पडित का था। ये शूद्र को गोद लेने का अनधिकारी नही मानते थे, क्योकि शूद्र यद्यपि स्वय होम नही कर सकता था, किन्तु ब्राह्मण से करवा सकता था। वर्त्तमान न्यायालयो ने इसी पक्ष को स्वीकार करते हुए शूद्रो द्वारा लडका गोद लेने का अधिकार स्वीकार किया है।

किसी पुरुष के नि सन्तान मर जाने पर उसके लिये पुत्र गोद लेने का अधिकार केवल विधवा को है। इस अधिकार के स्वरूप के सम्बन्ध में शास्त्रकारो में प्रबल मतभेद और चार विभिन्न पक्ष है। इन सब का आधार वसिष्ठ का एक वचन है—'पति की अनुमति के विना न दूसरे को लडका दे और न दूसरे से लडका ले[१२३]। इस वचन की व्याख्या में निबन्धकारो ने

१२१. दमी० पृ० ३, अपुत्रोऽजातपुत्रो मृतपुत्रो वा। 'अपुत्रो मृतपुत्रो वा पुत्रार्थं समुपोष्य च' इति शौनकीयात्'.........अपुत्रेण इति पुत्रपदं पौत्रप्रपौत्रयोरप्युपलक्षकम्।

१२२. निर्णय सिन्धु (पूर्वार्ध पृ० २४९) यत्तु समन्त्रकहोमस्य पुत्रप्रतिग्रहांगत्वात् व्याहृत्यादिमंत्रपाठे च स्त्रीशूद्रयोरनधिकारात् तयोर्दत्तकः पुत्रो न भवत्येवेति शुद्धिविवेके रुद्रधरेणोक्तम्। वाचस्पतिश्चैवमाह। तन्न।...स्त्रियाश्च होमासंभवस्तथापि व्रतादिवद्विप्रद्वारा होमादि कारयेदिति हरिनाथादयः। सम्बन्धतत्वेऽप्येवम्। एवं शूद्रस्यापि। मि० दमी० पृ० १९,२२-२३ व्यम० ११२

१२३. वसिष्ठ १५।५ न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा अन्यत्रानुज्ञानाद्भर्त्तुः।

बहुत अधिक बुद्धि पाटव प्रदर्शित किया है । इन्हे चार बडे पक्षो में बाटा जा सकता है —(१) नन्द पण्डित और मिथिला के वाचस्पति आदि लेखक विधवा को गोद लेने का कोई अधिकार नही मानते । उनकी दो मुख्य युक्तिया है— पहली तो यह कि अत्रि ने कहा है–अपुत्र व्यक्ति द्वारा ही पुत्र का स्थानापन्न (दत्तक पुत्र) बनाना चाहिये (अपुत्रेणैव कर्त्तव्य. पुत्रप्रतिनिधि सदा), यहा अपुत्र पुल्लिग है, अत. पुरुष द्वारा ही लडका गोद लिया जाना चाहिये, स्त्री को यह अधिकार नही है [१२४] । इसकी पुष्टि वसिष्ठ के उक्त वचन द्वारा की गयी है । दूसरी युक्ति यह है कि पुत्रीकरण के लिये होम आवश्यक है, स्त्रिया वेदाध्ययन का अधिकार न होने से इसे नही कर सकती, अत दत्तक पुत्र भी नही ले सकती[१२५]। मिथिला मे आजकल विधवा किसी दशा मे लडका गोद नही ले सकती ।

(२) दूसरा पक्ष बगाल और बनारस मे प्रचलित है । इस मे यह माना जाता है कि वसिष्ठ के उक्त वचन मे बतायी गयी पति की अनुमति पुत्रीकरण के समय प्राप्त करना आवश्यक नही, यह उससे बहुत पहले, पति की जीवित दशा मे भी ली जा सकती है (मुसम्मात तारा मणि बनाम देवनारायण ३ सदर दीवानी ३८७, ५१६) ।

(३) तीसरा पक्ष मद्रास मे प्रचलित है । इसमे विधवा पति की आज्ञा के बिना भी लडका गोद ले सकती है । किन्तु उसके पति के सयुक्त परिवार का सदस्य होने पर उसे अपने श्वशुर की या उस समूचे परिवार के सब शरीको की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है, यदि उसका पति परिवार से पृथक हो चुका था तो उसे अपने श्वशुर से या उसके मृत होने की दशा मे पति के अधिकाश सपिण्डो से अनुज्ञा लेनी चाहिये (१२ म्यूर इडियन एपील्स ३९७, ४३५)

(४) चौथा पक्ष नीलकण्ठ, (व्यवहार मयूख), कमलाकर (निर्णय सिन्धु) और काशीनाथ (धर्मसिन्धु) का है, बम्बई तथा पश्चिमी भारत में प्रचलित है। इसके अनुसार वसिष्ठ का उक्त वचन पति के जीवित रहने की दशा में ही लागू होता है, विधवा के लिये पति की अनुज्ञा आवश्यक नही । यदि पति ने स्पष्ट

---

१२४. दत्तक मीमांसा पृ० ७ अपुत्रेण इति पुंस्त्वश्रवणात् न स्त्रिया अधिकार इति गम्यते ।

१२५. वही पृ० २२-२३ किं च....होमकर्त्तुरेव प्रतिग्रहसिद्धे स्त्रीणां होमानधिकारित्वात् परिग्रहानधिकारः—इति वाचस्पतिः ।

प से निषेध नही किया तो उसकी अनुमति ही समझी जानी चाहिये। दत्तक न्द्रिका ने इसे इस 'न्याय' से पुष्ट किया—'दूसरे के मत का यदि निषेध किया जाय तो उसे अनुमति ही समझा जाना चाहिये [१२६]।

प्राचीन आचार्यों में ही विधवा के पुत्रीकरण के अधिकार के सम्वन्ध में भेद रहा हो, सो वात नही, आजकल विभिन्न हाईकोर्टो तथा प्रिवीकौंसिल परस्पर विरोधी निर्णयो ने इस विषय को वहुत जटिल वना दिया है। उदा- णार्थ वम्वई के उच्च न्यायालय की फुल वैंच ने अपने एक निर्णय (राम जी ० घमऊ ६ व० ४९८) में यह व्यवस्था की थी कि जिस विधवा का पति ` समय सयुक्त परिवार का सदस्य हो, वह अपने पति की, अथवा पति के ी दायादो की सहमति के विना लडका गोद नही ले सकती। इस निर्णय पचास वर्ष वाद प्रिवी कौंसिल ने भीमा वाई व० गुरुनाथ गौड (ला० रि० ० इ० ए० पृ० २५) के मामले का निर्णय करते हुए वम्वई हाई कोर्ट की वस्था अमान्य ठहरायी और सयुक्त परिवार की विधवा को पति की सहमति विना लडका गोद लेने का अधिकार दिया। इसी प्रकार वम्वई हाईकोर्ट ने ८ यह निर्णय किया था कि सयुक्त परिवार की साझेदारी (Coparcenary) दि एक वार भग हो जाय, सम्पत्ति अगले वारिस को पहुँच जाय तो मृत ाशी की विधवा का दत्तक पुत्र ग्रहण करना यद्यपि वैध है, किन्तु सयुक्त म्पत्ति दत्तक पुत्र को नही लौट सकती (इ० ला० रि० १९३७ व० ५०८)। नागपुर (इ० ला० रि० १९४१ ना० ७०७) तथा मद्रास (इ० ला० ० १९४३ म० ३०९) हाईकोर्टों ने उपर्युक्त निर्णय के सर्वथा प्रतिकूल दत्तक को सपत्ति लौटने का तथा उस द्वारा पुनर्विभाग करवाने का अधिकार है। प्रिवी कौन्सिल ने अनन्त व० शकर (४६ व० ला० रि० १) के मामले मे और नागपुर हाईकोर्टों के निर्णयो का समर्थन किया है। इससे यह स्थिति ा हो गयी है कि पुत्र के अभाव मे भाई आदि के पास गयी जायदाद ५० वर्ष ද भी विधवा के दत्तक पुत्र वना लेने से उसे लौट सकती है। इन निर्णयो का यह

१२६. व्यम० पृ० ११३ भर्त्रनुज्ञया तु सधवाया एव दृष्टार्थत्वात्। विधवा- तु तां विनापि पितुस्तदभावे ज्ञातीनामाज्ञया भवति।....अतो विधवाया ्ज्ञां विनाप्यधिकारः। दच० पृ० १८ स्त्रियास्तु जीवति भर्त्तरि तदनुमतौ। धते मृते वा तदनुज्ञां विनापि। यथा वसिष्ठः न स्त्री... भर्तुः। इति। अनुमति प्रतिषेधेऽपि भवति। अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति।

परिणाम हुआ है कि संयुक्त परिवार की सम्पत्ति पाने वाले दायादो को यह खतरा पैदा हो गया है कि उन से यह जायदाद बाद में बनाये दत्तक पुत्र छीन सकते है, अत वे उसे जल्दी वेचना चाहते है, खरीदने वाले भावी विवाद की आशका से उस का पूरा दाम नही देते। अत. जिन संयुक्त परिवारों मे पूर्वमृत समाशियो की विधवाये है, उनकी जायदाद बाजार मे आसानी से बिक नही सकती, बिकती है तो पूरा मूल्य नही मिलता। इस तरह संयुक्त परिवार की सम्पत्ति बरबाद होती है[१२७]।

दत्तक पुत्र को देने के अधिकारी—दत्तक बनाने के लिये दूसरे व्यक्ति को अपना पुत्र देने का अधिकार उस के पिता और माता को है। याज्ञ० ने दोनो द्वारा दत्तक के दिये जाने का उल्लेख किया है। माता, पिता की अनुमति से ही पुत्र को दे सकती थी, यह वसिष्ठ के ऊपर उद्धृत किये वचन (१५।५) से स्पष्ट है। विज्ञानेश्वर पति के विदेशस्थ होने अथवा उस की मृत्यु पर ही पत्नी को पुत्र देने का अधिकार मानता है [१२८]। यह निश्चित है कि पिता को ही पुत्र देने का पूर्ण अधिकार है, वह पत्नी से विना पूछे यह कर सकता है, यद्यपि वह इसमे प्रायः उससे अनुमति ले लेता है (५ सदर दीवानी ३५६ (४१८)। बम्बई हाईकोर्ट के अनुसार हिन्दू पिता धर्मान्तर स्वीकार कर लेने पर भी अपने हिन्दू पुत्र को दूसरे को देने का अधिकार रखता है (शामसिंह ब० शान्ता बाई २५ ब० ५५१)। माता पिता के अतिरिक्त कोई अन्य सम्बन्धी, सौतेली माता, भाई आदि पुत्रीकरण के लिये लडका नही दे सकते। पुनर्विवाह करने पर विधवा को अपने पहले पति के लडके को देने का अधिकार नही रहता।

दत्तक पुत्र कौन बन सकता है?—इस विषय मे शास्त्रकारो ने अनेक प्रतिबन्ध लगाये है, वर्त्तमान न्यायालयो ने उन्हे स्वीकार किया। इस सबन्ध मे मुख्य नियम निम्न है—

---

१२७. यह प्रकरण पाण्डुरंग वामन काणे की हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र खण्ड ३ पृ० ६७०-७४ के आधार पर लिखा गया है। विधवा के पुत्रीकरण के अधिकार के विस्तृत विवेचन के लिये दे० मेन—हिन्दू ला पृ० २०९-२३९

१२८. या० २।१३० दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्। मि० मनु० ९।१६८ माता पिता वा दद्यातां यमद्भिः पुत्रमापदि। वसिष्ठ १५।२ तस्य प्रदानविक्रयत्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः। मिता० या० २।१३० पर—मात्रा भर्त्रनुज्ञया प्रोषिते प्रेते वा भर्त्तरि।

(१) गोद लिया जाने वाला व्यक्ति लडका होना चाहिये—प्राचीन काल लड़कियो को गोद लेने के अनेक दृष्टान्त मिलते है। दशरथ की कन्या शान्ता राजा लोमपाद ने, (वा० रा० १।९) तथा शूर की लडकी पृथा को ने (महाभा० १।१११।२-३) अपनी कन्या वनाया था। इन उदा- के आधार पर दत्तक मीमासा (पृ० ११२-१६) और संस्कार कौस्तुभ (पृ० १८८) यह मानते हैं कि लडकियो को भी गोद लिया जा सकता है। न्तु नीलकण्ठ ने मनु के 'स ज्ञेय कृत्रिम सुत.' (९।१६८) के आधार पर लडका होना ही माना है, वर्तमान न्यायालय इस विषय मे व्यवहार को ही प्रमाण मानते हैं, दत्तक मीमासा को नही[१२९]।

(२) सपिण्डता—शौनक के मतानुसार ब्राह्मणो को सपिण्ड अर्थात् सातवी ी तक के पुरुषो मे से ही दत्तक पुत्र ग्रहण करना चाहिये, इनके अभाव मे असु- ं में से भी इसे लिया जा सकता है, क्षत्रियो मे सजातीय, समान गुरु वा समान गोत्र वालो का पुत्रीकरण हो सकता है[१३०]। दत्तक मीमासा ने (पृ० २४-५४) इसकी व्याख्या करते हुए पुत्र के चुनाव के लिये निम्न क्रम च किया है (१) समान गोत्र सपिण्ड, (२) असमान गोत्र सपिण्ड (नाना ुल के व्यक्ति), (३) सोदक (७वी से १४ वी पीढी तक के व्यक्ति) तथा गोत्र (४) असमानोदक सगोत्र (५) असमानोदक असगोत्र। इनमें के न होने पर अगले वर्ग के सम्वन्धियो में से चुनाव किया जाता है। इनका प्रत्यासत्ति अर्थात् रक्त सम्वन्ध द्वारा समीपता के आधार पर ही निश्चित

१२९. व्यम० पृ० १०८९ दत्तकश्च पुमानेव भवति न कन्या। 'स ज्ञेयः त्रमः सुतः' इति संज्ञातंज्ञिसंवन्धवोधकवाक्यगतेन स इति सर्वनाम्ना पतृकर्तृकप्रीतिजलगुणकापन्निमित्तकदानकर्मीभूतसजातीयपुंस एव। वाई व० अनन्त १३ वं० ६९०। किन्तु कुमाऊँ में रिवाज के आधार लड़की भी गोद ली जाती है (पन्नालाल—कुमाऊँ लोकल कस्टम्ज्) की मातृमूलक खासी जातियो में तथा ट्रावन्कोर के राजकुल में वंश का वनाये रखने के लिये लड़की गोद ली जाती है (गुर्डन-खासी पृ० ८५, -कास्टस् एण्ड ट्राइब्स आफ् सदर्न इंडिया खं० ४ पृ० ८२)।

१३०. दमी० पृ० २४ में उद्धृत-ब्राह्मणाना सपिण्डेषु कर्त्तव्यः पुत्रसंग्रहः। ावे ऽसपिण्डे वा अन्यत्र तु न कारयेत्॥ क्षत्रियायां स्वजातौ वा गुरुगोत्र- प वा।

किया गया है। वसिष्ठ ने इस सिद्धान्त का अपने एक सूत्र में इस प्रकार निर्देश किया है कि पास के सम्बन्धियो को ही दत्तक पुत्र बनाना चाहिये; मिताक्षरा ने इसका अर्थ यह किया हैकि गोद लिया जाने वाला दूर देशवासी और दूर की भाषा बोलने वाला नही होना चाहिये[१३१]। वर्त्तमान न्यायालय इन नियमों को आवश्यक नही समझते और निकटस्थ सम्बन्धियो के रहते हुए भी दूरस्थ व्यक्ति को दत्तक बनाना स्वीकार करते हैं (१० व० ८०, बावा जी बनाम भागीरथी बाई ६ व० हा० को० ७०)।

(३) सवर्णता—शौनक ने कहा है कि दत्तक पुत्र अपनी ही जाति का होना चाहिये, दूसरे वर्ण का नही[१३२]। मेधातिथि का मत इससे भिन्न है, वह मनु के ९।१६८ मे आये सदृश शब्द का अर्थ सजातीय नही, किन्तु गुणो से अनुरूप होना करता है, अत. क्षत्रिय समान गुण होने पर ब्राह्मण का दत्तक पुत्र बन सकता है। विज्ञानेश्वर, कुल्लूक आदि अन्य टीकाकार और नीलकण्ठ इस से सहमत नही, वे सवर्णता की शर्त्त आवश्यक समझते हैं। धर्मसिन्धु सवर्णता के अतिरिक्त एक देश का होना अर्थात् गुर्जर ब्राह्मण के दत्तक पुत्र के लिये भी गुर्जर होने का बन्धन लगाता है। आधुनिक न्यायालय इस हद तक नही जाते, केवल सवर्णता का बन्धन आवश्यक समझते हैं, उपजाति का भेद होने पर भी दत्तक के पिता का वर्ण होने पर उस का पुत्रीकरण वैध मानते हैं (शिवदेव मिश्र ब० रामप्रसाद १९२४, ४६ अला० ६३७, ६४६)।

(४) इकलौता पुत्र होना—प्राचीन स्मृतियो ने ऐसे पुत्र को दत्तक बनाने का निषेध किया। वसिष्ठ, (१५।३-४) और शौनक ने बड़े स्पष्ट शब्दो में यह व्यवस्था की है[१३३] और इस का कारण यह बताया है कि वह (इकलौता पुत्र) पूर्वजो की वंश परम्परा चलाने के लिये होता है। वर्तमान न्याया-

---

१३१. वसिष्ठ १५।६ अदूरबान्धवं बन्धुसंनिकृष्टमेव गृह्णीयात्। मिता० या २।१३० पर—अदूरबान्धवमिति अत्यन्तदेशभाषाविप्रकृष्टस्य प्रतिषेधः।

१३२. दमी० २८ सर्वेषां चैव वर्णानां जातिष्वेव न चान्यतः।

१३३. वसिष्ठ १५।३ न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्। शौनक दमी ५४ नैकपुत्रेण कर्त्तव्यं पुत्रदानं कदाचन। बौधायन गृह्य शेष सूत्र में वसिष्ठ के ही वचन दुहराये गये हैं। रोम में अपने गोत्र के इकलौते बेटे को धार्मिक क्रियाओं (Sacra) के जारी रखने की दृष्टि से गोद नहीं लिया जा सकता था (मेन-हिन्दू ला पृ० २४३)।

लयों ने इसे मीमासा (१।२।३६-२७) के सूत्रों के आधार पर वसिष्ठ के वचन उत्तरार्ध को हेतु नही, किन्तु अर्थवाद माना है; अत अब इकलौता बेटा ी गोद लिया जा सकता है। (२६ इ० ए० पृ० ११३, २४ बं० ३६७)।

विज्ञानेश्वर ने मनु ९।१०६ के आधार पर यह व्यवस्था की थी[१३४] कि ज्येष्ठ पुत्र को नही देना चाहिये, क्योकि वही मुख्य रूप से पुत्र का कार्य करता ै। वर्त्तमान काल मे न्यायालयो ने इस व्यवस्था को आवश्यक नही माना (१ बं० ला० रि० १४४)। उन का प्रधान आधार व्यवहारमयूख द्वारा मिता-रा के मत का खण्डन है (व्यम० पृ० १०८)।

एक पुरुष एक से अधिक परिवारों में दत्तक नही बन सकता[१३४ क]। ` व्यक्तियो के भाई होने पर भी उन्हे एक व्यक्ति को ही पुत्र बनाने का कार नही है (५२ इ० ए० २३१, २४२, २५२)।

(५) गोद लिये जाने वाले पुत्र की आयु के सम्बन्ध में प्राचीन शास्त्र-ों में प्रबल मतभेद है। विभिन्न आचार्यों द्वारा तीन वर्ष की अवस्था वाले ालक से विवाह के बाद सन्तान पैदा करने वाले प्रौढ़ आयु तक के रुप दत्तक पुत्र बनाने योग्य बतलाये गये हैं। दत्तक मीमासा (पृ० ५८) उद्धृत किये गये कालिकापुराण के वचनानुसार इस विषय में निम्न ्न मत है[१३५]—(१) जातकर्म से चूडाकर्म (मुण्डन) तक जिसके सब स्कार अपने उत्पादक पिता के घर पर हुए हो, वह गोद नही लिया जा सकता, डाकर्म तीसरे वर्ष होता है। (२) यदि किसी का चूडाकर्म और इसके बाद सस्कार गोद लेने वाले के घर में हुए है तो वह दत्तक पुत्र बन सकता है। (३) वर्ष के बाद बालक दत्तक पुत्र नही बन सकता (४) पाच वर्ष से अधिक

१३४. मिता० या० २।१३० पर—तथाऽनेक पुत्रसद्भावेऽपि ज्येष्ठो न ः ...ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः (म० ९।१०६) इति। ेव पुत्रकार्यकरणे मुख्यत्वात्।

१३४. क दमी० २५ अपुत्रेणेत्येकत्वश्रवणाच्च न द्वाभ्या त्रिभिर्वा एकः त्रः कर्त्तव्य इति गम्यते।

१३५. (दमी० ५८) आचूडान्तं न पुत्रः स पुत्रतां याति चान्यतः। ः यदि संस्काराः निजगोत्रेण वै कृताः। दत्ताद्यास्तनयास्ते स्युरन्यथा उच्यते। ऊर्ध्वं तु पंचमाद्वर्षान्न दत्ताद्याः सुताः नृप। गृहीत्वा पंचवर्षीयं ष्टिं प्रथमं चरेत्।

आयु वाला पुत्रेष्टि सस्कार द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। दत्तक चन्द्रिका (पृ० ३६) का मत है कि प्रथम तीन वर्णों के व्यक्ति उपनयन सस्कार तक तथा शूद्र विवाह से पहले तक दत्तक बनाया जा सकता है। नीलकण्ठ अपने पिता (शकरभट्ट) के वचन के आधार पर कहता है कि विवाहित होने तथा पुत्र उत्पन्न करने के बाद भी पुरुष को गोद लिया जा सकता है[१३६]।

वर्त्तमान समय में बम्बई के अतिरिक्त सब प्रान्तो में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य वर्णों में दत्तक पुत्र उपनयन से पहले तक और शूद्रो में विवाह से पूर्व तक बनाया जा सकता है (९ अला० २५३, ३२८, ५ पटना ७७७)। बम्बई प्रान्त में मयूख की उपर्युक्त व्यवस्था के कारण आयु का कोई बन्धन नही है, बम्बई हाईकोर्ट के निर्णयानुसार कोई व्यक्ति अपने से बड़ी आयु के पुरुष को दत्तक पुत्र बना सकता है (४८ ब० ३८७, ३८९)। पजाब मे रिवाज के आधार पर आयु का कोई बन्धन नही है। अग्रवाल जैनो मे ३२ वर्ष की आयु तक व्यक्ति दत्तक पुत्र बन सकता है (५२ इ० ए० २३१, २४२)।

दत्तकपुत्र न बनने योग्य संबन्धी—भाजा आदि कुछ सम्बन्धियों को स्मृतिकारो ने तथा वर्त्तमान न्यायालयो ने दत्तक पुत्र बनने के अयोग्य ठहराया है। इन के वर्जन का मूल आधार शौनक की यह व्यवस्था है कि दत्तक पुत्रच्छायावह[१३७] अर्थात् पुत्र के साथ सादृश्य रखने वाला होना चाहिये। कौनसा व्यक्ति ऐसा पुत्र हो सकता है, इस सम्बन्ध में निबन्धकारो तथा वर्त्तमान हाईकोर्टो में तीव्र मतभेद है। दत्तक मीमासा (पृ० १४४) मे नन्दपण्डित ने इसका अर्थ किया है—नियोगादि से उत्पन्न किये जाने पर पुत्र के साथ होने वाला अपना सादृश्य। भाई, सपिण्ड या सगोत्र के पुत्र दत्तक बनाये जा सकते हैं क्योकि नियोग के नियमो के अनुसार भाई, सपिण्ड और सगोत्र

---

१३६. व्यम० पृ० ११४ दत्तकस्तु परिणीत उत्पन्नपुत्रोऽपि च भवतीति तातचरणाः। कालिकापुराण के पिछले नोट में उद्धृत किये वचन इसकी दो तीन प्रतियो में न होने से, नीलकण्ठ के मतानुसार अविश्वसनीय है—इदं तु वचोन न तथा विश्रम्भणीयम्, द्वित्रिकालिकापुराणपुस्तकेष्वदर्शनात्। कृष्णंभट्ट ने इन वचनो को राज्यार्ह पुत्र के लिये ही लागू किया है, दे० निर्णय सिन्धु की कृष्णंभट्टी टीका चौखम्भा प्रेस बनारस पृ० ८८।

१३७. दमी० (कलकत्ता ४४) वस्त्रादिभिरलंकृत्य पुत्रच्छायावहं सुतम्।

ी पत्नी मे नियोग करके अपने जैसी सन्तान पैदा की जा सकती है; किन्तु नियोग माता, नानी, लड़की, वहिन और मौसी के साथ सभव नही, अतः ी सन्तान सगा भाई, मामा, दोहता, भाजा आदि दत्तक नही वनाये जा `[१३८]। दत्तक मीमासा ने ही अन्यत्र (पृ० ८०) शौनक और शाकल के ो के आधार पर दोहते, भाजे और मौसी के लड़के को दत्तक बनाने का षेध किया है[१३९]। द्वैत निर्णय और व्यवहारमयूख इस प्रश्न की विस्तृत ासा के बाद द्विजाति मात्र को दोहते, भाजे और मौसी के लड़के को दत्तक नाने की अनुमति देते है[१४०]।

वर्तमान न्यायालयो ने भी इस विषय मे परस्पर विरोधी निर्णय किये हैं। त्तक मीमासा के उपर्युक्त स्थल का अग्रेजी अनुवाद करने वाले स्टोक ने नियो- शब्द का अर्थ करते हुए नियोग के साथ विवाह का शब्द और जोड़ दिया। इस अनुवाद के आधार पर जजो ने उन सब स्त्रियो की सन्तान दत्तक त्र के लिये अयोग्य ठहरायी, जिनका कुमारी दशा में उससे विवाह संभव ों था। इस प्रकार दोहते, भाजे, मौसी के लड़के के दत्तक होने के निषेध की वस्था मद्रास (११ म० ४८ फु० वैं०) हाई कोर्ट ने स्वीकार की। उक्त पर भाई, चाचा, मामा दत्तक होने योग्य नही माने गये। पर बम्बई ोर्ट ने ऊपर उद्धृत किये गये शौनक शाकल के वचनो मे गिनाये तीन संब ो (दोहता, भाजे और मौसी का लडका) के अतिरिक्त सब संवन्धी क होने योग्य ठहराये '(रामचन्द्र व० गोपाल ३२ वं० ६१९)। इस वम्बई में मामा और वुआ के लड़के भाई, भतीजा दत्तक पुत्र वन सकते । इस व्यवस्था में दोहते के साथ वस्तुत अन्याय हुआ है। डा० जाली ने

१३८. दमी० वही—पुत्रच्छाया पुत्रसादृश्यं तच्च नियोगादिना स्वयमु- ादनयोग्यत्वम्। यथा भ्रातृसपिण्डसगोत्रादिपुत्रस्य।........ततश्च ातृपितृव्यमातुलदौहित्रभागिनेयादीनां निरासः पुत्रसादृश्याभावात्।

१३९. दमी० ८० तथा च शौनकः—दौहित्रो भागिनेयश्च शूद्रैश्च क्रियते ः। ब्राह्मणादि त्रये नास्ति भागिनेयः सुतः क्वचित्॥ तदेतत्स्पष्टमाचष्टे ः। समानगोत्रजाभावे पालयेदन्यगोत्रजम्। दौहित्रं भागिनेयं च ्स्वसृसुतं विना॥

१४०. द्वैतनिर्णय पृ० १०५ तेन ब्राह्मणादिभिरपि दौहित्रभागिनेयौ त्वेन ग्राह्याविति सिद्धम्। व्यम० पृ० १११

दोहते को दत्तक पुत्र के अयोग्य ठहराने की नन्द पण्डित की व्यवस्था का इस आधार पर विरोध किया है कि प्राचीन साहित्य में इस का कोई सकेत नहीं है (हिन्दू ला एण्ड कस्टम पृ० १६३)। मामा, बुआ आदि के लडकों की अपेक्षा दोहता अधिक समीप का तथा प्रिय सबन्धी है। रिवाज के आधार पर कुमाऊं मे दोहता, और भाजा दत्तक बनते हैं। शूद्रों मे इस प्रकार दत्तक के लिये वर्जित सबन्धियो का कोई बन्धन नही है।

पुत्रीकरण की विधियां—वसिष्ठ, बौधायन और शौनक ने पुत्र बनाने की विधि का निर्देश किया है, दत्तक मीमासा और दत्तक चन्द्रिका में इस का विस्तृत वर्णन है। इसका सब से आवश्यक अंग लडका देने और लेने की विधि है। बौधायन के अनुसार पुत्र देने वाले के पास जाकर, उससे कहना चाहिये—'मुझे पुत्र दीजिये, वह उसे कहता है—मै देता हूँ। उस पुत्र को वह यह कहता हुआ ग्रहण करता है कि मै तुझे धर्म के लिये और सन्तान के लिये लेता हूँ [१४१]। इस दान और प्रतिग्रह के बाद दत्तक होम की विधि होती है, अग्नि मे आहुतिया डाली जाती हैं। यह होम बाद मे भी हो सकता है, शूद्र और स्त्रिया इसे दूसरे व्यक्तियो द्वारा करा सकती है। द्विजातिमात्र के लिये दत्त होम आवश्यक विधि है, दत्तक मीमासा के मतानुसार इसके बिना किसी को दत्तक पुत्र नही बनाया जा सकता [१४२]।

शूद्रो में दत्तक होम आवश्यक नही है (७ इं० ए० २४)। पजाब में, तथा जैनो मे भी यह धार्मिक विधि नही होती, उत्तरी लका के मुदालियरो में केवल एक ही विधि अर्थात् दत्तक पुत्र ग्रहण करने वालो द्वारा केसर का पानी पीना ही होता है (मेन-हिन्दू ला पृ० २५३)।

पुत्रीकरण के परिणाम—दत्तक बनने के बाद पुत्र अपने जन्मदाता पिता के परिवार का सदस्य नही रहता, गोद लेने वाले पिता के कुटुम्ब का अग बनता है और उसे नये परिवार में औरस पुत्र के अधिकार प्राप्त हो जाते है। पिछले

---

१४१. धर्मकोश पृ० १३८४ दातुः समीपं गत्वा 'पुत्रं मे देहि' इति भिक्षेत ददामीतर आह। तं पुत्रं प्रतिगृह्णाति—'धर्माय त्वा गृह्णामि संतत्यै त्वा गृह्णामि इति।

१४२. दमी पृ० १६१ दानप्रतिग्रहहोमाद्यन्यतमाभावे तु पुत्रत्वाभाव एवेति। दत्तहोम के विस्तृत वर्णन के लियें दे० बौधायन गृह्य शेष सूत्र २।६। ४-९ काणे हि० ध० ३।६८८-९

से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में मनु ने कहा 'दत्तक अपने उत्पादक पिता के गोत्र और रिक्थ का हरण नहीं करता ति् वह अपने पालक पिता के वशनाम तथा पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी है)। पिण्ड (श्राद्ध में दिया जाने वाला चावल का गोला) गोत्र और का अनुगामी होता है, (अत.) पुत्र देने वाले को (उससे प्राप्त होने ी) स्वधा वन्द हो जाती है[१४२क]।' इसका केवल यही अभिप्राय है कि पुत्र अपने उत्पादक पिता का पिण्डदान नहीं करता, उसकी सम्पत्ति नहीं । आजकल वम्वई हाईकोर्ट के कुछ विद्वान् न्यायाधीशो ने मनु के इस का यह तात्पर्य निकाला है कि दत्तक पुत्र वनने के वाद पालक पिता के मे उस का नया जन्म होता है और उत्पादक पिता के घर में कानूनी तौर उसकी मृत्यु हो जाती है। पुत्र को यदि उत्पादक पिता के परिवार में कोई किसी प्रकार मिलती थी तो दत्तक पुत्र वनते ही यह उसके दायाद को ी (४० व० ४२९, ४९ व० ५२०)। किन्तु मद्रास (२९ म० ४३७) कलकत्ता हाईकोर्टों (१ कल० वी० नो० १२१) ने वम्वई के इस फैसले सही नही माना[१४३]।

दत्तक पुत्र यद्यपि अपने उत्पादक पिता के कुल से पृथक् हो जाता है, प कुछ विषयो मे वह उसी परिवार का सदस्य माना जाता है। उसके ाह मे असपिण्डता और असगोत्रता के नियम का पालन दोनो कुलो की दृष्टि ा जाता है। पालक एव उत्पादक दोनो परिवारो की निषिद्ध पीढियो के दर आने वाली कन्याओ से उसका विवाह सभव नही है। इस दृष्टि नये कुल में आने के वाद भी पुराने कुल में उसकी स्थिति वनी रहती है। धर्मसिन्धु के मत मे दत्तक उत्पादक पिता पुत्र न होने की दशा में उसकी मृत्यु के वाद वह उसका श्राद्ध ा सम्पत्ति ग्रहण कर सकता है[१४४]। उत्पादक पिता की मृत्यु के वाद

१४२. क मनु ९।१४२ गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद् दत्रिमः क्वचित्। ः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥

१४३. इस विषय के विस्तृत विवेचन के लिये दे० मेन—हिन्दू ला पृ० ६-५७ काणे—हि० ध० ३।६९२-९८

१४४. धर्मसिन्धु उत्तरार्ध, पृ० ३७१ दत्तकस्तु जनकपितुः पुत्राद्यभावे पतुः श्राद्धं कुर्याद्धनं च गृह्णीयात्।

उसका सूतक दस दिन का नही किन्तु तीन दिन का ही होता है (दत्तक चन्द्रिका पृ० ६८) । इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि दत्तक पुत्र का मूल कुल से पूर्ण नही, किन्तु आशिक विच्छेद होता है ।

दत्तक पुत्र दूसरे कुल मे जाकर औरस पुत्र की भाति न केवल अपने पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करता है, अपितु चाचा के दायाद न होने पर उस के रिक्थ का भी उत्तराधिकारी बनता है ।

दत्तक पुत्र ग्रहण करने के बाद यदि औरस पुत्र उत्पन्न हो तो बटवारे में दोनो को बराबर हिस्सा नही मिलता , दत्तक पुत्र का हिस्सा औरसपुत्र के भाग से बहुत कम होता है । वसिष्ठ (१५।९) और बौधायन परिशिष्ट दत्तक पुत्र को चतुर्थांश देने का विधान करते है[१४५] । कात्यायन (दायभाग द्वारा उद्धृत पृ० १४८) के अनुसार औरस पुत्र होने पर सवर्ण दत्तक को सम्पत्ति का तीसरा हिस्सा मिलता है[१४६]। मध्यकालीन निबन्धकारो मे इस विषय मे काफी मतभेद है । विज्ञानेश्वर और दत्तक मीमांसा ने वसिष्ठ के चतुर्थाश का अनुमोदन किया है । सरस्वती विलास के मत मे यह कुल सम्पत्ति का नही, किन्तु औरस पुत्र के हिस्से का चौथाई भाग है, इस प्रकार दत्तक को औरस का $\frac{1}{5}$ भाग मिलेगा[१४७], दत्तक चन्द्रिका ने भी इसका समर्थन किया है और साथ ही यह भी कहा है कि शूद्रो में चतुर्थांश का नियम नही लगता, वे सम्पत्ति का बटवारा समान रूप से करते है (दच० पृ० ९८) ।

आजकल बगाल की दायभाग व्यवस्था मे दत्तक एव औरस पुत्र होने पर पहले को सम्पत्ति का एक तिहाई मिलता है (१ कल० ला० ज० ३८८, ४०४) । दक्षिणी भारत और बम्बई में औरस पुत्र के भाग का $\frac{1}{4}$ अर्थात् कुल सम्पत्ति का $\frac{1}{5}$ दत्तक का हिस्सा माना गया है (४९ ब० ६७२)। दत्तक मीमासा का अनुसरण करने वाले प्रदेशो में दत्तक पुत्र को सम्पूर्ण सम्पत्ति का $\frac{1}{4}$ मिलता है (२ ला० ६९) । बम्बई के अतिरिक्त शेष भारत मे शूद्रो के दत्तक तथा औरस को समान अश प्राप्त होते है (७ म० २५३) । बम्बई में शूद्रो में दत्तक पुत्र को

---

१४५. वसिष्ठ १५।९ तस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीत औरसः पुत्र उत्पद्येत चतुर्थभागभागी स्याद्दत्तकः । बौधा० के लिये दे० धर्मकोश २।१३८५

१४६. दा० १४८ उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः स्मृताः ।

१४७. सवि० ३९३ चतुर्थांशो नाम चतुर्थस्य योऽशः समत्वेन परिकल्पते तत्तुल्योंऽशः पंचमांश इत्यर्थः ।

कुल सम्पत्ति का पाचवां हिस्सा ही मिलता है (४९ व० ६७२)। यदि सम्पत्ति अविभाज्य हो तो यह औरस को ही मिलती है (इ० ला० रि० १९३९ व० ३१४)

पुत्रीकरण के अन्य भेद—वर्त्तमान काल मे दत्तक पुत्र के अतिरिक्त हिन्दू परिवार में पुत्र बनाने के निम्न प्रकार प्रचलित है—

(१) **द्व्यामुष्यायण**—इसका शब्दार्थ है दो व्यक्तियो का पुत्र । जब दत्तक पुत्र बनाते हुए यह समझौता (संवित्) कर लिया जाता है कि यह उत्पादक (जनक) तथा पालक दोनो पिताओ का पुत्र समझा जायगा तो यह द्व्यामुष्यायण कहलाता है[१४८]। प्राचीन समय में इस शब्द का प्रयोग क्षेत्रज के लिये किया जाता था (मिता० या० २।१२७)। कात्यायन के अनुसार दत्तक, क्रीत और पुत्रिकापुत्र दो गोत्रो (वंशो) से सवद्ध होने के कारण ऐसा कहलाते थे[१४९]। नन्द पण्डित ने दत्तक मीमासा मे अनित्यवद् और नित्यवद् के नामो से इसके दो भेद वताये है, इन दोनो प्रकारो मे जनक और पालक पिता मे यह समझौता करना आवश्यक है कि यह हम दोनो का पुत्र रहेगा। दोनो का मुख्य अन्तर यह है कि अनित्यवद् मे लडका चूडाकर्म (मुण्डन सस्कार) के वाद विभिन्न गोत्र मे ग्रहण किया जाता है[१५०]। वह दोनो पिताओ का श्राद्ध करने वाला और सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है; किन्तु इसका पुत्र अपने मूल गोत्र में लौट जाता है। ऐसे द्व्यामुष्यायण की परिपाटी अव हिन्दू समाज में लुप्त हो चुकी है (५७ वं० ७४, ७६)। दूसरा प्रकार नित्यवद् है—इसमें जनक और पालक पिता का उस पुत्र को दोनो कुलो का सदस्य मानने का समझौता आवश्यक है। पश्चिमी तट के नम्बूदरी ब्राह्मणो (११ म० १५७, १६८), वम्वई तथा उत्तर प्रदेश के कुछ भागो (१९ व० ४२८, २६ अला० ४७२) में तथा वगाल में (म्यू०

१४८. व्यम० पृ० ११४ अयं च दत्तको द्विविधः केवलो द्व्यामुष्यायणश्च। संविदा विना दत्त आद्यः। आवयोरसाविति संविदा दत्तस्त्वन्यः।

१४९. वहीं पृ० ११५ दत्तकक्रीतपुत्रिकापुत्राः परपरिग्रहेणानार्षेयास्ते द्व्यामुष्यायणा भवन्ति—इति द्व्यामुष्यायणानुपक्रम्य कात्यायनः।

१५०. दमी० १८८ द्विविधा दत्तकादयो नित्यवद् द्व्यामुष्यायणा अनित्यवद् द्व्यामुष्यायणाश्च। तत्र नित्यवद् द्व्यामुष्यायणा नाम ये जनकप्रतिग्रहीतृभ्यामावयोरयं पुत्रः इति संप्रतिपन्नाः। अनित्यवद्द्व्यामुष्यायणास्तु ये चूडान्तैः संस्कारैर्जनकत्वेन संस्कृता उपनयनादिभिश्च प्रतिग्रहीत्रा।

इं० ए० ८५) मे इसका प्रचलन है। यह तथा इसके उत्तराधिकारी दोनों कुलो की सम्पत्ति के अधिकारी बनते हैं।

(२) कृत्रिम—प्राचीन शास्त्रकारो द्वारा निर्दिष्ट इस पुत्र का प्रचलन अब केवल मिथिला (१३ पटना ५५०) और पश्चिमी तट के नम्बूदरी ब्राह्मण मे प्रचलित है (११ मद्रास १५७, १७४, १७६)। कृत्रिम पुत्र बनाने की विधि बहुत सरल है। इसमे शुभ मुहूर्त्त मे स्नानादि के बाद पिता गोद लेने वाले पुत्र को कुछ द्रव्य प्रदान करने के बाद कहता है कि तुम मेरे पुत्र बनो। वह उत्तर देता है—'मैं आपका पुत्र बन गया हूँ।' इसमे दोनो पक्षो की सहमति मात्र आवश्यक है (१ सदर दीवानी ९, ११)। पहले यह बताया जा चुका है कि मिथिला मे विधवा को दत्तक पुत्र ग्रहण करने का अधिकार नही है। किन्तु उसे पति के लिये अथवा अपने लिये कृत्रिम पुत्र बनाने का अधिकार है। कृत्रिम पुत्र के लिये सजातीय होना आवश्यक है, पर आयु का कोई बन्धन नही, कोई भी सम्बन्धी कृत्रिम पुत्र बनाया जा सकता है। अपने पालक पिता द्वारा ग्रहण किया जाने पर वह उसके गोत्र का हो जाता है और उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है। किन्तु यदि विधवा किसी को कृत्रिम पुत्र बनाये तो वह पालक पिता का गोत्र नही ग्रहण कर सकता। कृत्रिम पुत्र के अधिकार अपने उत्पादक कुल मे भी बने रहते हैं, पालक पिता के कुल मे दायाद बनने का अधिकार केवल उसी तक सीमित है, (२५ वी० रि० २५५) । मिथिला मे इसे कर्त्ता पुत्र भी कहते हैं और औरस पुत्र हो जाने पर पैतृक सम्पत्ति मे इसका स्वत्व समाप्त हो जाता है (४ प० १२४)। नम्बूदरियो मे इल्लोम या वश चलाने के लिये कृत्रिम पुत्र ग्रहण किया जाता है ।

(३) इल्लातोम पुत्रीकरण—मद्रास की रेड्डी और कम्मा जातियो मे पारिवारिक सम्पत्ति के प्रबन्ध मे दी जाने वाली सहायता के विचार से जंवाई को पुत्र बनाने की परिपाटी इल्लातोम है। इसकी कोई धार्मिक विधि नही है। औरस या दत्तक पुत्र होते हुए भी जवाई को पुत्र बनाया जा सकता है और उसे श्वशुर से मिलने वाली सम्पत्ति उसकी पृथक् सम्पत्ति समझी जाती है, इस पर उसके पुत्रो को जन्म से कोई स्वत्व नहीं प्राप्त होता (९ म० ११४)।

दत्तक पुत्र सम्बन्धी उपर्युक्त जटिल व्यवस्थाओ को हिन्दू कोड मे सरल और एकरूप बनाने के लिये कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव किये गये थे, इनका अन्तिम अध्याय में उल्लेख होगा।

पन्द्रहवां अध्याय

कन्या के साम्पत्तिक अधिकार

हिन्दू परिवार में कन्या के दायाद होने की तीन अवस्थायें—पहली अवस्था—कन्या का उत्तराधिकारिणी न होना—अभ्रातृमती और कुमारी कन्या का दायाद होना—दूसरी अवस्था—मनु और कन्या के अधिकार—कुमारिकाओं के लिये यौतक की व्यवस्था—मध्ययुग में कन्या के अधिकारों के समर्थक और विरोधी शास्त्रकार—भाइयों द्वारा बहनों को चतुर्थांश देने की दो व्याख्यायें—भारुचि, अपरार्क इसे विवाह के लिये आवश्यक धनमात्र मानते हैं—असहाय विज्ञानेश्वरादि का विरोधी पक्ष—ब्रिटिश युग में कन्या के अधिकार—पैतृक सम्पत्ति पर सीमित स्वत्व—स्त्रीधन पर कन्याओं का अधिकार—तीसरी अवस्था—कन्या को दायाद बनाने के प्रयत्न।

हिन्दू परिवार में कन्या की स्थिति का आठवें अध्याय मे उल्लेख हो चुका है। आज से कई हजार वर्ष पूर्व ऐतरेय ब्राह्मण (३३।१) तथा महाभारत मे कन्या को कष्ट कहा गया था[1]; बीसवी शती में भी इस दशा में विशेष अन्तर नही हुआ। कन्या की इस दयनीय दशा के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों से भी उसके साम्पत्तिक अधिकारो की उपेक्षा हुई है। हिन्दू समाज में विवाह की अनिवार्यता से और छठी शताब्दी ई० पू० से बाल विवाह के प्रचलन से कन्या को पैतृक सम्पत्ति देने की क्रियात्मक आवश्यकता बहुत कम अनुभव हुई, क्योंकि दहेज और स्त्रीधन के रूप में उसे पितृ एवं श्वशुर कुल से पर्याप्त धन मिल जाता था। अत. कन्या के साम्पत्तिक स्वत्वो का

---

१. महाभा० १।१५९।११ आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल, वही १२।२४३।२० दुहिता कृपणं परम्। महाभारत युद्ध का एक बड़ा अपशकुन कुछ स्त्रियों द्वारा चार पांच लड़कियों को जन्म देना था; वही ६।३।७ स्त्रियः काश्चित्प्रजायन्ते चतस्रः पंच कन्यकाः। किन्तु इसके साथ महाभारत में कन्या को लक्ष्मी का निवासस्थान भी कहा गया है—दे० १३।११। १४ नित्यं निवसते लक्ष्मीः कन्यकासु प्रतिष्ठिता। यह विचार आज तक हिन्दू-समाज में प्रचलित है।

विकास बडी मन्थर गति से हुआ ; पुत्रो तथा विधवा के अभाव में पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने का अधिकार उसे काफी सघर्ष के बाद मिला।

हिन्दू कन्या के साम्पत्तिक स्वत्वो के विकास को स्थूल रूप से तीन अवस्थाओ मे बांटा जा सकता है। पहली अवस्था वैदिक युग से ४थी शती ई० पू० तक थी, इसमें कन्या को सामान्य रूप से दायादों में नही गिना जाता था, गौतम, बौधायन और वसिष्ठ ने उस का रिक्थहरो मे उल्लेख नही किया। किन्तु यास्क जैसे कुछ शास्त्रकार विशेप अवस्थाओं मे अविवाहिता और अभ्रातृमती कन्याओ को उत्तराधिकारिणी बनाने के पक्षपाती थे। दूसरी अवस्था ४थी शती ई० पू० से बीसवी शती के पूर्वार्द्ध तक रही, इसमें शनैः शनैः कन्या को दायादो में निश्चित स्थान मिला, याज्ञवल्क्य (लग० १००-३०० ई०) विष्णु (लग० १००-३०० ई०), बृहस्पति (लग० ३००-५०० ई०) ने पुत्रो तथा विधवा के अभाव में उसे दायाद माना; नारद (दाय ५०) ने वश विस्तार की दृष्टि से पुत्र के समान होने से पुत्री को विधवा से भी पहले उत्तराधिकारी माना। मनु (९।११८) तथा याज्ञवल्क्य (२।११४) ने सम्पत्ति मे उन्हे भाइयो के भाग का चौथा हिस्सा देने की व्यवस्था की, बहिनो का विवाह भाइयों का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया (विष्णु १५।३१)। किन्तु मध्ययुग में अनेक शास्त्रकार कन्या के अधिकारों में वृद्धि के समर्थक नही थे। विश्वरूप (लग० ८००-८५० ई०), धारेश्वर (१०००-१०५५ ई०), देवस्वामी (१०००-१०५० ई०) और देवरात—याज्ञवल्क्य विष्णु तथा बृहस्पति के कन्या के दायाद होने के स्पष्ट वचनो को पुत्र बनायी हुई लड़की (पुत्रिका) तक ही सीमित करना चाहते थे[२]। मेधातिथि (९०० ई०) नारायण (११००-१३०० ई०) और कुल्लूक (१२५० ई०) की व्याख्या के अनुसार मनु (९।१३०) ने पुत्र के अभाव मे लड़का बनायी हुई पुत्रिका को दायाद माना था। किन्तु विज्ञानेश्वर ने विधवा के बाद कन्या के रिक्थहर होने का प्रबल समर्थन किया। देवण्णभट्ट (११५०-१२२५ ई०)

---

२. स्मृतिचन्द्रिका २।२९५ एवं सोपपत्तिकीं पत्न्यभावे दुहितृगामितां श्रुवता बृहस्पतिनैव यद् दुहितृगामि धनमिति विधायकं वचनजातं तत्पुत्रिकाविषयमेव न पुनरपुत्रिकादुहितृविषयमिति धारेश्वरदेवस्वामिदेवरातमतं स्मृतितन्त्राभिज्ञत्वाभिमानोन्मादकल्पितं निरस्तं वेदितव्यम्। विश्वरूप के मत के लिये देखिये याज्ञ० स्मृति (२।११४) पर उस की टीका।

आदि ने इसका अनुमोदन किया; पुत्रों तथा विधवा के न होने पर कन्या के पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होने का नियम हिन्दू परिवार में प्रचलित हुआ। तीसरी अवस्था १९४३ ई० से आरम्भ हुई है। इस वर्ष सर्वप्रथम हिन्दू कन्याओ को विना वसीयत वाली पैतृक सम्पत्ति में पुत्रों और विधवा के साथ दायाद वनाने का कानून पेश किया गया, अव तक कन्या पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र के तथा विधवा के अभाव मे पिता की जायदाद पाती थी, उत्तराधिकारियो में उस का पांचवा स्थान था, प्रस्तावित कानून के अनुसार पुत्रों तथा विधवा के होने पर भी वह उनके साथ दायाद वन सकेगी। यह व्यवस्थावाद में हिन्दूकोड में रखी गयी, और २६ मई १९५४ को प्रकाशित वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार के नवीन विधेयक में भी इसे स्थान दिया गया है। इसके पास हो जाने से साम्पत्तिक अधिकारों की दृष्टि से पुत्र और पुत्री में समानता स्थापित हो जायगी। यहां उपर्युक्त तीनो अवस्थाओं का कालक्रमानुसार सक्षिप्त वर्णन किया जायगा।

पहली अवस्था-कन्या का दायाद न होना—वैदिक युग में कन्याओ को भाई होने की दशा में पैतृक सम्पत्ति या रिक्थ में कोई अधिकार नही था। ऋग्वेद में स्पष्ट शव्दो में कहा गया है कि औरस पुत्र अपनी वहिन को पैतृक-सम्पत्ति नही देता[३]।

श्री सर्वाधिकारी के मतानुसार इस व्यवस्था का कारण वैदिक समाज की पितृतन्त्रीय (Patriarchal) व्यवस्था, सघर्षमय जीवन और वीर योद्धाओ के नेतृत्व की आवश्यकता थी, अत. स्त्रियों को सव प्रकार के साम्पत्तिक अधिकार से वंचित किया गया और भाई के रहते

---

३. ऋ० ३।३१।२ न जामये तान्वो रिक्थमारैक्। यास्काचार्य ने निरुक्त (३।६) में वहिन के दायहर न होने का पक्ष रखते हुए इस ऋचा को प्रमाणरूप में उपस्थित किया है और फिर दूसरा पक्ष रखते हुए यह कहा है कि यह ऋचा वस्तुतः ऐसी वहिन के वारे में है, जिसे पुत्र के अभाव में पहले पिता ने अपना पुत्र वना लिया था; किन्तु वाद म उसका औरस पुत्र उत्पन्न हो गया। ऐसा पुत्र अपनी वहिन को हिस्सा नहीं देता; मि० मनु० ९।१३४। कन्या के दायाद होने के सम्वन्ध में यास्क ने एक दूसरा प्रमाण ऋ० ३।३१।१ का भी दिया है, किन्तु इसका अर्थ वहुत विवादास्पद है दे० कापडिया—हिन्दू किनशिप पृ० १९४-९५।

हुए बहिन को रिक्थहर नही माना गया[4]। किन्तु यह कारण सर्वांशतः सत्य नही प्रतीत होता; क्योंकि आगे यह बताया जायगा कि वैदिक युग मे अविवाहिता और अभ्रातृमती कन्याये रिक्थहर होती थी। पितृतन्त्रीय समाज व्यवस्था और संघर्षमय जीवन कन्याओ के अधिकारो का सदैव विरोधी रहे हों, सो बात नही है। मध्यकालीन मुस्लिम समाज पितृतन्त्रीय था, किन्तु उसमे कन्याये पैतृक सम्पत्ति मे अंशहर होती थी[5]। इसका वास्तविक कारण पिण्डदान के लिये पुत्र की महत्ता थी। इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है (दे० ऊ० पृ० २१६), बगाल मे दायादो के निर्धारण की मुख्य कसौटी पिण्डदान है (दे० ऊ० पृ० ३१६-१७)। कन्या के पिण्डदाता न होने से उसे पैतृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारी न समझना स्वाभाविक था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में इसका संकेत मिलता है—"यद्यपि माता-पिता स्त्री और पुरुष सन्तान (पुत्र, पुत्री) को उत्पन्न करते हैं; तथापि उनमें से एक शोभनकर्मों का कर्त्ता होता है, दूसरी (केवल वस्त्र, अलंकार द्वारा) समृद्ध होती है (उसे दायार्ह नही समझा जाता)।" सायण ने अपने भाष्य में इस कारण को भली भांति स्पष्ट किया है[6]। अतः वैदिक युग में दुहिता के सामान्य-रूप से रिक्थहर न होने का कारण पिण्डदान में उस की असमर्थता प्रतीत होती है।

अभ्रातृमती कन्या का दायाद माना जाना—उपर्युक्त कारण की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि भाई के अभाव मे कन्या को ही दायाद माना गया; क्योंकि उस अवस्था मे वह अपने पुत्र द्वारा पिता का पिण्डदान करती थी। यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करने से, वह रिक्थहर मानी जाती

---

४. सर्वाधिकारी—प्रिन्सिपल्ज आफ हिन्दू ला आफ इन हैरिटैन्स पृ० २०९

५. कुरान शरीफ सूरा ४।१२। ह्यूजेस—डिक्शनरी आफ् इस्लाम पृ० ७०-७१

६. ऋ० ३।३१।२ यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्त्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन्। सायणभाष्य—तथापि तयोर्मध्येऽन्यः पुंल्लक्षणः सुकृतोः शोभनस्य पिण्डदानादेः कर्मणः कर्त्ता भवति। अन्यः स्त्रीलक्षण ऋन्धन् वस्त्रालकारादिना ऋध्यमान एव भवति। पिण्डदानादिकर्तृत्वात्पुत्रो दायार्हः, दुहिता तथा नेति न दायार्हा सा तु केवलं परस्मै दीयते मि० निरुक्त ३।६।

। ऋ० १।१२४।७ में कहा गया है कि अभ्रातृका (कन्या) विवाहित होने भी धन प्राप्त करने के लिए अपने पितृकुल की ओर आती है[७]। दुर्गाचार्य व्याख्यानुसार वह कन्या अपने पुत्रो, पौत्रो से पिता के वंश को ही वढ़ाती पति के वश को नही; अतः अभ्रातृका कन्या को पैतृक दाय का अविकारी उचित ही प्रतीत होता है[८]।

कुछ अन्य वैदिक सन्दर्भो से यह प्रतीत होता है कि अभ्रातृमती कन्या अपने पिता का दायाद वनने तथा उसका वश वढाने के कारण यह स्थिति हो गई कि ऐसी कन्याओ के साथ विवाह निन्दनीय समझा जाने लगा। समय पुत्रो की वहुत अधिक महत्ता थी, कोई व्यक्ति अपना पुत्र दूसरे देना पसन्द नही करता था। भाई रहित कन्या के साथ विवाह करने पर पिता का न होकर, नाना का ही समझा जाता था। अतः उस समय करते हुए यह ध्यान रखा जाता था कि अभ्रातृका कन्या के साथ न किया जाय। अथर्ववेद में ऐसी कन्याओ के अविवाहित रहने का ख है[९]। यास्काचार्य ने अभ्रातृका के साथ विवाह के निषेध में एक वचन उद्धृत किया है[१०]।

अभ्रातृमती कन्या को दायाद वनाने का अन्य कारण वैदिकयुग में औरस के प्रति दृष्टिगोचर होने वाला विशेष पक्षपात भी प्रतीत होता है। पुत्र न

७. अभ्रातेव पुंसएति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्। मि० नि० की व्याख्या—अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी सन्तानकर्मणे पिण्डदानाय ।

८. दुर्गाचार्य का भाष्य 'यथा अभ्रातृका कन्या दत्ताऽपि सती पित्रा ऊढापि पुनः 'प्रतीची' पुंसः 'पितृन्' एव पितृवंशमेव 'अभिमुखी एति'। सा हि पितृ-पुत्रैः पौत्रैश्च वर्धयति, न भर्तृ वंशमिति। तस्मादभ्रातृका पैतृकं दायाद्य- ।

९. अथर्व १।१७।१ अमूर्याः यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रा-इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्त्मनः। नि० ३।४ में योषितः के स्थान पर जामयः है।

१०. नि० ३।५ 'नाभ्रात्रीनुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति' इत्यभ्रातृ-उपयमनप्रतिषेधः प्रत्यक्षः पितुश्च पुत्रभावः, मि० मनु० ३।११, गौतम २०, याज्ञ० १।५३; महाभारत १३।४४।१४।

होने पर, आजकल पिता पिण्डदान के लिए दत्तक पुत्र को ग्रहण कर सकता है; परन्तु वैदिककाल में यह माना जाता था कि वास्तविक सन्तान तो औरस पुत्र ही है, अन्य प्रकार के पुत्र उसकी तुलना नही कर सकते। अत्यन्त सुखकर होने पर भी दूसरे के पेट से पैदा होने वाले पुत्र को ग्रहण नही करना चाहिए; उसे मन से भी अपना पुत्र नही मानना चाहिए[११]। वसिष्ठ ने अग्नि से पुत्र की कामना की; अग्नि ने उसे क्रीत, कृत्रिम, दत्तक आदि पुत्र देने चाहे; किन्तु वसिष्ठ ने कहा—हे अग्नि, अन्य व्यक्ति से उत्पन्न किया हुआ अपना पुत्र नही होता, प्रमादी लोग ही उसे अपना मानते है (न शेषोऽग्ने अन्यजात-मस्त्यचेतानस्य ऋ० ७।४।७)। उस समय दत्तक पुत्र ग्रहण करना उन्मत्त लोगों का ही काम माना जाता था। इस अवस्था में पिता के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वह किसी दूसरे के पुत्र को गोद लेकर सम्पत्ति देने की अपेक्षा अपनी औरस कन्या को ही अपना दायाद बनाये।

अविवाहित कन्या का दायाधिकार—अभ्रातृका के अतिरिक्त कुमारी कन्या को भी इस युग मे रिक्थहर माना जाता था। वैदिक युग में कन्याएँ उच्च शिक्षा ग्रहण करती थी और कई अवस्थाओ मे वे अविवाहित रहती हुई, पिता के घर मे बूढी हो जाती थी। इन की स्थिति विवाहिताओ से भिन्न थी, वे पाणिग्रहण के समय पिता से पर्याप्त सम्पत्ति (वहतु) प्राप्त करती थी[१२]। विवाह के बाद पतिगृह मे जाकर वहा भी स्त्रीधन की अधिकारी होती थी। अतः रिक्थहर न होने पर भी वे पैतृक सम्पत्ति मे से अपना कुछ अश ले लेती थी। किन्तु कुमारी कन्याओ को दहेज (वहतु) तथा पति से मिलने वाला धन नही प्राप्त होता था। अत. पिता की सम्पत्ति मे उन द्वारा अपना भाग मागा जाना स्वाभाविक था। एक भक्त इन्द्र से प्रार्थना करता हुआ कहता है—"हे इन्द्र मै आप से सेवनीय धन उसी प्रकार मागता हूँ, जिस प्रकार माता पिता के साथ (पितृगृह मे) रहने वाली, उनके साथ बूढी हो जाने वाली (अमाजू) कन्या घर से अपना हिस्सा मागती है इस प्रकार दिये जाने वाले धन को सर्वजन प्रसिद्ध करो (सब लोगो को इसका ज्ञान हो जाय)[१३]।

---

११. ऋ० ७।४।८ न हि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ। दे० निरुक्त ३।३

१२. ऋ० १०।८५।१३,३८; अथर्व १४।१।१३, १४।२।२१, ३।३१।५

१३. ऋ० २।१७।७ अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम्। कृधि प्रकेतम्...............॥ सायण भाष्य—हे इन्द्र, अमाजूर्यव-

ऐसा प्रतीत होता है कि अविवाहिता कन्या को अपनी सम्पत्ति में जो अधिकार मिला था, उसे कई शास्त्रकार सब कन्याओ को सामान्य रूप में देना चाहते थे। यास्काचार्य ने निरुक्त (३।४ अनु०) मे इस विषय की कुछ विस्तार से चर्चा की है। इस प्रकरण से यह ज्ञात होता है कि उस समय ो के अधिकारो का प्रबल समर्थन करने वाले कुछ शास्त्रकार अवश्य `। श्री अल्तेकर ने निरुक्त के इस प्रकरण को परवर्ती प्रक्षेप माना है[१४]। दुर्गाचार्य आदि सभी पुराने टीकाकारो ने निरुक्त के इस स्थल की ूरी व्याख्या की है, अतः हमें इसे अप्रामाणिक या प्रक्षिप्त मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता।

इस प्रकरण में कन्या के अधिकारो का समर्थन करने वालो ने जो उपस्थित किये है, उनका आशय यह है कि पुत्र और पुत्री दोनो रूप से माता पिता के शरीर का अंश लेकर उत्पन्न होते हैं। जब उनकी ि त्त मे इस प्रकार का अभेद है तो उनके दायाधिकार में क्यो भेद किया ? इस विषय में उन्होंने दो प्रमाण उपस्थित किये है। पहला प्रमाण[१५] सन्तानमात्र (पुत्र और पुत्री दोनो) को अपने शरीर से प्रादुर्भूत और आत्म-

न्जीवं गृह एव जीयन्ती पित्रोः सचा—मातापितृभ्यां सह भवन्ती तयोः शुश्रूषणपरा पतिमलभमाना सती, समानादात्मनः पित्रोश्च साधारणात्सदसो गृहात् गृह उपस्थायैव यथा भागं याचति तथा स्तोताऽहं भगं भजनीयं धनं त्वामिये—त्वां याचे।

१४. पोजीशन आफ् वुमैन इन हिन्दू सिविलिजेशन पृ० २८७

१५. नि० ३।४ अविशेषेण मिथुनाः पुत्रा दायादा इति, तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्—'अंगादगात्संभवति हृदयादधि जायते। आत्मा वै पुत्र नामासि जीव शरदः शतम्॥ इति। इस श्लोक का पूर्वार्ध निम्न ग्रन्थों में मिलता है— शत०ब्रा० १४।९।४।८, साम ब्राह्मण १।५।१६।१७, शांखा०आ० ४।११, बृहदा० उप० ६।४।८, कौषी० ब्रा० उप० २।११, आश्व गृ० १।१५।९ गो० गृ० २।८।२१ पा० गृ० १।१८।२ आप-गृ० ६।१५।१, १२; हि० गृ० २।३।२ मानव गृ० १।१८। ६, महाभा० १।७४।६३ में भी यह पाया जाता है। इस श्लोक के उत्तरार्ध के ` दे० श० ब्रा० १४।९।४।२६, साम० ब्रा० १।१५।१७, शांखा० आ० ४।११, ृह० उप० ६।४।२६, कौषी० ब्रा० उ० २।११, आश्व गृ० १।१५।३, पार० गृ० १।१६।१८ हि० गृ० २।३।२, मानव गृ० १।१७।५ और महाभा० १।७४।६३ न ग्रन्थो में यह थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ मिलता है।

रूप सिद्ध करता है। यह हमारे प्राचीन साहित्य मे बारबार दोहराया गया है। दूसरा प्रमाण मनु के नाम से उपस्थित किया गया है—'सृष्टि के आरम्भ मे स्वयंभू के पुत्र मनु ने कहा था कि (स्त्री और पुरुष) दोनो प्रकार की सन्तानों का, बिना किसी भेद के, धर्मानुसार दाय (का अधिकार) होता है[१६]'। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि यह श्लोक न तो वर्तमान मनुस्मृति में और न किसी दूसरे ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है, किन्तु यास्क द्वारा इस श्लोक को उद्धृत किया जाना यह बात अवश्य सूचित करता है कि वह इसे प्रामाणिक मानता है। इसमे स्पष्ट रूप से पुत्र और पुत्री के दायाधिकार सर्वथा तुल्य माने गये हैं।

किन्तु कन्याओं के दायाधिकार का समर्थन करने वाला यह पक्ष उस समय बहुत प्रबल नही था। इसके विरोध में यास्क ने एक दूसरा पक्ष उपस्थित किया है कि स्त्रिया दायाद नही हो सकती है[१७]; और अन्त में सिद्धान्त पक्ष यह स्थापित किया है कि अभ्रातृमती कन्या ही दायाधिकारिणी होती है।

यह स्पष्ट है कि उस समय कन्या के दायाद होने के समर्थक विरोधियो की अपेक्षा बहुत ही अल्प संख्या मे थे; अतः दायादो में कन्या को बहुत निचला दर्जा दिया गया। बौधा० (१।५।११३-११४) वसिष्ठ (१५।७) और गौतम (२८।२१) तो रिक्थहरो में दुहिता का उल्लेख ही नही करते। आपस्तम्ब ने

---

१६. नि० ३।४—अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ श्री अलतेकर (पोजीशन आफ वुमेन पृ० २८७) ने इसमें मिथुनानां को पुत्राणां का विशेषण न मान कर स्वतन्त्र शब्द माना है और इसका अर्थ 'माता पिताओं के' ऐसा ही किया। उस अवस्था में इस श्लोक का अर्थ यह होगा कि माता पिता के सब पुत्रों में दाय समान रूप से बंटता है, ज्येष्ठ पुत्र को अधिक भाग नहीं मिलता।

१७. लड़कियों को अदायाद मानने के लिये उसने पूर्वपक्ष की ओर से दो प्रमाण दिये हैं —(१) मैत्रा सं० (४।६।४) का 'तस्मात्स्त्रियं जातां' वाला वचन (२) स्त्रियों का दान, विक्रय और परित्याग होते हैं। यास्क दूसरे प्रमाण का यह खण्डन करता है कि शुनःशेपादि पुरुषों में भी विक्रयादि देखे जाते हैं, अतः इस आधार पर वह कन्या को सम्पत्ति के अधिकार से वंचित नहीं करता—निरुक्त ३।४ न दुहितर इत्येके। तस्मात्पुमान् दायादोऽदायादा स्त्रीति विज्ञायते। तस्मात्स्त्रियं जातां परास्यन्ति, न पुमांसमिति च स्त्रीणां दानविक्रयातिसर्गा विद्यन्ते न पुंसः। पुंसोपीत्येके शौनः शेपे दर्शनात्।

इसे दायाद माना है, किन्तु उसका स्थान दायादो मे विल्कुल अन्त मे रखा
। पुत्र के अभाव में प्रत्यासन्न सपिण्ड दायाद होता है; उसके अभाव मे
, आचार्य के अभाव मे शिष्य उसकी सम्पत्ति धर्मकार्य मे लगाए
कन्या उस सम्पत्ति को प्राप्त करे[१८]। इतने दूर के दायादों के वाद
को सम्पत्ति में अधिकार देने और न देने में कोई विशेष अन्तर नही है।
व्यवस्था से प्रति सहस्र में शायद एक आध कन्या ही दायाद वनती होगी।
सर्वाधिकारी आपस्तम्ब के इस विधान को स्त्री विरोधी भावना से ओत-
समझते हैं तथा यहा कन्या का अर्थ सामान्य कन्या नही किन्तु पुत्रिका
हुई कन्या करते हैं। आपस्तम्ब ने औरस के अतिरिक्त अन्य पुत्रों का
नही माना, किन्तु पुत्रिका को लोकमत का प्रवल समर्थन प्राप्त था,
उसे ऐसी कन्या को दायाद वनाना पडा; पर आपस्तम्ब ने उसे ऐसी स्थिति
की, जिसमे उसे अपने पिता की सम्पत्ति प्राप्त होने की कम से कम
थी[१९]। वैदिक युग से सूत्रकारो के युग तक एक महान अन्तर आ
का था। पहले कन्या भ्राता के न होने पर पिता की सम्पत्ति का सर्वप्रथम
होती थी, आपस्तम्ब ने उसे रिक्थहरो मे अन्तिम स्थिति प्रदान की, कन्या
ायादो की श्रेणी मे ऊँचे धरातल से रसातल मे पहुँची।

दूसरी अवस्था

कौटिल्य का कन्या को दायाद वनाना—कन्या को रसातल से उठाने
श्रेय कौटिल्य को है। विधवाओ को अपने दाय सम्वन्धी अधिकारों
लिये यदि याज्ञवल्क्य का आभारी होना चाहिए तो कन्याओ को
का धन्यवाद करना चाहिए। उसके मत मे "अपुत्र मृत
के द्रव्य को सगे तथा इकटठे रहने वाले भाई और कन्यायें
करें, पुत्रो वाले व्यक्ति की सम्पत्ति के अधिकारी धर्म-विवाहो मे उत्पन्न
तथा पुत्रिया वनें[२०]"। यह वडे खेद की वात है कि कौटिल्य की इस व्यवस्था
परवर्त्ती शास्त्रकारों ने वहुत कम अनुसरण किया।

१८. आप० धर्म सूत्र २।१४।२-४ पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः। तद-
आचार्यः। आचार्याभावे अन्तेवासी। हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्।
हृता वा।

१९. सर्वाधिकारी पूर्वोक्त पुस्तक पृ० २११

२०. कौ० ३।५ द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः।
रिक्थं पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा धर्मिष्ठेषु विवाहेषु जाताः॥

मनु और कन्या के अधिकार—मनुस्मृति मे इस सम्बन्ध में अस्पष्ट और परस्पर विरोधी व्यवस्थाये मिलती है। एक ओर मनु ने कन्या के प्रति बड़ा स्नेह प्रदर्शित किया है—"दुहिता परम स्नेह (कृपा) का पात्र है; उसकी बात सदा सह लेनी चाहिए" (४।१८५) "जैसा अपना आत्मा होता है, वैसा ही पुत्र होता है, पुत्री पुत्र तुल्य होती है; उसके रूप मे अपनी आत्मा (अपना स्वरूप) जीवित रहती है; उसके जीवित रहते हुए कोई दूसरा (पैतृक) धन कैसे ले सकता है[२१]"। किन्तु दूसरी ओर ९।१८५ में मनु ने अपुत्र व्यक्ति के मरने पर इससे सर्वथा भिन्न व्यवस्था की है। वहा पिता या भाइयो को ही अपुत्र व्यक्ति का रिक्थहर बताया गया है[२२]। मनु की इस विरोधी व्यवस्था ने टीकाकारो को बहुत परेशान किया है। मनु ९।१३० के शब्दो से यह सूचित होता है कि मनु कन्या को दायाद बनाता है। जीमूतवाहन ने (दा० ११।२।१) मे यही अर्थ लिया है। जायसवाल इस वचन के आधार पर कन्या को दायाधिकारी मानते हैं (मनु एण्ड याज्ञवल्क्य, पृ० २६०-२६१)। किन्तु विश्वरूप (याज्ञ० २।१४०) मेधातिथि, कुल्लूक और सर्वज्ञ नारायण प्रकरण का ध्यान रखते हुए इसका अर्थ पुत्रिका परक ही करते है[२३]।

इस विवादास्पद व्यवस्था को यदि छोड़ दिया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि मनु, गौतम, बौधायन आदि की अपेक्षा कन्याओ के प्रति अधिक उदार था। उसने कन्याओ को कुछ नए अधिकार दिये, सम्पत्ति मे उनका एक भाग निश्चित कर दिया और अगले स्मृतिकारो ने इस व्यवस्था का अनुसरण किया। 'भाई पृथक् रूप से, अपने अपने अशो से, उन हिस्सो का चतुर्थ भाग कन्याओ को दे; जो भाई अपनी बहिन को चौथाई हिस्सा नही देना चाहते, वे पतित होते है[२४]'। याज्ञ० ने भी (२।१२४) में इसकी पुष्टि की है, किन्तु कुछ अधिक स्पष्टता के साथ। उसने यह बताया कि कन्याओ को यह हिस्सा

---

२१. मनु० ४।१८५ दुहिता कृपणं परम्। ९।१३० यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा। तस्यामात्मानि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥

२२. मनु० ९।१८५ पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च॥

२३. मेधातिथि का भाष्य 'पुत्रेषु दुहिता समेति' सामान्यवचनो दुहितृ-शब्दः प्रकरणात्पुत्रिकाविषयो ज्ञेयः।

२४. मनु० ९।११८ स्वेभ्योऽशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्। स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥

० का व्यय पूरा करने के लिए दिया जाता है[२५]। नारद कन्या का
भाइयों के बराबर मानता है। किन्तु इसका उद्देश्य विवाह काल
भरण ही मानता है[२६]। कात्यायन भी मनु और याज्ञ० द्वारा
ा का ही अनुमोदन करता है[२७]। इन वचनों से पिता की
कन्या का अधिकार मान लिया गया, किन्तु आगे यह
कि टीकाकारों में इसकी मात्रा पर तीव्र मतभेद था।
याओं को यौतक मिलना—मनु ने अविवाहिता कन्याओं
की है कि माता का यौतक उन्हे ही मिले[२८]। यौतक की
सुस्पष्ट व्याख्या मनुस्मृति में उपलब्ध नही होती। अगले
जायगा कि यह स्त्रीधन का एक प्रकार है, वीरमित्रोदय
काल में एक आसन पर बैठे हुए वर-वधू को, बन्धु
दोनो को इकट्ठा मिला होने से यौतक कहलाता है। पत्नी
अपनी अविवाहित कन्याओं के लिए सुरक्षित रखती थी।
पिता के न रहने पर तथा भाइयों से विरोध होने
हो जाती हैं। मनु ने प्रथम तो उन्हे भाइयों के भाग
ी व्यवस्था की, किन्तु यह सम्भव था कि कोई भाई
े को तय्यार न हो, अतः मनु ने उनके लिए यौतक
।

मानता था, यह उसकी ९।२११-१२ की व्यवस्था
में यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि दायभाग के
वन जाय या मर जाय तो उसके हिस्से का
इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि

असंस्कृतास्तु संस्कार्या भ्रातृभिः पूर्वसंस्कृतैः।
तुरीयकम्॥
ज्येष्ठायांऽशोऽधिको देयः कनिष्ठायावरः स्मृतः।
। तया॥ वही १६।२७, या तस्य दुहिता
त् हरेद्भागं परतो विभृयात्पतिः।
चतुर्थो भाग इष्यते। दा० ६९ पृष्ठ पर

यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।

सब सहोदर भाई और बहिनें उसके भाग को आपस में समान रूप से विभक्त कर ले[२९]। यहां विवाहित या अविवाहित (अनूढा) कन्याओं का कोई भेद नही रखा गया, सामान्य रूप से दोनो को सम्पत्ति मे समान भाग दिया गया है।

मनु ने कन्या को माता की सम्पत्ति (मातृक रिक्थ) मे भाइयो के साथ हिस्सा दिया है[३०]। इसके अतिरिक्त दोहती (कन्या की कन्या) को मनु ने नाना की सम्पत्ति मे से प्रीतिपूर्वक कुछ देने की व्यवस्था की है[३१]। जब हम यह देखते है कि उस ने पौत्री (लड़के की लड़की) के विषय में ऐसी कोई व्यवस्था नही की तो हमे यह मानना पडता है कि मनु कन्याओ के प्रति विशेष-रूप से उदार था।

मनु की उदारता एक अन्य व्यवस्था से भी सूचित होती है। उसने पौत्र और दौहित्र का भेद बिल्कुल मिटा दिया, उसके मत मे जब लड़के और लड़की मे कोई भेद नही, तो उसकी सन्तान मे अन्तर कैसे हो सकता है? मनु से पहले यह व्यवस्था प्रचलित थी कि पुत्र न होने की दशा मे जिस कन्या के सम्बन्ध मे पिता यह नियत कर लेता था कि यह मेरी पुत्रिका है और इसका पुत्र मेरे वंश का ही माना जायगा तो वह कन्या पुत्रिका या नियत पुत्रिका (Appointed Daughter) कहलाती थी, वह अपने पुत्र द्वारा पिता की सम्पत्ति ग्रहण करती थी। अभ्रातृमती कन्याओ के पिता अपने दामादों से इस प्रकार की शर्त कर लेते थे कि दौहित्र उन का पौत्र ही समझा जायगा। ऋ० ३।३१।१ में इसी प्रथा की ओर सकेत है। बाद में यह प्रथा इतनी प्रचलित हो गई कि इस प्रकार की कोई स्पष्ट शर्त तय न होने पर भी अभ्रातृमती कन्या इस प्रकार के संकल्प (अभिसधि) मात्र से पुत्रिका मानी जाती थी (गौतम धर्मसूत्र २९।१७; वसिष्ठ धर्म सूत्र १५।५)। मनु के मतानुसार संसार में पुत्र

---

२९ मनु० ९।२११-१२ येषां ज्येष्ठः कनिष्ठो वा हीयेतांशप्रदानतः। म्रियेतान्यतरो वापि तस्य भागो न लुप्यते ॥ सोदर्या विभजेरंस्तं समेत्य सहिताः समम्। भ्रातरो ये च संसृष्टा भगिन्यश्च सनाभयः ॥

३०. मनु० ९।१९२ जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः। भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥

३१. वही ९।१९३ यास्तासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः। मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥

और दौहित्र में कोई अन्तर नही है, दौहित्र भी परलोक में नाना का, पौत्र की तरह उद्धार करता है[३२]। इससे पहिले ९।१३१ में मनु अपुत्र पिता के धन का अधिकारी तथा उसे पिण्डदान करने वाला, दौहित्र को ही वना चुका है और ९।१३३ में वह पौत्र और दौहित्र मे भेद न होने के कारण को भी स्पष्ट कर चुका है[३३]। जायसवाल ने मनु एण्ड याज्ञवल्क्य (पृ० २५९) में लिखा है कि मनु ने पौत्र और दौहित्र में अभेद स्थापित कर पुराने नियमो में एक वड़ा परिवर्तन किया और मनु की इस नूतन व्यवस्था का मूल कारण उस का कन्याओं के प्रति स्नेह भाव ही था।

कन्या के अधिकारों के अन्य समर्थक—महाभारत में कन्या को औरस पुत्र के अभाव में अन्य पुत्रो की अपेक्षा अधिक ऊँचा स्थान दिया गया है। वेदव्यास दुहिता को इन से विशिष्ट मानता है[३४]; अभ्रातृका दुहिता को पूरी सम्पत्ति का अधिकारी स्वीकार करता है और उन लोगो का भी उल्लेख करता है जो ऐसी कन्याओ को पूरी सम्पत्ति न देकर आधी सम्पत्ति देने के पक्षपाती थे[३५]। पुत्र के अभाव में नारद न दुहिता को ही दायाद वनाया है[३६]।

कात्यायन ने अनूढ कन्या को पत्नी के अभाव में रिक्थहर माना है। वृहस्पति भी पुत्र के अभाव मे पुत्री को ही दायाद मानता है[३७]।

मध्यकाल में अनूढा और अभ्रातृका का भेद मिटा कर सव कन्याओ को पुत्रो के साथ भाग देने की व्यवस्था शुक्रनीति मे की गई है। 'पिता के जीवित

---

३२. मनु ९।१३९ पौत्रदौहित्रयोर्लोके विशेषो नोपपद्यते। दौहित्रोऽपि ह्यमुत्रैनं संतारयति पौत्रवत्॥

३३. वही ९।१३३ पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः। तयोर्हि मातापितरौ संभूतौ तस्य देहतः॥

३४. महा० १३।८०।११ दुहितान्यत्र जाताद्धि पुत्रादपि विशिष्यते।

३५. वही० १३।८८।२२ अभ्रातृका समग्रार्हा चार्धार्हेत्यपरे विदुः।

३६. नारद० १३।५० पुत्राभावे तु दुहिता तुल्यसंतानकारणात्।

३७. कात्यायन—मिता० २।१३६ तथा स्मृच पृ० २९६ पर उद्धृत पत्नी पत्युर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा। वृहस्पति सा० १६८ पर उद्धृत। भर्त्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता। अगांदंगात्संभवति पुत्रवद्दुहिता नृणाम्। तस्मात्पितृधनं त्वन्यः कथं गृह्णीत मानवः॥

रहते हुए यदि विभाग हो तो पुत्रो तथा पत्नी को एक हिस्सा, कन्याओ को आधा हिस्सा तथा दौहित्र को चौथाई हिस्सा मिले, किन्तु यदि विभाग पिता के मरने पर हो तो पुत्रो और स्त्रियो को एक भाग माता को चतुर्थांश तथा कन्या को अष्टम भाग मिले[३८]'।

कन्या के प्रकरण मे हम देख चुके हैं, देवयानी शुक्र की अत्यन्त लाडली बेटी थी (दे० ऊ० पृ० २५४), सम्भवत शुक्र ने इसी स्नेहातिरेक से अभिभूत होकर ही कन्याओ को यह अधिकार दिया है ; शुक्र नीति बहुत अर्वाचीन[३९] होने पर भी उस प्राचीन परम्परा को अक्षुण्ण रखे हुए है।

श्री अल्तेकर ने यह कल्पना की है कि शायद मुस्लिम कानून के प्रभाव से शुक्रनीति मे कन्याओ को सम्पत्ति मे भाग दिया गया है।[४०] किन्तु ऐसा सम्भव नही प्रतीत होता। हिन्दूशास्त्रकारो ने मध्ययुग मे मुस्लिम आक्रमणो से हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिए जटिल विधि विधानो और मर्यादाओ का सुदृढ प्राचीर बनाया। इस अवस्था में यह असम्भव जान पड़ता है कि उन्होने 'म्लेच्छो' का इस विषय मे अनुकरण किया हो। यदि मुस्लिम कानून हिन्दू शास्त्रकारो को प्रभावित कर रहा था तो वह केवल शुक्रनीति मे ही क्यो दिखाई देता है ?

जीमूतवाहन ने दाय भाग मे (पृ० १५४ मे) तथा वाचस्पति मिश्र ने विवाद चिन्तामणि (पृष्ठ २३९) मे कन्याओ के दायाधिकार के सम्बन्ध में पराशर का एक वचन उद्धृत किया है। 'अपुत्र व्यक्ति की सम्पत्ति को कुमारी कन्या ग्रहण करे और उसके अभाव मे विवाहित कन्या प्राप्त करे[४१]'। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वर्तमान पराशर स्मृति में यह व्यवस्था कही नही पाई जाती। याज्ञ० ने (२।१३५-३६) मे प्रपौत्र पर्यन्त पुरुष सन्तान तथा पत्नी के अभाव मे कन्या को दायाद बनाया है।

---

३८. शुक्रनीति ४।५।२९९-३००। समानभागा वै कार्याः पुत्राः स्वस्य च वै स्त्रियः। स्वभागार्धहराः कन्या दौहित्रस्तु तदर्धभाक्। मृताधिपे तु पुत्राद्या उक्तभागहरा.स्मृताः। मात्रे दद्याच्चतुर्थांशं भगिन्यै मातुरर्धिकम्॥

३९. काणे—हि० ध० खं० १ पृष्ठ ११६।

४०. पोजीशन आफ् वुमैन पृ० २८८

४१. विचि० अपुत्रस्य कुमारी रिक्थं गृह्णीयात् तदभावे चोढा चेति पराशरवचनात्तथैवात्र क्रम इति बालरूपः।

कन्या के दायाधिकार के विरोधी शास्त्रकार—किन्तु वैदिक युग की भांति युग में भी दाय में पुत्री का स्वत्व मानने वालो की सख्या अधिक न थी। के दाय के सम्बन्ध में मनु, पराशर, महाभारत, कात्यायन, याज्ञवल्क्य शास्त्रकारो की व्यवस्थायें इतनी स्पष्ट थी कि उनका निराकरण असम्भव अत. टीकाकारो एव निवन्धकारो को यह तो स्वीकार करना पडा कि पीढी तक पुरुप सन्तान तथा विधवा के अभाव में कन्या सम्पत्ति की होती है। यदि अविवाहिता और विवाहिता, निर्धन और धनी, ी और अपुत्र कन्या में विरासत के लिये मुकावला हो तो विवाहित, निर्धन ती को पहले मौका दिया जाना चाहिए। विज्ञानेश्वर ने इस सम्बन्ध का अधिकार वहुत स्पष्ट शब्दो में प्रतिपादित किया[४२]। उसके वाद (या० २।१३५-३६), देवण्ण भट्ट, चण्डेश्वर, वाचस्पति मिश्र, जीमूत-[४३] रघुनन्दन, मित्रमिश्र आदि ने विज्ञानेश्वर वाली व्यवस्था को ही दोह-। किन्तु अन्य शास्त्रकारो ने कन्या के अधिकार को मर्यादित करना कुछ टीकाकारो ने याज्ञ० के २।१३५ मे आये दुहिता शब्द को पुत्रिका ामित करना चाहा और फिर भाइयो द्वारा दिये जाने वाले चौथे हिस्से के विवाह के व्यय तक मर्यादित करने का यत्न किया।

रू याज्ञवल्क्य स्मृति का सवसे पुराना टीकाकार (लग० नवी शती है, उसने याज्ञवल्क्य द्वारा उत्तराधिकारियो में निर्दिष्ट दुहिता ो सामान्य रूप से कन्यावाची न मानते हुए पुत्रिका वनाई हुई दुहिता समझा[४४] और मनु ९।१३० से इस अर्थ की पुष्टि की। श्रीकर भी

२. मिता० (२।१३५-३६) तत्र चोढानूढासमवायेऽनूढैव गृह्णाति 'तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा' इति विशेषस्मरणात्। तथा प्रतिष्ठिता-समवाये अप्रतिष्ठितैव तदभावे प्रतिष्ठिता। 'स्त्रीधनं दुहितृणा-प्रतिष्ठितानां च' इति गौतमवचनस्य पितृधनेऽपि समानत्वात्।

३. दायभाग ११।२।१-३, अतः पुत्रवती सम्भावित पुत्रा चाधिकारिणी। न विधवात्वदुहितृप्रसूत्वादिना विपर्यस्तपुत्रा पुनरनधिकारिण्येवेति दीक्षित-ीयम्।

. विश्व० (या० २।१३५-३६) दुहिता, सा पुत्रिका एव। स्मृतिचन्द्रिका ५) से ज्ञात होता है कि धारेश्वर और देवरात का भी यही मत था। पृ० ५१७

विश्वरूप के मत का अनुयायी है[४५]। विज्ञानेश्वर ने २।१३५-३६ में दुहिता शब्द को पुत्रिका परक मानने वाले विश्वरूप, श्रीकर आदि टीकाकारो के मत का इस प्रकार खण्डन किया है—"पुत्रिकापुत्र औरस पुत्र के तुल्य माना गया है—और उसके अधिकार की पहले चर्चा की जा चुकी है। अतः यहां दुहिता का अर्थ पुत्रिका नही, किन्तु कन्या करना चाहिए[४६]"।

मनु० (९।११८) व याज्ञ० (२।१२४) ने भाइयों द्वारा अपने भाग का चतुर्थ अंश बहिनो को देने की व्यवस्था की है। कुछ टीकाकारों ने इसकी ऐसी व्याख्या की कि यह धन बहिनों के विवाह के लिए है; अत शादी के बाद पैतृक धन पर उनका कोई अधिकार नही रहता। भारुचि और अपरार्क इस मत को रखने वाले प्रधान टीकाकार है।

भारुचि नवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से पहले का एक प्राचीन टीकाकार है (काणे—हि० ध० १।२६५); उसकी रचना अब उपलब्ध नहीं होती, किन्तु दूसरे ग्रन्थों में उसके उद्धृत अवतरणो से यह सूचित होता है कि कन्याओ के चतुर्थ भाग का विधान वह उनके विवाह के लिए ही समझता था[४७]। अपरार्क भी भारुचि के मत का अनुयायी था, वह कन्या को दायाद नही मानता और इसकी पुष्टि में बौधा० की 'न दाय निरिन्द्रियाणां' वाली श्रुति उपस्थित करता है। किन्तु यह बात उल्लेखनीय है कि विधवा के अधिकार का समर्थन करते समय वह इस श्रुति वचन की यह कह कर उपेक्षा करता है कि यह वचन वहां लागू होता है, जहां पुत्र हो; पुत्रों के अभाव में यह वचन लागू नही होता[४८]।

---

४५. श्रीकर का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। दूसरे ग्रन्थों में उद्धृत वाक्यों से ही उसके विचारों का ज्ञान होता है। वह सम्भवतः मिथिला का रहने वाला था और उसका समय ८००-१०५० ई० के बीच का है (काणे-हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र, प्रथम खण्ड)।

४६. मिता० (२।१३५-३६) न चैतत्पुत्रिकाविषयमिति मन्तव्यम्। "तत्समः पुत्रिकासुत' इति पुत्रिकायास्तत्सुतस्य चौरससमत्वेन पुत्रप्रकरणेऽभिधानात्।

४७. भारुचिस्तु चतुर्भागपदेन विवाहसंस्कारमात्रोपयोगिद्रव्यं विवक्षितम् पराशरमाधवीय, पृ० ५१०-११ में उद्धृत। मि० स० वि० ; ६१-६२

४८. अप० २।१२४ न चायं दायः। ततश्चार्हति स्त्रीत्यनुवृत्तौ यदुक्तं बौधायनेन—'न दायं निरिन्द्रियाणां ता ह्यदायाः स्त्रियो मताः' इति श्रुतिः, तेन सहास्य विरोधः; किन्तु इससे प्रतिकूल मत के लिए दे० अप० पृष्ठ ७४२-४३

रुद्रदेव ने भी इसी मत का समर्थन किया है। 'पिता के मरने के पिता के जीवित रहते हुए कन्या दायाद नही है, जीवित रहते हुए पिता इच्छा से पुत्रियो को जो चाहे दे सकता है। पिता की मृत्यु के पश्चात् हित कन्याओ को विवाह सस्कार के लिए और निर्धन कन्याओ को विवाह के लिए आवश्यक धन दे, कन्यायें चौथे हिस्से की अधिकारिणी ै। चतुर्थांश का प्रतिपादन करने वाले वचनो का अर्थ केवल इतना कि उन्हे सस्कार के लिए तथा जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक चाहिए (सवि० ३६१-३६२)। जीमूतवाहन (दा० ६९-७०) इस व्यवस्था को कन्या का विवाह कराने के लिए आवश्यक है।

'चि आदि के मत को कुछ प्राचीन सूत्रकार उससे पहले स्थापित कर े। वे अविवाहित (अनूढा) और निर्धन (अप्रतिष्ठित) कन्याओ को देने के पक्षपाती थे। प्रतापरुद्रदेव ने विष्णु के दो सूत्रों की ऐसी व्याख्या [४९]। कन्याओ को विवाहोपयोगी द्रव्य देने की व्यवस्था देवल और शख ने थी। देवल के मतानुसार कन्याओ को विवाह के काम मे आने वाला द्रव्य देना चाहिए[५०]। शख भी कन्या के पैतृक द्रव्य में वैवाहिक धन अलकारो का उल्लेख करता है[५१]। पैठीनसि भी इसी का समर्थन करता। अत. भारुचि ने सभवत इन प्राचीन प्रमाणो का अवलम्बन करते हुए भाग को दाय न मान, विवाहोपयोगी धन ही स्वीकार किया था। असहाय, मेधातिथि (९।११८) और विज्ञानेश्वर (२।१२४) जैसे टीकाकारो ने भारुचि आदि के मत का खण्डन किया[५३]। विज्ञानेश्वर

४९. स० वि० ३६१-६२ में उद्धृत विष्णु सूत्र—अनूढानामनिष्ठिता- दातव्यः। मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः अनूढाश्च दुहितरः।

५०. कन्याभ्यश्च पितृद्रव्यं देयं वैवाहिकं वसु। स्मृच० द्वारा पृ० २६९ ० द्वारा पृ० १७५ पर उद्धृत।

५१. विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं च कन्या। स्मृच (पृ० २६९) और विर० (पृ० ४९५) द्वारा उद्धृत।

५२. कन्या वैवाहिकं स्त्रीधन च लभते। व्यवहारार्थ समुच्चय(पृ० १२९) उद्धृत।

५३. मिता० २।१२४—अतोऽसहायमेधातिथिप्रभृतीनां व्याख्यानमेव

तो स्पष्ट रूप से यह कहता है कि असहाय, मेधातिथि आदि की व्यवस्था ठीक जान पड़ती है, भारुचि की नही।

यह बड़े दु:ख की बात है कि इन प्रतिष्ठित टीकाकारो द्वारा समर्थित मत मध्यकाल मे मान्य नही हो सका; पैतृक सम्पत्ति में भाइयो के भाग के चौथे हिस्से पर कन्या का अधिकार स्वीकार नही हुआ।

इसका एक मुख्य कारण यह था कि चतुर्थांश का कोई निश्चित रूप न था और उसे व्यावहारिक रूप देने में अनेक कठिनाइयां थी। मेधातिथि कहता है कि भाई पहले सम्पत्ति का विभाग करे और बाद मे अपने भागों का चतुर्थांश अपनी बहनो को दें। कल्पना कीजिये किसी परिवार में एक

चतुरस्र न भारुचेः। मिताक्षरा के मत का व्यवहार प्रकाश (पृ० ४५६-५७) ने देवल के ऊपर टि० सं० ५० में दिये उद्धरण के आधार पर प्रबल समर्थन किया। देवण्ण भट्ट ने स्मृतिचन्द्रिका में (पृ० २६८) यह कहा था कि कन्याओं को विवाह के लिये ही पैतृक सम्पत्ति में से धन देना चाहिये। मित्रमिश्र ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि यह अर्थ ठीक नहीं, वस्तुतः यहां दो पृथक् विधियां हैं। एक तो यह कि कन्याओं को पैतृक धन देना चाहिये, जो मनुस्मृति के अनुसार चौथा हिस्सा है; दूसरी विधि यह है कि कन्याओं को विवाहोपयोगी द्रव्य देने चाहियें, जैसा शंख का वचन है। पराशर स्मृति की टीका में शंख के इस वचन की विद्यारण्य ने यह व्याख्या की है कि पैतृक सम्पत्ति के बंटवारे के समय धारण किये अलंकार भी कन्या को मिलते हैं। यदि विवाहोपयोगी पितृद्रव्य ही कन्या को दिया जाना माना जाय तो वसुपद पुनरुक्त होगा; अतः यहां दो विधियां मानना ही उचित है, इसलिये हमारे अर्थ का ही आदर करना चाहिये, अर्थात् कन्याओं को पिता की सम्पत्ति का चौथा हिस्सा देना चाहिये, न कि केवल विवाह के लिये उपयोगी सम्पत्ति। (स्मृतिचन्द्रिकाकारस्तु कन्याभ्यश्चेति देवल-वचनानुसारेण संस्कारमात्रोपयोगि द्रव्यदानमेव मन्यते, अत्र वदामः कन्याभ्यः पितृद्रव्यदेयमिति पृथग्विधिः। तच्च मन्वाद्यनुरोधाच्चतुर्थांशरूपमेव। वैवाहिकं वसु च देयमित्यपि पृथग्विधिः।..............यदि तु वैवाहिकं विवाहोपयोगि पितृद्रव्यं कन्याभ्यो देयमित्यर्थः स्याद् वसुपदं पुनरुक्तं स्यादिति पृथग्-विधिद्वयमेवात्र युक्तम्। तस्मादस्मदुक्तमेव व्याख्यानमादर्तुमर्हं न तु विवाहोप-युक्तद्रव्यपरतेत्यवसेयम्, व्य० प्र० ४५६-५७)। मदन पारिजात (पृ० ६५०) और बालंभट्टी (याज्ञ० २।१२४) का भी यही मत है।

और पाच भाई है, इस अवस्था मे पैतृक सम्पत्ति के पांच भाग
भाई अपना एक-एक हिस्सा लेकर इसका ¼ अपनी वहिन को
दशा मे वहिन को भाइयो की अपेक्षा अधिक हिस्सा मिल
। यदि वीस हजार रुपये की सम्पत्ति हो तो वहिन को पाच हजार
त्येक भाई को तीन हजार मिलेगा। भाइयो को वहिन का यह अधिक
मेव वुरा प्रतीत होगा। अव इसके विपरीत उदाहरण लीजिये। एक
पाच वहिने है। इस अवस्था मे वीस हजार की सम्पत्ति में से
पन्द्रह हजार तथा वहिनो को एक एक हजार का हिस्सा मिलेगा।
यह माना जाय कि भाई प्रत्येक वहिन को अपने सम्पत्ति का चौथा
तो चार वहिनो में अपनी सारी सम्पत्ति वाट देने पर वह विल्कुल
जायगा और पाचवी वहिन को हिस्सा देने के लिए उसे ऋण लेना
। दोनो अवस्थाओ में भाई वहिनो के हिस्सो में उनकी सख्या के
पडता रहेगा।

(या० २।१२४) ने इन दोपो का अनुभव करते हुए चतुर्थांश
व्याख्या की कि एक वर्ण की लडकी को उस वर्ण का लडका होने
मिलता, उसका चौथाई हिस्सा दिया जाय। कल्पना कीजिये
परिवार में दो लडके और एक लडकी है। उक्त व्यवस्था के
सम्पत्ति पहले तीन हिस्सो में वाटी जायगी। दो हिस्से दोनों लडकों
जायगे। तीसरे हिस्से का एक चौथाई कन्या को दिया जायगा और
ाई फिर दोनो लडको में वाट दिया जायगा। हम यह देख चुके है
वर्ण के पुत्रो को उनके वर्णानुसार सम्पत्ति में हिस्सा दिया जाता
यदि एक ब्राह्मण की चारो वर्णों की एक-एक पत्नी हो और
एक लडका और एक लडकी उत्पन्न हो तो प्रत्येक वर्ण की लड़की
सवर्ण भाई के हिस्से का चौथा भाग मिलेगा। अव इस उदा-
चारों पुत्रो का भाग ४, ३, २, १ होगा। वहिनो का भी हिस्सा
किया जाय तो सम्पत्ति ८, ६, ४ और २ के योगफल २०
विभक्त की जायगी। ब्राह्मण कन्या को एक हिस्सा पूरा मिलेगा
पुत्र के चार हिस्सो का एक चौथाई) क्षत्रिय कन्या को ¾
) वैश्या को ½ (२ का ¼) तथा शूद्र कन्या को ¼। विज्ञाने-
व्यवस्था इसलिए की थी कि पहिली व्यवस्था मे वहुत भाई होने
को वहुत अधिक हिस्सा मिल जाता और वहुत वहिनें होने पर

भाई निर्धन हो जाते थे[५४]। इस व्यवस्था से ये दोप दूर हो गये। किन्तु फिर भी विज्ञानेश्वर की इस व्याख्या से बटवारा कितना जटिल और व्यवहार में परेशानी उत्पन्न करने वाला हो गया, इसकी सहज ही में कल्पना की जा सकती है। कन्या विवाह के बाद दूसरे कुल मे चली जाती है। मध्य-काल मे यातायात और आवागमन के साधन आजकल की तरह सुलभ नही थे। उस समय दूसरे गांव में गई हुई कन्या का पिता के गाव मे अपनी सम्पत्ति का सम्भालना सर्वथा असम्भव था। साथ ही उस समय कन्याओं का विवाह छोटी आयु मे अनिवार्य रूप से प्रचलित हो जाने से वैदिक काल की अविवाहिता और अमाजू कन्याओ का हिन्दू परिवार में सर्वथा लोप हो गया था। इन सब कारणो से यह समझा जाने लगा कि कन्या के लिए पैतृक द्रव्य का मुख्य उद्देश्य विवाह करना है।

बहिन का विवाह—भाइयों का आवश्यक कर्त्तव्य—प्राचीन काल में पिता के अभाव मे भाइयो का यह कर्त्तव्य माना जाता था कि वे अपनी बहिनो का विवाह करें। विष्णु (१५।३१) ने स्पष्ट शब्दो में इसका विधान किया था[५५]। व्यास ने इसका समर्थन करते हुए कहा—ज्येष्ठ भाई पैतृक धन से अविवाहिता कन्याओ का विवाह करे[५६]। कई बार ऐसी स्थिति भी हो सकती थी कि कन्याएँ विवाह योग्य हो तथा पैतृक धन कुछ भी न हो, नारद ने उस अवस्था मे विवाहित भाइयों का यह कर्त्तव्य निश्चित किया कि वे अपनी स्वार्जित सम्पत्ति से अविवाहित बहिनो का पाणिग्रहण संस्कार करें (१३।३४)। विश्वरूप इसे आवश्यक मानता हुआ, यह व्यवस्था करता

---

५४. याज्ञ० २।१२४ पर मिता० यदपि कैश्चिदुच्यते । अंशदानविवक्षायां बहुभ्रातृकाया बहुधनत्वं बहुभगिनीकस्य च निर्धनता प्राप्नोतीति तदुक्तरीत्या परिहृतमेव । न ह्यत्रात्मीयाद्भागादुद्धृत्य चतुर्थांशस्य दानमुच्यते येन तथा स्यात्। जीमूतवाहन ने भी उक्त आपत्ति को स्वीकार किया, (दा० पृ० ६९-७०); किन्तु वह चतुर्थांश को बहिन का हक नहीं मानता, इसका अर्थ विवाहोचित धन ही मानता है—'भगिनीनां संस्कार्यतामाह नाधिकारिताम्। एवं च, बहुतरधने विवाहोचितधनं दातव्यं न चतुर्थांशनियमः इति सिध्यति'।

५५. विष्णु० १५।३१ अनूढानां तु कन्यानां वित्तानुसारेण संस्कारं कुर्यात्।

५६. व्यास—(विर० ४९३, अप० २।१२४ में उद्धृत) असंस्कृतास्तु ये तत्र पैतृकादेव ते धनात्। संस्कार्या भ्रातृभिर्ज्येष्ठैः कन्यकाश्च यथाविधि ॥

है कि कन्याओ के विवाह के लिए सम्पत्ति अलग करने के बाद ही दाय का बटवारा किया जाय । विवाह के कर्त्तव्य पर बल देने का परिणाम यह हुआ कि कन्या का पैतृक द्रव्य में कोई स्वतन्त्र भाग नही रहा । यह समझा जाने लगा कि वैवाहिक धन और दहेज के रूप मे कन्या को पैतृक सम्पत्ति में से उचित हिस्सा मिल जाता है, अत. उसे पृथक् रूप से दायाद मानने की आवश्यकता नही है ।

ब्रिटिश युग में कन्या के अधिकार—वर्त्तमान समय में प्रपौत्र पर्यन्त पुरुष सन्तान तथा विधवा के अभाव मे ही कन्या पैतृक सम्पत्ति में रिक्थहर होती है । मिताक्षरा[५७] तथा दायभाग द्वारा शासित प्रदेशो मे उत्तराधिकार की दृष्टि से कन्यायें निम्न वर्गो मे बाटी गई है और नीचे दिये क्रम से ही दायाद मानी जाती है—

मिताक्षरा	दाय भाग
१. अविवाहिता (अनूढा)	१ अविवाहिता
२. विवाहिता	२ विवाहिता
क. अप्रतिष्ठिता (निर्धन)	क पुत्रवती
ख प्रतिष्ठिता	ख सभावितपुत्रा

विवाहिता और अविवाहिता दोनो कन्याओ के एक साथ दायाद होने पर, अविवाहिता को दायाद बनाने की विज्ञानेश्वर की व्यवस्था का आज कल की अदालतो ने अनुमोदन किया है[५८] । निर्धन और धनी की शर्त दोनो कन्याओं की एक जैसी स्थिति होने पर ही लागू होती है और धनी कन्या की तुलना मे निर्धन का अधिकार पहले माना जाता है । इस व्यवस्था का लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो विवाहिता या अविवाहिता (अनूढा) हो, किन्तु यदि निर्धन विवाहिता और धनी अविवाहिता का मुकाबला हो तो धनी अविवाहिता को ही दायाद माना जायगा[५९] । अनूढा के अभाव में ही विवाहिता रिक्थहर होती है और विवाहिताओ मे निर्धन कन्याएँ

५७. याज्ञ० २।१२४ पर मिताक्षरा ।

५८. हेमांचल बनाम महाराजसिंह १. आगरा २१०, गुलाब बनाम हंसी २. आगरा १६६; विनोद बनाम प्रधान २ बी० रि० १७६

५९. दौलत बनाम वर्मा २२ बी० रि० ५४, जमना बाई बनाम खेमजी १४ बं० १

धनियों के मुकाबले मे सम्पत्ति की पहले हक़दार होती है। वनारस सम्प्रदाय मे आपेक्षिक निर्धनता ही कन्याओ के दायाद होने की मुख्य कसौटी है। अवधकुमारी बनाम चन्द्रा देई के मामले मे चार कन्याओ मे से दो ने पिता की सम्पत्ति में पूरा हिस्सा मागा और यह दावा किया कि शेष दो बहिनो को इसमे कोई भाग नही मिलना चाहिए, उन दो वहिनो ने उनके दावे का यह कह कर विरोध किया कि वे उन की अपेक्षा निर्धन होने से सारी सम्पत्ति की अधिकारिणी है। अलाहाबाद हाई कोर्ट ने उनकी मांग स्वीकार करते हुए तथा उन्हे निर्धन मानते हुए धनी वहिनो का मामला खारिज कर दिया[६०]।

बंगाल का नियम—बगाल में उत्तराधिकार की मुख्य कसौटी पिण्डदान है। अतः नि.सन्तान विधवा को विवाहिता की तुलना मे दाय मे कोई अधिकार नही, भले ही विवाहिता वन्ध्या हो या उसका पुत्र होने की सम्भावना न हो। इसका कारण यह है कि प्रत्येक विवाहिता कन्या से यह आशा रखी जाती है कि वह पुत्र उत्पन्न करेगी। अत यदि वह सन्तानोत्पादन की आयु को पार नही कर चुकी तो वही पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी, बाद मे विधवा या बांझ होने से उसकी सम्पत्ति नही छिन सकती[६१]।

विधवा कन्या, यदि पिता के जीवन काल मे १८५६ के विधवा पुर्नविवाह कानून के अनुसार विवाह कर लेती है और पुत्र प्राप्त करती है तो वह पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करेगी; बाद में पुत्र की मृत्यु से उसकी वह सम्पत्ति नही छिन सकती[६२]।

दक्षिण मे देवण्ण भट्ट की स्मृतिचन्द्रिका द्वारा शासित प्रदेश में कन्याएं पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी नही होती[६३]।

पैतृक सम्पत्ति पर कन्या का सीमित स्वत्त्व—भारत के अधिकाश भागो मे पिता से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पर कन्या का अधिकार विधवा के स्वत्व की भाति सीमित होता है[६४]। सीमित स्वत्व (Limited Estate) का

---

६०. इं० ला० रि० २. अला० ५६१

६१. अमृतलाल बनाम रजनीकान्त २३ वी० रि० २१४ (२१७) प्रि० कौ०।

६२. बिनोला बनाम डांगू १९ वी रि० १३९

६३. डोरा स्वामी बनाम अमामला मद्रास दिसम्वर १८५२ पृष्ठ १७७

६४. छोटे लाल वनाम मन्नूलाल १४ वंगा ला० रि० २३५, गुत्तू बनाम डोरा सिंह ३ म० २९०

है कि वह इस सम्पत्ति का यावज्जीवन उपभोग ही कर सकती मृत्यु के वाद यह सम्पत्ति कन्या के दायादों को नही मिलती, के दायादो को प्राप्त होती है। केवल वम्वई प्रान्त मे कन्याओ का पूरा स्वत्व माना जाता है[१५]।

पर कन्याओं का अधिकार—कई प्राचीन शास्त्रकारों ने कन्याओ को सव से पहले अधिकार दिया है। गौतम ने सर्वप्रथम न किया, परवर्त्ती ग्रन्थो में इसका अनुसरण किया गया है[१६]। सम्पत्ति पर यदि पुत्रो को पूरा अधिकार है तो माता की सम्पत्ति को अधिकार मिलना स्वाभाविक है।

ने इस व्यवस्था के समर्थन में कई विचित्र तर्क उपस्थित किये ने लिखा है कि 'स्त्री का धन उसकी कन्याओ को प्राप्त होता कन्याओ में पुत्रों की अपेक्षा माता के अधिक अवयव सक्रान्त होते पिता के अवयव अधिक आते हैं; अतः पुत्र पिता की सम्पत्ति का होता है'। किन्तु गुरुदास वैनर्जी के मतानुसार इसका सच्चा कारण ो में सम्पत्ति का न्यायपूर्ण विभाजन है, कुछ ऐसे कारणो से हिन्दू कानून का ही विशेष अश नही है, पुत्र पिता की सम्पत्ति को से ग्रहण करते है; इसकी क्षतिपूर्ति के रूप में कन्याओं को उनकी की सम्पत्ति के उत्तराधिकार मे तरजीह दी जाती है[१७]।

के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायो में परस्पर है, पर विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ० २।१४४-४५) कन्या को

विनायक वनाम लक्ष्मी वाई १ वं० हा० को० रि० ११७, भास्कर वं० हा० को० रि० १ जानकी वाई वनाम सुकरा १४ व० ६१२

गौतम ध० सू० २८।२४ स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां वौधा० २।२।४९, मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा। वांख २६९ द्वारा उद्धृत–विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं वैवाहिकं स्त्रीधनं लभेत। मि० मनु० ९।१३१, याज्ञ० २।११७

मिता० २।११७ मातुर्धनं दुहितरो विभजेरन्। ....युक्तं चैतत्। 'अधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः' इति स्त्र्यवयवानां दुहितृषु वाहुल्यात् । पितृधनं पुत्रगामि पित्रवयवानां पुत्रेषु वाहुल्यादिति। हिन्दू ला आफ् मैरिज एण्ड स्त्रीधन।

सब से ऊँचा स्थान दिया है और मिताक्षरा द्वारा शासित भारत के बड़े हिस्से में कन्याएँ स्त्रीधन की अधिकारिणी होती हैं (दे० अगला अध्याय)।

कन्याओं के अन्य अधिकार—भरण तथा विवाह—प्रत्येक कन्या को अपने पिता की सम्पत्ति मे से भरण-पोषण पाने का अधिकार है[६८]। पिता का या उसके अभाव मे भाइयो का कर्त्तव्य है कि वे कन्या का विवाह करे। सयुक्त परिवार का विभाग होने पर कन्याएँ अपने भाइयो के चतुर्थांश की अधिकारी होती हैं। विज्ञानेश्वर द्वारा प्रतिपादित रीति से उन कन्याओ को अपना भाग मिलता है। इस भाग को प्राप्त कर लेने के बाद परिवार के सदस्य उनका विवाह करने के लिए बाध्य नही होते। कई वार इस नियम के कारण परिवार के विभक्त होने पर भाइयो को बड़ा घाटा उठाना पडता है। जैसे, एक परिवार में यदि चार भाई और दो बहनें हैं तो परिवार के सयुक्त रहने तक तो लड़कियो का विवाह परिवार की संयुक्त सम्पत्ति मे से किया जायगा। किन्तु यदि बटवारा हो जाता है तो इन लड़कियो का पिता इनके विवाह के लिए सयुक्त परिवार की सम्पत्ति में किसी विशेष भाग का अधिकारी नही होगा। विभाग हो जाने पर पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपनी कन्या का विवाह संस्कार करायें। कई वार ऐसा होता है कि कुछ भाइयों की लड़कियों के विवाह के वाद सयुक्त परिवार विभक्त हो जाता है। पहली लड़कियो की शादी संयुक्त परिवार की सम्पत्ति से हुई थी। जिन भाइयो की अविवाहित कन्याएँ बची हुई हैं, वे यह चाहते है कि इनके विवाह के लिए अपने भाग के अतिरिक्त कुछ द्रव्य विभाग के समय सयुक्त परिवार की सम्पत्ति में से निकाल कर उन्हे दिया जाय और वाद में सम्पत्ति बाटी जाय। किन्तु अदालते उन की यह माग स्वीकार नही करती। परिवार के सयुक्त रहते हुए कन्या का विवाह पारिवारिक कर्त्तव्य है, पर विभाग होने पर वह दायित्व पिता का ही है।

तीसरी अवस्था

वर्तमान काल में हिन्दू परिवार मे पुत्र की तुलना मे कन्या को बहुत कम साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त है। उसे अपनी पैतृक सम्पत्ति मे भाइयों का चौथा

---

६८. रामाबाई बनाम अम्बक ९ बं० हा० को० रि० २८३, मंगल बनाम रुक्मणि २३ बं० २९१, जमना बनाम मचुल २ अला० ३१५ तुलशा बनाम गोपाल राय ६ अला० २६३

ही स्वत्व है और मध्यकाल से उस की व्याख्या यह की गई
इस का उद्देश्य उसके विवाह के व्यय को पूरा करना है। अतः
पैतृक सम्पत्ति में पृथक् रूप से कोई अश नही माना जाता,
पुरुष सन्तान तथा विधवा के अभाव में ही वे पैतृक सम्पत्ति का
ˆ है।

के वाद दूसरे कुल मे चली जाती है। उसे दायाद बनाने
सम्पत्ति का एक परिवार से दूसरे परिवार में हस्तान्तर था, अतः
के अनुसार लडकिया कभी दायाद नही होती, अवध के
के रिवाजो के सग्रहो (वाजिवुलअर्जो) में यह व्यवस्था थी कि पैतृक
दोनो प्रकार की सम्पत्ति में कन्याओ का कोई अधिकार नही

। में शिक्षा के प्रसार तथा पुरुषों के समान अधिकारो के लिए
के प्रवल होने पर, पैतृक सम्पत्ति में कन्याओ को भी पुत्र की
वनाने की माग होने लगी। इसके परिणाम स्वरूप २४ मार्च
श्री सुल्तान अहमद ने केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिपद मे नि.सकल्प-
उत्तराधिकार विल (Intestate Hindu Succession
उपस्थित किया। इसमें कन्या को पुत्र तथा विधवा के साथ दायाद
तथा पतिगृह से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति का विचार करते हुए
की अपेक्षा आधा हिस्सा प्रदान किया गया। इस विल के निर्माताओ ने
कुमारी कन्याओ को ही पैतृक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी वनाया,
यह प्राचीनपरम्परानुमोदित व्यवस्था थी। विवाहित कन्याओं के
कुल में चले जाने से उन्हे पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व देने मे व्यावहारिक
थी[७०]। किन्तु देश के अधिकाश शिक्षित समुदाय ने विवाहित और
कन्याओ मे भेद करने का घोर विरोध किया। इन का मुख्य तर्क
कि इस व्यवस्था से कन्याओ को क्वारी रहने का प्रोत्साहन मिलेगा,
घरो की कन्याएँ दाय प्राप्त करने के लिए विवाह नही करना चाहेगी
इस से समाज मे अनाचार फैलने की सम्भावना वढ जायगी। इस आन्दो-
परिणाम स्वरूप राव समिति द्वारा प्रस्तावित हिन्दू कोड में अविवाहित

६९. मेन—हिन्दू ला—दशम संस्करण, पृ० ६५८
७०. अल्तेकर—पोजीशन आफ् वुमैन, पृ० २९४

की शर्त हटा कर सब कन्याओ को समान रूप से दायाद बनाया गया और लड़की को लड़के से आधा हिस्सा दिया गया। पार्लियामेट मे हिन्दू कोड बिल के उपस्थित होने पर निर्वाचित समिति ने लड़के लड़की दोनो का हिस्सा बराबर रखने का प्रस्ताव किया। तीव्र विरोध के कारण हिन्दू कोड बिल पास नही हो सका और सरकार ने इसे पृथक बिलो में पास करने का निश्चय किया। इसके अनुसार २६ मई १९५४ को प्रकाशित असाधारण सरकारी गजट मे नवीन 'वसीयत हीन हिन्दू उत्तराधिकार' विधेयक मे लड़कियो को लड़को के साथ दायाद बनाया गया है, किन्तु राव समिति का अनुसरण करते हुए उन्हे लड़को से आधा हिस्सा देने की व्यवस्था की गयी है, क्योकि पुत्री विवाहित होने पर पति की सम्पत्ति मे से भी अश ग्रहण करेगी।

इसमे कोई सदेह नही कि विवाहित कन्या को चल एव अचल दोनो प्रकार की पैतृक सम्पत्ति मे अश देने में अनेक कठिनाइयां है। परिवार की चल पैतृक सम्पत्ति आभूषण और द्रव्य के रूप मे होती है, प्रायः पिता की मृत्यु के बाद इसका बटवारा होता है, उस समय तक कन्या का विवाह हुए काफी समय बीत चुका होता है, इस बीच मे परिवार की यथार्थ स्थिति का ज्ञान श्वशुर कुल मे रहने वाली कन्या को वैसा नही होता, जैसा पितृगृह मे रहने वाले उसके भाइयो को सभव है। यह असंभव नही कि कन्या के विवाह के समय परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो, बाद में संकट आने पर इसके निराकरण के लिये भाइयो को कुछ आभूषण बेचने पड़े हो, ऐसी बातो को परिवार की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने के लिये प्राय. गुप्त रखा जाता है। इस का ज्ञान न होने पर कन्या बटवारे के समय जब पारिवारिक चल सम्पत्ति को बहुत कम देखेगी तो वह यही समझेगी कि उसके भाइयो ने उसे ठगने और हिस्से से वंचित करने के लिये ही ऐसा किया है। भाइयो की सच्ची बात पर भी विश्वास करना उसके लिये कठिन होगा। दूसरी ओर भाई ऐसे चतुर भी हो सकते है कि बटवारे के समय बहुत सी सम्पत्ति छिपा ले, ताकि उसमे से बहन को हिस्सा न मिल सके। दोनो अवस्थाओ मे विवाह के बाद लडकी को अपना न्याय्य अश प्राप्त करने में कठिनाई होगी, भाई बहन मे ग़लतफ़हमी और वैमनस्य का भाव बढेगा।

अचल सम्पत्ति में भी विवाहित कन्या को हिस्सा देने में कई कठिनाइया है। अचल सम्पत्ति प्राय. भूमि के रूप मे होती है, पुत्रो द्वारा वंटवारा वर्तमान समय में भूमि को इतने छोटे खण्डो मे विभक्त कर देता है कि वे आर्थिक दृष्टि से

होते है। लडकियो द्वारा वटवारे में हिस्सा लेने से ऐसे अनुत्पादक की सख्या और बढ़ेगी। विवाह के बाद दूसरे स्थान में चले जाने से के लिये अपने पीहर की भू-सम्पत्ति का प्रवन्ध करना बहुत कठिन। अतः अल्तेकर जैसे विचारको ने विवाहित कन्याओ को पैतृक सम्पत्ति देने का विरोध किया है[११]।

वर्तमान युग में नरनारी के समानाधिकार का आन्दोलन इतना कि अव कन्यायें हिन्दू परिवार मे अधिक समय तक पैतृक सम्पत्ति में हण करने के अधिकार से वचित नही रक्खी जा सकती। अन्तिम में यह वताया जायगा कि किस प्रकार कानून द्वारा कन्याओ को यह देने के प्रयत्न हो रहे हैं। वह दिन दूर नही प्रतीत होता, जव को यह स्वत्व प्राप्त हो जायगा।

के वाद श्वशुरालय जाने पर हिन्दू कन्या को वहा पत्नी और रूप मे साम्पत्तिक स्वत्व प्राप्त होते है। इनका अगले दो अध्यायो होगा। यद्यपि अनेक हिन्दू शास्त्रकारो ने नारी के अस्वातन्त्र्य का किया है (दे० ऊ० पृ० १४४), किन्तु हिन्दू शास्त्रकार स्त्रियो की का अर्थ उनका पुरुषो की पराधीनता में रहना नही[१२], किन्तु कानूनी

अल्तेकर—पू० नि० पु० पृ० २९३-९६।

नारद स्मृति (जाली-से० वु० ई० पृ० ४९) के ऋणादान प्रकरण ७) में यह वात वड़े विस्तार से स्पष्ट की गयी है—'स्त्री द्वारा विशेष की दशा (अनापत्ति) में किये हुए कानूनी कार्य विशेषतः घर या, रेहन रखना या वेचना अवैध (अप्रमाण) होते हैं, यही कार्य पति लेकर किये जाने पर वैध होते है (स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरविशेषतो गृहक्षेत्रदानाधमनविक्रयाः॥ एतान्येव प्रमाणानि भर्त्ता)। नारद के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ है कानूनी कार्य (व्यवहार) सामर्थ्य, इस दृष्टि से वह संसार में केवल तीन व्यक्तियो—राजा, गृहपति को ही स्वाधीन मानता है, अतएव वह पुत्रों और दासों के की पराधीनता की घोषणा करता है (अस्वतन्त्राः स्त्रियः पुत्राः दासाश्च ऋणा०३४)। कानूनी मामलो में स्त्री की यह पराधीनता भारतीय हो, सो वात नहीं; पिछली शती के उत्तरार्ध तक यह योरोप के में थी और विवाह के वाद पति पत्नी के अभिन्न समझे जाने का परि-

मामलों में स्त्री की स्वतन्त्र सत्ता या व्यक्तित्व (Jeristic Personality) का न होना है। स्त्री के साम्पत्तिक स्वत्वो के विषय में वे बहुत उदार रहे है[७३], कानूनी मामलो में परतन्त्रतास्वीकार करते हुए भी उन्होने स्त्री

णाम थी। मध्य युगीन ब्रिटिश कानून के सर्वोत्तम व्याख्याता ब्लैकस्टोन के प्रसिद्ध शब्दो में विवाह से पति पत्नी कानून की दृष्टि में एक व्यक्ति हो जाते है, स्त्री की कानूनी सत्ता स्थगित हो जाती है अथवा कम से कम पति की सत्ता में समाविष्ट हो जाती है, वह प्रत्येक कार्य उसके संरक्षण में करती है, अतः वह कोई ऐसा काम नहीं कर सकती, जिससे उसका स्वतंत्र कानूनी व्यक्तित्व माना जा सके (कमेण्टरीज १।४४२)

७३. यद्यपि कानूनी मामलों में स्त्री की परतन्त्रता के सम्बन्ध में पिछली शताब्दी के इंगलैण्ड और भारत में कोई बड़ा अन्तर न था, किन्तु भारतीय स्मृतिकारों ने इस परतन्त्रता को स्त्री द्वारा सम्पत्ति रखने के अधिकार में बाधक नहीं माना था और उसका साम्पत्तिक स्वत्व बहुत पहले स्वीकृत कर लिया था (दे० नो० पृ० ५४७)। इंगलैण्ड में पत्नी की पृथक् कानूनी सत्ता न होने के कारण १८७० ई० तक उसे अपनी कमाई पर वैयक्तिक अधिकार न था, १८८२ तक वह किसी सम्पत्ति पर स्वतंत्र रूप से स्वामित्व नहीं रख सकती थी (हावहाऊस मारल्स इन इवोल्यूशन सप्तम संस्करण लंडन १९५१, पृ० २२३); किन्तु हिन्दू परिवार में स्त्रीधन कहलाने वाली सम्पत्ति पर वैदिक युग से उस का स्वत्व स्वीकार किया जाता रहा है (दे० अगला अध्याय), गौतम ने इस पर लड़कियों का हक़ माना है (२८।२४-३६)। यद्यपि मनु के एक श्लोक में पत्नी की कमाई पति की सम्पत्ति बतायी है और यह कहा गया है कि पत्नी, पुत्र और दास का कोई साम्पत्तिक स्वत्व नहीं होता (८।४१६ भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः), किन्तु मनु के टीकाकारों ने इस की यह व्याख्या की है कि पत्नी को पति से अनुमति लिये विना स्वतन्त्र रूप से इस सम्पत्ति के विनियोग का अधिकार नहीं। मेधातिथि के भाष्यानुसार यदि पत्नी को सम्पत्ति का स्वामी न माना जाय तो 'पत्नी हि पारीणह्यस्येशे' (तै० सं० ६।२।१।१७) आदि पत्नी का साम्पत्तिक स्वत्व द्योतित करने वाले श्रुति वचन निरर्थक हो जायेंगे, अतः मनु के इस वचन का अभिप्राय यह है कि पति की आज्ञा के विना स्त्री को स्वतंत्र-रूप से धन व्यय करने का अधिकार नहीं है (असति वा स्त्रीणां स्वाम्ये पत्न्यैवानुगमनं क्रियते 'पत्नी वै पारिणह्यस्येशे' श्रुतयो निरालम्बनाः स्युः। अत्रोच्यते।

चीन काल में ऐसे साम्पत्तिक स्वत्व प्रदान किये, जो इंगलैण्ड की को पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे प्राप्त हुए है। अगले अध्यायो में विशेष विवेचन होगा।

असत्यां भर्त्रनुज्ञायां न स्त्रीभिः स्वातन्त्र्येण यत्र क्वचि-
—मनु ८।४१६ पर मेधा तिथि की टीका)। मनु की एक
भी पत्नी के साम्पत्तिक स्वत्व का निर्देश करती है, मनु ८।२९ में
का यह कर्त्तव्य बताया गया है, कि वह रक्षा के बहाने से पत्नी की
वाले संबन्धियों को चोरी का दण्ड दे। यद्यपि नारद ने स्त्री की
की उद्घोषणा की थी, किन्तु इसे विज्ञानेश्वर ने सम्पत्ति के
स्वीकार नहीं किया—'यत्तु पारतन्त्र्यवचनं 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'
पारतन्त्र्यम्, धनस्वीकारे तु को विरोधः (याज्ञ० २।१३६ पर
।

सोलहवां अध्याय

स्त्रीधन

हिन्दू परिवार में नारी के साम्पत्तिक स्वत्वो का विकास—वैदिक युग में पत्नी के अधिकार—जैमिनि द्वारा स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकार का प्रवल समर्थन—बौधायन का स्त्री को अदायाद बनाना—इसके कारण—मध्य-कालीन टीकाकार और नारी के दायाधिकार—स्त्रीधन का स्वरूप—इसका आदिम रूप—धर्मसूत्रो, स्मृतियो तथा मध्यकालीन धर्मशास्त्रो के अनुसार इसका स्वरूप—स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व—सौदायिक सम्पत्ति—पति द्वारा नियन्त्रित सम्पत्ति—स्त्रीधन का विभाग और उत्तराधिकारी—स्त्रीधन के उत्तराधिकार में कन्या को तरजीह देना—इसमे पुत्रों का स्वत्व—आसुर विवाह में स्त्रीधन का विभाग—स्त्रीधन के सक्रमण की विविध व्यवस्थाये—हिन्दूकोड द्वारा इस विषय मे प्रस्तावित परिवर्त्तन।

अधिकाश सभ्य समाजो मे प्राचीन एवं मध्यकाल में विवाहिता स्त्री को सम्पत्ति पर कोई स्वत्व न था; पश्चिमी जगत् में स्त्रियो को यह अधिकार पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध मे मिला है[1]। किन्तु हिन्दू परिवार मे पत्नी वैदिक

---

१. चीनियों में और फिलस्तीन के यहूदियों में प्राचीन काल में स्त्रियों को कोई साम्पत्तिक अधिकार नही प्राप्त थे (हावहाऊस-मारत्स इन इवोल्यूशन पृ० १९३-२००) यूनान में स्पार्टा के अपवाद को छोड़ कर कहीं भी स्त्रियों को यह स्वत्व न था, स्पार्टा के सैनिक राज्य में पुरुषों के सदैव युद्धों में अथवा उनके अभ्यास में व्यापृत रहने के कारण स्त्रियों को भूसम्पत्ति पर स्वामित्व मिला। अरस्तू के समय स्पार्टा की ⅖ भूमि स्त्रियों के अधिकार में थी, किन्तु वह स्त्रियों की इस स्वतन्त्रता को स्पार्टा के लिये घातक समझता था (हावहाऊस पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक पृ० २०४)। आरम्भिक रोम में द्वादश पट्टिकाओं (Twelve Tables) के युग (५५० ई० पू०) तक विवाहित होने पर स्त्री पति के पूर्ण प्रभुत्व (Potesta) में चली जाती थी, बाद में रोमन कानून ने योरोप में प्रथम बार विवाहिता स्त्री की पृथक् सम्पत्ति स्वीकार की, उसके दहेज (Dos) तथा पति द्वारा दी भेंटों पर उसका वैयक्तिक

स्त्रीधन पर स्वामित्व रखती थी। सर हेनरी मेन ने लिखा है—
में विवाहित स्त्रियो की वह सुरक्षित सम्पत्ति—जिसका पति अप-
Alienation) नही कर सकता—स्त्रीधन के नाम से प्रसिद्ध
तथ्य निश्चित रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दुओं में रोमन लोगो की
सस्था का विकास वहुत पहले हो गया था"[२]। हिन्दू समाज को
में अधिकाश सभ्य जातियो का अग्रणी कहा जा सकता है।

स्वीकार किया (इंसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सिज खण्ड
११७)। किन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही। ईसाई चर्च द्वारा रोमन
स्वच्छन्दता का घोर विरोध हुआ और योरोप में स्त्रियों से सम्पत्ति के
छिने। पहले (दे० ऊ० पृ० ५४३) यह वताया जा चुका है कि
की व्याख्यानुसार इंगलैण्ड में विवाह के बाद पत्नी का व्यक्तित्व पति
होने से उस की कोई पृथक् सम्पत्ति नहीं मानी जाती थी। संयुक्त-
अमरीका और योरोप के अधिकांश देशों में यही स्थिति थी। १९वीं
उत्तरार्ध में नारियों के वैयक्तिक अधिकारों का आन्दोलन प्रवल होने पर
स्त्रियों को अपनी सम्पत्ति रखने का अधिकार मिला। इंगलैण्ड
७० ई० का 'विवाहित स्त्री सम्पत्ति कानून' बनने से पहले शरावी पति
द्वारा उपार्जित कमाई हड़प सकता था, १८७८ में एक कानून द्वारा अन्य
की सम्पत्ति पर विवाहिता स्त्री को वैयक्तिक स्वत्व दिया गया। १८७७
१८८१ ई० में स्काटलैण्ड के लिये ऐसे कानून वने। सं० रा० अमरीका के
राज्यो में १८५० ई० तक ऐसे कानूनों का निर्माण हुआ। स्वीडन ने
ई० में, डेन्मार्क ने १८८० में, नार्वे ने १८८८ में और जर्मन सिविल
ने इस शती के प्रारम्भ में पत्नी की कमाई पति के प्रभुत्व से पृथक् की
० सो० सा० खं० १० पृ० ११७-२२, हावहाऊस—मारल्स इन इवोल्यूशन
२०-२४)

२. अर्ली हिस्टरी आफ इंस्टीट्यूशन्स, पृ० ३२१-२४। किन्तु मेन का इस
ध में यह कथन ठीक नहीं कि वाद में हिन्दू स्त्रियों के इस अधिकार में ह्रास
या, क्योंकि मध्य युग में विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन का स्वरूप वहुत विस्तृत किया
० नी० पृ० ५६५)। सर गुरुदास वैनर्जी ने लिखा है कि किसी अन्य देश
के साम्पत्तिक अधिकार इतने प्राचीन काल में स्वीकृत नहीं किये गये,
प्राचीन समय में भारत में मान्य हुए (हिन्दू ला आफ मैरिज एण्ड स्त्री-

स्त्रीधन हिन्दू कानून का क्लिष्टतम भाग है। शास्त्रकारों में उसके स्वरूप और प्रकारो तथा उत्तराधिकार की प्रणाली में बहुत मतभेद है। मध्यकाल में जीमूतवाहन ने इस विषय को अतिगहन बताया था और वर्त्तमान युग में भारत सरकार के एक भूतपूर्व विधिमन्त्री श्री अम्बेडकर ने इसे स्त्रीबुद्धि के समान जटिल कहा है[३]। कमलाकर ने विवाद ताण्डव में लिखा है कि धर्मशास्त्री इस विषय मे खूब झगड़ते हैं, अगली विवेचना से यह स्पष्ट होगा कि वर्त्तमान न्यायालय भी इस विषय में पर्याप्त मतभेद रखते हैं। स्त्रीधन के सम्बन्ध मे तीन प्रश्न मुख्य रूप से विचारणीय हैं—इसका स्वरूप, इस पर पत्नी का स्वत्व, इसके विभाग और उत्तराधिकार के नियम। इन तीनों पर पृथक् रूप से विचार करने से पहले हिन्दू परिवार में नारियो के साम्पत्तिक स्वत्वों के विकास का संक्षिप्त प्रतिपादन किया जायगा।

हिन्दू नारी के साम्पत्तिक अधिकार

वैदिक युग में स्त्री का साम्पत्तिक स्वत्व—पहले यह बताया जा चुका है कि इस युग में पत्नी की स्थिति बहुत उन्नत थी (दे० ऊ० पृ० १३२)। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युग के प्रारम्भ में स्त्रियों को कुछ सीमा तक साम्पत्तिक अधिकार प्राप्त थे। तैत्ति० स० (६।२।१।१), काठक सहिता (२४।८), कपिष्ठल सं० (३८।१) और मैत्रायणी सहिता (३।७।९) के एक वचन में पत्नी को पारिणाह्य अर्थात् घर की वस्तुओं की स्वामिनी स्वीकार किया गया है[४]। इतनी अधिक सहिताओ मे इस वचन का उल्लेख यह द्योतित करता है कि उस समय पत्नी का यह अधिकार समाज में साधारण रूप से मान्य रहा होगा। इसका समर्थन इस बात से भी होता है कि उपर्युक्त सहितायें नारी के संबन्ध

धन पृ० ३७०) किन्तु इस विषय में बेबीलोनिया और मिश्र अपवाद हैं। हम्मूरब्बी के बेबीलोन (लग० २१५०-१९५० ई० पू०) में स्त्री कुछ अवस्थाओं में सम्पत्ति का विनियोग कर सकती थी तथा मिश्र में पुराने राज्य (लग० २७००-२२०० ई० पू०) के बाद स्त्रियों को सम्पत्ति पर पूर्णाधिकार थे (हाबहाऊस-यू० नि० पृ० १८२, १९३)

३. दा० पृ० ९९ इत्यतिगहनमुक्तमप्रजः स्त्रीधनम्। हिन्दू कोड बिल, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पृ० ४१-४२।

४. तै० सं० ६।२।१।१ पत्नी हि पारिणाह्यस्येशे। पारिणाह्य शब्द काठक सं० में परिणह्य तथा मै० सं० में पारेणह्य, वसिष्ठ धर्म सूत्र में पारिणाय्य

१ ^१, फिर भी उन्होंने नारियो के इस अधिकार
: तत्कालीन समाज में स्त्रियो के साम्पत्तिक अधि-
` से ही उन्हे ऐसा वर्णन करना पड़ा है। अथर्व०
आरण्यक (६।३।१) और कौपीतकी सूत्र (८०।
को धन प्रदान करने का विधान करते हैं[१]।
।१-२; १४।५।४।१) से यह सूचित होता है कि
` होती थी। याज्ञवल्क्य ने सन्यास लेने
एक पत्नी मैत्रेयी को दूसरी पत्नी कात्यायनी
संविभाग करने को कहा था।
कर्मकाण्ड में पवित्रता का विचार बढ़ने से स्त्रियों
किया जाने लगा, पहले इस विषय का प्रति-
० १३३-३६); यहा इतना निर्देश पर्याप्त है कि
बहिष्कार के कुछ ऐसे वचन हैं. जिनसे बाद में
कल्पना की गयी। तैत्ति० सं० (६।५।८।२)
द्वारा दिया गया सोम निर्वीर्य (निरिन्द्रिय)
तथा दाय को ग्रहण न करने वाली (अदा-
यह सारा प्रकरण यज्ञ विपयक है और इसमें

का अर्थ है—घर का सामान,
:, आदर्शकंकणताम्बूलकरण्डकादि विता०
विवाह के समय मिला धन (परिणयन-
२।११७) के अनुसार परीणाह्य का अर्थ

निन्दा के लिये दे० ऊ० पृ० १४२-४३,

७ ` वृणाना निपद्यत उप त्वा मर्त्यं
` द्रविणं चेह धेहि ॥
गृह्यते सुवर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै स
` वज्रं कृत्वाऽघ्नन्त्तं निरिन्द्रियं भूत-
: । मि० शत० ब्रा० ४।४।२।१३
णोति ता हता निरष्टा नात्मनश्च

सहिताकार द्वारा स्त्रियो को यज्ञ मे सोम के अधिकार से वंचित करने का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण (४।४।२।१३) के एक याज्ञिक प्रकरण में कहा गया है—'देवो ने आज्य रूप वज्र से पत्नियो को आहत किया, आहत पत्नियां अपनी तथा दाय की स्वामिनी नही हुईं'। मैत्रायणी सहिता के उस याज्ञिक स्थल का पहले उल्लेख हो चुका है (दे० ऊ० पृ० २४४), जिसमे स्त्री सन्तान के पैदा होने पर उसे नीचे पड़ा रहने देने तथा लडके को (गोद मे) उठा लेने का वर्णन है। इस याज्ञिक प्रक्रिया का उपसहार करता हुआ सहिताकार यह कहता है कि इस कारण पुरुष दायाद है और स्त्री अदायाद। इन तीन वचनों से यह प्रतीत होता है कि स्त्रियो को अदायाद मानने की कल्पना याज्ञिक कर्मकाण्ड से प्रारम्भ हुई।

जैमिनि द्वारा स्त्रियों को साम्पत्तिक अधिकार देने का समर्थन—किन्तु कर्मकाण्ड के प्रधान ग्रन्थ मीमासा दर्शन मे जैमिनि (५००–२०० पू०) ने स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकारो का प्रवल पोषण किया। इसके छठे अध्याय के पहले पाद के तृतीय अधिकरण मे इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया गया है कि पति पत्नी दोनो को यज्ञ करने का अधिकार है। उस समय ऐतिशायनादि कुछ विचारक केवल पुरुषों को ही यज्ञ का अधिकारी मानते थे (मी०सू० ६।१।६, दे०ऊ० पृ० १३६); जैमिनि ने पूर्वपक्ष के रूप मे इनकी युक्तियां उपस्थित कर उनका विस्तृत खण्डन किया है। इन युक्तियो में एक यह भी है कि यज्ञो का अधिकार केवल पुरुषो को है, क्योकि यज्ञो के लिये धन की आवश्यकता होती है और चूंकि स्त्रियो का क्रय-विक्रय होता है, अतः स्त्रिया सम्पत्ति की स्वामी नही हो सकती, वस्तुतः वे सम्पत्ति जैसी ही है[८]; जैमिनि ने इस युक्ति का खण्डन करते हुए यह सिद्ध किया है कि स्त्रिया सम्पत्ति पर स्वत्व रखती है। मीमांसासूत्रो और शवरभाष्य (२००–५०० ई०) के आधार पर यहां दोनो पक्षो की युक्तियो का विस्तृत दिग्दर्शन कराया जायगा, क्योकि हिन्दू स्त्रियो के साम्पत्तिक स्वत्वो के बारे मे यह प्रकरण असाधारण महत्व रखता है।

पूर्वपक्ष की युक्तियां—पूर्वपक्ष ने स्त्रियों का साम्पत्तिक स्वत्व न होने की पहली युक्ति यह दी है—"स्त्रिया बेचे और खरीदे जाने के कारण यह अधिकार नही रखती, पिता द्वारा बेचे जाने के कारण उनका पिता की सम्पत्ति

---

८. मीमांसासूत्र ६।१।१० द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्यात् द्रव्यसंयुक्तं, क्रय-विक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां, द्रव्यैः समानयोगित्वात्।

होता, पति द्वारा खरीदा जाने से उन्हे उसकी जायदाद पर हक
। अनेक श्रुति वचनो में स्त्री की विक्री का उल्लेख है, जैसे,
को गाडी मे जुडने वाले सौ वैल दिये जाने चाहियें; आर्ष विवाह
वाप को एक गौ और एक वैल दिया जाना चाहिये"। इन
८ अर्थ यह है कि यह लडकी का मूल्य है, इसे देने से पति को
धकार प्राप्त होता है। इन श्रुति वाक्यो का अभिप्राय यह नहीं
के पिता की स्वीकृति प्राप्त करने के लिये यह मूल्य दिया जाता है।
ान्य वस्तुओ के समान वेचे और खरीदे जाने से स्त्रियां सम्पत्ति

की दूसरी युक्ति स्त्री के विक्रय का सूचक यह श्रुति वचन है
द्वारा खरीदी जाने पर वह दूसरे व्यक्तियो से सम्वन्ध रखती
तीसरी युक्ति यह है—चूंकि उन पर पति का स्वामित्व होता
कार्य (कमाई) पर भी पति का स्वत्व होता है[११]। शवर ने
ीकरण किया है—"यदि कोई यह युक्ति दे कि स्त्रियां खाना
वा कातने से कमाई करें और इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति से यज्ञ
पक्षी यह कहेगा कि स्त्री की कमाई अपनी वैयक्तिक सम्पत्ति नही
पर पति का स्वामित्व है तो उससे सम्वन्ध रखनेवाली प्रत्येक वस्तु
अधिकार है। पति के लिये कार्य करना उस का कर्तव्य है, उसे यह
देता कि वह उसके काम छोड कर अपना काम करे। वस्तुतः
से वह जो भी कमाई करती है, वह पति की सम्पत्ति होती है।
मनुस्मृति के एक वचन (८।४१६) से इस मत की पुष्टि की है"[१२]।

शावरभाष्य ६।१।१० अद्रव्यत्वं स्त्रीणां क्रयविक्रयाभ्यां, क्रयविक्रय-
स्त्रियः, पित्रा विक्रीयन्ते, भर्त्रा क्रीयन्ते, विक्रीतत्वाच्च पितृधनाना-
। क्रीतत्वाच्च भर्तृधनानाम्। विक्रयो हि श्रूयते, 'शतमधिरथं दुहितृ-
, आर्षे गोमियुनमिति'।...एवं द्रव्यैः समानयोगित्वं स्त्रीणाम्।
मी० ६।१।११ तथा चान्यार्थदर्शनम्। शा० भा०—या पत्या क्रीता-
इति क्रीततां दर्शयति।
वही ६।१।१२ तादर्थ्यात् कर्मतादर्थ्यम्।
मी० सू० ६।१।१२ पर शावर भाष्य—आह, यदनया भक्तोत्सर्पणेन
वा धनमुपार्जितं, तेन यक्ष्यते इति। उच्यते, तदप्यस्या न स्वम्, यदाहि

उत्तर पक्ष—जैमिनि ने नारियो को सम्पत्ति का स्वामी न मानने वाले उपर्युक्त पूर्व पक्ष का चार सूत्रों (६।१।१३-१६) द्वारा खण्डन किया है। पहले सूत्र में यह युक्ति दी गयी है—"(यज्ञों से स्वर्गादि) फल प्राप्त करने की इच्छा स्त्री पुरुष दोनो में समान रूप से होती है। निर्धन होने पर भी पत्नी स्वर्ग जाने की इच्छा रख सकती है, इस फल को पाने के लिये यज्ञ का विधान करने वाले—'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधि वचन हैं, अतः उसे यज्ञ करने चाहियें, यदि स्मृति का अनुसरण करते हुए वह सम्पत्तिहीन हो, 'यजेत' का विधि-वाक्य होते हुए भी यज्ञ न करे तो स्मृति द्वारा श्रुतिवचन का खण्डन होगा और यह ठीक नही है। इस से यह परिणाम निकलता है कि स्वर्गादि फल की आकाक्षा रखने वाली को स्मृतिवचन का प्रमाण न मानते हुए सम्पत्ति प्राप्त कर के यज्ञ करना चाहिये'[१३]।

दूसरे सूत्र मे जैमिनि ने यह तर्क उपस्थित किया है कि पत्नी का सम्पत्ति के साथ सम्वन्ध वताने वाले अनेक श्रुतिवचन हैं। विवाह के समय पति को कहा जाता है कि धार्मिक, साम्पत्तिक, आनन्द विषयक कार्यों में पत्नी का अतिचार (उपेक्षा) नही करना चाहिये। मनुस्मृति का पत्नी को सम्पत्ति-हीन वताने वाला वचन श्रुतिविरोधी होने से ठीक नही, इसका अर्थ केवल यह वताना है कि पत्नी पति के नियन्त्रण से स्वाधीन नही होनी चाहिये, यह व्यवस्था परिवार में शान्ति और सौहार्द वनाये रखने के लिये है[१४]।

सा अन्यस्य स्वभूता, तदा यत्तदीयं तदपि तस्यैव। अपि च, स्वामिनस्तया कर्म कर्त्तव्यम्। न तत्परित्यज्य स्वकर्मार्हति कर्त्तुम्। यत्तया अन्येन प्रकारेणोपार्ज्यते, तत्पत्युरेव स्वं भवितुमर्हति। एवं च स्मरति, 'भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सर्व एव ते। यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनमिति'।

१३. मी० सू० ६।१।१३ फलोत्साहाविशेषात्तु। शा० भा०—श्रुतिविशेषात्फलार्थिन्या यष्टव्यम्, यदि स्मृतिमनुरुध्यमाना परवशा निर्धना च स्यात्, यजेतेत्युक्ते सति न यजेत, तत्र स्मृत्या श्रुतिर्बाध्येत। न चैतत् न्याय्यम्। तस्मात्फलार्थिनी सती स्मृतिमप्रमाणीकृत्य द्रव्यं परिगृह्णीयात् यजेत चेति।

१४. वही ६।१।१४, अर्थेन च समवेतत्वात्। शा०भा०—एवं दानकाले संवादः क्रियते, धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरितव्येति। यत्तूच्यते, भार्यादयो निर्धना इति, स्मर्यमाणमपि निर्धनत्वम्, अन्याय्यमेव, श्रुतिविरोधात्। तस्मादस्वातन्त्र्यमनेन प्रकारेण उच्यते, संव्यवहारप्रसिद्ध्यर्थम्।

के सम्बन्ध में जैमिनि ने यह उत्तर दिया है कि यह विशुद्ध कार्य है । "यह वास्तविक रूप से बेचना नही है, क्योकि का दाम चढ़ता और गिरता रहता है, किन्तु विवाह में यह ', कन्या सुरूप हो या कुरूप, उसके लिये रथ में जुडने वाले ' जायेंगे। यदि स्मृतियो मे पत्नी के क्रय-विक्रय के वचन हो तो धी होने से अमान्य होगे[१५] । इसके अतिरिक्त स्त्रियो के मत्व (स्ववत्ता) को सूचित करने वाले श्रुति वचन भी है। दो वचनो का निर्देश किया[१६] । इस विवेचना से यह स्पष्ट के मतानुसार स्त्रिया सम्पत्ति का स्वामी होने की योग्यता रखती मेन का यह मत ठीक नही प्रतीत होता—"अत्यन्त प्राचीन स्त्रियो को सम्पत्ति रखने का अधिकार नही था, वे दास समझी के स्मृतिकारो तथा टीकाकारो ने उनकी साम्पत्तिक स्थिति । वस्तुत· तथ्य यह है कि वैदिक युग के अन्त मे हिन्दू नारी के (ो में कुछ ह्रास हुआ ।

का स्त्री को अदायाद वनाना—धर्मसूत्रो मे इसके स्पष्ट सकेत ते हैं। इस समय तक स्त्रियो की स्थिति पहले वताये कारणों चुकी थी (दे० ऊ० पृ० १३३-३८), उनकी आजीवन परतन्त्रता सर्वमान्य हो चुका था (दे० ऊ० पृ० १४४) । वौधायन ने सम्भ- 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' की यह व्याख्या की कि वह दाय की

(६।१।१५, क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् । यत्तु क्रयः श्रूयते, धर्ममात्रं क्रय इति, क्रयो हि उच्चनीचपण्यपणो भवति । नियतं त्विदं दानं कन्यां प्रति । स्मार्त च श्रुतिविरुद्धं विक्रयं

वही ६।१।१६ स्ववत्तामपि दर्शयति । शवर द्वारा इसकी पुष्टि में ' में पहला 'पत्नी वै पारिणह्यस्येष्टे (तै० सं० ६।२।१।१) ० ४) उद्धृत किया जा चुका है । दूसरा वचन यह है, जाघन्या पत्नीः भसद्वीर्या हि पत्न्यः, भसदा वा एताः परगृहाणामैश्वर्यमवरुन्धत', इति के लिये भसद् के साथ यज्ञ करते है, स्त्रियो का गौरव भसद् में वे दूसरे घरो की स्वामिनी वनती है। भसद्-योनि)
जान मेन—हिन्दू ला षष्ठ सस्करण पृ० ८६ ।

अधिकारिणी नही है, क्योकि श्रुति मे कहा गया है कि स्त्रिया निरिन्द्रिय और दायहीन होती है[१८]। मध्यकालीन निबन्धकारो के लिये बौधायन का यह वचन स्त्रियों को साम्पत्तिक अधिकारों से वचित करने के लिये ब्रह्मवाक्य हो गया। जीमूतवाहन (दा० पृ० २०९), अपरार्क (२।१२४) देवण्णभट्ट (स्मृच पृ० २७) चडेश्वर (विर० ४९५) मित्रमिश्र (वी० मि० २।१३६, व्यप्र० ५२९) तथा कमलाकर (विता० ३३४) ने इसे उद्धृत किया है।

स्त्रियों को इस प्रकार अदायाद बनाने का क्या कारण था ? श्री सर्वाधिकारी ने यह कल्पना की है कि नारियो को साम्पत्तिक अधिकारो से इसलिये वचित किया गया कि वे सकटपूर्ण समयो मे पारिवारिक कार्यो का प्रबन्ध करने मे असमर्थ थी। "स्त्रियां अवला समझी जाती थी; हिन्दू इतिहास में हमे कोई सेमिरामिस या वोडीसिया नही मिलती। ऋग्वेद में हम यह पढ़ते है कि मनु की कन्या इडा ने मानव जाति को यज्ञो की विधि सिखलायी थी, उपनिपदो के युग में हमे मैत्रेयी की तथा अन्य अनेक स्त्रियो की वुद्धिमत्तापूर्ण उक्तियो के अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नही, किन्तु ऐसी स्त्री कहां थी, जो शत्रु के आक्रमण रोक सके। परिवारिक सम्पत्ति का प्रवन्ध करना स्त्रियों के लिये वडा कठिन काम था। अतः यह अच्छा था कि उन्हे परिवार के मन्दिर मे देवता वना दिया जाय और जीवन की स्थूल चिन्ताओ के भार से मुक्त कर दिया जाय"[१९]।

किन्तु यह व्याख्या कई कारणो से ठीक नही प्रतीत होती। यह आवश्यक नही कि योद्धा समाज मे सदैव नारियाँ साम्पत्तिक अधिकारो से वचित हों, पहले (पृ०५४५) यह वताया जा चुका है कि प्राचीन यूनान मे केवल स्पार्टा के सैनिक राज्य मे स्त्रिया सम्पत्ति की स्वामिनी थी। ऋग्वेद में इडा के ही दर्शन नही होते, किन्तु वही सायणभाष्यानुसार हम मुद्गलानी को युद्धभूमि में

---

१८. बौधा० २।२।५।३ न दायं, निरिन्द्रिया ह्यदायाश्च स्त्रियो मता इति श्रुतिः।

१९. सर्वाधिकारी—प्रिन्सिपल्ज आफ् हिन्दू ला आफ इनहैरिटेन्स पृ० २०९। दन्तकथाओं के अनुसार सेमिरामिस असीरिया की राजधानी निनेवा के संस्थापक नाइनस (२१८२ ई० पू०) की वीर पत्नी थी और बोडीसिया पहली श० ई० में इंगलैण्ड में रोमन शासन के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करने वाली वीरांगना।

जाते हुए और उसके सारथि कर्म से पति को विजयी होता हुआ
। सर्वाधिकारी के मतानुसार वैदिककाल बहुत संघर्षमय था, किन्तु
पृ० ५४७) यह बताया जा चुका है कि इस समय स्त्री को
उपलब्ध सम्पत्ति पर स्वत्व प्राप्त था। अत सर्वाधिकारी का
ठीक नही प्रतीत होता।

ो के समय में तथा बाद मे स्त्रियो को अदायाद मानने का वास्तविक
बताये कारणो (दे० ऊ० पृ० १३३ अनु०) से उनकी स्थिति
ा था। कर्मकाण्डप्रधान युग में पवित्रता का विचार बहुत अधिक
पहले याज्ञिक अधिकारो से वचित हुई और बाद में साम्पत्तिक
जैमिनि की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि ये दोनों अधिकार
थे। स्त्रियो की शिक्षा बन्द होने से तथा बालविवाह के प्रचलन
बिल्कुल नष्ट हो गयी। ये सब कारण स्त्रियो के साम्प-
को सकुचित करने में सहायक सिद्ध हुए। स्त्रियो को पुरुषो के तुल्य
न देने के अन्य दो कारणो का पहले उल्लेख हो चुका है (दे०
२६–२७)।

ीन टीकाकार और स्त्री का दायाधिकार—बौधायन द्वारा
होने की घोषणा के बावजूद धर्मसूत्रो और स्मृतियो में माता,
स्त्रियो को स्पष्टरूप से दायाद माना गया है[२१]। मध्य-
ो के आगे यह समस्या थी कि इन विरोधी वचनों का
प्रकार किया जाय। यह मुख्यत निम्न ढगो से किया गया—
ने मिताक्षरा में बौधायन वाले श्रुति वचन का उल्लेख ही

ऋ० १०।१०२।२ रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं
ना।

पैतृक द्रव्य में पुत्रों के बराबर माता के हिस्से का विधान विष्णु-
३४ में है—मातरः पुत्रभागानुसारेण भागहारिण्यः मि०ना०स्मृ० १६।१२
माता पुत्राणा स्यात् मृते पतौ। बृहस्पति (धर्मकोश २।१४१३),
(वही-वहीं) व्यास और देवल (धर्मकोश २।१४१४) ने भी माता
समान दायार्ह माना है। कन्या के दायसंबन्धी प्रमाणो का पिछले
उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य अपुत्र पुरुष के मरने पर उसके उत्तरा-
में पत्नी को प्रथम स्थान देता है (याज्ञ० २।१३५)।

नही किया। (२) माधवाचार्य ने यह सिद्ध किया कि यह वचन स्त्रियो के दाय निषेध का प्रमाण नही हो सकता (३) जीमूतवाहन ने स्त्रियो को 'अदायाद वनाने वाले वचनो तथा मातादि को दायार्ह बतलाने वाले स्मृतिवाक्यो के विरोध का परिहार इस प्रकार किया कि सामान्य रूप से स्त्रिया दायाद नहीं हैं, किन्तु शास्त्रो मे विशेष वचनो द्वारा जिनको दायाद बनाया गया है, उन्हे दायार्ह समझना चाहिये।

मध्यकाल में विज्ञानेश्वर सभवतः स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकारो का सब से बड़ा समर्थक था। वह यह नही मानता था कि स्त्रियां अदायाद हैं, उसने बौधायन वाली श्रुति का कही उल्लेख नही किया, पहले यह बताया जा चुका है कि वह स्त्रियो की परतन्त्रता को उनके साम्पत्तिक स्वत्व मे बाधक नही समझता था (दे० ऊ० पृ० ५४४)। जीमूतवाहन की भाति वह यह नही मानता कि केवल वही स्त्रिया दायाद हो सकती है, जिनका स्मृतियों में नामतः उल्लेख है, पर परदादी के किसी शास्त्र में निर्दिष्ट न होने पर भी वह गोत्रज सपिण्डो में उसे दायाद बनाता है (मिता० २।१३५)। विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की इतनी विस्तृत व्याख्या की है (दे० नी० पृ० ५६५) कि उसमें सम्पत्ति प्राप्त करने के सभी प्रकारों—उत्तराधिकार, क्रय, बटवारा आदि का समावेश हो जाता है[२२]। वर्त्तमान न्यायालयो ने विज्ञानेश्वर की इस व्याख्या को पूरी तरह स्वीकार नही किया[२३], किन्तु इसमें कोई सदेह नहीं कि विज्ञानेश्वर स्त्रियो के साम्पत्तिक स्वत्व को पूरी तरह मानता था।

---

२२. सर हेनरी मेन ने विज्ञानेश्वर के स्त्रीधन के लक्षण पर यह टिप्पणी की है कि यदि यह सब स्त्रीधन हो तो इस से यह परिणाम निकलता है कि प्राचीन हिन्दू कानून ने सैद्धान्तिक रूप से विवाहित स्त्रियों को उस से अधिक मात्रा में साम्पत्तिक स्वतन्त्रता दी थी, जो अंग्रेज स्त्रियों को वर्त्तमान काल में इंगलैण्ड के 'विवाहित स्त्रियों की सम्पत्ति कानून' से मिली है (अर्ली इंस्टीट्यूशन्स, पृ० ३२२)।

२३. उदाहरणार्थ बनारस सम्प्रदाय म स्त्री द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं समझी जाती। विधवा को पति में विरासत से मिली जायदाद को प्रिवी कौन्सिल ने स्त्रीधन नहीं माना (ठाकुर देई ब० बालकराम, ११ म्यू० इं० ए० १३९; भगवान दीन ब० मैना ११ म्यू० इं० ए० ४८७)। इसी प्रकार लड़की द्वारा पिता से विरासत में प्राप्त सम्पत्ति भी स्त्रीधन नहीं

ने बौधायन के वचन पर यह मत प्रकट किया कि स्त्री दाय-
पर पत्नी आदि को दायाद बनाने वाले विशेष वचन है; अतः
से स्त्रिया दायाद नहीं है, किन्तु नामत. निर्दिष्ट स्त्रियों को दायाद
[24]। चण्डेश्वर का भी यही मत था[25]। आगे यह बताया
न्यायालयो ने भी यही स्थिति स्वीकार की है।
ने स्त्रियो को अदायाद बताने वाले श्रुति वचन की ठीक
हुए कहा है कि इसका वास्तविक अर्थ यह है कि पात्नीवत नामक
ोमरस के प्याले में पत्नी का कोई भाग नही होता, क्योकि 'इन्द्रिय

ब० चुन्नूलाल इं० ला० रि० ४ कल० ७४४)। मद्रास में भी
इं० ला० रि० ३ म० २९०) हैं। न केवल पुरुषों, किन्तु स्त्रियों से
में प्राप्त सम्पत्ति भी स्त्रीधन नहीं होती, दे० शिवशंकर ब०
० ला० रि० २५ अला० ४९८।
दा० २०९ न दायमर्हति स्त्रीत्यन्वयः। पत्न्यादीनां त्वधिकारो विशेष-
:।
स्त्रियों के अदायाद सम्बन्धी श्रुतिवचन पर कुछ मध्यकालीन टीका-
देखना अप्रासंगिक न होगा। अपरार्क (या० २।१३५-३६) का मत है कि
निरिन्द्रियाश्चादायादाः' का वचन पुत्रो के होने पर ही लागू होता
: स्त्रियां दायाद नहीं, किन्तु पुत्रो के अभाव में दायाद बन सकती
भट्ट ने कहा—माताऽप्यंशं समं हरेत् (याज्ञ० २।१२३), मातरः पुत्र-
भागहारिण्यः (वि० १८।३४-३५) आदि वचन स्त्रियों को अंश-
बनाते हैं, दायहर नहीं। स्त्रियां दायाद नहीं हैं किन्तु उनके
में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती! (स्मृच २६७ दाया-
दायहरत्वोक्तिर्विरुध्यते। न पुनरंशहरत्वोक्तिः। अंशशब्दो हि
न दायवचनः) अन्यत्र देवण्ण भट्ट ने इसे अर्थवाद (प्रशंसा परक)
, न कि सामान्य विधि। यह विधि उन पत्नी आदि स्त्रियो पर लागू
जिन्हे सींग से पकड़ कर अर्थात् स्पष्ट रूप से शास्त्रीय वचनों द्वारा
गया है (स्मृच पृ० २९४ यत्तु श्रुतौ चोक्तं तस्मात्स्त्रियो निरि-
इति तदपि न मन्वादिवचनबाधकम्।......भवतु वा सर्व-
:। तथापि दायादतया शृंगग्राहोक्तपत्न्यादिस्त्रीव्यतिरिक्त
•गुतिरिति सर्वं सुस्थम्)। मि० व्यप्र० पृ० ५१७

वैं सोमपीथः' के श्रुति वचन में इन्द्रिय शब्द का प्रयोग सोम के अर्थ में देखा जाता है[२६]। अतः इस वचन का दाय के साथ कोई सम्वन्ध नही है। माधव के इस सही अर्थ का मित्रमिश्र ने वडा अयुक्तियुक्त खण्डन किया है। उसका यह तर्क है कि इन्द्रिय का अर्थ यदि सोम हो तो भी वौधायन द्वारा स्त्रियो को अदायाद वनाने का प्रतिपादक कोई श्रुतिवचन होना चाहिये क्योकि यह तर्कसंगत नही प्रतीत होता कि वौधायन ने स्त्रियों के अदायाद होने का एक तथ्य के रूप उस अवस्था में वर्णन किया हो, जव कि श्रुति में कोई ऐसा स्पष्ट निषेधपरक वचन न हो[२७]। मित्रमिश्र के इस तर्क पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नही है।

दुर्भाग्यवश वर्त्तमान न्यायालयों ने जीमूतवाहन और मित्रमिश्र की व्याख्या सही मानी। कलकत्ता हाईकोर्ट ने यह मत प्रकट किया कि श्रुति तथा बौधायन के वचनो मे स्त्रियों के दायनिपेध के जिस नियम का प्रतिपादन है, मित्रमिश्र ने जिसकी पुष्टि की है, वह स्त्रियो को रिक्थ के अधिकार से पूर्णरूप से वंचित करता है[२८]। इस निर्णय के अनुसार स्मृतियों मे नामतः उल्लिखित स्त्री संवन्धियो के अतिरिक्त अन्य कोई स्त्री निकटतम सम्बन्धी होने पर भी उत्तराधिकार मे सम्पत्ति नही पा सकती[२९]। यदि न्यायालय विज्ञानेश्वर और माधव का अनुसरण करते तो यह शोचनीय स्थिति न उत्पन्न होती। अव तो कानून द्वारा ही इसका प्रतिकार हो सकता है। १९२९ के दूसरे कानून के अनुसार वहिन, पोती और दोहती का दायादों की श्रेणी में परिगणन करते हुए इन्हे ऊँचा स्थान दिया गया; प्रस्तावित हिन्दू कोड तथा नवीन हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक मे स्त्री दायादो का स्पष्ट उल्लेख है और उन्हे पुरुषों के तुल्य अधिकार दिये गये हैं।

---

२६. परामा० ५३६ या च श्रुतिः 'तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादा' इति सा पात्नीवतग्रहे तत्पत्न्या अंशो नास्तीत्येवंपरा। इन्द्रियशब्दस्य 'इन्द्रियं वैं सोमपीथः' इति सोमे प्रयोगदर्शनात्।

२७. व्यप्र० ५२९-५३० अस्तु वा इन्द्रियपदस्य वाक्यशेषात्सोमपरता तथापि दायादत्वाभावाभिधानावलम्वनस्यान्यस्यासत्वान्निरालम्वनश्रुतेश्चासंभवात्सिद्धवत्कीर्त्तनानुपपत्तिप्रसूतप्रतिषेधकल्पनावश्यम्भावात्।

२८. जगदम्बा व० सेक्रेटरी आफ स्टेट १६ कल० ३६७;

२९. ३७ म० २८६

विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दूसमाज मे स्त्रियो को वैदिक-
अधिकार थे, जैमिनि ने इनका प्रबल समर्थन किया। पर
ो की स्थिति गिरने से ये स्वत्व कम होने लगे। बौधायन ने
घोषित किया, किन्तु विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की उदार व्याख्या
को विशद बनाया। माधव ने स्त्रियो को अदायाद बताने वाले
किया। पर जीमूतवाहन ने स्त्रीधन की सकुचित व्याख्या की,
ों द्वारा इस के स्वीकृत होने पर स्त्रियो के साम्पत्तिक अधिकार
हो गये, इनका प्रतिकार नये कानूनों द्वारा हो रहा है।
में स्त्रियों के साम्पत्तिक अधिकारों के सामान्य प्रतिपादन के
के स्वरूप का वर्णन होगा।

स्त्रीधन का स्वरूप

आदिम रूप—ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रीधन का आरम्भ
विवाह के समय कन्या को दिये जाने वाले दहेज (वहतु) की
वस्त्र, आभूषण तथा घर की अन्य सामग्री (पारिणाह्य) से
तथा वसिष्ठ स्त्रीधन में स्पष्टरूप से गहनो (अलकार)
समय मिले द्रव्य (परिणाय्य) का उल्लेख करते है, आपस्तम्ब
आचार्यों का यह मत उद्धृत किया गया है कि अलकारो तथा
सबन्धियो से मिले धन पर पत्नी का स्वत्व होता है[१२]।

० १०।८५।१३ तथा अथर्व १४।१।१३ में कहा गया कि सूर्या
ने जो दहेज (वहतु) दिया, वह उसके श्वशुरालय में पहुँचने से
पहुँच गया (सूर्यायाः वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्)। एक अन्य
१०।८५।३८, अथर्व० १४।२।२१, पा० गृ० १।७।३) में कन्या
देने का वर्णन है (तुभ्यमग्रे पर्यवहन् सूर्यां वहतुना सह)। अथर्व
द्वारा लड़की के लिये दहेज जुड़ाने का वर्णन है (त्वष्टा दुहित्रे
)। सायण ने वहतु शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इस प्रकार किया
जामातृगृहं प्राप्यत इति वहतुः। दुहित्रा सह प्रीत्या प्रस्थापनीयं
वहतुशब्देन विवक्षितम् (अथर्व० ३।३१।५); कन्याप्रियार्थं
ों वहतुः (ऋ० १०।८५।१३)
० ऊ० टिप्पणी सं० ४, पृ० ५४७
० २।२।४९ मातुरलंकारं दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा।

विष्णु, कौटिल्य और याज्ञवल्क्य स्मृति से पहले स्त्रीधन के प्रकारो में शुल्क (कन्या के पिता को दिया गया धन) का कोई उल्लेख नही मिलता, अतः सर हेनरी मेन तथा अल्तेकर की यह कल्पना मान्य नही प्रतीत होती कि स्त्रीधन का उद्‌गम शुल्क से हुआ है[३३]।

गौतम ने सर्वप्रथम स्त्रीधन शब्द का उल्लेख किया है (२८।२५), किन्तु इसका स्वरूप स्पष्ट नही किया। बौधायन (२।२।४९) और वसिष्ठ (१७।४६) इस शब्द का प्रयोग न करते हुए गहनो तथा विवाह के समय भेटो से मिले धन का स्त्रियों द्वारा बटवारा करने की व्यवस्था करते है। चौथी शताब्दी ईस्वी पूर्व मे कौटिलीय अर्थशास्त्र ने स्त्रीधन के सम्बन्ध मे सब से पहले विस्तारपूर्वक अनेक व्यवस्थाये की (३।२) और इसे दो प्रकार का बताया—(१) वृत्ति अर्थात् जीवन निर्वाह के साधन (भू-सम्पत्ति और सोना), (२) आवन्ध्य या शरीर मे बाधे जाने वाले आभूषण। वृत्ति रूप का स्त्रीधन दो हज़ार कार्षापण तक हो सकता था और आभूषणो मे कोई मर्यादा नही थी। यह स्पष्ट है कि वैदिक युग की अपेक्षा मौर्य युग मे स्त्रीधन का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया था, पहले उसमे केवल चल सम्पत्ति—अलकार और घर की सामग्री थी; अब उसमें जीवन निर्वाह के लिये वार्षिक राशि भी नियत की जाने

वसिष्ठ १७।४६ मातुः परिणेयं स्त्रियो विभजेरन्। आप० धर्मसूत्र २।६।१४।९ अलंकारो भार्याया ज्ञातिधनं चैके।

३३. मेन—अर्ली इंस्टीटयूशन्स पृ० ३२४, अल्तेकर—पोज़ीशन आफ वुमैन, पृ० २५९। शुल्क वर द्वारा विवाह के लिये वधू अथवा उसके माता पिता को दिया जाने वाला धन था। मेन के मतानुसार पितृतन्त्रीय प्राचीन हिन्दू समाज में यह शुल्क कन्या पर पैतृक या पारिवारिक प्रभुत्व की क्षति का प्रतिफल था; कन्या पिता के स्वामित्व से निकल कर वर को मिलती थी, अतः वर उसका मूल्य कन्या के पिता को चुकाता था। मेन के मतानुसार स्त्रीधन का आदिम रूप यही था। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्राचीन हिन्दू परिवार में शुल्क की प्रथा थी, ऋ० १।१०९।२ में इसका संकेत है, गौतम (२८।२३) ने सर्वप्रथम इसका नामतः उल्लेख किया, मनु ने इसकी निन्दा की है (३।५१)। किन्तु कौटिल्य (४ थी श० ई० पू०) से पहले किसी सूत्रकार ने स्त्री-धन में शुल्क का वर्णन न कर, वधू के अलंकारों का प्रधान रूप से उल्लेख किया है, अतः यही स्त्रीधन का आदिम रूप समझा जाना चाहिये।

९ ने परवर्त्ती स्मृतिकारो द्वारा निर्दिष्ट शुल्क, आवेय, आधि-
और वन्धुदत्त नामक स्त्रीधन का भी उल्लेख किया है[३४]।

के समय स्त्रीधन के भेद बढ़ने लगे। मनु ने ९।१९४ में छः प्रकार
स्त्रीधनो की गणना की है—(१) अध्यग्नि—विवाह सस्कार की अग्नि
दिया गया धन (२) अध्यावाहनिक—पतिगृह से लाते समय दिया गया
प्रीतिदत्त—प्रीतिकर्म में दिया हुआ धन (४-६) भाई, माता और
दिया गया द्रव्य[३५]। इनके अतिरिक्त मनु ने दो अन्य प्रकार के

कौ० ३।२ वृत्तिराबन्ध्यं वा स्त्रीधनम्। परद्विसाहस्रा स्थाप्या वृत्तिः।
:। श्री मूला व्याख्या—वृत्तिर्भूमिहिरण्यादिजीविकार्था, आवन्ध्यं-
। दो हजार पण की मर्यादा का उल्लेख कात्यायन (स्मृच० द्वारा उ०
तया व्यास (स्मृच—वहीं) ने भी किया है (द्विसहस्रः परो दायः
धनस्य च)। स्मृति चन्द्रिका ने व्यास के वचन की विवेचना
यह परिणाम निकाला है कि यह प्रतिवर्ष दी जाने वाली राशि है
देय इत्यत्र प्रत्यब्दमिति विधेयसंख्या योग्यतावलादवगम्यते)। व्यवहार
भी यही मत है ((पृ० ५४४)। पराशर द्वारा उद्धृत (३।५४८)
के वचन से यह ज्ञात होता है कि वृत्ति में स्थावर सम्पत्ति
सकती थी (दद्याद्धनं च पर्याप्तं क्षेत्रांशं वा यदिच्छति)। अर्थशास्त्र
उद्धृत की टीका से भी इसकी पुष्टि होती है। श्री अल्तेकर के मता-
हजार पण क्रय शक्ति की दृष्टि से द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व १० हजार
थे (पोजीशन आफ वुमैन पृ० ३०५), इनका वर्त्तमान मूल्य
सूचक अक मानते हुए ३५ हजार रुपये के लगभग होगा।

मनु० ९।१९४ अध्यग्न्यध्यावाहनिकं दत्तं च प्रीतिकर्मणि। भ्रातृमातृ-
षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्॥ मिताक्षरा के अनुसार छः की यह संख्या
है कि इस से कम प्रकार का स्त्रीधन नहीं हो सकता, किन्तु अधिक
स्त्रीधन संभव है (याज्ञ० २।१४३ पर मिता० इति स्त्रीधनस्य
तन्न्यूनसंख्याव्यवच्छेदार्थं नाधिकसंख्याव्यवच्छेदाय)। अध्या-
की व्याख्या इस प्रकार की गयी है—नन्दन के मतानुसार आवहन
पितृकुल से पति कुल में आना, इस समय मिली वस्तुयें अध्यावाहनिक
विर० ५२२ अध्यावाहनिकं पतिगृहं नीयमानायाः पृष्ठतो यन्नीयते
गृहात्पितृगृहं यदा श्वशुरादिभिर्दत्तमध्यावाहनिकमिति मेधातिथिः।

स्त्रीधनों का भी उल्लेख किया है—अन्वाधेय या विवाह के बाद मिली भेंटें (९।१४५) तथा यौतक (९।१३१)। यौतक संभवतः मनु ने सामान्य रूप से स्त्रीधन के लिये प्रयुक्त किया है, किन्तु टीकाकारो मे इसके अर्थ के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है[३६]। नारद (दा० ४८) ने मनु की भाति छः प्रकार का ही स्त्रीधन गिनाया है, किन्तु मनु के प्रीतिकर्म में दिये धन के स्थान पर भर्तृदाय (पति द्वारा दिया धन)का उल्लेख कर उसने मनु के उपर्युक्त प्रकार को संकुचित कर दिया है। विष्णु (१७।१८) और याज्ञवल्क्य ने मनु के स्त्रीधन में निम्न

सर्वज्ञनारायण के मतानुसार प्रीतिदत्त का अर्थ है—रतिकाल के समय पति द्वारा दी वस्तु (प्रीतिकर्मणि रतिकाले पत्या दत्तम्) और चण्डेश्वर के मत में यह श्वशुरादि द्वारा वधू के शील धर्मादि गुणों से प्रसन्न होकर दी गयी भेंट है। (विर० ५२२)।

३६. मनु० ९।१३१ मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः। मनु के सब से पुराने टीकाकार मेधातिथि ने इसका अर्थ किया है कि यह स्त्री की पृथक् सम्पत्ति है, जिस पर उसका पूरा स्वाम्य है (यौतकशब्दः पृथग्भावेन च स्त्री-धने। तत्र हि तस्या एव केवलायाः स्वाम्यम्) अप० (याज्ञ० २।११७) का भी यही मत है। जीमूतवाहन मिश्रण वाची यु धातु से इसकी व्युत्पत्ति करता है, विवाह से पति पत्नी एक हो जाते हैं, अतः विवाह के समय मिला धन यौतक है। (यु मिश्रण इति धातोर्युत इति पदं मिश्रतावचनं, मिश्रता च स्त्रीपुरुषयोरेक-शरीरता विवाहाच्च तद्भवति 'अस्थिभिरस्थीनि मांसैर्मांसानि त्वचा त्वचमिति श्रुतेः, अतो विवाहकाले लब्धं—यौतकम् दा० ८२)। स्मृति चन्द्रिका के अनु-सार विवाहादि के समय पति पत्नी के एक आसन पर इकट्ठा (युत) बैठे हुए जिस किसी से मिली भेंटें यौतक हैं। (स्मृच २।२८५ यौतकं समानास नोपवेशनप्रत्यासन्नयोर्वधूवरयोर्विवाहादौ येन केनचित्समर्पितम् धनं तद्वधू-वरयोर्देयम् 'युतयो यौतकं मतमिति' निघण्टुकारोक्तत्वात्)। देवस्वामी के मत में पितृगृह से प्राप्त धन के पतिगृह से प्राप्त धन से पृथक् होने के कारण पहला धन यौतक है, क्योंकि यु धातु का अर्थ पृथक् करना भी होता है (स्मृच वहीं)। चण्डेश्वर ने कहा है कि हलायुध के मतानुसार यौतक वह धन है, जो पत्नी को शाक दाल के व्यय के लिये दिया गया हो और उसने उसे अपने कौशल से बढ़ा लिया हो (हलायुधस्तु यौतकं शाकसूपाद्यर्थं स्त्रियै दत्तं तया स्वकौशलेन विशेषितं विर० ५१७)।

बन्धुदत्त और शुल्क[३०]। अधिवेदन
पहली स्त्री को दिया गया धन आधि-
कन्या के माता-पिता के सम्बन्धियों
साधारण अर्थ वह राशि है, जो कन्या
जाती है[३८]।

मिता०—पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपाग-
परिकीर्त्तितम् ॥ बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वा-

०—शुल्कं यद् गृहीत्वा कन्या दीयते। मध्य-
अर्थ किये हैं-(१) दाय भाग (पृ० ९२)
क) घर बनाने वाले कारीगरों तथा सुनारादि
के रूप में दिया द्रव्य कि वह पने पति आदि
(गृहादिकर्मिभिः शिल्पिभिस्तत्कर्मकरणाय
तच्छुल्कं तदेव मूल्यं प्रवृत्त्यर्थत्वात्)। (ख)
को (प्रसन्नतापूर्वक) पति गृह में जाने की प्रेरणा
व्यासोक्तं वा यथा। यदानेतुं भर्तृगृहे शुल्कं तत्
यद्दत्तं तच्च ब्राह्मादिष्ववशिष्टम्)।
घर के वर्त्तन (उपस्कर), भारवाही पशु, दुधार
क्रय के लिए वर द्वारा दिया जाने वाला मूल्य शुल्क कह
उद्धृत) यह अर्थ स्मृतिचन्द्रिका से पुष्ट होता है, उसम
अथवा विवाह के समय वर द्वारा वधू को दी गयी
गया है (गृहोपस्करादीनां मूल्यं लब्धं कन्याधनत्वेन
स्मृच० २८१ मि०)। विवाद चिन्तामणि ने घर
पति से पत्नी द्वारा ली राशि को शुल्क कहा है (गृहो
स्त्रिया गृहपतितो यल्लब्धं तच्छुल्कमित्यर्थः पृ० १३९)।
अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विवाह के समय घर
मिल सका, उसका कन्या को दिया गया मूल्य शुल्क है
तन्मूल्यं कन्यादानकाले कन्यायै दत्तं तच्छुल्कमित्यर्थ व्यम०
ने कहा है (व्यनि० ४६८)—शुल्क दो प्रकार का होता
मूल्य के रूप में उसके माता पिता को दी जाने वाली राशि,

कात्यायन ने २७ श्लोकों में स्त्रीधन की बड़े विस्तार से व्याख्या की है, मनु, नारद आदि के छः प्रकार के स्त्रीधनो का विशद लक्षण करते हुए उसने स्त्रीधन के कुछ नये प्रकारों का भी उल्लेख किया है। उसके मतानुसार छः प्रकार के स्त्रीधनों का स्वरूप इस प्रकार है—(१) अध्यग्नि—विवाह संस्कार की अग्नि के सम्मुख स्त्री को दिया गया धन, (२) अध्यावहनिक—पितृगृह से पतिगृह में ले जाते समय स्त्री को दी गयी राशि, (३) प्रीतिदत्त—सास, ससुर द्वारा प्रीति पूर्वक दिया हुआ तथा चरण स्पर्श के समय दिया हुआ धन, (४) अन्वाधेय-पतिकुल और पितृकुल से विवाह के बाद मिला धन, (५) शुल्क—घर के सामान, भारवाही तथा दूध देने वाले पशुओं, आभूषणो तथा दासों के खरीदने के लिये मिला धन (६) सौदायिक—विवाहित अथवा क्वारी कन्या को पति के या पिता के घर मे, भाई और माता-पिता से मिला हुआ धन[३९]। इस धन के विनियोग के सम्बन्ध मे कात्यायन ने स्त्री को पूरी

यह कन्या के मरने पर उसकी माता और भाई को मिलती है (ख) कन्या के आभूषण और घर की सामग्री के क्रय के लिये दिया गया धन।

३९. मिता० २।१४३ तथा स्मृच पृ० २।२८०-१ में उद्धृत—विवाहकाले यत्स्त्रीभ्यो दीयते ह्यग्निसंनिधौ। तदध्यग्निकृतं सद्भिः स्त्रीधनं परिकीर्त्तितम्॥ यत्पुनर्लभते नारी नीयमाना पितुर्गृहात्। अध्यावहनिकं नाम स्त्रीधनं तदुदाहृतम्॥ प्रीत्या दत्तं तु यत्किञ्चित् श्वश्र्वा वा श्वशुरेण वा। पादवन्दनिकं चैव प्रीतिदत्तं तदुच्यते॥ विवाहात्परतो यत्तु लब्धं भर्तृकुलात्स्त्रियाः। अन्वाधेयं तदुक्तं तु लब्धं बन्धुकुलात्तथा॥ (दा० पृ० ९३) गृहोपस्करवाह्यानां दोह्याभरणकर्मिणाम्। मूल्यं लब्धं तु यत्किंचिच्छुल्कं तत्परिकीर्त्तितम्॥ ऊढया कन्यया वापि पत्युः पितृगृहेऽपि वा। भ्रातुः सकाशात्पित्रोर्वा लब्धं सौदायिकं स्मृतम्॥ उपर्युक्त प्रकार के स्त्रीधनों की टीकाकारों ने विभिन्न व्याख्यायें की हैं। अध्यावहनिक में विज्ञानेश्वर के मतानुसार पितृगृह से ले जाये जाते हुए वधू को सब व्यक्तियों से मिली भेंटें सम्मिलित हैं, किन्तु दायभाग के मत में इसमें पिता और माता के कुल से संबन्ध रखने वाले व्यक्तियों के ही उपहार आते हैं, इन से भिन्न व्यक्तियों की भेंट अध्यावहनिक नहीं (दा० पृ० ७३ पैतृकादित्येकशेषेण पितृमातृकुलाद् यल्लभते धनं भर्तृगृहं नीयमाना तदध्यावहनिकम्)। वाचस्पति के मत में यह गौने के समय जहां कहीं से भी मिले उपहार हैं (द्विरागमनकाले यत्कुतोप्यवाप्तं तदध्यावहनिकमित्यर्थः विचि० पृ० १३८)। सौदायिक का दायभाग के मतानु-

६८) । उसने शिल्प (कताई)
व्यक्तियो द्वारा भेंटों के द्रव्य को स्त्री-
१ होता है (दे० नी० पृ० ५७१) ।
में दिये हुए आभूषण स्त्रीधन नही
। स्त्री को विशेष उत्सव पर पहनने की
(२) अपने समांशी दायादो को ठगने
दिये गये जेवर[81] । देवल (दा० ७५
गिनाये हैं—वृत्ति या निर्वाह के लिये दिया
।

स्त्रीधन का स्वरूप—विज्ञानेश्वर और
को अपनी व्याख्याओ द्वारा क्रमशः विस्तृत और

करने वाले संबन्धियों से मिला धन (सुदाय-
० पृ० ७६) अमरकोश में यौतकादि की भेंट
ठन् प्रत्यय लगने से भी इस के अर्थ में कोई अन्तर
पृ० २८२) । सौदायिक वस्तुतः स्त्रीधन का
प्रकार के स्त्रीधनो का सामान्य नाम है, स्मृच०
की उक्ति से यह स्पष्ट है—विवाह के समय
और पति के घर से कन्या को जो धन मिलता है,
विवाहे च विवाहात्परतश्च यत् । पितृभर्तृगृहा-
॥)। विवाद चिन्तामणि में कात्यायन के उपर्युक्त
न का यही विस्तृत अर्थ किया गया है ।
इस व्यवस्था का कारण यह बताया है कि मध्यम एवं
निर्वाह प्रायः पति पत्नी दोनों की कमाई से होता है
); किन्तु यह शबर की ऊपर बतायी (पृ० ५५०)
है ।

८१ में उ०—तत्र सोपधि यद्दत्तं यच्च योगवशेन वा । पित्रा
तत्स्त्रीधनमिष्यते ॥ उपधि और योग की निबन्धकारों की
है—स्मृच पृ० २८१ यत्तूत्सवादावेव धार्यमित्येवाद्युपधिना
यच्च दायादादिवञ्चनार्थं दत्तम् (मि० व्यप्र० पृ० ५४२)
उत्सवादौ शोभा उपधिः । संभोगाद्यर्थं छलं योगः ।

संकुचित बनाने का प्रयत्न किया; वर्तमान हिन्दू कानून पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा है, अतः यहां दोनो के मतो का संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा। विज्ञानेश्वर की स्त्रीधन की व्याख्या का मुख्य आधार याज्ञ० के 'आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधन परिकीर्त्तितम्' (२।१४३) में आद्य शब्द का प्रयोग है। मिताक्षरा मे इस शब्द से यह परिणाम निकाला गया है कि "इससे उत्तराधिकार (रिक्थ), क्रय, बटवारा (संविभाग), जबर्दस्ती अधिकार (परिग्रह), और उपलब्धि (अधिगम) से प्राप्त सम्पत्ति सूचित होती है, मनु तथा अन्य शास्त्रकारो द्वारा यह स्त्रीधन कहा गया है। स्त्रीधन शब्द का प्रयोग यहा यौगिक अर्थ में है (स्त्री का धन स्त्रीधन है), न कि पारिभाषिक अर्थ मे; क्योंकि जहा यौगिक अर्थ लिया जा सकता हो, वहा पारिभाषिक अर्थ ग्रहण करना ठीक नही हो होता[४२]"। विज्ञानेश्वर ने यहां गौतम (१०।३९) के सम्पत्ति के स्वामी बनने के सब प्रकारो का आद्य शब्द से ग्रहण किया है। संभवतः वह इस विषय में स्त्री पुरुषो के लिये एक जैसा नियम बनाना चाहता था[४३]। उसकी यह व्याख्या मदन पारिजात (पृ० ६७१) सरस्वती विलास (पृ० ३७९), व्यवहार प्रकाश (पृ० ५४२) तथा बालभट्टी ने स्वीकार की है। इस व्याख्या के अनुसार विधवा को पति से उत्तराधिकार में प्राप्त होने वाली तथा पत्नी और माता को बंटवारे में मिलने वाली सम्पत्ति स्त्रीधन है।

जीमूतवाहन याज्ञ० के उपर्युक्त श्लोक में आद्यपद नहीं पढता और 'आधिवेदनिक चैव' का पाठ मानता है[४४] और कहता है कि वही सम्पत्ति स्त्रीधन है, जिसका पति से स्वतन्त्र रहते हुए, पत्नी दान, विक्रय या उपभोग कर

---

४२. याज्ञ० २।१४३ पर मिता०—आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमप्राप्तं एतत्स्त्रीधनं मन्वादिभिरुक्तम्। स्त्रीधनशब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः। योग सम्भवे परिभाषाया अयुक्तत्वात्। विज्ञानेश्वर की यह युक्ति इसलिये ठीक प्रतीत होती है कि मनु आदि ने छः से अधिक प्रकार के स्त्रीधनों का वर्णन किया है (दे० ऊ० पृ० ५६०)।

४३. जान मेन—हिन्दू ला, पृ० ७३९-४०, किन्तु इस सम्बन्ध में विज्ञानेश्वर ने स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि स्त्रीधन पर नारी को यथेच्छ विनियोग की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है।

४४. किन्तु अपरार्क (२।१४३) ने जीमूतवाहन का पाठ मानते हुए भी 'च' शब्द से विज्ञानेश्वर के अर्थ का समर्थन किया है।

। दायभाग में स्त्रीधन के प्रकार नही स्पष्ट किये गये, किन्तु
के वाद ही जीमूतवाहन ने लिखा है कि कात्यायन के मतानुसार
तथा सवन्धियो से भिन्न व्यक्तियो से दिया गया द्रव्य स्त्रीधन
नारद के मत में पत्नी को स्थावर सम्पत्ति के अतिरिक्त दी गयी
व्यय का अधिकार है[४६]। इससे यह परिणाम निकलता है कि
प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन नही मानता—(१) शिल्पो से
२) संवन्धियों से भिन्न व्यक्तियों से प्राप्त भेंटें (३) स्त्री द्वारा
में अथवा वंटवारे में पायी हुई स्थावर सम्पत्ति ।
काल में न्यायालयों ने स्त्रीधन विषयक मिताक्षरा की व्याख्या नही
, उत्तराधिकार अथवा वटवारे में स्त्री को मिली सम्पत्ति
कही स्त्रीधन नही मानी जाती । मिताक्षरा के अनुसार
पुरुष सवन्धियो (पति, पिता, पुत्र) अथवा स्त्री संवन्धियो
) द्वारा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन है; किन्तु प्रिवी
अपना निर्णय इसके विपक्ष में दिया है[४७]। स्त्रीधन न होने का

दा० पृ० ७६—तदेव च स्त्रीधनं यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दान-
कर्त्तुमधिकरोति । तदिदं किंचित्संक्षिप्याह कात्यायनः—'प्राप्तं
। अन्यत इति पितृमातृभर्तृकुलव्यतिरिक्तात् यल्लब्धं
यदर्जितं तत्र भर्त्तुः स्वाम्यं स्वातन्त्र्यं, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रही-
स्त्रिया अपि न स्त्रीधनमस्वातन्त्र्यात्, एतद्द्वयातिरिक्तधनं तु
दानविक्रयाद्यधिकारात् ।
दा० ७७, जीमूतवाहन ना० स्मृ० ४।२८ के इस वचन को पहले
है—भर्त्रा प्रीतेन यद्दत्तं स्त्रियै तस्मिन्मृतेऽपि तत् । सा यथा काम-
स्थावराद्दृते ॥ इस पर उसकी यह टिप्पणी है—भर्तृदत्तविशेष-
स्थावराद्दृते अन्यत् स्थावरं देयमेव भवति । अन्यथा यथेष्टं स्थावरे-
। श्री अल्तेकर के मतानुसार स्थावर सम्पत्ति के यथेच्छ विनि-
को अधिकार न देने का प्रधान कारण परिवार की संयुक्त
अखण्ड वनाये रखने की भावना थी (पोजीशन आफ वुमैन पृ०

ठाकुरदेवी व० वालकराम ११ म्यू० इं० ए० १३९, शिवशंकर व०
० रि० ३० इं० ए० २०२ । ये निर्णय मुख्य रूप से कात्यायन के

यह आशय है कि यह सम्पत्ति उस स्त्री के उत्तराधिकारियो को नही मिलेगी; किन्तु जिस पुरुष से उसे विरासत में मिली है, उसके वारिसो को लौट जायगी। वम्बई में विधवा द्वारा अपने पति से रिक्थ मे प्राप्त सम्पत्ति के अतिरिक्त, स्त्रियों द्वारा अपने पिता या भाई से अथवा स्त्री संबन्धियो से उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होती है, उस पर उनका पूर्ण अधिकार होता है और वह उन के वारिसों को ही मिलती है[४८]। वंटवारे में पत्नी या माता द्वारा प्राप्त सम्पत्ति वम्बई मे स्त्रीधन नही है।

आज कल स्त्रीधन के प्रायः सभी पुराने भेद अध्यग्नि अध्यावहनिक, प्रीतिदत्त, आधिवेदनिक, शुल्क, यौतक और सौदायिक स्वीकार किये जाते है। मद्रास हाईकोर्ट ने कात्यायन के शिल्पों द्वारा उपार्जित सम्पत्ति के स्त्रीधन न होने के नियम की ऐसी व्याख्या की है कि अपने वैयक्तिक परिश्रम और नैपुण्य से नारी द्वारा उपार्जित सम्पत्ति उस का स्त्रीधन माना जाता है[४९]।

स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व—विज्ञानेश्वर ने स्त्रीधन की वड़ी उदार व्याख्या की है, किन्तु जीमूतवाहन ने इसे उसी सम्पत्ति तक मर्यादित किया है, जिसके दान, विक्रय और भोग का उसे पूर्ण अधिकार है, इस विषय में वह पति के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है। इस से यह स्पष्ट है कि स्त्रीधन उसके स्वत्व की दृष्टि से दो प्रकार का हो सकता है—(१) ऐसी सम्पत्ति जिस पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व हो (२) ऐसी सम्पत्ति जिस पर उस का प्रभुत्व केवल पति द्वारा

इस वचन के आधार पर है कि पत्नी यावज्जीवन पति की सम्पत्ति का उपभोग करे और उसकी मृत्यु के वाद यह जायदाद पति के वारिसों को प्राप्त हो (भुंजीतामरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः दा० ७३ में उद्धृत)। यदि रिक्थ से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति पत्नी का स्त्रीधन होता तो यह सम्पत्ति पति के वारिसों को न मिल कर उसके दायादों (लड़कियों) को मिलती; अतः रिक्थ की सम्पत्ति स्त्रीधन नहीं हो सकती (विस्तृत विवेचना के लिये दे० बैनर्जी—हिन्दू ला आफ मैरिज पृ० ३००)।

४८. भाऊ व० रघुनाथ ३० वं० २२९, विजय रंगम् व० लक्ष्मण ८ वं० हा० रि० २४४, बलवन्तराव व० वाजीराव ला० रि० ४७ इं० ए० २१३, २३३

४९. देवीमंगल प्रसाद व० महादेव प्रसाद ला० रि० ३९ इं० ए० १२१, १३१-३२। सुब्रह्मण्यम व० अरुणाचलम् २८ म० १, सलम्मा व० लछमन २१ म० १००

ो। पहले प्रकार में मुख्य रूप से सौदायिक सम्पत्ति आती है और स्त्रीधन का दूसरे प्रकार में समावेश होता है।

७ सम्पत्ति—इस पर पत्नी के पूर्ण प्रभुत्व की स्पष्ट घोषणा मध्य-
९ ने की थी—'सौदायिक धन (पति से भिन्न अन्य सबन्धियों
) पाने पर इसके संबन्ध में स्त्रियों की स्वतन्त्रता वाछनीय
यह उन्हे (सबन्धियो द्वारा) निर्वाहार्थ अनुकम्पा की दृष्टि से
था (ताकि उन्हे धनाभाव में कष्ट न उठाना पड़े), सौदायिक
स्त्रियों की स्वतन्त्रता सदा मानी जाती है, वे इच्छानुसार सौदायिक
त का भी दान और विक्रय कर सकती है[१०]"। स्मृतिचन्द्रिका

स्मृच० २।२८२ में उद्धृत—सौदायिकधनं प्राप्य स्त्रीणां स्वातन्त्र्य-
तैर्दत्तमुपजीवनम् ॥ सौदायिके सदा स्त्रीणां
९ । विक्रये चैव दाने च यथेष्टं स्थावरेष्वपि ॥ विवाद-
०५११) ने इस की व्याख्या करते हुए लिखा है—आनृशंस्यमदा-
यस्मादियं वित्ताभावाद्दारुणा न भवत्वेतदर्थं तैः पित्रादिभिर्दत्तं तत्प्र-
लभ्यते। यहा कात्यायन से पूर्ववर्त्ती स्मृतिकारों के इस विषय के
उचित प्रतीत होता है। आपस्तम्ब कोई ऐसा स्त्रीधन नहीं
पर पत्नी का पृथक् एवं पूर्ण स्वत्व हो, वह दोनों के संयुक्त
स्वीकार करता है—२।१४।१६-१९ जायापत्योर्न विभागो विद्यते।
सहत्वं कर्मसु। तथा पुण्यफलेषु। द्रव्यपरिग्रहेषु च। हरदत्त ने
इस की व्याख्या करते हुए पत्नी की पराधीनता की पुष्टि की है 'पति
विनियोग का अधिकार है; किन्तु पत्नी को परिमित व्यय का ही
'। महाभारत में स्त्रीधन की मर्यादा तीन हजार पण मानते हुए,
उपभोग का अधिकार पत्नी को दिया गया है (१३।४७।२३)।
पर पति का अधिकार माना (८।४१६), पति की आज्ञा के विना
का निषेध किया (९।१९९) नारद ने पति द्वारा दिये
धन में स्त्रियों की स्वतन्त्रता की घोषणा की (४।२८ भर्त्रा प्रीतेन
तस्मिन्मृतेऽपि तत्। सा यथा काममश्नीयाद्दद्याद्वा स्थावरादृते ॥)
में ४।२६ के बाद के एक श्लोक में स्त्रियों की इस विषय में
घोषणा की गयी है—नाधिकारो भवेत्स्त्रीणां दानविक्रयकर्मसु।
स्यात्तावद्भोगस्य सा प्रभुः ॥

सौदायिक स्त्रीधन को वाग्दान से विवाह के बाद पतिगृह में प्रवेश तक पितृगृह से ही वधू को मिली हुई भेटों तक मर्यादित करना चाहती थी; किन्तु वर्त्तमान काल में इसे स्वीकार नहीं किया गया (३९ म० ३९८)। दायभाग (दा० ७६) दायतत्वादि (पृ० १८४) में विवाह के समय और विवाह के बाद पिता माता, पति आदि संबन्धियों से दिया धन सौदायिक माना है[५१]। वर्त्तमान न्यायालय इस व्याख्या को सही मानते हुए विवाह से पहले, विवाह के समय या उसके पश्चात् संबन्धियों द्वारा दी गयी सभी भेंटें सौदायिक समझते हैं, किन्तु संबन्धियों से भिन्न व्यक्तियो द्वारा मिली भेंटें इसमें नहीं समझी जाती[५२]। सौदायिक सम्पत्ति तथा इससे खरीदी हुई अचल सम्पत्ति का भी पत्नी यथेच्छ दान, विक्रय और उपभोग कर सकती है[५३]। पति इस विषय में न तो उस का नियन्त्रण कर सकता है और न इस सम्पत्ति का स्वयं उपयोग कर सकता है[५४]। सौदायिक के अतिरिक्त, देवल के कथनानुसार निम्नप्रकार के

---

५१. स्मृच० पृ० २८२ वाग्दानप्रभृति पतिगृहप्रवेशरूपोत्सवसमाप्तिपर्यन्तं पितृगृहे पतिगृहे वा पितृपक्षत एव स्त्रिया लब्धं यौतकादिधनं सौदायिकशब्दाभिधेयमिति। किन्तु जीमूतवाहन सुदाय का अर्थ करता है—उत्तम देने वाले संबन्धी और इन से प्राप्त धन सौदायिक है—सुदायसंबन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् दा० ७६। रघुनन्दन ने इन संबन्धियों की व्याख्या करते हुए लिखा है—सुदायेभ्यः पितृमातृभर्तृकुलसंबन्धिभ्यो लब्धं सौदायिकम् (दायतत्व पृ० १८४)

५२. ५ वी० रि० ५३, ५ म० हा० को० १११; मेन—हिन्दू ला पृ० ७४७

५३. २ म० ३३३

५४. कुछ विशेष अवस्थाओं में पति इसका उपयोग कर सकता है। याज्ञ० (२।१४७) के अनुसार ये निम्न हैं—अकाल, अनिवार्य धर्मकार्य, बीमारी, (महाजन, राजा या शत्रु द्वारा) बन्दी बनाया जाना (संप्रतिरोधक), (दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ च संप्रतिरोधके। गृहीतं स्त्रीधनं भर्त्ता न स्त्रियै दातुमर्हति॥) यदि वह इन आपत्तियों के न होने पर स्त्रीधन लेता है तो उसे वह लौटाना पड़ता है—मिता० या० २।१४७ पर—प्रकारान्तरेणापहरन् दद्यात्। विज्ञानेश्वर ने मनु ८।२९ तथा ९।२०० के आधार पर स्त्री के जीवित रहते हुए उपर्युक्त आपत्तियों के अतिरिक्त पति भिन्न—किसी भी दायाद द्वारा स्त्रीधन लेने का निषेध किया है। उपर्युक्त आपत्तियों में लिया गया धन

भी पत्नी को यथेच्छ विनियोग का अधिकार प्राप्त है---स्त्री का
(वृत्ति), आभरण, शुल्क और लाभ, पति आपत्ति के अतिरिक्त
ोग नहीं कर सकता, अकारण इनका नाश और उपयोग करने
व्याजसहित यह धन पत्नी को लौटा देना चाहिये[११]। इनमें लाभ

ेपर अवश्य लौटाना चाहिये (व्यप्र० ५४६ सति तु सामर्थ्ये दुर्भिक्षादि-
ेदेयम्)। कात्यायन तथा कौटिल्य ने भी याज्ञवल्क्य जैसी व्यवस्थायें
० के अनुसार बीमारी में, संकट में अथवा महाजनों से परेशान
पर इन से मुक्ति के लिये स्त्री से प्राप्त धन को वह अपनी इच्छा से
। है (अप० २।१४७)। कौटिल्य (३।२) की व्यवस्था अधिक विशद
: उस काल को सूचित करती है, जब स्त्रीधन पर पति का प्रभुत्व
। वह निम्न अवस्थाओं में स्त्री द्वारा स्त्रीधन के उपयोग में दोष नहीं
, पुत्र अथवा पुत्रवधू के भरण पोषण के व्यय की व्यवस्था विना
का विदेश गमन। पति बन्दी होने पर, बीमारी, दुर्भिक्ष और भय के
धर्म कार्य के लिये स्त्रीधन का उपयोग कर सकता है। इसके साथ
भी कहता है कि पत्नी पति द्वारा स्त्रीधन के उपयोग की शिकायत
में नहीं कर सकती, जब कि यह व्यय तीन वर्ष पहले दोनों ने संयुक्त-
हो, उनकी दो सन्तानें हो तथा उन का ब्राह्मादि धर्म विवाह हुआ
और आसुर विवाह हुआ हो तो व्यय किया गया स्त्रीधन व्याज-
किया जाना चाहिये, राक्षस या पैशाच विवाह हुआ हो तो इसे
चाहिये (कौ० ३।२ तदात्मपुत्रस्नुषाभर्मणि प्रवासाप्रतिविधाने
भोक्तुमदोषः। प्रतिरोधकव्याधिदुर्भिक्षभयप्रतिकारे धर्मकार्ये च
भूय वा दम्पत्योर्मिथुनं प्रजातयोस्त्रिवर्षोपभुक्तं च धर्मिष्ठेषु विवाहेषु
। गान्धर्वासुरोपभुक्तं सवृद्धिकमुभयं दाप्येत। राक्षसपैशाचोपभुक्तं
)।

दा० ७५ पर उ०--वृत्तिराभरणं शुल्कं लाभश्च स्त्रीधनं भवेत्।
स्वयमेवेदं पतिर्नार्हत्यनापदि। वृथा मोक्षे च भोगे च स्त्रियै दद्यात्स-
पुत्रार्त्तिहरणे वापि स्त्रीधनं भोक्तुमर्हति॥ इसमें अपरार्क (२।१४७)
जुए नाचगानादि में रुपया गंवाना मोक्ष है---द्यूतगीतादिप्रयोजनो
थामोक्षः। देवण्ण भट्ट के अनुसार पितादि से गुजारे के लिये दी
वृत्ति हैं।

बड़ा विस्तृत शब्द है[५६] और इसमें पत्नी द्वारा सूदखोरी से या अन्य किसी कार्य द्वारा की गयी कमाई भी सम्मिलित है। वस्तुतः प्राचीन शास्त्रकारो के मत में, शिल्प द्वारा उपार्जित तथा संबन्धी भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा दिये गये द्रव्य के अतिरिक्त सब प्रकार के स्त्रीधन पर पत्नी को पूर्ण अधिकार है।

पति द्वारा नियन्त्रित सम्पत्ति—प्रभुत्व की दृष्टि से स्त्रीधन का दूसरा भेद वह है, जिस पर पति का नियन्त्रण होता है। यह सम्पत्ति कात्यायन के अनुसार दो प्रकार की होती है—(१) शिल्पो से प्राप्त धन (२) पिता माता, पति आदि संबन्धियों से भिन्न किसी व्यक्ति द्वारा दिया गया धन। 'इन दोनो पर पति का स्वाम्य होता है, शेष प्रकार की सम्पत्ति स्त्रीधन होती है[५७]। जीमूतवाहन ने इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वाम्य या स्वतन्त्रता का अर्थ है—पति द्वारा आपत्तिकाल न होने पर भी स्त्रीधन लेने की स्वतन्त्रता। उपर्युक्त दोनो प्रकार की सम्पत्ति वह अपनी इच्छानुसार ले सकता है[५०]। सौदायिक के विनियोग में पत्नी को पति से अनुमति लेने की आवश्यकता नही, किन्तु उपर्युक्त दो प्रकार की सम्पत्ति का पति से विना पूछे किया विनियोग अवैध होता है। पति से पहले उसके मर जाने पर इस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पति होता है, किन्तु यदि पति पहले गुज़र जाता है तो इस पर उसका पूर्ण स्वामित्व हो जाता है, उसकी मृत्यु के बाद इस धन के दायाद पति के नही, किन्तु उसके उत्तराधिकारी होते हैं (२१ म० १००, १ म० ३०७)।

---

५६ लाभ के सम्बन्ध में कई मत हैं—(क) पार्वती आदि देवियों की प्रसन्नता के लिये व्रतादि में दी हुई राशि (स्मृच० २८३), (ख) बन्धुओं से मिला धन (विर० पृ० ५१२) (ग) व्याज (यद्वा लाभो वृद्धिः सवि० ३८१) (घ) शौर्यादि द्वारा या प्रीति से मिला धन (रत्नमाला १६२)।

५७. दा० ७६ पर उद्धृत—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः। भर्त्तुः स्वाम्यं तदा तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥ दा० ७६ तदेव च स्त्रीधनं यत्र भर्तृतः स्वातन्त्र्येण दानविक्रयभोगान् कर्त्तुमधिकरोति। तदिदं किंचित्संक्षिप्याह कात्यायनः—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं इत्यादि। अन्यत इति पितृमातृभर्तृकुल-व्यतिरिक्तात् यल्लब्धं शिल्पेन वा यदर्जितम् तत्र भर्त्तुः स्वाम्यं स्वातन्त्र्यं, अनापद्यपि भर्त्ता ग्रहीतुमर्हति, तेन स्त्रिया अपि धनं न स्त्रीधनमस्वातन्त्र्यात्। एतद्द्वयातिरिक्तधनं तु स्त्रिया एव दानविक्रयाद्यधिकारात्।

पत्नी के प्रभुत्व का शास्त्रकारों ने वड़े स्पष्ट शब्दों में प्रति-
उस का दुरुपयोग करने वालो के लिये दण्ड की व्यवस्था की
उपभोग करने वाले दायादो के लिये राजा द्वारा दण्ड का
(८।२९)। कात्यायन के मतानुसार 'पति, पुत्र, पिता और भाई
या व्यय के अधिकारी नही है, यदि इनमें से कोई एक भी
अनुमति के) स्त्रीधन का उपयोग करे तो उससे यह व्याज-
लेना चाहिये और उसे दण्ड देना चाहिये; यदि वह अनुमति
उस का उपयोग करता है तो धनी होने पर उसे मूल राशि
'[१८]। अप० (२।१४३) और चण्डेश्वर (विता० ४४६)
इसी विषय के एक दूसरे श्लोक को उद्धृत किया है—पत्नी
हुए, (उसके) पति, पुत्र, देवर, पितृबान्धव (भाई आदि)
कोई अधिकार नही है, जो स्त्रीधन का अपहरण करते है,
जाना चाहिये[१९]। इस विषय में पहले देवल और विज्ञानेश्वर
निर्देश हो चुका है। इसे प्राय सभी मध्यकालीन टीकाकारों ने
है, इस अवस्था में मनु का पति की अनुमति से ही पत्नी द्वारा
का नियम अर्थवादमात्र ही समझना चाहिये[१०]।
का स्त्रीधन के सम्बन्ध में एक विशेष नियम यह है कि यदि
कुछ धन देने का वचन देता है तो पुत्रो को उसे ऋण की
चाहिये, बशर्ते कि पत्नी पतिकुल में ही रहे[११], स्मृतिचन्द्रिका

दा० ७८ द्वारा उ०—न भर्त्ता नैव च सुतो न पिता भ्रातरो न च।
वा स्त्रीधने प्रभविष्णवः॥ यदि ह्येकतरोऽप्येषां स्त्रीधनं भक्षये-
वृद्धिं प्रतिदाप्यः स्याद्दण्डं चैव समाप्नुयात्॥ तदेव यद्यनुज्ञाप्य भक्षये
। मूलमेव स दाप्यः स्याद्यदा स धनवान्भवेत्॥
याज्ञ० २।४६ पर अप० द्वारा उद्धृत—जीवन्त्याः पतिपुत्रास्तु देवराः
। अनीशाः स्त्रीधनस्योक्ता दण्ड्यास्त्वपहरन्ति ये॥
मनु० ९।१९९ न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्। स्वका-
स्वस्य भर्त्तुरनुज्ञया॥ कुल्लूक और राघवानन्द के अनुसार निर्हार
वण के लिये धन संचय है और सर्वज्ञनारायण तथा नीलकण्ठ के
प्रकार का व्यय।
याज्ञ० २।१४७ पर अप० द्वारा उद्धृत—भर्त्ता प्रतिश्रुतं देयमृण-

और व्यवहार प्रकाश पोतों और परपोतों को भी यह राशि चुकाने के लिये उत्तर-दायी मानते हैं। कात्यायन की एक अन्य व्यवस्था भी उल्लेखनीय है। यदि किसी पुरुष की दो पत्नियां हैं और वह पहली पत्नी का सेवन नही करता तो उसका स्त्रीधन राजा द्वारा बलपूर्वक पति से छीन कर पत्नी को दिलवाया जाना चाहिये, भले ही वह धन पत्नी ने उसे प्रसन्नतापूर्वक प्रदान किया हो"[६२]।

स्त्रीधन पर पत्नी का स्वत्व किन दशाओं मे नही रहता, इस का सर्व-प्रथम एव विस्तृत प्रतिपादन कौटिलीय अर्थशास्त्र मे हुआ है। इस के अनुसार निम्न अवस्थाओं में स्त्रीधन और शुल्क पर स्त्री का स्वाम्य नष्ट हो जाता है—(१) राजविरोधी बातें कहना (२) शराब, जुए आदि का व्यसन (३) अपने पति को छोड़ कर दूसरे व्यक्ति के पास जाना[६३]। कात्यायन चार प्रकार की स्त्रियों को स्त्रीधन का अधिकारी नही मानता—(सदा) पति के लिये हानिप्रद कार्य (अपकार) करने वाली, निर्लज्जा, पति की सम्पत्ति नष्ट करने वाली और व्यभिचारिणी। व्यवहार प्रकाश और विवाद चिन्तामणि ऐसी अवस्था मे उस से यह धन छीनने को कहते हैं[६४]। किन्तु वर्त्तमान न्यायालयो ने स्त्रीधन की स्वत्वहानि के इस नियम को स्वीकार नही किया[६५]।

स्त्रीधन पत्नी को भेंटों, क्रय, कलाकौशल और उत्तराधिकार आदि अनेक प्रकारो से प्राप्त हो सकता है। इनमें उत्तराधिकार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के स्त्रीधन पर पत्नी के स्वत्व का ऊपर उल्लेख हो चुका है। अब रिक्थागत

वत्स्त्रीधनं सुतैः। तिष्ठेद् भर्तृकुले या तु न सा पितृकुले वसेत्॥ स्मृच० पृ० २८३ सुत ग्रहणं पौत्रस्याप्युपलक्षणार्थं ऋणवदित्यभिधानात्। अनेनापि स्त्रीधने सुतादीनां नास्ति स्वामित्वमिति गम्यते।

६२. दा० पृ० ७८ में उद्धृत—अथ चेत्स द्विभार्यः स्यान्न च तां भजते पुनः। प्रीत्या निसृष्टमपि चेत्प्रतिदाप्यः स तद्‍बलात्॥

६३. कौ० ३।२ राजद्विष्टातिचाराभ्यामात्मापक्रमणेन च। स्त्रीधनानीतशुल्कानामस्वाम्यं जायते स्त्रियाः॥

६४. अप० द्वारा याज्ञ० २।१४७ में उ०—अपकारक्रियायुक्ता निर्लज्जा चार्थनाशिका। व्यभिचाररता या च स्त्रीधनं न च सार्हति॥ विचि पृ० १४१-४२ या पुनः अतिदुष्टा स्त्री सा स्वधनमनिसृष्टमपि विनियोक्तुं नार्हतीत्याह स एव।

६५. गंगा ब० घसीटा १ अला० ४६ (फु० बैं०) ४८-४९

) स्त्रीधन के नियमों का वर्णन होगा। बंगाल में रिक्थागत
(पुरुष से प्राप्त हो या स्त्री से) कभी स्त्रीधन नहीं हो
की मृत्यु पर यह उसके दायादो को नहीं मिलती, किन्तु उस
रिक्थहर को मिलती है, जिस का मूलतः इस पर स्वामित्व
भी यही स्थिति है[६७]। किन्तु बम्बई में स्त्री के अधिकार कुछ
अपने माता पिता से रिक्थ में प्राप्त स्थावर सम्पत्ति पर
है[६८], पति से प्राप्त जंगम जायदाद के यथेच्छ विनियोग
है[६९], किन्तु यह स्वत्व उन्हें अपने जीवन काल मे ही है,
पति के दायादो को उनके रिक्थ के अधिकार से वञ्चित
[७०]।

रहने पर पत्नी को स्त्रीधन पर उपर्युक्त स्वत्व प्राप्त
होने पर उसके ये अधिकार बढ जाते है, इन का आगे
उल्लेख होगा।

स्त्रीधन का विभाग और उत्तराधिकारी

हिन्दू कानून का क्लिष्टतम भाग है तो इसका उत्तरा-
का जटिलतम अंग है; क्योंकि इसकी कोई एकरूप
है। अविवाहित और विवाहित स्त्रियों के स्त्रीधन के
अलग नियम है, विवाहित स्त्रियों में इस बात को देखा
विवाह ब्राह्मादि प्रशस्त प्रकारों से हुआ है या शुल्क
आसुर पद्धति से हुआ है। स्त्रीधन के विविध प्रकारों—
आदि के दायादक्रम में भी भेद है। हिन्दू कानून के
ों—मिताक्षरा, दायभाग, आदि प्रादेशिक भेदो से भी स्त्री-
में अन्तर पड़ जाता है[७१]। डा० जाली के मतानुसार

६७ व० गिरीश चन्द्र १७ कल० ९११, ९१६
कटराम कृष्णराव व० भुजंगराव १९ म० १०७
जीवनदास व० देव कुंवर बाई १ बं० १३०
भगवान व० बाई लक्ष्मी १ बं० हा० को० रि० ५६
९ भट्ट व० चन्द्रभाग बाई १७ बं० ६९०
७१क द्वारा स्त्रीधन के उत्तराधिकारियो के क्रम में अन्तर
कारण विभिन्न प्रदेशों के रीतिरिवाजों (आचार) में पाया जाने

स्त्रीधन के उत्तराधिकार का गोरख धन्धा 'भारतीय टीकाकारों की आलोचनात्मक तीव्र बुद्धि तथा बाल की खाल निकालने वाले वादविवादों का उर्वर क्षेत्र सिद्ध हुआ है, यह अँग्रेज जजो के लिये टीकाकारों के परस्पर विरोधी वचनों मे सगति वैठाने के लिये अपने व्याख्या कौशल के प्रयोग का उपयोगी क्षेत्र रहा है" (हि० ला क० पृ० १९३-९४) । यहा इस गोरख धन्धे के विस्तार मे न जाकर केवल स्थूल तथ्यो का निर्देश किया जायगा ।

स्त्रीधन के उत्तराधिकार में कन्याओं को तरजीह देना—स्त्रीधन के दायादों के सम्वन्ध मे घोर मतभेद होते हुए भी विभिन्न सम्प्रदायो में प्रायः एक बात पर सहमति है कि इसके उत्तराधिकार में पुत्रियो को पुत्रो की अपेक्षा तरजीह दी जाय । संभवतः पहले अविवाहित और निर्धन कन्यायें ही स्त्रीधन का दायाद होती थी । गौतम की व्यवस्था इसका प्रवल प्रमाण है, बौधायन ने इसकी पुष्टि की है[७२] । पुत्री को स्त्रीधन का उत्तराधिकारी बनाने के निम्न कारण प्रतीत होते है । प्रारम्भ मे स्त्रीधन प्रधान रूप से पत्नी के आभूषण थे, बौधा० ने स्त्रीधन में अलकारो का ही उल्लेख किया है, इन्हें कन्या को देने की व्यवस्था सर्वथा स्वाभाविक थी, क्योकि ये उसके ही उपयोग में आने वाले थे । दूसरा कारण माता का अपनी कन्या के प्रति अनुराग और विवाह के समय उसे अपने आभूषण देने की इच्छा रही होगी । इस इच्छा को इस कारण से भी पुष्टि मिली कि पिता की सम्पत्ति पुत्रो में विभक्त होती थी, पुत्रियो को इस मे कोई भाग नही मिलता था । विज्ञानेश्वर ने इसे उचित सिद्ध करने के लिये एक अन्य तर्क भी उपस्थित किया है—'पुरुष के अंश अधिक होने से लड़का पैदा होता है, स्त्री के अश अधिक होने पर कन्या उत्पन्न होती है; इस वचन के अनुसार लड़कियों मे स्त्रियों के अंश अधिक होते हैं, अतः स्त्रीधन कन्याओ को मिलता है । पुत्रों में पिता के अंश अधिक होते है, इसलिए

वाला वैविध्य था, दे० व्यम० यत्तु याज्ञवल्क्यः 'मातुर्दुहितरः' (२।११७) इति तत्राप्यन्वयपदकन्यासन्ततिपरमिति केचित् । परे तु दुहित्रभावे पुत्रा एव गृह्णीयुः ...। आचारसंवादी चायं पक्षः ।

७२. गौ० ध० सू० २८।२५ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च । बौधा० २।२।४९ मातुरलंकार दुहितरः साम्प्रदायिकं लभेरन्नन्यद्वा । मि० शंखलिखित स्मृच० २६९ विभज्यमाने दायाद्ये कन्यालंकारं, वैवाहिकं, स्त्रीधनं च कन्या लभेत् ।

को मिलता है[63]। विज्ञानेश्वर की इस युक्ति का कारण

।

से गौतम (२८।२५), बौधायन (२।२।४९), विष्णु

, (स्मृ० च० २६९), याज्ञ० (२।११७) नारद स्मृति

(दा० ७९), कात्यायन (दा० ८२) और पैठिनसि

स्त्रीधन का उत्तराधिकारी कन्या को ही बताया है[64]। किन्तु

तुल्य रूप से नही बंटता। उनमें आवश्यकता को देखकर

होता है। अविवाहित, अपुत्रा और निर्धन (अप्रतिष्ठित)

और धनी कन्या की अपेक्षा स्त्रीधन की अधिक आव-

. इन्हें स्त्रीधन मे विवाहित और धनी कन्या की अपेक्षा पहले

। गौतम (२८।२५) ने यह व्यवस्था की कि स्त्रीधन अवि-

त कन्याओ का होता है। विज्ञानेश्वर ने सब प्रकार

के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था स्वीकार की। किन्तु भारुचि,

तथा प्रतापरुद्रदेव ने यौतक, अन्वाधेयक व प्रीतिदत्त के

प्रकारो के स्त्रीधन में इस तरह की व्यवस्था उचित मानी

व का मत अप्रामाणिक ठहराया है[65]। नीलकंठ भी अन्वा-

प्रीतिदत्त से भिन्न, पारिभाषिक धन में ही गौतम के इस

करता है। वास्तव मे गौतम के आशय को विज्ञानेश्वर ने ही

ौतम के समय तक स्त्रीधन मुख्य रूप से अलकारों के रूप में

उसे आवश्यकता के आधार पर लडकियों में बाटा। किन्तु

के समय तक स्त्रीधन का रूप बहुत जटिल हो चुका

० २।११७ 'पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः

स्त्र्यवयवानां दुहितृषु बाहुल्यात्स्त्रीधनं दुहितृगामि। पितृधनं पुत्रगामि

पुत्रेषु बाहुल्यादिति।

गौ० ध० २८।२५ स्त्रीधनं दुहितॄणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च।

७ मातुर्दुहितरः शेषमृणात् ताभ्य ऋतेऽन्वयः।

स्मृच० २८५ अस्य विज्ञानेश्वरकृता व्याख्या स्वबुद्धिमात्रेणाख्या-

। सवि ३८३ एतद्विज्ञानेश्वरमतं भारुच्यपरार्कचन्द्रिकाकारादयो

विज्ञानेश्वरेण स्वमतिपरिकल्पितत्वात्। अनेकाध्याहारपरिकल्पित-

था। उस समय देवण्ण भट्ट आदि को सब कन्याओ में उचित रूप से विभाग करने के लिए स्त्रीधन के अनेक प्रकारो की कल्पना करनी पड़ी। देवण्ण भट्ट ने विज्ञानेश्वर पर व्यर्थ में अध्याहार करने का आक्षेप किया है। वास्तव में विज्ञानेश्वर नही, किन्तु देवण्ण भट्ट स्वयं इस आक्षेप का पात्र है।

स्त्रीधन पर पुत्रों का अधिकार—कन्याओं के अभाव मे स्त्रीधन पर पुत्रो का अधिकार माना गया (याज्ञ० २।११७, कात्या० दा० ७२)। पत्नी के निस्सन्तान मरने पर यह धन पति को प्राप्त होता था (विष्णु १७। १९-२०, मनु० ९।१९६, याज्ञ० २।१४५, नार० स्मृ० १६।१९)। गुप्त युग तक स्त्रीधन के स्वरूप मे काफी अन्तर आ चुका था। पहले स्त्रीधन में मुख्य-रूप से आभूपण होते थे। किन्तु नारद से यह ज्ञात होता है कि उसके समय तक स्थावर सम्पत्ति भी उसमें सम्मिलित हो चुकी थी (४।२८)। इस सम्पत्ति में नारद ने स्त्रियो को भोग का अधिकार दिया, यथेच्छ विनियोग का नही। कात्यायन के समय तक स्त्रीधन का और विकास हुआ तथा उसने स्थावर सम्पत्ति में भी पत्नी को अधिकार देते हुए (दा० ७६; अप० २।१४) यह अधिकार उसके जीवन काल तक ही सीमित किया। उसके मरने पर पति से प्राप्त उसके स्त्रीधन (भर्तृदाय) को पति के ही उत्तराधिकारी पुत्र आदि प्राप्त करते थे। इसका कारण सम्पत्ति को अपने परिवार में सुरक्षित रखना प्रतीत होता है। यदि स्त्रीधन पूरे तौर से कन्याओं को मिलता तो परिवार की सम्पत्ति का एक बड़ा भाग दूसरे परिवारों मे चला जाता। इस स्त्रीधन में वहुत सा भाग पति का दिया हुआ होता था। पुत्र उसपर अपना अधिकार समझते थे। अतः स्त्रीधन में पुत्रो को भी कन्याओ के समान उत्तराधिकारी माना जाने लगा। शख लिखित और कौटिल्य ने सबसे पहले स्त्रीधन पर पुत्र का अधिकार माना[७६]।

मनु ने ९।१९२ मे पुत्रों के अधिकार का समर्थन करते हुए कहा कि माता के धन (मातृरिक्थ) को भाई वहिन मिलकर बांट लें, किन्तु याज्ञ० ने २।११७ मे कन्याओ का प्रवल समर्थन किया और नारद ने इसका अनुमोदन किया (१६।२) । बृहस्पति और कात्यायन भी इस मत के थे। ८वी से ९वी शती के वीच मे पुत्रो का पक्ष प्रवल हुआ। देवल ने यह घोषणा की कि

---

७६. अर्थशास्त्र ३।२ तंत्तु स्त्रीधनं पुत्रा हरेयुः। शंख लिखित—समं सर्वे सोदर्या मातृकं रिक्थमर्हन्ति कुमार्यश्च (दा० ७९)

और कन्याओ का तुल्य अधिकार होता है (दा० ७९)। याज्ञ०
॰ व विज्ञानेश्वर ने जो टीका लिखी है, उससे 'यह सूचित
` समय में पुत्रो का पक्ष बहुत प्रवल हो चुका था। विश्वरूप
करते हुए यह प्रश्न उठाया कि 'न जामये तान्वो रिक्थ
३।३१।२) और 'यदी मातरो जनयन्त वह्निम्' (ऋ० ३।३१।२)
के अनुसार पुत्र को पैतृक धन प्राप्त करने का अधिकार है, पुत्री
. लडकियो के होते हुए भी लडको को माता की सम्पत्ति प्राप्त
। किन्तु इस पूर्वपक्ष के उत्तर में कोई प्रवल युक्ति न देता हुआ
कहता है कि याज्ञ० के इस स्मृतिवचन (२।११७) के अनुसार
ी अधिकार है, इनके अभाव में ही यह सम्पत्ति पुत्रो को मिलती
का यह तर्क इसलिए दुर्वल है कि श्रुति स्मृति के विरोध मे श्रुति
व होता है। उपर्युक्त श्रुति वचनो के होते हुए स्मृति के वचन
माना जा सकता है।

ने सम्भवत: उपर्युक्त दुर्वलता को अनुभव किया। वह स्त्री-
लडकियो से पहले दायाद होने के अधिकार का विरोध करना
श्रुति वचन उसके विपक्ष में थे। अत. उसने यह युक्ति उपस्थित
ो मे माता का अंश अधिक होता है और पुत्रों में पिता का, अतः
माता का अश मिलना चाहिए और पुत्रो को पिता का (मिता०
विज्ञानेश्वर द्वारा स्त्रीधन में पुत्रियो के अधिकार के प्रवल समर्थन
हुआ कि भारत के एक वडे भाग में आज भी लड़कियों को
से पहले हिस्सा मिलता है। अविवाहिता व निर्धन लड़कियों
व धनी लडकियो की अपेक्षा तरजीह दी जाती है। कन्याओं के
मश. दोहती, दोहते और फिर पुत्र, पौत्र स्त्रीधन के उत्तराधिकारी

॰ ने मनु (९।१९२), शखलिखित व देवल के वचनो के
स्त्रीधन में कन्याओ के साथ पुत्रो के अधिकार का प्रवल समर्थन
॰ ॰ के सामने स्त्रीधन पर कन्या के अधिकार के प्रतिपादक
सूत्र, नारद स्मृति, याज्ञ० (२।११७) के स्पष्ट वचन थे। इनका
आवश्यक था। अत. जीमूत० ने मनु (९।१३१) के आधार पर
धान यह किया कि ये यौतक विपयक स्त्रीधन के विभाग पर ही
है, सामान्य स्त्रीधन पर नही (दा० पृ० ८२)। जीमूत० के इस

प्रकार के विधान के कारण बंगाल में आज तक शुल्क, पितृदत्त व यौतक के अतिरिक्त अन्य प्रकारों के स्त्रीधन पर पहला अधिकार पुत्री तथा अविवाहिता (अवाग्दत्ता) कन्याओं का होता है ।

आसुर विवाह में स्त्रीधन (शुल्क) का विभाग—स्त्रीधन के उत्तराधिकार का उपर्युक्त विवेचन ब्राह्म, दैव, आर्ष, गान्धर्व तथा प्राजापत्य विवाहों द्वारा परिणीत स्त्रियों के स्त्रीधन के सम्बन्ध में है । आसुर विवाह में स्त्रीधन का उत्तराधिकार विभिन्न प्रकार से होता है । इस का शुल्क स्त्री की सन्तान न होने पर उसके पितृकुल में लौट जाता है[७७] । गौतम धर्म सूत्र (२८।२६) विष्णु (सवि० ३८४) मनु (९।१९७) याज्ञ० (२।१४४) नारद स्मृति (१६।९)कात्यायन (स्मृच ३८६) यम(दा० ८८) शुल्क के अधिकारी पितृकुल के दायादों के क्रम में मतभेद रखते हैं । गौतम पहले सोदर भाइयों और फिर माता पिता के अधिकार को मानता है । मनु इसमें माता-पिता का ही हिस्सा मानता है । याज्ञ० (२।१४४) यह कहता है कि शुल्क, बन्धुदत्त व अन्वाधेय नामक स्त्रीधन बान्धवों को अर्थात् स्त्री के पितृकुल के संबन्धियों को प्राप्त होते हैं । आसुर विवाह में वर द्वारा कन्या के पिता को शुल्क देना पड़ता था । पिता अपनी इच्छा से वह शुल्क कन्या को दिया करता था । कन्या के निस्सन्तान मरने पर पिता उस शुल्क को वापिस ले लेता था । इस धन पर पति अपना कोई अधिकार नहीं रखता था, क्योंकि उसने यह धन विवाह के लिए कन्या के पिता को दिया था । अतः स्वाभाविक रूप से यह धन कन्या के भाइयों या माता पिता को प्राप्त होता था । वर्त्तमान काल में गौतम के आधार पर शुल्क पहले सोदर भाई को और फिर क्रमशः माता और पिता को प्राप्त होता है । स्त्रीधन के उत्तराधिकार के इन सामान्य सिद्धान्तो के बाद यहां संक्षेप में स्मृतियों तथा टीकाकारो की स्त्रीधन की उत्तराधिकार सम्बन्धी व्यवस्थाओं का उल्लेख होगा ।

स्त्रीधन के संक्रमण (Devolution) की प्राचीनतम व्यवस्था गौतम धर्मसूत्र में है, इस के अनुसार स्त्रीधन कन्यागामी होता है, कन्याओं में

---

७७. गौ० ध० २८।२६ भगिनीशुल्कं सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः । विष्णु १७। १९-२० ब्राह्मादिषु चतुर्षु विवाहेष्वप्रजायामतीतायां तद्भर्तुः । शेषेषु च पिता हरेत् । शंख लिखित स्मृच पृ० २८७ में उद्धृत—स्वं च शुल्कं वोढा । याज्ञ० २।१४५ अप्रजस्त्रीधनं भर्तुर्ब्राह्मादिषु चतुर्ष्वपि । दुहितॄणां प्रसूता चेच्छेषेषु पितृगामि तत् ॥

अपुत्रा) और निर्धन (अप्रतिष्ठिता) को विवाहिता और
तरजीह दी जाती है; किन्तु आसुर विवाह में लिये गये
कन्या नही, पर उसके भाई होते हैं। विष्णु धर्म सूत्र
में यह कहा गया है कि ब्राह्मादि चार विवाहो में स्त्री के
पर उसका धन पति को मिलता है, शेष विवाहो में परिणीता
धन उसके पिता को प्राप्त होता है, किन्तु लड़की होने पर
वही दायाद होती है। कौटिलीय अर्थ शास्त्र सभवत. सर्वप्रथम
तथा पुत्रियों में बंटवारा करने का उल्लेख करता है, पुत्रो के
को और इनके न होने पर पति को दायाद बनाता है, किन्तु
अधर्म्य विवाहो के शुल्क तथा अन्वाधेय नामक स्त्रीधन के
नहीं होता, इन प्रकारों का स्त्रीधन उसके पितादि स्त्रीबन्धुओ को
३।२)। मनु ने कौटिल्य की भांति स्त्रीधन को भाई, बहनो में समान
की तथा लड़कियो की लड़कियो (दोहतियो) को भी प्रीतिपूर्वक
की (९।१९२-९३)। माता के यौतक को क्वारी लड़की
माना है (९।१३१)। ब्राह्म, दैव, गान्धर्व, प्राजापत्य नामक
अनुसार परिणीता अपुत्रा पत्नी के मरने पर उसका धन पति
(९।१९६), आसुरादि तीन अधर्म विवाहो से परिणीता
दायाद उसके माता पिता होते हैं (मनु ९।१९७)। याज्ञवल्क्य
होने का वर्णन करता है। ब्राह्मादि धर्म विवाहो के
स्त्री के नि.सन्तान होने पर उसका धन पति को मिलता है
में उसके पिता को (याज्ञ० २।१४५)। नारद भी इसी व्यवस्था
करता है (नास्मृ० १६।२,९)। बृहस्पति ने स्त्रीधन
कन्या को बताया है (दा० ७९)[१८]। कात्यायन ने स्त्री-
का विस्तृत वर्णन करते हुए (स्मृच० २८५-८६, अप० २।११७)
बनाये हैं[१९]—(१) स्त्रीधन की पहली उत्तराधिकारिणी अविवा-

हृ० दा० ७९ में उ०—स्त्रीधनं स्यादपत्यानां दुहिता च तदंशिनी।
तु लभते मानमात्रकम्॥

० वअप० द्वारा याज्ञ० २।११७ पर तथा स्मृच० २।२८५-८७में उद्धृत—
: सार्धं विभजेरन् सभर्तृकाः। स्त्रीधनस्येति धर्मोऽयं विभागस्तु
। दुहितॄणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद्भवेत्। बन्धुदत्तं तु बन्धूनामभावे

हित लड़कियां हैं, (२) इन के न होने पर जीवित पति वाली विवाहिता कन्यायें अपने भाइयो के साथ दायाद बनती हैं, (३) लड़कियो के न होने पर स्त्रीधन मृत स्त्री के पुत्रो को मिलता है। (४) पितृकुल अथवा मातृकुल के किसी सम्बन्धी द्वारा ही दी हुई वस्तु उसके अभाव में पति को मिलती है। (५) माता-पिता द्वारा कन्या को दी गयी स्थावर सम्पत्ति उसके नि.सन्तान मरने पर उसके भाई को मिलती हैं। (६) आसुरादि विवाहो में जो पैतृक धन स्त्री को मिलता है, वह उसके पुत्रो के अभाव मे उसके माता पिता को प्राप्त होता है[८०]। देवल ने कात्यायन से भिन्न नियम बनाते हुए स्त्रीधन का दायाद पुत्र और पुत्री दोनों को बताया है[८१]।

मध्यकालीन टीकाकारो ने उपर्युक्त व्यवस्थाओं पर विस्तृत ऊहापोह किया है; किन्तु यहा वर्त्तमान काल मे विशेष प्रभाव डालने वाले प्रसिद्ध धर्मशास्त्री विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, वाचस्पति मिश्र, देवण्णभट्ट और जीमूतवाहन के मतों का ही उल्लेख किया जायगा। मिताक्षरा मे स्त्रीधन के उत्तराधिकार के तीन विभिन्न प्रकार हैं—(१) शुल्क का दायाद क्रम (२) कन्या का स्त्रीधन (३) अन्य प्रकार के स्त्रीधन। विज्ञानेश्वर ने शुल्क में गौतम(२८।२६) के आधार पर पहले पत्नी के भाइयो को तथा उनके अभाव मे माता को उत्तराधिकारी माना है। दायभाग (पृ० ९५), स्मृतिचन्द्रिका, पराशर माधवीय, व्यवहार प्रकाश और विवादचिन्तामणि इस विषय मे मिताक्षरा का अनुसरण करते हैं; किन्तु सुबोधिनी, दीपकलिका और हरदत्त का मत इससे प्रतिकूल है, वे शुल्क पर पहला अधिकार माता का मानते हैं और उसके अभाव में सोदर भाइयो का[८२]।

कन्या के स्त्रीधन के दायादो का क्रम मिताक्षरा ने बौधायन के एक वचन

भर्तृगामि तत् ॥ पितृभ्यां चैव यद्दत्तं दुहितुः स्थावरं धनम्। अप्रजायामतीतायां भ्रातृगामि तु सर्वदा ॥

८०. स्मृच० पृ० २८६—आसुरादिषु यल्लब्धं स्त्रीधनं पैतृकं स्त्रियाः। अभावे तदपत्यानां मातापित्रोः तदिष्यते। दा० पृ० ८८ मे इसी अभिप्राय का एक श्लोक यम के नाम से उद्धृत है।

८१. दा० पृ० ७९ में उ०—सामान्यं पुत्रकन्यानां मृतायां स्त्रीधनं स्त्रियाम्। अप्रजायां हरेद् भर्त्ता माता भ्राता पितापि वा ॥

८२. याज्ञ० २।१४५ पर मिता० शुल्कं तु सोदर्याणामेव। मि० सुबोधिनी २।१४५ मातुरभावे सोदर्याः परिगृह्णीयुः।

इस प्रकार निश्चित किया है—(१) सोदर भाई (२) माता
वीरमित्रोदय पिता के अभाव में सपिण्डो को दायाद बताता

कन्या के स्त्रीधन के अतिरिक्त शेष सब प्रकार के स्त्रीधन
हैं—(१) अविवाहिता कन्या (२) विवाहिता किन्तु निर्धन
धनी कन्या (४) लडकी की लडकियां (५) लड़की का
(७) लडके का लडका (पोता)। इन सात दायादो के
अधर्म्य विवाहो के भेद से दायादो का क्रम वदल जाता है।
निम्न क्रम है—(८) उसका पति (९) पति के उत्तराधिकारी-
लड़का, पोता, सपत्नी, सौतेली लडकी, उसका बेटा, सास,
भाई (देवर), देवर का लडका, सपिण्ड, समानोदक और वन्धु।
का क्रम इस प्रकार है--मृत स्त्री के धन के दायादो मे पोते के
माता, पिता और पिता के सपिण्ड, पति और पति के सपिण्ड[८४]।
वम्बई टापू और उत्तरी कोकण में प्रामाणिक माने जाने वाले
मयूख में स्त्रीधन को दो भागो में बांटा गया—(१)
(२) अपारिभाषिक[८५]। पारिभाषिक स्त्रीधन उत्तराधिकार
भागो में विभक्त है—(१) शुल्क—इसके दायादो का क्रम
क्रम जैसा है। (२) यौतक पर अविवाहिता कन्याओ का और इनके
विवाहिता लडकियो का अधिकार होता है। (३) अन्वाधेय
के उत्तराधिकारी पुत्र और अविवाहिता कन्यायें एक साथ
होती है। अविवाहिता के अभाव में विवाहिता कन्यायें दायाद
अभाव मे पहले कन्या की सन्तान और फिर पुत्र के पुत्र
के रिक्थहर होते है (४) अन्वाधेय तथा भर्तृप्रीतिदत्त से भिन्न
धन के उत्तराधिकारी मिताक्षरावत् है। अपारिभाषिक स्त्रीधन के
क्रम यह है—पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, पुत्री, दोहता, दोहती। नि.सन्तान
क्रम मिताक्षरा जैसा ही है (मेन-हिन्दू ला पृ० ७५८-९)।
मिता० २।१४६ रिक्थं मृतायाः कन्यायाः गृह्णीयुः सोदरास्तदभावे

मेन—हिन्दू ला पृ० ७५६-५८
व्यवहार मयूख पृ० १६०—पारिभाषिकातिरिक्तं मातृधनं दुहितृ-
एव लभेरन्।

मिथिला में प्रामाणिक समझे जाने वाले विवाद चिन्तामणि के अनुसार शुल्क का संक्रमण मिताक्षरा जैसा है । यौतक स्त्रीधन लड़कियो को मिलता है और उनके अभाव में लड़कों को । अविवाहिता कन्याओ को विवाहिताओ से तरजीह दी जाती है । शेष सब प्रकार का स्त्रीधन लड़को तथा अविवाहित लड़कियों को एक साथ समानरूप से मिलता है (मेन—हिन्दू ला, पृ० ७५८) ।

दक्षिण भारत में मिताक्षरा के समान प्रामाणिक मानी जाने वाली स्मृति-चन्द्रिका इस विषय मे व्यवहार मयूख से बहुत सी महत्वपूर्ण बातो में मेल रखती है । किन्तु यह मयूख की भाति स्त्रीधन को पारिभाषिक और अपारिभाषिक नामक भेदों मे नही बांटती । मयूख की भाति, इसके मतानुसार पुत्र और अविवाहित पुत्रिया एक साथ अन्वाधेय और प्रीतिदत्त के उत्तराधिकारी होते है । मयूख के साथ इसका दूसरा बड़ा सादृश्य यह है कि यौतक की उत्तराधिकारिणी केवल कुमारिकायें होती है । मद्रास मे अधिकाश दशाओं में, मिताक्षरा का अनुसरण किया जाता है (११ म० १००) ।

बंगाल में प्रचलित दायभाग के अनुसार स्त्रीधन चार प्रकारो में बांटा जाता है—शुल्क, यौतक, अन्वाधेय और अयौतक । (क) शुल्क के सक्रमण का क्रम यह है —(१) सोदर भाई (२) माता (३) पिता (४) पति । (ख) यौतक अथवा विवाह की वेदी के समक्ष दी गयी भेटो वाले स्त्रीधन के दायाद इस प्रकार होंगे—क्वारी तथा अवाग्दत्ता कन्यायें (२) वाग्दत्ता कन्यायें (३) पुत्र-वती अथवा सभावितपुत्रा व्याही लड़किया (४) वन्ध्या, विवाहिता तथा निःस-न्तान विधवा लड़कियां—ये एक साथ समान अंश ग्रहण करती है (५) पुत्र (६) पुत्री का पुत्र (७) पौत्र (८) प्रपौत्र (९) सौतेला पुत्र (१०) सौतेला पौत्र (११) सौतेला प्रपौत्र । इनके बाद धर्म्य विवाह से परिणीत होने पर उपर्युक्त दायादो के अभाव में यौतक क्रमशः पति, भाई, माता और पिता को मिलता है । अधर्म्य विवाह होने पर इसके दायाद माता, पिता, भाई और पति होते है । (ग) अन्वा-धेय अथवा विवाह के बाद दी गयी भेटो के दायादों का क्रम यौतक के रिक्थ-हरों जैसा ही है, केवल कुछ सूक्ष्म अन्तर है—लड़के का हक व्याही लड़की से पहले होता है । स्त्री के नि.सन्तान होने पर यह क्रम होता है—भाई, माता, पिता, पति । (घ) उपर्युक्त तीन प्रकार से भिन्न सब प्रकार का स्त्रीधन अयौ-तक कहलाता है । दायभाग के अनुसार इसके रिक्थहरों का यह क्रम है—पुत्र और कुमारी कन्या, व्याही लड़की जिसकी सन्तान है या होने की संभा-वना है, पोता, दोहता, बांझ और विधवा लडकिया । किन्तु रघुनन्दन और

दो के बीच में निम्न दायाद और जोड़े हैं—पोता, पोते का
लडका, इसका पुत्र और पोता। इनके अभाव में सब प्रकार
दायादक्रम निम्न है—पति का छोटा भाई, पति के भाई का
का लड़का, पति की बहिन (बुआ) का लडका, भाई का लड़का,
। इन के भी न होने पर पति के सपिण्ड, सकुल्य, और समा-
ी होते हैं[८६]।

द्वारा शासित प्रदेश में स्त्रीधन का उत्तराधिकारी बनने के लिये
होना आवश्यक नही। विज्ञानेश्वर द्वारा उद्धृत स्कन्दपुराण के
श्यायें पंचचूडा नामक अप्सरा की वशज पचम जाति है[८७]।
विवाहित कन्याओ मे असाध्वी कन्या दायाद बन सकती है (तारा
व० ५९५)। किन्तु बंगाल में कन्या का साध्वी होना आवश्यक
अत्यन्त गर्हित होने पर भी हिन्दू परिवार में रक्तसबन्ध को
वाली नही समझी जाती, अत. नर्त्तकी का पेशा करने वाली
कियो के स्त्रीधन पर उसके भाई, बहिन, पति आदि सबन्धियो
बना रहता है।

के उत्तराधिकार के उपर्युक्त अत्यन्त जटिल नियमो को सरल
श्य से प्रस्तावित हिन्दू कोड मे तीन परिवर्त्तन किये गये थे—(१)
प्रकारो का अन्त कर उनकी एक ही श्रेणी बना दी गयी है,
भी तरह विवाह से पहले या बाद में प्राप्त सब प्रकार की सम्पत्ति
लायेगी (धारा ९१)। (२) स्त्रीधन के उत्तराधिकार की विभिन्न
अन्त कर स्त्री पुरुषो के लिये एक जैसी उत्तराधिकार व्यवस्था
गया है। (३) पुत्र को भी स्त्रीधन में उत्तराधिकार पाने का
गया है, उसे पुत्री के भाग से आधा भाग दिया गया है।
पुत्र और पुत्री के बीच में समान स्थिति बनाये रखना है। हिन्दू
को पिता की सम्पत्ति में पुत्र से आधा अंश दिया गया है; अतः अब
को ही प्राप्त होने वाले स्त्रीधन में से पुत्र को पुत्री से आधा हिस्सा

मेन—हिन्दू ला, पृ० ७६०-६२

या० २।२९० पर मिता०—स्मर्यते हि स्कन्दपुराणे पंचचूडा नाम
८ पंचमी जातिरिति। हीरालाल व० त्रिपुरा
६५०, नारायण व० लक्ष्मण १५ बं० ७८४

देना उचित समझा गया। २६ मई १९५४ को भारत सरकार के गजट में प्रकाशित नवीन हिन्दू उत्तराधिकार विधेयक में भी स्त्रीधन के सम्बन्ध में हिन्दू कोड से मिलती जुलती व्यवस्था की गयी है। अन्तिम अध्याय में इसका उल्लेख होगा।

सत्रहवां अध्याय

विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व

से विरासत में सम्पत्ति पाने की चार अवस्थायें—पहली
उत्तराधिकारी न होना—दूसरी अवस्था—विधवाओं
अवस्था—पति की सम्पत्ति के विनियोग का
की साक्षी—वर्त्तमान काल में विधवाओं का सीमित
—चौथी अवस्था—१९३७ का 'हिन्दू स्त्रियों के
कानून—स्त्रीधन पर विधवा का स्वत्व ।

काल में मुख्य रूप से दो प्रकार के साम्पत्तिक अधि-
द्वारा अपने पति की जायदाद के उपभोग का
धकार। इनमें पहले प्रकार की सम्पत्ति पर उसका
पति की सम्पत्ति का विक्रय या अपहार नही कर
के वाद यह सम्पत्ति उसके वारिसो को न मिलकर
प्राप्त होती हैं। दूसरे प्रकार की सम्पत्ति पर उस
इच्छानुसार इसे वेचने, दान करने का पूरा स्वत्व
यह जायदाद उसके उत्तराविकारियो को मिलती
का प्रतिपादन होगा।

सम्पत्ति पाने की चार अवस्थायें—पति से उत्तरा-
अधिकार विधवा को काफी लम्बे संघर्ष के वाद
चार अवस्थाओ में वाटा जा सकता है।

युग से सातवाहन युग (२०० ई०) तक
कोई साम्पत्तिक स्वत्व न था। दूसरी अवस्था
याज्ञवल्क्य ने विभक्त परिवार में पुत्र, पौत्र
को विरासत में पति की सम्पत्ति पर
का विरोध होने पर भी वृहस्पति और
का प्रवल समर्थन किया। तीसरी अवस्था
आदि ने प्रपौत्र पर्यन्त सन्तान के अभाव

में उस के उत्तराधिकारी होने के अधिकार को विभक्त और अविभक्त दोनों प्रकार के परिवारों में लागू किया। इस काल में उस के साम्पत्तिक स्वत्व पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध थे। पहला तो यह कि प्रपौत्र तक सन्तान न होने पर ही वह उत्तराधिकारी बनती थी और दूसरा यह कि इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति पर उसका सीमित स्वत्व था। १९३७ ई० से चौथी अवस्था आरम्भ होती है, इस वर्ष 'हिन्दू स्त्री सम्पत्ति कानून' द्वारा उसे पुत्र के साथ पति की सम्पत्ति में वारिस होने का अधिकार दिया गया। दूसरे प्रतिबन्ध सीमित स्वत्व को भी हटाने का प्रस्ताव हिन्दू कोड में किया गया और उसके पास न होने पर ऐसा ही प्रस्ताव २६ मई १९५४ को प्रचारित नवीन हिन्दू उत्तराधिकार बिल में किया गया है।

पहली अवस्था—विधवा का उत्तराधिकारी न होना—अधिकांश धर्मसूत्रों में दायादों में विधवा का उल्लेख नहीं है[1]। आपस्तम्ब किसी व्यक्ति के नि.सन्तान मरने पर उसके सपिण्ड (निकटतम पुरुष सम्बन्धी) को ही उत्तराधिकारी बनाता है। बौधायन के मतानुसार 'परदादा, दादा, पिता, स्वयं, सगा भाई, सवर्णा स्त्री से उत्पन्न पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र अविभक्त दायाद होने पर सपिण्ड होते हैं और बटवारा हो जाने पर सकुल्य। पुत्रो के न होने पर यह

---

१. कुछ धर्मसूत्रों में स्त्री के उत्तराधिकारिणी होने का उल्लेख है। दे० गौतम धर्मसूत्र २८।२१-२३ पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्। स्त्री चानपत्यस्य, बीजं वा लिप्सेत। इस में गौतम ने स्त्री को सपिण्डों और सगोत्रों के साथ वारिस बनाया है; विश्वरूप यहां स्त्री शब्द को गर्भिणी तक ही सीमित करता है और नियोग द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाली स्त्री को ही दायाद बनाता है (या० २।१३९); किन्तु विज्ञानेश्वर इस अर्थ से सहमत नहीं है (या० २।१३५ गौतमवचनान्नियुक्ताया धनसंबन्ध इति। तदप्यसत्)। मिताक्षरा ने तथा गौधसू० के टीकाकार ने यहां च के स्थान पर वा का पाठ माना है, इस के अनुसार स्त्री सपिण्डों के साथ संयुक्त रूप से नहीं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से वैकल्पिक दायाद होगी। विष्णु और शंख लिखित ने पत्नी के दायाद होने का उल्लेख किया है (वि० १७।४ अपुत्रस्य धनं पत्न्यभिगामी, शंख विश्व रूप द्वारा याज्ञ० २।१४० में उ०—अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यम्। तदभावे पितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठा)। ये सब वचन यह सूचित करते हैं कि शनैः शनैः विधवा को दायाद बनाने वाला पक्ष प्रबल हो रहा था।

` को मिलती है और इनके अभाव में क्रमशः आचार्य, शिष्य,
, को मिलती है ।' उत्तराधिकारियों की इस लम्बी सूची में
निर्देश नहीं है[२] । कौटिलीय अर्थशास्त्र (३।५) से भी यही
होती है; दायादों के अभाव में यदि राजा मृत पुरुष का धन
मृत पुरुष की स्त्री के जीवन निर्वाहार्थ तथा उसके और्ध्वदैहिक
कुछ धन अवश्य छोड़ देता था[३] ।' इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि
दायाद नही मानी जाती थी । मनु ने विधवा के कर्त्तव्यों की
की है (५।१५७-१६१); किन्तु दायादो की गणना करते हुए
अपवाद को छोड़ कर उसे कही उत्तराधिकारी नही माना[४] ।
के समय (१००-३०० ई०) तक सामान्य रूप से विधवा
माना जाता था । दक्षिण में कुछ स्थानों पर संभवतः वह
की स्वामिनी हो सकती थी[५] ।

० धर्मसूत्र २।१४।२-५ पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः । तदभावे
ऽन्तेवासी ।...दुहिता वा । सर्वाभावे राजा दायं हरेत् । बौधा०
प्रपितामहः पितामहः, पिता स्वयं सोदर्या भ्रातरः सवर्णायाः पुत्रः
एतान् विभक्तदायादान् सपिण्डानाचक्षते । विभक्तदायादान् सकु-
। असत्स्वंगजेषु तद्गमी ह्यर्थो भवति । सपिण्डाभावे सकुल्यस्तद-
ो ऋत्विग्वा हरेत् । तदभावे राजा ।

० ३।५ द्रव्यमपुत्रस्य सोदर्या भ्रातरः सहजीविनो वा हरेयुः
पुत्रवतः पुत्रा दुहितरो वा ।...आदायादकं राजा हरेत् स्त्री
।

० ९।१८५,८७ न भ्रातरो न पितरः पुत्रा रिक्थहराः पितुः । पिता
भ्रातर एव च ॥ अनन्तरः सपिण्डाद्यस्तस्य तस्य धनं भवेत् ।
स्यादाचार्यः शिष्य एव वा ॥ कुल्लूक ने अपनी टीका (९।
हैं कि मेधातिथि ने पत्नी के अंशहर होने का जो निषेध किया
नहीं । क्योंकि वृहस्पति आदि द्वारा पत्नी को दायाद माना गया
यन्मेधातिथिना पत्नीनामंशभागित्वं निषिद्धत्वमुक्तं तदसंबद्धम् ।
वृहस्पत्यादिसम्मतम् । मेधातिथिर्निराकुर्वंन्न प्रीणाति
। वस्तुतः मेधातिथि की व्याख्या ठीक है, कुल्लूक अपने समय की
को जबर्दस्ती मनु का मत बनाना चाहता है ।

के निरुक्त से यह प्रतीत होता है कि दक्षिण में विधवायें पति

इस काल में विधवा के दायाद न माने जाने के निम्न कारण प्रतीत होते हैं। वैदिक युग में विधवाओं के पुनर्विवाह और नियोग की परिपाटी प्रचलित थी[६], अतः उस समय विधवाओ की संख्या बहुत कम थी। ईसा की पहली सहस्राब्दी में इन दोनों प्रथाओं का लोप होने लगा[७]। इससे समाज में विधवाओं की संख्या बढी। कुछ समय तक उनके अधिकारों की इस कारण भी उपेक्षा हुई कि बौधायन जैसे धर्मसूत्रकार स्त्रियों को साम्पत्तिक स्वत्व देने के विरोधी थे[८]। किन्तु यह स्थिति देर तक नही रही, मध्यकालीन स्मृतिकारो ने विधवा को दायाद स्वीकार किया।

दूसरी अवस्था—विधवाओं का दायाद बनाना—याज्ञवल्क्य संभवतः पहला स्मृतिकार है, जिसने स्पष्ट रूप से सर्वप्रथम [९] विधवाओं को पुत्रों के अभाव में पति की सम्पत्ति का स्वामी वनाया (या० २।१३५-३६ दे० ऊ० पृ० ३००)[१०]

की सम्पत्ति प्राप्त करती थीं। ऋ० १।२४।७ की व्याख्या में उसने लिखा है, दाक्षिणात्य स्त्री अपुत्र और विधवा होने पर सभास्थान में जाती है, वहां मंच (गर्त्त या सभास्थाणु) पर आरूढ़ होती है, सभा के व्यक्ति उस पर पांसे फंकते हैं और वह उत्तराधिकार की सम्पत्ति प्राप्त करती है (निरुक्त ३।५गर्त्ता-रोहिणीव धनलाभाय दक्षिणाजी। गर्त्तः सभास्थाणुः। ....तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका साऽऽरोहति। तां तत्राक्षैराघ्नन्ति, सा रिक्थं लभते)।

६. अल्तेकर—पोजीशन आफ हिन्दू वुमैन, पृ० १७४, १७९

७. वही—वहीं, पृ० १७५ तथा १८३

८. दे० ऊ० पृ० ५५२ तथा द्वारकानाथ मित्तर—पोजीशन आफ वुमैन इन हिन्दू ला पृ० ४३३-४४६

९. विष्णु, गौतम और शंख ने यद्यपि इससे पहले विधवा को दायाद बनाया था (दे० ऊ० टि० सं० १)। किन्तु विष्णु का काल निर्विवाद रूप से निश्चित नहीं, श्लोकों वाला हिस्सा बहुत बाद का है (काणे-हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खं० १ पृ० ६९)। गौतम के सूत्र का अर्थ और पाठ काफी विवादास्पद है, शंख का काल (३०० ई० पू०—१०० ई०) यद्यपि याज्ञ० से पहले का है, किन्तु इसका धर्म सूत्र निबन्ध ग्रन्थों में अवतरणों के रूप में ही मिलता है।

१०. इस समय विधवा को दायाद बनाने का कारण यह था कि मनु द्वारा विधवाओं के पुनर्विवाह और नियोग का निषेध होने से समाज में विधवाओं की संख्या बढ़ने लगी थी। इन के भरण पोषण और सरक्षण की दृष्टि

इस सम्बन्ध मे पुरानी व्यवस्था का समर्थन किया, विधवा को
माना[11] और उत्तराधिकारियो के अभाव मे मृत व्यक्ति की
को देने की व्यवस्था की [12]।
को इस बात का श्रेय है कि उसने विधवा के दायाद होने का प्रवल
। याज्ञवल्क्य ने विधवा का उत्तराधिकारियो में उल्लेख मात्र किया
ने तर्क द्वारा विधवा के इस अधिकार को पुष्ट किया—"वेद में,
में पत्नी विद्वानो द्वारा पति का आधा शरीर कही गयी है,
के फल वह पति के साथ तुल्य रूप से ग्रहण करती है। जिस
मृत नही, उसकी देह का आधा भाग जीवित है, उसके जीवित रहते
पुरुष (उसके पति के धन को) कैसे प्राप्त कर सकता है?
माता, सोदर भाई आदि के रहते हुए भी अपुत्र मृत पुरुष की
पत्नी को मिलती है। अपने पति से पहले मरने वाली पत्नी
- ले लेती है, किन्तु यदि पति उस से पहले मरता है तो वह पति-
उस की सम्पत्ति प्राप्त करती है। यही सदा से चला आने वाला
सपिण्ड (पितृकुल के संवन्धी), वन्धु (मातृकुल के संवन्धी)
को हानि पहुँचायें तो राजा उन्हे चोरो का दण्ड दे"[13]।

व्यवस्था की गयी (अल्तेकर—पू० नि० पु० पृ० ४२६-२७)।
चाहिये कि शास्त्रकारों ने स्त्री को परतन्त्र मानते हुए भी
में स्वत्व के अधिकार से वंचित नहीं किया दे० ऊ० पृ० ५४४
० स्मृ० १६।५१ अभावे तु दुहितॄणां सकुल्या बान्धवास्तथा। ततः
राजगामि तत्॥ मध्यकाल में अनेक टीकाकारो तथा
को नारद का यह वचन विधवा को दायाद बनाने में बाधक प्रतीत
० तथा अप० या० २।१३६ पर, स्मृच० ३०२, व्यप्र० ५१०)।
राजा द्वारा अपुत्र मृत व्यक्ति की सम्पत्ति लेने के तत्कालीन साहित्य
मिलते है (दे० नीचे टिप्पणी संख्या २०)
० २९० में उ०—आम्नाये स्मृतितन्त्रे च लोकाचारे च सूरिभिः।
जाया पुण्यापुण्यफले समा॥ यस्य नोपरता भार्या देहार्धं तस्य
शरीरेऽर्थं कथमन्यः समाप्नुयात्। कुल्येषु विद्यमानेषु पितृ-
। असुतस्य प्रमीतस्य पत्नी तद्भागहारिणी॥ पूर्वं प्रमीताग्निहोत्रं
। विन्देत्पतिव्रता नारी धर्म एष सनातनः॥ तत्सपिण्डा बान्धवा

विधवा के अधिकार का इससे अधिक उग्र समर्थन क्या हो सकता था। साध्वी स्त्री के लिये पति का उत्तराधिकारी होना बृहस्पति के लिये 'सनातन धर्म' था। था। बृहस्पति ने पत्नी को दायाद बनाते हुए भी उसे स्थावर सम्पत्ति के अतिरिक्त द्रव्य पर ही यह अधिकार दिया है[१४]।

कात्यायन ने बृहस्पति का समर्थन करते हुए साध्वी पत्नी को दायाद बनाया[१५] और यह कहा कि वह उस सम्पत्ति का यावज्जीवन उपभोग ही करे और उसके मरने के बाद यह सम्पत्ति पति के दायादो को प्राप्त हो[१६]। स्मृतिचन्द्रिका मे (पृ० २९२) कात्यायन के नाम से उद्धृत एक श्लोक में कहा गया है[१७] 'कुल (की प्रतिष्ठा की) रक्षा करने वाली स्त्री पति के मरने पर उसके अश को जीवन पर्यन्त प्राप्त करे, किन्तु उसे इसके दान, विक्रय और गिरवी रखने का अधिकार नही है'। इस से यह स्पष्ट होता है कि विधवा अपने पति की सम्पत्ति की आय का मृत्युपर्यन्त उपभोग कर सकती है, किन्तु उसे इस के विनियोग का यथेच्छ अधिकार नही है, वह पति के उत्तराधिकारियो की सहमति से ही उसकी सम्पत्ति का दान या विक्रय कर

वा ये तस्याः परिपन्थिनः। हिंस्युर्धनानि तान् राजा चौरदण्डेन शासयेत्॥ मिता० २।१३५ में उ० बृह० का वचन—भर्तुर्धनहरी पत्नी तां विना दुहिता स्मृता।

१४. दा० १६८—यद्विभक्ते धनं किंचिदाध्यादि विविधं स्मृतम्। तज्जाया स्थावरं मुक्त्वा लभेत मृतभर्तृका। वृत्तस्यापि कृतेऽप्यंशे न स्त्री स्थावरमर्हति॥ माधव के मत में यह वचन अन्य दायादों से बिना पूछे स्थावर सम्पत्ति के विक्रय का निषेध करने के सम्बन्ध में है—तदितरदायादानुमतिमन्तरेण स्थावर-विक्रयनिषेधपरम्, पृ० ५३६

१५. याज्ञ० २।१३६ पर मिता० द्वारा उद्धृत—पत्नी भर्तुर्धनहरी या स्यादव्यभिचारिणी। तदभावे तु दुहिता यद्यनूढा भवेत्तदा॥

१६. दा० १७१ में उ०—अपुत्रा शयनं भर्तुः पालयन्ती व्रते स्थिता। भुंजीता-मरणात्क्षान्ता दायादा ऊर्ध्वमाप्नुयुः॥ यह व्यवस्था सर्व प्रथम कौटिल्य में मिलती है—अपुत्रा पतिशयनं पालयन्ती गुरुसमीपे स्त्रीधनं आ आयुः क्षयाद् भुंजीत। आपदर्थं हि स्त्रीधनम्। ऊर्ध्वं दायादं गच्छेत्। मि० महाभा० १३।४७।२४ स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पतिवित्तात्कथंचन॥

१७. मृते भर्त्तरि भर्त्रंशं लभेत कुलपालिका। यावज्जीवं न हि स्वाम्यं दानाधमनविक्रये॥

धार्मिक कार्यों के लिये या पति को लाभ पहुँचाने वाले पुण्य
ही काफी व्यय कर सकती हैं। प्रिवी कौन्सिल ने इन नियमों
किया है[१८]।

के बाद मध्यकाल के लगभग सभी स्मृतिकारों व्यास (धर्मकोश
१५२४), उशना (धर्मकोश पृ० १५२६), यम (वही), वृद्ध-
), लघुहारीत और वृहन्मनु (वहीपृ० १५२७) ने विधवा को
माना। किन्तु कुछ शास्त्रकार पुरानी परम्परा का अनुसरण करते
बने रहे।

ने यद्यपि विधवा के अधिकार का समर्थन किया, किन्तु साहि-
से यह प्रतीत होता है कि १२०० ई० तक दायादो के अभाव में
सम्पत्ति राजकोप में चली जाती थी, विधवा उसकी स्वामी नही
केवल राज्य से भरण पोषण का व्यय मिलता था। कालिदास के
न्तल से प्रतीत होता है कि एक समुद्री व्यापारी धनमित्र के नौका
में मृत हो जाने पर दुष्यन्त के मन्त्री उस की सम्पत्ति राज्य को
थे। गुजरात के राजा कुमारपाल (११४४-७३) के मुह
नामक नाटक में यह कहलाया गया है—'राजा यह चाहता
व्यक्ति नि.सन्तान ही मरें ताकि उन की सम्पत्ति राजा को मिल
राजा के एक दरबारी कवि ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा है कि
त्पन्न हुए रघु, नहुप, नाभाग, भरत आदि राजाओं ने पुराने ज़माने
ी सम्पत्ति को नही छोडा था, किन्तु आप रोती हुई विधवाओ
कर महापुरुषों के मस्तक की मणि बने हैं[२०]।

कलेक्टर आफ मछलीपट्टम व० केवली वेंकट ८ म्यू० इं० ए०
।

इन में मेधातिथि (कुल्लूक की ऊपर उद्धृत टीका पृ० ५८८ में)
स्मृच० २९४) धारेश्वर भोज (स्मृच०-वहीं) और विश्वरूप
३९) उल्लेखनीय हैं, पिछले तीनों नियोग करने वाली विधवा को
देना चाहते थे। श्रीकर ने पति की सम्पत्ति थोड़ी होने पर
द माना (मिता० याज्ञ० २।१३५ पर-एतेनाल्पधनविषयत्वं
निरस्तं वेदितव्यम्।

शाकु० पष्ठ अंक—समुद्रव्यवहारी सार्थवाहो धनमित्रो नाम नौका-

तीसरी अवस्था—विधवाओं के दायाधिकार में वृद्धि—मध्ययुग प्रायः ह्रास का प्रतीक समझा जाता है, किन्तु हिन्दू परिवार में इस काल में विधवाओ के साम्पत्तिक स्वत्वों का विकास हुआ, पौत्र तक सन्तान के अभाव में इन का दायाद होना निर्विवाद रूप से स्वीकार कर लिया गया[२१] और इसे विस्तृत बनाने का प्रयत्न हुआ। विज्ञानेश्वर ने (याज्ञ० २।१३५-३६)

व्यसने विपन्नः। अनपत्यश्च किल तपस्वी। राजगामी तस्यार्थसंचय इत्येतदमात्येन लिखितम्। मोह पराजय तीसरा अंक-निष्पुत्रं म्रियमाणमाढ्यमवनीपालो हहा वाञ्छति। कुमारपाल प्रतिबोध पृ० ४८ न मुक्तं यत्पूर्वं रघुनहुषनाभागभरत-प्रभृत्युर्वीनाथैः कृतयुगोत्पत्तिभिरपि। विमुञ्चन्सन्तोषात्तदिह रुदतीवित्तमधुना कुमार क्ष्मापाल त्वमसि महतां मस्तकमणिः॥ विधवाओं के दायाद बन जाने से राज्य की आय में जो कमी हुई, उस की पूर्त्ति के लिये अनेक राज्यों ने अपुत्र मरने वाले व्यक्तियों की सम्पत्ति पर मृत्युकर लगाया (ग्राहम—कोल्हापुर पृ० पृ० ३३३ अल्तेकर द्वारा पोजीशन आफ हिन्दू वुमैन पृ० ३१० पर उद्धृत)

२१. विज्ञानेश्वर (याज्ञ० २।१३५-३६) ने इस प्रसंग में पूर्वपक्ष के रूप में विधवा को दायाद न मानने में निम्न युक्तियां उपस्थित कर उनका खण्डन किया है (१) विधवा को उत्तराधिकारी बनाने वाले वचनों में यह विधान है कि यह अधिकार नियोग करने वाली विधवा को ही है, किन्तु मिता० इसे उत्तराधिकार की शर्त्त न समझता हुआ गौतम के आधार पर एक विकल्प मात्र मानता है और नियोग की प्रथा मनु द्वारा निन्दित होने से विधवा को ही रिक्थ-हर बनाता है (२) वह इस युक्ति का भी खण्डन करता है कि स्त्रियों को पति या पुत्र द्वारा ही सम्पत्ति पाने का अधिकार है, क्योकि यदि ऐसा माना जाय तो मनु द्वारा बताये गये स्त्रीधन के छः प्रकारों पर उसका स्वत्व नहीं हो सकता, अतः स्त्री पति या पुत्र के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से भी सम्पत्ति प्राप्त कर सकती है। (३) 'स्त्रियां पति की सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी नहीं हो सकतीं, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य की सम्पत्ति का उद्देश्य यज्ञादि धर्मकार्य करना है और स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है'। विज्ञा० ने इस युक्ति का इस प्रकार खण्डन किया है—यह स्थापना ठीक नहीं है कि सम्पत्ति यज्ञों के लिये ही होती है, क्योंकि याज्ञ०, मनु, गौतम के अनेक वचन इसके विरोधी है। (४) श्रीकर का यह मत है कि विधवाओं को वहीं दायाद होने का अधिकार है, जहां सम्पत्ति थोड़ी हो। विज्ञा० इस का भी प्राचीन वचनों के आधार पर खण्डन करता है।

ति, कात्यायन और वृहन्मनु के पहले उद्धृत किये (पृ० ५८९)
धवा के दायाद होने की पुष्टि की, इसका विरोध करने वाले
के वचनों की यह व्याख्या की कि ये सयुक्त अथवा ससृष्ट (एक
होकर पुनः सयुक्त हुए) परिवार के विषय मे कहे गये है और
` यह परिणाम निकाला है कि नि सन्तान मृत, विभक्त और
ग होकर पुन. न मिले हुए) पुरुष के सम्पूर्ण धन को पतिव्रता
करती है[२२]। जीमूतवाहन के अतिरिक्त मध्यकाल के प्राय. सभी
ने विज्ञानेश्वर के इस मत को स्वीकार किया और १९३७ ई० तक
शासित प्रदेश मे अदालतो द्वारा यह व्यवस्था सर्वमान्य थी।
ए ने इस अधिकार को विज्ञानेश्वर की अपेक्षा अधिक विस्तृत
सयुक्त परिवार के अतिरिक्त विभक्त परिवार में भी विधवा
त है। उस की मुख्य युक्ति यह है कि पत्नी पति का आधा अग
मिलनी ही चाहिये, चाहे वह विभक्त परिवार मे हो या अवि-
मे, क्योकि ऐसा तो नही होता कि विभक्त परिवार मे वह पति
` और सयुक्त परिवार में न हो। धर्मशास्त्रो के अनुसार पति-पत्नी
अविच्छेद्य है, अत. दोनो प्रकार के परिवारो में विधवा पत्नी को
धिकारी मानना चाहिए। जीमूतवाहन इस विषय मे अपने
`न्द्रिय नामक आचार्य का अनुसरण करता हुआ सब विधवाओ
समूचा धन विभक्त और अविभक्त दोनो परिवारो में लेने की
रता है[२३]।

को निर्विवाद रूप से उत्तराधिकारी मान लेने पर मध्ययुग में
के दो प्रश्नो पर विशेष विचार होता रहा—(१) विधवा को
` सम्पत्ति लेने का अधिकार है। (२) वह उसके यथेच्छ विनि-
अधिकार रखती है। पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे जीमूतवाहन और
दोनो का यह मत था कि वह पति की सारी सम्पत्ति की स्वामिनी
र स्मृति में स्त्रियो को निर्वाहमात्र देने की व्यवस्था पायी जाती

याज्ञ० २।१३५-३६ पर मिता० तस्मादपुत्रस्य स्वर्यातस्य विभ-
ो धनं परिणीता स्त्री संयता सकलमेव गृह्णातीति स्थितम्।
दा० पृ० १८१ अतोऽविशेषेणैव विभक्तत्वाद्यनपेक्षयैवापुत्रस्य भर्त्तुः
ए धकारो जितेन्द्रियोक्त आदरणीयः।

है (१६।५२)। इसका दोनो ने यह समाधान किया है कि यज्ञकार्य में साथ बैठने वाली स्त्री को ही पत्नी कहा जाता है, याज्ञवल्क्य ने २।१३५ में पत्नी को ही उत्तराधिकारी बताया है; नारद ने अपनी व्यवस्था में स्त्री शब्द का प्रयोग किया है (तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधि. स्मृतः), अतः इसका यह अर्थ है कि पत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियो को सम्पत्ति मे कोई अधिकार न दिया जाय[२४]। यह मध्यकालीन टीकाकारों द्वारा व्याख्या-कौशल से प्राचीन व्यवस्थाओ को समयानुकूल बनाने का सुन्दर उदाहरण है।

विधवा द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के विनियोग के सम्बन्ध मे मध्यकालीन निबन्धकारो मे पर्याप्त मतभेद है। जीमूतवाहन ने कात्यायन के ऊपर उद्धृत किये (पृ० ५ १) 'अपुत्रा शयनं' वाले श्लोक के आधार पर उसे पति की सम्पत्ति के भोग का अधिकार दिया है, स्त्रीधन की भाति अपनी इच्छा से दान विक्रयादि का स्वत्व नही दिया। महाभारत के एक वचन का प्रमाण देते हुए उसने कहा है कि पति की सम्पत्ति विधवाओ के उपभोग के लिये ही होती है, वे उस का अपहार नही कर सकती। उपभोग का आशय विलास के लिये बारीक कपड़े आदि पहनना नही, किन्तु पति को लाभ पहुँचाने की दृष्टि से अपने शरीर को धारण करने के लिये किया जाने वाला उचित व्यय है और इसे विधवा कर सकती है। इसी कारण पति के दाह-सस्कार और श्राद्ध के लिये उसे दान करने की अनुमति है, गुजारा न चलने पर वह पति की सम्पत्ति रेहन रख सकती है, बेच भी सकती है"[२५]। दाय भाग की इस व्यवस्था से यह स्पष्ट

---

२४. वही—नारदस्तु तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादिति वर्त्तनधनं दत्त्वा राज्ञा सर्वधनं ग्रहीतव्यमिति यो विरोधः स पत्नीस्त्रियोर्भेदेन समाधेयः। मि० मिता० २।१३५-३६। विज्ञानेश्वर नारद के वचन को रखैल (अवरुद्धा) स्त्री के लिये समझता है। नारद का ऊपर निर्दिष्ट वचन इस प्रकार है—'अन्यत्र ब्राह्मणात् किन्तु राजा धर्मपरायणः। तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः ॥ ना० स्मृ० १६।५२

२५. वही—पत्नी च भर्तृधनं भुंजीतैव परं न तु तस्य दानाधमनविक्रया-न्कर्त्तुमर्हति। तदाह 'कात्यायनः- अपुत्रा...' गुरौ श्वशुरादौ भर्तृगृहे स्थिता यावज्जीवं भर्तृधनं भुञ्जीत, न तु स्त्रीधनवत् स्वच्छन्दं दानाधानविक्रयानपि कुर्वीत।...स्त्रीणां स्वपतिदायस्तु उपभोगफलः स्मृतः। नापहारं स्त्रियः कुर्युः पति-दायात्कथंचन ॥ उपभोगोऽपि न सूक्ष्मवस्त्रपरिधानादिना किन्तु स्वशरीरधारणेन

. विधवा को जीवन पर्यन्त पति की सम्पत्ति के उपभोग का ही
किन्तु दिवंगत पति को पुण्यलाभ पहुँचाने की दृष्टि से तथा जीवन-
वह इस सम्पत्ति का दान भी कर सकती है। स्मृति चन्द्रिका
, नीलकण्ठ (व्यम० पृ० ८६) तथा मित्रमिश्र (वी०मि० सं० प्र०
ने अदृप्ट पुण्य फल पाने के लिये विधवा के दान के अधिकार
।
के धर्मशास्त्रियो ने इस युग में विधवा को कुछ अधिक अधिकार
और वाचस्पति मिश्र ने कात्यायन के एक वचन के आधार
पर उस का पूरा प्रभुत्व माना है [२६]। माधव की सम्मति
का विनियोग करने के लिये विधवा को दायादों की अनु-
था (पृ० ५३६)। विज्ञानेश्वर ने विधवा द्वारा सम्पत्ति
में किसी प्रतिवन्ध का उल्लेख नहीं किया। इस प्रकार मध्य-
द्वारा सम्पत्ति के विनियोग के अधिकार की कोई एकरूप व्यवस्था
नही होती। मध्यकालीन अभिलेखो से इस की पुष्टि होती है।
में दक्षिण के दानपत्रो में हमें दोनो प्रकार की व्यवस्था उपलब्ध
। विधवायें दायादो से अनुमति ले कर दान करती हैं और इसके
भूसम्पत्ति का धर्मकार्य में विनियोग करती है। पहले प्रकार
निम्न हैं—१० वी शती के मैसूर के एक दानपत्र में विधवा और
द्वारा भूदान का उल्लेख है, देवर का उल्लेख दायादो की अनुमति
के लिये ही किया गया प्रतीत होता है (एपिग्राफिया कर्नाटिका भाग
३)। इसी राज्य के १२ वी शती के एक दानपत्र में विधवा और देवर
उनके जातिवन्धु श्री वैष्णवो का भी उल्लेख है (वही १०, स०
। मदुरा के १३ वी शती के एक दानपत्र में दो नि सन्तान विधवाओ
की सहमति से एक मन्दिर के लिये उद्यान के दान का वर्णन
भारतीय अभिलेखो की रिपोर्ट १९१६ स० ४०१)। इसके विपरीत

कर , देहधारणोचितोपभोगाभ्यनुज्ञानम्। एवं च भर्तुरौर्ध्वदैहिक-
दानादिकनप्यनुमतम्।...अतएव वर्त्तनाशक्तौ आधानमप्यनुमतं तत्रा-
।

विवाद ताण्डव पृ० ३९०

अल्तेकर—पोजीशन आफ हिन्दू वुमेन पृ० ३१७-१८

दक्षिण से ऐसे भी अनेक अभिलेख मिले है, जिन मे विधवायें स्वतन्त्रतापूर्वक भूमि का दान या विक्रय करती हुई प्रतीत होती है। १२ वी शती के एक अभिलेखमे त्रिचनापल्ली जिले की एक ब्राह्मण विधवा के द्वारा मन्दिर को भूमि दान करने का उल्लेख है, १३ वी शती के कोलार जिले के एक लेख में एक विधवा द्वारा भूसम्पत्ति मे अपना हिस्सा बेचने का सकेत है, १७ वी शती के एक अभिलेख में यह बताया गया है कि एक ब्राह्मण स्त्री ने एक मन्दिर को पूरे गांव का दान किया[२८]। इन सब लेखो में भूसम्पत्ति वेचने या दान करने के लिये दायादो से अनुमति लेने का कोई निर्देश नही है। अत. अभिलेखीय साक्षी से यह प्रकट होता है कि उस समय दक्षिण भारत मे विभिन्न स्थानो पर विधवा के पूर्ण तया सीमित—दोनो प्रकार के स्वत्वो की व्यवस्था प्रचलित थी।

ब्रिटिश काल मे न्यायालयो के निर्णयो द्वारा हिन्दू समाज मे विधवा के सीमित स्वत्व का सिद्धान्त लगभग सर्वमान्य हुआ। मिताक्षरा के अनुसार उत्तराधिकार से प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होनी चाहिये। किन्तु प्रिवी कौन्सिल ने मछलीपट्टम के कलेक्टर ब० केवली वेंकट (८ म्यू० इ० ए० ५२९) के मामले मे दायभाग की सीमित स्वत्व की व्यवस्था मिताक्षरा द्वारा शासित प्रदेश में लागू करते हुए, यह नियम बनाया कि विधवा धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य के लिये अपनी इच्छा से सम्पत्ति का अपहार (Alienation) (उसका दान, विक्रय या गिरवी) नही कर सकती। माननीय जजो की सम्मति में विधवा के अधिकार पर यह अकुश इसलिये लगाया गया था कि पति के दायादो की सम्पत्ति विधवा द्वारा व्यर्थ मे उडायी जाने से बची रहे, यह हिन्दू शास्त्रकारो द्वारा वार-बार प्रतिपादित 'नारी की परतन्त्रता के सिद्धान्त' का स्वाभाविक परिणाम था। ठाकुरदेई व० राय बालकराय (११ म्यू० इ० १३९)के निर्णय मे पहले फैसले को पुष्ट करते हुए स्थावर सम्पत्ति के विनियोग में विधवा का सीमित अधिकार स्पष्ट रूप से माना गया। इस निर्णय में न्यायाधीशो ने यह कहा—'यद्यपि कोलब्रुक द्वारा अनूदित मिताक्षरा में सीमित स्वत्व को पुष्ट करने वाली कोई व्यवस्था नही है, किन्तु शायद उस द्वारा अनुवाद न किये हिस्सो मे कही ऐसा विधान हो; नारद और कात्यायन के वचनों से उन्होने अपना निर्णय पुष्ट किया। इस सम्बन्ध के तीसरे मामले (भगवानदीन ब० मैनाबाई ११ म्यू० इ० ए० ४८७) मे जजो ने चल सम्पत्ति

२८. अल्तेकर—वही।

के सीमित स्वत्व की घोषणा करते हुए लिखा कि पति से उत्तरा-
त विधवा की सम्पत्ति के प्रभुत्व पर चाहे इस कारण से
गया हो कि स्त्री परतन्त्र होती है या उसे वैधव्य का संयत
है या एक परिवार की सम्पत्ति दूसरे परिवार में
नही है, यह प्रतिवन्ध चल और अचल दोनो प्रकार की
लागू होता है"। अत मिथिला[२९] के अतिरिक्त शेष भारत
को दायादो से विना पूछे अपनी चल, अचल सम्पत्ति का
करने का अधिकार नही है। वह केवल धर्मकार्य और
के कारणो से ही इस सम्पत्ति का इच्छानुसार उपयोग
। धर्मकार्यों के कुछ उदाहरण ये है—पति के लिये श्राद्ध,
जा के लिये मन्दिर वनवाना, तालाव खुदवाना। इनकी विस्तृत
या कानूनी आवश्यकता के सम्वन्ध में नियम निश्चित करना वडा
विपय का कानून वहुत पेचीदा है[३०] और मुकद्दमेवाजी की एक
। एक प्रसिद्ध हिन्दू कानून वेत्ता ने १९१३ में लिखा था कि
स्वत्व के सम्वन्ध मे हमारे न्यायालयो मे आने वाले अभि-
, हिन्दू कानून के अन्य सभी मुकद्दमो की सम्मिलित सख्या से
है, राव समिति ने कुछ वर्ष पहले कहा था कि यह वाक्य आज
सत्य है, जितना १९१३ मे था[३१]।

स्वत्व की अवाञ्छनीयता—श्री अल्तेकर ने विधवाओ के सीमित

मिथिला में विधवा को केवल चल सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार है,
त का दान अपने दायादो की लिखित सहमति के विना नहीं कर
दुर्गादेई व० पूसनदेई ५ वी० रि० १४१, सुरेस्सर व० महेशरानी २०
नो० ३१, ३३। वम्वई में पहले कुछ फैसलों में पति से विरासत
। में विधवा को पूरा स्वत्व दिया गया था, किन्तु वाद में
ही स्वीकार किया गया—(धारपुरे-राइटस् आफ वुमेन अंडर दी
१३४-३५)

मेन—हिन्दू ला पृ० ७७८-७८२।

द्वारकानाथ मित्तर—दी पोजीशन आफ वुमेन इन हिन्दू ला पृ०
समिति की सम्मति के लिये दे० गजट आफ इंडिया भाग ५; ३० मई

स्वत्व को पंजाब और फिलस्तीन के उदाहरणो से उपयोगी सिद्ध किया है[३२], इन दोनो स्थानो पर किसानो को भूसम्पत्ति बेचने का अधिकार था, उन्होंने ऋण प्राप्त करने के लिये जमीनें गिरवी पर रखी, किन्तु अन्त मे कर्ज न चुकाने पर भूमि उनसे छिन गयी, राज्य को भूमि विक्रय निषेधक कानून बनाने पडे। स्त्रियों को पूर्ण स्वत्व देने से हिन्दू परिवार मे भी ऐसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न होने की आशका है। किन्तु पंजाब और फिलस्तीन के उदाहरण इस प्रकरण मे ठीक नही प्रतीत होते, दोनो स्थानो पर किसानो से अपनी सम्पत्ति बेचने का अधिकार नही छीना गया, किन्तु सम्पत्तिशाली यहूदियो और पजाब की अकृषक जातियो द्वारा भूसम्पत्ति के खरीदने पर प्रतिवन्ध लगाया गया है। सामान्य हिन्दू विधवा अशिक्षित भले ही हो, किन्तु यह अच्छी तरह जानती है कि यह सम्पत्ति ही उसके जीवन का मुख्य आधार है, पूर्ण स्वत्व मिल जाने पर भी वह असाधारण परिस्थिति मे ही उस का विक्रय करेगी, अत. उपर्युक्त दुष्परिणामो की आशका निर्मूल है। भारत मे जैन[३३], पारसी, ईसाई, मुस्लिम विधवाओ को पति की सम्पत्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है, वे इस स्वत्व का दुरुपयोग नही कर रही तो हिन्दू स्त्रियो से इस की कैसे आशा रखी जा सकती है?

इस समय सीमित स्वत्व होने से विधवा को अपनी सम्पत्ति से विशेष लाभ नही है और परेशानी अधिक है। सम्पत्ति बेचने के लिये पति के दायादो की अनुमति आवश्यक है; वे स्वभावतः इस प्रकार की सहमति देने को तय्यार नही होते, क्योकि विधवा की मृत्यु के वाद अपने पास आने वाली सम्पत्ति को खोने की मूर्खता वे क्यो करें? यह ठीक है कि कानूनी आवश्यकता पडने पर विधवा इस सम्पत्ति को बेच सकती है। किन्तु इसका खरीदार वडी कठिनता से मिलता है और वह भी उसे इस सम्पत्ति का वहुत कम दाम देता है, क्योकि उसे यह आशंका रहती है कि उस सम्पत्ति के दायाद (Reversioner) या परावर्त्तन भागी उसे प्राप्त करने के लिये दावा दायर करेंगे और उस समय विधवा द्वारा सम्पत्ति बेचने की कानूनी आवश्यकता सिद्ध करने मे वडी कठिनाई

---

३२. अल्तेकर—पोजीशन आफ वुमैन पृ० ३२१

३३. जैन समाज में विधवा को पति की सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देने का दुष्परिणाम के स्थान पर यह सुफल हुआ है कि पुत्र को माता की कृपा प्राप्त करने के लिये सद्गुणी, और आज्ञाकारी होना आवश्यक हो गया है (चम्पक राय—दी जैन ला १९२६ पृ० १२)।

३ के एक मुकद्दमे (१९ वी० रि० ४२६) मे कलकत्ता हाईकोर्ट ने
ा खरीदने वालो को चेतावनी दी थी कि वे इस प्रकार के
खतरा उठा रहे है, दायादों से विना पूछे और कानूनी आवश्य-
न जाच किये यदि वे सम्पत्ति खरीदने है तो उन्हे इस के सव
ने के लिये तय्यार रहना चाहिये"।
 स्पष्ट है कि विधवा को आवश्यकता पड़ने पर सकटकाल
का उचित मूल्य कभी नही मिल सकता, यदि वह लाचारी
है तो दायादो द्वारा मुकद्दमेवाजी शुरू हो जाती है। इन दोनों
के अतिरिक्त, सीमित स्वत्व का सिद्धान्त वर्त्तमान समय की नर-
धिकार-भावना के प्रतिकूल और हिन्दू स्त्रियो के प्रति अन्याय-
इन्ही सव वातो को दृष्टि में रखते हुए हिन्दू कानून का सशोधन
राव-समिति ने हिन्दू विधवा के सीमित स्वत्व को समाप्त कर उसे
ी सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देने की सिफारिश की थी, १९४८ के
मे यह प्रस्ताव था कि रिक्थ (Inheritance), वसीयत, वट-
से प्राप्त, अपने परिश्रम अथवा नैपुण्य से या अन्य किसी प्रकार से
और अचल दोनो प्रकार की सम्पत्ति का स्त्री यथेच्छ विनियोग
है (धारा ९१)। यह व्यवस्था विज्ञानेश्वर द्वारा किये स्त्रीधन के
सरण करती है और समयानुकूल है, हिन्दू कोड के पास न होने
 तक कानून नही वन सकी। २६ मई १९५४ को भारत सरकार
शत नये नि सकल्प पत्रक हिन्दू उत्तराधिकार विल में भी ऐसी
प्रस्ताव है, आशा है कुछ वर्षों में इसके पास होने पर विधवा का
त्व समाप्त हो जायगा।
अवस्था—१९३७ से हिन्दू विधवा के साम्पत्तिक स्वत्व के विकास
का चतुर्थ युग आरम्भ होता है। इस समय तक याज्ञवल्क्य की
विधवा पोते तक सन्तान न होने की दशा में पति की सम्पत्ति
धकारिणी होती थी, अव देशमुख के 'हिन्दू स्त्रियो के साम्पत्तिक
 कानून पास हो जाने (१४ अप्रैल १९३७) से विधवाओ को
 परिवार में पुत्र के साथ तथा उसके वरावर हिस्सा पाने का
प्राप्त हो गया (तीसरी धारा का क भाग) और सयुक्त परिवार
 भरण-पोषण की पुरानी व्यवस्था के स्थान पर उसे पारिवारिक
पति के मरने पर उस के स्वत्व मिले है। इस कानून द्वारा विधवाओ

का सम्पत्ति मे सीमित अधिकार ही स्वीकृत किया गया। पहले यह बताया जा चुका है कि इसका अन्त करने के लिये क्या प्रयत्न हो रहे हैं।

स्त्रीधन पर स्वत्व—पति से उत्तराधिकार मे प्राप्त सम्पत्ति के अतिरिक्त विधवा एक दूसरी प्रकार की सम्पत्ति—स्त्रीधन—की भी स्वामिनी होती है। इस पर उसका पूर्ण स्वत्व होता है। पिछले अध्याय मे स्त्रीधन के स्वरूप और पति के जीवनकाल मे पत्नी के इस धन पर अधिकार का प्रतिपादन हो चुका है, यहां विधवा के इस धन पर स्वत्व का सक्षिप्त उल्लेख होगा।

पति के सरक्षण (Coverture) मे रहने वाली पत्नी की अपेक्षा विधवा स्त्रीधन पर अधिक अधिकार है। पहले यह बताया जा चुका है कि स्त्रीधन मे दो प्रकार की सम्पत्ति होती है (क) सौदायिक—इस पर पत्नी का पूर्ण प्रभुत्व होता है (ख) सौदायिक से भिन्न अन्य प्रकार के स्त्रीधन—इसके विनियोग मे वह केवल पति के नियन्त्रण मे रहती है। कात्यायन के मतानुसार यह शिल्पो (कताई आदि) से कमाया तथा अपने सबन्धियों से भिन्न व्यक्तियो से उपहार मे पाया धन है [३४]। पति के न रहने पर उसका दोनों प्रकार के स्त्री धन पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। नारद के कथनानुसार पति के जीवनकाल मे स्त्रियो को स्त्रीधन के दान और विक्रय का अधिकार नही होता, किन्तु विधवा होने पर उन्हे यह अधिकार प्राप्त हो जाता है (नास्मृ० १६।८)।

---

३४. दा० ७६ में उ०—प्राप्तं शिल्पैस्तु यद्वित्तं प्रीत्या चैव यदन्यतः। भर्तुः स्वाम्यं तदा तत्र शेषं तु स्त्रीधनं स्मृतम्॥ अल्तेकर ने इस व्यवस्था का कारण यह बताया है कि बाहर के व्यक्तियों के उपहार को स्त्रीधन बना कर हिन्दू शास्त्रकार ईर्ष्यालु पतियों के परिवारों की शान्ति भंग नही करना चाहते थे। श्रमजीवी वर्ग में प्रायः पति-पत्नी की कमाई के संयुक्त धन से परिवार का व्यय चलता है, अतः ऐसी परिस्थिति में पत्नी द्वारा कमाये वित्त को स्त्रीधन बनाने से पति पर परिवार के सारे व्यय का भार पड़ता, जिसे उठाना उसके लिये बहुत कठिन था (पोजीशन ऑफ वुमेन पृ० २६३)। किन्तु इस व्यवस्था में यह एक बड़ा दोष था कि उड़ाऊ पति अपनी कमाई फूंक कर पत्नी को परिवार का खर्चा चलाने के लिये बाधित करे। वर्त्तमान समय में न्यायालयों ने कात्यायन के शिल्प शब्द को कताई आदि यान्त्रिक कारीगरी के कार्यों तक सीमित कर स्त्रियों की शिक्षक, नर्स, डाक्टर आदि के रूप में की गयी कमाई को स्त्रीधन नहीं माना (३८ म० १०३६) और उपर्युक्त दोष का परिमार्जन किया है।

विवेचन से यह स्पष्ट है कि हिन्दू परिवार मे वैदिक युग में और
समय वाद तक विधवा को कोई साम्पत्तिक अधिकार न थे;
य विधवा-पुनर्विवाह और नियोग की परिपाटी प्रचलित होने
की सख्या समाज मे वहुत कम थी। इन प्रथाओ के वन्द होने
मे इन की सख्या बढने लगी तो याज्ञवल्क्य, विष्णु, वृहस्पति,
स्मृतिकारो ने विधवा को दायाद मानते हुए, उसके साम्पत्तिक
र समर्थन किया, १२०० ई० तक विधवा के ये सव अधिकार
। विज्ञानेश्वर ने उसे विभक्त परिवार में तथा जीमूतवाहन ने
सयुक्त दोनो प्रकार के परिवारो में पौत्र तक सन्तान न होने
उत्तराधिकारी वनाया। १९३७ तक मिताक्षरा द्वारा शासित
परिवार मे वह उत्तराधिकारी नही वन सकती थी। १९३७
ो के सम्पत्ति कानून' द्वारा दायभाग के उदार नियम को मिता-
मे भी लागू किया गया, विधवा द्वारा उत्तराधिकारी होने के
और विभक्त कुटुम्ब का भेद उडा दिया गया। पति से विरासत
पर कात्यायन के समय से विधवा का स्वत्व सीमित माना
, वह सामान्य रूप से इस का उपभोग ही कर सकती है, दान
नहीं, केवल धर्मकार्य और कानूनी आवश्यकता के लिये ही
यथेच्छ विनियोग कर सकती है। इसके दुष्परिणामो का पहले
ु. है (पृ० ५९८–६००) और वह दिन दूर नही प्रतीत होता
द्वारा इस स्थिति का अन्त हो जायगा और हिन्दू परिवार में
साम्पत्तिक अधिकारो में कोई वैषम्य नही रहेगा।

अठारहवां अध्याय

हिन्दू परिवार का भविष्य

परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे रोचक कल्पनायें—पश्चिमी जगत् में परिवार का रूपान्तर और उसके कारण—हिन्दू परिवार के भविष्य पर प्रभाव डालने वाले तत्व—(१) आर्थिक तत्व (क) व्यावसायिक क्रान्ति और इसके प्रभाव (ख) नये आविष्कारो का प्रभाव (२) राजनैतिक तत्व (क) राज्य के क्षेत्र का विस्तृत होना (ख) स्त्रियो को मताधिकार-प्राप्ति (३) नवीन विचारधारायें (४) सामाजिक तत्व (क) भारत का नारी-जागरण-आन्दोलन तथा उसके प्रभाव (अ) विवाह की आयु का ऊँचा उठना (आ) अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढना (इ) स्त्रियो का आर्थिक स्वावलम्बन (ई) वरण-स्वातन्त्र्य (उ) परिवार मे समान स्थिति की माग (ऊ) काम करने वाली स्त्रियो की परिवार सम्बन्धी समस्याये (ऋ) परिवार का आकार छोटा होना (ख) यौन नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति (ग) नर-नारी के समानाधिकारो की मांग (५) हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले नये कानून—हिन्दूकोड बिल द्वारा प्रस्तावित परिवर्त्तन (क) मिताक्षरा परिवार की समाप्ति (ख) उत्तराधिकार सम्बन्धी परिवर्तन (ग) दत्तक पुत्र सम्बन्धी नये नियम (घ) स्त्रीधन के नियमो को सरल बनाना तथा स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व देना—१९५४ का वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार बिल-हिन्दूकोड बिल विरोधी युक्तियो की समीक्षा—हिन्दू परिवार मे भविष्य मे होने वाले मुख्य परिवर्त्तन (क) पुरुष-प्रभुता का क्षीण होना (ख) सयुक्त परिवार का विघटन (ग) परिवार के स्थायित्व में कमी आना (घ) कानूनी विषमताओ की समाप्ति—उपसहार।

परिवार के भविष्य के सम्बन्ध मे पश्चिम के कतिपय समाजशास्त्रियो और औपन्यासिको ने अनेक मनोरजक कल्पनाये की है। इनके अनुसार सुदूर भविष्य में एक ऐसा युग आने वाला है, जब परिवार-प्रथा का पूर्ण रूप से अन्त हो जायगा, स्त्री-पुरुष इच्छानुसार कामसुख का उपभोग करेंगे, गर्भनिरोध के साधन उन्नत हो जाने से, इसमें बच्चे उत्पन्न होने की कोई सम्भावना न रहेगी, राज्य द्वारा संचालित शिशुशालाओ मे अनुभवी धाये शिशुपालन का कार्य करेंगी। सुप्रसिद्ध

आल्डस हक्सली ने अपने एक उपन्यास 'नवीन साहसिक जगत्'
ave New World) में यहा तक उडान ली है कि भविष्य मे
उन्नत हो जायगा कि प्रयोगशालाओ में वीर्य और रज को
- रूप से वच्चे उत्पन्न किये जा सकेंगे, स्त्रिया प्रसूतिव्यथा से
।

यहा इन कल्पनाओ की अपेक्षा उन ठोस तथ्यो की समीक्षा करना
, जिनके आधार पर ऐसी कल्पनायें की जा रही है । पश्चिम में
ीन परिस्थितियो से परिवार-प्रथा में आमूलचूल परिवर्त्तन हो
हिन्दू परिवार पर प्रभाव पडना अवश्यम्भावी है। अत यहां पहले
उपादानो की चर्चा की जायगी, जिनके कारण पश्चिम में परिवार
मौलिक परिवर्त्तन हो रहे हैं और परिवारपद्धति का भविष्य
वताया जा रहा है, इसके वाद आधुनिक काल में हिन्दू परिवार पर
थक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक प्रभावो की मीमासा
ोड और अन्य नये विलो द्वारा प्रस्तावित परिवर्तनों का उल्लेख
अन्त मे हिन्दू परिवार का भावी स्वरूप वतलाया जायगा ।

ी जगत् में परिवार का रूपान्तर और उसके कारण—१८वी शती
योरोप तथा अमरीका मे वीसवी शताब्दी के आरम्भ तक भारत
में पाये जाने वाले पितृतन्त्रीय (Patriarchal) परिवार
को विशाल अधिकार प्राप्त थे, यह व्यवस्था उस समय के निर-
ॅ के सर्वथा अनुकूल थी, धर्म इसका समर्थक था और आर्थिक
इसे पुष्ट कर रही थी, उस कृषिप्रवान युग मे उत्पादन की इकाई
, आजीविका के अन्य सावन न होने से परिवार के सदस्यो को विवश
रहना पडता था, उनकी आर्थिक परावीनता पिता की प्रभुता
रही थी ।

१८ वी शताब्दी के उत्तरार्ध में प्रारम्भ होने वाले दो प्रकार के
परिवारप्रथा को पश्चिम मे वहुत प्रभावित किया[1]—(१)
(२) आर्थिक । सास्कृतिक परिवर्त्तनो का आशय है—पिता की
को वल देने वाले स्वेच्छाचारी राजतन्त्रो और धर्म के प्रभाव
तथा समानता, स्वतन्त्रता, उदारता और व्यक्तिवाद के नये सामा-

-सोसायटी, पृ० २५१-५२

जिक आदर्शों का प्रबल होना। फ्रेंच राज्य क्रान्ति द्वारा जन्म लेने वाली प्रजातन्त्र की भावना ने राजनैतिक ही नही, अपितु पारिवारिक क्षेत्र मे भी मौलिक परिवर्त्तन किया। लोकतन्त्रीय राज्यो ने पत्नी और बच्चो को दण्ड देने के अधिकार गृहपतियों से छीन लिये, स्वच्छन्द प्रेम का आदर्श उत्तम समझा जाने लगा, युवक-युवति अपना जीवनसाथी चुनने मे माता-पिता का हस्तक्षेप नापसन्द करने लगे।

इन सास्कृतिक परिवर्त्तनो के साथ, इन से भी अधिक महत्वपूर्ण आर्थिक परिवर्त्तन थे। १८वी शताब्दी के अन्त मे योरोप मे औद्योगिक क्रान्ति हुई, कताई बुनाई आदि विभिन्न उद्योगो मे हाथ की बजाय पानी और वाष्प की शक्ति से संचालित मशीनो द्वारा उत्पादन होने लगा। इस क्रान्ति की प्रगति के साथ परिवार का आर्थिक महत्व नष्ट हो गया। पहले उत्पादन का केन्द्र परिवार था, अब उसका स्थान कारखाने ने ले लिया। इसमे मजदूरी करने के लिये लोग दूर दूर से आने लगे, परिवार का विघटन प्रारम्भ हो गया, स्त्रियां भी कारखानो और दफ्तरों मे जाने लगी। आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने के कारण वे पितृप्रभुता से बहुत कुछ स्वतन्त्र होने लगी।

पश्चिमी जगत् में वैज्ञानिक और यान्त्रिक उन्नति के कारण परिवार द्वारा अतीत काल मे किये जाने वाले अनेक कार्य अन्य माध्यमो द्वारा अधिक क्षमता और कम व्यय के साथ किये जाने लगे हैं। आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति का कार्य कारखानो ने ले लिया है, राज्य द्वारा स्थापित विद्यालय घर मे मिल सकने वाली शिक्षा देने का कार्य कर रहे है, चिकित्सालय प्रसूति और बीमारी में परिवार की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक हैं। परिवार के विभिन्न सदस्यो द्वारा पहले आपस मे जो मनोरजन होता था, उसका स्थान अब सिनेमा ने ले लिया है। वृद्धावस्था मे असहाय होने पर पहले परिवार मे पुत्र पर भरोसा रखा जाता था, अब बीमे की पालिसी से यह कार्य अधिक अच्छी तरह हो जाता है। काम करने वाली स्त्रियों की सुविधा के लिये पश्चिम मे विविध प्रकार की शिशुशालाओं (नर्सरी) तथा बालोद्यानो का प्रचार बढ रहा है। होटलो ने खाने की दृष्टि से परिवार की उपयोगिता कम कर दी है।

परिवार के विविध कार्यों के अन्य माध्यमो द्वारा होने के कारण अनेक व्यक्ति और अतिवादी (Extremists) विचारक इसे अब निरर्थक समझने लगे हैं, इसके अन्त की आशंका और समर्थन करने लगे हैं। न्यूयार्क राज्य के एक अफसर ने, अपने पिता से वैवाहिक उपहार के रूप में २५ हजार

पाने वाली एक युवति से पूछा कि क्या वह इसे अपना घर करेंगी। उस तरुणी ने इस प्रश्न पर आश्चर्य प्रकट करते हुए मे पैदा हुई हूँ, शिशुशाला में पली हूँ, कालेज मे पढी शादी हुई है, होटल में रहती हूँ, मुझे परिवार और घर की ?"[२] कुछ विचारक मनोवैज्ञानिक दृष्टि से परिवारप्रथा को है[३]। वाटसन ने यह लिखा है कि घर अब अतीत की वस्तु समय इसका उपयोग इतना ही है कि यहा कपड़े बदल लिये छ घटे सो लिया जाय। वह दिन दूर नहीं जब बच्चे घर की अधिक अच्छी सस्थाओ मे बाल-शिक्षण-निष्णात व्यक्तियों द्वारा गे, परिवार प्रथा का अन्त हो जायगा[३]। "पहले यह कहा जाता अधिक मधुर कोई स्थान नहीं है; भविष्य मे यह कहा जायगा— है कि घर जैसी कोई जगह नही है [४]।

दी विचारको की उपर्युक्त कल्पनायें सत्य नही प्रतीत होती, में परिवारप्रथा के उच्छेद की कोई सभावना नही दिखाई देती। जिन परिवर्त्तनो के आधार पर ये कल्पनाये की गयी है, वे परि- प्रयोजनो से सबन्ध नही रखते। परिवार के आवश्यक कार्य और घर बनाना। अभी तक विज्ञान ने इन कार्यों करने के लिये परिवार के अतिरिक्त कोई दूसरा साधन नही आविष्कार संभव हो तो भी यह कहना कठिन है कि प्रसूति- कितनी माताये बच्चो को पैदा होते ही दूसरी संस्थाओ करेंगी। अधिकाश आधुनिक समाजशास्त्रियो को भविष्य मे परि- उच्छेद की कल्पना निर्मूल प्रतीत होती है[५]। वाटसन को उपर्युक्त

वैण्ट—मशीनमेड मैन, न्यूयार्क १९३०, पृ० ३२२

वर्टन—न्यू जैनरेशन न्यूयार्क १९३०, अध्याय १३

पृ० ५५-७३

एण्ड निमकाफ—ए हैण्ड बुक आफ सोश्योलोजी लंडन १९५०, मैसाइवर-सोसायटी लंडन १९५० पृ० २६३-६६, वेबर-मैरिज न्यूयार्क १९३९ पृ० ६३४। आगबर्न का यह मत है कि अब तक प्रकार के कार्य किया करता था —(१) आर्थिक-परिवार के कर कृषि, दस्तकारी आदि द्वारा वस्तुओं का उत्पादन तथा उपभोग

भविष्यवाणी किये हुए २४ वर्ष हो गये है, किन्तु पश्चिम मे परिवारप्रथा का

किया करते थे (२) परिवार से मनुष्य की सामाजिक स्थिति और दर्जा निश्चित होता था। (३) बच्चों की शिक्षा का कार्य परिवार द्वारा सम्पन्न होता था (४) मनोरंजन—पहले यह प्रधान रूप से परिवार में होता था (५) धार्मिक कार्य परिवार द्वारा सम्पन्न किये जाते थे। (६) संरक्षक कार्य—माता-पिता अपनी सन्तान की शैशव दशा में पूरी रक्षा करते हैं और पुत्र वृद्धावस्था में माता-पिता का पालन करते हैं, पति पत्नी का पालन एवं रक्षण करता है। (७) परिवार पति-पत्नी को दाम्पत्यसुख प्रदान करने का तथा सन्तानोत्पादन का साधन हैं (दी फैमिली जुलाई १९३८, पृ० १३९-४३ में आगबर्न का लेख—दी,चेंजिंग फैमिली)। इनमें से पहला कार्य कारखानों द्वारा होने लगा है, दूसरा कार्य प्रजातन्त्र और समानाधिकार के युग में अपना महत्व खो बैठा है। तीसरा, चौथा और पांचवां कार्य क्रमशः सार्वजनिक शिक्षणालयों, सिनेमा और चर्च द्वारा होने लगा है। छठे कार्य को भी आंशिक रूप से वृद्धावस्था मे सामाजिक बीमे आदि द्वारा राज्य ने लेना शुरु किया है। किन्तु अन्तिम कार्य का अब तक कोई दूसरा स्थानापन्न नहीं ढूंढ़ा जा सका। डेवीस जैसे विचारकों का कथन है कि उपर्युक्त कार्यों के परिवार से छिन जाने के कारण उन का फालतू बोझ उतर गया है, इससे परिवार अपने सामाजिक प्रयोजन पूर्ण करने में दुर्बल नहीं, किन्तु सुदृढ हुआ है (दी फैमिली न्यूयार्क १९३८, पृ० १९७)। एल्मर के मतानुसार बच्चे के पालनादि का कार्य अन्य संस्थायें अवश्य ले रही है, किन्तु बालक का समुचित विकास परिवार मे ही संभव है (सोश्यालोजी आफ फैमिली, पृ० ४९७)। इसके अतिरिक्त बालक को किसी समाज के आदर्शों के अनुरूप ढालने तथा उसके चरित्र निर्माण का साधन परिवार ही है (एल्मर वही पृ० ४५२-५३)। इसके साथ साथ परिवार दाम्पत्यप्रेम को प्रस्तुत करने का एकमात्र साधन है और इससे विवाहित पुरुष अविवाहित पुरुषो की अपेक्षा अधिक स्वस्थ और दीर्घजीवी होते हैं। न्यूयार्क राज्य में ३० से ४० वर्ष की आयु के अविवाहित पुरुषो की मृत्यु संख्या इस आयु के विवाहित पुरुषों की संख्या से दुगनी पायी गयी है। एक अन्य गणना के अनुसार शराब के असर से मरनेवालों तथा आत्मघात करने वालों में अधिक संख्या अविवाहितो की होती है। (इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३६३)। यह सत्य हैं कि अनेक परिवार दुःखमय होते है, किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि परिवार के अतिरिक्त मनुष्य

हुआ। इसके विपरीत रूस जैसे देशो ने राष्ट्रीय दृष्टि से इसे प्रोत्साहन दिया है[६]।

में परिवारप्रथा के भविष्य मे लोप की सभावना न होते हुए भी दिशाओ में बताये परिवर्तनो की मात्रा निरन्तर बढती जायगी। ` की उन्नति से शनै शनै. पहले घर द्वारा किये जाने • व्यापारिक सस्थाओ द्वारा किये जाने लगेंगे अथवा गृहिणिया से उन्हे घर पर करने लगेंगी। कपड़े धोना, खाना पकाना, घर की द्वारा होने से गृहिणी के समय और श्रम की वहा भारी वचत गर्भनिरोध के साधनो ने उसे अपनी अपनी आर्थिक स्थिति के `र की सुविधा प्रदान की है, इनके आविष्कार ने नैतिकता पर नि सन्देह भारी प्रभाव डाला है, किन्तु इनके आधार पर यह यथार्थ नही कि स्त्रिया इसे कष्ट समझ कर सन्तानोत्पादन वन्द मातृत्व की आकाक्षा स्त्रियो में इतनी स्वाभाविक और प्रवल है कि चाहेगी। इस सम्वन्ध मे भविष्य में केवल इतना ही परिवर्त्तन ीष्ट शिशुओ का उत्पादन नही होगा, पितृत्व और मातृत्व आयो- । परिवार के सदस्यो की सख्या कम होगी। पुराने ज़माने में

म, सहानुभूति और स्नेह अन्य किसी संस्था से नहीं प्राप्त हो सकता। , उनके लालन-पालन, रति-सुख और दाम्पत्य-प्रेम के सब कार्य करने से परिवार की उपयोगिता निर्विवाद है और उसके अन्त की नहीं है (सेट-न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली पृ०, ८-९, ० मैरिल, पृ० ३६२-६३)

में परिवार की आधुनिक समस्याओ के अध्ययन के लिये निम्न रूप से उपयोगी हैं—वर्जेस एण्ड लाक—दी फैमिली १९४५, एल्मर- ी आफ फैमिली (१९४५), फोलसम—दी फैमिली एण्ड डेमो- , जिम्मरमैन-फैमिली एण्ड सिविलिजेशन, (न्यूयार्क १९४७) —दी फ्यूचर आफ मैरिज इन वैस्टर्न सिविलिजेशन (लंडन १९३६), ैरिज एण्ड दी फैमिली (वोस्टन १९४७), ट्रूक्सल एण्ड मैरिल— इन अमेरिकन कल्चर, (न्यूयार्क १९४७)

स्वर्ड लोव—लीगल राइट्स आफ दी सोवियट फैमिली १९४५, फे० चेंजिग आइडियल्स इन सोवियट रशिया।

आर्थिक स्वार्थ, यातायात की सुविधाओ का अभाव और धर्म विशाल कुटुम्बों को संयुक्त बनाये रखने मे सहायक थे; अब उत्पादन केन्द्र के रूप मे परिवार की उपयोगिता की समाप्ति, यातायात की सुविधाओ तथा व्यक्तिवादी भावनाओ ने पश्चिम मे सयुक्त परिवार का लगभग अन्त कर दिया है। किन्तु ये सब परिवर्त्तन परिवार के बाह्य रूप मे ही है, उसके आन्तरिक प्रयोजन यौन सुख और सन्तति की प्राप्ति, सन्तान का पालन और घर का निर्माण यथापूर्व है। अधिकाश विचारको का यह मत है कि पुराने जमाने मे परिवार द्वारा आर्थिक उत्पादन, शिक्षा आदि अनेक अनावश्यक कार्य करने से परिवार के असली कार्यों की ओर कम ध्यान दिया जाता था, उसमे दाम्पत्य प्रेम का विकास बहुत कम होता था। अनावश्यक कार्यों के घट जाने से अब इसके आधारभूत प्रयोजनो की पूर्त्ति अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होगी। भविष्य मे परिवार का ऐसा आदर्श विकास होगा, जैसा भूतकाल मे कभी नही हुआ[७]।

पश्चिमी जगत् मे परिवारप्रथा के स्वरूप को बदलने वाले अनेक आर्थिक, राजनैतिक, दार्शनिक और सामाजिक तत्व तथा हिन्दू-कानून का सशोधन करने वाले बिल भारत मे हिन्दू परिवार के स्वरूप पर भी गहरा प्रभाव डाल रहे है, अत इनका सक्षिप्त विवेचन यहा समुचित प्रतीत होता है।

हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने वाले आर्थिक तत्व

(क) व्यावसायिक क्रान्ति—यह अभी तक पश्चिमी देशो की तुलना मे, भारत मे शैशवावस्था मे है। प्रथम विश्व युद्ध में इसका जन्म हुआ, द्वितीय विश्व-युद्ध ने इसे पोषण दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद केन्द्र तथा राज्य की सरकारो द्वारा देश के उद्योगीकरण की नीति के अवलम्बन से हमारे यहां औद्योगिक उत्पादन मे तथा कारखानो मे निरन्तर वृद्धि हो रही है[७क], द्वितीय पचवर्षीय योजना मे उद्योगो पर अधिक बल दिया जाने से हमारे देश के औद्योगिक विकास का भविष्य उज्ज्वल प्रतीत होता है।

---

७. सेट—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली, पृ० ७४५-४७

७क. १९४६ के वर्ष को आधार मानते हुए १९४७ में औद्योगिक उत्पादन का सूचक अंक ९७.२ था, १९५२ में यह १२८.७ हो गया। नये उद्योगों के विकास, इस सम्बन्ध की सरकारी नीति तथा पंचवर्षीय योजना में व्यावसायिक उन्नति की व्यवस्था के लिये दे० दी टाइम्ज आफ इंडिया डायरेक्टरी एण्ड यीअर बुक १९५४-५५, पृ० १५४। १८९४ ई० में भारत में कारखानो की संख्या ८१५ थी; १९४८ में यह १५,९०६ हो गयी (सक्सेना-लेबर प्राबलम्ज़ पृ० ६)।

क्रान्ति का परिवार पर पहला प्रभाव यह पडता है कि उत्पा-
, वदल जाता है। पहले कृषक अथवा कारीगर अपने घर और
रहता हुआ अन्न वस्त्रादि का उत्पादन करता था, परिवार के
इस कार्य मे सहायता देते थे, प्राय. आवश्यकता की सव वस्तुओ
परिवार के सदस्यो द्वारा हो जाने से परिवार आर्थिक दृष्टि से
इकाई था। किन्तु कारखानो मे कपडे आदि का निर्माण होने से
का केन्द्र घर नही, किन्तु मिल हो जाती है। मिलो द्वारा प्रभूत
य्यार किया माल घर मे उसके उत्पादन को अनावश्यक वना देता है,
का कार्य छिन जाने से पुरुषो और स्त्रियो को घर से वाहर
` आजीविका ढूढनी पड़ती है। स्त्रियो के कारखानो में काम करने
जीवन मे वच्चो की देखभाल की समस्यायें उत्पन्न होती है।
ो मे काम करने वाली स्त्रियो को शिशुशालाओ या वाल-
अभाव में सरकारी रिपोर्टों के अनुसार वच्चो को अफीम देने आदि
का अवलम्वन करना पडता है। वच्चो की उपेक्षा से उनका यथोचित
हो पाता, उनमें अपराध की प्रवृत्ति वढती है। दिन भर की मजदूरी
परिश्रान्त पत्नी अपने घर के कार्य तथा बच्चो और पति के
८ को पूरी तरह निभाने में असमर्थ होती है; पारिवारिक जीवन
मात्रा घटने लगती है।

क्रान्ति का दूसरा प्रभाव नगरो की सख्या मे वृद्धि होती है।
ℓ प्रवृत्ति वढ रही है। १९३१, १९४१ तथा १९५१ में कस्वों और
जनसख्या में क्रमश. १८.४, ३१.१ तथा ४१.३ प्रतिशत की वृद्धि हुई
२१ मे २ करोड ८२ लाख जनता नगरो में रहती थी, १९५१ में
६ करोड़ १९ लाख हो गयी है। यद्यपि यह सख्या कुल भारतीय
का १७ प्रतिशत ही है[८], पश्चिमी देशों की नागरिक जन-संख्या
से वहुत कम है, किन्तु भविष्य में इसके निरन्तर बढने और हिन्दू
अधिकाधिक प्रभाव डालने मे कोई सदेह नही है। नगरो की
९°, कुटुम्ब पर निम्न परिणाम उल्लेखनीय है—

केन्द्रापगामी प्रवृत्तियो द्वारा परिवार का विघटन—गाव में परिवार
और सुदृढ़ होता है क्योकि वह आर्थिक उत्पादन की इकाई होता

. आफ इंडिया डायरेक्टरी एण्ड यीअर बुक १९५४-५५ पृ० १०

है, सब सदस्य परिवार के आर्थिक कार्यों मे पूरा सहयोग देते है और उनके सुसंगठित रहने से परिवार की समृद्धि होती है। परिवार से बाहर आजीविका के साधन बहुत कम होने से उनके वैयक्तिक हित परिवार के सामूहिक स्वार्थो से भिन्न नही होते, अतः उनमे कुटुम्ब मे रहने, उसे सुदृढ बनाने की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्तियां प्रबल होती हैं, किन्तु नगर में एक परिवार के विभिन्न सदस्यो द्वारा पृथक् स्थानो में आजीविका उपार्जन करने से उनके वैयक्तिक स्वार्थ एक जैसे नही रहते, केन्द्रापगामी प्रवृत्तियों की प्रबलता से परिवार की सुदृढता कम होने लगती है।

(ख) पारिवारिक नियन्त्रण का अभाव—नगरो में आर्थिक उत्पादन, शिक्षा और मनोरंजन के कार्य कारखानो, शिक्षणालयो तथा सिनेमा और थियेटरों ने परिवार से छीन लिये हैं। परिवार के विभिन्न सदस्य दिन भर पृथक् कारखानो और कार्यालयो में काम करते हैं, शाम को अपनी रुचि के क्लबो और मनोरजन-गृहों में जाते है, रात को केवल सोने के लिये परिवार के सब सदस्य घर मे एकत्र होते है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि व्यक्ति पर परिवार का नियन्त्रण कम हो रहा है तथा उन संस्थाओ और व्यक्तियों का प्रभाव बढ़ रहा है, जिनके सम्पर्क मे वह दिन भर रहता है।

(ग) निवासस्थानो की कमी—भारतीय नगरो मे जनसख्या जिस तेजी से बढ़ रही है, नये मकान उतनी शीघ्रता से नही बन रहे। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर जैसे औद्योगिक नगरों मे मज़दूरो को बड़े गन्दे और संकुचित स्थानो मे रहना पड़ता है[८क]। मध्यम वर्ग के पास भी बहुत सीमित स्थान वाले मकान होते हैं। उत्तर प्रदेश, बम्बई, दिल्ली आदि मे सरकार की ओर से नये मकान बनाने का प्रयत्न हो रहा है, किन्तु शहरों मे देहात जैसा खुला स्थान और परिस्थितियां नही उत्पन्न की जा सकती। परिवार पर संकुचित स्थान का बड़ा हानिकर प्रभाव पड़ता है। (१) छोटे मकानो मे बहुत अधिक व्यक्तियो के रहने से वैयक्तिक विकास के लिये उपयुक्त एकान्त और पर्याप्त स्थान नही मिलता, बच्चो के खेलने के लिये मैदान, और चढ़ने के लिये पेड़ नही होते, उनकी क्रीड़ा का स्थान गन्दी गलियां या यातायात से भरी सड़के होती है, जहा

---

८ क. इन गन्दी बस्तियों के लिये यह सत्य ही कहा जाता है कि ईश्वर ने मनुष्य की सृष्टि की, मनुष्य ने नगर की और शैतान ने गन्दी बस्तियों (Slums) की।

खतरे से खाली नही होता। घर में अभीष्ट एकान्त न होने से, दूसरे के निरीक्षण में रहने से, दम्पती तथा अन्य व्यक्तियों मे चिड़- हो जाता है, मनोवैज्ञानिको का मत है कि ऐसी दशा में बालक का विकास अवरुद्ध हो जाता है[१]। (२) गाव मे पड़ोसी सुपरि- हैं, उनका परिवार के व्यक्तियों के व्यवहार पर काफी नियत्रण शहर मे पडोसी प्राय. अजनवी होते हैं। इस प्रकार की अज्ञानता और से वाहर रहने के कारण, शहरो में अवैध सम्वन्धो द्वारा कामसुख- सुविधायें गावो की उपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार अनेक व्यक्ति पारिवारिक जीवन को झझट समझते हुए उससे वचने का प्रयत्न यो तो अवैध सम्वन्ध सभी स्थानो और समाजो में पाये जाते हैं, नगरों में इस के लिये अधिक सुविधायें होती है, इससे परिवार मे अविवाहित रहने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। (३) स्थान की कमी परिवार की सदस्यसख्या पर वडा प्रभाव डालती कोच तथा महगाई के कारण यहा विशाल एव सयुक्त कुटुम्व अस- हैं, एकाकी तथा छोटे परिवारो की सख्या वढने लगती है। (४) में मनोरजन के व्यापारिक साधन (सिनेमा, थियेटर) प्रचुर हैं। इन साधनो तथा क्लवो आदि के कारण शहर में व्यक्ति अपने ीवन मे वह नीरसता और खालीपन अनुभव नही करते, जो देहात और जिसके लिये वहा विवाह जल्दी एव आवश्यक माना जाता है। ही शहर मे अवैध कामसुख की सुविधायें भी अधिक होती हैं। ो मे विवाह गाव की अपेक्षा अधिक उच्च आयु मे किया जाता है ह ो की सख्या वढने लगती है। इसके अतिरिक्त शहर मे शिक्षा अधिक होने से हिन्दू नारी के विवाह की आयु अधिक ऊँची उठ आदि स्वतन्त्र आजीविका के साधन होने से शिक्षित स्त्रियो मे रहने की प्रवृत्ति वढ रही है (दे० नी० पृ० ६२१-२)।

जे० एल० प्लाण्ट—सम सिकियैट्रिक एस्पैक्टस् आफ क्रौडेड लिविंग अमेरिकन जर्नल आफ सिकियेट्री मार्च १९३०, पृ० ८४९-८६०। वुल्फ ने ए रूम आफ वन्स ओन (न्यूयार्क १९२९) में सृजनात्मक जीवन के लिये वैयक्तिक एकान्त का प्रवल समर्थन किया इलियट एण्ड मेरिल, पृ० ३५५-५६

आविष्कारों का प्रभाव—औद्योगिक क्रान्ति के अतिरिक्त विज्ञान के नवीन आविष्कार आजकल पारिवारिक जीवन को बहुत प्रभावित कर रहे है। इनमे घरेलू कार्यो को करने मे श्रम बचाने वाले यन्त्र, रेडियो तथा मोटर मुख्य है। हिन्दू परिवार मे अभी इनके प्रवेश का श्रीगणेश ही है, किंतु इसमे कोई सन्देह नही कि भविष्य मे इन का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता जायगा। श्रम बचाने वाले यन्त्रो का विकास सं०रा० अमरीका मे बहुत अधिक हुआ है। बिजली की बत्ती ने मिट्टी के तेल की लालटेनो को सग्रहालय की वस्तु बना दिया है, झाड़ू लगाने का काम मशीन से होने लगा है, बिजली और गैस के चूल्हो ने लकड़ी और कोयले की अगीठियो को निरर्थक सिद्ध कर दिया है और कपडे धोने, बर्तन माजने, सीने और इस्त्री करने के यन्त्रो ने इन कामो को बहुत सुगम बना दिया है। इन सब यन्त्रो का यह प्रभाव हुआ है कि घर का काम थोडे समय मे तथा अल्प परिश्रम से किया जा सकता है। गृहिणी को दिन भर उस काम में जुटे रहने की आवश्यकता नही रही, घर के कामों से बचे समय में वह अब नौकरी करके अपने परिवार की आय बढा सकती है। उपर्युक्त यन्त्रो द्वारा घर और बाहर के काम का सामजस्य सुगम हो गया है। भारत में अभी ये सुविधाये बिजली वाले बडे शहरो मे ही प्राप्त है, सामान्यत हिन्दू गृहिणी के श्रम की बचत आटे की चक्की और पानी के नल तक ही सीमित है। किन्तु इस समय हमारे देश मे बिजली उत्पन्न करने की भाखड़ा नगल, दामोदर घाटी आदि अनेक योजनायें चल रही है, उनके पूरा हो जाने पर देहातो मे भी बिजली पहुँच जायगी और घरेलू कार्यों में श्रम की बचत करने वाले यन्त्रो का प्रसार बढेगा। यह ठीक है कि इन यन्त्रो के क्रय करने मे पर्याप्त धन राशि व्यय होती है, किन्तु इन से गृहिणी को घर से बाहर पूरे या थोडे समय के लिये नौकरी द्वारा धन कमाने का अवसर मिल सकता है। इन यन्त्रो के उपयोग का एक यह भी पहलू है कि इनके अभाव मे लडकिया घर के कार्यो मे माता का सहयोग देती है, प्रतिदिन घर के काम करने से घर से उनका सम्बन्ध और ममता अधिक घनिष्ठ होती है। यन्त्रो के प्रयोग के बाद, वे घरेलू कामो से अवकाश पा जाती है, परिवार का सुख बढाने के कार्य मे अपना उत्तरदायित्व पहले की अपेक्षा कम अनुभव करती है।

रेडियो परिवार की एकता को सुदृढ करने मे भी सहायक होता है और उसे कम करने में भी। व्याख्यान और सगीत का जो आनन्द प्राप्त करने के लिये परिवार के विभिन्न सदस्य घरो से बाहर जाते थे, रेडियो द्वारा वह उन्हे

हो सकता है । टेलीविज़न सिनेमा के आनन्द को भी घर में
है। अत. इन आविष्कारो से परिवार के सदस्यो को घर मे रहने का
हैं, किन्तु इसके साथ यह पारिवारिक सदस्यो में कलह-
द्र भी वन सकता है। जव एक ही समय पिता द्वारा शास्त्रीय सगीत
- द्वारा फिल्मी गाने तथा पत्नी द्वारा नाटक श्रवण करने का आग्रह
समस्या उत्पन्न हो जाती है। अवस्था भेद से उत्पन्न होने वाले रुचि-
समाधान होने पर रेडियो परिवार की एकता पुष्ट करने में सहा-
है। किन्तु इसका यह प्रभाव सीमित है, सिनेमा, नृत्य एव सगीत-
रेडियो में न आनेवाले प्रोग्राम घर के सदस्यों को अपने मनोरजन
से वाहर जाने को वाधित करते है [10] ।
पर मोटर का प्रभाव अभी तक सयुक्त राज्य अमरीका तक ही मर्या-
तीन व्यक्तियों के पीछे एक मोटर वाले इस देश मे इस आविप्कार
दूरवर्त्ती स्थानो में भी परिवार के सव सदस्यो द्वारा एक साथ मिल
विताने तथा मनोरजन करने की सभावना वढा दी है और इस प्रकार
एकता को सुदृढ वनाया है । किन्तु इसके साथ ही, रेडियो की
परिवार के सदस्यो का रुचिभेद होने पर वैमनस्य और कलह का
वन सकता है। जव परिवार के तरुण सदस्य माता पिता की इच्छा
व्यवहार के लिये इस साधन का प्रयोग करते है और माता पिता
के क्षेत्र से दूर हो जाते है तो परिवार में अनुशासन की नवीन सम-
ˆ हो जाती है [11] ।

तत्त्व—परिवार पर प्रभाव डालनेवाले राजनैतिक तत्त्वो में
९ से उल्लेखनीय है—(१) राज्य के क्षेत्र और प्रभुता का विस्तार।
` को मताधिकार की प्राप्ति। पहले सन्तान का संरक्षण और शिक्षण
कार्य था, पिता को परिवार के सदस्यो पर असाधारण प्रभुता प्राप्त थी
० १८१)। पिछले सौ वर्षों में राज्य के कार्यो और प्रभुता का विस्तार
का अधिकार क्षीण हो रहा है। उदाहरणार्थ पहले पिता अपनी
शिक्षा की उपेक्षा कर उसे अपनी खेती वाड़ी के काम मे लगा सकता
ˆ आरम्भिक शिक्षा के कानून वन जाने से वह अपने वच्चे को

इलियट मेरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३५६
वेवर—मैरिज एण्ड फैमिली, पृ० १६

स्कूल जाने की नियत अवस्था मे गाय चराने या चारा लाने के लिये बाधित नहीं कर सकता। माता पिता भले ही विद्यालयो की शिक्षा बच्चो के लिये घातक समझें, किन्तु उन्हे अपनी सन्तान को स्कूल अवश्य भेजना पड़ता है। पश्चिमी देशो मे यह अनुभव किया जा रहा है कि यदि बालक विद्रोही या शरारती हो तो उसका नियन्त्रण करना पिता का कर्त्तव्य नही है, उसकी यह प्रवृत्ति बाद मे समाजविरोधी हो सकती है, अत. राज्य को बच्चे के दण्ड का अधिकार होना चाहिये। सयुक्त राज्य अमरीका में राज्य को बच्चो के मामलो में हस्तक्षेप के अधिकार बहुत अधिक है। वहां राज्य माता पिता को बच्चो की उचित देखभाल के लिये बाधित ही नही कर सकता, किन्तु माता पिता द्वारा सन्तान की उपेक्षा या दुर्व्यवहार की अनेक दशाओ मे वह बच्चो को माता पिता से छीन भी सकता है[12]। वहा राज्य शनै शनैः बच्चो का 'बड़ा पिता' बन रहा है। स्कूलो मे बच्चो की अनिवार्य उपस्थिति, उनके शारीरिक एव मानसिक स्वास्थ्य का नियन्त्रण, पिता द्वारा सन्तान पर क्रूरता को नियन्त्रित करने के नियम परिवार पर राज्य की बढती हुई प्रभुता के सूचक है। इनसे यह आशंका उत्पन्न हो गयी है कि भविष्य मे परिवार का बच्चो पर अपना कोई नियन्त्रण नही रहेगा[13]।

स्त्रियों को मताधिकार की प्राप्ति—पश्चिमी जगत् मे स्त्रियो को लोकसभाओ का वोटर होने का अधिकार उग्र सघर्ष के बाद मिला है। इगलैण्ड में पार्लियामेण्ट का वोटर होने का अधिकार स्त्रियों को पूरी आधी शती के आन्दोलन के बाद १९१८ मे पहली बार कुछ शर्त्तो के साथ प्राप्त हुआ और १९२८ मे सब वयस्क स्त्रियाँ वोट देने की अधिकारिणी बनी[14]। किन्तु भारत में

---

१२. मेबल इलियट—कनफ्लिटिंग पीनल थियोरीज इन स्टैचूटरी क्रिमिनल शिकागो (१९३१), पृ० ३२-३६। एच० एच० लौ—जूवेनाइल कोर्ट इन दी यूनाटेड स्टेट्स चेपल हिल (१९२८), पृ० ३-८

१३. इलियट एण्ड मेरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन, पृ० ३४९। राज्य और परिवार के सम्बन्ध के लिये दे० एस० पी० ब्रेकनरिज—दी फैमिली एण्ड दी स्टेट (शिकागो १९३७), जिमरमैन-फैमिली एण्ड सिविलिजेशन (न्यूयार्क १९४७), अध्याय २३।

१४ स्ट्रैची—दीकाज़—ए शार्ट हिस्टरी आफ़ वुमेन्स मूवमैण्ट इन ग्रेट-ब्रिटेन (१९२८)। फ्रांस मे स्त्रियों को यह अधिकार द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद मिला है।

यह अधिकार बडी सुगमता से आवेदन पत्र देने और प्रस्ताव पास
ही मिल गया है । १९१७ मे भारत को ब्रिटिश पार्लियामेण्ट द्वारा
वाले राजनैतिक सुधारो की स्थिति का अध्ययन करने के लिये यहां
ोन भारत मन्त्री श्री माटेग्यू के सामने यह माग श्रीमती सरोजनी
ा अध्यक्षता मे स्त्रियो के एक शिष्ट मडल ने रखी । १९१९ की
मे ब्रिटिश पार्लियामेंट ने स्त्रियो को मताधिकार देने का प्रश्न
परिपदो पर छोड दिया । १९२६ मे सर्वप्रथम मद्रास
निर्वाचक बनी और दो वर्ष के भीतर अन्य प्रान्तो मे भी विधान
स्त्रियो को मताधिकार प्रदान किया । भारत के वर्त्तमान शासन-
सब वयस्क स्त्रियो को वोटर होने का अधिकार प्राप्त है । भारत
के प्रति सहज सम्मान की प्राचीन भावना के कारण पुरुपो से यह
प्राप्त करने मे हिन्दू स्त्रियो को अपनी पश्चिमी बहिनो की भाति
नहीं करना पडा ।

को मताधिकार प्राप्त होने का यह परिणाम हुआ है कि परिवार
ा की हीन स्थिति का अन्त करने और उन्हे पुरुपो के तुल्य अधिकार
तेजी से पास हो रहे हैं । इन कानूनो का आगे वर्णन किया जायगा ।
निक तत्व—नवीन विचारधारायें—हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालने
महत्वपूर्ण तत्व पश्चिम से आनेवाली व्यष्टिवाद, प्रजातन्त्र, समा-
स्वतन्त्रता की भावनायें है । पहले इनका वर्णन किया जा चुका है (दे०
०-७२) और यह बताया जा चुका है कि ये सयुक्त परिवार के
सहायक सिद्ध हो रही है । इस के अतिरिक्त वर्तमान काल का
भौतिकवाद त्याग पर बल देनेवाले पारिवारिक आदर्श के प्रति-
, बुद्धिवाद तथा विज्ञान के प्रसार से जनता में धर्म के प्रति
आस्था क्षीण हो रही है और विवाह को पवित्र तथा अविच्छेद्य
समझने की भावना शिथिल हो गयी है । इसके साथ ही हमारे
क्षत वर्ग पर पश्चिमी विचारको की पुस्तको तथा चल-चित्रो द्वारा
स्वतन्त्रता' 'परीक्षणात्मक विवाहो (Trial marriages)
विवाहो (Companionate marriages) के विचार लोक-
है । ये सब विचार पुराने ढंग के हिन्दू परिवार के विघटन मे
।

४ । तत्त्व—हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालनेवाले सामाजिक तत्वो

मे निम्न उल्लेखनीय हैं—(क) स्त्रियो का उत्थान और जागरण तथा इसके प्रभाव (ख) यौन नैतिकता के दोहरे मापदण्ड की समाप्ति। (ग) स्त्रियों द्वारा समानाधिकारों की माग।

(क) स्त्रियों का उत्थान और जागरण—पहले (पृ० १३३) यह वताया जा चुका है कि हिन्दू परिवार मे किन कारणो से पति देवता और पत्नी दासी की हीन स्थिति को प्राप्त हुई और मध्यकाल मे शूद्रो के समकक्ष मानी गयी। १९वी शती के मध्य मे ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और ईसाई मिशनरियों द्वारा स्त्रियो मे शिक्षाप्रसार के आन्दोलन से स्त्रियो के उत्थान का आरम्भ हुआ[१४]। १८५४ मे सर चार्ल्स वुड ने शिक्षा विपयक अपने प्रसिद्ध खरीते मे स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। तत्कालीन सुधार आन्दोलनो—ब्राह्मसमाज और आर्यसमाज ने इस दिशा मे वहुत उत्साह से कार्य किया, १८८३ ई० मे पहली स्त्री विश्वविद्यालय की स्नातिका बनी। पडिता रमावाई, रुखमा वाई जैसी स्त्रियो ने तीव्र लोक निन्दा की परवाह न करते हुए उच्च शिक्षा ग्रहण करने तथा स्वतन्त्र पेशा अपनाने का आदर्श स्त्रियो के सामने रखा। किन्तु उस समय ऐसी स्त्रिया इनी गिनी थी, स्त्रियों के उत्थान का कार्य प्रधान रूप से पुरुषो द्वारा ही हो रहा था। १८८५ ई० मे काग्रेस की स्थापना के बाद, प्रति वर्ष इसकी वैठको के साथ भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक परिपद् के भी अधिवेशन होने लगे। इनमे प्रमुख भाग लेनेवाले दीवान रघुनाथ राव, श्री महादेव गोविन्द रानडे, श्री नरेन्द्रनाथ सेन, श्री जानकीनाथ घोपाल थे। यह परिपद् १९१७ ई० तक प्रति वर्ष स्त्रियों के उत्थान के लिये अनेक विपयो पर प्रस्ताव पास करके सरकार तथा जनता का ध्यान उन कुरीतियो और कारणो की ओर आकृष्ट करती रही, जिन से भारतीय स्त्रियो की दशा शोचनीय थी। इसके अतिरिक्त वह स्त्रियो के उत्थान के उपायो का भी निर्देश करती रही। इस परिपद् द्वारा पास किये प्रस्तावो मे निम्न

---

१४. भारतीय नारी आन्दोलन के विविध पहलुओं के लिये निम्न ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं—श्यामकुमारी नेहरू (संपादिका) आवर काज अलाहाबाद, कमला देवी चट्टोपाध्याय—एवेकनिंग आफ इंडियन वुमैन, मार्गरेट कजिन्स—इंडियन वुमैनहुड टुडे, रेणुका राय—वुमैन इन माइन्स, रेगे—ह्विवदर वुमैन, सुमति बाई—वुमैन एवेकन्ड, हंसा मेहता—वुमैन अण्डर दी हिन्दू ला आफ मेरिज एण्ड सक्सैशन, हाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, रमावाई—दी हाईकास्ट हिन्दू वुमैन।

ंया जाता था—स्त्रियो में प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च
, बाल और बेमेल विवाह का तथा दहेज और बहुविवाह का
। के सिर मुडवाने का और सामाजिक समारोहो में वेश्याओं
ोरजन का विरोध, विधवा विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह का

शिक्षा का प्रसार होने से १९१२ ई० से उनके अनेक सगठन
ो बेसेण्ट ने अपने ओजस्वी व्याख्यानो में भारत को जागृत
। बात पर बल दिया कि लडकियो को अशिक्षा और बालविवाह
। चाहिये। स्त्रियां अपने अधिकारो के लिये जागरूक होने लगी।
जा चुका है कि १९१७ ई० मे उन्होंने मद्रास में भारतमन्त्री
स्त्रियो को मताधिकार देने की माग रखी। १९२० के बाद
स्वातन्त्र्य सघर्ष में बहुत भाग लिया। उनमें शिक्षा और
थी। १९२६ में *श्रीमती मार्गरेट कजिन्स* ने महिलाओ के भारत-
ा प्रयास किया, फलस्वरूप अखिल भारतीय महिला परिषद् की
ाह हमारे देश में शिक्षित महिलाओ का प्रधान सगठन है और
। दशाब्दियों में भारतीय नारियो पर लगे प्रतिबन्धो और कानूनी
ाने तथा समानाधिकारो की माँग करने में प्रमुख भाग लिया है।
रकार की नीति नारी-आन्दोलन के अनुकूल थी। १९३५ के
के शासन-कानून में केन्द्रीय एव प्रान्तीय परिषदो मे स्त्रियो के
सुरक्षित रखे गये, इनके लिये मताधिकार की शर्त्तें उदार बनायी
से ६० लाख स्त्रिया वोटर बनी। १९३८ में श्रीमती राधाबाई
ज्य परिषद् की तथा १९४३ में श्रीमती रेणुकाराय केन्द्रीय व्यव-
की पहली स्त्री सदस्या बनी। प्रान्तीय व्यवस्थापिका परिषदों
से पहले पहुँच चुकी थी।
ारत ने 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की प्राचीन पर-
करते हुए नारियो को उच्चतम सम्मान के पद प्रदान किये हैं।
ँ सरोजनी नायडू भारत में एक प्रान्त की पहली महिला गवर्नर
वेजयलक्ष्मी पडित मास्को (१९४७-४९) और वाशिंगटन
) में भारत की पहली महिला राजदूत थी[१५] और गत वर्ष

ाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर, पृ० २६३-७२
ह स्मरण रखना चाहिये कि संयुक्त राज्य अमरीका में १९४९

(१९५३) भारत के प्रतिनिधि के रूप में सयुक्त राष्ट्र सघ की जनरल असेम्वली की पहली महिला सभापति चुनी गयी थी। हमारे देश के नवीन सविधान में स्त्री-पुरुषो के अधिकारो को समान स्वीकार किया गया है। १९४८ में केन्द्रीय सरकार ने भारतीय शासन (आई० ए० एस०) प्रतियोगिता परीक्षाओ में नारियो को भी बैठने का अधिकार प्रदान कर नौकरी की दृष्टि से नरनारी के भेद की समाप्ति कर दी है[१६]।

स्त्रियो की शिक्षा और जागृति हिन्दू परिवार पर निम्न प्रभाव डाल रही है—

(अ) विवाह की आयु का ऊंचा उठना—आज से ५० वर्ष पहले हिन्दू समाज वाल विवाहों के कारण बदनाम था, इस कुरीति के दुष्परिणामो का अनुभव करते हुए तीव्र विरोध के वावजूद १९२९ मे वालविवाह निषेधक शारदा कानून पास किया गया। किन्तु इस कानून के होते हुए भी वालविवाह बन्द नही हुए। १९५१ की जनगणना की रिपोर्ट के अनुसार भारत मे ५ से १४ वर्ष की आयु मे विवाहित पुरुषो की सख्या २८ लाख ३३ हजार थी, विवाहित स्त्रियों की ६१ लाख १८ हजार, इस आयु के विधुर और विधवाओं की सख्या क्रमशः ६६ हजार तथा १ लाख ३४ हजार थी[१७]। किन्तु इसी रिपोर्ट से यह भी ज्ञात होता है कि अव वालविवाहो की संख्या घटने लगी है। पिछले दस वर्षों मे १५ साल तक की विवाहित स्त्रियों का अनुपात कुल विवाहित स्त्रियों के अनुपात की तुलना में कम हुआ है। १९४१ मे यह अनुपात ९.६ प्रति शत था, १९५१ में यह गिर कर ७.४ प्रतिशत हो गया[१८]। विवाह की आयु ऊँची होने का एक प्रधान कारण स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार है। वम्बई प्रान्त की स्त्रियों की स्थिति के सम्बध मे किये एक अध्ययन से इस विषय पर बडा अच्छा प्रकाश पड़ा है[१९]। इससे

में पहली वार एक महिला को राजदूत बनाया गया, किन्तु भारत में नारी को यह सम्मानास्पद स्थान दो वर्ष पूर्व १९४७ ई० में ही प्राप्त हो गया था।

१६. यह अभी तक आदर्श रूप में ही है, क्योंकि विवाहित होने पर स्त्रियों का नौकरी पर कोई स्वत्व नहीं रहता। इस प्रतिबन्ध को हटाने के लिये सितम्बर १९५४ में राज्य परिषद तथा लोक सभा में विचार हुआ था, किन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला।

१७. १९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट, भा० १, खं० १ पृ० ७१-७२

१८. वही पृ० ७२

१९. चन्द्रकला हाटे—हिन्दू वुमैन एण्ड हर फ्यूचर—इसमें लेखिका ने

होता है कि इस अन्वेषण के अन्तर्गत स्त्रियो की औसत आयु २४ वर्ष शिक्षित स्त्रियों की विवाह की आयु २९ वर्ष थी[२०]। इसका यह कि शहरो के मध्यम एव शिक्षित वर्ग की स्त्रियो में वाल विवाह के वहुत देर में विवाह की प्रवृत्ति का श्रीगणेश हो गया है[२१]। इस प्रवृत्ति होने पर पारिवारिक जीवन मे अनेक समस्यायें उत्पन्न होने की आशका आयु मे शादी करने वाले स्त्री-पुरुपो के विचार और आदते प्रायः परि- है, उनमे सुखमय दाम्पत्य जीवन के लिये आवश्यक समझौते और की भावना कम होती है[२२]। विवाह से पूर्व स्वतन्त्र कमाई करने पत्नी जव विवाह के वाद अपने वैयक्तिक सुख और मनोरंजन की वाधायें देखते है तो उनमे कलह का सूत्रपात हो जाता है, वैवाहिक स्थिरता विवाह-विच्छेद से कम होने लगती है।

आयु मे विवाह की दूसरी समस्या यह है कि इससे वच्चो की जन्म- कम हो जाती है। यह समस्या यद्यपि अनेक पश्चिमी देशो में है, किन्तु पुरुप की औसत आयु अधिक होने से[२३] तथा वाल मृत्यु सख्या कम होने

विद्यालय के समाजशास्त्र विभाग की ओर से १३४८ स्त्रियों से पूछ कर हिन्दू नारी की वर्तमान स्थिति का विशद अध्ययन किया है।

वही पृ० ४१,२८१। इस औसत आयु के सम्वन्ध में यह स्मरण ये कि इस अन्वेषण की अधिकांश स्त्रियां शहरों में रहने वाली थीं। भारत में शिक्षित स्त्रियो की संख्या कुल ८ प्रतिशत है। अतः सीमित वर्ग की है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शिक्षा के प्रसार भविष्य में यह प्रवृत्ति वढेगी।

संयुक्त राज्य अमरीका में कम शिक्षित स्त्रियों के शीघ्र विवाह उने—इलियट मैरिल—पू० पु० पृ० ३५२

इलियट एण्ड मेरिल —पू० पु० पृ० ३४६

पिछले तीस वर्षों में एक भारतीय की औसत आयु में काफी वृद्धि ९२१ में जन्म के समय भारत में यह संख्या २६ वर्ष ११ महीने थी, ० ३२ वर्ष ५ महीने हो गयी। इसी प्रकार १० साल की अवस्था यु ३९ वर्ष है, किन्तु इंगलैण्ड आस्ट्रेलिया, न्यूजीलेण्ड में यह ६० युक्त राज्य अमरीका में ५६ वर्ष, जापान में ५० वर्ष और मिश्र में ९५१ की भारत जनगणना रिपोर्ट भाग १, ख० १, पृ० १८७)

से, यह समस्या हिन्दू समाज की तरह चिन्तनीय नही है। १९५१ की जनगणना के अनुसार भारतीयो की औसत आयु ३९ वर्ष है, स्त्रियो के सन्तानोत्पादन के सामर्थ्य की आयु यद्यपि ४५ वर्ष है, किन्तु हाटे के कथनानुसार कई बार यह ३७ वर्ष में ही समाप्त हो जाती है। परिवार नियोजन के सिद्धान्त के अनुसार दो बच्चो की प्रसूति मे २॥ वर्ष का अन्तर अवश्य होना चाहिये, फिर यह भी देखा गया है कि जन्म लेने वाले पाच बच्चो मे चार ही बचते है और ये बच्चे भी ७५ प्रतिशत दम्पती के ही होते है। इन सब अवस्थाओ पर विचार करते हुए यह प्रतीत होता है कि स्त्रियो के विवाह की आयु यदि २४ वर्ष हो जाय तो कुछ स्त्रियो के दो या तीन बच्चे होगे, इन मे से यदि दो जीवित रहे तो दम्पती समाज मे केवल अपनी स्थान पूर्त्ति ही कर सकेगे[२४]। भारत मे बडी तेज़ी से बढती हुई जनसख्या पर यह बड़ा प्रभावशाली नियन्त्रण होगा। किन्तु अभी तक यह परिवर्तन शिक्षित महिला वर्ग की अल्पसख्या तक ही सीमित है[२५]। स्त्रियो में शिक्षा का व्यापक प्रसार होने से इसका प्रभाव बढेगा।

(आ) स्त्रीशिक्षा का दूसरा प्रभाव यह है कि इससे स्त्रियों मे अविवाहित रहने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हाटे की प्रश्नावलि का उत्तर देने वाली २६३ अविवाहित स्त्रियो मे ३६ अर्थात् १३ प्रतिशत ने निश्चित रूप से यह कहा कि वे विवाह नही करेगी[२६]। यद्यपि इन सब के वचन पर पूरा विश्वास नही किया जा सकता[२७], किन्तु इनके अविवाहित रहने के कारण यह सूचित करते है कि हिन्दू समाज मे यह प्रवृत्ति क्यो बढ़ रही है। एक स्त्री के विवाह न करने का यह हेतु था कि उस पर छोटी बहिनो और भाइयो के भरण-पोषण का

---

२४. हाटे—पू० पु० पृ० ५७

२५. अभी तक भारत में १५ वर्ष तक या इससे अधिक आयु की अविवाहित स्त्रियों की संख्या ६.४ प्रतिशत है, जब कि इंगलैण्ड, इटली, जर्मनी, फ्रांस, अमरीका, कनाडा में यह संख्या क्रमशः २५.५, २३, २९, २५, २५.८ और ३३ प्रतिशत है (१९५१ की जनगणना रिपोर्ट पृ० ७३)

२६. हाटे—वहीं पृ० ३६

२७. हाटे—पृ० ३७, आरम्भ में शादी की इच्छा न रखने वाली कई स्त्रियां बाद में विवाह कर लेती है और कई स्त्रियों को शादी न करने का पछतावा होता है। हाटे ने एक ४२ वर्षीया सुशिक्षित एवं आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र अविवाहित स्त्री द्वारा जीवन साथी प्राप्त करने की इच्छा का उल्लेख किया है।

। दूसरी स्त्री के वर ढूढने वाले सम्बन्धी नही थे, तीसरी स्त्री की
के साथ हुई सगाई इस लिये भग हो गयी थी कि वह बीमार थी,
के कारण उस ने एकाकी जीवन विताने का निश्चय किया[२८]।
के वर न मिलने का एक यह भी कारण है कि शिक्षा द्वारा उन मे
जागृत होती है, उसके अनुरूप पति मिलने मे कठिनाई होती है।
अमरीका में शिक्षित स्त्रियो के अविवाहित रहने का यह कारण
पुरुप कालेज में शिक्षित स्त्रियो की अपेक्षा कम शिक्षा वाली स्त्रियों
करना अधिक पसन्द करते है। यह तथ्य आंकड़ो से भली भाति पुष्ट
९४० में १५ से १९ वर्ष की आरम्भिक शिक्षा प्राप्त विवाहित स्त्रियो
आयु की माध्यमिक शिक्षा प्राप्त विवाहिता स्त्रियों की संख्या
कालेज-शिक्षा प्राप्त परिणीता नारियों की सख्या से चौगुनी थी[२९]।
क्षत स्त्री के रहन-सहन का स्तर ऊँचा होने से वह कम शिक्षा या
व्यक्ति के साथ निभाव करने में अपने को असमर्थ पाती है। डाक्टरी
पेशो की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के वाद स्वतन्त्र आजीविका
का सामर्थ्य होने पर सुशिक्षित अमरीकन तरुणी वहुधा विवाह
घरेलू कार्य करने में अपना जीवन वरवाद नही करना चाहती[३०]
क्षत नारियो में भी लगभग इन्ही कारणो से अविवाहित रहने की
रही है।

आर्थिक स्वतन्त्रता—पहले यह वताया जा चुका है कि प्राचीन एवं
स्त्री के सम्मुख स्वतन्त्र रूप से आजीविका उपार्जन का कोई साधन
५०२), उस समय विवाह ही सुखमय जीवनयापन करने का एकमात्र
था, अत. स्त्री के लिये विवाह लगभग अनिवार्य था। किन्तु
र्थिक दृष्टि से पति पर अवलम्बित होने से पति का वशवर्ती होना
स्वाभाविक था। आजकल स्त्रियो के शिक्षित होने से उनमे
की क्षमता वढ गयी है, वे स्वतन्त्र आजीविका का उपार्जन कर

हार्ट—वही।
मेट्रोपोलिटन लाइफ इंशोरेन्स कम्पनी का मैरिज एण्ड एजुकेशन
स्टैटिस्टिकल वुलेटिन (अगस्त १९४५)—इलियट द्वारा
में उद्धृत, पृ० ३५२। हिन्दू परिवार में भी यही स्थिति है।
इलियट एण्ड मेरिल—पू०, पु०, पृ० ३५२

सकती हैं। अब अपने निर्वाह के लिये उन्हे पति पर निर्भर रहने अथवा विवाह करने की पहले जैसी अनिवार्य आवश्यकता नही रही। आज हिन्दू परिवारो में ऐसी स्त्रियों की संख्या कम नही है, जो अपने पैरो पर खड़ा होने के लिये विद्याभ्यास करती है। हाटे के अन्वेषण मे ३७ प्रतिशत स्त्रियो ने अपनी शिक्षाप्राप्ति का लक्ष्य आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति बताया है[३१]।

स्त्रियो की आर्थिक स्वतन्त्रता पश्चिम मे पारिवारिक जीवन की स्थिरता कम करने तथा तलाको की सख्या बढ़ाने का एक कारण है। पहले स्त्रियां आर्थिक अवलम्ब प्राप्त करने के लिये विवाह करती थी; अब इस के साथ साथ प्रेम और सहानुभूति पाने के लिये दाम्पत्य जीवन अगीकार करती हैं। पहले प्रेम न मिलने पर भी कोई और चारा न होने से स्त्रियां विवाहविच्छेद की कल्पना नही करती थी, अब आजीविका मिलने का विश्वास होते ही स्त्रियां तलाक द्वारा दु:खमय पारिवारिक जीवन से तलाक द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का यत्न करती हैं[३२]। आर्थिक स्वतन्त्रता एक अन्य रीति से भी परिवार के विघटन में सहायक होती है। सयुक्त राज्य अमरीका में विवाह से पहले स्वतन्त्र कमाई करने वाली युवतियो मे सत्तर से अस्सी प्रतिशत विवाह के बाद यह अनुभव करती है कि वे अब पहले जैसा जीवनस्तर नही रख सकती[३३]। इस कारण वे वैवाहिक बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करती है।

किन्तु इस सम्बन्ध मे यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि साधारण रूप से मध्यम एवं उच्च वर्गो मे विवाह के बाद स्त्रियां प्राय. आर्थिक दृष्टि से पति पर अवलम्बित होती हैं। हमारे देश मे वेकारी अधिक होने से स्त्रियो के लिये काम प्राप्त करना सुगम नही है। स्त्री को इस बात मे अधिक सुविधा और सुख है कि वह कमाई करने के झंझट से बची रहे। अतः अत्यन्त सुशिक्षित और समानाधिकारवादी हिन्दू युवतियां भी प्रायः यह चाहती है कि उनका विवाह धनीकुल में हो। स्त्रियो द्वारा स्वतन्त्र कमाई के साधन भारत मे सीमित और अत्यल्प होने के कारण आर्थिक स्वावलम्बन अभी तक हिन्दू परिवार की स्थिरता को बहुत कम नही कर सका।

(ई) वरण स्वातंत्र्य—शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होने के बाद स्त्रियां

---

३१. हाटे—पू० पु०, पृ० ३१
३२. इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु०, पृ० ३४७
३३. वही।

१ चुनने की स्वतन्त्रता चाहने लगी हैं। प्राचीन काल मे स्वय-
गन्धर्वविवाह प्रचलित थे, किन्तु मध्ययुग मे वालविवाहो के प्रसार के
का विवाह निश्चित करना माता पिता का ही काम समझा जाने लगा।
वर्त्तमान शताब्दी मे शिक्षाप्रसार से पूर्व हिन्दू परिवार मे माता पिता
की शादी करना सार्वभौम नियम था; किन्तु अव शिक्षाप्राप्त स्त्रिया
के इस विशेषाधिकार मे हस्तक्षेप करने लगी हैं। हाटे की गवेषणा
२ कन्याओ ने यह वताया कि वे अपना जीवनसगी स्वय चुनना
३४। शिक्षित कन्या की यह इच्छा होना स्वाभाविक ही है कि जीवन
८ प्रश्न मे उसकी इच्छा का पूरा ध्यान रखा जाना चाहिये।
, इस प्रवृत्ति के वढने के कुछ अन्य कारण भी हैं। यद्यपि माता-
व अपनी कन्या के सुख का ध्यान रखते हैं, तथापि ऐसे उदाहरणो की
है कि लाचारी मे अथवा धन के लोभ में माता पिता अपनी कन्या का
८ करके उसे जीवन भर के लिये दु खी वना देते हैं। हाटे ने इस विपय
हृदयविदारक उदाहरण दिये है, एक अभागी कन्या माता पिता द्वारा
साथ शादी किये जाने पर एक वर्ष में ही विधवा हो गयी, दूसरी कन्या
ी और दुश्चरित्र के साथ विवाह करके उसका जीवन दु खमय वना
१५। स्त्रियों को इससे वचने का उपाय वरणस्वातन्त्र्य ही प्रतीत

इस मार्ग के अवलम्वन में दो वडी कठिनाइया हैं। पहली तो यह कि
की अपेक्षा अदूरदर्शी और अल्प एव अपरिपक्व वुद्धि के कारण कन्या
में ऐसी भयकर भूलें कर सकती है, जिनके लिये उसे जीवन पर्यन्त
करना पडे। पर अपनी भूल होने से शायद उसका पछतावा उतना
हो, जितना माता पिता की भूल का होता है। दूसरी कठिनाई यह है
ी देशो के क्लवो की भाति अभी तक हमारे देश में युवक युवतियो के
ने मिलने और परिचय प्राप्त करने के कोई केन्द्र नही है। सहशिक्षा
८ ही इस कार्य को पूरा कर रहे हैं। फिर भी शिक्षित हिन्दू
में इस प्रवृत्ति के प्रवल होने में कोई सदेह नहीं, युवको मे यह भावना
ने भी अधिक है। इससे हिन्दू परिवार मे विवाह के विपय में माता पिता

• हाटे—पू० पु०, पृ० २३९
• वही—पृ० ४४-४५

का पुराना अमर्यादित प्रभुत्व समाप्त हो रहा है, वे विवाह में सन्तान की इच्छा का वहुत ध्यान रखने लगे हैं।

(उ) परिवार में समान स्थिति की मांग—वर्त्तमान काल में स्त्रीशिक्षा के प्रसार से पूर्व हिन्दू पति-पत्नी के मानसिक धरातल में आकाश पाताल का अन्तर होता था। बचपन में विवाहित एव अशिक्षित होने से पत्नी पति के साथ समता के विचार की कल्पना नही कर सकती थी। स्त्रीशिक्षा से इस स्थिति में बडा अन्तर आ रहा है। पहले यह वताया जा चुका है कि वैदिक युग मे पति के साथ समानाधिकार रखने वाली (पृ० ८९-९०) और अर्धांगिनी समझी जाने वाली पत्नी की स्थिति परवर्ती युगों में किन कारणो से हीन हुई(दे० ऊ० पृ० ९१-९९), इन मे एक कारण स्त्रियो की अशिक्षा भी था। वह अब दूर हो रहा है। शिक्षित स्त्री मे स्वाभिमान और व्यक्तित्व का उदय होने से, वह पति के तुल्य स्थिति की मांग करने लगी है। श्रीमती हाटे के शब्दो मे 'स्त्री की हीन स्थिति का अवश्य अन्त होना चाहिये, यथोचित सम्मान सहित उसके साथ बराबर दर्जे के साथी और गृहस्वामिनी का सा व्यवहार होना चाहिये'[३६]। इस प्रवृत्ति से हिन्दू परिवार में पति की प्रभुता का अन्त होकर वैदिक काल के सखायुग के प्रत्यावर्त्तन की संभावना प्रतीत होती है। पाण्डु ने कुन्ती को कहा था—'पति पत्नी को धर्मानुकूल या धर्मविरुद्ध जो बात कहे, भार्या को उस पर आचरण करना चाहिये'[३७]। आधुनिक युग की शिक्षित नारी इस स्थिति को स्वीकार करने के लिये तय्यार नही है।

(ऊ) काम करने वाली स्त्रियों की समस्यायें—शिक्षा प्राप्त करने के बाद हिन्दू परिवार मे जीविका उपार्जन करने वाली स्त्रियो की सख्या वढ रही है। श्रीमती हाटे के अनुसन्धान मे १५२ अथवा १९ प्रतिशत स्त्रियां शासन, चिकित्सा, अध्यापन, गवेषणा, क्लर्की, नर्सिंग आदि का कार्य कर रही थी[३९]। इन में १०२ अथवा ६७% को यह कार्य अपने अथवा परिवार के भरण-पोषण के लिये लाचारी में करना पड रहा था। पांच स्त्रिया ऐसी थी, जो घर मे खाली बैठने से बचने के लिये नौकरी कर रही थी। काम करने वालो मे केवल एक

---

३६. हाटे—पू० पु० पृ० २४०

३७. महाभा० १।१२२।६ भर्त्ता भार्यां राजपुत्रि धर्म्यं वाऽधर्म्यमेव वा। यद् ब्रूयात्तत्तथा कुर्यादिति वेदविदो विदुः॥

३९. हाटे—वही पृ० ६७, ६९

क्ष्य आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करना था । अत यह स्पष्ट है कि
हिन्दू परिवार में स्त्रिया लाचारी मे जीवननिर्वाह के लिये घर
काम करती हैं । सयुक्त राज्य अमरीका मे भी अधिकाश स्त्रियो के
ेका यही कारण है[४०] ।

करने वाली स्त्री के सम्मुख निम्न समस्यायें आती है—(१) डाक्टरी,
वकालत, व्यापारादि किसी व्यवसाय की विशेष शिक्षा ग्रहण करने के
वह अविवाहित रह कर यह व्यवसाय करे या विवाह करे[४१] । (२)
शादी का विचार नही छोड़ सकती तो क्या वह विवाह के वाद अपना
, शिक्षणादि का कार्य छोड कर गृहकार्य में ही सन्तोप एव आनन्द
करेगी । क्या उसका सुशिक्षित मन घर के प्रतिदिन दोहराये जाने
कार्यों मे जीर्ण हो जायगा अथवा वह प्राप्त शिक्षा द्वारा घरेलू कामों
सृजनात्मक प्रतिभा से ऐसा नवीन रूप प्रदान करेगी जो परिवार के
सुख को वढाने वाला होगा । (३) यदि उसे विवाह के वाद गृह-
और निरर्थक प्रतीत होता है तो क्या वह परिवार से वाहर पूरे समय
कर दोहरा भार उठाने को तय्यार होगी ? अथवा वह घर से वाहर
समय का ही काम स्वीकार करेगी ? या वह ऐसे अर्थप्रद कामो
साहित्य निर्माण) को करेगी जो उसे मानसिक आनन्द देने के साथ
की आय में भी वृद्धि करें । (४) वच्चो के सम्बन्ध मे क्या दृष्टिकोण
क्या वह अपना व्यवसाय करने की दृष्टि से नि.सन्तान रहना चाहेगी ?
की आकाक्षा रखेगी । कितनी सन्तानें उसे अभीष्ट होगी ? सन्तानों
उसके वाहर के काम का वच्चो के मानसिक विकास, शारीरिक स्वास्थ्य
पर क्या प्रभाव पडेगा ? क्या वह घर से वाहर पूरा काम करते हुए उत्तम
सकती है[४२] ? श्रीमती हाटे की प्रश्नावलि का उत्तर देने वालो मे ६६

• इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु० पृ० ३४८

• कोलोरेडो विश्वविद्यालय के ५०९ छात्रो के एक अध्ययन से प्रतीत
० ६२% लड़किया विवाह को व्यवसाय (Career) से अधिक महत्व
५% ने व्यवसाय को विवाह से श्रेष्ठ समझा, शेष ३३% दोनों
थीं । १२८६ स्त्रियों के एक अन्य अध्ययन से यह ज्ञात हुआ कि
९ विवाह अधिक गृहजीवन को और अच्छा समझती हैं (वेवर—
ण्ड दी फैमिली पृ० ३९३) ।

• न्यूयार्क विश्वविद्यालय की छात्राओ नें वेवर द्वारा किये अनुसन्धान

स्त्रियो मे से ४५ सन्तानवती थी। इनमें २३ ने यह उत्तर दिया कि वे काम के साथ-साथ अपने बच्चो की ठीक देख-भाल कर रही है और नौ ने यह स्वीकार किया कि इसमें उन्हे कुछ कठिनाई है[४३]।

वस्तुतः उपर्युक्त समस्यायें बहुत जटिल है और पश्चिमी देश अभी तक इन का पूरा समाधान नही कर सके। अनेक समाजशास्त्रियो के मत में सन्तान होने पर माता का घर से बाहर काम करना बच्चे के विकास की दृष्टि से हितकर नही है। "जब माता दिन भर घर से बाहर रहती है तो बच्चा न केवल परिवार की देखभाल से वंचित हो जाता है, किन्तु उसकी सभावित अपराधी वृत्ति से बच्चे का भविष्य भी खतरे में पड़ जाता है।...ऐसे बच्चे हमारे समाज मे अनुपयुक्त लोगो (Misfits) का बडा स्रोत रहे है, जो अतीत मे हमारी जेलों और सुधार गृहो को भरते रहे हैं। महत्वाकाक्षी स्त्रियों को इस बात का अनुभव कराया जाना चाहिए कि आर्थिक कार्य की अपेक्षा सन्तान के प्रति उनका कर्त्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिक जीवन ने अभी तक इस प्रश्न का उत्तर नही दिया कि स्त्रियो के व्यक्तिरूप का तथा उनके मातृकार्य का समन्वय कैसे हो सकता है। यह भी सत्य नही है कि बच्चो के १४ या १६ वर्ष से अधिक आयु का होने पर मातायें घर से बाहर काम पर जा सकती है। अधिकाश अपराधी कन्यायें १४ से १६ वर्ष की आयु के बीच की होती है और प्रत्येक माता को यह समझना चाहिये कि कन्या की इस अवस्था में माता का उत्तरदायित्व घटता नही, किन्तु बढता है"[४४]।

(ऋ) परिवार का आकार छोटा होना—पहले यह बताया जा चुका है कि वैदिक युग के हिन्दू परिवार मे पत्नी को दस पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया जाता था[४५], किन्तु वर्त्तमान युग में शिक्षित महिलाये बहुत कम सन्तानें

से ज्ञात होता है कि वहां ७५% लड़कियां विवाह के बाद सन्तान होने तक काम करना चाहती हैं, केवल २०% कन्यायें ही ऐसी थीं, जो बच्चो के ४-५ वर्ष का होने पर भी काम करने की इच्छुक थीं। बच्चों के छोटा होने पर १४ लड़कियो में एक ही ऐसी थी, जो पूरे समय के लिये काम करने को उद्यत थी। (बेबर-पू० पु० ३९३)

४३. हाटे पू० पु० ७४

४४. इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु० पृ० ३४८-४९

४५. ऋ० १०।८५।४५ दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि। योद्धा

ोहै और गर्भनिरोध के साधनो ने उन्हे अपनी सन्तान-सख्या मर्या-
ेका एक निश्चित और सुगम उपाय प्रदान किया है। सयुक्त राज्य
के कुछ आकडो से यह वात भलीभाति स्पष्ट हो जायगी, इनसे यह
है कि पत्नी की शिक्षा जितनी अधिक होती है, सन्तान-सख्या उतनी
है। १९४० की अमरीकी जनगणना के अनुसार पाच वर्ष से कम की
शिक्षा रखने वाली प्रति सहस्र पत्नियो के ७२० वच्चे थे और कालेज
दो वर्ष की शिक्षा ग्रहण करने वाली विवाहिता स्त्रियो मे हजार के
२७८ वच्चे थे[४६]। अमरीकी परिवार में १८ वी शती में एक सामान्य
में सात या आठ वच्चे होते थे, आज यह सख्या घट कर दो या तीन
है[४७]। पिछले पचास वर्षों में पश्चिमी देशो में जन्मदर इतनी घटने लगी
इगलैण्ड जैसे राष्ट्रो की जनसख्या के भविष्य के सम्वन्ध में वडी चिन्ता
गयी है[४८]।

चम मे शिक्षित स्त्रियो द्वारा परिवार में सन्तान कम चाहे जाने के अनेक
। ये महिलाये अपने जीवन को सन्तानोत्पादन और इसके पालन तक
नही समझती, अपने वैयक्तिक आनन्द और व्यवसाय मे वच्चो को
है। शिक्षा के साथ उनके रहन सहन का स्तर ऊँचा उठ जाता
होने पर उनकी प्रसूति, पालन पोषण और शिक्षा पर होनेवाला भारी

समाजो म अधिक पुत्रों की आकांक्षा सर्वथा स्वाभाविक है और
एव मध्यकाल में हिन्दू समाज के अतिरिक्त अन्य समाजों में भी
थी। यहूदियो में बच्चे जिहोवा (भगवान्) का वरदान माने जाते थे और
जाता था कि वच्चे शक्तिशाली व्यक्ति के हाथों में तीरों की तरह
ुष्य भाग्यशाली होता है जिसका तरकस तीरों (वच्चो) से भरा होता
ू टेस्टामेण्ट—साम्स १२७-३-५)। रोम में सिपियो अफ्रीकेनस की
लिया के १२ वच्चे थे। जब उससे किसी ने पूछा कि तुम रत्नजटित
क्यों नहीं पहनती तो उसने उत्तर दिया कि बच्चे ही मेरे रत्न है।

- इलियट एण्ड मैरिल—पू० पु०, पृ० ३५३
- वेवर—मैरिज एण्ड दी फैमिली, पृ० ९, एल्मर—दी सोश्यो-
  दी फैमिली, पृ० १४२
- १९५१ की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट सं० १, भाग १, पृ०
८

व्यय जीवनस्तर को गिराने वाला होगा[४९], अत सन्तान की कामना बहुत कम की जाती है। मनु (९।९६) ने यह कहा था कि स्त्रियो का निर्माण प्रजनन के लिए किया गया है (प्रजनार्थं स्त्रिय सृष्टाः), किन्तु आधुनिक नारी मातृत्व को आवश्यक नही, ऐच्छिक कर्त्तव्य मानती है। इसे वर्त्तमान काल की शोचनीय आर्थिक एवं राजनैतिक दशा भी पुष्ट करती है। शिक्षित महिलाओ का यह सोचना स्वाभाविक है कि युद्ध मे कटने के लिये अथवा भूखे मरने के लिये बच्चे क्यों पैदा किये जाय। गर्भनिरोध के साधनो ने उसे इस विषय मे पूरी सुविधा प्रदान की है। शिक्षित स्त्रियो की सन्तान कम होने का एक कारण यह भी है कि वे गर्भनिरोध के साधनो का प्रयोग अशिक्षित स्त्रियो की अपेक्षा अधिक सुचारु रूप से कर सकती हैं।

---

४९. वर्त्तमान अमरीकी पत्नी का यह दृष्टिकोण जनवरी १९३३ की फोरम पत्रिका (पृ० ५२-५४) में लिखे एक स्त्री के निम्न पत्र से स्पष्ट होगा। इसमें उसने यह शिकायत की है कि बच्चे बीस वर्ष की आयु तक माता पिता का बहुत रुपया व्यय कराते हैं और उसका कुछ प्रतिफल दिये विना घर छोड़ कर चले जाते हैं। "कल्पना कीजिए, हमारा एक बच्चा होता है। इस समय हम न्यूयार्क में सुखपूर्वक तीन कमरे के मकान में रहते हैं, जो पति के और मेरे दफ्तर से १० और १२ मिनट की दूरी पर हैं। इसका किराया ७० डालर मासिक है और हम इससे अधिक नहीं दे सकते। अब यदि बच्चा होता है तो मुझे अपना काम छोड़ना पड़ेगा, हमारी आय में एक तिहाई की कमी हो जायगी और इसके साथ ही इस मकान से काम न चलने पर दूसरा मकान लेना पड़ेगा। यह शहर से बाहर होगा और पति का दफ्तर आने जाने का खर्च बढ़ जायगा। .....मुझे बच्चे की बहुत देखभाल करनी पड़ेगी। हम लोग कभी थियेटर नहीं जा सकेंगे, जो इस समय हमारा प्रधान मनोरंजन है। हम अपने मेहमानों के साथ रात के भोजन से पहले बढ़िया मार्टीनी (एक प्रकार का स्वादिष्ट पेय) तथा भोजनोपरान्त स्कॉच ह्विस्की नहीं पी सकेंगे। संगीत सम्मेलनों में जाने का और पुस्तकें खरीदने का आनन्द प्राप्त करना असंभव हो जायगा। निःसन्देह, शनैः शनैः हमें अन्य सुखों को भी छोड़ने के लिये बाधित होना पड़ेगा"। इस मनोवृत्ति पर टिप्पणी करते हुए वेबर ने ठीक ही लिखा है कि थियेटर और शराब को बच्चो से अधिक महत्व देना व्यष्टिवाद की पराकाष्ठा है और यह सूचित करता है कि ऐसी स्त्रियों में मातृत्व की भावना का सर्वथा अभाव है (वेबर—पू० पु०, पृ० ५१६-१७)।

की शिक्षित महिलाओ में उपर्युक्त कारणो से सन्तान कम चाही ै। सरकार की ओर से गर्भनिरोध के साधनो का प्रचार होने लगा को इस विषय मे सहायता देने के लिये परिवार-नियोजन-केन्द्र हैं। १९५१ की भारत की जनगणना-रिपोर्ट में सरकार द्वारा इस कार्य ` पर तथा अत्यन्त उत्साह के साथ करने पर बहुत बल दिया गया २स समय हमारे देश की जनसख्या जिस तेजी से बढ रही है उस अनु- ो का उत्पादन नही बढ रहा है[१०]। इसका परिणाम भुखमरी के नही हो सकता। अत. इस बात की आवश्यकता है कि परिवार में ही सख्या में सन्तानें उत्पन्न करे, जिसके भरण-पोषण की व्यवस्था अच्छी तरह हो सकती हो। जनगणना रिपोर्ट के लेखक श्री गोपाल में यह सख्या तीन है। तीन बच्चो के पालन-पोषण की व्यवस्था हो सकती है, अत. इन का मातृत्व व्यवस्थित समझना चाहिये, इससे का उत्पादनअव्यवस्थित मातृत्व (Improvident Maternity) समय हमारे देश में जन्म-सख्या की दर प्रतिहज़ार व्यक्तियो के पीछे इनमें १७ अव्यवस्थित मातृत्व का परिणाम है, अतः यह दर घट कर `[१२]। अन्यथा ३० वर्ष बाद हमारे देश की जनसख्या ३६ से ५२ यगी और बगाल के अकाल जैसे भीषण दुर्भिक्ष ही इसे कम करेंगे। का एकमात्र उपाय गर्भनिरोध के साधनो का देश में व्यापक रूप से है[१३]। योजना कमीशन ने भी इस पर बहुत बल दिया है[१४]।

संदेह नही है कि भावी हिन्दू परिवार में उपर्युक्त कारणो से अशिक्षित दोनो प्रकार की महिलाओ में सन्तान की सख्या कम करने बढेगी।

यौन नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति—मनुस्मृति में यौन-

१९५१ की जनगणना रिपोर्ट खं० १ भाग १ पृ० १५७-७५, पृ० ९५४ में खाद्यान्नो की दृष्टि से भारत के स्वावलम्बी हो जाने से इस दिये आकड़े पूरी तरह सही नहीं है।

वहीं पृ० ८७-८८

वही पृ० २१७

वही पृ० २१९-२५

वहीं पृ० २१३-१६

नैतिकता के सर्वोत्तम आदर्श का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि संक्षेप में पति-पत्नी का परम धर्म यह है कि दोनो आमरण एक दूसरे के प्रति सच्चे रहे[५५]। किन्तु पहले (पृ० १६२-६३) यह बताया जा चुका है हिन्दू परिवार मे इस आदर्श का पालन नही होता रहा, पत्नी से पातिव्रत्य और सतीत्व की रक्षा की आशा की जाती रही है, किन्तु पति का एकपत्नीव्रत होना आवश्यक नही रहा। इस प्रकार पुरुपो और स्त्रियो के लिये यौन नैतिकता के आदर्श एक जैसे नही रहे। पति को यौन स्वातन्त्र्य देने वाली तथा पत्नी पर सतीत्व का बन्धन लगाने वाली नैतिकता का दोहरा मानदण्ड (Double Standard of Morality) न केवल हिन्दू समाज में, अपितु प्रायः सभी प्राचीन एव मध्यकालीन समाजो में प्रचलित था, पहले यह वताया जा चुका है कि इस प्रकार की व्यवस्था के क्या क्या कारण थे (दे० ऊ० पृ० १६४-१७१)। वर्त्तमान युग मे स्त्रिया इस दोहरी व्यवस्था का अन्त कर पति-पत्नी दोनो पर सयम का बन्धन समान रूप से लगाना चाहती है और उन्हे नवीन परिस्थितियो से इसमे वडी सहायता मिल रही है।

पुराने जमाने मे दोहरी नैतिकता के दो मुख्य आधार थे—धर्म और गर्भ की आशका। शास्त्रकारो ने पातिव्रत्य की गरिमा के गीत गाकर पत्नी को सतीत्व का आदर्श निवाहने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की (दे० ऊ० पृ० १५२-१५६) और स्त्रियो ने पातिव्रत्य की भावना के अतिरिक्त, गर्भधारण की सम्भावना तथा उससे उत्पन्न होने वाली तीव्र लोकनिन्दा और सामाजिक तिरस्कार की भीति से दोहरी नैतिकता स्वीकार की। किन्तु वर्त्तमान युग में बुद्धिवाद और विज्ञान ने धर्म का प्रभाव शिथिल कर दिया है और कृत्रिम गर्भनिरोध के साधन-रबड की थैली-ने गर्भधारण की आशंका को निर्मूल कर दिया है। अतः भविष्य में हिन्दू परिवार में नैतिकता के दोहरे मानदण्ड की समाप्ति निश्चित ही है[५६]।

---

५५. मनु० ९।१०१ अन्योन्यस्याव्यभीचारो भवेदामरणान्तिकः। एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः॥

५६. संयुक्त राज्य अमरीका में इसका अन्त हो चुका है। पिछले पचास वर्षों में वहां विवाह से पूर्व यौन सम्बन्ध करने वाले स्त्री पुरुषों की संख्या बढ़ रही है। डिकिन्सन की गणना के अनुसार शादी से पहले यौन अनुभव रखने वाली स्त्रियों की संख्या एक निश्चित समह में २०% थी, १९२९-३० मे एक दूसरे समह में ३३१/३% और १९३४ में ५०%। हैमिल्टन ने अपनी गवेषणा के

समानाधिकारों की मांग—नारी आन्दोलन स्त्री-पुरुषों के लिये तुल्य
माग द्वारा भी हिन्दू परिवार को बहुत प्रभावित कर रहा है। अखिल
हला परिषद् प्रतिवर्ष अपने अधिवेशन मे इस सम्बन्ध में अनेक
करती रहती है[१०]। इन मे परिवार पर प्रभाव डालने वाले अधि-
दो बड़े वर्गों मे बाटी जा सकती है—(क) दाम्पत्य अधिकारों
(ख) साम्पत्तिक स्वत्वो में समता। यद्यपि नवीन भारतीय सवि-
-नारी की समानता को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, किन्तु
में वैवाहिक एव साम्पत्तिक अधिकारो के क्षेत्र में नर नारी के
कुछ अशो मे वैपम्य है, नये कानूनो द्वारा इन्हे दूर करने का प्रयत्न हो
९ इन का सक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।
परिवार में पति-पत्नी के वैवाहिक अधिकारो मे विपमता का पहले
जा चुका है (दे० ऊ० पृ० ११२-१८)। वर्तमान व्यवस्था के
ति एक पत्नी के जीवित रहते हुए दूसरा विवाह (अधिवेदन) कर
यद्यपि प्राचीन शास्त्रकारो ने उस के इस अधिकार पर अनेक प्रतिवन्ध
(दे० ऊ० पृ० ११६), तथापि उनका पालन हिन्दू समाज में बहुत
है। इस का यह परिणाम हुआ है कि आजकल पति को यथेच्छ विवाह
स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु पत्नी एक पुरुप के साथ परिणीत होने पर
दूसरा विवाह नही कर सकती, क्योंकि हिन्दू विवाह द्वारा उसका पति
च्छेद्य सम्बन्ध समझा जाता है। शास्त्रकारो की व्यवस्था के अनु-
के कुलटा, शराबी, प्रतिकूल, रोगिणी, हिंस्र या अपव्ययी होने
।८० मि० याज्ञ० १।७३), अथवा अप्रियवादिनी या वन्ध्या होने पर

पों तथा ३५% स्त्रियों को प्राग्वैवाहिक यौन सम्बन्ध वाला पाया
—न्यू होराईजन्स फार दी फैमिली पृ० ५४३)। विवाहित स्त्री-पुरुषों
-बाह्य (Extra Marital) सम्बन्धों की भी यही दशा है। हैमि-
व्ययन से यह ज्ञात होता है कि उसे उत्तर देने वालो में न केवल २८%
२४% स्त्रियां व्यभिचार कर चुकी थीं। इससे भी अधिक
बात यह थी कि उसके अध्ययन में आने वाले २०० विवाहित स्त्री-
त केवल दस पुरुष और सोलह स्त्रियां ही ऐसी थीं, जो व्यभिचार को
अनुचित समझती थीं (सेट—पू० पु० पृ० ५४७)
इन के लिये दे० हार्ट—पू० पु०, पृ० २७३-७७

उसे छोड़ सकता है, (मनु० ९।८१), किन्तु पत्नी को पति के जीवन काल मे या मर जाने पर भी पति की कोई अप्रिय बात नही करनी चाहिये, पति की मृत्यु पर उसे कभी परपुरुष का नाम भी नही लेना चाहिये और आजीवन ब्रह्मचारिणी रहना चाहिये[५८]। स्पष्टतः यह व्यवस्था स्त्रियो के प्रति अन्याय मूलक है। इसका अन्त करने के लिये हिन्दू महिलाये यह चाहती है कि स्त्री और पुरुष दोनो पर समान रूप से एकविवाह (Monogamy) का बन्धन लगा दिया जाय और दोनों को असाधारण दशाओ मे दु खमय विवाहो से मुक्ति पाने के लिये तलाक का अधिकार दिया जाय[५९]। हिन्दू कोड बिल मे यह दोनो व्यवस्थाये सम्मिलित की गयी थी, उस बिल को छोड देने के बाद १९५२ के हिन्दू विवाह और विच्छेद बिल मे इन का समावेश किया गया है। यद्यपि अभी तक यह बिल पास नही हुआ, किन्तु प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार यह बिल शीघ्र ही पास हो कर कानून का रूप धारण करेगा। इस से पति पत्नी के वैवाहिक अधिकारों मे समानता स्थापित हो जायगी। हिन्दू विवाह-बिल पास न होने तक इस वर्ष (१९५४) पास हुए विशेष विवाह कानून के अनुसार विवाह करने वाले हिन्दुओ पर एक-विवाह का नियम लागू होगा और इस मे बतायी गयी अवस्थाओ के अनुसार वे तलाक भी प्राप्त कर सकेंगे।

हिन्दू परिवार मे नर-नारी के साम्पत्तिक अधिकारो में कुछ विषमताये है। इनमे निम्न उल्लेखनीय हैं—(१)पुत्री का पिता की सम्पत्ति में उत्तराधिकारी न होना (२) पति से प्राप्त सम्पत्ति पर पत्नी का सीमित स्वत्व। इस वैषम्य को दूर करने के लिये गतवर्षों मे सब से बडा प्रयत्न हिन्दू कोड बिल द्वारा प्रस्तावित किया गया था, इसका विचार स्थगित कर दिये जाने पर भी अनेक नवीन बिल इस के आधार पर प्रस्तुत किये जा रहे है। इनका हिन्दू परिवार के कानूनी स्वरूप पर गहरा असर पडना अवश्यम्भावी है, अत यहा इन की चर्चा आवश्यक जान पडती है।

हिन्दू परिवार पर प्रभाव डालनेवाले नये बिल (क) हिन्दू कोड—इस के

---

५८. मनु० ५।१५६-५८,पाणिग्राहस्य साध्वी स्त्री जीवतो वा मृतस्य वा। पतिलोकमभीप्सन्ती नाचरेत्किंचिदप्रियम् ॥ कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु ॥ आसीतामरणात्क्षान्ता नियता ब्रह्मचारिणी। यो धर्म एकपत्नीनां कांक्षन्ती तमनुत्तमम् ॥

५९. हाटे पू० पु०, पृ० ८९-९०

इतिहास वड़ा रोचक है। १९३७ में 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर
का कानून पास होने के वाद यह अनुभव किया गया कि समूचे
को समयानुकूल वनाने के लिये उसके सभी अगो का सशोधन
होना (Codification) आवश्यक है। १९४१ ई० में
ने स्व० वेनेगल नरसिंह राव की अध्यक्षता में एक समिति इस
कि वह हिन्दू कोड वनाने की वाछनीयता पर रिपोर्ट करे। समिति
में क्रमिक दशाओ मे हिन्दू कानून की सहिता (कोड) वनाने
की और वसीयत हीन उत्तराधिकार तथा विवाह सम्वन्धी दो
प्रारूप (Draft) भी तय्यार किये। इसके वाद इस समिति
हो गया। केन्द्रीय व्यवस्थापिका परिषद् में इन विलो के उप-
पर यह वाञ्छनीय समझा गया कि समूचे हिन्दू कानून का सशोधन कर
हिन्दू कोड तय्यार किया जाय और इस कार्य को करने के लिये
१९४४ के एक प्रस्ताव द्वारा पूर्वोक्त राव समिति को पुनरुज्जीवित
। फरवरी १९४४ मे इस समिति ने कार्य आरम्भ किया, दो वर्ष तक
के लिये यह समिति देश का परिभ्रमण करती रही। मार्च १९४७
ने अपनी अन्तिम रिपोर्ट और हिन्दू कोड विल भारत सरकार के
किया। ११ एप्रिल १९४७ को यह विल लोक सभा मे पेश हुआ, ९
४८ को इसे निर्वाचित समिति को सौंपा गया, १२ अगस्त १९४८ को
मति ने इस पर अपनी रिपोर्ट दी। ३१ अगस्त १९४८ को इस रिपोर्ट
। में विचार करने का प्रस्ताव पेश हुआ। इस विल के लिये
समय मिलने के कारण तथा उग्र विरोध होने से १९ दिसम्वर १९४९
। ने केवल इतना ही प्रस्ताव पास किया कि निर्वाचित समिति द्वारा
विल पर विचार किया जाय। यह स्पष्ट था कि इस मन्थर गति से
कभी पास नही हो सकता। इस वीच में लोक सभा के नये निर्वाचन
सरकार ने हिन्दू कोड विल को अनेक विलो में खण्डश विभक्त

हिन्दू कोड विल के पक्ष और विपक्ष में वहुत साहित्य निकला है।
संक्षिप्त ओर सर्वोत्तम प्रतिपादन टोपे तथा उरसेकर के 'हनाई
' (धर्म निर्णय मण्डल लुनावला) में तथा भारत सरकार द्वारा
हिन्दू कोड विल और उसका उद्देश्य' तथा हिन्दू ला कमेटी की रिपोर्ट
में श्री करपात्री जी का 'हिन्दू कोड विल प्रमाण की कसौटी
है।

कर उन्हे पास कराने की नीति ग्रहण की। इस के अनुसार अब तक हिन्दू विवाह और तलाक, हिन्दू नाबालिगी और सरक्षकता तथा वसीयतहीन हिन्दू उत्तराधिकार के तीन बिल सरकारी गज़ट मे प्रकाशित हो चुके है। दत्तक पुत्र लेने, भरण-पोषण तथा संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में तीन बिल अभी तक अवशिष्ट हैं। यद्यपि हिन्दू कोड बिल अब समाप्त हो चुका है तथापि इस सम्बन्ध के नये बिल हिन्दू कोड पर आधारित है। अतः यहा हिन्दू कोड बिल द्वारा तथा बाद में अन्य बिलों द्वारा प्रस्तावित परिवर्त्तनो की सक्षिप्त चर्चा की जायगी।

निर्वाचित समिति द्वारा सशोधित हिन्दू कोड बिल द्वारा हिन्दू परिवार के सम्बन्ध मे निम्न मौलिक परिवर्त्तन प्रस्तावित किये गये थे—

(क) **मिताक्षरा परिवार की समाप्ति**—पहले यह बताया जा चुका है कि इस समय हिन्दू परिवार के दो सम्प्रदाय हैं—मिताक्षरा और दायभाग (दे० ऊ० पृ० २८९-९५); इन मे मिताक्षरा परिवार की यह विशेषता है कि उसमें पैतृक सम्पत्ति मे पुत्रो के स्वत्व की उत्पत्ति उनके जन्म से मानी जाती है। परिवार के किसी एक सदस्य की मृत्यु होने पर, सम्पत्ति उस व्यक्ति के उत्तराधिकारियो को नही मिलती, किन्तु उसके बाद जीवित रहनेवाले समाशियो (Surviving Coparceners) को प्राप्त होती है। पैतृक सम्पत्ति किसी हिन्दू की वैयक्तिक सम्पत्ति नही होती, किन्तु पिता, पुत्र, पौत्र प्रपौत्र उसके भागीदार होते है।

प्रस्तावित कोड की धारा ८६ के अनुसार मिताक्षरा की इस विशेषता का अन्त करते हुए कहा गया है कि भविष्य में परिवार मे जन्म लेने से सम्पत्ति पर स्वत्व नही माना जायगा। दूसरे शब्दों में, इसमें दायभाग का वह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया गया है जिसके अनुसार उत्तराधिकार में मिलने वाली सम्पत्ति उसे पाने वाले की वैयक्तिक सम्पत्ति होती है और वह दान या वसीयत द्वारा या अन्य प्रकार से इसका यथेच्छ विनियोग कर सकता है। इस दृष्टि से भविष्य में इस सम्बन्ध में मिताक्षरा नियम का अन्त होकर सर्वत्र दायभाग का नियम लागू होगा।

नि.सन्देह हिन्दू परिवार मे यह एक मौलिक परिवर्त्तन है; किन्तु यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही है, व्यावहारिक रूप में वर्त्तमान न्यायालय और प्रिवी कौन्सिल सयुक्त हिन्दू परिवार के सदस्यो को अपने हिस्से के अपहार (Alieantion) का अधिकार देकर तथा अपने दत्तक पुत्र सम्बन्धी निर्णयो से और व्यवस्थापिका परिषद् 'हिन्दू विद्याधन' कानून से तथा *'हिन्दू स्त्रियों के सम्पत्ति पर अधिकार'* के १९३७ के कानून से मिताक्षरा परिवार का अन्त कर चुकी है। इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान् श्री काणे के शब्दो मे इस समय मिताक्षरा संयुक्त

वाहरी आवरण ही अवशिष्ट है, आत्मा नही रही, व्यवस्थापिका
यह घोपणा करना अधिक अच्छा है कि मिताक्षरा-सयुक्त-परिवार
की जाती है (हि० ध० ३।६७४)। हिन्दू कोड बिल मे यही बात
।

व के विरोध में सबसे प्रवल युक्ति यह दी जाती है कि यह
परिवार की साझी सम्पत्ति का उन्मूलन करने वाला परिवर्त्तन है,
यति का अपलाप करने के कारण यह तर्क नि सार प्रतीत होता है,
परिवर्त्तन मिताक्षरा परिवार की जिस पैतृक सम्पत्ति का अन्त कर
क्षेत्र ऊपर वताये न्यायालयो के निर्णयो द्वारा वहुत सीमित हो
वैयक्तिक और स्वार्जित सम्पत्ति की तुलना में सयुक्त पैतृक सम्पत्ति
रह गयी है, अत क्रियात्मक दृष्टि से इसका प्रभाव बहुत कम सम्पत्ति पर
मिताक्षरा कानून के अनुसार पिता पारिवारिक कार्यों के लिये
इस सम्पत्ति का अन्त कर सकता है, पुत्र जव चाहे, इसका विभाग
है, अजनवी महाजन ऋण की वसूली के लिये इसे छिन्न-भिन्न कराने
रखता है, अतः इस समय भी मिताक्षरा परिवार विघटित हो चुका
वस्तुत आमूलचूल परिवर्त्तनकारी नही, किन्तु वर्त्तमान वस्तुस्थिति
रूप देने वाला है[६०क]। इससे केवल यही परिवर्त्तन होगा कि संयुक्त
सदस्यो के अधिकार सयुक्त असामियो (Joint tenants) के
सम्मिलित असामियो (Tenants in common) के रूप में
।

बिल की धारा ८८ द्वारा हिन्दू पुत्र के धार्मिक कर्त्तव्य का नियम खंडित
है। इसके अनुसार पिता, पितामह या प्रपितामह द्वारा लिये गये
ी अदायगी उसके पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र से इस आधार पर नही की
। कि उसे चुकाना उसका धार्मिक कर्त्तव्य था।

) उत्तराधिकार सम्बन्धी परिवर्तन—इन का कोड के सातवें भाग
है। इनमें ये व्यवस्थाये महत्वपूर्ण है—(अ) उत्तराधिकारियों का
रूप से दायभाग जैसा कर दिया गया है, (आ) विधवा, पुत्री,
की विधवा—इन सव को पुत्र के समान ही स्थान दिया गया है तथा
पिता की सम्पत्ति मे एक हिस्सा देने का नियम वनाया गया है (इ) स्त्री

• हिन्दू ला कमेटी की रिपोर्ट, पृ० १६-१७

उत्तराधिकारियो में उनके धनी या निर्धन, विवाहित या अविवाहित, सन्तानवती या नि.सन्तान होने के कारण किये जाने वाले भेदो का अन्त किया गया है। (ई) उत्तराधिकारियो की सख्या घटा दी गयी है। (उ) उत्तराधिकारियों में माता का स्थान पिता से पहले माना गया है।

(अ) ११ वे अध्याय में मिताक्षरा तथा दायभाग के उत्तराधिकारियों तथा रिक्थहरों का क्रम स्पष्ट किया जा चुका है (दे० पृ० ३०२-१९)। इसके अनुसार इन दोनो में एक आधारभूत भेद है। मिताक्षरा परिवार मे प्रत्यासत्ति या रक्त सम्बन्ध की समीपता का सिद्धान्त महत्वपूर्ण होने से उत्तराधिकारियों मे गोत्रजो (Agnates) अथवा पितृपक्ष के सम्बन्धियो को उसके मातृपक्ष के सम्बन्धियो की अपेक्षा तरजीह दी जाती है। दायभाग पिण्डदान-द्वारा मृत व्यक्ति को धार्मिक लाभ पहुँचाना रिक्थहरण की मुख्य कसौटी मानता है, अतः उसके उत्तराधिकारियो मे मातृपक्ष के भी अनेक सम्बन्धी आ जाते है। स्वाभाविक स्नेह तथा प्रेम के आधार पर इनका उत्तराधिकारी होना उचित प्रतीत होता है, अतः प्रस्तुत हिन्दू कोड के सातवे परिशिष्ट मे इसका क्रम बताते हुए प्राय. दायभाग नियम का अनुसरण किया गया है। इसमें प्रत्यासत्ति अथवा सम्बन्धसामीप्य और स्नेह—दोनो बातों का ध्यान रखा गया है। इस प्रकार मिताक्षराक्रम के स्थान पर दायभाग के क्रम को लागू किया गया है, केवल एक अश में मिताक्षरा-व्यवस्था को माना गया है। पहले यह बताया जा चुका है कि उत्तराधिकारी या दायाद होने में स्पष्टता माता पिता के स्थान के सम्बन्ध में दोनो में मौलिक अन्तर है, दायभाग मे पिता को और मिताक्षरा मे माता को पहले दायाद माता जाता है (दे० ऊ० पृ० ३०६)। कोड मे इस विषय में मिताक्षरा की व्यवस्था को सारे भारत में लागू करने का प्रस्ताव है।

(आ-इ) पुत्री को पुत्र के साथ पैतृक सम्पत्ति में हिस्सा देने की व्यवस्था इस कोड का व्यावहारिक दृष्टि से सब से क्रान्तिकारी परिवर्त्तन है। इसमें तो कोई संदेह नही कि वैदिक युग से अनेक शास्त्रकार कन्याओ के इस अधिकार का समर्थन करते रहे है[६१]। किन्तु इस समय हिन्दू परिवार में ऐसी

---

६१. एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया (शु० यजु० ३।५७, मैत्रा० सं० १।१०।४ शत० ब्रा० २।६।२।९, तै० सं० १८।६।१) में भाई के दाय में बहिन के भाग का निर्देश है, ऋ० २।१७।७ में अविवाहित कन्या द्वारा पिता से अपना भाग मांगने का उल्लेख है। यास्क द्वारा अभ्रातृमती कन्या के दायाद होने तथा

इसका तीव्र विरोध है। विपक्षियो के मतानुसार इससे
की वृद्धि होगी, विवाह के पश्चात् दूसरे कुल मे चले जाने
सम्पत्ति की व्यवस्था करना कठिन हो जायगा। दूसरी
इस अधिकार के समर्थको का कहना है कि इस से भाई वहिन
आशंका निर्मूल है, भाइयो के सहज निश्छल और नि.स्वार्थ
हानि नही होगी[2], यदि ऐसा होता है तो वह स्वार्थमूलक
ोने पर कन्याओ द्वारा पैतृक सम्पत्ति की व्यवस्था में अवश्य
हैं, किन्तु इन्हे दूर करने के अनेक उपाय सुझाये गये हैं।
है कि कन्याओ को पैतृक सम्पत्ति के उपभोग का ही अधिकार

) याज्ञ० (२।१२४) द्वारा अविवाहित कन्या को चौथा अंश
का पहले विस्तारपूर्वक उल्लेख हो चुका है (दे० पृ० ५२५),
ने इसे कन्याओं के विवाह पर व्यय किया जाने वाला
किन्तु विश्वेश्वर भट्ट ने इस मत का खण्डन किया है—केचन
वोक्तरीत्या चतुर्थमंशं कन्यकायै दत्वा तेनैव विवाहः कर्त्तव्यो न
ण विवाहं कृत्वा पुनरपि चतुर्थांशदानमिति। तन्मेधातिथि-
ोनामनभिमतत्वादुपेक्षणीयम् (मदन पारिजात ६४८, धर्मकोश
।

। में हिन्दू, मुसलमान, ईसाइयो पर एक ही सिविल कोड लागू
लड़कों की तरह पैतृक सम्पत्ति में अधिकार हैं, वहां जांच करने
है कि भाई वहिनों के झगड़ों के उदाहरण नहीं के वरावर है
विल और उसका उद्देश्य—पब्लिकेशन्स डिवीजन द्वारा प्रकाशित
१०३)। इस से पारिवारिक अशान्ति वढ़ने के तर्क का खण्डन
ने कहा था कि एक व्यक्ति के १२ पुत्र और १ पुत्री होने पर
के १२ या १३ हिस्से करने में वड़ा अन्तर नहीं पड़ता (पू० नि०
वंटवारे से वैमनस्य वढ़ता हो तो भाइयों में भी इसे वन्द करना
वात पुत्री को हिस्सा देने से पारिवारिक सम्पत्ति के खण्डशः विभक्त
में कही जा सकती है। वस्तुतः वहिनों को भाइयों द्वारा चतुर्थांश
शास्त्रानुमोदित है, किन्तु प्रिवी कौंसिल ने रूढ़ि को वलवान्
को पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व देने वाले वचनो का प्रामाण्य
ीं किया (हिन्दू कोड विल, पृ० ४७)।

हो, बेचने का नही। दूसरा सुझाव यह है कि बहिनो की सम्पत्ति भाई खरीद ले, इस विषय मे प्रथम अधिकार उन्ही का माना जाय। किन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी इस बात की उपेक्षा नही की जा सकती कि पैतृक सम्पत्ति में पुत्री का पुत्र के समान अधिकार होना चाहिये। ईसाई, मुस्लिम तथा अन्य सभी सभ्य समाजों मे भारत में पुत्री को यह अधिकार प्राप्त है। समानता के इस युग मे हिन्दू परिवार मे कन्या को देर तक इस अधिकार से वंचित नही रखा जा सकता।

विचारशील व्यक्ति पुत्री के पैतृक सम्पत्ति में अधिकार का सिद्धान्त-रूप से समर्थन करने मे एकमत हैं; किन्तु उनमे इसे व्यावहारिक रूप देने के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। राव समिति का पहले यह विचार था कि अविवाहित कन्याओं को ही पैतृक सम्पत्ति में स्वत्व दिया जाय, इस में विवाह के बाद दूसरे स्थान मे चले जाने से पैतृक सम्पत्ति की व्यवस्था मे उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों की समस्या का निराकरण हो जाता था। किन्तु इसमे यह संभावना थी कि धनी कुलो की कन्याओ मे सम्पत्ति पाने के प्रलोभन से अविवाहित रहने तथा अनाचारपूर्ण जीवन यापन करने की प्रवृत्ति बढेगी। अतः राव समिति ने विवाहित, अविवाहित सब पुत्रियो को समानरूप से पुत्र के अंश से आधा भाग देने की व्यवस्था की थी, उसने इसके साथ यह भी व्यवस्था की थी कि पुत्र को भी माता की सम्पत्ति में आधा भाग मिलेगा ताकि पुत्र और पुत्री के बीच समान स्थिति बनी रहे। किन्तु निर्वाचित समिति ने पुत्री का भाग पुत्र के अश के समान निश्चित किया।

(ई) वर्त्तमान काल मे कन्याओ के उत्तराधिकारी होने पर अविवाहिता को प्राथमिकता दी जाती है, यदि सभी विवाहिता हो तो निर्धन और धनी तथा पुत्रवती और निःसन्तान मे पहले प्रकार को तरजीह दी जाती है (दे० ऊ० पृ० ५३६–७)। इस बिल द्वारा इन सब भेदो को समाप्त कर दिया गया है। उत्तराधिकारी होने पर पैतृक सम्पत्ति मे सब स्त्रियों का स्वत्व समानरूप से माना गया है।

(उ) आजकल मिताक्षरा और दायभाग परिवारो में उत्तराधिकारियों की सूची बहुत लम्बी है, इसमे समानोदक अर्थात् १४वी पीढी तक के सम्बन्धी सम्मिलित होते हैं (दे० ऊ० पृ० ३१८), इनके तथा बन्धुओ के अभाव में आचार्य, उसके न होने पर शिष्य और इसके भी न होने की दशा मे सब्रह्म-चारी (मृत व्यक्ति के साथ एक ही गुरु से उपनयन कराने एवं वेदाध्ययन

वाला सहपाठी) उत्तराधिकारी होता है, (मिता० २।१३५–३६),
भी न होने पर पहले वेद का विद्वान् ब्राह्मण (गौ० २९।२९), और फिर
ब्राह्मण(दायभाग ११।६।२७)। इन सव के अभाव मे ब्राह्मण के अति-
अन्य वर्णो के कोई दायाद न रखनेवाले व्यक्तियो की सम्पत्ति राजा को
होती है (नारद दायभाग ५१-५२, विष्णु १७।१२-१३, वौधा० १।५।
-२२) । प्रवर समिति द्वारा सशोधित हिन्दू कोड में इन सव दूरवर्त्ती
को समाप्त कर दिया गया है। इसकी १०२ तथा १०३ धाराओं
पाचवी पीढी तक के पितृपक्ष के सम्वन्धी (गोत्रज) और मातृपक्ष
(वन्धु) ही दूरतम उत्तराधिकारी है, आचार्य, शिष्य, सब्रह्मचारी
उत्तराधिकारी नही माने गये। इन की सख्या मर्यादित करने का एक विशेष
है। इस कोड द्वारा प्रत्येक हिन्दू को वसीयत करने का अधिकार दिया गया
से वह अभीप्ट व्यक्ति को अपने जीवन काल मे ही सम्पत्ति देने की व्यवस्था
है। वसीयत करने का अधिकार दे देने के वाद मृत व्यक्ति से १४वी
तक पहुँचने वाली उत्तराधिकारियो की लम्वी सूची निर्धारित करना अना-
है। प्राचीन काल में वसीयत की प्रथा न होने पर उस की उपयोगिता
अव वह निरर्थक है।

(ग) गोद लेना—पहले यह वताया जा चुका है कि यह हिन्दू कानून का
विवादग्रस्त विषय है और मुकद्दमेवाजी की एक बड़ी जड़ है, इसकी
सभी वातो पर अनेक पक्ष और तीव्र मतभेद हैं (पृ० ४९७)। हिन्दू
(भाग ३, धारा ५२ से ७६) में इसे सरल, सुवोध और एकरूप बनाने
निम्न महत्वपूर्ण व्यवस्थाये की गयी हैं।

(अ) गोद लेने की योग्यता रखने वाले व्यक्तियो में अव १८ वर्ष तथा
अधिक आयु की विधवा का अधिकार स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया
, वशर्ते कि पति ने उसे स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से इसके लिये रोका न हो
५५)। इस प्रकार इस सम्वन्ध में वसिप्ठ के एक ही वचन के आधार पर
के विभिन्न प्रान्तो में प्रचलित चार विभिन्न पक्षो (पृ० ५०२–३) का
करने का यत्न किया गया है। मुकद्दमेवाजी की रोकथाम के लिये यह
ा की गयी है कि इस सम्वन्ध में पति का वही आदेश प्रामाणिक माना
जिसकी रजिस्टरी हो चुकी हो या जिसका वसीयतनामे में उल्लेख
धारा ५६), इस सम्वन्ध में मौखिक गवाही वैध नही मानी जायगी।
तक पति को गोद लेने के मामले में पत्नी से अनुमति प्राप्त करना आव-

श्यक नही था, अब ऐसा कर दिया गया है। अनेक पत्नियां होने की दशा मे कम से कम एक पत्नी की अनुमति लेना जरूरी है। पति या पत्नी के धर्मान्तर ग्रहण करने पर उनका गोद लेने का अधिकार समाप्त हो जायगा।

(आ) गोद देने की योग्यता बच्चे के माता पिता के अतिरिक्त किसी व्यक्ति मे नही होगी (धारा ६२), पिता के मरने, सन्यासी बनने या धर्मान्तर ग्रहण करने पर माता बच्चे को गोद दे सकती है, बशर्त्ते कि पति ने किसी रजिस्टर्ड लेख या वसीयत द्वारा इस कार्य का निषेध न किया हो।

(इ) गोद लिये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता के सम्बन्ध मे वर्त्तमान कानून मे अनेक पक्ष है, नीलकण्ठ के मतानुसार विवाहित और पुत्रवान् पुरुष भी गोद लिया जा सकता है, इस मे आयु का कोई बन्धन नही है (पृ० ५०९)। कोड ने इसके लिये अविवाहित होना तथा पन्द्रह वर्ष से कम होना आवश्यक बताया है (धारा ६३)। इकलौते बेटे[६३], दोहते, भाजे और मौसी के लड़के को गोद लेने के सम्बन्ध मे कुछ सदेह था; वर्त्तमान कोड द्वारा इन्हे स्पष्ट रूप से दत्तक पुत्र बनने योग्य ठहराया गया है (धारा ६४)।

गोद लेने के लिये दत्तक होम (दे० पृ० ५११) आवश्यक नही रखा गया (धारा ६५)। गोद लिये जाने वाले व्यक्ति के लिये माता पिता के वर्ण का होना आवश्यक नही रहा।

---

६३. इकलौते पुत्र के सम्बन्ध में वसिष्ठ के निम्न वचन (१५।३-४) पर न्यायालयों ने बड़ा ऊहापोह किया है—'न त्वेकं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा। स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्'-इस का अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है—इकलौते पुत्र को गोद लेना और देना नहीं चाहिये, क्योंकि वह पूर्वजों के (पिण्डदानादि आवश्यक कार्यों के निमित्त) सन्तान प्राप्त करने केलिये होता है। मांडलिक के मतानुसार इस वाक्य में हेतु का निर्देश है, अतः मीमांसा के नियमों के अनुसार यह विधि नहीं हो सकती, (व्यवहार मयूख एण्ड याज्ञवल्क्य पृ० ४९९)। मांडलिक ने इसकी पुष्टि जै० सू० १।२।२६-२७ से की है, अलाहाबाद हाईकोर्ट ने मांडलिक की व्याख्या की पुष्टि की है (१४ अला० ६७पृ० ७३), किन्तु प्रिवी कौंसिल ने इस व्याख्या में सन्देह प्रकट किया था (इं०ए० ११३ पृ० १४६)। वस्तुतः 'स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्' का अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुत्र की महत्ता बता कर गोद लेने की विधि की प्रशंसा की जाय (सरकार—मीमांसा रूल्स पृ० १७५-७६, काणे हि० ध० ३।६७६-७७, मेन–हिन्दू ला पृ० ३९-४०)।

) दत्तक पुत्र के अधिकार के सम्बन्ध में कोड द्वारा महत्वपूर्ण परिवर्तन हैं। इस विषय मे वर्त्तमान व्यवस्था वहुत असन्तोपजनक है, दत्तक व्यक्तियो को अधिकारच्युत कर सकता है, जो उसके गोद लिये जाने के अधिकारी थे। इस समय गोद लिया हुआ पुत्र, चाहे वह कभी गया हो, गोद लेने वाली अपनी विधवा माता द्वारा हस्तान्तरित की ` के अधिकार मे दी हुई सम्पत्ति को वापिस लेने के लिये अभियोग हैं। पति की मृत्यु के ४० वर्ष वाद गोद लिया जाने वाला लड़का सकता है (दे० ऊ० पृ० ५०४)। हिन्दू कानून मे सभवत सब से अभियोग इस सम्बन्ध में होते हैं। इस से सयुक्त परिवार की सम्पत्ति । खतरा पहुँचा है (काणे-हि ध० ३।६७३-७४)। इसके अतिरिक्त १ अन्य भीषण दुष्परिणाम यह है कि दत्तक पुत्र अपनी नई विधवा माता सम्पत्ति छीन कर अपने अधिकार मे कर लेता है, गोद लेनेवाली उसे कोई स्वाभाविक स्नेह नहीं होता, अत कई वार वह उसकी त्ति लेकर भाग खडा होता है और माता के लिये जीवन निर्वाह हो जाता है।

शोचनीय दशा का अन्त करने के लिये कोड मे दो व्यवस्थायें है—(१) को उसके अधिकार अपने नये गोद लेने वाले पिता की मृत्यु की तारीख ., कर, गोद लेने की तिथि से मिलेगें। (धारा ६७) इससे वह ` से पूर्व हस्तान्तरित की हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध में कोई झगड़ा नही सकता। (२)दत्तक पुत्र अपनी नई माता की सारी सम्पत्ति पर अधि-कर सकेगा, वह केवल आधी सम्पत्ति ले सकेगा, शेप आधी पर का अधिकार रहेगा। (धारा ६८)

) दत्तक पुत्र सम्बन्धी मुकद्मेवाजी कम करने के लिये यह व्यवस्था है कि गोद लेने के कार्य की रजिस्टरी आवश्यक है (धारा ७४-७६), ३ वनाने के नव्वे दिन के भीतर अपने जिले की अदालत में गोद लेने के । पजिकावद्ध (रजिस्टर्ड) करने के लिये प्रार्थनापत्र देना आवश्यक प्रकार अदालत मे रजिस्टरी ही गोद लेने का वैध प्रमाण होगा।

१) इस समय दत्तक पुत्र के अतिरिक्त कृत्रिम, द्वयामुष्यायण आदि गोद कई प्रथायें है (दे० ऊ० पृ० ५१४-१५)। हिन्दू कोड द्वारा इन सब की कर दी गयी है। यत इस कोड का उद्देश्य हिन्दू कानून मे एकरूपता और विभिन्न रीति रिवाज इसमे प्रवल वाधक है, अत इसमे यह कहा गया

है कि दत्तक के अतिरिक्त गोद लेने की कोई और प्रथा कानून द्वारा मान्य न होगी। इस व्यवस्था का दूसरा कारण यह है कि द्वयामुष्यायण प्रकार का पुत्र बनाने का प्राय. यह उद्देश्य होता है कि सम्पत्ति दो परिवारो तक ही सीमित हो जाय। गोद लेने का वास्तविक प्रयोजन पुत्र का अभाव पूरा करना है, न कि सम्पत्ति को हथियाने का यत्न करना। अतः कोड मे उचित ढग से तथा उपयुक्त प्रयोजन की पूर्ति के लिये कानून द्वारा स्वीकृत एव निश्चित विधि से ही गोद लेने की व्यवस्था की गयी है, अन्य सब रीति-रिवाज रद्द कर दिये गये है।

(घ) स्त्रीधन—'स्त्री के ही समान इस अत्यन्त जटिल विषय' को हिन्दू कोड मे बहुत सरल बना दिया गया है। इसके स्वरूप, और उत्तराधिकार विषयक पेचीदगियो का पहले उल्लेख हो चुका है (दे० ऊ० पृ० ५५८-५८४)। कुमारी तथा विवाहिता के स्त्रीधन को पाने वाले उत्तराधिकारियो का क्रम, दायभाग, मिताक्षरा और मिथिला सम्प्रदायो में अलग-अलग है। स्त्रियो की सम्पत्ति के इस समय दो प्रकार है—(१) स्त्रीधन (२) विधवा की सम्पत्ति। इन दोनों के उत्तराधिकारी भी अलग-अलग होते है (दे० सत्रहवाँ अध्याय)। विधवा को अपने पति की सम्पत्ति की आमदनी के उपभोग का ही सीमित स्वत्व होता है, उसे इच्छानुसार विनियोग का पूर्ण प्रभुत्व (Absolute Estate) नही है। उसकी मृत्यु के बाद यह सम्पत्ति उसके पति के उत्तराधिकारियो को मिल जाती है। इसके दुष्परिणामों का भी पहले उल्लेख किया जा चुका है (दे० ऊ० पृ० ५९८-६००)।

हिन्दू कोड बनानेवालों के सामने इस विषय मे दो मुख्य प्रश्न थे—(१) स्त्रीधन और विधवा की सम्पत्ति के दो मुख्य प्रकार और उन के उत्तराधिकारियों का विभिन्न क्रम जारी रखा जाय या नही, (२) स्त्री को सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व दिया जाय या नही। हिन्दू कानून में एकरूपता लाने के लिये यह आवश्यक समझा गया कि स्त्री की सब प्रकार की चल, अचल, विवाह से पहले, बाद मे और वैधव्य काल में प्राप्त, उत्तराधिकारी होने से उपलब्ध, दान, परिश्रम या क्रयादि किसी भी प्रकार से मिली सम्पत्ति पर स्त्री का पूर्ण प्रभुत्व समझा जाय (धारा ९१)। नि सन्देह, यह व्यवस्था विज्ञानेश्वर द्वारा की गयी स्त्रीधन की व्याख्या के सर्वथा अनुकूल है[६४] और हिन्दू परिवार मे मुकद्दमेबाजी की एक बडी जड़ काटने वाली है। यह

६४. याज्ञ० २।१४३ आद्यशब्देन रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहादिप्राप्तमेतत् स्त्रीधनम्।

में नहीं आती कि स्त्री को जव स्त्रीधन की सम्पत्ति के विक्रय का
तो पति द्वारा विरासत में प्राप्त सम्पत्ति के यथेच्छ विनियोग का
न दिया जाय ? स्त्रियां यदि सम्पत्ति के एक भाग को इच्छानुसार
अथवा वेचने की वुद्धि रखती हैं, तो उन्हें अपनी सम्पत्ति के दूसरे
वेचने योग्य समझना चाहिये। इस तर्क के आधार पर कोड मे स्त्री
सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पूर्ण प्रभुत्व दिया गया है। विधवा के वाद सम्पत्ति
करने के उत्तराधिकारियो का अधिकार इस विल द्वारा समाप्त
है।

की एक महत्वपूर्ण व्यवस्था दहेज के सम्वन्ध में है(धारा ९३)।
के दुष्परिणामों को रोकने के लिये यह नियम वनाया गया है कि
लड़की को जो सम्पत्ति दी जाय, उसे वतौर अमानत (ट्रस्ट)
, १८ वर्ष की अवस्था पूरी होने पर यह सम्पत्ति उस स्त्री को दे दी
न तो उसके पति को तथा न उसके पति के सम्वन्धियो को उस
प्रलोभन होगा, न ही वे उस सम्पत्ति को वरवाद करके लड़की को
के लिये असहाय वना सकेगें।

की सम्पत्ति के उत्तराधिकार की पृथक् प्रणालियों का अन्त कर,
की सम्पत्ति का दायाद-क्रम एक जैसा कर दिया गया है।

ोन हिन्दू उत्तराधिकार विल—(Intestate Hindu
ion Bill) २६ मई १९५४ के असाधारण सरकारी
२ इस विधेयक मे हिन्दू कोड विल की उत्तराधिकार सम्वन्धी
को कुछ परिवर्तनो के साथ दोहराया गया है। इनमें निम्न विशेष
है—

ैतृक सम्पत्ति में कन्या को पुत्र की अपेक्षा आधा भाग देना—पहले
जा चुका है कि अविवाहिता कन्या द्वारा पैतृक सम्पत्ति में
करने का वैदिक साहित्य मे उल्लेख है (ऋ० २।१७।७) यास्क ने
ी दोनो के रिक्थहर होने का तथा भाई के अभाव में वहन को
ने का वर्णन किया है (दे० ऊ० पृ० ५२२-३), धर्म सूत्रो मे
शंख लिखित कन्या द्वारा पैतृक सम्पत्ति ग्रहण करने का उल्लेख करते
९।११८) और याज्ञवल्क्य (२।१२४) भाइयो को अपने हिस्से
भाग वहनो को देने के लिये कहते हैं। पहले यह वताया जा चुका
निवन्धकारो में इस चतुर्थांश के सम्वन्ध मे दो पक्ष थे। अस-

ह्राय, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, नीलकण्ठ, मित्रमिश्र और विश्वेश्वर भट्ट उपर्युक्त वचनो के आधार पर बहिनो को भाइयो के साथ पैतृक सम्पत्ति मे अशहर मानते थे, किन्तु भारुचि, अपरार्क, देवण्ण भट्ट, जीमूतवाहन, पराशर-माधवीय, सरस्वतीविलास, विवादरत्नाकर तथा विवादचिन्तामणि कन्याओ को दायाद न मानते हुए इस व्यवस्था को बहिनो के विवाह के लिये होने वाले व्यय तक सीमित करते थे (दे० ऊ० पृ० ५३१-३)। वर्तमान अदालतो ने भी इस व्यवस्था को स्वीकार किया है। दहेज की प्रथा के प्रसार के कारण प्राय: यह समझा जाता रहा है कि कन्या को पैतृक सम्पत्ति मे अपना अश मिल जाता है। इसके अतिरिक्त कन्या के विवाहित होने के बाद दूसरे स्थान मे चले जाने के कारण उसे पैतृक सम्पत्ति मे अंशहर बनाने में क्रियात्मक कठिनाइया भी है (दे० ऊ० पृ० ५४१-२)। वर्तमान काल में नर-नारी के समानाधिकारो का आन्दोलन प्रबल होने पर यह अनुभव किया जाने लगा कि पैतृक सम्पत्ति मे पुत्री को भी पुत्र की भाति दायाद माना जाना चाहिये। वैदिक व्यवस्था का अनुसरण करते हुए पहले यह अधिकार अविवाहिता कन्याओ को ही दिया जाने का सुझाव रखा गया, किन्तु इससे धनी परिवारों में कन्याओ द्वारा जानबूझ कर अविवाहित रहने से अनैतिकता की वृद्धि की सभावना थी। अत. राव समिति ने हिन्दू कोड मे सब कन्याओ को पुत्रो के हिस्से से आधा भाग सिफारिश की थी, पुत्रो से आधा भाग इस लिये रखा गया था कि वे दहेज के रूप मे पैतृक सम्पत्ति से काफी अश पाती है। हिन्दू कोड के लोक सभा मे उपस्थित होने पर निर्वाचित समिति ने पुत्रियो का हिस्सा पुत्रो के बराबर कर दिया था, किन्तु यह व्यवस्था पुत्र और पुत्री के अश मे विषमता उत्पन्न करने वाली थी, अत. नये बिल मे पुन. लडकियो को लड़कों से आधा भाग देने का प्रस्ताव रखा गया है।

(आ) उत्तराधिकार सम्बन्धी नियम—इस सम्बन्ध में नये विल की व्यवस्थायें हिन्दू कोड जैसी है। मिताक्षरा की व्यवस्था मे १४वी पीढी तक के सम्बन्धी (समानोदक) दायाद हो सकते है, नये विल में पितृ एवं मातृकुल की पाच पीढियो तक ही दायादो की संख्या मर्यादित कर दी गयी है, आचार्य और शिष्य को दायादो की सूची से निकाल दिया गया है। दायादों की श्रेणिया निर्वाचित समिति द्वारा सशोधित हिन्दू कोड के अनुसार रखी गयी है। किसी व्यक्ति के मरने पर १९३७ तक उसके बाद उसका पुत्र, पूर्व मृत पुत्र का पुत्र, पूर्व मृत पुत्र के पूर्व मृत पुत्र का पुत्र—केवल तीन व्यक्ति ही पैतृक सम्पत्ति के एक

दायाद (Simultaneous heirs) होते थे। १९३७
सम्पत्ति पर अधिकार' कानून द्वारा इनमें तीन दायाद और बढाये
व्यक्ति की विधवा, पूर्व मृत पुत्र की विधवा तथा पूर्वमृत पुत्र के
की विधवा। अब इन में कन्या को और जोड़ा गया है। इस प्रकार
अनुसार अब सात व्यक्ति एक साथ मृत पुरुष की सम्पत्ति के उत्तरा-
`। ये सब दायाद प्रथम श्रेणी मे आते हैं। इसके बाद द्वितीय श्रेणी
१० वर्गो में बाटे गये हैं, ये पहली श्रेणी के दायादो के तथा पूर्व, पूर्व
धकारियो के अभाव में ही रिक्थहर होगे। इनके न होने पर मृत
ोत्र की पाच पीढी तक के सम्बन्धी (Agnate) तथा इन के अभाव
के स्त्रीपक्ष के पाच पीढी तक के बन्धु (Cognate) उत्तरा-
ागे। समूची हिन्दू जाति के कानून को एकरूप बनाने के लिये मरु-
., अलिय सन्तान (दे० ऊ० पृ० ३३४) तथा नम्बूदरी कानून
व्यक्तियो को भी इस बिल में सम्मिलित किया गया है, और
में स्त्रियो के उत्तराधिकार द्वारा सम्पत्ति ग्रहण के लिये अनेक विशेप
की गयी हैं।

दायादो की अयोग्यतायें—पहले (पृ० ३१९-२४) यह बताया जा
किन अवस्थाओ में हिन्दू कानून कुछ व्यक्तियो को उत्तराधिकार मे
८ करने का अधिकारी नहीं समझता। ऐसे दायानर्ह व्यक्तियो के
१८५० के 'जाति अयोग्यता निवारक'[६५] तथा १९२८ के 'हिन्दू रिक्थ
८ निवारण)' कानूनो ने कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। अब इस
नई व्यवस्थायें प्रस्तावित की गयी हैं। इन मे निम्न उल्लेखनीय
१८५० के उपर्युक्त कानून द्वारा यह व्यवस्था की गयी थी कि हिन्दू
८ कर इस्लाम, ईसाइयत आदि अन्य धर्म ग्रहण करने वाले व्यक्ति
रिक सम्पत्ति मे स्वत्व बना रहता था, इससे पहले हिन्दू धर्म छोडने
पैतृक सम्पत्ति पर अपना अधिकार खो बैठता था। किन्तु १८५०
का प्रभाव केवल धर्मान्तर करने वाले व्यक्ति तक ही सीमित था[६६],

यह कानून पहले १८३२ ई० के सातवें बंगाल रेग्यूलेशन के रूप
लागू किया गया था। १८५० में इसे सारे भारत में लागू किया गया।
इस कानून का लाभ केवल धर्मान्तर करने वाले व्यक्ति को मिलता
उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा। क के दो पुत्र ख ग हैं, ख की

नये बिल की व्यवस्थाओ से धर्मान्तर ग्रहण करने वाले व्यक्ति की सन्तान को अपने हिन्दू सम्वन्धियो की सम्पत्ति प्राप्त करने के अधिकार से वचित कर दिया गया है, हिन्दू होने की दशा मे ही ये पारिवरिक सम्पत्ति को ग्रहण कर सकते हैं।

(ख) इसके अतिरिक्त दायाधिकार से वचित किये जाने वाले अन्य व्यक्ति निम्न हैं—वानप्रस्थ, सन्यासी, यति या नैष्ठिक ब्रह्मचारी (आजीवन विवाह न करने वाला) होकर ससार छोडने वाला व्यक्ति, विवाह के बाद पति के जीवन काल मे असाध्वी रहने वाली स्त्री, बशर्ते कि पति ने उसके ऐसे आचरण को क्षमा न किया हो, पुनर्विवाह करने वाली विधवाये, सम्पत्ति के स्वामी की हत्या करने वाला उसका उत्तराधिकारी। (ग) शारीरिक और मानसिक अनर्हताओ की समाप्ति—कोढादि बीमारियो, अन्धापन आदि शारीरिक दोषो एवं पागलपन और मूर्खतादि मानसिक विकारो के कारण प्राचीन काल में व्यक्ति दाय के अधिकारी नही समझे जाते थे (दे० ऊ० पृ० ३१९-३२१)। १९२८ के 'हिन्दू उत्तराधिकार (अनर्हता निवारक)' कानून के अनुसार उन सब अनर्हताओ को समाप्त कर दिया गया, केवल दो प्रकार के व्यक्ति ही दायानर्ह रह गये—जन्म से पागल और जन्मजात मूर्ख। नये विल मे इन दोनो अनर्हताओं को भी समाप्त कर दिया गया है। अव कोई भी व्यक्ति किसी मानसिक विकार अथवा शारीरिक दोष के कारण दायाधिकार से वचित नही किया जा सकेगा[६७]।

सन्तान च छ तथा ग के लड़के ज झ हैं। ख यदि मुसलमान हो जाता है तो उसे क की सम्पत्ति का आधा हिस्सा प्राप्त हो जायगा, किन्तु न तो उसके मुस्लिम पुत्र च छ क की सम्पत्ति में किसी हिस्से की मांग कर सकते हैं और नहीं ज झ, ख की सम्पत्ति में कोई हिस्सा लेने के हकदार हैं। दे० मितर सैन ब० मकबूल हसन ५७ इं० ए०, ३१३ आ० इं० रि० १९३० प्रि० कौ० २५१

६७. प्राचीन काल में शारीरिक दोष और मानसिक विकार वाले व्यक्तियों को दायाधिकार से वंचित करने का कारण इनका यज्ञादि धर्म कार्य करने में असमर्थ होना तथा अपने दोषों के कारण कोई कार्य या व्यापार करने की असमर्थता थी। (दे० ऊ० पृ० ३२४-५)। यद्यपि प्राचीन काल में यज्ञ कर्म को बहुत महत्ता दी जाती थी, किन्तु इन कार्यों की असमर्थता दायानर्ह होने का एकमात्र कारण नही था, क्योंकि यज्ञाधिकार से वंचित शूद्रों में भी

इस विल मे स्त्रीघन के स्वरूप, उसपर स्वत्व और उसके उत्तराधिकार
में किये गये परिवर्त्तन हिन्दू कोड जैसे ही हैं। स्त्री द्वारा वटवारे,
दि सब वैध उपायो से प्राप्त सम्पत्ति स्त्रीधन होगी और इसपर
स्वत्व होगा—वशर्ते कि यह ऐसी सम्पत्ति न हो, जो उसे किसी
दान द्वारा किसी विशेष प्रतिवन्ध के साथ मिली हो। स्त्रीघन के
र की वर्त्तमान जटिल पद्धति को सरल वना दिया गया है, अव इसमे
अविवाहित, ब्राह्म, आर्षादि उत्तम प्रकारो से तथा आसुर आदि निन्दित
विवाहित आदि का भेद नहीं रखा जायगा। इसके उत्तराधिकार की
प्रकार से एकरूप और सरल वना दी गयी है। स्त्रीधन का सर्वप्रथम
मृत व्यक्ति की सन्तान होगी, इसमें पूर्वमृत सन्तान के वच्चे भी
हैं। इसके वाद पूर्व पूर्व के अभाव मे स्त्रीधन के उत्तराधिकारी
से इस प्रकार होंगे —(२) पति, (३) माता और पिता (४)
(५) माता के उत्तराधिकारी (६) पिता के उत्तराधि-
विल हिन्दू परिवार की केवल ऐसी सम्पत्ति पर लागू होगा, जिसके
वसीयत न की गयी हो। इस विल की व्यवस्थाओ को नापसन्द करने
वसीयत द्वारा अपनी सम्पत्ति के वटवारे की मनोवाछित व्यवस्था
है।

दस वर्ष से हिन्दू कोड विल तथा उपर्युक्त विलो पर हिन्दू समाज मे
हो रहा है। वस्तुत यह कट्टरपथी और प्रगतिशील विचारधाराओं
है। रूढिवादी इन विलो के घोर विरोधी हैं। उनके भीषण
कारण ही अभी तक ये विल कानून का रूप नही धारण कर सके।
से इन विलो का विरोध मुख्यत. निम्न आधारो पर किया जाता
ये हिन्दू धर्म की प्राचीन परम्परा के विरुद्ध हैं। (२) वर्त्तमान
या विधान सभाओ को ऐसे परिवर्त्तन करने का अधिकार नही है।

आदि दायाद नहीं वन सकते थे (सुरय्या व सुब्वाम्मा ४३ म० ४,
अतः इन्हें दाय से वंचित करने का मुख्य कारण इनका किसी प्रकार
की असमर्थता थी (जाली-हिन्दू ला एण्ड कस्टम पृ० १८२),
धायन ने इन्हें नावालिगो के साथ गिना है (२।२।३।३६, ३७-४०)।
ल में इन्हें दायाधिकार देने का कारण समानता का सिद्धान्त
तथा मानसिक दोषो वाले व्यक्तियों के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार
है।

कट्टरपंथियो की पहली और प्रधान युक्ति यह है कि सनातन वेद एव वेदानुसारी आर्ष धर्मग्रन्थ हिन्दू समाज का आधार है, इनमे किसी प्रकार का कोई परिवर्त्तन नही हो सकता। वेद प्रतिपादित शाश्वत व्यवस्था को ईश्वर के अतिरिक्त कोई वदल नही सकता। किन्तु ऐसा मत रखने वाले कट्टरपन्थी प्राय यह भूल जाते है कि प्राचीन शास्त्रो मे इस बात का स्पष्ट रूप से विधान है कि समय-भेद के अनुसार रीति-रिवाज वदल जाते है; हिन्दू समाज मे बीसियो ऐसी रीतियां है, जो श्रुति द्वारा प्रतिपादित होने पर भी मध्यकाल मे शास्त्रकारो ने कलिवर्ज्य के नाम से निषिद्ध ठहरायी। ब्रिटिश काल के प्रारम्भ तक पाच हजार से अधिक धर्मशास्त्री हिन्दू व्यवस्थाओ का समयानुकूल सशोधन करते रहे है[६८]। प्राचीन काल मे कालभेद के अनुसार धर्मो के परिवर्त्तन का मनुस्मृति मे स्पष्ट उल्लेख है। इसके अनुसार चारो युगो मे धर्म वदलते रहते है, कृतयुग में तप, त्रेतायुग में ज्ञान, द्वापर मे यज्ञ और कलियुग मे दान सब से बडा धर्म होता है[६९]। पराशर स्मृति ने न केवल युगभेद से धर्मभेद का उल्लेख किया है (१।२२), किन्तु प्रत्येक युग मे प्रामाणिक माने जाने वाले धर्मशास्त्रकारो का भी निर्देश किया है—'कृतयुग मे मनु द्वारा वताये, त्रेता में गौतम द्वारा प्रतिपादित, द्वापर मे शख लिखित द्वारा तथा कलियुग मे पराशर द्वारा निर्दिष्ट धर्म (पालनीय) होते है[७०]। इसके अतिरिक्त प्राचीन स्मृतिकारो ने यह घोषणा

---

६८. उदाहरणार्थ जब भारत पर मुस्लिम आक्रमण हुए और मुसलमानों द्वारा छीने हुए हिन्दुओं की शुद्धि का प्रश्न उठा तो इसका हल करने के लिये सिन्ध् तीर पर देवल मुनि ने नई स्मृति का निर्माण किया—सिन्धु तीरे सुखासीनं देवलं मुनिसत्तमम्। समेत्य मुनयः सर्वे इदं वचनमब्रुवन्। भगवन्म्लेच्छनीता हि कथं शुद्धिमवाप्नुयुः (१-३)। काणे ने हिस्टरी आफ् धर्मशास्त्र के प्रथम खण्ड में पांच हजार से अधिक ग्रन्थों और लेखकों की सूची दी है (पृ० ५०७-७६०)।

६९. मनु० १।८५-८६ अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे। अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः॥ तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥ ये श्लोक महाभारत (१२।२३२। २७-२८), पराशर स्मृति (१।२२-२३) और बृहत्पराशर (१, पृ० ५५) में भी मिलते हैं।

७०. पराशर १।२४ कृते तु मानवो धर्मस्त्रेतायां गौतमः स्मृतः। द्वापरे

की है कि शास्त्र द्वारा प्रतिपादित धर्म भी यदि जनता द्वारा निन्दित हो तो उसका परित्याग करना चाहिये। मनु ने न केवल धर्मविरुद्ध अर्थ और काम का अपितु लोक विरोधी धर्म का भी पालन न करने का विधान किया है। याज्ञ० (१।१५६) विष्णु धर्म सूत्र (७१।८४-८५), विष्णु पुराण (३।११।७), वृहन्नारदीय पुराण (२४।१२) शुक्रनीति (३।६४) और वार्हस्पत्य सत्र ने धर्म होने पर भी लोकविरुद्ध कार्य के आचरण का निपेध किया है[७१]। पहले यह वताया जा चुका है कि विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य के उपर्युक्त वचन (१। १५६) के आधार पर सम्पत्ति के वटवारे मे वडे भाई को विशेप हिस्सा देने की प्राचीनकाल में प्रचलित और शास्त्रोक्त व्यवस्था का विरोध किया था (या० २।११७ पर मिता० तथा ऊ० दे० पृ० ३७८)

मध्ययुग में हिन्दू कानून के समयानुकूल सशोधन और परिवर्त्तन का कार्य शास्त्रकारो ने 'कलिवर्ज्यों' की व्यवस्था द्वारा किया। उस समय के समाज में वैदिक एव प्राचीन युगो से वडा अन्तर पड़ गया था। अश्वमेध, राजसूय, अग्निहोत्रादि वैदिक यज्ञो की परिपाटी लुप्त हो चुकी थी, वडे पुत्र को सम्पत्ति मे विशेप अश (उद्धार) देने, देवर से नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने, श्राद्ध में मास और शराव देने, दत्तक तथा औरस के अतिरिक्त क्षेत्रजादि गौण पुत्रों को स्वीकार करने की परिपाटी हिन्दू समाज से उठ चुकी थी। ये सव वाते शास्त्रविहित होने पर भी लोकाचार विरोधी थी। इन्हे अमान्य ठहराने के लिये

शांखलिखित. कलौ पाराशरः स्मृतः ॥ आचार रत्न (पृ० १३) में यह श्लोक वृहस्पति के नाम से उद्धृत है।

७१ मनु० ४।१७६ परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ। धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविक्रुष्टमेव च ॥ कुल्लूक की व्याख्या के अनुसार मनु ने यहां दो प्रकार के धर्मविहित कार्यं को न करने को कहा है —(१) जिसका परिणाम (उदर्क) भविष्य में सुखकर न हो, जैसे पुत्रादि के होते हुए सारी सम्पत्ति का दान करना (२) लोक विरोधी कार्य जैसे कलियुग में अष्टकादि में गोवध। विष्णु पुराण (३।११।७) में मनु से मिलती-जुलती व्यवस्था है—परित्यजेदर्थकामौ धर्मपीडाकरौ नृप। धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥ याज्ञ० १।१५६ अस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं धर्म्यमप्याचरेन्न तु। वार्हस्पत्य सूत्र ५।२६ धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात् लोकविरुद्धं न चरेत्। विष्णु धर्म सूत्र ७१।८४-८५ धर्मविरुद्धौ चार्यकामौ। लोकविद्विष्टं च धर्ममपि (परिहरेत्)।

धर्मशास्त्रियों ने यह कल्पना की कि ये प्राचीनकाल में पालन करने योग्य धर्म थे, जब कि मनुष्यो के नैतिक आदर्श का स्तर वहुत ऊचा था। कलिकाल में पाप बढ़ जाने के कारण नियोगादि धर्म शास्त्रप्रतिपादित होने पर भी निषिद्ध हैं। कलिकाल में इस प्रकार वर्जित ठहराये जाने वाले धर्म 'कलिवर्ज्य' कहलाये। बारहवी और तेरहवी शती के स्मृत्यर्थसार, स्मृतिचन्द्रिका तथा हेमाद्रि के ग्रंथों में कलिवर्ज्यों की पहली विस्तृत सूचिया मिलती हैं[७२]। इन मे पचपन कलिवर्ज्य गिनाये गये हैं। इनके विश्लेषण से ज्ञात होता है कि एक चौथाई कलिवर्ज्य वेदविहित यज्ञो[७३] (पुरुषमेध, १२ दिन से १२ वर्ष तक चलने वाले सत्र नामक लम्बे यज्ञ, गोसव) तथा इन यज्ञों में हिंसा तथा सुरापानादि को वर्जित ठह-

---

७२. कलिवर्ज्यों के विस्तृत विवेचन के लिये दे० काणे—हिस्टरी आफ धर्मशास्त्र खण्ड ३ पृ० ८८५-९६४। इसी ग्रन्थ के पृ० १०१३ पर इनकी विशद सूची दी गयी है। प्रारम्भ में कलिवर्ज्यों की संख्या कम थी (स्मृति चन्द्रिका खं० १, पृ० १२) में ऋतु के निम्न वचन द्वारा चार बातों (नियोग, स्त्री का पुनर्विवाह, यज्ञ में गोवध, स्नातक द्वारा शौच के लिये कमण्डलु धारण) का कलियुग में निषेध है—(देवराच्च सुतोत्पत्तिः दत्ता कन्या न दीयते। न यज्ञे गोवधः कार्यः कलौ च न कमण्डलुः ॥)। अपरार्क द्वारा उद्धृत (पृ० ९८) ब्रह्मपुराण के एक वचन में तीन ही कलिवर्ज्य गिनाये हैं—स्त्री का पुनर्विवाह, नियोग और स्त्रियों की स्वतन्त्रता और इस का कारण पाप की वृद्धि बताया गया है—स्त्रीणां पुनर्विवाहस्तु देवरात्पुत्रसन्ततिः। स्वातन्त्र्यं च कलियुगे कर्त्तव्यं न कदाचन ॥ यतः पातकिनो लोके नराः सन्ति कलौ युगे ॥ स्मृति चन्द्रिका में उद्धृत पुराण के एक वचन में तथा स्मृतिमुक्ताफल में इन की संख्या पांच है (स्मृच० १।१२ ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पंच न कुर्वीत भ्रातृजाया कमण्डलुम् ॥ स्मृति मुक्ताफल वर्णाश्रम धर्म पृ० १७६ अग्निहोत्रं गवालम्भं संन्यासं पल पैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्ति कलौ पंच विवर्जयेत् ॥) 'स्मृत्यर्थसार' (ृ० २) में २६ छब्बीस कलिवर्ज्य गिनाये गये हैं। बाद के ग्रन्थों में यह संख्या ५५ तक पहुंच गयी है।

७३. तै० सं० ५।३।१२।२ तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। बृहन्नारदीय पुराण (पूर्वार्ध २४।१३-१६)—समुद्रयात्रा स्वीकार: कमण्डलुविधारणम्।.........नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं च नरमेधाश्वमेधकौ। महाप्रस्थानगमनं गोमेधश्च तथा मखः। एतान् धर्मान् कलियगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः ॥

। वानप्रस्थ और सन्यास को कलियुग में निषिद्ध ठहराने वाले वचन
-व्यवस्था पर कुठाराघात करने वाले थे। कलिवर्ज्यो की इस
८ द्योतित होता है कि भगवती श्रुति द्वारा विहित धर्मों मे परिवर्त्तन
कट्टरपंथियो का 'एप धर्म. सनातन' का विचार ऐतिहासिक दृष्टि
। हमारी सामाजिक परम्परायें और रूढियां समयानुसार वदलती
अत: 'अपरिवर्त्तनीय, शाश्वत एव सनातन हिन्दू धर्म' कोरी कल्पना

के अतिरिक्त विविध निवन्ध ग्रन्थो के निर्माण द्वारा मध्यकाल
में समयानुकूल परिवर्त्तन और सशोधन स्वीकार किये जाते थे।
उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है। इस प्रदेश मे पहले लक्ष्मीधर
प्रामाणिक समझा जाता था, पुनः १३ वी शती के अन्त मे
चण्डेश्वर(१३१४-१३२४) के विवाद रत्नाकर ने ग्रहण किया।
वाचस्पति मिश्र के (१४५०-१४८० ई०) विवादचिन्तामणि को
प्राप्त हुआ[९५]। मध्यकालीन निवन्धकार अपने व्याख्या कौशल से
ओ को कैसे समयानकूल वनाते थे, इसे पहले स्पष्ट किया जा
दे० ऊ० पृ० ३७७-९)। प्रिवी कौन्सिल ने इस सम्वन्ध में
है—"स्मृतियो के अनुसार कानून की व्याख्या का दावा करते हुए
ो ने अनेक परिवर्त्तन किये, ताकि कानून जनता द्वारा अनुसरण
वाले आचार के अनुकूल हो सके"[९६]। एक अन्य निर्णय में यह
कि मिताक्षरा अनेक स्थानो पर शास्त्र को लोकाचार का अनुवर्त्ती
। अत. यह स्पप्ट है कि प्राय जड़ता का प्रतीक समझे जाने वाले

इस विषय की संक्षिप्त विवेचना के लिये दे० अल्तेकर—सोर्सेज
धर्म १९५२ (शोलापुर)
गंगानाथ झा—मनुस्मृति नोट्स भाग ३, भूमिका पृ० २५
भगवान सिंह व० भगवान सिंह (१८९९) २६ इं० ए० १५३,

भैया रामसिंह व० भैया डगरसिंह (१८७०) १३ म्यू० इं० ए०
। प्रिवी कौन्सिल ने अपने एक प्रसिद्ध निर्णय में यह माना है कि
में रूढ़ि या परम्परा का स्पप्ट प्रमाण शास्त्रीय वचन से अधिक महत्ता
कलेक्टर आफ मदुरा व० मुट्टू रामलिंग (१८६८) १२ म्यू० इं०

मध्यकाल मे समयानुकूल परिवर्त्तन की प्रगतिशील भावना हिन्दू समाज मे वनी रही। इसका अन्त ब्रिटिश काल में न्यायालयो द्वारा मध्यकालीन निवन्धग्रन्थो को परम प्रमाण मानने तथा उनके आधार पर निर्णय करने से हुआ है।

हिन्दू कोड के विरोधियो की दूसरी युक्ति यह है कि लोकसभा को हिन्दू कानून में सशोधन का अधिकार नही है। "सनातन वेद एवं वेदानुसारी आर्य-धर्मग्रन्थ ही हिन्दुओ का विधान है, उस मे रद्दोवदल करने का अधिकार राम कृष्ण आदि अवतारो और मनु, वसिष्ठ विश्वामित्रादि ऋषियो को भी नही, फिर वर्त्तमान धारासभा उसमें रद्दोवदल का साहस कैसे कर सकती है"[७८]। इस सम्बन्ध में यह भुला दिया जाता है कि सनातन वैदिक विधान मे प्राचीन ओर मध्यकाल में महत्वपूर्ण परिवर्त्तन होते रहे है। इसे ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। पिछले डेढ सौ वर्ष से हिन्दू कानून के सभी जटिल प्रश्नोका निर्णय सात समुद्र पार लन्दन मे प्रिवी कौन्सिल की जुडीशियल कमेटी के 'म्लेच्छ' ब्रिटिश जज करते रहे है। ब्रिटिश सरकार तथा उस समय की व्यवस्थापिका परिषदे विविध अधिनियमो[७९] द्वारा हिन्दू कानून के विभिन्न अंगों को वहुत प्रभावित एवं

ए० ३९७,४३६)। इसके अनुसार शास्त्र का प्रामाण्य रूढ़ि की तुलना में नगण्य है।

७८. हिन्दू कोड बिल और उसका उद्देश्य पृ० ५२

७९. इनमें निम्न उल्लेखनीय है —(१) १८२९ का लार्ड विलियम बेंटिक का सती प्रथा के निषेध का नियम (२) १८५० का जाति अनर्हता निवारक कानून-इसके अनुसार हिन्दू धर्म छोड़ने वाला व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति पर अपने स्वत्व नहीं खोता था। (३) १८५६ के हिन्दू विधवा पुनर्विवाह कानून ने विधवा विवाह को वैध बनाया। (४) १८७२, १९२३ तथा १९५४ के विशेष विवाह कानून ने हिन्दुओं को धर्मेतर (सिविल) तथा अन्तर्जातीय विवाहों और तलाक की सुविधा प्रदान की है। (५) १८७५ के भारतीय बालिग होने के कानून ने वयस्क होने की आयु १८ वर्ष की समाप्ति मानी। (६) १९२८ के हिन्दू उत्तराधिकार अनर्हता निवारक कानून ने जन्मजात पागलपन और मूर्खता के अतिरिक्त दायहरण की अन्य सब अयोग्यताओं को रद्द कर दिया। (७) १९२९ के हिन्दू उत्तराधिकार संशोधन कानून ने पोती, दोहती, बहिन और भांजे को दादा के बाद और चाचा से पहले उत्तराधिकारी बनाया (८) १९२९ तथा १९४९ के बाल विवाह निषेधक कानून ने १५ वर्ष से कम आयु की कन्या का तथा

। अतः हिन्दू कोड विरोधियों की इस युक्ति में भी
साधारण जनता का उग्र विरोध होते हुए भी अगले कुछ
विविध विलों के पास होने की पूरी आशा है और
परिवर्त्तन होंगे, जन्मना स्वत्ववाद के मिताक्षरा
की समाप्ति होगी, पैतृक सम्पत्ति मे कन्याओं
पर स्त्रियो का सीमित स्वत्व समाप्त होगा और
मिलेगा, दत्तक पुत्र लेने के तथा उत्तराधिकार
और समयानुकूल हो जायेंगे ।
पर प्रभाव डालने वाले उपर्युक्त तत्वो की विवेचना
होने वाले परिवर्त्तनो की मीमासा उचित प्रतीत
मे निम्न परिवर्त्तनों का होना अवश्यम्भावी प्रतीत
क्षीण होना (२) सयुक्त परिवार का विघटन
आना। (४) कानूनी विषमताओं की समाप्ति।
—हिन्दू परिवार में पति और पिता के
शक्ति प्राप्त रही है। महाकवि कालिदास
सर्वतोमुखी प्रभुता है[८०]। पहले इसके कारणों

विवाह वर्जित ठहराया। (९) १९३० में
विद्या द्वारा उपार्जित द्रव्य कमाने वाले की
१९३७ के 'आर्य विवाह कानून' के अनुसार
वैध बनाये गये। (११) १९३७ के 'हिन्दू
' ने विधवाओं को पति की सम्पत्ति में
हिन्दू स्त्रियों के पृथक् निवास और
स्त्रियों को पति से अलग रहने तथा भरण
३) १९४६ में सगोत्र विवाहों को वैध
९४९ में अनुलोम प्रतिलोम सभी प्रकार
कानून बना। (१५) १९५४ के विशेष
अधिकार दिया गया है।
जाने वाली विभिन्न युक्तियों के खण्डन
हिन्दू कोड पृ० ३८-६७
हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी।

(पृ० ९४-९९) का तथा स्वरूप (पृ० १००-११५) का वर्णन हो चुका है। पतिपत्नी के लिये हिन्दू परिवार मे देवता माना जाता रहा है। पिता के रूप मे पुरुष के परिवार पर असाधारण अधिकारो का तथा पितृप्रभुत्व का उल्लेख भी पहले हो चुका है[८१]। किन्तु अब पति को देवता समझनेवाले युग की समाप्ति हो रही है और पिता के असाधारण अधिकार मर्यादित हो रहे हैं।

हिन्दू परिवार मे पति की प्रभुता के निम्न मुख्य स्तम्भ थे—बाल विवाह, पत्नी की आर्थिक पराधीनता और स्त्रियो की अशिक्षा, पति का पत्नी छोड़ने का तथा दूसरा विवाह करने का अधिकार। अब हिन्दू समाज मे स्त्रीशिक्षा के प्रसार तथा नवीन कानूनो से ये स्तम्भ खोखले हो रहे हैं, अत. इनके आधार पर प्रतिष्ठित पति की प्रभुता का अन्त अनिवार्य है (दे० ऊ० पृ० ९९–१००)। शिक्षा से व्यक्तित्व का विकास होने पर पत्नी परिवार में पति के साथ बराबरी का दर्जा चाहती है, उसकी इस न्याय्य माग की देर तक उपेक्षा असम्भव है, अतः अब देवता युग की समाप्ति होकर वैदिक काल का सखायुग (दे० ऊ० पृ० ८९) फिर लौट कर आने वाला है।

परिवार मे पिता की प्रभुता क्षीण करने वाला प्रधान तत्व राज्य है। वह शनैः-शनैः पिता द्वारा सन्तान को शिक्षा देने और दण्ड देने के अधिकारो का अपहरण कर रहा है। (दे० ऊ० पृ० ६१४–५)। इस का एक मुख्य कारण वर्तमान काल मे बालक की शिक्षा और विकास को बहुत अधिक महत्व दिया जाना और उसके कल्याण और देखभाल को सामाजिक कर्त्तव्य समझा जाना है[८२]। प्राचीन काल मे पुत्र अनेक कारणो से पिता की वश्यता मे रहा करता था। पिता के प्रति भक्ति, धार्मिक विश्वास, तत्कालीन आर्थिक परिस्थितिया उसे पिता का वशवद बनाये रखती थी। आजकल धार्मिक विश्वास सदेहवाद और नास्तिकता की बाढ से आप्लावित हो चुके हैं। व्यावसायिक क्रान्ति द्वारा उत्पादन का केन्द्र बदल जाने से पुत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी होने लगा है; अत उसे पिता का वशवद होने की पहले जैसी अनिवार्यता नही रही।

---

८१. दे० ऊ० पृ० १८१-१९०; कठोपनिषद् (प्रथम वल्ली) में पिता द्वारा नचिकेता का यम को दान भी पिता का पुत्र पर अमर्यादित अधिकार सूचित करता है। (१।४ स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयं त ँ होवाच मृत्यवे ददामीति)

८२. सेट-न्यू होराइजन्स फॉर दी फैमिली पृ० २२५-३९६

में पुरुष-प्रभुता की समाप्ति का एक प्रधान कारण प्रजातन्त्र, समा-
के आधुनिक विचार हैं। प्रजातन्त्र की भावना ने राजनैतिक
की निरकुश सत्ता का अन्त कर दिया है, वह परिवार मे पुरुष की
कर रही है।

युक्त परिवार का विघटन—सम्मिलित कुटुम्ब पद्धति चिरकाल से
मे प्रचलित है (दे० दूसरा अध्याय)। महाभारत में एक रोचक
प्रवल समर्थन किया गया है[८३]। वर्तमान समय में इस प्राचीन
अन्त हो रहा है। दूसरे अध्याय मे यह वताया जा चुका है कि कृषि-
के लिये सयुक्त परिवार वड़ा उपयोगी होता है (पृ० ३७, ६६),
द्वारा हमारे देश मे जो नवीन आर्थिक परिस्थितिया उत्पन्न
पृ० ६८-६९), उनमें इस का देर तक टिका रहना सभव नही प्रतीत
अतिरिक्त व्यष्टिवाद, स्वतन्त्रता और समानता की भावनायें,
न और अग्रेजी शिक्षा इस के विघटन में सहायक सिद्ध हो रहे हैं
० ७०-७५)। सयुक्त परिवार पद्धति के अनेक लाभ (पृ० ८१-
भी उसकी हानियो का पलडा इस समय भारी हो रहा है (पृ०
। वह इस समय हमारे समाज मे अकर्मण्य व्यक्तियो की वृद्धि का
के विकास मे वाधक है, स्त्रियो की दुर्दशा का तथा पारि-
ो का एक मुख्य हेतु है, इन सव कारणो से सयुक्त परिवार प्रथा
है।

की भारतीय जनगणना की रिपोर्ट के आकड़े उपर्युक्त स्थापना
पुष्ट करते है। इसमें पहली वार सदस्यो की सख्या के आधार
गणना के लिये यह निश्चित किया गया कि तीन या इससे कम
कुटुम्ब (Household) को लघु, चार से छ सदस्यो वाले को
से नौ सदस्यो वाले घर को वृहत् (Large) तथा इससे अधिक
वाले घर को अति वृहत् (Very large) कहा जाय। इस
और कस्वो मे विभिन्न प्रकार के परिवारो की प्रतिशत सख्या
मे दी गयी है[८४]—

महाभा० भाण्डा० १।२५।१४-१५ भिन्नानामतुलो नाशः क्षिप्रमेव
विभागार्थं न प्रशंसन्ति पण्डिताः ॥
सैन्सस आफ इंडिया १९५१ खं० १, भाग १—ए, पृ० ४९-५०

कुटुम्ब का प्रकार	एक सामान्य गांव में कुटुम्बों की संख्या	एक सामान्य कस्बे में कुटुम्बों की संख्या
लघु	३३	३८
मध्यम	४४	४१
वृहत्	१७	१६
अति वृहत्	६	५
सर्वयोग	१००	१००

इस तालिका से यह स्पष्ट है कि गांवो और कस्बों में मध्यम अर्थात् चार से छः सदस्यो वाले कुटुम्बो की संख्या सबसे अधिक है और इससे अधिक सदस्यो वाले अति वृहत् परिवारो की संख्या सबसे कम है। जन गणना रिपोर्ट में इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया गया है कि गावो में प्रति तीसरा परिवार ऐसा है, जिसकी सदस्य संख्या तीन या इससे कम है[८५]। "छोटे घरों का इतने अधिक अनुपात मे होना प्रथम दृष्टि में इस बात का सूचक है कि परिवार अब देश की परम्परागत प्रथा के अनुसार सयुक्त नही रहते, संयुक्त परिवार से अलग होने

इस तालिका में कुटुम्ब (Household) का अर्थ है—एक स्थान पर एकत्र रहने तथा एक सामान्य रसोई में भोजन करने वाले व्यक्ति (वही रिपोर्ट पृ० ४८)। गांव का आशय ऐसी बस्ती से है, जिसकी आबादी ५००० से कम हो, पांच हजार से एक लाख तक की जनसंख्या वाली बस्तियां कस्बा (Town) तथा इससे अधिक संख्या वाली नगर (City) कहलाती हैं (वही रिपोर्ट पृ० ४४-४५)।

८५. इस संख्या का महत्व इस बात से स्पष्ट होगा कि भारत की ३५ करोड़ ६९ लाख जनता में से २९ करोड़ ५० लाख भारत के ५,५८,०८९ गांवों में रहती है। गांवों में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति इतनी तेजी से टूटने का यह कारण है कि आर्थिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता (दे० ऊ० पृ० ६६) समाप्त हो गयी हैं, भूमि इतने छोटे टुकड़ों में बंट गयी है कि उन पर बड़े परिवारों का तो क्या, छोटे परिवारों का पालन भी दुष्कर हो रहा है। शहरों में संयुक्त परिवार को भंग करने वाली परिस्थितियों का पहले उल्लेख हो चुका है (दे० ऊ० पृ० ६८-६९)। अतः गांवों तथा शहरों में समान रूप से संयुक्त परिवार का भविष्य अन्धकारमय है।

स्थापित करने की प्रवृत्ति प्रवल है"[८६]। अत यह स्पष्ट है
९८, परिवार एकाकी और छोटे होगें।

के स्थायित्व का कम होना—अभी तक हिन्दू परिवार मे दम्पति
इकट्ठा रहते हैं। विवाह-विच्छेद की व्यवस्था न होने से, पत्नी के
से पति पर अवलम्वित होने से तथा परिवार के सदस्यो के आर्थिक
होने से दाम्पत्यकलह होने पर भी परिवार का स्थायित्व अखंड वना
रिवारिक जीवन दु खमय होने पर भी भग नही हो सकता। किन्तु
का यह स्थायित्व वना रहना सम्भव नही प्रतीत होता।
'विशेप विवाह कानून' के अनुसार दम्पति कुछ प्रतिवन्धो के साथ
सहमति (Mutual Consent) से एक दूसरे को तलाक
। प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा इस व्यवस्था के प्रवल
वात की पूरी सभावना है कि १९५२ के हिन्दू विवाह और तलाक
मे उपस्थित होने पर उसमे उपर्युक्त व्यवस्था अवश्य
जायगी और पार्लियामेण्ट उग्र विरोध करने पर भी इसे उसी तरह
, जैसे विशेप विवाह कानून (स्पेशल मैरिज एक्ट) में इसे पास कर
कोई सदेह नही कि इससे दु खी और असन्तुष्ट दम्पतियो को एक
पाने का अवसर मिलेगा। वर्तमान समय में भारत मे तलाको की
कम है[८७], यह हिन्दू समाज के निम्न वर्ग तक ही सीमित है[८८],

वही रिपोर्ट पृ० ५०

१९५१ की जनगणना के अनुसार भारत में तलाक पाये व्यक्तियों
९ १,४४,७८६ अर्थात् जनसंख्या का ०.४ प्रतिशत है।

मेन—हिन्दू ला—११ वां संस्करण पृ० १७५-७६, स्त्री द्वारा एक
देने के वाद उस द्वारा दूसरे पुरुष के साथ पुनर्विवाह को गुजरात में
महाराष्ट्र में पाट कहते हैं। स्टील ने ला आफ कास्टस् एण्ड ट्राइब्स
में (२६, १५९,१६८) वैस्ट और वुहलर ने अपने डाइजैस्ट (४र्थ
९२१) में यह वताया है कि पति के नपुंसक होने, दम्पति में निरन्तर
, विवाह के ठीक ढंग से न होने, पति के वारह वर्ष तक वाहर रहने
७ सहमति से पति द्वारा पत्नी का गले का आभूषण तोड़ने तथा
छोड़ चिट्ठी' (तलाक नामा) देने से विवाह सम्वन्ध भंग हो जाता है।
जाटों तथा दक्षिण कनारा के लिंगायतों में पति द्वारा परित्याग किये

भविष्य मे मध्यम एव उच्च वर्ग मे भी इसकी प्रवृत्ति वढेगी। इन वर्गों मे स्त्री-शिक्षा का प्रसार अधिक होने से स्त्रियो का आर्थिक स्वावलम्वन भी कुछ अशो मे परिवार के स्थायित्व को कम करने में सहायक सिद्ध होगा। कृषि-प्रधान एवं देहाती परिवारो मे पडोस का असर, गांव वालो द्वारा निन्दा एव सामाजिक बहिष्कार की आशका परिवार की स्थिरता का एक कारण होता है। औद्योगिक समाज मे वडे नगरो का विकास होने पर इस प्रकार का सामाजिक नियन्त्रण लगभग समाप्त हो जाता है[८९] और तलाक की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। इसके साथ ही औद्योगिक क्रान्ति आर्थिक जीवन में परिवर्त्तन कर (दे० ऊ० पृ० ६१०) उन आर्थिक वन्धनो को लगभग समाप्त कर देती है, जो पहले परिवार को सुदृढ वनाये रखने मे सहायक थे। धर्म पहले परिवार को स्थायित्व प्रदान करता था, किन्तु अव उसका प्रभाव क्षीण हो रहा है।

इस प्रकार परिवार को स्थिर वनाये रखने के लगभग सभी तत्वो—आर्थिक परिस्थितियो, सामाजिक नियन्त्रण और धर्म का असर कम होने तथा तलाक की व्यवस्था से भावी हिन्दू परिवार अतीत काल के अथवा वर्तमान काल के परिवार जैसा चिरस्थायी नही होगा।

(४) **कानूनी विषमताओं की समाप्ति**—भावी हिन्दू परिवार मे नर-नारी के अधिकारो मे कोई वैषम्य नही रहेगा। पहले (दे० ऊ० पृ० ६३३) यह वताया जा चुका है कि दोनो के दाम्पत्य अधिकारो मे समानता लाने वाले अनेक नये विल पार्लियामेण्ट मे पेश है। यद्यपि इनका उग्र विरोध हो रहा है, किन्तु इसमे कोई सदेह नही कि वे शीघ्र ही कानून का रूप धारण करेंगे और हिन्दू समाज मे सभी क्षेत्रो मे नर नारी के अधिकार लगभग समान हो जायेंगे[९०]।

जाने पर अथवा उस के मृत होने पर पत्नी दूसरा विवाह कर सकती है (पंजाब कस्टमरी ला २।१३१,१७४,१९०, ८ म० ४४०)। हिन्दू समाज में उच्च वर्ग के ब्राह्मणों, क्षत्रियो और वैश्यों को छोड़ कर शेष सभी जातियों में तलाक की परिपाटी है। हिन्दू समाज में तलाक का अधिकार देने का प्रभाव दोहरा होगा, इससे जहां एक ओर हिन्दू समाज के अल्पसंख्यक उच्च वर्ग में विवाह-विच्छेद की संभावना बढ़ेगी, वहां दूसरी ओर बहुसंख्यक शूद्र वर्ग को वर्त्तमान काल में रिवाज द्वारा प्राप्त तलाक का विस्तृत अधिकार नये विवाह कानून में वताये कारणों तक सीमित हो जायगा और इससे उनमें तलाकों की संख्या घटेगी।

८९. मोरर—दी फैमिली पृ० २०६

९०. लगभग शब्द का प्रयोग यहां जानबूझकर किया गया है, क्योंकि

भारत में सामाजिक परिवर्त्तनो की गति वडी मन्थर रही है ।
विधवा पुनर्विवाह कानून को पास हुए लगभग एक शताब्दी बीत
अब तक इससे विधवाओ के विवाहो की सख्या में कोई वडा अन्तर
क्या भविष्य में उपर्युक्त कानूनो और परिवर्त्तनो का प्रभाव हिन्दू-
इसी मन्दगति से पडेगा ? वर्त्तमान समय में पचवर्षीय तथा सामु-
द्वारा हमारे देश के आर्थिक जीवन का कायापलट तेजी से
औद्योगिक युग में प्रवेश कर रहे हैं । इस युग में सामाजिक
शीघ्र गति से होते हैं[९१] । अत. इस वात की पूरी सम्भावना है कि
मे परिवर्त्तनो की गति मन्द नही रहेगी । कुछ पश्चिमी देशों
परिवर्त्तन चिन्ताजनक सीमा तक पहुँच गये हैं । क्या भारत
उत्पन्न होगी ? उदाहरणार्थ इगलैण्ड में गर्भ-निरोध के साधनों
मातृत्व के विरुद्ध विद्रोह से जनसख्या की वृद्धि की दर इतनी कम
शाही कमीशन द्वारा लगाये एक हिसाव के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन
१९६२ ई० में ४ करोड ९९ लाख होगी तथा २०४७ ई० में घट
९६ लाख ही रह जायगी[९२] । स० रा० अमरीका में वर्त्तमान नैति-
व्यवस्था के विरुद्ध युवक युवतियों ने जवर्दस्त विद्रोह
, वहा १९२९ में तलाको की सख्या २,०५,८७६ थी, अर्थात् प्रति
अधिकारों में पूरी कानूनी 'समानता स्थापित करना स्त्रियों
वांछनीय नहीं है । स्त्रियों के स्वास्थ्य की रक्षा की दृष्टि से
उनके काम करने के सम्बन्ध में अनेक विशेष कानून वने
प्रसूति तथा सन्तान पालन आदि के लिये विशेष सुविधायें
हैं । नर-नारी की समानता पर अत्यधिक बल देने वाले सोवियत
ऐसे कानून विद्यमान हैं । संयुक्तराज्य अमरीका में सीनेट ने २५
५० को जो समानाधिकार संशोधन विल पास किया है, उसमें यह
है कि स्त्रियों की रक्षा की दृष्टि से वनाये गये विशेष कानून वने
धिकारवादी स्त्रिया वहां इस शर्त्त का विरोध कर रही हैं ।

एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन पृ० ३५०-५१)
सेट—न्यू होराइजन्स फार दी फैमिली पृ० ३६-४५
१९५१ की भारत की जनगणना रिपोर्ट खं० १, भाग १ प्र० १७८
लिण्डी—रिवोल्ट आफ दी माडर्न यूथ, सेट—न्यू होराइजन्स फार दी
५४७-४५

दो मिनट मे एक विवाह-विच्छेद होता था। १९४६ में संभवतः युद्धकालीन परिस्थितियो के कारण यह सख्या ६,१०,००० तक पहुँच गयी, इसके बाद इसमें कमी होने लगी, १९४८ में यह संख्या घटकर ४,०५,००० हो गयी अर्थात् प्रति मिनट वहा एक तलाक दिया जाता था[९४]। नवीन कानूनों से हिन्दू परिवार में भविष्य मे इस प्रकार के विवाह-विच्छेदों की सख्या कहा तक बढ़ेगी ? जन-सख्या कहा तक घटेगी ? वर्त्तमान नैतिकता, परिवार-व्यवस्था और मातृत्व के विरुद्ध कितना उग्र विद्रोह होगा ? वर्त्तमान परिस्थितियो मे ये अतिप्रश्न है। इनका यथार्थ उत्तर कालापेक्ष है और भविष्य के गर्भ में है। इस समय तो केवल उन प्रवृत्तियो का निर्देश मात्र किया जा सकता है, जो भावी हिन्दू परिवार में प्रवल होगी, उन प्रवृत्तियो की प्रवलता की मात्रा का निर्धारण सभव नही है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भविष्य मे हिन्दू परिवार में सयुक्त कुटुम्व पद्धति का लोप हो जायगा, परिवार एकाकी (Single) होगे, उनमे वच्चों की सख्या कम होगी, मातृत्व ऐच्छिक तथा आयोजित होगा, वालविवाह कम होगे, अविवाहित रहने तथा वडी आयु में परिणय करने की प्रवृत्ति वढेगी। युवक युवती अपना जीवन-सगी स्वयं चुनेगे, प्रणय-विवाह अधिक होगे। परिवार में पुरुष की प्रभुता का अन्त हो जायगा, वच्चो पर पिता के अधिकार कम होगे, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और भरण पोषण की व्यवस्था राज्य की ओर से अधिक मात्रा मे होने लगेगी। पति-पत्नी कुटुम्ब में समान स्थिति का उपभोग करेगे, कामन्दकी के शब्दों मे उस समय पति पत्नी की तथा पत्नी पति की प्रियतम वस्तु होगी, वे एक दूसरे के मित्र, बन्धु, निधि और जीवन होगे[९५]। उस समय भार्या की वर्त्तमान हीन स्थिति का अन्त हो जायगा। पति-पत्नी के कानूनी अधिकारो मे कोई विषमता नही रहेगी। परिवार का आर्थिक और धार्मिक महत्व लगभग समाप्त हो जायगा। परिवार के वर्त्त-

---

९४. इलियट एण्ड मैरिल—सोशल डिसआरगैनिजेशन पृ० ४४०। तलाक के उपर्युक्त आंकड़े ऊपर से देखने में काफी भयावह प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रतिवर्ष के कुल विवाहों के साथ तुलना करने में ये उतने भीषण नहीं रहते। १९३० से १९४७ तक १०० विवाहों के पीछे तलाकों की औसत दर २०.१ प्रतिशत ही थी (इलियट—पू० पु० पृ० ४३७-३८)।

९५. मालती माधव ६।१८ प्रेयो मित्रं बन्धुता वा समग्रा, सर्वे कामाः शेवधिर्जीवितं वा। स्त्रीणां भर्त्ता धर्मदाराश्च पुंसामित्यन्योन्यं वत्सयोर्ज्ञातमस्तु ॥

में कमी आयेगी, विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ेगी। विवाह द्वारा
एक आवश्यक कर्त्तव्य नही, किन्तु ऐच्छिक कार्य होगा और
आधार दाम्पत्य प्रेम होगा। सभवत. इस स्थिति में पति-पत्नी
पूर्ण विकास होगा। वर्त्तमान समय में पत्नी के आर्थिक पराव-
पति से प्रीति न होने पर भी वह उसके साथ दाम्पत्य जीवन
विवश है। भविष्य में यदि हिन्दू स्त्री स्वावलम्बी हो सकी तो
ों से मुक्ति पा सकेगी। इससे तलाको की संख्या बढेगी, परिवार की
होगी। किन्तु इसके साथ ही स्नेह परिवार का एकमात्र आधार
प्रेम की प्रगाढता में वृद्धि होगी, भवभूति [६६] द्वारा उत्तरराम-
दाम्पत्य स्नेह का वह स्वरूप अधिक पुष्ट होगा, "जो सुख-दुख
अपरिवर्त्तित (अद्वैत) रहता है, (निर्धनता, समृद्धि आदि)
नीच में भी निरन्तर बना रहने वाला है, जो हृदय का विश्राम
आनन्द बुढापे से भी कम नही होता, जो बहुत दिनो तक साथ
ो के आवरण हट जाने से परिपाक को प्राप्त हुए प्रकृष्ट प्रेम पर

... ... गुणानुपस्य कथमप्यक इह तत्प्राथ्यते ॥

प्रथम परिशिष्ट

धर्मशास्त्रसम्बन्धी प्रधान ग्रंथों तथा लेखकों का काल

अग्नि पुराण—८००-९०० ई० (हरप्रसाद शास्त्री)
अर्थशास्त्र—कौटिल्यकृत, चौथी श० ई० पू०
अनन्तदेव—संस्कार कौस्तुभ (१६५०-८०) का प्रणेता
अपरार्क—याज्ञवल्क्य स्मृति का टीकाकार —११२५ ई०
असहाय—नारद स्मृति का पहला भाष्यकार ७००-७५० ई०
आपस्तम्ब धर्मसूत्र—६००-३०० ई० पू०
कमलाकर भट्ट—विवाद ताण्डव (१६१०-४०) का लेखक
कात्यायन स्मृति—४००-६०० ई०
कुल्लूक भट्ट—मनुस्मृति का एक टीकाकार १२५० ई० लग०
कृत्यकल्पतरु—लक्ष्मीधर मिश्र (११००-११५०) द्वारा लिखा हुआ पहला निवन्ध ग्रन्थ ।
कौटिलीय अर्थशास्त्र—चौथी शती ई० पू०
गृह्यसूत्र—श्रौतसूत्र देखिये ।
गोविन्दराज—मनुस्मृति का एक टीकाकार १०५०-११०० ई०
गौतम धर्मसूत्र—६००-४०० ई० पू०
चण्डेश्वर—विवाद रत्नाकर (१२९०-१३७० ई०) का लेखक
जैमिनि—पूर्व मीमांसा दर्शन का प्रणेता, ५००-२०० ई० पू० लग०
दत्तकमीमासा—नन्द पण्डित कृत, १५९५-१६३० ई०
दायभाग—जीमूतवाहन कृत, ११००-११५० ई०
दायतत्व—रघुनन्दन कृत १५२०-१५७५ ई०
दीपकलिका—शूलपाणि देखिये
देवण्ण भट्ट—स्मृति चन्द्रिका का लेखक १२००-१२२५ ई०
धर्मसूत्र—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब और वसिष्ठ के धर्मसूत्रों तथा पारस्करादि कुछ गृह्य सूत्रों का काल ६००-३०० ई० पू० है ।

वराहमिहिर—बृहत्संहिता का लेखक ५०५-५८७ ई०
वसिष्ठ धर्मसूत्र—३००-१०० ई० पू०
वाचस्पति मिश्र—दे० विवाद चिन्तामणि
विज्ञानेश्वर—याज्ञवल्क्य स्मृति पर मिताक्षरा नामक टीका का लेखक १०७०-
११०० ई०
विवाद चन्द्र
विवाद चिन्तामणि—वाचस्पति मिश्र कृत, १५००-१५५० ई०
विवाद ताण्डव—कमलाकर भट्टकृत १६१०-४० ई०
विश्वरूप—याज्ञवल्क्य स्मृति की बालक्रीडा टीका का लेखक ८००-८५० ई०
विश्वेश्वर भट्ट—मदन पारिजात देखिये
विष्णु स्मृति—इसका पुराना अंश ३००-१०० ई० पू० का है और नवीन अंश
३ री से ७ वीं० श० ई० का है
वीरमित्रोदय—मित्रमिश्र कृत, १६१५-४५। यह ग्रन्थ संस्कार प्रकाश, व्यव-
हार प्रकाश आदि अनेक प्रकाशो में बटा है।
वैजयन्ती—नन्दपण्डितकृत विष्णुधर्मसूत्र की टीका, १५९५-१६३० ई०
वैद्यनाथ दीक्षित—स्मृतिमुक्ताफल का प्रणेता, १६०० ई०
वैदिक साहित्य—४०००-१००० ई० पू०, सहिताओ, ब्राह्मण ग्रन्थों तथा
प्राचीन उपनिषदों का यह आनुमानिक काल है। इनके अश ४००० ई०
पू० से प्राचीन तथा १००० ई० पू० से अर्वाचीन हो सकते है।
व्यवहार निर्णय—वरदराज कृत, १२००-१३०० ई०
व्यवहार मयूख—नीलकण्ठ भट्ट कृत १६१५-४५ ई०; इसके अन्य ग्रन्थ नीति-
मयूखादि हैं।
व्यास स्मृति—दूसरी से पाचवी शती ई० लग०
शखलिखित—३०० ई० पू० से १०० ई०
शबर—जैमिनि के पूर्वमीमासा दर्शन का भाष्यकार, २००-५०० ई०
शूलपाणि—याज्ञवल्क्य स्मृति पर दीपकलिका नामक टीका का लेखक,
१३७५-१४६०
श्रौतसूत्र—आपस्तम्ब, आश्वलायन और बौधायन श्रौतसूत्रों का तथा आप-
स्तम्ब और आश्वलायनादि कुछ ग.ह्यसूत्रो का काल ८००-४०० ई० पू०
है।
सरस्वती विलास—प्रतापरुद्रदेव कृत १५००-१५२५ ई०

द्वितीय परिशिष्ट

(क) परिवार का वैदिक आदर्श

(१)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥

(२)

अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥

(३)

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥

(४)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥

(५)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि ॥

(६)

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥

(७)

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ॥
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

अथर्ववेद ३।३०

(ख) परिवार प्रशस्ति

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥

मनुस्मृति ६।९०

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वं आश्रमाः ॥

मनु० ३।७७

यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तमाज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

मनु० ३।७८

देवैश्च मनुष्यैश्च तिर्यग्भिश्चोपजीव्यते ।
गृहस्थः प्रत्यहं यस्मात् तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥

दक्ष संहिता ।

यदि रामा यदि च रमा यदि तनयो विनयधीगुणोपेतः ।
तनये तनयोत्पत्तिः सुरवर नगरे किमाधिक्यम् ॥

चाणक्य शतक १७।१६

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी,
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषिति रतिश्चाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्न पानं गृहे,
साधो संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

चाणक्य शतक १२।१

—

तृतीय परिशिष्ट

पारिभाषिक शब्द सूची

अंग्रेजी-हिन्दी

Absolute Estate —पूर्ण स्वत्व, दे०, Estate ।

Acquire —अर्जन करना ।

Acquisition —अर्जन, अवाप्ति, उपलब्धि ।

Act —अधिनियम, राजनियम ।

Adoption —पुत्रीकरण, गोद लेना, दत्तक ग्रहण करना ।

Adult —प्रौढ़ ।

Adultery —जारकर्म, विवाहित पुरुष या स्त्री का व्यभिचार मि० Fornication या व्युच्चरण (महाभा० १।१२२।५), पारदार्य ।

Adulterer —जार Adulterire जारज, Adulteress जारिणी ।

Adverse Possession भोग (व्यास-सागमो दीर्घकालश्च छेदोपाधिविवर्जितः । प्रत्यर्थिसनिधानश्च पंचांगो भोग उच्यते), विपरीत भुक्ति ।

Affliation —पुत्रीकरण, गोद लेना ।

Agnate —गोत्रज (याज्ञ० २।१३६), गोत्री (हारीत व्यप्र० ४८६), मि० हिन्दी गोती, पितृबन्धु (कौ० ३।७) पिता के पक्ष से सबद्ध पुरुष सम्बन्धी, सकुल्य ।

Alienation —अपहार (महाभारत १३।४७।२५, स्त्रीणां तु पतिदायाद्यमुपभोगफलं स्मृतम् । नापहारं स्त्रियः कुर्यु. पितृवित्तात्कथचन), निर्हार (मनु० ९।१९९ न निर्हारं स्त्रियः कुर्युः कुटुम्बाद्बहुमध्यगात्), परहस्तकरण ।

Alienor —अपहारक, परहस्तकर्त्ता ।

९ ९ ।

—पैतृक सम्पत्ति, पैतामह द्रव्य (वृह०—ऋणं लेख्य गृह क्षेत्र यस्य पैतामह भवेत् दा० पृ० १३२-३३ मे उ०), पित्र्य धन (ना० स्मृ० १६।४४)।

ूर्ववर्त्ती ऋण।

r—पुत्रिका, लडका बना कर रखी हुई लड़की।

दे० maintenance

, कुड (हारीत स्मृच० २३९)।

९ ।

-सहिता, विधि-सग्रह, विधान।

e व्यवहारक्रियाविधिसग्रह, ज़ाब्ता दीवानी।

e दडक्रियाविधि संग्रह, ज़ाब्ता फौजदारी।

द्वारा सबद्ध व्यक्ति, मातृबन्धु, मिताक्षरा लिये केवल बन्धु शब्द का प्रयोग है।

Agnate।

ो पूर्वज की वशपरम्परा से सम्बन्ध रखने किन्तु पिता, पुत्र, पौत्र जैसा क्रमागत eal) सबन्ध न रखने वाले, जैसे चचेरे पितृबन्धु, सपिण्ड, समानोदक।

से भिन्न चाचा आदि की सम्पत्ति का , पितृव्य परम्परा (मिता० ।१३५-३६) पितृबन्धूत्तराधिकार ।७)।

ही चूल्हे पर या रसोई में भोजन ।

मिता० २।१३५-३६), रक्तसंबन्ध ।

दाय।

ग़ेदारी, समभागिता (व्यास मे, शेषास्तु समभागिनः)।

Coparcener —एक पूर्वज की सम्पत्ति में समान अंश का अधिकार रखने वाले, समांशी (वृह० स्मृच० २६४ में उ०—पितृरिक्थहराः पुत्राः सर्वे एव समांशिनः)।

Custom —रिवाज, रूढि, परम्परा, आचार।

Customary —आचारिक, पारम्परिक, लोकप्रचलित।

Deceased —प्रमीत, मृत।

Deformity —विरूपता, व्यगता।

Descendant —वंशज, वश्य, अन्वयी।

Desertion —त्याग, किसी पति का अपनी पत्नी की इच्छा के विरुद्ध उसे छोड़ना।

Devise —वसीयत या संकल्पपत्र द्वारा सम्पत्ति देना।

Devolution —संक्रमण पिता आदि से पुत्र प्रभृति को सम्पत्ति का मिलना (पुत्रसंक्रान्तलक्ष्मीकैः—उत्तररामचरित १।२२)।

Disability —असमर्थता।

Disinherit —दायाधिकार से वंचित करना, निर्भजन (कात्यायन दायभाग ५३ में उद्धृत)।

Disposal —विनियोग।

Divorce —विवाह-विच्छेद, मोक्ष (कौटिलीय अर्थशास्त्र ३।३)।

Entitled —अधिकारी।

Entitled to a share—अंशार्ह, अंशाधिकारी।

Escheat —अदायाद सम्पत्ति पर राज्य का अधिकार होना, राजगामिता (ना० स्मृ० १६।५१ ततः सजात्याः सर्वेषामभावे राजगामि तत्)।

Estate —भूमि, मकान तथा अन्य किसी प्रकार की सम्पत्ति में स्वत्व, किसी व्यक्ति की सब प्रकार की सम्पत्ति।

Exclusion —निःस्सारण; निषेध, व्युदास।

Execution —निष्पत्ति, सिद्धि, निर्वहण।

Exposure —किसी व्यक्ति को जंगल में छोड़ देना, ताकि वह जंगली जानवरों का भक्ष्य बन सके। परासन, उद्धिति।

—स्वच्छन्द प्रणय ।

विवाह ।

श ।

अविवाहित स्त्री या पुरुष का अवैध मैथुन, व्युच्च-
रण (महाभा० १।१२२।५—तासां व्युच्चरमाणानां
कौमारात्सुभगे पतीन्)।

, सोदर मि० Half-blood Brothers ।

।

।

भाई जिनका पिता एक किन्तु माता भिन्न
भिन्नोदर, वैमात्र, अन्योदर्य ।

(का० सं० ३४।५), वंधकी (महाभा०
२३।७७)।

, रिक्थहर, अंशहर, रिक्थभागी ।

, परम्परागत, पैतृक, पित्र्य ।

पैतृक उत्तराधिकार ।

।

को मिलने वाली सम्पत्ति, दाय, ऋक्थ,
(दायाद्य दायादग्राह्यमृक्थम् विर०

।

(नारद स्मृ० १३।४९-५३)।

, समाज की वह कल्पित आदिम अवस्था
सारे समाज की समझी जाती थी।

।

।

में दाय पाना ।

में दाय पाने की क्रिया, रिक्थ-
प्राप्त सम्पत्ति, दाय, ऋक्थ ।

या सकल्पपत्र किये किसी व्यक्ति

Intestate succession निःसंकल्पपत्रक उत्तराधिकार ।
Interest —किसी वस्तु मे अधिकार या स्वत्व ।
Joint —सयुक्त ।
Joint family —संयुक्त परिवार ।
Joint family property—सयुक्त परिवार की सम्पत्ति ।
Joint Heir समांशी, समभागी ।
Joint Property —संयुक्त सम्पत्ति ।
Kinsman —वन्धु ।
Kinship— —वन्धुता ।
Law —(१) विधि, कानून, (२) धर्मशास्त्र ।
Limited Estate —सीमित स्वत्व ।
Line —वंश, कुल, अन्वय ।
Lineal —कुलक्रमागत, परम्परीण ।
Lineal descent —कुलक्रमागम, अन्वयागम ।
Lineal Descendant—सन्तान, सन्तति ।
Lineal Heir —क्रमागत उत्तराधिकारी ।
Lineally —क्रमागम द्वारा ।
Lineally Dscended—वशक्रमागत ।
Lineal succession—क्रमागत उत्तराधिकार, मि० Collateral succession
Maiden —कुमारी ।
Maintenance —जीवन निर्वाह के लिये दी जाने वाली राशि, भरण, भर्म (कौ० ३।२), जीवन (हारीत—विधवा यौवनस्था चेन्नारी भवति कर्कशा । आ आयुष. क्षपणार्थं तु दातव्य जीवन तदा ॥ मिता० २।१३५ मे उद्धृत) ।
Bare maintenance—ग्रासाच्छादन (कात्या० स्मृच० २७१ में—ग्रासाच्छादनमत्यन्तं देयं तद्बन्धुभिर्मतम्) ।
Major —संप्राप्त व्यवहार (कौ० ३।५), व्यवहारज्ञ (नारद स्मृ० ४।३१), वालिग् ।
Male agnate —पुरुष गोती ।

Partition made during the life-time of the father or parents —जीवद्विभाग (कौटिलीय अर्थशास्त्र) ।

Pater familias —गृहपति, कुटुम्ब का मुखिया ।

Paternal —पैतृक ।

Paternal Wealth —पितृदाय, पितृद्रव्य ।

Paternal grandfather and mother—पितामह, पितामही, दादा, दादी ।

Paternal ancestor in the fourth, fifth, and sixth degree —लेपभागी, लेपी ।

Paternity पितृत्व ।

Patrimony पितृदाय ।

Pedigree वंशावलि ।

Per Capita मुण्डश, प्रतिव्यक्ति ।

Per Stirpes Division of the property—दायभाग की वह पद्धति जिसमें सम्पत्ति सब दायादों की संख्या के अनुरूप हिस्सों में नहीं बांटी जाती, किन्तु पिता अथवा मूल दायादों की संख्या के अनुरूप हिस्सों में बांटी जाती है, दे० पृ० ३०३। इसकी पुरानी संज्ञा पितृतो विभाग है (याज्ञ० २।१२०) । अंग्रेजी शब्द के धात्वर्थ के अनुसार इसे प्रतिशाख कह सकते हैं ।

Polyandry —बहुभर्तृता, बहुपतित्व ।

Polygamy —बहुविवाह ।

Polygyny —बहुभार्यता, बहुपत्नीत्व ।

Posthumous child—ऊर्ध्वजात, मृत्यूत्तरक ।

Pre-emption —पूर्वक्रयाधिकार ।

Primogeniture —ज्येष्ठ पुत्र द्वारा पैतृक सम्पत्ति के एक मात्र उत्तराधिकारी होने का नियम, अग्रजाधिकार, ज्यैष्ठ्य ।

Progenitor —जनक ।

—सम्पत्ति ।
operty वैयक्तिक सम्पत्ति ।
ty स्थावर सम्पत्ति ।
movable property चल, अचल सम्पत्ति ।
reunited coparceners संसृष्टधन (याज्ञ० २।१३८ पर मिता०) ।
r which there is no claimant प्रहीण द्रव्य (वसिष्ठ धर्मसूत्र १६।१७) ।
वह मूल पूर्वज या आदि पुरुष जिससे ऊपर और नीचे की पीढिया गिनी जाती है, मध्य स्थित (दायभाग ११।१।३८) ।
y —कामचार, अनावरण (महाभा० १।१२२।४ अनावृता किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने । कामचारविहारिण्य स्वतन्त्राश्चारुहासिनि) ।
ather —अवैध सन्तान का अभिकल्पित पिता ।
—प्रतिस्थापन ।
of conjugal rights दाम्पत्य अधिकार प्रतिस्थापन ।
—हिन्दू परिवार के विभक्त सदस्यो का मिलना, ससृष्टि ।
coparceners संसृप्ट दायाद ।
Hindu family ससृष्ट हिन्दू परिवार ।
—किसी सम्पत्ति का उसे देने वाले या उसके उत्तराधिकारियो को लौट जाना, परावर्त्तन ।
er —परावर्त्ती, परावर्तनभागी ।
—सम्प्रदाय, शाखा ।
ired property—स्वार्जित सम्पत्ति ।
—अंश, भाग ।
of shares—भागकल्पना (याज्ञ० २।१२०), अशकल्पना (मनु० ९।११६), अशप्रदान (मनु० ९।२२१) ।

Equal share —समभाग ।
Sharer —अंशहर ।
Simultaneous heir—युगपद् दायाद, समकालीन अंशहर ।
Single family —एकाकी परिवार वि० संयुक्त परिवार ।
Subsidiary son —औरस के अतिरिक्त अन्य प्रकार के पुत्र, गौणपुत्र ।
Succession —उत्तराधिकार ।
—Intestate S. वसीयत रहित अथवा निःसंकल्पपत्रक उत्तराधिकार ।
—Testamentary S. वसीयती अथवा संकल्प पत्रक उत्तराधिकार ।
Survive —उत्तरजीवी, अतिजीवी या पश्चाज्जीवी होना ।
Survivorship —उत्तरजीविता, अतिजीविता ।
Title —भूमि अथवा सम्पत्ति के स्वामित्व का अधिकार या ऐसे अधिकार के प्रमाणीकरण का साधन, आगम (याज्ञ० ३।२८ आगमेन विशुद्धेन भोगो याति प्रमाणताम्)।
Transfer —हस्तान्तर करना ।
Transfer of property—सम्पत्ति का हस्तान्तर ।
Unchastity —असतीत्व, कुलटापन ।
Undivided —अविभक्त ।
Usage —आचार ।
Uterine Brother—सोदर, सोदर्य ।

शुद्धिपत्र

	अशुद्ध	शुद्ध
६	८।९१।२५	७।९१।२५
	और उस	और आप उस
४	घर मे एक पति	घर मे पति
लियो	दूसरा प्रयोजन धर्म का पालन	सयुक्त परिवार के उपादान
१	जिनीससमे यूसुफ	जिनीसस (अ० ३७, ३९-५०) मे यूसुफ
-२९	याज्ञ० (२।१११८-५९)	याज्ञ० (२।११८-९)
६	पृ०	पृ० २४
२	या भर्त्ता	यो भर्त्ता
५	लतर्नो	लतूर्नो
२	जातिपु	ज्ञातिपु
२६	मादा किसी पेड मे	नर किसी पेड़ में
५	उसका	उनका
२९	मय पत्नी	मम पत्नी
३०	८।९१।२५	७।९१।२५
२२	१०, रजस्वला	१०, दे० ऊ० टि० ७; रजस्वला
२२	अपलिवत्र	अपवित्र
७	कारक्ष	कारण
८	कृष्णवर्ला	कृष्णवर्णा
२८	८।१७	१८।१७
१	मनु विवाह	मनु ने विवाह
७	स्वर्ग के देवताओ से	देवताओ से स्वर्ग के
३	विचारर	विचार
२९	ग्रनपथ	शतपथ

१४३	१३	कालोलूकीय	काकोलूकीय
१४३	२१	इसा० रि० ई०	इसा० रि० ई० ख०८ पृ० ४५०, का० सं० ३११।
१५१	२२	वचन	वचन
१५३	३	डालेंगे।	डालेंगे (वा० रा० ५।२२।९)
१५३	९	अनुरक्त थी।	अनुरक्त थी (वा० रा० ५।२४।९-१२)
१५५	२	शक्ति है नेत्र	शक्ति है
१५५	३	क्रोधदीप्त से	क्रोध दीप्त नेत्र से
१५६	२३	एकांकी	एकागी
१५७	१	क्योंकि सतीत्व	सतीत्व
१६२	५	सैव्या	दीर्घिका
१६४	२	प्रायः	पाया
१६६	२७	प्रप्या	प्रेष्या
१७१	२२	इन्द्र था	इन्द्र था (वा० रा० ७।३०।३३)
१७४	३	इसा० रिली० ख० १२३ पृ०	ख० १, पृ० १२३
१७४	३	मध्ययुगीय	मध्ययुगीन
१८०	२७	अन्य	अनेक
१८२	१७	व्यवस्था	अवस्था
१८४	२	अश्विनो	अश्विनियो
१८४	१०	काले	काणे
१८७	१९	शवर	शवर
१९१	११	पिता प्रभुता	पितृ प्रभुता
१९१	४	१३	१२
१९४	३०	जायज	क्षम्य
२०१	फोलियो	सन्सान	सन्तान
२०१	२७	कस्टाज	कस्टम्ज
२०४	२	उपनिपद्	उपनिषद् (१।११।१)

१०	१०	११ (यह टिप्पणी पृ० २०७ पर छपी है।
५	वर	दूर
९	११	१२
८	के शैराव	शैशव
१०	आवो	आओ
१२	पृ०	पृ० ९८-९९, १४२-४, १७५-७६
२४-२६	१२, महा०–१३।८५।६	
२५	आय०	आप०
२६	नमक	नामक
२५	लोकाम्	लोकान्
१५	पुन्	पुत्
१	रोते कहा	रोते हुए कहा
१	अकांक्षा	आकांक्षा
१	तै० ड०	तै० उ०
२९	इस्ट्रीटयूट	इस्टीटयूट
३०	ही थी।	ही थी (किन्शी–पू० पु० पृ० ३२३)।
४	करण	कारण
३	सूत्र	सूक्त
६	Surviuor	Survivor
२५	पुत्रयौत्रयो	पुत्रपौत्रयोः
३१	सप्तमदूर्ध्वं	सप्तमादूर्ध्वं
१४	ऊपर से नीचे तक	ऊपर तथा नीचे
२३	और दादी से	और परदादी को परदादा से
४	स्त्रीशव्दो वैनतेय से (विनता का पुत्र)	स्त्री शव्दो-विनता आदि से वैनतेय (विनता का पुत्र)
७	आलिय	अलिय

३३४	१८	आलिय	अलिय
३३४	१८	एजमान	यजमान
"	१९	एजमन्ती	यजमानी
३३५		तखाड़	तरवाड़
३३८	२१	युक्त	
३५२	१६	मानी है।	मानी है ३९ ।
३५४	३०	पृ०	पृ० ४२० ।
३६८	१	सम्पत्ति का	सम्पत्ति से
३७८	५	अनुवन्ध्या	अनुवन्ध्या
३८८	१५	पोमण्ड	पौगण्ड
३९५	१६	उस	उसका
"	२६	गम्यत	गम्यते
४००	११	अधिकार थे	अधिकार
४०५	७	ले लो	ले ले,
४१९	१३	पिता से	पिता का
४३५	१२	(अविभाज्य) पर	पर
४५७	२१	प्रतिष्ठा वडी	वड़ी प्रतिष्ठा
४६७	२०	गोपाल चन्द्र	गोलाप चन्द्र
४६९	१४	"	"
४७३	९	वयक्तिक	वैयक्तिक
४७६	८	पिण्ड दान के	पिण्डदान तथा अंश ग्रहण के
४८९	७	बचा हुआ है।	बचा हुआ है (दे० ऊ० पृ० ४७८) ।
४९७	१५	वसिग्ठ स्त्री	वसिष्ठ के स्त्री
५००	८	देवण्ण भट्ट	कुबेर
५०१	२५	दत्तक पुत्र वनने	दत्तक पुत्र वनाने
५०२	२०	'पति की अनुमति'	'स्त्री पति की अनुमति
५१५	४	ब्राह्मण	ब्राह्मणो
५१८	५	कानून	विल
५१९	१३	होता	होती

हिन्दू परिवार मीमांसा

१	Jeristic	Juristic
२६	पारीह्ये	पारिणह्य
१७	परिणेय	पारिणाय्यं
१२	अपना पुत्र	अपने पुत्र
१७	तद्गमी	तद्गामी
२०	आदायादक	अदायादक
९	विधवाओं का	विधवाओं को
८	वने रहे।	वने रहे १९ ।
१०	पृ० ५१	५९१
९	विधवा स्त्री धन	विधवा के स्त्रीधन
२२	कनफ्लिटिंग	कन्फ्लिक्टिंग
२९	समह	समूह
३०	"	"
२३	किया जाय।	किया जाय ६० ।
१९	स्पष्टता माता	माता
१२	अलिप	अलिय
५	सत्र	सूत्र
२३	कार्य	कार्यों

अनुक्रमणिका